तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

•

१

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी देशना

•

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
बृहद्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ।।

पण्डित भागचन्द, महावीराष्टक

•

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

लेखक
(स्व०) डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

प्रकाशक
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

●

प्राप्ति-स्थान
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
कार्यालय, वर्णी-भवन
सागर (मध्य प्रदेश)

●

तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-रजतशती महोत्सवके
मङ्गलमय अवसरपर प्रकाशित

●

प्रथम संस्करण : १५००
दीपावली, वीर-निर्वाण संवत् २५०१
कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या, विक्रम संवत् २०३१
१३ नवम्बर, ईस्वी सन् १९७४

●

मूल्य : पचास रुपये

●

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–२२१००१

तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीर
जिनकी निर्वाण-रजतशती राष्ट्र मना रहा है।

प्रकाशककी लेखनीसे

भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की ओरसे गुरु गोपालदास बरैया-शताब्दी समारोहके प्रसंगको लेकर जब श्री बरैया-स्मृति-ग्रन्थका प्रकाशन हुआ, तब समाजके प्रबुद्धवर्गने अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की थी। ग्रन्थका सर्वत्र समादर हुआ और उसकी समस्त प्रतियाँ हाथों-हाथ उठ गयीं। भारतवर्षके समस्त विश्वविद्यालयोंकी लाइब्रेरियोंके लिए यह संग्रहणीय ग्रन्थ विद्वत्परिषद्की ओरसे निःशुल्क भेंट किया गया। उसके उत्तरमें विश्वविद्यालयोंके प्रबन्धकोंने जो धन्यवादपत्र दिये, उनमें उन्होंने उस ग्रन्थरत्नको प्राप्तकर बड़ा हर्ष प्रकट किया था।

वर्तमानमें चल रहे श्री १००८ भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवके उपलक्ष्यमें भी विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीने '**तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा**' नामक ग्रन्थ प्रकाशित करनेका निश्चय किया और इसके लेखनका भार विद्वत्परिषद्के उपाध्यक्ष और बहुमुखी प्रतिभाके धनी श्री नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत विभाग एच० डी० जैन कालेज आराको दिया गया। सम्माननीय डाक्टर साहबने इस ग्रन्थके लेखनमें चार-पाँच वर्ष अकथनीय परिश्रम किया है। परन्तु खेद है कि वे अपनी इस महनीय कृतिको अपने जीवन-कालमें प्रकाशित न देख सके। गत जनवरी ७४ में उनके दिवंगत होनेका समाचार देशभरमें संतप्त हृदयसे सुना गया।

यह महान् ग्रन्थ चार भागोंमें सम्पूर्ण हुआ है। इसके प्रकाशनके लिए विद्वत्परिषद्के पास अर्थकी व्यवस्था नगण्य थी। परन्तु विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष डॉक्टर दरबारीलालजी कोठियाने इसके अग्रिम ग्राहक बनानेकी योजना प्रस्तुत की, जिसे समाजने बड़े उत्साहके साथ स्वीकृत किया। श्री १०८ पूज्य विद्यानन्दजी महाराजने भी अपने शुभाशीर्वादसे इसके प्रकाशनका मार्ग प्रशस्त किया। यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इसके सातसौ ग्राहक अग्रिम मूल्य देकर बन गये। ग्रन्थके चारों भागोंका मूल्य ८५) है। परन्तु अग्रिम ग्राहक बननेवालोंको यह ग्रन्थ ६१) में देनेका निर्णय किया गया।

ग्रन्थके प्रथम भागमें भगवान् महावीर स्वामीके पूर्व भवोंका चित्रण करते हुए उनके महान् जीवनका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। अन्तमें उनके द्वारा प्रतिपादित विषयोंपर समुचित प्रकाश डाला गया है। लेखकको भाषा-

प्रौढता और विषय-प्रतिपादनकी गम्भीर शैली उनके वैदुष्यको प्रकट कर रही है। भगवान् महावीरके दीक्षोपरान्त बारह वर्षकी तपश्चर्या तथा विशेष घटनाओंका वर्णन दिगम्बर कथा-ग्रन्थोंमें उपेक्षित-सा रहा है। परन्तु लेखकने उन सबका अन्वेषण कर इस ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया है। ग्रन्थका आभ्यन्तर-परिचय डॉक्टर दरबारीलालजी कोठिया द्वारा लिखे आमुख तथा ग्रन्थकी विषय-सूचीसे स्पष्ट है।

इस ग्रन्थके संपादन और प्रकाशन तथा अर्थके संग्रहमें विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष श्रीमान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, एम० ए०, पी-एच०डी०, पूर्वरीडर जैन-बौद्धदर्शनविभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसीको महान् परिश्रम करना पड़ा है, प्रेसकी दौड़धूप और प्रूफका देखना आदि कार्य आपने जिस निस्पृह भाव, लगन और निष्ठासे संपन्न किये हैं वह श्लाघ्य है। आपकी इस महनीय सेवाके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने ग्रन्थपर आशीर्वचनके रूपमें बहुमूल्य 'आद्य मिताक्षर' लिखकर हमें कृतार्थ किया, इसके लिए हम उनके प्रति विनत हैं। सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी वाराणसीने अपना महत्त्वपूर्ण 'प्राक्कथन' लिखनेकी कृपा की, अतः उनके भी अतिकृतज्ञ हैं।

श्री बाबूलालजी फागुल्ल, संचालक महावीर-प्रेसने बड़ी सुन्दरतासे इसका प्रकाशन किया है, इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

अग्रिम मूल्य भेजकर जिन ग्राहकोंने हमारी प्रकाशन-व्यवस्थाको सुकर बनाया है उनके प्रति मैं नम्र आभार प्रकट करता हूँ। ग्रन्थकी तैयार पाण्डु-लिपिके वाचनमें श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, डॉ० दरबारी-लालजी कोठिया, डॉ० ज्योतिप्रसादजी लखनऊ, आदि विद्वानोंने जो समय और सुझाव दिये हैं उनके प्रति भी मैं सविनय आभार प्रकट करता हूँ।

अन्तमें प्रकाशन-सम्बन्धी अशुद्धियोंके लिए क्षमा-याचना करता हुआ आकांक्षा करता हूँ कि भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवकी पुण्य-वेलामें इस ग्रन्थका घर-घरमें प्रचार हो और जन-मानस भगवान् महावीरके सिद्धान्तोंसे सुपरिचित हो।

विनीत

सागर
९-७-१९७४

पन्नालाल जैन
मंत्री
भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
सागर

आद्य मिताक्षर

'परम्परा' शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है और विश्वके कण-कणसे सम्बन्धित है। परम्पराका इतिहास लेखबद्ध करना वैसे ही कठिन कार्य है, फिर श्रमण-परम्पराका इतिहास तो सर्वथा ही दुरूह है। प्रसंगमें जहाँ **'परम्परा'** शब्द सद्-आगम और सद्गुरुओंका बोधक है, वहाँ यह प्रामाणिकताका द्योतक भी है। परम्परागत आगम और गुरुओंको सर्वत्र प्रथम स्थान है। इसीलिए **'आचार्यगुरुभ्यो नमः'** के स्थान पर **'परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः'** का प्रचलन है। लोकमें आज भी यह परम्परा प्रचलित है। जैसे गृहस्थोंके विवाह आदि संस्कारोंमें परम्परा (गोत्रादि) का प्रश्न उठता है, वैसे ही मुनियोंके संबंधमें भी उनकी गुरु-परम्पराका ज्ञान आवश्यक है।

भारतमें मुनि-परम्परा और ऋषि-परम्परा ये दो परम्पराएँ प्राचीनकालसे रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रथम परम्पराका संबंध आत्मधर्मा श्रमणोंसे रहा है—श्रमणमुनि मोक्षमार्गके उपदेष्टा रहे हैं। द्वितीय परम्पराका संबंध लोक-धर्मसे रहा है—ऋषिगण गृहस्थोंके षोडश संस्कारादि सम्पन्न कराते रहे हैं। ऋषियोंको जब आत्मधर्मज्ञानकी बुभुक्षा जाग्रत हुई, वे श्रमणमुनियोंके समीप जिज्ञासाकी पूर्ति एवं मार्गदर्शनके लिए पहुँचते रहे।[1]

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित ग्रन्थ **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी परम्परा'** में श्रमण—मुनि-परम्पराका तथ्यपूर्ण इतिहास है। वस्तुतः

---

१. वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुस्तानृषयोऽर्थमायंस्तेऽनिलाय-मचरंस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तांस्तेष्वन्वविन्दन श्रद्धया च तपसा च। तानृषयो-ऽब्रुवन कया निलायं चरथेति ते ऋषीनब्रुवन्नमोवोऽस्तु भगवन्तोऽस्मिन् धाम्नि केन वः सपर्यामेति तानृपयोऽब्रुवन—पवित्रं नो ब्रूत येनोरेपसः स्यामेति त एतनि सूक्तान्यपश्यन्।'

—तैत्तिरीय आरण्यक २ प्रपाठक ७ अनुवाक, १-२

'वातरशन—श्रमण-ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्मपदकी ओर उत्क्रमण करनेवाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश (याचनार्थ) उपस्थित हुए। उन्हें देखकर वातरशन कूष्माण्डनामक मन्त्रवाक्योंमें अन्तर्हित हो गए, तब उन्हें अन्य ऋषियोंने श्रद्धा और तपसे प्राप्त कर लिया। ऋषियोंने उन वातरशन मुनियोंसे प्रश्न किया—किस विद्यासे आप अन्तर्हित हो जाते हैं? वातरशन मुनियोंने उन्हें अपने अध्यात्म धामसे आए हुए अतिथि जानकर कहा—हे मुनिजनों! आपको नमोऽस्तु है, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें? ऋषियोंने कहा—हमें पवित्र आत्मविद्याका उपदेश दीजिए, जिससे हम निष्पाप हो जाएँ।

इतिहासकी रचनाके लिए तथ्यज्ञान आवश्यक है। यतः—

इतिहास इतीष्टं तद् इति हासीदिति श्रुतेः।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत्॥

—आचार्य श्रीजिनसेन, आदिपुराण, १।२५

'इतिहास, इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं। 'इति ह आसीत' (निश्चय ऐसा ही था), 'इतिवृत्तम्' (ऐसा हुआ—घटित हुआ) तथा परम्परासे ऐसा ही आम्नात है—इन अर्थोंमें इतिहास है।

इतिहास दीपकतुल्य है। वस्तुके कृष्ण-श्वेतादि यथार्थ रूपको जैसे दीपक प्रकाशित करता है, वैसे इतिहास मोहके आवरणका नाशकर, भ्रान्तियोंको दूर करके—सत्य सर्वलोक द्वारा धारण की जानेवाली यथार्थताका प्रकाशन करता है। अर्थात् दीपकके प्रकाशसे पूर्व जैसे कक्षमें स्थित वस्तुएँ विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नहीं होती, वैसे ही सम्पूर्ण लोक द्वारा धारण किया गया गर्भभूत सत्य इतिहासके बिना सुव्यक्त नहीं होता।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है कि विद्वान्‌की लेखनीमें बल और विचारोंमें तर्कसंगतता है। समाज इनकी अनेक कृतियोंका मूल्यांकन कर चुका है—भलीभाँति सम्मानित कर चुका है। प्रस्तुत कृतिसे जहाँ पाठकोंको स्वच्छ श्रमण-परम्पराका परिज्ञान होगा, वहाँ ग्रन्थमें दिये गये टिप्पणोंसे उनके ज्ञानमें प्रामाणिकता भी आवेगी। श्रमण-परम्पराके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें श्रमणोंकी मान्यताओं एवं जैन सिद्धान्तोंका भी सफल निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ सभी प्रकारसे अपनेमें परिपूर्ण एवं लेखककी ज्ञान-गरिमाको इङ्गित करनेमें समर्थ है।

यहाँ लेखकके अभिन्न मित्र डॉ० दरबारीलाल कोठियाजीके प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें किए गए सत्यप्रयत्नोंको भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है, जिनके द्वारा हमें प्रस्तुत ग्रन्थके लिए कुछ शब्द लिखनेका आग्रहयुक्त निवेदन प्राप्त हुआ। विद्वत्परिषद्‌का यह प्रकाशन-कार्य परिषद्‌के सर्वथा अनुरूप है। ऐसे सत्कार्यके लिए भी हमारे शुभाशीर्वाद!

---

१. इतिहास-प्रदीपेन मोहावरणघातिना।
सर्वलोकधृतं गर्भं यथावत् संप्रकाशयेत्॥

— महाभारत

प्राक् कथन

भारतवर्षका क्रमबद्ध इतिहास बुद्ध और महावीरसे प्रारम्भ होता है। इनमेंसे प्रथम बौद्धधर्मके संस्थापक थे, तो द्वितीय थे जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर। 'तीर्थंकर' शब्द जैनधर्मके चौबीस प्रवर्त्तकोंके लिए रूढ़ जैसा हो गया है, यद्यपि है यह यौगिक ही। धर्मरूपी तीर्थके प्रवर्त्तकको ही तीर्थंकर कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रने पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथकी स्तुतिमें उन्हें 'धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्' पदके द्वारा धर्मतीर्थका प्रवर्त्तक कहा है। भगवान महावीर भी उसी धर्मतीर्थके अन्तिम प्रवर्त्तक थे और आदि प्रवर्त्तक थे भगवान् ऋषभदेव। यही कारण है कि हिन्दू पुराणोंमें जैनधर्मकी उत्पत्तिके प्रसंगसे एकमात्र भगवान् ऋषभदेवका ही उल्लेख मिलता है किन्तु भगवान् महावीरका संकेत तक नहीं है जब उन्हींके समकालीन बुद्धको विष्णुके अवतारोंमें स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत त्रिपिटक साहित्यमें निग्गंठनाटपुत्तका तथा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थोंका उल्लेख बहुतायतसे मिलता है। उन्हींको लक्ष्य करके स्व० डॉ० हर्मान याकोवीने अपनो जैन सूत्रोंकी प्रस्तावनामें लिखा है--'इस बातसे अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त, जा महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध हैं, बुद्धके समकालीन थे। बौद्धग्रन्थोंमें मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ़ करते हैं कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोंका, जो आज जैन अथवा आर्हत नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदायके रूपमें गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोंमें कुछ निर्ग्रन्थोंका बुद्ध और उनके शिष्योंके विरोधीके रूपमें और कुछका बुद्धके अनुयायी बन जानेके रूपमें वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थोंमें किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमें नहीं आता कि निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके संस्थापक हैं। इसके ऊपरसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बुद्धके जन्मसे पहले अति प्राचीन कालसे निर्ग्रन्थोंका अस्तित्व चला आता है।"

अन्यत्र डॉ० याकोवीने लिखा है—'इसमें कोई भी सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको जैन धर्मका संस्थापक माननेमें एकमत है। इस मान्यतामें ऐतिहासिक सत्यकी सम्भावना है।'

प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन्ने अपने 'भारतीय दर्शन' में कहा है—'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद-में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरोंके नामोंका निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।'

यथार्थमें वैदिकोंकी परम्पराकी तरह श्रमणोंकी भी परम्परा अति प्राचीन कालसे इस देशमें प्रवर्तित है। इन्हीं दोनों परम्पराओंके मेलसे प्राचीन भारतीय संस्कृतिका निर्माण हुआ है। उन्हीं श्रमणोंकी परम्परामें भगवान महावीर हुए थे। बुद्धकी तरह वे भी एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उन्होंने भी घरका परि-त्याग करके कठोर साधनाका मार्ग अपनाया था। यह एक विचित्र बात है कि श्रमण परम्पराके इन दो प्रवर्त्तकोंकी तरह वैदिक परम्पराके अनुयायी हिन्दू-धर्ममें मान्य राम और कृष्ण भी क्षत्रिय थे। किन्तु उन्होंने गृहस्थाश्रम और राज्यासनका परित्याग नहीं किया। यही प्रमुख अन्तर इन दोनों परम्पराओंमें है। कृष्ण भी योगी कहे जाते हैं किन्तु वे कर्मयोगी थे। महावीर ज्ञानयोगी थे। कर्मयोग और ज्ञानयोगमें अन्तर है। कर्मयोगीकी प्रवृत्ति बाह्याभिमुखी होती है और ज्ञानयोगीकी आन्तराभिमुखी। कर्मयोगीको कर्ममें रस रहता है और ज्ञानयोगीको ज्ञानमें। ज्ञानमें रस रहते हुए कर्म करनेपर भी कर्मका कर्त्ता नहीं कहा जाता। और कर्ममें रस रहते हुए कर्म नहीं करनेपर भी कर्मका कर्त्ता कहलाता है। कर्म प्रवृत्तिरूप होता है और ज्ञान निवृत्तिरूप। प्रवृत्ति और निवृत्तिकी यह परम्परा साधनाकालमें मिली-जुली जैसी चलती है किन्तु ज्यों-ज्यों निवृत्ति बढ़ती जाती है प्रवृत्तिका स्वतः ह्रास होता जाता है। इसी-को आत्मसाधना कहते हैं।

यथार्थमें विचार कर देखें—प्रवृत्तिके मूल मन, वचन और काय हैं। किन्तु आत्माके न मन है, न वचन है और न काय है। ये सब तो कर्मजन्य उपाधियाँ हैं। इन उपाधियोंमें जिसे रस है वह आत्मज्ञानी नहीं है। जो आत्मज्ञानी हो जाता है उसे ये उपाधियाँ व्याधियाँ ही प्रतीत होती हैं।

इनका निरोध सरल नहीं है। किन्तु इनका निरोध हुए बिना प्रवृत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नहीं है। उसीके लिए भगवान महावीरने सब कुछ त्याग कर वनका मार्ग लिया था। संसार-मार्गियोंकी दृष्टिमें भले ही यह 'पलायनवाद' प्रतीत हो, किन्तु इस पलायनवादको अपनाये बिना निर्वाण-प्राप्तिका दूसरा

मार्ग भी नहीं है। भोगी और योगीका मार्ग एक कैसे हो सकता है। तभी तो गीतामें कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'सब प्राणियोंके लिए जो रात है उसमें संयमी जागता है और जिसमें प्राणी जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनिकी रात है।'

इस प्रकार भोगी संसारसे योगीके दिन-रात भिन्न होते हैं। संयमी महावीर-ने भी आत्म-साधनाके द्वारा कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रातः सूर्योदयसे पहले निर्वाण-लाभ किया। जैनोंके उल्लेखानुसार उसीके उपलक्षमें दीपमालिकाका आयोजन हुआ और उनके निर्वाण-लाभको पच्चीस सौ वर्ष पूर्ण हुए। उसीके उपलक्षमें विश्वमें महोत्सवका आयोजन किया गया है।

उसीके स्मृतिमें **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक यह बृहत्काय ग्रन्थ चार खण्डोंमें प्रकाशित हो रहा है। इसमें भगवान महावीर और उनके बादके पच्चीस-सौ वर्षोंमें हुए विविध साहित्यकारोंका परिचयादि उनकी साहित्य-साधनाका मूल्यांकन करते हुए विद्वान् लेखकने निबद्ध किया है। उन्होंने इस ग्रन्थके लेखनमें कितना श्रम किया, यह तो इस ग्रन्थको आद्योपान्त पढ़नेवाले ही जान सकेंगे। मेरे जानतेमें प्रकृत विषयसे सम्बद्ध कोई ग्रन्थ, या लेखादि उनकी दृष्टिसे ओझल नहीं रहा। तभी तो इस अपनी कृतिको समाप्त करनेके पश्चात् ही वे स्वर्गत हो गये और इसे प्रकाशमें लानेके लिए उनके अभिन्न सखा डॉ० कोठियाने कितना श्रम किया है, इसे वे देख नहीं सके। **'भगवान महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा'में लेखकने अपना जीवन उत्सर्ग करके जो श्रद्धाके सुमन चढ़ाये हैं उनका मूल्यांकन करनेकी क्षमता इन पंक्तियोंके लेखकमें नहीं है। वह तो इतना ही कह सकता है कि आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्रीने अपनी इस कृतिके द्वारा स्वयं अपनेको भी उस परम्परामें सम्मिलित कर लिया है।**

उनकी इस अध्ययनपूर्ण कृतिमें अनेक विचारणीय ऐतिहासिक प्रसंग आये हैं। भगवान महावीरके समय, माता-पिता, जन्मस्थान आदिके विषयमें तो कोई मतभेद नहीं है। किन्तु उनके निर्वाणस्थानके सम्बन्धमें कुछ समयसे विवाद खड़ा हो गया है। मध्यमा पावामें निर्वाण हुआ, यह सर्वसम्मत उल्लेख है। तदनुसार राजगृहीके पास पावा स्थानको ही निर्वाणभूमिके रूपमें माना जाता है। वहाँ एक तालाबके मध्यमें विशाल मन्दिरमें उनके चरण-

चिन्ह स्थापित हैं। यह स्थान मगधमें है। दूसरी पावा उत्तर प्रदेशके देवरिया जिलेमें कुशीनगरके समीप है। डॉ० शास्त्रीने मगधवर्ती पावाको ही निर्वाण-भूमि माना है।

बिम्बसार श्रेणिक भगवान महावीरका परम भक्त था। उसकी मृत्यु डॉ० शास्त्रीने भगवान महावीरके निर्वाणके बाद मानी है, उन्हें ऐसे उल्लेख मिले हैं। किन्तु यह ऐतिहासिक प्रसंग विचारणीय हैं।

उन्होंने जैन तत्त्व-ज्ञानका भी बहुत विस्तारसे विवेचन किया है और प्राय: सभी आवश्यक विषयोंपर प्रकाश डाला है। दूसरा, तीसरा तथा चौथा खण्ड तो एक तरहसे जैनसाहित्यका इतिहास जैसा है। संक्षेपमें उनकी यह बहुमूल्य कृति अभिनन्दनीय है। आशा है इसका यथेष्ट समादर होगा।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

●

आमुख

भारतीय संस्कृतिमें आर्हत संस्कृतिका प्रमुख स्थान है। इसके दर्शन, सिद्धांत, धर्म और उसके प्रवर्त्तक तीर्थंकरों तथा उनकी परम्पराका महत्त्वपूर्ण अवदान है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर[1] और उनके उत्तरवर्ती आचार्योंने अध्यात्म-विद्याका, जिसे उपनिषद्-साहित्यमें[2] 'परा विद्या' (उत्कृष्ट विद्या) कहा गया है, सदा उपदेश दिया और भारतकी चेतनाको जागृत एवं ऊर्ध्वमुखी रखा है। आत्माको परमात्माकी ओर ले जाने तथा शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिए उन्होंने[3] अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, त्याग और समाधि (आत्मलीनता) का स्वयं आचरण किया और पश्चात् उनका दूसरोंको उपदेश दिया। सम्भवतः इसीसे वे अध्यात्म-शिक्षादाता और श्रमण-संस्कृतिके प्रतिष्ठाता कहे गये हैं। आज भी उनका मार्गदर्शन निष्कलुष एवं उपादेय माना जाता है।

तीर्थंकर महावीर इस संस्कृतिके प्रबुद्ध, सबल, प्रभावशाली और अन्तिम प्रचारक थे। उनका दर्शन, सिद्धान्त, धर्म और उनका प्रतिपादक वाङ्मय विपुल मात्रामें आज भी विद्यमान है तथा उसी दिशामें उसका योगदान हो रहा है।

अतएव बहुत समयसे अनुभव किया जाता रहा है कि तीर्थंकर महावीरका सर्वाङ्गपूर्ण परिचायक ग्रन्थ होना चाहिए, जिसके द्वारा सर्वसाधारणको उनके जीवनवृत्त, उपदेश और परम्पराका विशद परिज्ञान हो सके। यद्यपि भगवान् महावीरपर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें लिखा पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है, पर उससे सर्वसाधारणकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती।

सौभाग्यकी बात है कि राष्ट्रने तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीरकी निर्वाण-रजत-शती राष्ट्रीय स्तरपर मनानेका निश्चय किया है, जो आगामी कार्तिक कृष्णा अमावस्या वीर-निर्वाण संवत् २५०१, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७४ से कार्तिक

---

१. धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥

भट्टाकलङ्कदेव, लघीयस्त्रय, मङ्गलपद्य १।

२. मुण्डकोपनिषद् १।१।४।५।

३. स्वामी समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन का० ६।

कृष्णा अमावस्या, वीर-निर्वाण संवत् २५०२, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७५ तक पूरे एक वर्ष मनायी जावेगी। यह मङ्गल-प्रसङ्ग भी उक्त ग्रन्थ-निर्माणके लिए उत्प्रेरक रहा।

अत: अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्ने पाँच वर्ष पूर्व इस महान् दुर्लभ अवसरपर तीर्थंकर महावीर और उनके दर्शनसे सम्बन्धित विशाल एवं तथ्यपूर्ण ग्रन्थके निर्माण और प्रकाशनका निश्चय तथा संकल्प किया। परिषद्ने इसके हेतु अनेक बैठकें कीं और उनमें ग्रन्थकी रूपरेखापर गम्भीरतासे ऊहापोह किया। फलत: ग्रन्थका नाम '**तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा**' निर्णीत हुआ और लेखनका दायित्व विद्वत्परिषद्के तत्कालीन अध्यक्ष, अनेक ग्रन्थोंके लेखक, मूर्धन्य-मनीषी, आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री आरा (बिहार) ने सहर्ष स्वीकार किया। आचार्य शास्त्रीने पाँच वर्ष लगातार कठोर परिश्रम, अद्भुत लगन और असाधारण अध्यवसायसे उसे चार खण्डों तथा लगभग २००० (दो हजार) पृष्ठोंमें सृजित करके ३० सितम्बर १९७३ को विद्वत्परिषद्को प्रकाशनार्थ दे दिया।

विचार हुआ कि समग्र ग्रन्थका एक बार वाचन कर लिया जाय। आचार्य शास्त्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी प्रबन्धकारिणीको बैठकमें सम्मिलत होनेके लिए ३० सितम्बर १९७३ को वाराणसी पधारे थे। और अपने साथ उक्त ग्रन्थके चारों खण्ड लेते आये थे। अत: १ अक्तूबर १९७३ से १५ अक्तूबर १९७३ तक १५ दिन वाराणसीमें ही प्रतिदिन प्राय: तीन समय तीन-तीन घण्टे ग्रन्थका वाचन हुआ। वाचनमें आचार्य शास्त्रीके अतिरिक्त सिद्धान्ताचार्य श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पूर्व प्रधानाचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, डॉक्टर ज्योतिप्रसादजी लखनऊ और हम सम्मिलित रहते थे। आचार्य शास्त्री स्वयं वाचते थे और हमलोग सुनते थे। यथावसर आवश्यकता पड़ने पर सुझाव भी दे दिये जाते थे। यह वाचन १५ अक्तूबर १९७३ को समाप्त हुआ और १६ अक्तूबर १९७३ को ग्रन्थका पहला भाग '**तीर्थङ्कर महावीर और उनकी देशना**' प्रकाशनार्थ महावीर प्रेसको दे दिया गया, जो लगभग ९ माहमें छपकर तैयार हो सका।

ग्रन्थ-परिचय

इस विशाल एवं असामान्य ग्रन्थका यहाँ संक्षेपमें परिचय दिया जाता है, जिससे ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है और लेखकने उसके साथ कितना अमेय परिश्रम किया है, यह सहजमें ज्ञात हो सकेगा।

इस ग्रन्थके चार खण्ड हैं—१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी देशना,

२. श्रुतधर और सारस्वताचार्य, ३. प्रबुद्धाचार्य एवं परम्परापोषकाचार्य और ४. आचार्यतुल्य काव्यकार एवं लेखक।

१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी देशना

यह प्रथम खण्ड ११ परिच्छेदों और लगभग ६४० पृष्ठोंमें समाप्त है। इसकी विवेच्य विषय-सामग्री बहुवक्तव्य एवं प्रचुर है। इसीसे इसमें कई परिच्छेद रखे गये हैं। इन परिच्छेदोंका वर्ण्य विषय नीचे प्रस्तुत है—

प्रथम परिच्छेद : तीर्थङ्कर-परम्परा और महावीर

इस परिच्छेदमें मानव-जीवनका क्या महत्त्व है और उसके लिए धर्म-दर्शनकी क्यों आवश्यकता है, इसका प्रतिपादन करते हुए उनके उपदेशक तीर्थङ्करोंकी परम्परा और इस परम्परामें हुए आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव, २१वें तीर्थंकर नमि, २२वें तीर्थंकर नेमि और २४वें तीर्थंकर पार्श्वनाथका पुरातत्त्वके आलोकमें दिग्दर्शन, पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता तथा तीर्थंकर परम्पराकी अन्तिम शृंखला २४वें तीर्थंकर महावीरपर विभिन्न उपशीर्षकों द्वारा विशद प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय परिच्छेद : जन्म-जन्मकी साधना

इसमें महावीरका अगणित पूर्व पर्यायोंमें पतन और पतनके बाद पिछली अनेक पर्यायोंमें उत्थान प्रतिपादित है। पुरुरवा भीलकी पर्यायमें वे कुछ सम्हलते हैं, किन्तु फिर उन्हें अनेक जन्मोंमें गोते लगाने पड़ते हैं, सुयोगसे सिंहकी पर्यायमें, जो दशवीं पूर्व पर्याय थी, उनका उत्थानकी ओर झुकाव होता है। कनकोज्वल, हरिषेण, प्रियमित्र चक्रवर्तीकी पर्यायोंमें उत्कर्ष करते हुए जब वे नन्दभवमें आते हैं, तो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर जीवनकी चरम उपलब्धि—तीर्थंकर-पदप्राप्तिके बीज बोते हैं, इस सबका रोचक एवं प्रामाणिक वर्णन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद : समसामयिक परिस्थितियाँ : महान् विचारक एवं सम्प्रदाय

इस परिच्छेदमें महावीरके जन्मसे पूर्व देश और समाजकी कैसी स्थिति थी, राजनीतिक वातावरण कैसा था, आर्थिक दशा कैसी थी, विभिन्न विचारकों एवं सम्प्रदायोंकी गतिविधियाँ कैसी हो रही थीं, आदिका विशद निरूपण है।

चतुर्थ परिच्छेद : तीर्थंकर महावीरकी जन्मभूमि, जन्म एवं किशोरावस्था

इसमें गणतंत्र वैशाली, उसके उपनगर और महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राम, वैशाली गणतंत्रके नायक चेटक, कुण्डग्रामके अधिपति और महावीरके पिता सिद्धार्थ, माता त्रिशला, चेटक और सिद्धार्थके सम्बन्ध, त्रिशलाका स्वप्नदर्शन,

स्वप्नोंका फल—तीर्थंकर पुत्रका जन्म, देवियों द्वारा माताकी अनवरत सेवा महावीरका जन्म, सुमेरुपर इन्द्रादि द्वारा जन्माभिषेकोत्सव, शैशवकाल, वर्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर नामोंसे सम्बद्ध घटनाओंका उल्लेख, किशोरावस्थामें संजय देव द्वारा महावीरकी परीक्षा और उसकी पराजय, आत्मोन्मुखी असामान्य चिन्तनधारा, अलौकिक शारीरिक शक्तियों और उच्च एवं दृढ़ मनोबलकी उपलब्धि आदिका हृदयग्राही प्रतिपादन है।

पञ्चम परिच्छेद : युवावस्था संघर्ष एवं संकल्प

इस परिच्छेदमें महावीरके असाधारण शरीर-सौन्दर्य, बल एवं यौवन प्रवेश, माता, पिता और परिवारका दुलार, जनताका अपार स्नेह, उनकी विचारधारा, परिणयका प्रस्ताव और उससे इन्कार, विरक्तिकी ओर झुकाव, आत्मस्वातन्त्र्यकी उपलब्धि और जनकल्याणके लिए निर्ग्रन्थ—श्रमण-दीक्षा ग्रहण आदिका मार्मिक विवेचन है।

षष्ठ परिच्छेद : तपश्चरण, साधना एवं कैवल्योपलब्धि

इसमें महावीरने गिरिकन्दराओं, बीहड़ वनों और खुले मैदानों आदिमें जो दुर्धर तपश्चर्या की, मौनपूर्वक साधना की, अनेक उपसर्ग सहे, विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त की, विचित्र अभिग्रह लिए, कैदमें बद्ध चन्दना द्वारा आहार ग्रहण और उसका उद्धार करना आदिका कथन करते हुए महावीरकी वीतरागतासमुपलब्धि, कैवल्यप्राप्ति और केवलज्ञानप्राप्तिस्थानका सप्रमाण निर्धारण किया गया है।

सप्तम परिच्छेद : गणधर, समवशरण, अन्य राजन्यवर्ग एवं निर्वाण

इस सातवें परिच्छेदमें तीर्थंकर महावीरको केवलज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी ६६ दिन तक उनका उपदेश न होनेसे उत्पन्न लोकचिन्ता, इन्द्रकी चतुराईसे महाविद्वान् गौतम इन्द्रभूतिका महावीरकी समवशरणसभामें पहुँचना, महावीरके दर्शनमात्रसे उसके अहङ्कारका दूर होना और महावीरका शिष्यत्व स्वीकार करना, श्रमण-दीक्षा लेते ही चार सम्यग्ज्ञानोंकी प्राप्ति करना तथा प्रथम गणधरका पद प्राप्त करना, अग्निभूति, वायुभूति आदि उनके प्रकाण्ड विद्वान् १० भाईयोंका भी महावीरसे शास्त्रार्थके उद्देश्यसे उनके समवशरणमें पहुँचना और महावीरसे प्रभावित होकर उनके शिष्य होना तथा निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण करना, श्रावण कृष्णा एकमको ६६ दिन बाद महावीरकी गौतम इन्द्रभूतिके सन्निधानसे प्रथम देशना होना, देशना-स्थल विपुलगिरिपर प्रथम समवशरणसभाका लगना, उपदेश श्रवणके लिए लालायित असंख्य नर-नारियों,

पशु-पक्षियों और देवसमूहका एकत्रित होना, मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघका संघटन करना, प्रधान श्रोताके रूपमें बिम्बसार श्रेणिकका समवशरणमें उपस्थित होना, श्रेणिकका वंश-परिचय व उसकी ऐतिहासिकता, अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण, चन्दना, चेलना आदि राजन्यवर्गका महावीर तीर्थंकरकी देशनाको सुननेके लिए आना और व्रतादि ग्रहण करना, दिव्यध्वनिका भाषावैज्ञानिक विश्लेषण आदिका सहेतुक प्रतिपादन है।

इसी परिच्छेदमें तीस वर्षों तक हुए तीर्थंकर महावीरके विहारका विस्तार-पूर्वक निरूपण है। महावीरका समवशरण देशके कोने-कोनेमें गया और जन-साधारणको अहिंसामृतका पान कराया। पुराण एवं अन्य ग्रन्थोंके आधारसे महावीरकी ८६ स्थानोंपर देशना हुई। उनकी इस देशनाका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। क्रियाकाण्ड कम हुआ और तप, त्याग तथा आत्म-साधनाका प्रवाह प्रवाहित हुआ। फलतः प्रसेनजित, रानी मृगावती, वृषभसेन, अदीन-शत्रु, सुबाहु, जीवन्धर, चण्डप्रद्योत आदि क्षत्रियराजाओं, इन्द्रभूति, अग्नि-भूति, वायुभूति आदि ब्राह्मण-विद्वानों, चन्दना, चेलना आदि स्त्रियों, अंजन, विद्युच्चर आदि चौर्यकर्म करनेवाले पतितजनोंने तीर्थंकर महावीरके उप-देशोंको ग्रहण कर आत्मकल्याण किया। इन सबका इस परिच्छेदमें अङ्कन है। कुमन्ध, अश्वष्ट, गान्धार आदि स्थानोंका भी निर्देश है, जहाँ महावीरने विहार किया था। परिच्छेदके अन्तमें महावीरके निर्वाण और निर्वाण-स्थानपर विशेष विचार किया तथा मध्यमा पावा—वर्तमान पावापुरको ही महावीरका निर्वाण-स्थान सिद्ध किया है।

अष्टम परिच्छेद : देशना—ज्ञेयतत्त्वमीमांसा

इस परिच्छेदमें महावीर द्वारा सर्वप्रथम प्रतिपादित ज्ञेयतत्त्वकी विचारणा है। ज्ञेयका अनेकान्तस्वरूप, उसकी उत्पादादित्रयात्मकता, द्रव्य, गुण, पर्याय, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों और पुण्य, पाप सहित नव पदार्थोंका विशद निरूपण इसमें है।

नवम परिच्छेद : ज्ञानतत्त्वमीमांसा

इसमें ज्ञेयके अधिगमोपायके रूपमें उपदिष्ट ज्ञानका स्वरूप, उसके मति आदि पाँच भेदों, उनके भी उपभेदों, प्रमाण, नय और निक्षेपका विस्तृत विवेचन है। स्याद्वाद और सप्तभङ्गीका भी सुन्दर प्रतिपादन है।

दशम परिच्छेद : धर्म और आचार-मीमांसा

इस परिच्छेदमें जीवनके उत्कर्षके लिए धर्मकी अनिवार्यता, धर्मका स्वरूप,

प्रामाणिक व्यवहार और विचार, रत्नत्रय, सम्यक्दर्शनका महत्त्व, उसकी उत्पत्तिके कारण, उसके भेद, आठ अङ्ग, तीन मूढ़ताएँ, आठ मद आदिका विशद विवेचन है। आचारके निरूपण-सन्दर्भमें श्रावकाचार तथा मुन्याचार दोनोंका विस्तृत प्रतिपादन है।

एकादशम परिच्छेद : समाज-व्यवस्था

इस एकादशवें परिच्छेदमें तीर्थंकर महावीर द्वारा गुण-कर्मके आधार पर प्रतिपादित समाज-व्यवस्थाका दिग्दर्शन है। समाज-व्यवस्थाके प्रमुख घटक परिवार, परिवारकी सीमाएँ, दायित्व और अधिकार आध्यात्मिक साम्य, भावना, नैतिक विधि-विधानोंका निर्देश करते हुए अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर आधृत महावीरकी समाज-व्यवस्था सर्वदा और सर्वत्र सुख-शान्तिजनक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, इसका कथन किया गया है।

इस प्रकार प्रथम खण्डमें तीर्थंकर महावीर और उनकी देशनाका पूरा परिचय उपलब्ध है। ग्रन्थ-योजनाके समय यह खण्ड ५०० पृष्ठोंका कल्पित हुआ था, किन्तु लगभग ६४० पृष्ठोंमें वह समाप्त हुआ है।

२. श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य

तीर्थंकर महावीरके सिद्धान्तों और वाङ्मयका अवधारण एवं संरक्षण उनके उत्तरवर्ती श्रमणों और उपासकोंने किया है। इस महान् कार्यमें विगत २५०० वर्षों में लाखों श्रमणों तथा उपासकोंका योगदान रहा है। उन्हींके त्याग और साधनाके फलस्वरूप भगवान् महावीरके सिद्धान्त और वाङ्मय न्यूनाधिक रूपमें हमें प्राप्त हैं। तीर्थक्षेत्र, मन्दिर, मूर्तियाँ, ग्रन्थागार, स्मारक आदि सांस्कृतिक विभव उन्हींके अटूट प्रयत्नोंसे आज संरक्षित है। इन सबका उल्लेख करनेके लिए विपुल सामग्रीकी आवश्यकता है, जो या तो विलुप्त हो गयी या नष्ट हो गयी या विस्मृतिके गर्तमें चली गयी है। जो अवशिष्ट वाङ्मय, शिलालेख और इतिहास हमें सौभाग्यसे उपलब्ध हैं उन्हींपरसे तीर्थंकर महावीरकी उत्तराधिकारिणी परम्पराकी अवगति सम्भव है।

डॉक्टर शास्त्रीने इस उपलब्ध सामग्रीका आलोडन-विलोडन करके जिन आचार्यों और उनके वाङ्मयका परिचय प्राप्त किया है उन्हें तीन खण्डोंमें विभक्त किया है। इन्हीं खण्डोंका यहाँ परिचय प्रस्तुत है।

दूसरा खण्ड '**श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य**' है। इस खण्डमें दो परिच्छेद हैं—१. श्रुतधराचार्य और २. सारस्वताचार्य।

प्रथम परिच्छेद : श्रुतधराचार्य

इस परिच्छेदमें श्रुतधराचार्योंका परिचय निबद्ध है। श्रुतधराचार्यसे लेखकका अभिप्राय उन आचार्योंसे है, जिन्होंने सिद्धान्त-साहित्य, कर्म-साहित्य, अध्यात्म-साहित्यका ग्रथन किया है और जो युग-संस्थापक एवं युगान्तरकारी हैं। इन आचार्योंमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, कुन्दकुन्द, वप्पदेव और गृद्धपिच्छाचार्य अभिप्रेत हैं। आरम्भमें आचार्यका स्वरूप, आचार्यका महावीरके वाङ्मयके साथ सम्बन्ध, श्रुतका वर्ण्य विषय, उसके भेद-प्रभेद एवं उनका सामान्य परिचय अङ्कित है। श्रुतके धारक आचार्योंकी परम्परामें आद्य आचार्य गुणधर और धरसेनके व्यक्तित्व, समय-निर्धारण एवं वैदुष्यपर प्रकाश डालते हुए गुणधराचार्य द्वारा रचित 'कसायपाहुड'का तथा धरसेनाचार्यके साक्षाच्छिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि और उनके 'षट्खण्डागम'का विस्तृत परिचय दिया गया है। आर्यमंक्षु, नागहस्ति, वज्र, वज्रयश, चिरन्तनाचार्य, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्यके व्यक्तित्व, कृतित्व और समय-निर्णय आदि पर विशेष विचार करते हुए कुन्दकुन्दके उपलब्ध ग्रन्थोंका विशद परिचय दिया गया है। परिच्छेदके अन्तमें शिवार्य, स्वामिकुमार और आचार्य गृद्धपिच्छ तथा इनकी रचनाओंका परिशीलन निबद्ध है।

द्वितीय परिच्छेद : सारस्वताचार्य

इसमें श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्यकी भेदक रेखाओंका अङ्कन करते हुए स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि-पूज्यपाद, पात्रकेसरी (पात्रस्वामी), जोइंदु, विमलसूरि, ऋषिपुत्र, मानतुङ्ग, रविषेण, जटासिंहनन्दि, एलाचार्य, अकलङ्कदेव, वीरसेन, जिनसेन द्वितीय, अमितगति प्रथम, अमितगति द्वितीय, अमृतचन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, नरेन्द्रसेन, नेमिचन्द्र मुनि, श्रीदत्त, कुमारसेन, यशोभद्र, वज्रसूरि, शान्तिषेण, श्रीपाल, काणभिक्षु और कनकनन्दिका जीवनवृत्त, गुरुपरम्परा, समय-निर्णय और रचनाओंका विशद परिचय अङ्कित है। इसी परिच्छेदमें सिंहनन्दि, सुमति, कुमारनन्दि, विद्यानन्द आदि आचार्योंका भी परिचय ग्रथित है। इन्हें लेखकने सारस्वताचार्योंमें परिगणित किया है। सारस्वताचार्यसे लेखकका तात्पर्य उन आचार्योंसे है, जिन्होंने प्राप्त हुई श्रुतपरम्पराका मौलिक ग्रन्थ-प्रणयन और टीका-साहित्य द्वारा प्रचार एवं प्रसार किया है।

इस प्रकार इस खण्डमें श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य वर्णित हैं। उनके द्वारा रचित वाङ्मय भी विवेचित है।

३. प्रबुद्धाचार्य और परम्परापोषकाचार्य

इस खण्डमें भी दो परिछेद हैं। इनका वर्ण्य विषय निम्न प्रकार है।

प्रथम परिच्छेद : प्रबुद्धाचार्य

इस परिच्छेदमें डॉक्टर शास्त्रीने प्रबुद्धाचार्यों और उनकी कृतियोंको संकलित किया तथा उनका विस्तृत परिचय दिया है। प्रबुद्धाचार्यसे अभिप्राय उन आचार्यों से लिया है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रन्थप्रणयनके साथ विवृतियाँ और भाष्य भी रचे हैं। इस श्रेणीमें जिनसेन प्रथम, गुणभद्र, पाल्यकीर्ति, वादीभसिंह, महावीराचार्य, बृहत् अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, लघु-अनन्तवीर्य, वीरनन्दि, महासेन, हरिषेण, सोमदेव, वादिराज, पद्मनन्दि प्रथम, पद्मनन्दि द्वितीय, जयसेन, पद्मप्रभमलधारिदेव, शुभचन्द्र, अनन्तकीर्ति, मल्लिषेण, इन्द्रनन्दि प्रथम, इन्द्रनन्दि द्वितीय आदि पचास आचार्य परिगणित हैं। इन सबका परिचय इस परिच्छेदमें निबद्ध है। इनकी कृतियोंका भी विस्तारसे वर्ण्य-विषय प्रतिपादित है।

द्वितीय परिच्छेद : परम्परापोषकाचार्य

लेखकने परम्परापोषकाचार्य उन्हें बताया है, जिन्होंने दिगम्बर परम्पराकी रक्षाके लिए प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थोंके आधारपर अपने नये ग्रन्थ लिखे और परम्पराको गतिशील बनाये रखा है। इस श्रेणीमें भट्टारक परिगणित हैं। पार्श्वदेव, भास्करनन्दि, ब्रह्मदेव, रविचन्द्र, पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ब्रह्मजिनदास, सोमकीर्ति, ज्ञानभूषण, अभिनव धर्मभूषण, विजयकीर्ति, शुभचन्द्र, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, वीरचन्द्र, सुमतिकीर्ति, यशःकीर्ति, धर्मकीर्ति आदि पचास परम्परापोषकाचार्यों का परिचय, समय-निर्णय और उनकी रचनाओंका इस परिच्छेदमें विस्तृत निरूपण है।

४. आचार्यतुल्य काव्यकार एवं लेखक

इस चतुर्थ भागमें उन जैन काव्यकारों एवं ग्रन्थ-लेखकोंका परिचय निबद्ध है, जो स्वयं आचार्य न होते हुए भी आचार्य जैसे प्रभावशाली ग्रन्थकार हुए। इसमें चार परिच्छेद हैं, जिनका प्रतिपाद्य-विषय अधोलिखित है :—

प्रथम परिच्छेद : संस्कृत-कवि और ग्रन्थलेखक

इसमें परमेष्ठि, धनञ्जय, असग, हरिचन्द, चामुण्डराय, अजितसेन, विजयवर्णी आदि तीस संस्कृत-कवियों एवं ग्रन्थलेखकोंका व्यक्तित्व एवं कृतित्व वर्णित है।

द्वितीय परिच्छेद : अपभ्रंश-कवि एवं लेखक

इस परिच्छेदमें चतुर्मुख स्वयंभूदेव, त्रिभुवन स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, धवल, हरिषेण, वीर, श्रीचन्द्र, नयनन्दि, श्रीधर प्रथम, श्रीधर द्वितीय, श्रीधर तृतीय, देवसेन, अमरकीर्ति, कनकामर, सिंह, लाखू, यशःकीर्ति, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, रइधू, तारणस्वामी आदि पैंतालीस अपभ्रंश-कवियों-लेखकों और उनकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय निबद्ध है।

तृतीय परिच्छेद : हिन्दी तथा देशज भाषा-कवि एवं लेखक

इसमें बनारसीदास, रूपचन्द्र पाण्डेय, जगजीवन, कुंवरपाल, भूधरदास द्यानतराय, किशनसिंह, दौलतराम प्रथम, दौलतराम द्वितीय, टोडरमल्ल, भागचन्द, महाचन्द आदि पच्चीस हिन्दी-कवियों और लेखकोंका उनकी कृतियों सहित परिचय अङ्कित है। अन्य देशज भाषाओंमें कन्नड़, तमिल और मराठीके प्रमुख काव्यकारों एवं लेखकोंका भी परिचय दिया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद : पट्टावलियां

इस परिच्छेदमें प्राकृत-पट्टावलि, सेनगण-पट्टावलि, नन्दिसंघबलात्कारगण-पट्टावलि, आदि नौ पट्टावलियाँ संकलित हैं। इन पट्टावलियोंमें कितना ही इतिहास भरा हुआ है, जो राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टियोंसे बड़ा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

इस प्रकार प्रस्तुत महान् ग्रन्थसे जहाँ तीर्थंकर वर्धमान-महावीर और उनके सिद्धान्तोंका परिचय प्राप्त होगा, वहाँ उनके महान् उत्तराधिकारी इन्द्रभूति आदि गणधरों, श्रुतकेवलियों और बहुसंख्यक आचार्यों के यशस्वी योगदान— विपुल वाङ्मय-निर्माणका भी परिज्ञान होगा। यह भी अवगत होगा कि इन आचार्यों ने समय-समय पर उत्पन्न प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी तीर्थंकर महावीरकी अमृतवाणीको अपनी साधना, तपश्चर्या, त्याग और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा अब तक सुरक्षित रखा तथा उसके भण्डारको समृद्ध बनाया है।

स्व० आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री

इस विशाल ग्रन्थके लेखक आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, एम. ए. (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी), पी-एच. डी., डी. लिट्, अध्यक्ष प्राकृत-संस्कृत विभाग हरप्रसाद दास जैन कालेज आरा (मगध विश्व विद्यालय) बिहार हैं। हमें अपार दुःख है कि यह यशस्वी ज्योतिर्मान् विद्वन्नक्षत्र विगत १० जनवरी १९७४ को असमयमें अस्त हो गया, जो अपनी इस अन्तिम कृतिको प्रकाशित न देख सका।

यहाँ उनका संक्षेपमें परिचय प्रस्तुत किया जाता है। वे होते, तो उनके इस परिचयके निबद्ध करनेकी आवश्यकता न होती।

जीवन-परिचय

लेखकका जन्म पौष कृष्णा १२, विक्रम संवत् १९७२ में राजस्थान प्रदेशके बावरपुरमें हुआ। पिताका नाम श्री बलवीर सिंह और माताका नाम श्रीमती जाविती बाई था। डेढ़ वर्षको अवस्थामें ही आपके पिताका स्वर्गवास हो गया था। विधवा माता जावित्री बाई और नाना श्री झण्डूलालजीके संरक्षणमें आप पले-पुषे एव मिडिल तक शिक्षा प्राप्त की। आचार्य शास्त्री बचपनसे ही मेधावी और तीक्ष्णबुद्धि थे। आरम्भमें राजाखेड़ा (आगरा) के कुन्दकुन्द दि० जैन विद्यालयमें तीन वर्ष और उसके बाद स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमें सात वर्ष प्राच्य विद्याओं—प्राकृत, संस्कृत, धर्मशास्त्र, साहित्य, न्याय और ज्यौतिषशास्त्रका उच्च अध्ययन किया।

आचार्य शास्त्रीने जो शैक्षणिक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं, वे इस प्रकार हैं—

प्राच्य-विद्यासे सम्बन्धित—

१. न्यायतीर्थ (दि० जैन)	बंगाल संस्कृत एसोशिएसन	१९३७
२. ज्यौतिषतीर्थ	,, ,, ,,	१९३८
३. काव्यतीर्थ	,, ,, ,,	१९३९
४. शास्त्री (ज्यौतिष)	वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय	१९४१
५. ज्यौतिषाचार्य	,, ,, ,,	१९४६

अन्य

१. मैट्रिक-परीक्षा	उत्तर प्रदेश बोर्ड, प्रयाग	१९४०
२. इण्टर-मीडियट	,, ,,	१९५४
३. साहित्यरत्न	हिन्दी विश्व विद्यालय, प्रयाग	१९४३
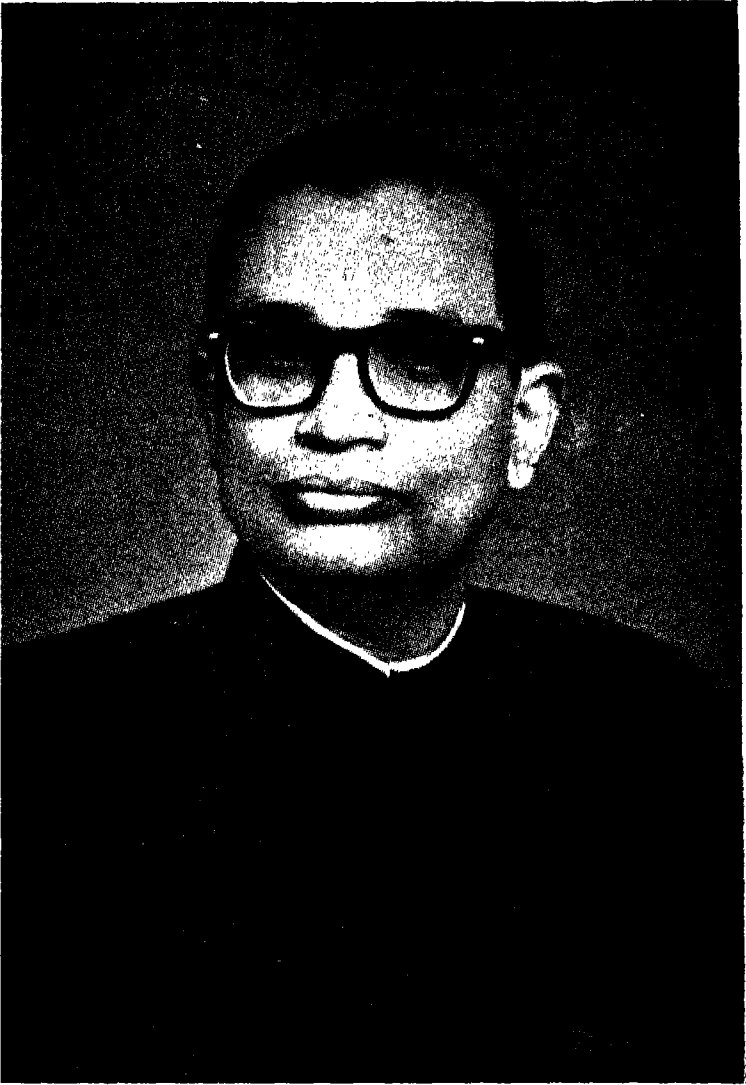
डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

उदय : पौषकृष्णा १२ : अवसान : माघ कृष्ण २

विक्रम संवत् १९७२ वि० सं० २०३०

ई० सन् १९१५ १० जनवरी, १९७४

४. एम. ए. (संस्कृत)　　आगरा विश्व विद्यालय　···· १९५७
५. एम. ए. (हिन्दी)　　विहार विश्व विद्यालय　···· १९५८
६. एम. ए. (प्राकृत) [स्वर्णपदक] ,,　,,　,,　१९५९
७. पी-एच. डी. [हरिभद्रके कथा-साहित्यका आलोचनात्मक
परिशीलन]—　　भागलपुर विश्व विद्यालय　१९६२
८. डी. लिट् [संस्कृत-काव्यके विकासमें जैन कवियोंका
योगदान]—　　मगध विश्व विद्यालय　१९६७

इन रेखाओंसे विदित है कि आचार्य शास्त्री १९३७ से १९६७ तक लगातार ३० वर्ष सतत ज्ञानार्जनमें निरत रहै और तीव्रगतिसे समग्र शैक्षणिक उपलब्धियाँ अर्जित करनेमें सफल हुए। प्रत्येक परीक्षामें प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण होते गये।

साहित्य-सृजन और पुरस्कार-प्राप्ति

आचार्य नेमिचन्द्रजीको अनेक कृतियों पर पुरस्कार एवं बहुमान प्राप्त हुआ। पुरस्कृत कृतियाँ निम्न प्रकार हैं—

ग्रन्थ	प्रकाशक	पुरस्कार	
१. भारतीय ज्यौतिष	भारतीय ज्ञान पीठ	उत्तर प्रदेश सरकार	११००)
२. आदि पुराणमें प्रतिपादित भारत	वर्णी-ग्रन्थमाला	,,　,	५००)
३. संस्कृत-गीतिकाव्यानुचिन्तनम्		,,　,,	११००)
इसी पर वृषभदेव संगीत पुरकार, श्रमण संघ दिल्ली		····	२५००)
४. संस्कृत-काव्यके विकासमें जैन कवियों का योगदान	भारतीय ज्ञानपीठ	उत्तर प्रदेश सरकार	५००)

अन्य प्रकाशित रचनाएँ :

१. स्नातक-संस्कृत-व्याकरण　(मौलिक) ज्ञानदा प्रकाशन, पटना
२. चन्द्र-संस्कृत-व्याकरण　मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
३. हेमशब्दानुशासन : एक अध्ययन　चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
(व्याकरणशास्त्रका तुलनात्मक अध्ययन)
४. अभिनव प्राकृत-व्याकरण　····　तारा यंत्रालय, वाराणसी
५. प्राकृत-भाषा और साहित्यका
आलोचनात्मक इतिहास　तारा यंत्रालय, वाराणसी
६. हरिभद्रके प्राकृत-कथासाहित्यका
आलोचनात्मक परिशीलन　प्राकृत जैन शोध संस्थान, वैशाली
७. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन　भारतीय ज्ञान पीठ　दिल्ली
८. णमोकार मंत्र : एक अनुचिन्तन　भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली

९. भाग्यफल — साहित्य-कुटीर, आरा
१०. प्राकृत-प्रबोध — चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
११. संस्कृत-प्रबोध — सुशीला प्रकाशन, धौलपुर
१२. पुराने घाट : नयी सीढ़ियाँ — अहिंसा मन्दिर, दिल्ली
१३. भास (Monograph) — मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
१४. पण्डित गोपालदास वरैया संक्षिप्त झाँकी — अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
१५. आचार्य जुगलकिशोर : व्यक्तित्व और कृतित्व — अ० भा० दि० जैन वि० प०
१६. विश्वशान्ति और जैनधर्म — जैनेन्द्र भवन, आरा
१७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आ० परम्परा — अ० भा० दि० जैन वि० प०

सम्पादन-अनुवाद

१. व्रततिथिनिर्णय — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
२. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
३. भद्रबाहुसंहिता — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
४. मुहूर्त्तदर्पण — साहित्य कुटीर, आरा
५. रिट्ठसमुच्चय — साहित्य कुटीर, आरा
६. रत्नाकरशतक — देशभूषण ग्रन्थमाला, काशी
७. धर्मामृत — देशभूषण ग्रन्थमाला, वाराणसी
८. लोकविजययंत्र — वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी
९. अलंकारचिन्तामणि — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
१०. रघुवंश (द्वितीय सर्ग) — ज्ञानदा प्रकाशन, पटना
११. कुमारसम्भवम् (पंचम सर्ग) — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
१२. पाइय पज्ज-संगहो पढमो भागो — तारा यंत्रालय, वाराणसी
१३. पाइय गज्ज-संगहो पढमो भागो — तारा यंत्रालय, वाराणसी
१४. पाइय पज्ज-संगहो बीयो भागो — B. P. T. C. प्रकाशन
१५. वरैया स्मृतिग्रन्थ — अखिल भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
१६. Proceedings of the Seminar of scholars in Prakrit and Pali held at Magadh University, Bodhgaya 1971.

पत्र-सम्पादन

१. मागधम् (संस्कृत) — संस्कृत-प्राकृत विभाग ह० दा० जैन कालेज, आरा
२. जैन-सिद्धान्त भास्कर (हिन्दी) — देवकुमार जैन प्राच्य-विद्या शोध-संस्थान, आरा (बिहार)
३. Jain Antiquary (English)
४. भारतीय जैन साहित्य परिवेशन — भारतीय जैन साहित्य संसद्

ग्रन्थ-सम्पादन मुद्रणक्रममें

युगों-युगोंमें जैनधर्म — भारत धर्म महामण्डल बम्बई

सपने : जो रह गये अधूरे

१. महाकवि कालिदासकी उपमान-योजना
२. वाक्यगठन : वृत्तिविचार
३. अर्थमीमांसा—सिद्धान्त और विनिमय
४. महाकवि बाणके शतशब्द
५. संस्कृत ऐतिहासिक नाटकोंका विवेचनात्मक अनुशीलन
६. जैनदर्शन
७. संस्कृत कवियोंका जीवन-दर्शन
८. समराइच्चकहा (सम्पादन)
९. चन्द्रान्मीलन प्रश्न (सम्पादन)

आचार्य शास्त्रीने इन ग्रन्थोंको आरम्भ किया था, पर वे इन्हे पूरा नहीं कर सके।

प्रवृत्तियाँ

आचार्य शास्त्री न केवल साहित्य-साधक मनीषी थे, अपितु समाज-सेवक एवं लोक-सेवक भी थे। आपकी सेवाएं एवं प्रवृत्तियाँ बहुमुखी थीं। उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१. मानद निदेशक : देव कुमार जैन प्राच्य-विद्या शोध-संस्थान
२. उपाध्यक्ष : अखिल भारतीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
३. संयुक्त मंत्री : श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी
४ ट्रस्टी : वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
५. सदस्य-प्रबन्धकारिणी : स्याद्वाद-महाविद्यालय, वाराणसी

इनके अतिरिक्त अहिंसा, प्राकृत और जैन विद्या शोधसंस्थान वैशाली (बिहार), बिहार प्रान्तीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी आदि संस्थाओंके भी आप मानद सदस्य थे। उज्जैन (म० प्र०) में हुए अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलनके २६वें अधिवेशनमें प्राकृत और जैन विद्या विभागके आप अध्यक्ष हुए थे। इस तरह आचार्य शास्त्रीका समग्र जीवन लोक-सेवा एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियोंमें सदैव घुला-मिला रहा। एक दर्जनसे अधिक छात्रोंको विभिन्न जैन अथवा अन्य विषयोंमें पी-एच० डी० कराया और उसके लिए सदा उद्यत रहे। आप छात्रों और अध्यापकोंके परमहितैषी एवं कल्पतरु थे।

परिवार

आपके परिवारमें ७० वर्षीया वृद्धा माता जावित्री बाईजी, विधवा पत्नी

४८ वर्षीया श्रीमती सुशीलाबाई और एकमात्र १९ वर्षीय पुत्र चिरंजीव नलिन कुमार है। कभी हमने यह कल्पना नहीं की थी कि ऐसे यशस्वी, लोकप्रिय और सर्वहितैषी विद्वानका यह परिवार निराश्रित हो जायेगा। जो घर आचार्य शास्त्रीके मित्रों, बन्धुओं, छात्रों और प्रचुर मित्र-अध्यापकोंसे भरा रहता था वह सहसा रिक्त हो जायेगा, यह कभी विचार नहीं आया था। यही जीवनकी सबसे बड़ी विडम्बना है। जीवनके साथ संयोग-वियोग उसी तरह लगे हुए हैं जिस तरह सुख और दुःख सम्पृक्त हैं। यही सोचकर धैर्य, साहस और विवेककी त्रिपुटी मानव-परिवारको जीवन-पथमें संबलका काम करती है।

हमारा विश्वास है कि आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री विनश्वर शरीरसे आज भले ही न हों, किन्तु सरस्वती-साधनासे प्रसूत यश और कृतियोंसे वे अमर हैं। उन्हें हमारी परोक्ष श्रद्धाञ्जलि है और परिवारके प्रति हार्दिक समवेदना।

आभार

इस विशाल ग्रन्थके सृजन और प्रकाशनका विद्वत्परिषद्ने जो निश्चय एवं संकल्प किया था, उसकी पूर्णता पर आज हमें प्रसन्नता है। इस संकल्पमें विद्वत्परिषद्के प्रत्येक सदस्यका मानसिक या वाचिक या कायिक सहभाग है। कार्यकारिणीके सदस्योंने अनेक बैठकोंमें सम्मिलित होकर मूल्यवान् विचार-दान किया है। ग्रन्थ-वाचनमें श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० ज्योतिप्रसादजीका तथा ग्रन्थको उत्तम बनानेमें स्थानीय विद्वान् प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, पण्डित अमृतलालजी शास्त्री एवं पण्डित उदयचन्द्रजी बौद्धदर्शनाचार्यका भी परामर्शादि योगदान मिला है।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने '**आद्य मिताक्षर**' रूपमें आशीर्वचन प्रदान कर तथा वरिष्ठ विद्वान् श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने '**प्राक्कथन**' लिखकर अनुगृहीत किया है।

खतौली, भोपाल, बम्बई, दिल्ली, मेरठ, जबलपुर, तेंदूखेड़ा, सागर, वाराणसी, आरा आदि स्थानोंके महानुभावोंने ग्रन्थका अग्रिम ग्राहक बनकर सहायता पहुँचायी है। विद्वत्परिषद्के कर्मठ मंत्री आचार्य पण्डित पन्नालालजी सागरके साथ मैं भी इन सबका हृदयसे आभार मानता हूँ।

वीर-शासन-जयन्ती,
श्रावण कृष्णा १, वी० नि० सं० २५००,
५ जुलाई, १९७४
वाराणसी

दरबारीलाल कोठिया
अध्यक्ष
अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

तीर्थङ्करपरम्परा और महावीर

द्वितीय परिच्छेद

जन्म-जन्मकी साधना

तृतीय परिच्छेद

समसामयिक परिस्थितियाँ, महान विचारक एवं सम्प्रदाय

चतुर्थ परिच्छेद

तीर्थङ्कर महावीरकी जन्मभूमि, जन्म और किशोरावस्था

पञ्चम परिच्छेद

युवावस्था, संघर्ष एवं संकल्प

षष्ठ परिच्छेद

तपश्चरण, वर्षावास एवं कैवल्य-उपलब्धि

विषय		पृष्ठ

सप्तम परिच्छेद

गणधर, समवशरण, शिष्य एवं निर्वाण

विषय		पृष्ठ

अष्टमपरिच्छेद

विषय — देशना : ज्ञेयतत्त्व — पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

नवम परिच्छेद

देशना : ज्ञानतत्त्व-मीमांसा

दशम परिच्छेद
धर्म और आचार-मीमांसा

विषय		पृष्ठ

एकादश परिच्छेद

समाज-व्यवस्था

उपसंहार

महावीर : व्यक्तित्व-विश्लेषण

●

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य परम्परा

प्रथम परिच्छेद

तीर्थंकर-परम्परा और महावीर

मानवजीवन एवं धर्म-दर्शन

धर्म और दर्शन मानवजीवनके लिये आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हैं। जब मानव चिन्तन-सागरमें निमग्न होता है, तब दर्शनका और जब उस चिन्तनका अपने जीवनमें उपयोग या प्रयोग करता है, तब धर्मकी उत्पत्ति होती है। मानवजीवनकी विभिन्न समस्याओंके समाधान हेतु धर्म और दर्शनका जन्म हुआ है। धर्म और दर्शन परस्परमें सापेक्ष हैं, एक दूसरेके पूरक हैं। चिन्तकोंने धर्ममें बुद्धि, भावना और क्रिया ये तीन तत्त्व माने हैं। बुद्धिसे ज्ञान, भावनासे श्रद्धा और क्रियासे आचार अपेक्षित है। जैन दृष्टिमें इसीको सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहा जाता है। काण्टने धर्मकी व्याख्या करते हुए ज्ञान और क्रियाको महत्त्व दिया है। मार्टिन्यूने धर्मके अन्तर्गत विश्वास, विचार और आचार इन तीनोंका समन्वय माना है। प्रकारान्तरसे इन्हें भक्ति, ज्ञान और कर्म कहा जा सकता है।

धर्म-दर्शनका विषय सम्पूर्ण विश्वसे सम्बद्ध है। विश्वके किसी भी प्रदेशका मानव इन दोनोंके अभावमें अपनी समस्याओंका समाधान प्राप्त नहीं कर सकता और न जीवनको गतिशील ही बना सकता है। भौतिकतासे ऊब कर विश्व-का प्रत्येक मनुष्य आध्यात्मिकताकी शरणमें पहुँचता है और धर्म-दर्शनके आश्रय-में ही उसे शान्ति-लाभ होता है। दर्शन मानवकी अनुभूतियोंकी तर्कपुरस्सर व्याख्या कर सम्पूर्ण विश्वके आधारभूत सिद्धान्तोंका अन्वेषण करता है। धर्म आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा सम्पूर्ण विश्वका विवेचन करता है। जीवनके विविध मूल्योंका निर्धारण और उनकी उपलब्धिका साधन धर्म-दर्शन ही है। ये दोनों मानवीय ज्ञानकी योग्यतामें, यथार्थतामें तथा चरमोपलब्धिमें विश्वास करते हैं। दर्शनमें बौद्धिकताकी आवश्यकता है, तो धर्ममें आध्यात्मिकताकी। आत्मनिष्ठा, विवेक और आत्मनिष्ठ आचार व्यक्तिके व्यक्तित्वविकासके मानदंड हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे धर्म-दर्शनकी उत्पत्तिका पता लगाना असम्भव है। इसके लिये प्राग् ऐतिहासिक कालकी सामग्रीका विवेचन आवश्यक है। अनादि कालसे मानव, मानवताकी प्रतिष्ठाके लिये धर्म-दर्शनका प्रयोग करता आ रहा है। इस विश्वमें धर्म-दर्शनका स्वरूपनिर्धारण करनेके हेतु वीतराग नेता या तीर्थंकर जन्म ग्रहण करते हैं। वर्तमान कल्पकालमें चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, जिनमें अन्तिम तीर्थंकर महावीर हैं। तीर्थंकर महावीरसे पूर्व धर्म-दर्शनके व्याख्याता तेईस तीर्थंकर और हो चुके हैं। जिन्होंने मुक्ति-साधना एवं प्रकृतिके विभिन्न रहस्योंकी व्याख्याएँ की हैं और मानव-जीवनको सुन्दर, सरस, मधुर एवं व्यव-स्थित बनानेका उपदेश दिया है। प्रत्येक कल्पकालमें चौबीस तीर्थंकरोंकी परम्परा आरम्भ होती है और यही परम्परा विच्छिन्न होते हुए समता और अहिंसामय धर्मकी व्याख्या करती है। व्यक्तिकी सत्ता, स्वाधीनता और सह-अस्तित्वकी भावनाका प्रवर्त्तन तीर्थंकरों द्वारा ही होता है। सहिष्णुता, उदारता और धैर्यके सन्तुलनके साथ वैज्ञानिक सत्यान्वेषणकी परम्पराका प्रादुर्भाव भी तीर्थंकरों द्वारा ही संभव है।

तीर्थंकर परम्परावादी या रूढ़िवादी नहीं होते। उनकी चिन्तन-पद्धति सहिष्णु, क्रान्तिनिष्ठ और प्रगतिशील होती है। वे प्रत्येक युगमें धार्मिक अन्तर विरोधोंको रचनात्मक मोड़ देते हैं, और अपनी स्वस्थ चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा अहिंसा, समता, सहिष्णुता आदिकी उपासना करते हैं। स्याद्वाद या अनेकान्त उदार चिन्तन-पद्धतिके माध्यमसे सर्वधर्मसमभावको साकार करनेका यत्न तो करते ही हैं, साथ ही अन्धविश्वासों और रूढ़ियोंका उन्मूलन भी करते हैं। नरमें नारायणकी प्रतिष्ठा द्वारा प्रत्येक व्यक्तिको परमात्मा बननेकी प्रेरणा देते

हैं। तीर्थंकरोंके सन्देशसे प्रत्येक प्राणी अपने भाग्यका विधाता बन सतत पुरुषार्थ द्वारा परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है। यह तत्त्व सहज है, दुष्प्राप्य है, पर अप्राप्य नहीं। भीरु रहनेवाला परमात्मतत्त्वको प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार तीर्थंकरोंने मानव-जीवनकी प्रत्येक क्रियाको अहिंसाके मापदंड द्वारा मापा है। जो क्रिया अहिंसामूलक है, रागद्वेष और प्रमादसे रहित है, वह सम्यक् है और जो हिंसामूलक है वह मिथ्या है। मिथ्या क्रिया कर्म-बन्धनका कारण है और सम्यक् क्रिया कर्मक्षयका। धार्मिक विधि-विधानोंमें ही अहिंसाकी आवश्यकता नहीं है, अपितु जीवनके दैनिक व्यवहारमें भी अहिंसाकी आवश्यकता है।

तीर्थंकर अपने आचार और विचारसे पार्थिव जीवनको अपार्थिव तो बनाते ही हैं, साथ ही आत्मसाधनाका एक विशुद्ध और सुपरीक्षित मार्ग भी निर्धारित कर देते हैं। ये सत्यके अन्वेषण, आत्मसाक्षात्कार एवं सुलझी हुई अन्तर्दृष्टि द्वारा मानवताकी प्रतिष्ठा करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, आस्था और आत्मशोधनकी प्रक्रिया भी प्रस्तुत करते हैं। ये जीवनके सम्यक्त्वका उपदेश देते हैं और मनको निर्मल बनानेका उपाय बतलाते हैं। वास्तवमें तीर्थंकरोंकी यह परम्परा सुदूर प्राचीनकालसे चली आ रही है।

जैनधर्म और तीर्थंकर-परम्परा

जैनधर्ममें मान्य तीर्थंकरोंका अस्तित्व वैदिक कालके पूर्व भी विद्यमान था। इतिहास इस परम्पराके मूल तक नहीं पहुँच सका है। उपलब्ध पुरातत्त्व-सम्बन्धी तथ्योंके निष्पक्ष विश्लेषणसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि तीर्थंकरोंकी परम्परा अनादिकालीन है। वैदिक वाङ्मयमें वात-रशनामुनियों, केशी-मुनि और व्रात्य क्षत्रियोंके उल्लेख आये हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थपर विश्वास करनेवाले धर्मके प्रगतिशील व्याख्याता तीर्थंकर प्राग् ऐतिहासिक कालमें भी विद्यमान थे। मोहन-जो-दड़ोंके खंडहरोंसे प्राप्त योगीश्वर ऋषभकी कायोत्सर्ग मुद्रा इसका जीवन्त प्रमाण है। यहाँसे उपलब्ध अन्य पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री भी तीर्थंकर-परम्पराकी पुष्टि करती है। वैदिक संस्कृतिमें ही वेदोंको सर्वोपरि महत्त्व देकर मानव-ज्ञानकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हुई है, अपितु श्रमण-संस्कृतिमें भी वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ तीर्थंकरकी प्रतिष्ठा कर मानवताको महत्त्व प्रदान किया है। दीपक स्वयं प्रकाशित होता है और दर्पण स्वभावतः स्वरूपावलोकनका अवसर प्रदान करता है। इसी प्रकार तीर्थंकर भी समस्त आमुष्मिकताओंसे ऊपर उठकर मानवताका सन्देश देते हैं। इनमें राग-द्वेषका स्पर्श भी नहीं रहता और इनका ज्ञान इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें

सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रतिभासित होता है। मृदंगकी ध्वनिके समान तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि भी नितान्त निस्पृह तथा परम लोकोपकारी होती है[1]।

तीर्थंकर : व्युत्पत्ति एवं अवधारणा

तीर्थंकरशब्द तीर्थ उपपद √कृञ् + अप्‌से बना है। इसका अर्थ है जो तीर्थ—धर्मका प्रचार करे वह तीर्थंकर है। तीर्थशब्द भी √तृ + थक्‌से निष्पन्न है। शब्द-कल्पद्रुमके अनुसार '**तरति पापादिकं यस्मात् इति तीर्थम्**' अथवा '**तरति संसार-महार्णवं येन तत् तीर्थम्**' अर्थात् जिसके द्वारा संसारमहार्णव या पापादिकोंसे पार हुआ जाय, वह तीर्थ है। इस शब्दका अभिधागत अर्थ घाट, सेतु या गुरु है और लाक्षणिक अर्थ धर्म है। तीर्थंकर वस्तुतः किसी नवीन सम्प्रदाय या धर्मका प्रवर्तन नहीं करते वे अनादिनिधन आत्मधर्मका स्वयं साक्षात्कार कर वीतरागभावसे उसकी पुनर्व्याख्या या प्रवचन करते हैं। तीर्थंकरको मानव-सभ्यताका संस्थापक नेता माना गया है। ये ऐसे शलाकापुरुष हैं, जो सामा-जिक चेतनाका विकास करते हैं और मोक्ष-मार्गका प्रवर्तन करते हैं।

तीर्थका अर्थ 'पुल' या 'सेतु' है। कितनी ही बड़ी नदी क्यों न हो, सेतु द्वारा निर्बल-से-निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमतासे पार कर सकता है। तीर्थंकरोंने संसार-रूपी सरिताको पार करनेके लिये धर्मशासनरूपी सेतुका निर्माण किया है। इस धर्मशासनके अनुष्ठान द्वारा आध्यात्मिक साधनाकर जीवनको परम पवित्र और मुक्त बनाया जा सकता है।

तीर्थशब्द 'घाट'के अर्थमें भी व्यवहृत है। जो घाटके निर्माता हैं, वे तीर्थ-कर कहलाते हैं। सरिताको पार करनेके लिये घाटकी सार्वजनीन उपयोगिता स्पष्ट है। संसाररूपी एक महानदी है। इसमें क्रोध, मान, मायादिके विकाररूप मगर-मत्स्य मुँह फाड़े खड़े हुए हैं। कहींपर मायाके विषैले सर्प फुत्कार करते हैं, तो कहींपर लोभके भँवर विद्यमान हैं। इन समस्त बाधाओंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये तीर्थंकर धर्म-घाटका निर्माण करते हैं। इस धर्मका अनुष्ठान और साधनाकर प्रत्येक साधक संसाररूपी नदीसे पार हो सकता है।

आगम बतलाता है कि अतीतके अनन्तकालमें अनन्त तीर्थंकर हुए हैं। वर्त्तमानमें ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर हैं और भविष्यत्‌में भी चतुर्विंशति

---

१. अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान् मुरजः किमपेक्षते ॥

—आ० समन्तभद्र : रत्नकश्रा०, श्लोक० ८.

तीर्थंकर होंगे। ये भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालके सभी तीर्थंकर धर्मके मूल स्तम्भस्वरूप शाश्वत सत्योंका समानरूपसे प्ररूपण करते रहे हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे। धर्मके मूल तत्त्वोंके निरूपणमें एक तीर्थंकरसे दूसरे तीर्थंकरका किंचिन्मात्र भी भेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा। पर प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समयमें देश, काल, जनमानसकी ऋजुता, तत्कालीन मानवकी शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदिको ध्यानमें रखते हुए उस कालके मानवके अनुरूप धर्म-दर्शनका प्रवचन करते हैं।

देशकालके प्रभावसे जब तीर्थमें नानाप्रकारकी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अनेक भ्रान्तियाँ पनपने लगती हैं और तीर्थ, विलुप्त, विशृंखलित एवं शिथिल होने लगता है, उस समय दूसरे तीर्थंकरका समुद्भव होता है और वे विशुद्धरूपेण नवीन तीर्थकी स्थापना करते हैं। अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्मके प्राणभूत सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों रूपमें उपदिष्ट किये जाते हैं। केवल बाह्य क्रियाओं एवं आचार-व्यवहार आदिमें ही किंचित् अन्तर आता है।

जब पुराने घाट ढह जाते हैं, वे विकृत एवं अनुपयोगी हो जाते हैं। तब नवीन घाटोंका निर्माण किया जाता है। जब धार्मिक विधि-विधानमें विकृति आ जाती है, तब तीर्थंकर उन विकृतियोंको दूरकर अपनी दृष्टिसे पुनः धार्मिक विधि-विधानोंका प्रवचन करते हैं। ये आत्मोपकारके साथ लोकोपकारमें भी प्रवृत्त रहते हैं। स्वयंको जीतकर अन्य लोगोंको स्वयंको जीतनेका मार्ग बतलाते हैं। इसप्रकार तीर्थंकर-परम्परा प्रखरधारवाले भवसागरके तटपर घाट स्थापित करनेके साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके पोत भी निर्मित करती है।

तीर्थंकर कोई रूढ़ शब्द नहीं है। यह महिमाशाली, दयालु, निःस्वार्थ, निर्भीक, सर्वज्ञ, जितेन्द्रिय और निर्मल विश्वासीके लिये प्रयुक्त होता है। इसमें अनन्त अपरिमित ऊर्जा और आत्मबल पाया जाता है। तीर्थंकर पद आत्म-विकासका चरमोत्कर्ष है और है आत्मविद्याका सर्वोच्च शिखर। तीर्थंकरोंने भौतिक जीवनको आध्यात्मिक जीवनदर्शन दिया। आत्मसाधनाका एक विशुद्ध और सुपरीक्षित मार्ग बतलाया है। उन्होंने सत्यकी शोध, आत्मसाक्षात्कार और सुलझी हुई आत्मदृष्टि द्वारा मनुष्यको स्वानुभूतिका प्रतिष्ठित मार्ग बतलाया है। निःसन्देह 'तीर्थ' एक लोक-प्रचलित शब्द है, पर तीर्थंकरके अर्थमें उसका प्रयोग लक्षणा और व्यंजना इन दोनों शब्द-शक्तियों द्वारा होता है। अतः तीर्थं-कर वह विशिष्ट वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति है, जो संसार-सागरसे

पार होनेका मार्ग प्रतिपादित करता है। अतएव वह मोक्षमार्गका प्रवर्त्तक युग-पुरुष होता है।

मानव-सभ्यताके सूत्रधार कुलकर और तीर्थंकरोंका आरम्भ एवं संख्या

जैन विचारकोंकी दृष्टिसे यह संसार अनादिकालसे सतत गतिशील चला आ रहा है। इसका न कहीं आदि है और न कहीं अन्त। यह दृश्यमान विश्व परिवर्तनशील, परिणामी और नित्य है। मूलद्रव्यकी दृष्टिसे नित्य है और पर्यायकी दृष्टिसे परिवर्तनशील। प्रत्येक जड़, चेतनका परिवर्तन नैसर्गिक, ध्रुव एवं सहज स्वभाव है। जिसप्रकार दिनके पश्चात् रात्रि और रात्रिके पश्चात् दिन; प्रकाशके अनन्तर अंधकार और अंधकारके अनन्तर प्रकाशका प्रादुर्भाव होता है, उसीप्रकार अभ्युदयके पश्चात् पतन और पतनके पश्चात् अभ्युदय प्राप्त होता है। उत्कर्ष और अपकर्षका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। कालचक्रके अनुसार उत्कर्षमय कालको उत्सर्पण और अपकर्षमय कालको अवसर्पण संज्ञा दी गयी है। इन दोनोंके सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दुषम, दुषम-सुषम, दुषम और दुषम-दुषम ये छह अवसर्पणके और दुषम-दुषम, दुषम आदि छह उत्सर्पणके भेद होते हैं। यह कालचक्र निरन्तर चलता है। उत्सर्पण काल-चक्रमें प्राणियोंको वृद्धि और विकसित रूपमें भोगोपभोगकी सामग्री एवं अव-सर्पणमें ह्रासोन्मुखमें भोगोपभोगकी सामग्री प्राप्त होती हैं। इस कालचक्रमें जब प्रकृति ह्रासोन्मुख हो जाती है और मानवकी सुख-सामग्री घटने लगती है, तो उसे अभावका सामना करना पड़ता है। सुषम-सुषम और सुषम कालमें कल्पवृक्षोंसे जीवनोपयोगी सामग्री सहजरूपमें उपलब्ध होती है, पर सुषम-दुषम कालके आते ही अभावका सामना करना पड़ता है। फलतः विचार-संघर्ष, कषाय-वृद्धि, क्रोध, लोभ, छल-प्रपंच, स्वार्थ, अहंकार और वैर-विरोधकी पाशविक प्रवृत्तियोंका प्रादुर्भाव होने लगता है और विभिन्न दोषोंसे मानव-समाज जलने लगता है। अशान्तिकी असह्य अग्निसे त्रस्त एवं दिग्विमूढ़ मानवके मनमें शान्तिकी पिपासा जागृत होती है। उस समय उस दिग्भ्रान्त परिस्थितिमें मानव-समाजके भीतरसे ही कुछ विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति प्रकट होते हैं, जो त्रस्त मानव-समाजको भौतिक शान्तिका पथ प्रदर्शित करते हैं।

ये विशिष्ट बल, बुद्धि और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति मानव-समाजमें कुलोंकी स्थापना करनेके कारण कुलकर कहलाते हैं। आचार्य जिनसेनने अपने महा-पुराणमें कुलकरकी परिभाषा निम्न प्रकार व्यक्त की है—

प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः।
आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥

कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति।
युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ।।[1]

अर्थात् प्रजाके जीवनका उपाय जाननेसे मनु और आर्यपुरुषोंको कुलकी भाँति इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेसे कुलकर कहे जाते हैं। अनेक वंश स्थापित करनेके कारण ये कुलधर भी कहलाते हैं। युगके आदिमें होनेसे युगादिपुरुष माने जाते हैं।

कुलकरोंके द्वारा अस्थायी व्यवस्था की जाती है, जिससे तात्कालिक समस्याका आंशिक समाधान होता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालके कुछ भाग तक कल्पवृक्षोंके सद्भावके कारण मानव स्वतन्त्र और वन-विहारी था। अतएव विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्तियोंने नेतृत्व स्वीकार कर उस समयके मानवोंको छोटे-छोटे कुलोंमें व्यवस्थित किया। ये कुलकर मानव-सभ्यताके सूत्रधार थे। इन्होंने मनुष्यको प्रकृतिसे समरस किया और उसे सम्पन्न जीवन व्यतीत करनेका मार्ग बतलाया। आरम्भमें मनुष्य प्रकृतिके रहस्योंसे अपरिचित था, कुलकरोंने प्रकृति और मानवके सम्बन्धको उद्घाटित किया और मनुष्यको जीनेकी कलासे परिचित कराया। समाजका ढाँचा तैयार कर विवेक एवं विचारकी शिक्षा दी। इसी कारण मनुष्य बर्बरताके स्तरसे ऊपर उठा और शनैःशनैः प्रगतिके मार्गपर आगे बढ़ने लगा। कृषि और औद्योगिक सभ्यताकी ओर मनुष्यको प्रवृत्त करनेका श्रेय कुलकरपरम्पराको है। ये कुलकर ही ग्राम और नगर संस्कृतिके जनक हैं।

कुलकरोंकी संख्या चौदह मानी गयी है। प्रत्येक कुलकर अपने-अपने समयमें तात्कालिक समस्याओंके समाधानके साथ श्रम और उद्योगकी शिक्षा देते हैं। चौदहवें कुलकर नाभिरायने मनुष्यको कर्म और पुरुषार्थके धरातलपर ला खड़ा किया। इन कुलकरोंने मनुष्यको बताया कि भयानक पशुओंसे कैसे रक्षा करनी चाहिये। किन पशुओंको पालतू बनाया जा सकता है और उनसे उत्पादन कार्यमें किस प्रकार सहायता ली जा सकती है आदि बातें प्रतिपादित कीं। भूमि एवं वृक्षोंके स्वामित्वकी मर्यादा, कृषि, खेत, खलिहान, हाट, बाजार, कला, विज्ञान आदि विविध क्षेत्रोंमें मनुष्यको प्रविष्ट करानेका कार्य भी इन्होंने सम्पादित किया। नदीपर घाट बाँधना, यान चलाना, पर्वतारोहण करना, सड़क, भवन, कूप आदिका निर्माण करना एवं विविध वस्तुओंके उपयोगकी कला भी कुलकरोंने सिखलायी। परिवार, समाज, शासन आदिके नियम-उपनियम भी इन्होंने बतलाये। कुलकरों द्वारा भौतिक साधनोंके उपयोगकी जानकारी प्राप्त हो जाने पर भी सहज, शान्त और निर्दोष जीवन-यापनके लिये धर्मकी आवश्यकता

---

१. महापुराण, आदिपुराण ३।२११-२१२.

प्रतीत हुई। इधर मानव-कुलोंकी भी वृद्धि हो रही थी, जिससे विषमता उत्त-रोत्तर बढ़ती जाती थी। अतः जनसाधारणकी आध्यात्मिक भूख बढ़ रही थी और बढ़ती हुई भौतिक आवश्यकताओंके नियंत्रणकी अपेक्षा बनी थी। अतएव कुल-करोंके पश्चात् चौबीस तीर्थंकर, द्वादश चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण ये त्रेसठ शलाकापुरुष जन्म लेते हैं, जो सभी तरहकी समाज-व्यवस्था एवं वैयक्तिक जीवनोत्थानमें योगदान देते हैं।

तीर्थंकरों में सर्वप्रथम ऋषभनाथ या ऋषभदेव हुए हैं, जिन्होंने आत्म-विद्याका नेतृत्व किया है। मानव-समाजको कृषिकी शिक्षाके साथ जीविको-पयोगी षट्कर्मोंकी शिक्षा भी इन्होंने दी। ऋषभदेवने इस युगमें जैनधर्मका प्रवर्त्तन प्रत्येक कल्पकालके समान ही किया है। भोगभूमिके पश्चात् जब कर्मक्षेत्रका प्रारम्भ हुआ, तो मानव-समाजमें सहअस्तित्व, सहयोग, सहृदयता, सहिष्णुता, सुरक्षा, सौहार्द एवं समानताका पाठ पढ़ाकर मानवके हृदयमें मानवके प्रति भ्रातृत्वभावको उत्पन्न किया। इन्होंने गुणकर्मके अनुसार वर्ण-व्यवस्थाका भी प्रतिपादन किया। अहिंसा, दयावृत्ति, संयम, रत्नत्रय आदिकी आराधनापर बल दिया।

ऋषभदेवके पिताका नाम नाभिराय और माताका नाम मरुदेवी था। अयोध्या नगरीमें इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म लेते ही सभी दिशाएँ शान्त हो गईं और सभी प्राणियोंको क्षणभरके लिये अपूर्व विश्राम प्राप्त हुआ। देव-देवेन्द्रोंने इनका जन्मोत्सव सम्पन्न किया। इनका नाम वृषभ या ऋषभदेव रखा गया। आचार्य जिनसेनने लिखा है कि जगत्के लिये हितकारक धर्मामृतकी वर्षा करनेवाले होनेके कारण इनका नाम वृषभदेव रखा गया। धर्म-कर्मके आद्य प्रवर्तक होनेके कारण इनका आदिनाथ नाम भी प्राप्त होता है। इनका वंश इक्ष्वाकु था। ऋषभदेवका विवाह सम्पन्न हुआ और उनके ब्राह्मी और सुन्दरी कन्याओंके अतिरिक्त १०० पुत्र उत्पन्न हुए। ऋषभदेवने असंख्यात वर्ष पर्यन्त राज्य किया। धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था संचालित की और अन्तमें विरक्त होकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। ऋषभदेवके साथ अनेक राजा, सामन्त और महापुरुषोंने भी दीक्षा ग्रहण की। घोर तपश्चरणके अनन्तर इन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ और जगत्के जीवोंको शान्तिका उपदेश दिया।

ऋषभदेवके पश्चात् अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरनाथ, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्द्धमान ये तेईस तीर्थंकर हुए। इन सभीने सत्यका अन्वेषण किया, आत्म-

साक्षात्कार प्राप्त किया और सुलझी हुई अन्तर्दृष्टि द्वारा मानवकी तत्कालीन समस्याओंके समाधान प्रस्तुत किये। उन्होंने अनेकान्त, अहिंसा, समता आदिका प्रवर्त्तन कर जन-जनको शान्तिका मार्ग बताया। इन चौबीस तीर्थंकरोंमें ऋषभनाथ, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीरका निर्देश अन्य वाङ्मय एवं पुरातत्त्व आदिमें भी प्राप्त होता है।

वैदिक वाङ्मय और तीर्थंकर

विश्वके प्राचीन वाङ्मयमें ऋग्वेदका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी एक ऋचामें आदि तीर्थंकर ऋषभदेवका उल्लेख आया है—

"ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हंतारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥"

ऋग्वेद, १०,१६६,१.

यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी ऋषभदेवका उल्लेख प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें विष्णुके चौबीस अवतारोंमें एक ऋषभावतार भी स्वीकृत किया गया है, जिससे आदि तीर्थंकर ऋषभकी ऐतिहासिकता और प्रसिद्धि सिद्ध होती है। भागवतमें ऋषभदेवके जीवन-वृत्तका भी वर्णन प्राप्त होता है। लिखा है—

"अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासः लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो .... शतं जनयामास[1]। भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं .... गृहेषु लोकं नियमयत्"[2]।

अर्थात् भगवान् ऋषभदेवने समस्त लौकिक क्रियाओंका सम्पादन किया। वे परम स्वतन्त्र भौतिक आसक्तिसे रहित, आनन्दस्वरूप साक्षात् ईश्वर थे। उन्होंने जनसामान्यमें धर्माचरण और तत्त्वज्ञानका प्रचार किया। समता, शान्ति और करुणाके साथ धर्म, अर्थ, यश, सन्तानसुख, भोग, और मोक्षका उपदेश देते हुए गृहस्थाश्रममें लोगोंका नियमित जीवन व्यतीत करनेका उपदेश दिया। ऋषभदेव समस्त धर्मोंके साररूप, वेदके गुह्य रहस्यके ज्ञाता थे। वे सामदानादि रीतिके अनुसार जनताका पालन करते थे। उन्होंने सौ यज्ञोंका सम्पादन किया था। इनके शासनकालमें प्रजा सुखी थी, उसे किसी भी वस्तुकी कमी नहीं थी। ऋषभदेवने अनेक देशोंमें विहार किया था तथा देश, राष्ट्र और समाज हितका उपदेश दिया था।

---

१. श्रीमद्भागवत (गीताप्रेस-संस्करण) ५।४।८.
२. वही, ५।४।१४.

इसी ग्रन्थमें यह भी बताया गया है कि ऋषभदेवकी शिक्षाको ग्रहणकर ऐसे धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित होंगे, जो अस्नान, अनाचमन, अशौच, केशलुञ्च, ईश्वर-कर्तृत्वमें अविश्वास, यज्ञ-विरोध आदि करेंगे। लिखा है—

"येन ह वाव कलौ मनुजाः संपदा देवमायामोहिताः..................निज-निजेच्छाया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्म-बहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥"[1]

मार्कण्डेयपुराणमें तीर्थंकर ऋषभदेवके वर्णनमें लिखा है कि उन्होंने अपने पुत्र भरतको राज्यभार सौंपा और स्वयं विरक्त हो गये। इन्हीं भरतके नामपर इस देशका नाम भारतवर्ष पड़ा।[2]

कूर्मपुराणमें बताया गया है कि महात्मा नाभि और मेरुदेवीका पुत्र ऋषभ हुआ, जो अत्यन्त क्रान्तिकारी था। ऋषभके सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ था। बताया है—

"हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत् पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः ॥"

—अध्याय ४१, श्लोक ३७-३८, पृ० ६१.

अग्निपुराणमें महाराज नाभिके अलौकिक राज्यका वर्णन आया है और बताया गया है कि उनके तथा मरुदेवीके पुत्रका नाम ऋषभ था। ऋषभने अपने पुत्र भरतको राज्य देकर शालिग्राममें मुक्ति प्राप्त की।[3] इस पुराणमें ऋषभका महत्त्व उनकी तपस्या एवं उनकी शासन-व्यवस्थाका भी सामान्य चित्रण आया है। इस पुराणमें जैन मान्यताके अनुसार ऋषभके माता-पिताके नाम नाभिराय एवं मरुदेवी आये हैं।

वायुपुराण[4] और ब्रह्माण्डपुराणके[5] पूर्वार्धमें ऋषभदेवके महत्त्वसूचक कई पद्य

१. श्रीमद्भागवत, ५।६।९.

२. मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५०, श्लोक ३९-४१, पृ० १५० तथा कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुरका हिन्दू-संस्कृति-विशेषांक, जनवरी, १९५०, पृ० ८८२.

३. अग्निपुराण १०।१०-११, पृ० ६२.

४. नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥—वायु०, अ० ३३, पद्य ५०-५२, पृ. ५१.

५. सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥—ब्रह्मा०, अ० १४, पद्य ६१, पृ. २४.

आये हैं। वाराहपुराणमें[1] नाभिराय और मेरुदेवीके पुत्र ऋषभदेव तथा उनके भरतादि सौ पुत्रोंका कथन आया है। ऋषभने भरतको हिमालयके दक्षिणवाला क्षेत्र दिया था, जिसका नाम आगे चलकर भरतके नाम पर भारतवर्ष पड़ा। लिङ्गपुराणमें[2] नाभिराजको हिमालयके उत्तर-दक्षिणवर्ती प्रदेशका शासक बतलाया गया है। इनके पुत्रका नाम ऋषभदेव आया है। ऋषभकी माता मरुदेवी थी। ऋषभके पुत्र भरत हुए, जिनके नामपर इस देशका नाम भारतवर्ष पड़ा।

विष्णुपुराण[3] और स्कन्धपुराणमें[4] भी ऋषभदेवके प्रताप एवं प्रभावका चित्रण आया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीने अपने 'मोक्षमार्गप्रकाशक'में बताया है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभ, द्वितीय अजित, सप्तम सुपार्श्व, २२वें अरिष्टनेमि और २४वें महावीरका उल्लेख यजुर्वेदमें है। उन्होंने यजुर्वेदका निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया है—

"ओं ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परममाह संस्तुतं वरं शत्रुंजयंतं पशुरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा। ओं त्रातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति। अमृतारमिन्द्रं हवां सुगतं सुपार्श्वमिन्द्रं हवे शक्रमजितं तद्वद्धर्ममानपुरुहूतमाहुरिति स्वाहा। ओं नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमहान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् स्वाहा। ओं स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः, स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। दीर्घायुस्त्वायुर्बलायुर्वा शुभजातायुः ओं रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा।"

—उद्धृत आचार्यकल्प पं० टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० २०८.

ऋग्वेदमें वातरशनामुनियोंके सम्बन्धकी ऋचाएँ आयी हैं। ये ऋचाएँ ऋषभदेवके जीवनसे सम्बन्धित प्रतीत होती हैं। वस्तुतः वातरशनामुनियोंको धर्मका उपदेश ऋषभदेवसे प्राप्त हुआ होगा। इन ऋचाओंमें मुनियोंकी साधनाका वर्णन आया है। लिखा है—

---

१. नाभिर्मेरुदेव्यां पुत्रमजनयद् ऋषभनामानं, तस्य भरतो पुत्रश्च तावदग्रजः। तस्य भरतस्य पिता ऋषभो हेमाद्रेः दक्षिणं वर्षमदद्......।—अध्याय ७४, पृ० ४९.

२. लिंगपुराण, अध्याय ४७, श्लोक १९-२४, पृ० ६८.

३. विष्णुपुराण, अध्याय १, श्लोक २७-२८, पृ० ७७.

४. स्कन्धपुराण, अध्याय ३७, श्लोक ५७.

"मुनयो वातरशना: पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ।।"

—ऋग्वेद १०, १३६, २-३.

अर्थात् अतीन्द्रियदर्शी वातरशनामुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखलायी पड़ते हैं। जब वे वायुकी गतिको प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपने तपकी महिमासे दीप्यमान होकर देवता-स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। सर्वलौकिक व्यवहारको छोड़कर मौनव्रतपूर्वक ध्यानस्थरूपमें विचरण करते हैं। उनका बाह्य शरीर मलसे लिप्त दिखलायी पड़ता है, पर अन्तरंग निर्मल होता है।

ऋग्वेदमें केशीकी भी स्तुति प्राप्त होती है। यह केशी साधनायुक्त होते हैं। लिखा है—

"केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।।"

—ऋग्वेद १०,१३६,१।

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वीको धारण करता है। केशी समस्त विश्वके तत्त्वोंका दर्शन कराता है। उसकी ज्ञानज्योति केवलज्ञानरूप है।

ऋग्वेदके केशी और वातरशना मुनियोंकी साधनाओंका भागवतपुराणमें उल्लिखित ऋषभकी साधनाओंके साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेसे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदके वातरशना मुनि और भागवतके वातरशना श्रमण एक ही सम्प्रदायके वाचक हैं। केशीका अर्थ केशधारी है। सम्भवत: ये वातरशनामुनियोंके अधिनायक थे, इनकी साधनामें मलधारण, मौनव्रत और उन्माद भावका विशेष उल्लेख है। श्रीमद्भागवतमें ऋषभदेवकी जिस वृत्तिका वर्णन आया है, उससे स्पष्ट है कि वे केशधारी अवधूतके रूपमें विचरण करते थे[1]।

जैन मूर्तिकलामें ऋषभदेवके कुटिल केशोंकी परम्परा प्राचीनतम कालसे पायी जाती है। २४ तीर्थंकरोंमेंसे केवल ऋषभदेवकी मूर्तिके सिर पर ही कुटिल केश दिखलायी पड़ते हैं और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। पद्मपुराणमें[2] ऋषभदेवकी जटाओंका उल्लेख आया है। हरिवंशपुराणमें[3]

१. श्रीमद्भागवत, ५।६।२८-३१.

२. पद्मपुराण ३।२८८.

३. हरिवंशपुराण ९।२०४.

भी उन्हें प्रलम्बजटाधारी बताया है। अतः ऋषभदेवका 'केशी' यह नाम सार्थक प्रतीत होता है।

ऋग्वेदमें एक ऐसी ऋचा उपलब्ध है, जिसमें केशी और ऋषभ इन दोनोंका उल्लेख है। यहाँ केशी ऋषभका विशेषण जैसा प्रयुक्त है। मंत्र निम्न-प्रकार है—

"ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्।
अवावचीत् सारथिरस्य केशी॥
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानसः।
ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्‌गलानीम्॥"

—ऋग्वेद १०,१०२,६.

अर्थात् मुद्‌गल ऋषिकी गायोंको चोर चुरा ले गये थे। उन्हें लौटानेके लिये ऋषिने केशी वृषभको अपना सारथी बनाया, जिसके वचनमात्रसे वे गायें आगेकी ओर न जाकर पीछेको लौट पड़ीं। सायणने केशीको वृषभका विशेषण बतलाया है। लिखा है—

"अथवा, अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभः अवावचीत् भृशमशब्दयत्" इत्यादि।

अर्थात् मुद्‌गल ऋषिने केशी वृषभको शत्रुओंका विनाश करनेके लिये अपना सारथी नियुक्त किया। इस ऋचाका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मुद्‌गल ऋषिकी जो इन्द्रियाँ पराङ्‌मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभका धर्मोपदेश सुनकर अन्तर्मुखी हो गयीं। अतएव यह स्पष्ट है कि ऋग्वेदमें जो केशीसूक्त आया है, वह ऋषभदेवके उल्लेखका सूचक है। डॉ० श्री हीरालालजी जैनने लिखा है—"इस प्रकार ऋग्वेदमें उल्लिखित वातरशना मुनियोंका निर्ग्रन्थ साधु तथा उन मुनियोंके नायक केशी मुनिका ऋषभदेवके साथ एकीकरण हो जानेसे जैनधर्मकी प्राचीन परम्परापर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।...... केशी नाम जैन परम्परामें प्रचलित रहा। इसका प्रमाण यह है कि महावीरके समयमें पार्श्व-सम्प्रदायके नेताका नाम केशीकुमार था (उत्तराध्ययन २३)[1]।"

इस प्रकार वैदिक साहित्यके प्रकाशमें आदितीर्थंकर ऋषभदेव और उनके अनुयायी वातरशनामुनियोंका उल्लेख प्राप्त होता है।

---

१. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, प्रकाशक—मध्यप्रदेश-शासन, साहित्यपरिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ० १७.

पुरातत्त्व और ऋषभदेव

पुरातत्त्वकी दृष्टिसे भी ऋषभदेवकी प्राचीनता सिद्ध होती है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० राखालदास बनर्जीने सिन्धुघाटीकी सभ्यताका अन्वेषण किया है। यहाँके उत्खननमें उपलब्ध सील (मोहर) न० ४४९ पर चित्रलिपिमें कुछ लिखा हुआ है। इस लेखको प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकारने 'जिनेश्वरः (जिन-इ-इ-सरः') पढ़ा है। पुरातत्त्वज्ञ रायबहादुर चन्दाका वक्तव्य है कि सिन्धुघाटीकी मोहरोंमें एक मूर्त्ति प्राप्त होती है, जिसमें मथुराकी ऋषभदेवकी खड्गासन मूर्तिके समान त्याग और वैराग्यके भाव दृष्टिगोचर होते हैं। सील नं० द्वितीय एफ० जी० एच० में जो मूर्ति उत्कीर्ण है, उसमें वैराग्य मुद्रा तो स्पष्ट है ही, उसके नीचेके भागमें ऋषभदेवके चिह्न बैलका सद्भाव[1] भी है।

डॉ० श्री राधाकुमुद मुखर्जीने सिन्धु-सभ्यताका अध्ययन करते हुए लिखा है— फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शलकृत मोहन-जो-दड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासनमें खड़े हुए देवताओंको सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियोंकी तपश्चर्यामें विशेष रूपसे मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालयमें स्थापित तीर्थंकर श्रीऋषभ देवताकी मूर्तिमें। ऋषभका अर्थ है बैल, जो आदिनाथका लक्षण है। मोहर संख्या एफ० जी० एच० फलक दोपर अंकित देवमूर्तिमें एक बैल ही बना है। सम्भव है कि यह ऋषभका ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो, तो शैव-धर्मकी तरह, जैनधर्मका मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है"[2]।

मथुरा कंकाली टीलाके आविष्कारने ऋषभादि तीर्थंकरोंकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला है। वहाँकी पुरातत्त्वकी उपलब्ध सामग्रीमें लगभग ११० अभिलेख प्राप्त हुई हैं। वहींके एक स्तूपमें संवत् ७८ की १८ वें तीर्थङ्कर अरहनाथकी प्रतिमा भी प्राप्त है। यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इसके रचनाका समय ज्ञात करना कठिन है। डॉ० विसेन्ट ए० स्मिथके अनुसार मथुरा-सम्बन्धी अन्वेषणोंसे यह सिद्ध है कि जैनधर्मके तीर्थंकरोंका अस्तित्व ई० सन्से पूर्वमें विद्यमान था। ऋषभादि २४ तीर्थंकरोंकी मान्यता सुदूर प्राचीनकालमें पूर्णतया प्रचलित थी[3]। इसप्रकार ऋषभदेवकी प्राचीनता इतिहास और

---

१. The modern review, August, 1935.--Sindh Five thausands years ago.

२. हिन्दू सभ्यता (हिन्दी-संस्करण), राजकमलप्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, सन् १९५८, पृ० २३.

३. द जैन स्तूप..........मथुरा, प्रस्तावना, पृ० ६.

वाङ्मयसे सिद्ध है। डॉ० एन० एन० वसुका मत है कि लेखनकलाका प्रथम आविष्कार कदाचित् ऋषभदेवने किया था। प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्याके प्रचारके लिये उन्होंने ब्राह्मी लिपिका आविष्कार किया था। यही कारण है कि वे अष्टम अवतारके रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं[1]।

तीर्थंकर नमि

अनासक्ति योगके प्रतीक २१ वें तीर्थंकर नमिनाथ हैं। ऋषभनाथके अनन्तर नमिनाथका जीवनवृत्त जैनेतर साहित्यमें उपलब्ध होता है। नमि मिथिलाके राजा थे और इन्हें हिन्दू पुराणोंमें जनकके पूर्वजके रूपमें माना गया है। नमिकी अनासक्तवृत्ति इतनी प्रसिद्ध थी, जिससे उनका वंश ही विदेह कहलाता था। अहिंसाका प्रचार नमिके युगमें विशेष रूपसे हुआ था। उत्तराध्ययन-सूत्रके नवम अध्ययनमें नमि-प्रव्रज्याका सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रव्रज्यामें आये हुए वचनोंकी तुलना पालि जातक और महाभारतके कई अंशोंसे की जा सकती है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

> "सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो णत्थि किंचण।
> मिहिलाए डज्झमाणीए ण मे डज्झइ किंचण॥"
>
> —उत्त० ९-१४.

> "सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।
> मिथिलाये दहमानाय न मे किंचि अदय्हथ॥"
>
> —पालि–महाजनक-जातक.

> "मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते।"
>
> —म० भा० शांतिपर्व.

तीर्थंकर नमिकी अनासक्तवृत्ति मिथिलामें जनक तक पायी जाती है। कहा जाता है कि अहिंसात्मक प्रवृत्तिके कारण ही उनका धनुष प्रत्यञ्चाहीन रूपमें उनके क्षत्रियत्वका प्रतीकमात्र रह गया था। रामने शिव-गांडीवको फिर प्रत्यञ्चा-युक्त किया। सीता-स्वयंवरके अवसरपर रामने इसी प्रत्यञ्चाहीन धनुषको तोड़कर धनुषपर पुनः प्रत्यञ्चाकी परम्परा प्रचलित की। वस्तुतः अहिंसामें ही शौर्य और पराक्रमकी वृत्ति निहित है। नमि तीर्थंकर ईस्वी सन्से सहस्रों वर्ष पूर्व हुए हैं।

तीर्थंकर नेमिनाथ

२२वें तीर्थंकर नेमिनाथका वर्णन जैन ग्रन्थोंके साथ ऋग्वेद, महाभारत

---

१. हिन्दी विश्वकोश, जिल्द १, पृ० ६४ तथा जिल्द ३, पृ० ४४४.

आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। नेमिनाथ करुणाके प्रतीक हैं। ये यदुवंशी थे। इनके पिताका नाम समुद्रविजय था। ये कृष्णके चचेरे भाई थे। नेमिनाथका विवाह-सम्बन्ध गिरिनगरके राजा उग्रसेनकी विदुषी पुत्री राजुलमतीके साथ होना निश्चित हुआ था, पर जैसे ही बारात गिरिनगर जा रही थी कि मार्गमें अतिथियोंके भोजनके निमित्त एकत्र किये गये सहस्रों पशुओंकी करुणार्द्र चीत्कार नेमिनाथको सुनायी पड़ी। इस घटनासे द्रवित होकर उन्होंने इस विवाहका परित्याग कर दिया और वे मार्गसे ही तपोवनको चल दिये। नेमिनाथका समय महाभारतकाल है। यह काल ईस्वी पूर्व १००० के लगभग माना जाता है। महाभारतके हरिवंशमें अरिष्टनेमिका वर्णन आया है। इस ग्रन्थके अनुसार महाराज यदुके सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अंजिक ये पाँच पुत्र हुए। क्रोष्टाकी माद्री नामक दूसरी रानीसे युधाजित्त और देवमिढ़ूष नामक दो पुत्र हुए। क्रोष्टाके बड़े पुत्र युधाजितसे वृष्णि और अन्धक ये दो पुत्र हुए। वृष्णिके स्वफल्क और चित्रक नामक पुत्र उत्पन्न हुए। चित्रकके पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा धर्मभृत, सुबाहु और बहुबाहु ये बारह पुत्र हुए[1]। इस वंश-परम्परासे यह स्पष्ट है कि अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे। अरिष्ट-नेमिका उल्लेख ऋग्वेदमें भी प्राप्त होता है। यथा—

"स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥"

—ऋग्वेद १,८९,६.

यहाँपर अरिष्टनेमिका अर्थ हानिरहित नेमिवाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित् सुत और श्रौतोंका पिता कहा गया है। पर शतपथब्राह्मणमें अरिष्टका अर्थ अहिंसक है और 'अरिष्टनेमि'का अर्थ अहिंसाकी धुरी—अहिंसाके प्रवर्त्तक हैं। बृहस्पतिके समान अष्टिनेमिकी स्तुति भी की गयी है।

वैदिक युगमें अरिष्टनेमि करुणा और अहिंसाके रूपमें मान्य हो चुके थे। वे विश्वकी रक्षाकरनेवाले श्रेष्ठ देवताके रूपमें प्रतिष्ठित थे।

इससे स्पष्ट है कि २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि करुणामूर्तिके रूपमें महा-भारतकालसे मान्य रहे हैं। जैन वाङ्मयमें तो इनका महत्त्व वर्णित है ही, वैदिक साहित्यमें भी इनका महत्त्व कम नहीं है। ऋग्वेदके समान यजुर्वेदमें[2]

---

१. हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४, पद्य १५-१६.

२. यजुर्वेद, अध्याय २५, मंत्र १६, अष्टक ९१, अध्याय ६, वर्ग १.

भी अरिष्टनेमिका उल्लेख आया है। इन्हें यज्ञमें विघ्न निवारणके हेतु आहूत किया गया है।

टोडरमलजीने प्रभास पुराणका उद्धरण देते हुए बताया है कि वामनको पद्मासन दिगम्बर नेमिनाथका दर्शन हुआ था। उसीका नाम शिव है। उसके दर्शनादिकसे कोटि यज्ञ फल प्राप्त होता है। लिखा है—

भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।
तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः॥
पद्मासनमासीनः श्याममूर्तिदिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवेत्येवं नाम चक्रेऽस्य वामनः॥
कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशकः।
दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः॥

× × ×

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्[1]॥

यहाँ नेमिनाथकी 'जिन' संज्ञा बतलायी है और उनके स्थानको ऋषिका आश्रम, मुक्तिका कारण कहा है। इससे नेमिनाथकी पूज्यता स्पष्ट है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथका जन्म बनारसके राजा अश्वसेन और उनकी रानी वामादेवीसे हुआ था। इन्होंने ३० वर्षकी अवस्थामें गृह त्यागकर सम्मेद-शिखर पर्वतपर तपस्या की। यह पर्वत आज तक पार्श्वनाथ पर्वतके नामसे प्रसिद्ध है। पार्श्वनाथने केवलज्ञान प्राप्तकर ७० वर्षों तक श्रमण-धर्मका प्रचार किया। पार्श्वनाथके जीवन-प्रसंगमें कमठका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीके कारण पार्श्वनाथकी साधनामें निखार और परिष्कार आया है। क्षमा और वैर के घात-प्रतिघातोंका मार्मिक वर्णन हुआ है। पार्श्वनाथ क्षमाके प्रतीक हैं और कमठ वैर का। क्षमा और वैरका द्वन्द्व अनेक जन्मों तक चला है और अन्तमें वैरपर क्षमाकी विजय हुई है।

जैन पुराणोंके अनुसार पार्श्वनाथका निर्वाण तीर्थंकर महावीरके निर्वाणसे २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पू० ५२७ + २५० = ७७७ ई० पू० में हुआ। पार्श्वनाथ-

१. मोक्षमार्गप्रकाशक—आचार्यकल्प पं० श्रीटोडरमलग्रंथमाला, गांधीरोड, बापू नगर, प्लाट नं० ए० ४, जयपुर, वि० सं० २०२३, पृ० १४१.

का श्रमण-परम्परापर गम्भीर प्रभाव है। वे ऋषभनाथसे नेमिनाथ तक चली आयी धर्म-परम्पराके समवेत संकरण हैं। इनमें ऋषभका आकिंचन्य, अपरिग्रह और कर्मठता, नमिनाथकी अनासक्तवृत्ति एवं नेमिनाथकी करुणाप्रधान अहिंसा-वृत्ति सामयिक धर्मचक्रके रूपमें प्रतिष्ठित है। पार्श्वनाथने अहिंसाको सुव्य-वस्थित सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित कर क्षमाकी धारा प्रचलित की।

तीर्थंकर पार्श्वनाथकी वाणीमें करुणा, मधुरता और शान्तिकी त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित है। परिमाणतः जन-जनके मनपर उनकी वाणीका मंगलकारी प्रभाव पड़ा, जिससे कोटि-कोटि जनता उनकी अनन्यभक्त बन गयी। इनके समयमें तापस-परम्पराका प्राबल्य था। लोग तपके नामपर अज्ञानपूर्वक कष्ट उठा रहे थे। इनके उपदेशसे विवेक युक्त तपश्चरण करनेकी नवप्रेरणा प्राप्त हुई। इनके उपदेशसे तपश्चरण का रूपही निखर गया।

पार्श्वनाथकालीन साहित्यका अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि पिप्प-लादि, भारद्वाज, नचिकेता आदिपर पार्श्वनाथका पर्याप्त प्रभाव है। पिप्पलादि मान्य वैदिक ऋषि थे। उनके उपदेशों पर इनके उपदेशकी प्रतिच्छाया दिख-लायी पड़ती है[1]। पिप्पलादिका अभिमत था कि प्राण या चेतना जब शरीरसे पृथक् हो जाती है, तब यह शरीर नष्ट हो जाता है। यह कथन 'पुद्गलमय शरीरसे जीवके पृथक् होनेपर विघटन सिद्धान्तकी अनुकृति है।'

भारद्वाज जिनका अस्तित्व बौद्धधर्मसे पूर्व है। पार्श्वनाथ कालमें वे एक स्वतन्त्र मुण्डक सम्प्रदायके नेता थे[2]। बुद्धोंके अंगुत्तरनिकायमें उनके मतकी गणना मुण्डक श्रावकके नामसे की गयी है। मुण्डक मतके लोग वनमें रहनेवाले थे। ये तापसों तथा गृहस्थ विप्रोंसे अपनेको पृथक् दिखानेके लिये सिर मुंडा-कर भिक्षावृत्तिसे अपना उदर पोषण करते थे। किन्तु वेदसे उनका विरोध[3] नहीं था। इनके मतपर पार्श्वनाथके धर्मोपदेशका प्रभाव लक्षित होता है।

नचिकेता उपनिषद्कालके एक वैदिक ऋषि थे। उनके विचारोंपर भी पार्श्व-नाथका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ये भारद्वाजके समकालीन थे तथा ज्ञान यज्ञको मानते थे। इनकी मान्यताके मुख्य अंग थे—इन्द्रियनिग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्माके अनीश्वर रूपका चिन्तन, तथा शरीर और आत्मका पृथक् बोध।

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पार्ट १, पृ० १८०.

२. Dialogues of Buddha, Part 2, Page 22.

३. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।२२.

इस प्रकार पार्श्वनाथका प्रभाव उस समयके सम्प्रदायों और ऋषियों पर दिख-लायी पड़ता है।

पार्श्वनाथके धर्मको चातुर्याम धर्म कहा गया है। इसका स्वरूप—१. सर्वथा प्राणातिपातविरमण—हिंसाका त्याग, २. सर्वथामृषावादविरमण—असत्य का त्याग, ३. सर्वथा अदत्तादानविरमण—चौर्य त्याग और ४. सर्वथा बहिस्थादान-विरमण—परिग्रह त्याग रूप है। यह आत्म-साधनाका पवित्र मार्ग है। चातु-र्याम धर्म का वास्तविक रहस्य चार प्रकारके पापोंसे विरक्त होना है। पार्श्वनाथके काल तक ब्रह्मचर्यव्रतको पृथक् स्थान प्राप्त नहीं हुआ था, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके समयकी श्रमण-परम्परामें ब्रह्मचर्यकी उपेक्षा थी। इस परम्पराके श्रमण स्त्रीको भी परिग्रहके अन्तर्गत समझ कर, स्त्रीका त्यागकर ब्रह्मचर्य धारण करते थे। धन-धान्यके समान स्त्री भी बाह्य वस्तु होने से बहिस्थादानके अन्तर्गत थी।

इतिहासके आलोकमें पार्श्वनाथ

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे, यह अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुका है। जैन साहित्य ही नहीं, बौद्ध साहित्य भी तीर्थंकर पार्श्वनाथकी ऐति-हासिकताको स्वीकार करता है। डा० जेकोबीने बौद्ध साहित्यके उल्लेखोंके आधारपर निर्ग्रन्थसम्प्रदायका अस्तित्व प्रमाणित करते हुए लिखा है—"यदि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय एकसे ही प्राचीन होते, जैसाकि बुद्ध और महावीरकी समकालीनता तथा इन दोनोंको इन दोनों सम्प्रदायोंका संस्थापक माननेसे अनुमान किया जाता है, तो हमें आशा करनी चाहिये कि दोनोंने ही अपने-अपने साहित्यमें अपने प्रतिद्वन्द्वोका अवश्यही निर्देश किया होता, किन्तु बात ऐसी नहीं है। बौद्धोंने तो अपने साहित्यमें, यहाँ तक कि त्रिपिटकोंमें भी निर्ग्रन्थों का बहुतायतसे उल्लेख किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध निर्ग्रन्थ-सम्प्रदायको एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे। किन्तु निर्ग्रन्थोंकी धारणा इसके विपरीत थी और वे अपने प्रतिद्वन्द्वीकी उपेक्षा तक करते थे। इससे हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि बुद्धके समय निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नहीं था। यही मत पिटकोंका भी जान पड़ता है।[१]"

डा० श्रीहीरालालजी जैनने लिखा है—"बौद्ध ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय', 'चत्तुक्कनिपात' (वग्ग ५) और उसकी 'अट्ठकथा'में उल्लेख है कि गौतम बुद्धका

१. Indian antiquary, volume 9th, Page 160.

चाचा (वप्प शाक्य) निर्ग्रन्थ श्रावक था। पार्श्वापत्यों तथा निर्ग्रन्थ श्रावकोंके इस प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे निर्ग्रन्थ धर्मकी सत्ता बुद्धसे पूर्व भली-भाँति सिद्ध हो जाती है[1]।"

बौद्ध ग्रन्थोंमें निर्ग्रन्थोंके चातुर्यामका उल्लेख मिलता है और उसे निर्ग्रन्थ नातपुत्र (महावीर)का धर्म कहा गया है, पर इसका सम्बन्ध पार्श्वनाथकी परम्पराके साथ है, महावीरके साथ नहीं। अतः जैन मान्यतामें चातुर्यामका उल्लेख पार्श्वनाथके साथ पाया जाता है, महावीरके साथ नहीं। महावीर तो पंचयाम व्रतके संस्थापक हैं। बौद्धधर्ममें निर्ग्रन्थोंकी जिन व्यवस्थाओंका वर्णन आया है, वह महावीरकी न होकर पार्श्वनाथकी परम्पराका होना चाहिये।

मज्झिमनिकायके 'महासिहनादसुत्त'में (पृ० ४८–५०) बुद्धने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्वी जीवनका वर्णन करते हुए तपके चार प्रकार बतलाये हैं, जिनका उन्होंने स्वयं पालन किया था। वे चार तप हैं—तपस्विता, रुक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। तपस्विता का अर्थ है नंगे रहना, हाथमें भिक्षा भोजन करना, सिर-दाढ़ीके बालोंको उखाड़ना, कंटकाकीर्ण स्थलपर शयन करना। रुक्षताका अर्थ है शरीरपर मैल धारण करना या स्नान न करना, अपने मैलको न अपने हाथसे परिमार्जित करना और न दूसरेसे परिमार्जित कराना। जुगुप्साका अर्थ है—जलकी बूंदतक पर दया करना और प्रविविक्तताका अर्थ है—वनोंमें अकेले रहना।

ये चारों तप निर्ग्रन्थ-सम्प्रदायमें आचरित होते थे। भगवान् महावीरने स्वयं इनका पालन किया था तथा अपने निर्ग्रन्थोंके लिये भी इनका विधान किया था। किन्तु बुद्धके दीक्षा लेनेके समय महावीरके निर्ग्रन्थ-सम्प्रदायका प्रवर्तन नहीं हुआ था। अतः अवश्य ही वह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय महावीरके पूर्वज भगवान् पार्श्वनाथका था। जिसके उक्त चारों तपोंको बुद्धने धारण किया था। किन्तु पीछे उनका परित्याग कर दिया था[2]। इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। जैनधर्म अहिंसापरक है। यह क्रान्तिमें आस्था रखता है और आक्षेप एवं दुराग्रह को स्थान नहीं देता। तीर्थंकरोंकी परम्परासे उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट हैं।

---

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, मध्यप्रदेशशासन-साहित्यपरिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ० २१.

२. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, श्रीगणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथम-संस्करण, पृ० २१२–२१३.

परम्परा : अन्तिम शृंखला—महावीर

तीर्थंकर पार्श्वनाथके २५० वर्ष पश्चात् प्रगतिशील परम्पराके संस्थापक २४वें तीर्थंकर महावीर हुए। इन्होंने अपनी व्रत-सम्बन्धी प्रगतिशील क्रान्ति के द्वारा जैनधर्मको युगानुकूल रूप दिया। तीर्थंकरोंकी यह परम्परा वैज्ञानिक दृष्टिसे सत्यका अन्वेषण करनेवाली एक प्रमुख परम्परा रही है। निश्चय ही महावीर धर्म प्रवर्त्तक ही नहीं, अपितु महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रांति-कारी सुधारक, सच्चे पथप्रदर्शक और विश्वबन्धुत्वके प्रतीक थे। उनमें अलौकिक साहस, सुमेरु तुल्य अविचल दृढ़ता, सागरोपम गम्भीरता एवं अद्भुत सहनशीलता विद्यमान थी। उन्होंने रूढ़िवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्ण-भेदके अंधकारपूर्ण गम्भीर गर्तमें गिरती हुई मानवताको उठानेमें अथक प्रयास किया। उनके कैवल्यालोकसे मानव-हृदयोंका अज्ञान रूपी अंधकार छिन्न हो गया और विनाशोन्मुख मानवता को त्राण प्राप्त हुआ।

महावीरकी साधना वीतरागताकी साधना थी। उन्होंने विकृतियोंसे मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्म-तत्त्वको प्राप्त किया और विश्वके समाज-वाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका प्रशस्त मार्ग दिखाकर अमरत्वका संदेश दिया। रूढ़िवाद और अंधविश्वासोंका विरोधकर जनताको सही दिशामें बढ़नेका मार्ग-दर्शन किया और उन्हें शुद्ध चिंतन की तीव्रतम प्रेरणा दी।

इस प्रकार इस युग की तीर्थंकर-परम्पराकी अंतिम कड़ी भगवान् महावीर हैं। महावीरने जन-जीवनको तो उन्नत किया ही, साथ ही उन्होंने साधनाका ऐसा मार्ग प्रस्तुत किया, जिस मार्गपर चलकर सभी व्यक्ति सुख और शांति प्राप्त कर सकते हैं। इनका साधना-पथ न किसी गुरुसे बंधा था और न किसी शास्त्र से। वह बंधा था उनके अपने भीतरकी स्वतन्त्र अनुभूतिसे। तीर्थंकर पार्श्व-नाथकी तीर्थपरम्पराके ढहते हुए घाटोंका पुनरुद्धार इन्होंने किया। श्रमणों की प्राचीन साधना श्रम, शांति और संयमकी थी। महावीरने भी इसी साधना-मार्गको गतिशील बनाया।

उनके ध्यानयोगकी साधना आत्म-साधना थी, भयसे परे थी, प्रलोभनोंसे परे और राग एवं द्वेषसे परे थी। वे नील गगनके नीचे हिंस्र जन्तुओंसे भरे निर्जन वनमें ध्यानस्थ हो दिगम्बर मुद्रामें अविचल रहकर 'स्व'की शोध करते रहे। उनके मनमें कोई भी विकल्प नहीं था। वे लहर और तूफानोंसे रहित प्रशांत महासागरके समान स्थिर और निश्चल थे। मैत्री भावनाका सर्वोच्च

आदर्श, जिसे पुष्पोंसे ही नहीं, कंटकोंसे भी प्यार था। सतानेवालेके प्रति भी एक सहज करुणा और कल्याणकी कामना विद्यमान थी। उनका चिंतन था, जो पा रहा हूँ, वह अपना किया ही पा रहा हूँ। जो भोग रहा हूँ, अपना किया ही भोग रहा हूँ। दूसरोंका कोई दोष नहीं। दूसरे सुख-दुःखमें निमित्त हो सकते हैं, कर्त्ता नहीं। कर्त्ता स्वयं आत्मा ही होता है। जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता भी होता है। कर्त्ता कोई और भोक्ता कोई, यह नहीं हो सकता। महावीर समत्व-योगके साधक थे और वे करुणाके देवता थे। उन्होंने विषको अमृत बना दिया और वैर-विरोधका शमनकर समता और शांतिका मार्ग स्थापित किया।

•

द्वितीय परिच्छेद

जन्म-जन्मकी साधना

जीवनशोधन : सतत साधना

एक जन्मकी साधनासे कोई तीर्थंकर नहीं बन सकता। तीर्थंकर बननेके लिये अनेक जन्मोंकी साधना अपेक्षित है। इस पदका पाना साधारण नहीं। इसके लिये आत्माका पूर्ण विकास—परमविशुद्धि आवश्यक है। जीव अनन्त कालसे संसारमें जन्म-मरणकी परम्पराजन्य क्लेश-संततिको पा रहा है। शरीरमें ममत्व बुद्धि रखनेके कारण उसे संसारकी चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। महावीरके जीवको भी अगणित काल राग-द्वेषके अधीन हो संसार-परिभ्रमणमें व्यतीत करना पड़ा। उन्हें अहिंसाका सर्वांगीण प्रासाद निर्माण करनेके लिये कई जन्मों तक साधना करनी पड़ी।

स्वस्थ विचारका अंकुर जीवनकी उर्वर भूमिमें तभी उत्पन्न हो सकता है, जब जीवनकी विकृतियाँ समाप्त हो जाती हैं और सत्य का आलोक दिखलायी पड़ने लगता है। तीर्थंकर महावीरको शुद्ध, बुद्ध और प्रचेता बननेके लिये एक

नहीं अनेक जन्मोंमें साधना सम्पन्न करनी पड़ी। वस्तुतः कर्मोंकी कालिमाको सरलतापूर्वक दूर नहीं किया जा सकता है। मानव अनेक जन्मोंमें सत्य और अहिंसाकी साधना करके ही अपनेको इस योग्य बना पाता है कि सत्य और अहिंसाकी प्रकाशकिरणें उसके रोम-रोमसे प्रादुर्भूत हों। इन्द्रियोंकी दासताको उतार राग-द्वेषका विजयी बन सके।

तीर्थंकर पद बड़े भाग्यशाली साधक पुरुष ही प्राप्त करते हैं। सामान्य सर्वज्ञ, सर्वदर्शी साधु हो जाना सुगम है, पर त्रिभुवनके महापुरुषोंसे पूजित तीर्थंकरपद पाना सरल नहीं है। धर्मचक्रवर्तीका यह महान् पद अनेक जन्मों-के श्रम और योगसाधनासे उपलब्ध होता है। मानव जन्मगत पूर्णताको प्राप्त करके ही तीर्थंकरपद प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकरपद इसीलिये अनुपम है कि उन जैसा उस कालमें अन्य कोई नहीं होता। धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक होनेके कारण वे बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा वन्दनीय होते हैं। वे लोकके सर्वोपरि सर्वतो-भद्र कल्याणकर्त्ता होते हैं। उनका तीर्थ—धर्मशासन समस्त आपत्ति-विपत्तियों-का अन्त करनेवाला, लोककल्याणक सर्वोदय तीर्थ होता है।

तीर्थंकरके शरीरका प्रत्येक परमाणु योगनिरत पूर्णता और विशुद्धताको प्राप्त कर शुद्ध पुद्गल स्कन्ध रूप हीरककी प्रभाको भी मन्द कर देता है। सहस्राधिक सूर्यके प्रकाशको भी उनकी प्रभा लज्जित करती है। वे महान्, सुन्दर, सुभग, समचतुरस्रसंस्थान और वज्र वृषभनाराचसंहननके धारी होते हैं। उनका अतुल बल, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख अपरिमेय होता है। ज्ञानावरणादि कर्मोंके विनाशसे ज्ञानादि गुणोंका पूर्ण विकास और प्रकाश तीर्थंकरमें पाया जाता है। वे जीवन मुक्त सच्चिदानंद, शुद्ध आत्मा हो जाते हैं। अतएव शरीरका कोई विकार उनमें शेष नहीं रहता। उनकी आत्मा शुद्ध और शरीर भी शुद्ध हो जाते हैं। परका प्रभाव वहाँ निःशेष है। अतएव विकार-के लिये कहीं अवकाश नहीं है। अन्तरंगमें रागद्वेषादि नहीं उठते और बहिरंग-में क्षुधा, तृषा, जन्म-मरण, रोग-शोक, भय-आश्चर्य आदि भी विकार नहीं रहता। विशुद्धिके पुंज उन तीर्थंकरोंमें शुद्ध, बुद्ध, परमोत्कृष्ट आत्मतत्त्वका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अतएव उनके निकट आधि-व्याधि नहीं रहती। फलस्वरूप बहुत दूर-दूर तक न तो दुर्भिक्षजन्य बाधा रहती है और न परस्परमें वैर-विरोध ही रहता है। सभी चर-अचर प्राणी प्रेममन्दाकिनीमें निमग्न हो जाते हैं। मानव क्या स्वर्गके देवगण भी उनके दर्शन कर अपने को पवित्र मानते हैं। उनकी धर्म-देशनासे संसारके सभी प्राणी पवित्र हो जाते हैं। भौतिकतामें भटकता हुआ मन केन्द्रित हो जाता है और आध्यात्मिक लोकतन्त्रकी सहजमें प्रतिष्ठा हो

जाती है। ऊँच-नीच, रंक-राव, शत्रु-मित्र, कृष्ण-गौर आदिके भीतर रहने वाला भेद-भाव समाप्त हो जाता है और साम्य भावका तूर्यनाद होने लगता है। अहिंसा, सत्य और शान्तिका आलोक सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

तीर्थंकरके इस महनीय पदकी प्राप्ति एकाएक सम्भव नहीं है। इसकी प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंमें उग्र तपश्चरण करना पड़ता है। राग-द्वेष और मोहको जीतनेके लिये कठोर प्रयास करना पड़ता है। संयम और ध्यानकी साधना करनी होती है, साथ ही कषाय और योगका निरोध कर संवर एवं निर्जराकी प्राप्ति करनी पड़ती है। वास्तवमें अनेक जन्मों तक आत्म-शोधनका प्रयास करनेपर हो यह तीर्थंकरपद प्राप्त होता है।

अतीत पर्यायोंमें महावीर : परिभ्रमण

महावीरके जीवने आत्मोत्थानके लिये अनेक जन्मोंमें साधना सम्पन्न की। मनुष्य और तिर्यञ्च पर्यायोंके अतिरिक्त उन्हें नरकादि पर्यायोंमें भी परिभ्रमण करना पड़ा है। तत्त्वज्ञान और आत्मानुभूतिकी प्राप्तिके क्रममें कभी वे पथभ्रष्ट हुए, पतित हुए, तो कभी वे साधनाके उच्च शृंग पर आरूढ़ हुए। यह सत्य है कि महावीरका लक्ष्य अनेक अतीत जन्मोंमें भी सत्यकी साधना रहा है। वे सत्यके मूल स्वरूपको पकड़नेके लिये सचेष्ट रहे हैं। उनके अतीत जन्मोंकी साधना इस बातका प्रमाण है कि पंथ या सम्प्रदायकी संकुचित-दृष्टि सत्यको सान्त और खण्डित कर डालती है। साम्प्रदायिक भावना सत्यको विकृत कर देती है। महावीरके जीवने जब-जब साम्प्रदायिक संकुचित दृष्टिकोणको अपनाया तब-तब वे साधनाके पथसे विचलित होकर निम्न मार्गकी ओर परावृत्त हुए। आत्माके शुद्ध स्वरूपको अवगत किये बिना उनकी साधना सफल नहीं हो सकी। अतः भवबन्धनोंसे विमुक्त होनेके लिये आत्म-निष्ठा, तत्त्वज्ञान और आत्माचरण नितान्त आवश्यक है। जब तक कर्मका आवरण विद्यमान है, तब-तक साधकके जीवनमें पूर्ण प्रकाश प्रादुर्भूत नहीं हो सकता।

विवेक और वैराग्यकी साधना ही भवबन्धनसे छुटकारा दिला सकती है और यही निर्वाण प्राप्तिका साधन है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्म ज्योति विद्यमान है, प्रत्येक चेतनमें परम चेतन समाहित है। चेतन और परम चेतन दो नहीं हैं, एक हैं। अशुद्धसे शुद्ध होनेपर चेतन ही परम चेतन बन जाता है। कर्मावरण के कारण आत्मा संसार में भटकती है और जब कर्म बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है, तब वह शाश्वत सुखको प्राप्त कर लेती है। महावीरकी अतीत जीवन गाथा भी ऐसी है, जो मानव को मानवता की ओर अग्रसर कर परमात्मा बननेको प्रेरणा देती है।

मूल्यवान : अतीतपर्याय

यों तो यह जीव अनादि कालसे संसार परिभ्रमण करता चला आ रहा है। इसकी उन असंख्यात पर्याय—जन्मोंका कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि जिन पर्याय या जन्मोंमें इसने अपनी आत्मशक्तिके विकासका कोई प्रयास नहीं किया। पर्याय या जन्म वही महत्त्वपूर्ण या मूल्यवान है, जिसमें व्यक्ति जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये संकल्प या साधनाका आरम्भ करता है। विगत उन अगणित जन्मों का कोई महत्त्व या मूल्य नहीं हैं, इसलिए कि जिनमें चेतनके स्वरूप बोधके प्राप्त करने का प्रयास नहीं हुआ है। वस्तुतः जीवनके दो रूप हैं : १. मर्त्य जीवन और २. अमर्त्य जीवन। जिस जीवनमें क्षण-भंगुर विषम भोगोंकी तृप्तिका प्रयास किया जाता है, वह मर्त्य जीवन है और यह जीवन मूल्यहीन है। मूल्यकी प्रतिष्ठा अमर्त्य जीवनमें होती है। यह जीवन अमृत और अमर इसीलिये कहा जाता है कि इसमें धर्म-अंकुर उत्पन्न होता है, अथवा धर्मका बीज वपन किया जाता है।

तीर्थंकर महावीरके अगणित और संख्यातीत जन्मोंमें भिल्ल जीवनका सबसे अधिक महत्त्व और मूल्य है। क्योंकि इसी जीवनमें उन्हें योगिराजका आशीर्वाद मिला और मोहग्रन्थिको भेदन करनेके लिये निष्ठाकी प्राप्ति हुई। इसी जीवनमें अहिंसाका बीज वपन हुआ। हिंसानन्दी पुरुरवा भील किस प्रकार करुणावृत्तिके कारण तीर्थंकर महावीरके पदको प्राप्त हुआ, यह मननीय और चिन्तनीय है। वास्तवमें वही मनुष्यजन्म सफल है, जिसमें आत्मोत्थानकी प्रेरणा प्राप्त हो, जिस जीवनसे साधनाका मार्ग आरम्भ हो और जीवनका तिमिर छिन्न होकर ज्ञान का आलोकदीप प्रज्वलित हो सके।

पुरुरवापर्याय : मंगल प्रभात

तीर्थंकर महावीर बननेका उपक्रम भिल्लसरदार पुरुरवाके जीवनसे होता है। यह सरदार पुण्डरीकिणी नगरीसे दूरवर्ती मधुक नामक अरण्यमें निवास करता था। अनेक भिल्ल इसकी सेवामें तत्पर रहते थे तथा इसकी आज्ञाका पालन करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। इस पुरुरवाकी पत्नीका नाम कालिका था, जो अत्यन्त भद्र परिणामी और कल्याणकारिणी थी। भिल्लराज अपने साथियोंके साथ दस्यु कर्म करता हुआ आखेटमें संलग्न रहता था। एक दिन पति-पत्नी वन विहारके लिये गये। पुरुरवाने वृक्षोंके झुरमुटमें दो चमकती आँखें देखीं। उसने अनुमान लगाया कि वहाँ कोई जंगली जानवर स्थित है। अतएव धनुष पर वाण चढ़ाया और सघन वृक्षोंके बीच स्थित उस व्यक्तिका वध करना चाहा। कालिकाने बीचमें रोक कर कहा—"नाथ! वहाँ शिकार

नहीं है वनदेवता हैं। यदि जंगली जानवर होता, तो उसकी इतनी शान्त चेष्टा नहीं हो सकती थी।" पुरुरवा आश्चर्य चकित हो गया और वह उस झुरमुटकी ओर चला। वहाँ उसने पहुँच कर देखा कि एक मुनि ध्यानस्थ हैं। पति-पत्नीने भक्ति विभोर होकर मुनिकी वन्दनाकी और फल-पुष्पोंसे अर्चना की। इन निर्ग्रन्थ योगिराजका नाम सागरसेन था। ध्यानसमाधि टूटनेपर मुनिराज ने पुरुरवाको निकट भव्य जान धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया—"भिल्लराज! क्यों मोहमें पड़े हो? निरीह प्राणियोंकी हिंसा करते हुए तुम्हें कष्ट नहीं होता? दु:खका कारण हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप हैं। यदि तुम अपने जीवनकी धाराको परिवर्तित कर दो, तो सुख-शांति प्राप्त करनेमें तनिक भी कठिनाई न हो। तुम इस शरीरको अपना मानते हो, यह भ्रान्ति है। यह शरीर तो यहीं रह जाता है—मिट्टीमें मिल जाता है। इस शरीर-मन्दिरमें जो बोलता हुआ हंस है, वह उड़ जाता है। वह हंस तुम हो। अतएव तुम अमर हो, शरीरके नाश होनेपर भी तुम रहोगे। फिर इस शरीरसे क्यों मोह करते हो? क्यों प्राणियोंकी हिंसामें संलग्न हो? पथिकोंको लूट कर उनका सर्वस्व अपहरण करना क्या उचित है।"

मनोविज्ञानी मुनिराजने भिल्लराजके मनको पुन: झकझोरते हुए कहा—"मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ है। इस दुर्लभ रत्नको प्राप्त कर हिंसा और चोरीमें संलग्न रहना ठीक नहीं है।" भिल्लराज कहने लगा—"महाराज! मैं भिल्लोंका सरदार हूँ। मेरे साथी जो लूट-पाट कर लाते हैं, उसमें मेरा हिस्सा रहता है। मैं हिंस्र जीवोंको मारकर मार्गको निरापद बनाता हूँ।" मुनिराज कहने लगे—"अरे, भोले जीव! तुम नहीं समझते हो कि पापाचरणमें कोई किसीका साथी नहीं होता है। पाप कभी सुखका कारण नहीं बन सकते। इनके सेवनसे अन्तरात्मा कलुषित हो जाती है और व्यक्ति अपने निज स्वरूपको भूल जाता है। यह मोहोदयका परिणाम है कि आपके मुखसे इस प्रकारकी बातें निकल रही हैं। सात्त्विक प्रवृत्तिको प्रत्येक व्यक्ति सुखप्रद मानता है। जो पापका सेवन करता है, उसको राजदण्ड, समाजदण्ड और जातिदण्ड प्राप्त होता है। हिंसा कभी सुखदायक नहीं हो सकती।"

भिल्लराज मुनिके उपदेशसे अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने पत्नी सहित मुनिराजसे अहिंसाणुव्रत ग्रहण किया और उसका तत्परता पूर्वक पालन किया। अहिंसक आचरणसे पुरुरवाका जीवन ही बदल गया, वह समभावी बन गया। जो जीव-जन्तु पहले उसके पास आते हुए भयभीत रहते थे, वे अब निर्भय होकर पास आने लगे और उससे प्यार करने लगे। भिल्लराजके हृदयमें दया और

करुणाका सरोवर उत्पन्न हो गया। इस प्रकार भगवान् महावीरकी जीवात्मा-ने आत्मोत्थानकी साधना इस भिल्लपर्यायसे प्रारम्भ की। इस पर्यायमें उसने श्रावकके द्वादश व्रतोंका अभ्यास किया। आयुके अन्तमें भीलका जीव इस नश्वर शरीरको छोड़कर स्वर्गमें देव हुआ। पूर्व संस्कार वश वह स्वर्गके दिव्य भोगों-में आसक्त नहीं हुआ, किन्तु धर्माराधनामें समय व्यतीत करता रहा। सौधर्म स्वर्गकी आयु समाप्त कर वह जीव भारतवर्षके आदि चक्रवर्ती भरतका 'मरीचि' नामक पुत्र हुआ।

मरीचि आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके साथ ही दिगम्बर मुनि हो गये, किन्तु वे तपस्वी जीवनकी कठिनाईयोंको सहन न कर सके। मरीचि वन में रहकर अपने शरीरकी शीत-आतपसे रक्षा करता हुआ, वनके फल खाकर समय व्यतीत करता रहा। वह रत्नत्रयके मार्गपर दृढ़ न रह सका और उस मार्गसे च्युत हो एक मिथ्या सम्प्रदायके प्रचारमें संलग्न हो गया। सत्यकी ओर वह बढ़ा हुआ, बीचमें ही रुक गया। उसका जीवन परीषहोंके झटकोंको सह नहीं सका। फलतः वह विचलित हो गया।

पुरुरवाके जन्ममें जो संस्कार अर्जित किये थे, वे अब धूमिल होने लगे। जीवनका यथार्थ अर्थ उसके नेत्रोंसे ओझल होने लगा। जहाँ शरीर आत्माके लिये होता है, आध्यात्मिक विकासमें सहयोग प्रदान करता है, वहाँ जीवन प्राणवान बन जाता है। इसके विपरीत जहाँ शरीर अपने आपमें साध्य बन जाता है, आत्माके विकासकी उपेक्षाकी जाती है, वहाँ चेतनके स्थान पर जड़की प्रतिष्ठा हो जाती है। विश्वास, विचार और आचार इन तीनोंका सम्यक् होना आवश्यक है। मरीचि सम्यक् आचार-विचार और श्रद्धाको छोड़ काय-क्लेशमें प्रवृत्त हुआ। वह पंचाग्नि तप करता तथा सूर्यके समक्ष दृष्टि कर एक पैर पर खड़ा होकर दिनभर तपश्चरण संलग्न रहता। अज्ञानतापूर्वक किया गया तप भी किंचित् फल देता है। अतएव काय-क्लेशके प्रभावसे मरीचिने मरकर ब्रह्म-स्वर्गमें देवपर्याय प्राप्त किया। अब वह अहिंसा-संस्कारसे दूर भटक गया था, भोगोंमें मग्न रह रहा था। वहाँसे भोग भोगकर महावीरके इस जीवने मनुष्य-पर्याय प्राप्त किया।

महावीर : जटिलपर्याय : पतनकी ओर

महावीरका यह जीव ब्रह्मस्वर्गसे च्युत होकर अयोध्या नगरीमें कपिल ब्राह्मणके यहाँ जटिल नामक पुत्र हुआ। कपिलकी स्त्रीका नाम काली था। इन दोनोंकी जटिलके प्रति अपूर्व ममता थी। जटिलने वेद-स्मृति आदि ग्रन्थोंका

अध्ययन कर पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया और कुमारावस्थामें ही संसार छोड़ संन्यास मार्ग ग्रहण किया। जटिल आगमका विरुद्ध अर्थकर लोगोंको कुमार्गकी शिक्षा देता और उन्हें एकान्त मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करता। जटिलने संन्यासी अवस्थामें अनेक प्रकारका दुर्द्धर तपश्चरण किया, पर उसकी साधना आध्यात्मिकतासे शून्य थी। वह अज्ञानतापूर्वक कठोर तपश्चरण करता रहा। आत्मा और परमात्माके परिज्ञानके अभावमें उसकी साधना सफल नहीं हो सकी। फलतः वह साधनाकी अपूर्णताके कारण आयुका अन्त कर स्वर्गमें प्रथम देव हुआ।

पुरुरवापर्यायमें अहिंसाका जो बीज वपन हुआ था, वह अभीतक अंकुरित न हो सका और महावीरका वह जीव उत्थानसे पतनकी ओर गतिशील होने लगा। यह सत्य है कि त्याग द्वारा अर्जित संस्कारोंका कभी विनाश नहीं होता। यही कारण है कि इस जीवनने भी संन्यास-मार्ग ग्रहणकर मिथ्या तपाचरण किया, पर अन्तरात्मामें स्थित संस्कार कभी-कभी जोर मारते रहे।

पुष्यमित्रपर्याय : अगतिशीलता

महावीरका वह जीव सौधर्म स्वर्गसे च्युत हो अयोध्यापुरीके स्थूणागार नगरमें भारद्वाज नामक ब्राह्मण और उनकी पुष्पदत्ता नामक पत्नीसे पुष्यमित्र नामक पुत्र हुआ। पुण्योदयके कारण पुष्यमित्रका पालन-पोषण समृद्धरूपमें सम्पन्न हुआ। उसने संस्कारवश थोड़े ही दिनोंमें वेद-पुराण आदि ग्रन्थोंका अध्ययन किया। पुष्यमित्रका विवाह समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। कुछ दिनोंतक वह सांसारिक सुख भोगता रहा। पत्नीका स्वर्गवास हो जानेके कारण उसके मनमें विरक्ति उत्पन्न हुई। मिथ्यात्वके उदयसे वह 'आत्म'-परिणतिका त्याग कर 'पर'-परिणतिमें प्रवृत्त हुआ। अपनी आत्माकी परमज्योतिको वह भूल गया फलतः उसके समस्त कार्य अध्यात्मपोषक न होकर शरीरपोषक ही होने लगे। फलस्वरूप कठोर साधना करनेपर भी शारीरिक कष्टके अतिरिक्त अन्य कोई उपलब्धि न हो सकी। कष्टसहिष्णुताके कारण मन्द कषाय होनेसे उसने देव आयुका बन्ध किया और फलस्वरूप स्वर्गमें प्रथम देव हुआ। इस देवपर्यायमें कर्मोदयसे प्राप्त संसारके सुखोंका उपभोग करता रहा। सुखसामग्रीका जितना आधिक्य उसे उपलब्ध होता, उतनी ही उसकी बेचैनी बढ़ती जाती थी। अतएव देवगतिके सुखोंका उपभोग करते हुए भी उसे एक क्षणके लिये भी शान्ति प्राप्त न हुई। मरीचिके भवसे अगतिशीलताकी जो स्थिति उत्पन्न हुई थी, वह ज्योंकी त्यों बनी रही। अज्ञानपूर्वक किये गये तपने जीवनमें न कोई गति उत्पन्न की और न किसी आलोकको ही प्रादुर्भूत होने दिया। विकासकी अपेक्षा ह्रास ही उत्पन्न होता रहा। अर्जित संस्कार अज्ञानतामें दबने लगे।

अग्निसह : हठयोगकी साधना

पुष्यमित्रके जीवनमें हठयोगकी साधना आरम्भकी गयी थी, वह साधना आवर्त्तकदशमलव गणितके समान बढ़ रही थी। अतएव पुष्यमित्रका वह जीव स्वर्गसे मरणकर भरत क्षेत्रमें श्वेतिक नामके नगरमें अग्निभूत ब्राह्मण और उनकी स्त्री गौतमीसे अग्निसह नामक पुत्र हुआ। इस पर्यायमें इसने धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका यथोचित सेवन किया। संन्यास संस्कार हो गया था, हठयोगकी साधना अभी अपूर्ण थी। फलतः वह संन्यासी बना और उसका मधुर फल उसे स्वर्ग मिला।

स्वर्गके दिव्य भोग-भोगकर वह पुनः एकबार अग्निमित्र नामक परिव्राजक हुआ और आंशिक साधनाके फलस्वरूप, उसे पुनः स्वर्ग सुख प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि छोटा-सा अच्छा बीज भी मधुर फल उत्पन्न करता है। एक जन्ममें की गयी अहिंसाकी आंशिक साधना भी अनेक जन्मोंमें फल देती है। अतएव वह स्वर्गसे च्युत हो, भारद्वाज नामक त्रिदण्डी साधु हुआ। मिथ्या श्रद्धाको वह दूर न कर सका। देवगतिके भोगोंमें आसक्त हो गया। इस इन्द्रियासक्तिने उसे अनेक कुयोनियोंमें परिभ्रमण कराया। पूर्वसंचित शुभ-कर्मोदयसे, उसे मनुष्य जन्म भी मिला। इस जन्मको सार्थक करनेके लिये परि-व्राजक दीक्षा ग्रहणकी और अज्ञानपूर्वक तप किया। आत्मानुभवसे वह दूर रहा। फलतः निर्वाण या आत्मकल्याणकी दिशाकी ओर वह प्रवृत्त न हो सका। यह सत्य है कि विवेकपूर्वक किया गया तप ही सिद्धिका कारण होता है।

विश्वनन्दी : नया मोड़

मगध देश अपनी धनधान्य सम्पत्तिके लिये सदासे प्रसिद्ध रहा है। यह प्रदेश पवित्रता और रमणीयताकी संगमभूमि है। यहाँके कण-कणने प्राचीन कालसे ही जनमानसको आकृष्ट किया है। इस प्रदेशमें राजगृह नामक प्रसिद्ध नगर है, जिसमें विश्वभूति नामक राजा न्याय-नीतिपूर्वक शासन करता था। महा-वीरका वह जीव स्वर्गसे च्युत होकर इस राजाके यहाँ विश्वनन्दी नामक पुत्र हुआ। 'होनहार विरवानके होत चीकने पात' नीतिके अनुसार विश्वनन्दी शैशव कालसे ही भविष्णु, प्रतिभाशाली और तेजस्वी दिखलायी पड़ता था। उसकी तेजस्विताको देखकर सभी आश्चर्य चकित थे। जो भी उस बालकको देखता था, वह उसके स्वभाव तथा गुणोंकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहता था। समय पाकर विश्वनन्दी युवक हुआ। वह सभी विद्या और कलाओंमें प्रवीण हुआ और उसका विवाह अनेक सुन्दरी कन्याओंके साथ सम्पन्न हुआ। विश्वनन्दीके पराक्रम और प्रतापसे सभी प्रजा संतुष्ट थी और सभी लोग उसके स्वभावकी पुनः पुनः प्रशंसा

करते थे। वह सेवा, त्याग, साहित्य, कला आदिको पूर्ण आदर प्रदान करता था। उसका अभिमत था—"यदि जीवनमें सेवा, त्याग और संयम न रहे, तो जीवन निस्सार हो जाता है। यदि कला, साहित्य, काव्य और दर्शनकी सरिता पृथ्वीपर प्रवाहित न हो, तो पृथ्वी असुरोंका अखाड़ा बन जाये। मानवताका प्रचार कला, काव्य और दर्शनके द्वारा ही होता है। जिसप्रकार शारीरिक स्वास्थ्यको ठीक रखनेके लिये पौष्टिक भोजनकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आन्तरिक स्वास्थ्यको अनुकूल बनाये रखनेके लिये त्याग, सेवावृत्ति, कला और कौशलकी आवश्यकता है।" विश्वनन्दी अपने इस विचारके अनुसार सांसारिक सुखोंको भोगता हुआ भक्ति, सेवा और संयमकी ओर भी प्रवृत्त रहा। उसका जीवन आदर्श जीवन था। वह विषयभोगोंसे उसी तरह अलिप्त था, जिसप्रकार कमलपत्र जलसे। भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग इन तीनों-का समन्वय उसके जीवनमें विद्यमान था।

विश्वभूतिके भाईका नाम विशाखभूति था और विशाखभूतिके पुत्रका नाम विशाखनन्दी। विश्वभूति एक दिन अपनी अट्टालिकापर बैठे हुए मेघोंकी सुन्दर आकृतिका अवलोकन कर रहे थे। उन्होंने सहसा देखा कि वह मेघाकृति वायुके एक झोंकेसे क्षणभरमें छिन्न-भिन्न हो गयी। इस दृश्यके देखनेसे उनकी अन्त-रात्मा प्रभावित हुई और वे सोचने लगे कि मनुष्य-जन्मकी सार्थकता आध्या-त्मिक प्राप्तिमें है। यह भव चन्दनके काष्ठके समान है, जिसे क्षुद्र जन्तु कामोप-भोग—वासनाओंके कुण्डमें दग्धकर अकिंचिन प्रयोजनके हेतु नष्ट कर देते हैं, पर जो मननशील हैं, प्रबुद्धचेता हैं; वे इस काष्ठका घर्षण कर सुगन्ध प्राप्त करते हैं और इस गन्धसे अन्तरंग एवं बहिरंगको तृप्त कर लेते हैं। यह मनुष्य जन्म कितना महान् है। आज भी अन्य प्राणी उसी पूर्व अवस्थामें हैं, जिसमें अनादिकालमें थे और उनके सभी व्यापार उतने ही सीमित हैं, जितने पूर्व युगमें थे। मनुष्य ही एक ऐसा भव है, जिसमें अध्यात्म-संपत्तिका विकास संभव होता है। जो इस भवको प्राप्तकर संयम ग्रहण नहीं करता, अहिंसाका आचरण नहीं करता, उसका नर-जन्म पाना सार्थक नहीं है। वस्तुतः इस मनुष्य-जन्मको तप, ज्ञान और चारित्रकी साधना द्वारा सार्थक बनाना ही जीवनका लक्ष्य है। मैंने अबतक मोह और कषायके उदयसे अगणित वर्ष इन सांसारिक विषयोंमें व्यतीत कर दिए हैं। अतएव अब मुझे आत्मकल्याणके लिये प्रवृत्त होना चाहिये।"

इसप्रकार विचारकर विश्वभूतिने अपने भाई विशाखभूतिको बुलाकर कहा कि मैं अब संसारसे विरक्त होकर आत्मसाधनाके हेतु श्रमण-दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। अतएव "वत्स! तुम इस राज्यभारको ग्रहण करो।"

विशाखभूतिने अनुरोध करते हुए कहा—"प्रभो, अभी कुछ दिनतक और शासन कीजिये। आपके रहते हुए हम निश्चिन्त हैं। हमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है। अभी आपका तारुण्य है। अतः इन सांसारिक भोगोंको छोड़कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण करना उचित नहीं।" विश्वभूतिने उत्तर दिया—"वत्स, मृत्यु किसीको नहीं देखती। उसकी दृष्टिमें रूप-कुरूप, ज्ञानी-अज्ञानी, पण्डित-अपण्डित, धनी-निर्धन, युवा-वृद्ध सभी समान हैं। अतः आत्म-हितसाधनके लिये जितनी जल्दी प्रयास किया जा सके, श्रेयष्कर है।"

जीवन ओस कणके समान अस्थिर है। संसारके भोग देखते-देखते विलीन होनेवाले हैं। शरीर, धरा और भोग विद्युत्के समान चंचल हैं। अतः आत्मोत्थानमें संलग्न होनेके लिये प्रयत्नशील होना मेरे लिये आवश्यक है"।

इसप्रकार उत्तर प्रत्युत्तर सम्पन्न होनेके अनन्तर विश्वभूतिने अपने भाई विशाखभूतिका राज्याभिषेक करनेकी तैयारी की। राजगृह नगरीको पूर्णतया सज्जित किया गया। चारों ओर ध्वज, वन्दनवार लगाये गये। पुष्पमालाएँ प्रमुख मार्गोंपर लटका दी गयीं। चन्दन-कुमकुमसे छिड़काव किया गया। राजोचित सामग्रियाँ एकत्र की गयीं। शंखध्वनि हुई। तूर्यभेरी आदि वाद्य बज उठे। मंगलाचार सम्पन्न किया गया। पुरोधाओंने मंत्रपाठ किया और विशाखभूतिको राज्यके पट्टपर प्रतिष्ठित किया गया।

प्रकृतिके अणु-अणुमें नवचेतना व्याप्त हो गयी। सहस्रदल कमल विकसित हो गये। पुष्पोंका सौरभ और सुषमा जनमानसको आत्मविभोर बनाने लगी। मोहक वसंतऋतुका साम्राज्य व्याप्त हो गया। ऐसे ही मनोरम समयमें विश्वभूतिने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। पंच मुष्ठी लोञ्चकर गुरुसे दिगम्बर मुनिके व्रतोंकी याचना की और उन व्रतोंको ग्रहणकर वे देशान्तरमें विहार कर गये।

विशाखभूतिने अपने बड़े भाई विश्वभूतिके पुत्र विश्वनन्दीको पराक्रमशाली और तेजस्वी समझ युवराजके पदपर प्रतिष्ठित किया। विश्वनन्दी अपने कार्योंमें पूर्णतया सतर्क और सावधान रहता था। वह राज-काजमें भी यथेष्ट सहायता प्रदान करता था। उसने अपने विलासके लिये एक सुन्दर उद्यान बनवाया और उसमें आनन्दपूर्वक निवास करने लगा। इस उद्यानमें आम, अशोक, अनार आदिके अगणित वृक्ष थे। उसकी सुन्दरता और मध्यमें निर्मित सरोवरकी रमणीयताको देखकर मनुष्योंकी तो बात ही क्या, देवोंका भी मन चंचल हो जाता था। सरोवरके मध्य रक्त, पीत, हरित आदि नाना वर्णके कमल विकसित हो रहे थे। सरोवरके घाट सुन्दर बनाये गये थे, जिनपर हंस, मयूर आदिकी आकृतियाँ अंकित की गयी थीं। विभिन्न प्रकारकी लताएँ

और उनसे निर्मित लतामंडप अद्भुत सौन्दर्यका सृजन करते थे। उद्यानके मध्यमें विश्राम करनेके हेतु मणि-माणिक्योंसे खचित शिलातल निर्मित किये गये थे। सभी मिलाकर वह उद्यान राजगृह नगरके सौंदर्यका प्रतिमान था।

एक दिन वाटिकाके उसी मार्गसे विशाखभूतिका पुत्र विशाखनन्दी जा रहा था। जब उसकी दृष्टि उस मनोरम वाटिकापर पड़ी, तो उसका मन उछलने लगा। वह सोचने लगा—"यों तो मैंने अनेक बार इस वाटिकाके दर्शन किये हैं, किन्तु आज यह मुझे सबसे अधिक सुन्दर लग रही है। इस उद्यानकी प्राप्तिके अभावमें तो यह जीवन ही व्यर्थ है। वह शुभावसर कब प्राप्त होगा, जब मैं इसे विश्वनन्दीसे छीनकर अपना स्वत्व स्थापित कर सकूँगा।"

राजकार्य सरल रेखाकी गतिसे नहीं चलता। इसमें अनेक वक्रताओंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अचानक विशाखभूतिको समाचार प्राप्त हुआ कि कामरूपका समीपवर्ती राजा विद्रोही हो गया है। उसने कर देना बन्द कर दिया है और विशाखभूतिकी आज्ञा माननेसे भी इन्कार कर रहा है। राजदूत और चरोंने भी आकर बतलाया कि कामरूपनरेश राजाज्ञाको नहीं मान रहा है। उसने राजगृहके राजदूतको वहाँसे निर्वासित कर दिया है और अपनेको स्वतंत्र घोषित कर दिया है।

इस समाचारसे विशाखभूति चिन्तित हुआ और उसने राजसभामें अपना विचार सामन्तोंके समक्ष रखा। अमात्य और सामन्तोंने अपने-अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—"अब इस विद्रोहको शमन करनेके लिए ससैन्य आक्रमण करना चाहिये। इस प्रकार तो सभी नरेश स्वतंत्र होते जायेंगे और राजगृहकी सत्ता ही समाप्त हो जायगी।"

सभाके इस विचारको सुनकर युवराज विश्वनन्दी कहने लगा—"तात, मेरे रहते हुए आपको युद्धभूमिमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। आप मेरे बल-पौरुष पर विश्वास कीजिये। मैं थोड़ी-सी सेना लेकर ही जाऊँगा और राजविद्रोहीको कैदकर आपके सामने उपस्थित कर दूँगा। कामरूपनरेश अभी हमारी शक्तिसे अपरिचित है। उसे यह नहीं मालूम कि मागधोंमें कितनी शक्ति है? हमारा प्रत्येक सामन्त कामरूपनरेशको परास्त करनेकी क्षमता रखता है। मैं सामन्तोंके ऊपर इस दायित्वको छोड़ना नहीं चाहता। अतएव आप मुझे आदेश दीजिये। मैं कामरूपनरेशको बंदी बनाकर कुछ ही दिनोंमें यहाँ उपस्थित कर दूँगा।"

युवराज विश्वनन्दीके अत्यधिक आग्रहको देखकर विशाखभूतिने उसे आक्र-

मण करनेका आदेश दिया। रण-वाद्य बज उठे। वीर सैनिकोंने युद्धभूमिमें सम्मिलित होनेके हेतु तैयारियाँ आरम्भ कीं। तलवारोंकी खनखनाहट और कवचोंकी झनझनाहटने आकाशको पूरित कर दिया। शुभ मुहूर्तमें विश्वनन्दीके नेतृत्वमें चतुरंगिणी सेनाने प्रस्थान किया और कुछ दिनों तक निरन्तर प्रयाण करनेके पश्चात् राजगृहवाहिनीने कामरूपकी सीमामें प्रवेश किया। कामरूपनरेशने भी युद्धके निमित्त अपनी सेना तैयार की और निश्चित समयपर दोनों ओरकी सेनाओंमें युद्ध होने लगा। राजगृहके कुशल सैनिकोंके समक्ष कामरूपके सैनिक ठहर न सके। कुछ ही घण्टोंके युद्धके पश्चात् भगदड़ मच गयी। सेना अस्त-व्यस्त हो गयी और कामरूपनरेश बंदी बना लिया गया।

विश्वनन्दी उसे युद्धबन्दी बनाकर राजगृह ले आया और विशाखभूतिके समक्ष उपस्थित किया। सम्राट् विशाखभूतिने कामरूपनरेशके समक्ष संधिकी शर्तें प्रस्तुत कीं, जिनका पालन करनेका उसने पूर्ण वचन दिया। कामरूप-नरेश स्वतंत्र कर दिया गया और दण्डस्वरूप उससे पाँचसौ हाथी एवं पाँच सहस्र स्वर्णमुद्राएँ ले ली गयीं।

युवराज विश्वनन्दी जब उद्यान-विहारके लिये पहुँचा, तो उसने वहाँ देखा कि विशाखनन्दीने उसकी अनुमतिके बिना उद्यानपर अधिकार कर लिया है। उद्यानके मध्यमें निर्मित उत्तुङ्ग भवनके द्वारोंपर उसने अपने पहरेदारोंको नियुक्त कर दिया। फलतः जब विश्वनन्दी महलमें प्रवेश करने लगा, तो पहरे-दारोंने उसे रोका और कहा—"राजकुमार विशाखनन्दीकी आज्ञाके बिना आप इसमें प्रवेश नहीं कर सकते। अब यह भवन और वाटिका आपकी नहीं रही, विशाखनन्दीकी है। कुमारकी आज्ञाके बिना यहाँ कोई भी नहीं आसकता और न इस वाटिकामें विहार ही कर सकता है।"

विश्वनन्दी सोचने लगा कि इन निरीह प्रतिहारियोंसे संघर्ष करना व्यर्थ है। यों तो अपने चचेरे भाई विशाखनन्दीसे भी मैं झगड़ा करना नहीं चाहता। अतएव पहले मैं उसे यहाँ बुलाकर बातें कर लेना आवश्यक समझता हूँ, जिससे परस्परकी मिथ्या धारणा दूर हो जाये।

अपने उक्त विचारानुसार उसने कुमार विशाखनन्दीको बुलाकर कहा—"वत्स, तुमने मेरी अनुमतिके बिना उद्यानपर क्यों अधिकार कर लिया है और क्यों वहाँपर अपने प्रतिहारियोंको नियुक्त किया है? मैं कुछ कारण समझ नहीं सका हूँ। यदि तुम्हें वाटिकासे प्रेम है, तो तुम्हारे लिये दूसरी वाटिकाकी

व्यवस्था की जा सकती है। छोटी-सी बातोंको लेकर पारिवारिक कलह करना उचित नहीं है। परिवारमें तभी शान्ति और एकता विद्यमान रहती है, जब परस्परमें उदारतापूर्ण प्रेमका व्यवहार किया जाये। अतएव तुम उद्यानपरसे अपना अधिकार हटा लो।"

विश्वनन्दीके इस कथनको सुनकर विशाखनन्दीने उत्तर दिया—"यह उपवन मुझे मेरे पिताने दिया है और अब मैं इसका स्वामी हूँ। अतएव मैं इसे यों ही वापस नहीं कर सकता। यदि सामर्थ्य है, तो तुम लड़कर इसे ले लो।"

विश्वनन्दी क्रोधाविष्ट हो विशाखनन्दीको मारनेके लिये दौड़ा। विशाखनंदी भयसे आतंकित हो एक उन्नत वृक्षके ऊपर चढ़ गया। कुमार विश्वनन्दीने उस उन्नत कपित्थ वृक्षको जड़से उखाड़कर फेंक दिया और उसे मारनेके लिये उद्यत हुआ। यह देख विशाखनन्दी वहाँसे भागा और एक पाषाण स्तम्भके पीछे छिपकर बैठ गया। शक्तिशाली विश्वनन्दीने अपने मुष्टिप्रहारसे उस पत्थरके स्तम्भको चूर-चूर कर डाला। अब विशाखनन्दीको कहीं छिपकर प्राण बचानेका स्थान नहीं था। अतः वह पलायनवादी नीति स्वीकार कर वहाँसे भागा। जब कुमार विश्वनन्दीने अपने अपकार करनेवालेको इसप्रकार भागते हुए देखा तो उसका सौहार्द और करुणा जागृत हो उठी। उसने कुमारको रोकते हुए कहा—"भय मत करो। तुम मेरे भाई ही हो। मैं अब तुम्हारे ऊपर शस्त्र प्रहार नहीं करूँगा। तुम्हारे प्रति मेरे हृदयमें ममता है। मैं तुम्हें अपना उपवन देनेको तैयार हूँ। अब जब तुम आत्मसमर्पण करनेको प्रस्तुत हो, तो मुझे उपवन देनेमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। यदि यह कार्य पहले ही किया गया होता, तो न तुम्हें कष्ट होता और न मुझे ही क्लेशका अनुभव करना पड़ता।"

इसप्रकार विशाखनन्दीको सांत्वना देकर विश्वनन्दीने उसे वह वाटिका सौंप दी। अब विश्वनन्दी संसारकी स्वार्थपरताके सम्बन्धमें सोचने लगा—"मैंने इस संसारकी स्वार्थपरता देख ली। चाचाजीने मुझे कामरूपनरेशको वश करनेके लिये भेजा और मेरी अनुपस्थितिमें मेरी वाटिकापर विशाखनन्दीका आधिपत्य करा दिया। विशाखनन्दीमें न शारीरिक बल ही है और न आत्मिक बल। उसका मनोबल इतना कमजोर है कि वह मेरा तो क्या किसी अच्छे सैनिकका भी सामना नहीं कर सकता। यह संसार स्वार्थोंका अखाड़ा है। इसकी अनित्यता और अनिश्चितता सभीको कष्ट देती है। कषाय और असंयमके कारण अनेक गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। यह मनुष्यजीवन आत्मोत्थानके लिये प्राप्त हुआ है। यदि इस जीवनको सार्थक न किया गया, तो फिर पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा। अतएव इन्द्रिय और मनका नियन्त्रणकर आत्मकल्याणमें

प्रवृत्त होना चाहिए। जीव अनादि कालसे इस संसारमें पंचपरावर्त्तन करता चला आ रहा है। जब संयमकी प्राप्ति हो जाती है, तभी इन परावर्त्तनोंसे छुट-कारा प्राप्त होता है। अतएव अब मुझे रत्नत्रयकी आराधनामें प्रवृत्त होना है।"

इसप्रकार विचार कर विश्वनन्दीने श्रमण-दीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय किया। वह अपने चाचा विश्वभूतिके समीप पहुँचा और निवेदन करने लगा—"तात ! मैंने संसारके रहस्यको ज्ञात कर लिया है और भेदविज्ञान द्वारा मुझे आत्मदृष्टि प्राप्त हो गयी है। आप मुझे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दीजिए। मैं अब सच्चे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होना चाहता हूँ। मानवशरीरकी प्राप्ति बड़े सौभाग्यसे होती है, इसे प्राप्तकर साधना द्वारा कर्मसंततिको नष्ट कर मैं स्वतन्त्र होना चाहता हूँ।"

कुमार विश्वनन्दीके इस कथनको सुनकर विशाखभूति कहने लगा–"वत्स ! तुमने इस अवस्थामें ही संसारका अनुभवकर लिया ? अभी तुम्हे संसारके विषय-सुखोंका उपभोग करना चाहिये। जब चौथापन आरम्भ हो, तब तुम दीक्षा ग्रहण करना। राज्यकी सारी व्यवस्था तुम्हारे ऊपर ही है। मैं तो सोचता था कि तुम्हारा राज्याभिषेक कर मैं दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँ। विशाखनन्दीसे तुम परिचित ही हो, उसमें राज्यका भार वहन करनेकी क्षमता नहीं है। न वह शूर-वीर ही है और न राज्यशासनमें कुशल है। अतएव तुम कुछ दिनों तक अभी राज्यसुखका उपभोग करो।"

विश्वनन्दी कहने लगा—"तात ! मैं इस संसारकी वास्तविकताको समझ गया हूँ। आत्मोत्थान करनेके लिये समयकी प्रतीक्षा नहीं की जाती। अत: अब मुझे आप दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दीजिये।"

जब विश्वभूतिने कुमार विश्वनन्दीके त्यागभावकी गहराई देखी, तो उसे श्रमण-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दे दी। फलत: विश्वनन्दीने संसारके समस्त परिग्रहका त्यागकर सम्भूत नामक गुरुके समीप दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। जब विशाखभूतिको विश्वनन्दीकी दीक्षाका समाचार मिला, तो उसके मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगा कि—"मैंने अपने पुत्रके साथ पक्षपातकर उसे विश्वनन्दीकी अनुपस्थितिमें मनोहर उद्यानका अधिपति बना दिया, जिससे मेरी स्वार्थपरताके कारण विश्वनन्दीको दीक्षा ग्रहण करनी पड़ी। यदि मैंने यह अनुचित कार्य नहीं किया होता, तो विश्वनन्दीको दीक्षा ग्रहण करनेका अवसर नहीं आता और राज्यकी व्यवस्था सुदृढ़ रहती।" इसप्रकार पश्चात्ताप करनेके अनन्तर उसे भी विरक्ति हो गयी और उसने भी संयम धारण कर लिया।

मुनि बनकर विश्वनन्दीने समस्त देशोंमें विहार करते हुए घोर तपश्चरण किया। उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। वह विभिन्न देश और नगरोंमें विचरण करता हुआ मथुरा नगरीमें पहुँचा। जब चर्याके लिये भ्रमण करने लगा, तो वार्द्धक्य एवं शक्तिकी क्षीणताके कारण उसके पैर डगमगा रहे थे अधिक दूर चलना विश्वनन्दीके लिये कठिन था। उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी, पर मनोबल और आत्मबल उदीप्त थे। शरीरसे तेजपुंज प्रस्फुटित हो रहा था, पर मार्ग चलनेमें उसे कठिनाई हो रही थी।

इधर पिताके मुनि-दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् बल और पौरुषकी हीनताके कारण विशाखनन्दी अपने समस्त राज्यको खो बैठा। अधीनस्थ राजा स्वतंत्र हो गये। विश्वनन्दीने जिस राजशक्तिका संगठन किया था, वह शक्ति कुछ ही वर्षोंमें छिन्न-भिन्न हो गयी। फलतः विशाखनन्दीको पड़ोसी राजाके यहाँ राजदूतका कार्य करना पड़ा। अक्षमताओंके साथ उसकी व्यसनोंकी प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। यही कारण था कि वह दिनों-दिन निर्धन और दुःखी जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य हो गया।

संयोगवश विशाखनन्दी अपने स्वामीका दूतकार्य सम्पन्न करनेके हेतु इसी समय मथुरा नगरीमें पहुँचा। वह अपनी विषयाभिलाषा तृप्तिके लिये एक वेश्याके भवनमें पहुँचा। जिस समय वह उसके भवनकी छतपर बैठा हुआ था, उसी समय मुनि विश्वनन्दी उस वेश्याके भवनके नीचेसे चर्याके हेतु जा रहे थे। तत्काल प्रसूता एक गायने क्रुद्ध होकर मुनिराजको धक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरता देख क्रोधित हो विशाखनन्दी कहने लगा—"तुम्हारा जो पराक्रम पत्थरका खम्भा तोड़ते समय देखा गया था, वह आज कहाँ गया ? इस समय तो मैं भी तुम्हें यमराजके यहाँ पहुँचा सकता हूँ। तुमने मुझे जो अपमानित किया है, उसका बदला मैं तुमसे चुका सकता हूँ। बड़े बहादुर बने थे, आज एक गायके धक्केसे गिर गये ? यदि अब शक्ति है, तो मेरा सामना करो।"

इसप्रकार मुनिकी भर्त्सना करते हुए विशाखनन्दीने अनेक दुर्वचनोंका प्रयोग किया। मुनिराजका धैर्य टूट गया। उनके मनमें भी विकार उत्पन्न हो गया और कुपित होकर मन-ही-मन कहने लगे—"इस अपमानका तू अवश्य फल प्राप्त करेगा।"

मुनिराज विश्वनन्दी बिना चर्या किये ही वापस लौट आये और उन्होंने अपनेको असमर्थ समझ सल्लेखना ग्रहण की। काय और कषायोंको कृश करनेपर

भी उन्होंने निदान सहित मरण किया। फलत: महावीरके जीव विश्वनन्दीने महाशुक्र स्वर्गमें देवपर्याय प्राप्त की। इधर विशाखभूतिका जीव भी तपश्चरणके प्रभावसे उसी स्वर्गमें देव हुआ। ये दोनों ही अगणित वर्ष तक मनोनुकूल सुखोंका उपभोग करते रहे। विश्वनन्दीके चाचा विशाखभूतिका जीव सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरमें प्रजापति महाराजकी जयावती रानीके गर्भसे विजयभूति नामका पुत्र हुआ। विश्वनन्दीका जीव भी वहाँसे च्युत हो इन्हीं प्रजापति महाराजकी दूसरी रानी मृगावतीके गर्भसे त्रिपृष्ठ नामका पुत्र हुआ। यह शैशवसे ही शूरवीर और तेजस्वी था। उसके शरीरकी कांतिने चन्द्रमाकी ज्योत्सनाको भी पराजित कर दिया था। इसप्रकारके तेजस्वी कुमारको देखकर सभी परिजन और पुरजन आनन्दित थे। प्रजापतिने अपने दोनों पुत्रोंके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षाका उत्तम प्रबन्ध किया। कुमार त्रिपृष्ठ अल्पकालमें ही युद्धविद्यामें पारंगत हो गया।

त्रिपृष्ठ-पर्याय : चक्रव्यूह

विश्वनन्दीके भवमें महावीरके जीवने प्रतिशोधका निदान बाँधा था। इस निदानका फल उन्हें भी संसार-परिभ्रमणके रूपमें प्राप्त होना अनिवार्य था। तपस्या आत्माको कंचन बनाती है। वह क्लेश-कर्मोंको भस्मकर शुद्ध करती है, पर जब इसी तपस्यामें निदानका संयोग हो जाता है, तो यह आत्मामें ऐसा मोड़ उत्पन्न करती है, जिससे लक्ष्य च्युत होनेमें विलम्ब नहीं होता। त्रिपृष्ठको वीरता और पुरुषार्थके साथ समस्त ऐहिक भोग उपलब्ध हुए। वह अनेक प्रकारसे संसारके भोगोंका सेवन करने लगा।

इधर विशाखनन्दीका जीव पापकर्मके फलस्वरूप अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीके अलकापुर नगरमें मयूरग्रीव नामक विद्याधर राजाकी नीलान्जना नामक पत्नीके गर्भसे अश्वग्रीव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। अश्वग्रीव भी पूर्वजन्मोंमें कभी अर्जित किये गये शुभ पुण्योदयसे विभिन्न प्रकारके सुखभोगोंको प्राप्त हुआ। अश्वग्रीव शक्तिशाली और पुरुषार्थी था। इसने भी अस्त्र-शस्त्रकलामें निपुणता प्राप्त की।

विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें रथनूपुरचक्रवाल नामक नगरमें ज्वलनजटी नामका विद्याधर राजा शासन करता था। यह तीन विद्याओंका स्वामी था। उसने अपनी शक्तिसे दक्षिणश्रेणीके समस्त विद्याधर राजाओंको अपने वशमें कर लिया था। इसके बल-पौरुषके समक्ष बड़े-बड़े सामन्त और शूर-वीर नतमस्तक रहते थे। इस राजाकी पत्नीका नाम वायुवेगा था, जो द्युतिलक

नगरके राजा विद्याधर और सुभद्रा नामक रानीकी पुत्री थी। वायुवेगा रूपमें रति और गुणोंमें लक्ष्मी थी। एकप्रकारसे रति, लक्ष्मी और सरस्वती इन तीनोंका समन्वय उसमें विद्यमान था। इस दम्पतिकी दो सन्तानें हुईं—अर्ककीर्ति नामक पुत्र और स्वयंप्रभा नामक पुत्री।

स्वयंप्रभाके शरीरसे लावण्यकी कांति निस्सृत होती थी। उसने अपने रूपसे तिलोत्तमा और गुणोंसे सरस्वतीको तिरस्कृत कर दिया था। उसमें सभी स्त्रियोचित सुलक्षण विद्यमान थे। बिना आभूषणोंके ही उसका अनिन्द्य लावण्य पुरुषमात्रके लिये आकर्षणका विषय था। स्वयंप्रभा शनैः शनैः किशोरावस्थाको पारकर यौवनमें प्रविष्ट हुई। पिता ज्वलनजटीके लिये कन्याको युवती देख विवाह करनेकी चिन्ता हुई। उसने निमितज्ञ अपने पुरोहितको बुलाकर पूछा—"कन्या स्वयंप्रभाका विवाह किसके साथ होगा और कब होगा? निमित्तशास्त्रके पन्ने उलटकर पुरोहितने उत्तर दिया—"यह नारायण त्रिपृष्ठकी महादेवी होगी और आप भी उसके द्वारा दिये हुए विद्याधरोंके चक्रवर्तीपदको प्राप्त करेंगे।"

ज्वलनजटीने पुरोहितके द्वारा पोदनपुर और पोदनपुरनरेश प्रजापति, त्रिपृष्ठ आदिकी जानकारी प्राप्तकर अत्यन्त विश्वस्त शास्त्रज्ञ और राजभक्त इन्द्र नामक मंत्रीको पत्र एवं बहुमूल्य पदार्थ भेंटके निमित्त देकर पोदनपुर भेजा। इन्द्र अपने विद्याबलसे विमानद्वारा पोदनपुर पहुँचा। पोदनपुरनरेश महाराज प्रजापति उस समय पुष्पकरण्डक नामक उद्यानमें क्रीडा कर रहे थे। वे परिजनोंसे वेष्टित हो सरोवरमें मज्जन, जलकेलिके अतिरिक्त विभिन्न लताओं और विटपोंसे पुष्पावचय करनेमें संलग्न थे। प्रकृतिकी रमणीय गोदमें विचरण करनेके कारण उन्हें अपूर्व सुख प्राप्त हो रहा था। इस समय प्रजापति ललित क्रीड़ाओंमें भी संलग्न थे। एक ओर मनोरम नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर संगीतका अखाड़ा जमा हुआ था। ध्रुपद और धमारकी ध्वनि सभीको अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। इसी आमोद-प्रमोदके समय पुष्पकरण्डक उद्यानमें ही इन्द्र मंत्री पहुँचा और उसने प्रतिहारी द्वारा अपने आनेका समाचार राजा प्रजापतिके पास पहुँचाया। प्रजापतिने मंत्रीको आसन देकर रथनूपुरचक्रवाल नगरके सम्राट् ज्वलनजटीका कुशल समाचार पूछा। मंत्रीने बहुमूल्य मणि-माणिक्य आदिकी भेंट उपस्थित कर पत्र प्रस्तुत किया। प्रजापति पत्रको पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। पत्रमें लिखा था कि संधि-विग्रहमें निपुण विद्याधरोंका स्वामी अपने लोकका शिखामणि, प्रजावत्सल, महाराज नमिके वंशरूपी आकाशका सूर्य ज्वलनजटी रथनपुर नगरसे पोदनपुरनरेश तीर्थंकर ऋषभदेवके पुत्र बाहुबलिके

वंशज महाराज प्रजापतिको नतमस्तक हो प्रणाम करता है। कुशलप्रश्नके अनन्तर पत्रमें लिखा था—"मैं रथनूपुरनरेश अपनी कन्या स्वयंप्रभाका विवाह आपके पुत्र त्रिपृष्ठके साथ करना चाहता हूँ। हमारे वंशोंमें परम्परासे यह सम्बन्ध चला आ रहा है। हम दोनोंके विशुद्ध वंश सूर्य और चन्द्रमाके समान पहलेसे ही प्रसिद्ध हैं। अतएव आप मेरे इस सम्बन्धको स्वीकार करनेकी कृपा कीजिये।"

प्रजापति ज्वलनजटीके इस पत्रको पढ़कर प्रसन्नतासे विभोर हो गया और उसने विनम्रतापूर्वक अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए पत्र लिखा—"नमिके वंशको सुशोभित करनेवाले महाराज ज्वलनजटीकी आज्ञा मुझे स्वीकार है। मैं अपने पुत्र त्रिपृष्ठके साथ आपकी कन्या स्वयंप्रभाके विवाहकी स्वीकृति प्रदान करता हूँ। इस विवाह-सम्बन्धसे हम दोनोंके वंशमें प्रेमभाव उत्पन्न होगा और चिरकालतक हमारे वंशोंमें सौहार्द, सहयोग एवं पारस्परिक प्रेमभाव बने रहेंगे।"

प्रजापतिके इस पत्रको प्राप्तकर ज्वलनजटी प्रसन्न हुआ और वह पोदनपुर चलनेकी तैयारी करने लगा। उसने अपने प्रधान सेनापति और युवराज अर्ककीर्तिको सेना तैयार करनेका आदेश दिया तथा अन्य आवश्यक यात्रोपयोगी सामान भी तैयार होने लगे। स्वयंप्रभाको भी साथ ले जानेके लिए तैयारी की जाने लगी। ज्वलनजटीने पुत्र अर्ककीर्तिको युवराजपदके साथ प्रधान सेनापतिका पद भी दिया था। अतएव उसने सेना तैयारकर पोदनपुरकी ओर प्रस्थान किया। जब ज्वलनजटी ससैन्य पोदनपुरमें पहुँचा, तो पोदनपुरनरेशने ज्वलनजटीका स्वागत किया और उसे मनोहर उद्यानमें स्थान दिया।

शुभ लग्न शोधा गया और विधिपूर्वक विवाहविधि सम्पादित की गयी। स्वयंप्रभा और त्रिपृष्ठका विवाह उसी प्रकार सम्पन्न हुआ, जिस प्रकार ऋषभदेव और सुनन्दाका विवाह सम्पन्न हुआ था। दुन्दुभि वाद्य बज रहे थे। सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगलगान गा रही थीं और पुरोधा मंगलमंत्रोंका उच्चारण कर रहे थे।

ज्वलनजटीने दहेजमें अन्य पदार्थोंके साथ सिंहवाहिनी और गरूड़वाहिनी विद्याएँ भी प्रदान की। विवाहोत्सव धूम-धामपूर्वक सम्पन्न हुआ। ज्वलनजटी और प्रजापति दोनों ही इस विवाहसे प्रसन्न थे।

जब अश्वग्रीवको अपने गुप्तचरों द्वारा स्वयंप्रभाके विवाहका समाचार प्राप्त हुआ, तो उसका हृदय क्रोधाग्निसे जलने लगा। वह सोचने लगा कि "मेरे रहते हुए स्वयंप्रभाका विवाह त्रिपृष्ठके साथ कैसे सम्पन्न किया गया है। स्वयंप्रभा जैसी सुन्दरी तो मुझे मिलनी चाहिये थी। ज्वलनजटीने यह मेरा अपमान किया है।

मैं अपने अपमानका बदला स्वयंप्रभाको छीनकर लूँगा और युद्धभूमिमें त्रिपृष्ठ-का बध करूँगा। विधाताने स्वयंप्रभाको मेरे लिये बनाया है, त्रिपृष्ठके लिये नहीं। इस उदण्डताका फल सभीको भोगना पड़ेगा।"

अश्वग्रीवने अपनी सेनाको युद्धके लिये तैयार किया। तीन विद्याओंसे संपन्न विद्याधर राजाओंको युद्धमें सम्मिलित होनेके हेतु आमन्त्रित किया। अश्वग्रीवने विभिन्न प्रकारकी विद्याओं और अस्त्र-शस्त्रसे सज्जित हो आक्रमण किया और रथावर्त्त नामक पर्वतपर अपना सैन्य-शिविर स्थापित किया। त्रिपृष्ठकुमार भी अश्वग्रीवकी सेनाका आगमन सुनकर अपनी चतुरंग-वाहिनीके साथ वहाँ आ डटा। दोनों ओरसे व्यूहरचना होने लगी। धनुषधारी अपने धनुषोंको सज्जित कर रणभेरीकी प्रतीक्षा करने लगे।

चारों ओर युद्ध-वाद्य बजने लगे। सेनापतियोंने अपनी-अपनी सेनाको युद्ध करनेका आदेश दिया। बाण-वर्षा होने लगी, जिससे सूर्य आच्छादित हो गया। अश्ववाहिनीके सैनिक परस्परमें युद्ध करने लगे। त्रिपृष्ठकुमारकी सेनाकी वीरताके समक्ष अश्वग्रीवकी सेना ठहर न सकी और जिसप्रकार वायुके चलनेसे मेघ तितर-वितर हो जाते हैं, उसी प्रकार अश्वग्रीवकी विद्याधरसेना रण-भूमि छोड़कर भाग उठी। जब अश्वग्रीवने देखा कि रणक्षेत्र खाली हो रहा है, तो वह स्वयं ही युद्ध करनेके लिये आ डटा। उसने ललकारकर कहा—"निरप-राधी इन सैनिकोंको मारनेसे क्या लाभ है? अपराधी तुम हो, अतएव अब मैं तुम्हारे साथ ही युद्ध करना चाहता हूँ। तुम्हारा और मेरा युद्ध ही अन्तिम निर्णायक होगा।"

अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ दोनों युद्ध करने लगे। अश्वग्रीवने मायाका संचार-कर त्रिपृष्ठको पराजित करना चाहा, पर त्रिपृष्ठकी वीरताके समक्ष उसका वश न चल सका। अतएव अश्वग्रीवने लज्जित होकर त्रिपृष्ठके ऊपर कठोर चक्र चलाया। यह चक्र त्रिपृष्ठके पुण्यप्रतापसे प्रदक्षिणाकर शीघ्र ही उसकी दाहिनी भुजापर आकर स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठने उसे लेकर क्रोधवश शत्रुपर चला दिया। जिससे अश्वग्रीवकी ग्रीवाके दो टुकड़े हो गये। अश्वग्रीवके धराशायी होते ही उसकी समस्त सेना और विद्याधर सामन्त भाग खड़े हुए।

त्रिपृष्ठने अश्वग्रीवको पराजित करनेके पश्चात् त्रिखण्डको जीतनेके लिये प्रस्थान किया और सर्वत्र विजयका डंका बजाते हुए अपने स्थानपर लौट आया तथा त्रिखण्ड-अधिपति होकर अर्द्धचक्रवर्तीका पद प्राप्त किया।

उसने विश्वनन्दीके भवमें किये गये निदानको पूरा किया और इस निदान-

जन्य अशुभकर्मके उदयसे त्रिपृष्ठकी प्रवृति संसार-विषयोंकी ओर विशेषरूपसे जागृत हुई। उसने अनेक विद्याधरकुमारियोंसे विवाह किया। अनेक गन्धर्व-कन्याएँ प्राप्त कीं और भूमिगोचरियोंके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। त्रिपृष्ठने विजयार्द्ध पर्वतपर जाकर रथनूपुर नगरके राजा ज्वलनजटीको दोनों श्रेणियोंका चक्रवर्ती बना दिया और निश्चिन्ततापूर्वक अर्द्धचक्रवर्तीपदका भोग करने लगा।

शुभोदयके कारण जितनी भोगसामग्री प्राप्त होती जाती थी, त्रिपृष्ठ उतना ही अशान्त बना रहता था। उसे एक क्षणके लिये भी भोगोंसे तृप्ति न मिली। वह करोड़ों वर्षों तक राज्यसुख और संसारके विषय-सुखोंका भोग करता रहा। उसने बहुत आरम्भ और परिग्रह संचित किया; फलतः विषय-सुखोंकी गृद्धताके कारण मरकर उसने सप्तक नरकमें जन्म ग्रहण किया।

पूर्वजन्ममें बाँधा गया निदान सफल हुआ और दुर्गतिका कारण बना। इस नरकमें त्रिपृष्ठके जीवने अगणित काल तक नाना प्रकारके दुःखोंको सहन किया। आयु पूर्ण होनेपर यह जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें गंगानदीके तटके समीपवर्ती वनप्रदेशमें सिंहगिरि पर्वतपर सिंह हुआ। यहाँ भी इसने तीव्र पापका अर्जन किया, जिससे रत्नप्रभा नामक प्रथम नरकमें नारकी हुआ और वहाँ एक सागर तक भयंकर दुःख भोगता रहा। पश्चात् वहाँसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीपमें सिन्धुकूटकी पूर्व दिशामें हिमवत पर्वतके शिखरपर देदीप्यमान बालोंसे सुशोभित सिंह हुआ।

सिंहपर्याय : पुनः उत्थानकी ओर

सिंहपर्याय प्राप्त करनेपर महावीरका जीव अपनी शक्ति और पुरुषार्थका प्रदर्शन करता हुआ हिंसामें प्रवृत्त हुआ। वह निर्बल जीवोंको मारकर खाने लगा और अपनी शक्ति द्वारा समस्त जीवोंको त्रस्त करने लगा। एक दिन उसने एक हिरणका पीछा किया और जब हिरणको उसने पकड़ लिया, तो उसे अपनी तीक्ष्ण दाढ़ोंसे फाड़ डाला। जब सिंह इस प्रकार हिंसाकर्ममें लगा हुआ था, तब आकाशमार्गसे अजितञ्जय नामक चारण मुनि अमितगुण नामक मुनिराजके साथ जा रहे थे। उन्होंने आकाशमार्गसे उस सिंहको हिंसामें रत देखा, तो वे दयासे द्रवीभूत हो आकाशमार्गसे उतरकर उस सिंहके पास पहुँचे और एक शिलातलपर बैठकर जोर-जोरसे धर्मप्रवचन करने लगे। उन्होंने कहा—"हे भव्य मृगराज! तू हिंसामें क्यों प्रवृत्त है? क्या अभी भी तुम्हारी विषयोंसे तृप्ति नहीं हुई है? त्रिपृष्ठके भवमें तुमने पाँचों इन्द्रियोंके श्रेष्ठ विषयों-

का अनुभव किया है। तुमने कोमल शय्यातलपर अनेक रमणियोंके साथ चिर-काल तक विहार किया है। रसनाइन्द्रियको तृप्त करनेवाले सब रसोंसे परि-पूर्ण तथा अमृतरसायनके साथ स्पर्द्धा करनेवाले दिव्य भोजनका उपभोग तुमने किया है। उसी त्रिपृष्ठके भवमें तुमने सुगंधित धूपके अनुलेपनोंसे, मालाओंसे तथा अन्य सुवासित पदार्थोंसे अपनी घ्राण इन्द्रियको तृप्त किया है। रस-भाव समन्वित सम्पन्न हुए नृत्यका तुमने पर्याप्त अवलोकन किया है। संगीतके मधुर झंकारको सुनकर अगणित वर्षोंतक तुमने आनन्द लिया है। तीन खण्डका अर्द्ध चक्रवर्त्तित्व प्राप्तकर ऐसा संसारका कौन-सा भोग है, जिसका तुमने उपभोग नहीं किया है। निरन्तर सांसारिक सुखोंकी आसक्तिके कारण सम्यग्दर्शन और पंचव्रतोंसे रहित होनेसे तुमने सप्तम नरककी आयुका बन्ध किया और वहाँ तेतीस सागर तक विभिन्न प्रकारके कष्टोंको सहा। नरकसे च्युत हो सिंह-पर्याय प्राप्त की और इस पर्यायके अनन्तर पुनः प्रथम नरककी यातना सही। अब पुनः यह सिंहपर्याय तुम्हें प्राप्त हुई है। अतः इस पर्यायमें तुम्हें अपने आत्मोत्थानमें प्रवृत्त होना चाहिये। तुम यह भूल रहे हो कि पशु और नरक-पर्यायमें छेदन-भेदन, भूख-प्यास, शीत-आतपजन्य कितने कष्ट सहन किये हैं। क्रूर परिणामी होकर तुम पशुओंकी हिंसामें प्रवृत्त हो रहे हो। अतएव संसारके स्वरूपका विचारकर हिंसाका त्याग करो।"

"अहिंसाका सम्बन्ध प्राणीके हृदयके साथ है, मस्तिष्कके साथ नहीं, तर्क-वितर्कके साथ नहीं और न बँधे-बँधाये विवेकशून्य विश्वासोंके साथ ही है। इसका सम्बन्ध अन्तःकरणके साथ है—भीतरकी गहरी आध्यात्मिक अनुभूतिके साथ है। अहिंसाकी भूमि जीवन है। जबतक जीवके आचार-व्यवहार अहिंसामूलक घटित होते हैं, तभी तक जीवन हरा-भरा और विकसित रहता है। अतएव तुम्हें अहिंसाके वास्तविक महत्त्वको समझना है और जीवनको गतिशील बनाना है। तुमने पुरुरवाके भवमें अहिंसा-संस्कारका बीज अर्जित किया था, वह बीज अनेक जन्मोंमें किये गये मिथ्याचरणके कारण दबता गया। उसपर अज्ञानताकी तह पड़ती गयी। फलतः त्रिपृष्ठभवमें नारायण होकर भी तुमने इस अहिंसाके बीजको अंकुरित नहीं होने दिया। तुम पूर्वके जन्मोंमें मनुष्य हुए, देव हुए और पशु बने। पुरुरवाके भवमें तुमने हिंसा करना छोड़ा था, जिसके फलस्वरूप तुमने स्वर्गोंके सुख प्राप्त किये, पर त्रिपृष्ठके भवमें तुम वासनामें डूब गये, हिंसामें सन गये, जिसका दुःखद परिणाम यह पशु-जीवन है। सुख चाहते हो, तो हिंसा-कार्यको छोड़ पहले किये गये संकल्पको याद करो।"

उग्र तपस्वी अजितञ्जयकी वाणीने जादूका कार्य किया। सिंहकी वृत्तियाँ

विगलित होने लगीं। अज्ञानताके कारण जो गुण आच्छादित थे, वे शनैः शनैः उद्घाटित होने लगे। उसे अपने पूर्व जन्मोंकी स्मृति आ गयी और विगत जन्म उसे दर्पणमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बके समान स्पष्टतः दिखलायी पड़ने लगे। आत्मा-की वाणीको आत्माने समझा; आध्यात्मिकता और अहिंसा-संस्कारोंने सिंहके ज्ञाननेत्रोंको खोल दिया। वह पूँछ हिलाता हुआ योगिराजके समक्ष नतमस्तक हो गया। उसकी भावभंगिमासे यह प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ रहा था कि उसे अपने पूर्वकृत कार्योंपर पश्चात्ताप है और अब अपने उत्थानके लिये वह कृत-संकल्प है।

आचार्य अजितञ्जयने सिंहकी इस भाव-विभोर अवस्थाको देखकर कहा—"मृगराज! घबड़ाओ नहीं। तुम्हारी आत्मा अनन्त ज्ञानवान् और शक्तिशाली है। यदि तुम आत्म-निष्ठापूर्वक हिंसाका त्याग कर अहिंसाका आचरण करोगे, तो तुम्हारा उद्धार सम्भव है। विदेहस्थ तीर्थंकर श्रीधरने समवशरणमें कहा है कि अबसे तुम दशवें जन्ममें भरतक्षेत्रके अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगे। संयम, तप और त्याग मनुष्य तथा पशु दोनोंके लिये प्रायः समानरूपसे उपकारक हैं। यदि तुम अपनी वृत्तिको अहिंसक बना सकते हो, तो तुम्हारे उद्धारमें बिलम्ब नहीं है।"

मुनिराज उक्त उपदेश देनेके पश्चात् विहार कर गये। उस सिंहने अपने जीवनकी आलोचना की और संयम ग्रहण कर लिया। उसने मांसाहारका त्याग कर सल्लेखना धारण की। मनुष्य और पशुओंके उपसर्ग एवं यातनाओंको समताभावसे सहा और प्राणविसर्जनकर सौधर्म स्वर्गमें सिंहकेतु नामका देव हुआ। धर्मका फल ऐश्वर्य होता देखकर वह धर्मपुरुषार्थमें लीन हो गया। वह प्रतिदिन अकृत्रिम चैत्यालयोंमें जाकर अर्हत्प्रतिमाओंकी दिव्य पूजा-अर्चा करता। नन्दीश्वरादि द्वीपोंमें भावविशुद्धिके हेतु जिन-प्रतिमाओंकी पूजा एवं गुरुओंके उपदेशका श्रवण करता। एक दिन अजितञ्जय गुरुका उसे दर्शन हुआ। वह विनीत रूपमें निवेदन करने लगा—"गुरुदेव! आपके धर्मोपदेशको प्राप्त कर मैं कृतकृत्य हो गया और अब स्वर्ग-सुख भोग रहा हूँ। आपके उपदेशने मेरे ज्ञान-चक्षुओंका उन्मीलन कर दिया है। मुझे संयम और साधनामें ही सुख दिखलायी पड़ता है। पर यह देवगति भोगयोनि है। यहाँ वीतरागताकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मेरा संकल्प पूरा हो सके।"

गुरु—"वत्स! इस देवगतिमें देव, गुरु और शास्त्रकी भक्ति सुखपूर्वक की जा सकती है। सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि भी यहाँ संभव है। तुम भक्ति और श्रद्धा द्वारा अपने सम्यक्त्वको निर्मलकर आत्मोत्कर्ष कर सकते हो।"

सिंहकेतुने कृत्रिम और अकृत्रिम जिनालयोंकी वंदना की और देवगतिके भोगोंको क्षणभंगुर समझकर अनासक्तभावसे इस गतिमें निवास किया। आयुके अन्तमें समभावोंसे प्राणविसर्जन कर विद्याधरनरेश हुआ।

कनकोज्ज्वलपर्याय : उदित हुए साधना-अंकुर

धातकीखण्डद्वीपके पूर्व विदेहमें मंगलावर्त देश है। इसके मध्यमें विजयार्द्ध पर्वत है। इस पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें कनकप्रभ नामका नगर स्वर्णमंडित प्रासाद, प्राकार और जिनालयोंसे सुशोभित है। नगरका वैभव और उसका रम्यरूप पथिकोंको दूरसे ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। सरोवर, उद्यान और कूप नगरके सौन्दर्यवृद्धिमें गुणात्मक वृद्धि कर रहे हैं। मानव या विद्याधरों-की तो बात ही क्या, प्रकृति भी इसके यथार्थ नामका विज्ञापन कर रही है।

इस नगरका अधिपति विद्याधर राजा कनकपुंख था और कांचनवर्णवाली कनकमाला नामकी उसकी पत्नी थी। इन दोनोंके यहाँ महावीरका जीव वह सिंह-केतु देव स्वर्गसे चयकर कनकोज्ज्वल नामका पुत्र हुआ। पिता कनकपुंखने पुत्रो-त्पत्तिका समाचार अवगतकर जिनालयमें जाकर कल्याण करनेवाली पंचकल्या-णक पूजा की। उसने दीन-दुखियों एवं सत्पात्रोंको यथोचित दान दिया। वार्धा-पन-संस्कार सम्पन्न करनेके हेतु विभिन्न प्रकारकी कलागोष्ठियोंकी योजना की। नृत्य-गान सम्पन्न हुए। पुरोधाओंने मंत्रोच्चारकर नवजात शिशुको आशीर्वाद प्रदान किया। शिशु द्वितीयाके चन्द्रमाके समान क्रमशः वृद्धिगत होने लगा और आठ वर्षकी अवस्थामें उसका विद्या-संस्कार सम्पन्न किया गया। कनकोज्ज्वल-की प्रतिभासे सभी गुरुजन आश्चर्यचकित थे। उसने अनेक शास्त्र और कलाओं-में अल्प समयमें ही प्रवीणता प्राप्त कर ली। किशोर कनकोज्ज्वल अपनी मेधा, मनीषा और मानवोचित गुणोंके कारण परिजन-पुरजन सभीका प्रेम भाजन बन गया। उसकी मधुर वाणी सुनकर सभी हर्षित होते और उसे प्यार करते थे। जब बड़े गुरुजनोंको भी किसी विषयमें आशंका या कठिनाई उपस्थित होती, तो वे इस प्रतिभामूर्ति युवासे परामर्श करते।

जब कनकोज्ज्वलने युवावस्थाकी देहलीपर पैर रखा तो माता-पिताके मनमें उसका पाणिग्रहण सम्पन्न कर देनेकी भावना उदित हुई। कुमारके मामाका नाम हर्ष था और वह कुमारके गुणोंमें अत्यधिक अनुरक्त था। हर्षके कनकावती नामकी सुन्दर कन्या थी, जो सभी गुणोंसे परिपूर्ण थी। मातुल हर्षने अपनी पत्नी और मित्रोंसे स्वीकृति लेकर अपनी कन्या कनकावतीका विवाह कनको-ज्ज्वलके साथ सम्पन्न कर दिया।

कनकोज्ज्वलके मनमें युवावस्थाजन्य वासनाओंका द्वन्द्व आरंभ हुआ। कभी वह अपनी रूपवती भार्याके गुणोंका स्मरण करता, तो कभी पुरुरवा और सिंहपर्यायमें किये गिये संकल्प उसे उद्वेलित करने लगते। कुमारके समक्ष अनेक विद्याधरकन्याओंके परिणयके प्रस्ताव उपस्थित किये गये। एवं सांसारिक विषय-भोगोंका चाकचिक्य प्रस्तुत किया गया। पर उसका मन इन सब विषयोंमें रम न सका। एक दिन वह अपनी पत्नी कनकावतीके साथ क्रीड़ा करता हुआ महामेरु पर्वतपर जिनचैत्योंकी पूजाके लिये गया। वहाँपर ऋद्धिधारी अवधिज्ञानी मुनीश्वरको देख उनकी तीन परिक्रमाएँ कीं और 'नमोऽस्तु' कहकर वह उनके पादमूलमें बैठ गया। जो बीज एक दिन मिट्टीके अन्दर दबा पड़ा था, जल, पवन और प्रकाशका संयोग मिलते ही वह अंकुरित होने लगा। इस अंकुरने भीतर और बाहर दोनों ही ओर अपनी यात्रा आरंभ की। अन्दरकी ओर बढ़नेवाले अंकुरने बीजके अनुरूप ही भीतरसे खोज और छान-बीनके साथ जीवन-शक्ति प्रदान की। कनकोज्ज्वलका अज्ञानतिमिर नष्ट होने लगा और भीतरके प्रकाशसे प्रकाशित हो उसने कहा—"प्रभो! जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय बतलाइये। अगणित पर्यायोंमें मैंने सांसारिक वेदना सही है। अब आप जैसे गुरुको प्राप्तकर मैं निर्वाण-मार्गका उपदेश सुनना चाहता हूँ।"

मुनिराज—"वत्स! अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, उत्सर्ग, मनगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्तिरूप तेरह प्रकारके चारित्रको वीतरागमुनि धारण करते हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभादिको जीतकर संयम, तप और ध्यानके द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं। यह साधनामार्ग ही वीतरागताका मार्ग है। जो आत्म-दर्शन कर लेता है, उसे ही निराकुल साधनाकी उपलब्धि होती है। कुमार! अब तुम्हारा संसार निकट आ गया है। तुम्हारा चित्त द्रवीभूत हो गया है। अतएव इसमें धर्मवृक्षका रोपण सरलता-पूर्वक किया जा सकता है।"

पूर्वार्जित संकल्पके उदित होते ही कुमारके हृदयमें आलोक भर गया। उसे संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो गयी। वह सोचने लगा कि मैं अपनी आत्माको परमात्मा बना सकता हूँ। मुझमें सभी शक्तियाँ निहित हैं। केवल पुरुषार्थकी कमी है, उसे ही मुझे जागृत करना है। वह द्वादश अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करने लगा, जिससे संसारकी वास्तविकता उसके नेत्रोंके समक्ष प्रत्यक्ष होने लगी। सिंहपर्यायमें अजितञ्जय द्वारा दिया गया उपदेश भी मूर्तिमान हो उठा। कुमारने अपने चित्तका संशोधनकर बाह्य और अन्तरंग परिग्रहको छोड़नेका संकल्प किया। उसने विषय-भोगोंको निस्सार समझा और दिग-

म्बरदीक्षा धारण करनेका विचार किया। आर्त्त और रौद्र ध्यानके हटते ही उसकी अशुभ लेश्याएँ दूर होने लगीं और शुक्ललेश्याके प्रभावसे धर्मध्यान उत्पन्न हुआ।

दिगम्बर मुनि होकर कनकोज्जवल संयम, तप और स्वाध्यायकी सिद्धिमें संलग्न हो गया। रागके उत्पन्न करनेवाले स्थानोंको छोड़ वह गुफा, वन, पर्वत, श्मशान एवं निर्जन स्थानोंमें विचरण करने लगा। उसकी साधनामें अनेक विघ्न आये, पर वह विचलित न हुआ। उपसर्ग और परीषहोंको सहन-कर निर्विकल्पक चित्त हो धर्म-ध्यानमें प्रवृत्त हुआ। आयुका अन्त निकट जान इसने सल्लेखना व्रत ग्रहण किया और लांतव नामक सप्तम स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। यहाँ उसे सभी प्रकारकी सुख-संपत्तियाँ प्राप्त हुईं।

अवधिज्ञान द्वारा पूर्वमें किये गये तपश्चरणको अवगतकर वह अर्हत्‌भक्ति, गुरुभक्ति और शास्त्रभक्तिमें प्रवृत्त हुआ। इस स्वर्गमें उसे तेरह सागरकी आयु और पाँच हाथ उन्नत शरीर प्राप्त हुए। वह तेरह हजार वर्ष बीतनेपर एक बार कण्ठसे झरते हुए अमृतका सेवन करता था और साढ़े छह महीने बीत जानेपर सुगंधित श्वांस लेता था। सम्यग्दृष्टि होनेके कारण वह शुभ ध्यान एवं अर्हत्पूजामें संलग्न रहता था। नृत्य, गान और मधुर वाद्यका आनंद लेता हुआ भी वह 'जलमें भिन्न कमल'की तरह निर्लिप्त रहता था। सम्यग्दर्शनके कारण उसे आत्मप्रकाश प्राप्त हो गया। आत्मसत्तापर विश्वास होनेसे उसे अपने स्वरूपकी उपलब्धि हो गयी। अतएव वह अहंकार और ममकारके बंधनों-से मुक्त हो आत्मबोधमें विचरण करने लगा। देवगतिके भोगोंके मध्य रहते हुए भी वह उन्हें भौतिक और पौद्‌गलिक मान रहा था। वह सोचता था कि मैं चेतन हूँ, आत्मा हूँ, अभौतिक हूँ और पुद्‌गलसे सर्वथा भिन्न हूँ। मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ और पुद्‌गल कभी ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता। आत्मा और पुद्‌गलमें स्वरूपतः भिन्नता है। दोनोंको एक मानना अध्यात्म-क्षेत्रमें सबसे बड़ा अज्ञान है और यही सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। यह अज्ञान और मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन-मूलक सम्यग्ज्ञानसे ही दूर हो सकता है। अनन्त अतीत पर्यायोंमें जब पुद्‌गलका एक कण भी मेरा अपना नहीं हो सका, तब वर्त्तमान और अनागतमें यह कैसे मेरा हो सकेगा? यह ध्रुव सत्य है कि आत्मा आत्मा है और पुद्‌गल पुद्‌गल है। आत्मा कभी पुद्‌गल नहीं हो सकती और पुद्‌गल कभी आत्मा नहीं हो सकता।

इस देवगतिमें चारों ओर नाना प्रकारके मोहक पदार्थोंका जमघट है। यहाँ विलास और वैभवकी सभी सामग्रियाँ विद्यमान हैं। इस भोगयोनिमें वीत-

रागताकी प्राप्ति तो संभव नहीं, पर उसके लिये प्रयत्न किया जा सकता है। आत्मामें अनन्त कालसे पुद्गलके प्रति जो ममता है, भौतिक पदार्थोंके प्रति जो आकर्षण है, उसे तो दूर किया ही जा सकता है। अतएव मुझे तटस्थ भावसे शुभ भावनाओंका चिन्तन-मनन करना चाहिये। मैं इन विषयोंके बीच रहते हुए भी इनसे लिप्त नहीं होऊँगा। इस विचारधाराके प्रभावसे स्वर्गसे च्युत हो उसने मनुष्यपर्याय प्राप्त की।

हरिषेण-पर्याय : विकसित हुई साधना

महावीरकी साधनाका वृक्ष अब पल्लवित हो चुका था। अब उसमें शनैः शनैः कलिकाएँ मुकुलित होती हुई दृष्टिगोचर होने लगी थीं। सिंह जैसी हिंसक पर्यायमें अर्जित साधनाका संकल्प चन्दनवृक्षके समान अपनी सुगंध विकीर्ण करने लगा। जन्म-जन्मकी साधना सफलताके सामीप्यका लाभ करनेके लिये उतावली हो उठी।

कनकोज्ज्वलका जीव लान्तवस्वर्गसे च्युत हो कौशल देशकी अयोध्या नगरीके राजा वज्रसेन और उनकी पत्नी शीलवतीके उदरसे हरिषेण नामका पुत्र हुआ। माता-पिताने बड़े उत्साह और अभ्युदयके साथ पुत्र-जन्मोत्सव सम्पन्न किया। पूर्व जन्मके अतिशय पुण्यके कारण कुमार हरिषेण नगरवासियों की आँखोंका तारा बन गया। जो भी उसका दर्शन करता, आनन्द-विभोर हो जाता और अपने भाग्यको सराहने लगता। कुमार हरिषेणने राजनीति-अर्थ-शास्त्र, कला-कौशल, धर्मशास्त्र, तर्कविद्या आदि सभी विषयोंमें दक्षता प्राप्त कर ली। उसका शरीर देवोंसे अधिक सुन्दर और विद्याधरोंसे अधिक मनोज्ञ था। कुमारके चातुर्यने सभी व्यक्तियोंको अपनी ओर आकृष्ट किया।

हरिषेणके युवा होनेपर अनेक राजकन्याओंके सम्बन्ध विवाहके हेतु उपस्थित हुए। माता-पिता और मंत्रीपरिषद्ने कई सुन्दरी कन्याओंसे उसका विवाह-सम्बन्ध कर दिया। वज्रसेनने कुमारको सभी प्रकार योग्य जानकर उसका राज्याभिषेक किया। राज्यपद प्राप्त होते ही कुमारने बड़ी योग्यतासे राज्यकार्यका संचालन किया। उसकी न्यायप्रियता और शासन-व्यवस्था सभीके लिये श्लाघनीय थी। कुमारकी मंत्रीपरिषद्में मनीषी विद्वानोंके साथ कवि और कलाकार भी सम्मिलित थे। वह अपनी दिनचर्या नियत कर लौकिक और पारमार्थिक कार्योंका संचालन करता था। सम्यक्त्वकी निर्मलता-के लिये देवपूजन, शास्त्र-स्वाध्याय एवं श्रावकके व्रतोंका प्रमादरहित पालन करता था। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको सभी प्रकारके पापकार्योंका त्याग

कर प्रोषधव्रतका आचरण करता था। प्रातः शय्यासे उठकर धर्म-वृद्धिके लिये सामायिक एवं स्तुति-पाठ करता। भोजन करनेके पूर्व सुपात्रोंको दान देता और अतिथिजनोंका यथोचित सत्कार करता था।

वह जितेन्द्रिय होकर परिमित रूपमें विषयोंका सेवन करता हुआ आत्म-सिद्धिमें प्रवृत्त था। जनसाधारणके लिये कल्याणकारी कार्योंका सम्पादन करता हुआ प्रजाके अभ्युदय एवं विकासकेलिये निरन्तर तत्पर रहता था। उसने राज्यके दायित्वके निर्वाहहेतु सम्पूर्ण राज्यकी मशीनरीको ठीक कर दिया था। कृषि और वाणिज्य-सम्बन्धी कार्योंकी देखभालकेलिये विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये। उसने लोकतांत्रिकपद्धतिपर राज्यका विकास किया था। कृषियोग्य वंजर भूमिका सुधार, सिंचाई-व्यवस्था, बाजार-व्यवस्था आदिको उन्नत बनाया। यों तो कुमारके जीवनमें अनेक उत्कर्ष और अपकर्ष प्राप्त हुए, पर उसका जीवन सरल रेखाकी गतिसे गमन कर रहा था। उसने आर्थिक स्वतंत्रता, अहिंसक वातावरण एवं पारस्परिक सहयोग और सहकारिताकी भावना उत्पन्न कर प्रजाका अपार प्यार अर्जित कर लिया।

इस प्रकार राज्यका संचालन करते हुए कुमार हरिषेणने अगणित वर्ष व्यतीत किये। एक दिन उसने आकाशमें बादलोंका एक सुन्दर दृश्य देखा। इस दृश्यको देखते ही वह मुग्ध हो गया और उस दृश्यका मानचित्र अंकित करने लगा। सहसा वायुका एक झोका आया और आकाशमें एकत्र मेघपटल क्षण-भरमें तितर-बितर हो गया। हरिषेण सोचने लगा—"ऐसा सुन्दर दृश्य जब क्षण-भरमें विलीन हो सकता है, तब इस जीवनका क्या विश्वास? मैंने अगणित वर्षों तक संसारके सुखोंका उपभोग किया है, पर तृप्ति नहीं हुई। तृष्णा और आशा-की जलती हुई भट्ठीमें उपलब्ध होनेवाली सभी भौतिकताएँ क्षण-भरमें स्वाहा हो जाती हैं। मैंने मानवताके धरातलपर स्थित रहनेका पूरा प्रयास किया, पर शान्ति दूर ही रही। मैं सदा सोचता हूँ, जीवन क्या है? जगत् क्या है? तथा उन दोनोंमें परस्पर सम्बन्ध क्या है? बन्धन क्या है? मुक्ति क्या है? पर समा-धान मुझे मिल नहीं पाता। जीवन शरीरका धर्म नहीं है, चेतन आत्माका धर्म है। जीवन पवित्रतासे जीनेके लिये है। यह पवित्रता उस आत्माका धर्म है, जो आत्मा बुद्ध एवं प्रबुद्ध है। जिसे अपने शुभ और अशुभका, सुन्दर एवं असुन्दरका तथा वांछनीय एवं अवांछनीयका सम्यक् परिज्ञान है। जो अपने भले-बुरे, भूत-भविष्यत् और वर्त्तमानपर चिन्तन कर सकता है, वही प्रबुद्ध चेतन है, वही जागृत आत्मा है और वही विकासोन्मुख जीव है। भौतिक सभ्यता या भौतिक जीवनमूल्योंको जब मानवजीवनकी तुलापर तौला जाता

है, तो मुझे निराशा ही प्राप्त होती है। ये भौतिक सुख त्याज्य हैं। अतः मानव-जीवनमें आध्यात्मिकताको अपनाना और अपनी आध्यात्मिकशक्तिके विकासके लिये पूर्ण प्रयत्न करना परमावश्यक है। हमारी आत्म-ज्योति भोगवादी अविवेक-के घने कुहासेमें आवृत्त है, जिस प्रकार कीचड़में लिपटे हीरेकी ज्योति तिरोहित हो जाती है और वह हीरा मिट्टी जैसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार मानव-जीवनके वास्तविक तथ्य और सत्य पूर्वाग्रह, अन्धविश्वास और अविवेकसे लिप्त हो जानेके कारण मानवताके क्षितिजसे तिरोहित हो जाते हैं। अतएव मुझे आत्मोद्धारके लिये अतृप्ति, कुण्ठा, निराशा और भोगवादी दृष्टिकोणका त्याग करना है।

इस प्रकार ऊहापोह करता हुआ हरिषेण अपने उद्विग्न चित्तकी शान्तिके लिये वन-विहारको चल दिया।

राजाज्ञा प्राप्त होते ही अमात्य, महिषि-वर्ग, चतुरंगिणी सेना, कलाकार सभी उसके मनोविनोदके लिये साथ-साथ चल दिये। संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त कुमारका मन प्रकृतिके इस रमणीय रूपको देखकर भी रम न सका। विषयोंकी विरक्तिने उसकी चेतनाको उद्‌बुद्ध कर दिया था। अतएव हरिषेण यानसे उतरकर पैदल ही वनमें भ्रमण करने लगा। कुछ दूर चलनेके पश्चात् उसे अंगपूर्वके ज्ञाता श्रुतसागर नामक मुनि दिखलायी पड़े। उसने तीन प्रदक्षि-णाएँ कीं और 'नमोऽस्तु' कहकर मुनिराजकी वन्दना की।

सम्यग्दर्शनके प्रकाशने उसकी अन्तरात्माको आलोकित कर दिया था। विवेकोदयके कारण कषाय और विकार धूमिल हो रहे थे। परिग्रहकी आसक्तिके त्यागने उसकी आत्मामें संयमकी ज्योति प्रज्वलित कर दी थी। अतएव उसने मुनिराजसे दिगम्बर-दीक्षा प्रदान करनेकी प्रार्थना की। मुनि बन हरिषेण एकाकी नदी-तट, पर्वत-गुफा एवं श्मशानभूमिमें ध्यानासक्त रहता था। वह ग्रीष्मऋतुमें पर्वतकी चोटीपर, वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे और शरदऋतुमें नदीके तटपर ध्याना-रूढ़ रहता था। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओंका सेवन करता हुआ आत्म-शोधनमें प्रवृत्त रहता था। समाधिमरणसे प्राण त्याग करनेके कारण वह महाशुक्र नामक दशम स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ और वहाँसे चयकर मनुष्य-पर्याय प्राप्त की।

प्रियमित्र चक्रवर्ती : साधनाने अंगड़ाई ली

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वविदेहमें पुष्कलावर्त्त नामक देश है। यहाँ पुण्डरी-

किणी नामकी रम्य नगरी है। इस नगरीका नृपति सुमित्र नामक राजा था। इसकी सुव्रता नामकी महिषी थी। इन दोनोंके वह महर्द्धिक देव स्वर्गसे चयकर प्रियमित्र नामक पुत्र हुआ। पिताने पुत्र-जन्मोत्सव सम्पन्न करनेके लिये अर्हन्तकी पूजाके साथ चार प्रकारका दान दिया और नानाप्रकारसे गीत-नृत्यादिपूर्वक उत्सव सम्पन्न किया। कुमार प्रियमित्र यथानाम तथागुण था। सभी लोग उसे प्यार करते थे।

पूर्व जन्मोंमें की गयी साधना अब अंगड़ाई ले रही थी। संकल्प इतना उग्र और उद्दीप्त हो चुका था कि अब उसे आवृत्त करनेमें सभी विकार अक्षम थे। अमृतकी साधना सफल हो रही थी और कुमार प्रियमित्रके समस्त जीवनके आदर्श आध्यात्मिकताकी ओर अग्रसर हो रहे थे। अनादिकालीन अर्जित कर्म-संस्कार शिथिल हो गये थे और आत्मतत्त्वरूप चैतन्य पूर्णतया उद्‌बुद्ध हो गया था। कषाय-विकाररूप विषके शमन होते ही रत्नत्रयकी अमृतधारा प्रवाहित होने लगी थी। कुमार संसारके विषयोंसे उदासीन रहता था और उसे संसारके सभी भौतिक पदार्थ अस्थिर एवं अहितकर प्रतीत होते थे।

कुमारकी उदासीनतासे माता-पिताको चिन्ता हुई और उन्होंने उसे कुशल राजनीतिज्ञ और नेता बनानेके हेतु गुरुके समक्ष अध्ययनार्थ भेज दिया। कुशाग्रबुद्धि कुमारने अल्पकालमें कला और विद्याओंमें प्रवीणता प्राप्त की।

युवा होनेपर पिताने उसका राज्याभिषेक किया। पूर्व पुण्यके अतिशय प्रभावसे उसे चक्रवर्त्तित्व, अष्टसिद्धियाँ एवं नवनिधियाँ प्राप्त हुईं। प्रियमित्रने चक्ररत्नके प्राप्त होनेके अनन्तर षट्‌खण्ड पृथ्वीकी विजयके लिये प्रस्थान किया। वह चतुरंगिणी सेना सहित भ्रमण करने लगा और विद्याधर, मण्डलेश्वर एवं अन्य नृपतियोंको पराजित करता हुआ बढ़ने लगा। अनेक राजा और विद्याधरोंने अपनी सुन्दरी कन्याएँ उसे भेंटमें प्रदान कीं। चक्रवर्तीने रूप-लावण्यवाली छानवे हजार राजकन्याओंसे विवाह किया। बत्तीस हजार मुकुटबंध राजा चक्रवर्तीकी आज्ञा शिरोधार्य करते और उसके चरणकमलमें नमस्कार करते थे। चक्रवर्तीके पास चौरासी करोड़ पैदल सेना, सोलह हजार गणदेव और अठारह हजार म्लेच्छ राजा विद्यमान थे। उन्हें निम्नलिखित चौदह रत्न भी प्राप्त थे—

(१) सेनापति–सेनानायक–युद्धकलाविशेषज्ञ (२) स्थपति–प्रधान इंजिनीयर
(३) स्त्रीरत्न (४) हर्म्यपति
(५) पुरोहित (६) गजरत्न

(७) अश्वरत्न	(८) दण्डरत्न
(९) चक्ररत्न	(१०) चर्मरत्न
(११) कांकिणी	(१२) मणि
(१३) छत्र	(१४) असि

चक्रवर्ती दिग्विजयके लिये प्रस्थान करते समय मार्गमें शिविर स्थापित करता था। सैन्य प्रस्थानके पूर्व ही सेनाके पड़ावका स्थान निश्चित हो जाता था। स्थपति अपनी देख-रेखमें शिविर निर्मित कराता था। शिविरके चारों ओर तम्बू लगाये जाते थे। मध्यमें चक्रवर्तीका तम्बू अनेक मंगलद्रव्योंसे युक्त रहता था। चक्रवर्तीके तम्बूको घेरे हुए सामन्तोंके तम्बू रहते थे और उसके पश्चात् बड़े-बड़े योद्धाओं एवं सामान्यसैनिकोंके। सैनिकोंके मनोरंजन एवं विश्रामके लिये वारांगनाओंके नृत्य होते थे। चक्रवर्ती अनेक प्रकारकी व्यूह-रचनामें भी पटु था। असंहृतव्यूह, गौड़व्यूह, चक्रव्यूह, दण्डव्यूह, मकरव्यूह, मण्डलव्यूह, भोगव्यूह, नागव्यूह अदिकी रचनासे अवगत था।

प्रियमित्र चक्रवर्तीको रत्न, देवियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, वर्त्तन, भोजन और वाहन—ये दश प्रकारके भोग उपलब्ध थे,। वह अवतंसिका माला धारण करता था। इस मालाके प्रभावसे सभी प्रकारके शारीरिक रोग दूर हो जाते थे। सूर्यप्रभछत्र द्वारा उसके शरीरकी कान्ति वृद्धिगत होती थी। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—ये आठ सिद्धियाँ भी उसे प्राप्त थीं। भौतिक दृष्टिसे उसे किसी वस्तुकी कमी नहीं थी। नवनिधियाँ उसके भौतिक ऐश्वर्यकी वृद्धिमें प्रयुक्त थीं। आधुनिक अध्ययनकी दृष्टिसे ये निधियाँ शिल्पशालाएँ (Factories) प्रतीत होती हैं। कालनामक निधि—यन्त्रशालामें ग्रन्थ-मुद्रण या ग्रन्थ-लेखनका कार्य होता था। चक्रवर्तीके राज्यव्यवस्था-संबंधी सभी कागज-पत्र इस शिल्पशालामें सुरक्षित रहते थे। महा-कालनिधि शिल्पशालामें विभिन्न प्रकारके आयुध तैयार किये जाते थे। सर्व-रत्ननिधिमें शय्या, आसन एवं भवनोंके उपकरण निर्मित होते थे। यों तो सर्व-रत्ननिधिमें प्रधानरूपसे, नील, पद्मराग, मरकतमणि, माणिक्य, हीरक आदि विभिन्न प्रकारकी मणियोंको खानसे निकालकर उन्हें सुसंस्कृत रूपमें उपस्थित करनेका कार्य किया जाता था। पाण्डुनिधिमें धान्यों और रसोंकी उत्पत्ति निष्पन्न की जाती थी। पद्मनिधिनामक व्यवसाय-केन्द्रसे रेशमी एवं सूती वस्त्र तैयार होते थे। दिव्याभरण एवं धातु-सम्बन्धी कार्य पिंगलनामक व्यवसाय-केन्द्रमें सम्पन्न किये जाते थे। माणवनामक उद्योगगृहसे शस्त्रोंकी प्राप्ति होती थी। प्रदक्षिणावर्त्त नामक उद्योगशालामें सुवर्ण तैयार किया जाता था।

शंखनामक उद्योगशालामें शंखकी सफाई कर उसे शुद्धरूपमें उपस्थित किया जाता था। नैसर्प्यनिधिमें भवन, पुल एवं अन्य उद्योगगृह निर्मित करनेका कार्य सम्पन्न किया जाता था। इस प्रकार प्रियमित्र चक्रवर्तीके यहाँ नव प्रकारकी उद्योगशालाएँ विद्यमान थीं। निधियोंके कार्योंके वर्णनसे अवगत होता है कि वस्तुतः ये चक्रवर्तीकी उद्योगशालाएँ ही थीं, जिनसे विभिन्न प्रकारकी भौतिक आवश्यकताएँ पूर्ण की जाती थीं।

प्रियमित्र चक्रवर्ती इस वैभवको प्राप्त कर भी अनासक्त रहता था। उसे अर्थ और काम दोनों ही पुरुषार्थ सदोष प्रतीत होते थे। धर्म पुरुषार्थकी ओर उसका विशेष झुकाव था। वह निरन्तर श्रावकधर्मका सेवन करता हुआ मन्दिर और मूर्तियोंके निर्माणमें भी संलग्न रहता था। प्रतिदिन देव-पूजन करता हुआ मुनियोंको प्रासुक आहार देता था। वह अहर्निश अशुभ वृत्तियोंका त्याग कर शुभ वृत्तियोंके प्राप्त करनेकी चेष्टा करता था। सुन्दर रमणियाँ, उच्च अट्टालिकाएँ, छानवे करोड़ ग्राम, उद्योगशालाएँ एवं गज-अश्वादि वैभव निस्सार प्रतीत होते थे। अनेक जन्मोंमें अर्जित धर्म-संस्कार उसे तीर्थंकरत्वके बन्धके लिये प्रेरित कर रहे थे।

एक दिन वह चक्रवर्ती पुरजन-परिजनके साथ क्षेमंकर तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये चला। समवशरणमें पहुँच उसने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और मनुष्यके कक्षमें बैठ तीर्थंकरकी पूजा की। तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि हो रही थी। आयु-वैभव, ऐश्वर्य, इन्द्रियसुख विद्युत्के समान क्षणभंगुर बताये जा रहे थे। सात तत्त्व और नव पदार्थोंके स्वरूपका विवेचन किया जा रहा था। चतुर्गतिके दुःखोंका वर्णन सुन चक्रवर्तीका उद्बुद्ध विवेक और अधिक जागृत हो गया और उसने संवेगसे प्रभावित हो निर्ग्रन्थ-दीक्षा धारण की। उसने नाना प्रकारके परीषह और उपसर्गोंको सहा और आयुके अन्तमें प्राण-त्याग कर सहस्रार नामक द्वादशम स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामका महान् देव हुआ। वहाँसे चयकर मनुष्य-पर्याय प्राप्त की।

नन्दभव : सफल हुई कामना—तीर्थंकरत्वका बन्ध

प्रियमित्रके जन्ममें राजचक्रवर्त्तित्वको ठुकरा कर उन्हें धर्मचक्रवर्ती बनना अभीष्ट था। अतएव महावीरका जीव सभी प्रकारसे आत्म-शोधनमें प्रवृत्त हुआ। उसने स्वर्गसे च्युत हो छत्रपुर नामक नगरके राजा नन्दिवर्द्धन और उनकी पुण्यवती रानी वीरमतीके यहाँ पुत्र रूपमें जन्म ग्रहण किया। शिशु अपने रूप-गुणोंसे जगतको आनन्दित करनेवाला था। अतएव पिताने उसका नाम नन्द रखा। पुत्र-जन्मोत्सव उत्साहपूर्वक सम्पन्न किया गया और क्रमशः किशोर

अवस्थाको प्राप्त होनेपर शस्त्र और शास्त्र विद्याके अर्जन हेतु उसे गुरुके आश्रम-में प्रविष्ट कराया गया। विद्या और कलाओंमें पाण्डित्य प्राप्त करनेके पश्चात् युवा होनेपर उसका राज्याभिषेक सम्पन्न किया गया। अपूर्व लावण्यवती कन्याके साथ उसका विवाह भी सम्पन्न हुआ। अतएव वह उत्तम भोगोंको भोगता हुआ राज्यका संचालन करने लगा।

पूर्व जन्मोंमें की गई साधनाके फलस्वरूप वह अपने सम्यक्त्वको उत्तरोत्तर निर्मल बनानेके लिए प्रयत्नशील रहने लगा। संसारमें अनन्त पदार्थ हैं और वे दो वर्गों—जड़ एवं चेतनमें विभक्त हैं। जड़ और चेतनका भेदविज्ञान करना ही सम्यग्दर्शनका वास्तविक उद्देश्य है। 'स्व' और 'पर' का, आत्मा और अनात्माका, चैतन्य और जड़का जबतक भेद-विज्ञान नहीं होता है, तबतक 'स्व' रूपकी उपलब्धि नहीं मानी जा सकती है। 'स्व' रूपकी उपलब्धि होते ही यह आत्मा कर्मके बन्धनोंमें बंध नहीं सकती। जिसे आत्मबोध एवं चेतना-बोध हो जाता है, वही आत्मा यह निश्चयकर पाती है कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, यह सब कुछ भौतिक है और है पुद्गलमय। इसके विपरीत मैं चेतन हूँ, आत्मा हूँ, अभौतिक हूँ और पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूँ। आत्मा ज्ञान-रूप है और पुद्गल जड़रूप। जबतक आत्मा और पुद्गलमें स्वरूपतः भेदा-नुभूतिका अनुभव नहीं किया जाता तबतक अध्यात्म-क्षेत्रसे अज्ञान और मिथ्यात्व दूर नहीं हो पाते। अज्ञान और मिथ्यात्वके निराकरणका साधन सम्यग्दर्शनमूलक सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे ही आत्मा यह निश्चय करती है कि पुद्गलका एक कण भी मेरा अपना नहीं है। मैं त्रिकाला-वच्छिन्न शुद्ध-बुद्धरूप हूँ। शरीरादि पुद्गलद्रव्योंकी सत्ता सदा रहेगी, पर इनके प्रति जो आसक्ति या ममता है, उसे दूर करना ही पुरुषार्थ है। आत्मज्ञानकी उपलब्धि होनेके अनन्तर अज्ञान और मिथ्यात्व सहजमें दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वह श्रावकके द्वादश व्रत पालन करनेमें प्रवृत्त हुआ। वह पर्वदिनोंमें आरम्भका त्यागकर उपवास करता। मुनियोंको भक्तिपूर्वक आहारदान देता और चैत्यालयोंमें जिनेन्द्रदेवकी महान् पूजा करता था। उसकी समस्त अशुभ प्रवृत्तियोंका निरोध हो चुका था और उसका मन विकारोंके दूर होनेसे पवित्र हो गया था। वह परिमित रूपमें सांसारिक विषय-भोगोंका सेवन करता था, पर उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति उससे विलग थी। कुछ समय तक राज्यकार्य संचालन करनेके अनन्तर नन्द भव्यजीवों सहित धर्म श्रवणके हेतु श्रुतकेवली प्रोष्ठिल मुनिकी वन्दनाके लिये गया। उनके चरणोंमें बैठकर उसने उत्तमक्षमादि दश धर्मोंके स्वरूपको सुना और चिन्तन किया :—

"यह संसार अनन्त दुःखोंकी खान है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सदा इसे विचलित करते हैं। इन्द्रियोंके विषय अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं। अतएव मुझे इस राज्यवैभव और समस्त गृहस्थीके दायित्व-का त्यागकर आत्म-शोधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। अब इन सांसारिक प्रपंचोंमें फँसना मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" इस प्रकार विचार कर नन्दने समस्त अंतरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की। वह भेद-विज्ञानका चिन्तन करता हुआ आत्मालोकसे भर गया। नन्द मुनिने द्वादश तपोंका भली प्रकार आचरण किया, जिससे उनकी तृष्णा, लालसा आदि सभी कुण्ठाएँ समाप्त हो गयीं। आलोचना, प्रतिक्रमण करते हुए उसने धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अभ्यास आरम्भ किया। तीर्थंकर-सम्पत्तिको देनेवाली दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका सम्यक्‌चिन्तन कर धर्मनेता बनानेवाली तीर्थंकर-प्रकृतिका बन्ध किया। लौकिक नेता बनना सहज है, सरल है, पर आध्यात्मिक नेताका बनना सहज साध्य नहीं है। विरले ही व्यक्ति इस पदको प्राप्त कर पाते हैं।

नन्दमुनिने अपने मनसे समस्त विकारोंको निकाल बाहर किया। मन, वचन और कर्मकी प्रवृत्तिको नियंत्रित किया। अहिंसा, सत्य, संयम और शीलका आचरण ही मनुष्यको धर्मनेता बननेके लिये प्रेरित करता है।

नन्दमुनिने उक्त श्रुतकेवलीके पादमूलमें स्थित होकर निम्नलिखित सोलह कारणभावनाओंका चिन्तन कर तीर्थंकर-प्रकृतिका अर्जन किया :—

(१) दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शनके साथ लोककल्याणकी भावना दर्शन-विशुद्धि है। 'स्व' रूपकी आस्थाके हेतु जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान परमा-वश्यक है और इन तत्त्वोंके श्रद्धानार्थ आप्त, आगम एवं गुरुका श्रद्धान अपेक्षित है। आठ अंग सहित और पच्चीस दोष रहित आत्म-श्रद्धाका विकास करना दर्शनविशुद्धि भावना है। तीर्थंकरनाम-कर्मका बन्ध करानेवाले कारणोंमें दर्शन-विशुद्धिका रहना अनिवार्य है।

(२) विनयसम्पन्नता—सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधन गुरु आदिके प्रति उचित आदर-सत्कार रखना विनयसम्पन्नता है। विनयके पाँच भेद हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार। सम्यग्दर्शन निर्दोष धारण करना तथा सम्यग्दृष्टिजीवोंका यथासंभव सत्कार करना दर्शनविनय है। सम्यग्ज्ञानको धारण करना तथा सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंका यथोचित सत्कार करना ज्ञानविनय है। यथार्थमें ज्ञानविनय वही है, जिससे सम्यग्ज्ञानका विकास हो सके। श्रद्धा

और भक्तिपूर्वक स्वाध्याय करना और आत्मविवेकको जागृत करना ज्ञानविनयके अन्तर्गत है।

यथाशक्ति रुचिपूर्वक कल्याणकारी सम्यक्चारित्रको धारण करना एवं सम्यक्चारित्रके धारी पुरुषोंमें पूज्य भाव रखना चारित्रविनय है। इन्द्रिय और मनोनिग्रहपूर्वक समताभावसे क्षुधा, तृषादिका कष्ट सहनकर अनशन, ऊनोदरादि तपोंमें प्रवृत्त होना तथा साधु-तपस्वियोंके प्रति पूज्य भाव रखना तप-विनय है। अपनेसे गुणाधिक व्यक्तियोंमें भक्ति-भाव रखना, शिष्टता और नम्रतापूर्वक उनके साथ संभाषण करना, उच्चासन देना, उनकी आज्ञा स्वीकार करना, उपचारविनय है। विनयगुणके धारण करनेसे आत्मशक्तिका विकास होता है और कषायें मन्द होती हैं।

(३) शीलव्रतानतिचार—अहिंसा, सत्य आदि व्रत हैं और इनके पालनेमें सहायक क्रोध, मान आदि कषायोंका त्याग शील है। इनका निर्दोष रीतिसे पालन करना शीलव्रतानतिचारभावना है। आशय यह है कि शीलव्रतोंके पालन करनेमें मन-वचन-कायकी निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रत-अनतिचार है। शील आत्माका स्वभाव है। इस स्वभावसे भिन्न परभावोंका निरोध करना शीलव्रत-अनतिचारभावना है। इन्द्रिय और मनकी प्रवृत्तियोंको निरन्तर शुभ बनाये रखनेकी चेष्टा इस भावनाका लक्ष्य है।

(४) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—जीवादि स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञानमें निरन्तर समाहित रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। इस भावनाका आशय सप्त तत्त्वोंका निरन्तर अभ्यास और चिन्तन है। ज्ञानमें सदा उपयोगके रहनेसे मन संयमित रहता है और विषयोंकी ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः वह विषयोंकी चाहकी दाहसे अछूता रहता है। जैसे-जैसे ज्ञान और अनुभव वृद्धिगत होते हैं, वैसे-वैसे आनन्दका लाभ होता है।

(५) अभीक्ष्णसंवेग—सांसारिक भोगसम्पदाएँ दुःखका कारण हैं। उनसे निरन्तर भयभीत रहना अभीक्ष्णसंवेग है। संसारके विषयोंसे भयभीत रहते हुए धर्म, धर्मात्मा और धर्मके फलमें अनुराग करना संवेगभावना है।

(६) शक्तितः त्याग—अपनी शक्तिको बिना छिपाये मोक्षमार्गमें उपयोगी आहार, अभय और ज्ञानदान देना यथाशक्ति त्याग है।

(७) शक्तितः तप—अपनी शक्तिको बिना छिपाये अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग आदि तप करना यथाशक्ति तप है। सम्यक्प्रकार इच्छाओंका निरोध करना तप है। इस तपका यथाशक्ति आचरण करना ही इस भावनाका रहस्य है।

(८) साधुसमाधि—तपश्चर्यामें अनुरक्त साधुओंके ऊपर आपत्ति आनेपर उसका निवारण करना और ऐसा प्रयत्न करना जिससे वे स्वस्थ रहें साधु-समाधि है।

(९) वैयावृत्यकरण—गुणी पुरुषोंके कष्टमें पड़ने पर उनके कष्टको दूर करनेका प्रयत्न करना वैयावृत्यकरण है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा करना है। जब रोगादिके कारण कोई प्राणी अस्वस्थ हो जाय, उस समय उसके श्रद्धानको अडिग बनाये रखनेके लिये वैयावृत्ति आवश्यक होती है। यह दो प्रकारसे संभव है—भक्ति और करुणासे। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपादि गुणोंसे उन्नत हैं, उसकी सेवा करना भक्तिसेवा है और गुण-दोषोंकी ओर दृष्टिपात न करके करुणा या दयावश सेवा करना करुणासेवा है।

(१०) अर्हद्भक्ति—अरहन्त भगवान्की उपासना करना अर्हन्तभक्ति है। यह भक्ति ही चतुर्गतिके दुःखोंसे दूर कर सकती है और इसीके द्वारा सम्यक्त्व निर्मल होता है।

(११) आचार्यभक्ति—दीक्षा-शिक्षा देनेवाले गुरुकी उपासना करना आचार्य-भक्ति है।

(१२) बहुश्रुतभक्ति—द्वादशांगवाणीके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है।

(१३) प्रवचनभक्ति—परिणामोंकी निर्मलतापूर्वक प्रवचन—जिनागममें अनुराग रखना प्रवचनभक्ति है।

(१४) आवश्यकापरिहाणि—षट् आवश्यक क्रियाओंको यथासमय करते रहना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

(१५ मार्गप्रभावना—रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको स्वयं जीवनमें उतारना और समयानुसार उपयोगी कार्यों द्वारा सर्वसाधारण जनताका उसके प्रति आदर उत्पन्न करना मार्गप्रभावना है।

(१६) प्रवचनवात्सल्य—साधर्मी प्राणियोंमें निष्कपट भावसे प्रेम करना, यथाशक्ति आदर-सत्कार करना एवं निष्काम भावसे उनकी सहायता करना प्रवचनवात्सल्य भावना है।

नन्दमुनि तीर्थंकरनामकर्मको कारणभूत इन सोलह प्रकारकी भावनाओंका चिन्तन करता रहा, जिनके फलस्वरूप उसने तीर्थंकरनामकर्मका बन्ध किया।[1]

१. एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामागोदं कम्मं बंधदि (षट्खण्डागम)।

उसने सोलह कारणभावनाओंको अपनी जीवनचर्यामें अनुस्यूत कर लिया और समभावोंसे शरीर त्याग कर अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तरविमानमें बाईस सागरकी आयुवाले अच्युतेन्द्रका पद प्राप्त किया। यहाँसे च्युत हो वह तीर्थंकर महावीरका पद प्राप्त करेगा।

इस प्रकार महावीरके जीवने आत्मोन्नतिके पथमें अनेक प्रकारसे उन्नति और अवनतिके झकोरोंको सहा। शारीरिक पूर्णताके साथ आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त हुई। इसमें सन्देह नहीं कि तीर्थंकर बननेके लिये एक जन्मकी साधना नगण्य है। इसके लिये कई जन्मों तक साधना या तपश्चर्या करनी पड़ती है। शिकारी पुरुरवाभीलकी पर्यायमें उन्हें अहिंसा और श्रमकी जो सम्पत्ति प्राप्त हुई, उसीके प्रभावके फलस्वरूप धर्मनेता बननेके हेतु उन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया।

उत्तरपुराणमें आचार्य गुणभद्रने लिखा है—

संप्राप्य धर्ममाकर्ण्य निर्णीताप्तागमार्थकः।
संयमं संप्रपद्यासु स्वीकृतैकादशाङ्गकः॥
भावयित्वा भवध्वंसि तीर्थकृन्नामकारणम्।
बद्ध्वा तीर्थकरं नाम सहोच्चैर्गोत्रकर्मणा[1]॥

धर्मका स्वरूप सुनकर उसने आप्त, आगम तथा पदार्थका निर्णय किया और संयम धारण कर शीघ्र ही ग्यारह अंगोंका पाठी बन गया। उसने तीर्थंकरप्रकृतिका बंध होनेमें कारणभूत और संसारको नष्ट करनेवाली दर्शन-विशुद्धयादि सोलह कारणभावनाओंका चिन्तनकर उच्चगोत्रके साथ तीर्थंकर-प्रकृतिका बंध किया।

•

१. उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ-संस्करण, ७४ वाँ पर्व, श्लोक २४४-२४५.

तृतीय परिच्छेद

समसामयिक परिस्थितियाँ, महान् विचारक एवं संप्रदाय

ई० पूर्व ६००-७०० में भारतमें ही नहीं विदेशोंमें भी जनक्रान्ति और धर्म-क्रान्ति हुई थी। इस युगमें राजनीति, समाज और धर्मसंबन्धी मान्यताएँ परिवर्तित हो रही थीं। समस्त संसारके मानवका मस्तिष्क उद्विग्न था। फलतः धार्मिक अभ्युत्थानके हेतु चीनमें लाओत्से और कन्फ्यूशियस एवं यूनानमें सोक्रेटिज तथा प्लेटोने जनमानसको बदलनेका प्रयास किया था। प्रसिद्ध इतिहासकार एच० जी० वेल्सका अभिमत है कि ई० पूर्व छठी शताब्दी संसारके इतिहासमें महत्त्वपूर्ण काल है। इस शताब्दीमें मनुष्यकी चेतना सर्वत्र रूढ़िवादी परम्पराओंको बदलनेके लिये क्रियाशील थी। प्रत्येक विचारक रूढ़ियों, बुराईयों और स्वार्थोंका ध्वंसकर मानवताकी नयी प्रतिष्ठा करनेके लिये प्रयत्नशील था। लिखा है— "This sixth Century B. C. was indeed one of the most remarkable

in all history. Everywhere men's minds were displaying a new boldness. Everywhere they were waking up out of the tradition of kingships and priests and blood sacrifices and asking the most penetrating questions, it is as if the race had reached a stage of addescence."

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि ई० पूर्व छठी शताब्दीमें मनुष्य-समाजमें अशांति और असंतोष फैला हुआ था। धर्मसिद्धान्तोंके प्रति विश्वास परिवर्तित हो रहे थे। राजनीति और समाजमें भी यथेष्ट परिवर्तन हो रहे थे। उस समय भारतमें कहीं राजतन्त्र था, तो कहीं गणतन्त्र। कुछ अंशोंमें दोनोंका समन्वय भी प्राप्त होता था। गणराज्योंमें शासनकी बागडोर जनताके हाथमें रहती थी अतः जनता राजाओं द्वारा शासित नहीं होती थी। बज्जी, मल्ल और शूरसेन आदि गणराज्य थे। राजतन्त्रमें वंशक्रमानुगत एक राजा शासक होता था, जिसकी आज्ञाका पालन समस्त जनता करती थी। ऐसे राज्योंमें अवन्ति, वत्स, कोशल और मगध प्रधान थे। ये जनपद साम्राज्य-स्थापनाके लिये आपसमें संघर्षरत रहते थे। राजतन्त्र भी सर्वत्र एक ही तरहका था, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। मगधमें जहाँ राजा सर्वश्रेष्ठ था, वहीं सिन्धुमें राजा केवल युद्धमें नेतृत्व करता था और शासनकार्य वृद्धजनोंकी परिषद् द्वारा सम्पन्न होता था।

वैदिक युगमें आर्यसभ्यताके प्रतिनिधि निम्नोक्त नव राज्य थे :—

(१) गंधार-सिन्धुके दोनों ओर विस्तृत राज्य—जिसकी राजधानियाँ पूर्वमें तक्षशिला और पश्चिममें पुष्कलावती नामक नगरियोंमें थीं। छांदोग्य उपनिषद् (६।१४) के अनुसार विचारक उद्दालक, आरुणि, गंधारसे परिचित थे। जातक (संख्या ३७७ एवं ४८७) के अनुसार आरुणि पिता-पुत्र दोनों तक्षशिलाके विद्यार्थी थे। यह राज्य पर्याप्त विस्तृत था।

(२) केकय—यहाँके दार्शनिक राजा अश्वपति प्रसिद्ध थे।

(३) मद्र—आचार्य पतंजलिको यहींका निवासी माना गया है।

(४) वशकुशीनर—मध्यदेशका उत्तरी भाग; गोपथब्राह्मण (२।९) में इसे उदीच्च देश कहा है।

(५) मत्स्य—राजस्थानका भरतपुर, अलवर, धौलपुरके आस-पासका प्रदेश। यह विद्याका प्रसिद्ध स्थान रहा है।

---

१. महावीर-जयन्ती-स्मारिका, जयपुर १९७३, पृ० २७.

(६) कुरु।

(७) पंचाल।

(८) काशी—यहाँके दार्शनिक राजा अजातशत्रु प्रसिद्ध थे।

(९) कोशल।

इन जनपदोंके अतिरिक्त मगध, अंग, आन्ध्र, पुलिन्द, पुण्ड्र और निषध जनपद भी प्रसिद्ध थे।

भारतीय इतिहासके आलोडनसे अवगत होता है कि महाभारतके उपरान्त उत्तरभारतमें वैदिक क्षत्रियोंने बारह राज्योंकी स्थापना की थी:—(१) वत्स, (२) कुरु, (३) पांचाल, (४) शूरसेन, (५) कोसल, (६) काशी, (७) पूर्वविदेह, (८) मगध, (९) कलिंग, (१०) अवन्ति, (११) माहिष्मती और (१२) अश्मक।

इन द्वादश राज्योंमें कुरु, पांचाल, कोशल, विदेह और काशी ये पाँच प्रमुख राज्य थे। ये सभी राज्य उस समय वेदानुयायी आर्य क्षत्रियोंके थे। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट राज्य श्रमणोपासक क्षत्रियोंके थे, जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमें अवस्थित थे।

कहा जाता है कि हस्तिनापुरमें कुरु और कुरुवंशियोंका राज्य स्थित था। अर्जुनका पौत्र परीक्षित उस राज्यका अधीश्वर था। इस समय नाग और द्रविड़ जातियाँ अपनी शक्ति बढ़ानेमें लगी थीं तथा तक्षशिला और सिन्धुमुखकी पातालपुरीके नाग विशेष शक्तिशाली हो गये थे। फलत: तक्षशिलाके नागवंशी राजाओंने कुरु राज्यपर आक्रमण किया और इस युद्धमें परीक्षितकी मृत्यु हुई। परीक्षितके पुत्र जन्मेजयको भी नागोंसे युद्ध करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा। जन्मेजयके पश्चात् शतानीक, अश्वमेधदत्त, और अधिसोमकृष्ण क्रमश: सिंहासनपर आसीन हुए। अधिसोमके समयमें अयोध्यामें दिवाकर, मगधमें प्रसेनजित, विदेहमें जनक एवं पंजाबमें प्रवाहण जैबालका प्रभाव वृद्धिगत हो रहा था। अधिसोमके पुत्र निचक्षुके समयमें नागोंका आक्रमण विशेष प्रबल हुआ और हस्तिनापुर पर उनका अधिकार हो गया। इसी समयसे हस्तिनापुरका नाम नागपुर या हस्तिनागपुर प्रचलित हुआ। सम्भवत: यह घटना ई० पूर्व ८ वीं ९ वीं शताब्दीकी है।

इस युगमें विदेहमें भी राज्य-क्रान्ति हुई और प्रजाने वहाँके कामी राजा कराल-जनकको समाप्त कर विदेहसे जनकोंकी राजसत्ताका अन्त कर दिया और वहाँ संघराज्यकी स्थापना हो गयी। उसी समय विदेहके पड़ोसमें वैशाली के लिच्छवियोंका संघराज्य विकसित हो रहा था। अतः विदेहका संघराज्य

भी इसीमें सम्मिलित हो गया और फलस्वरूप सुप्रसिद्ध वृजि या वज्जिगणकी स्थापना हुई।

काशीमें उरग या नागवंशी क्षत्रियोंका राज्य स्थापित हुआ। इस वंशमें ब्रह्मदत्त नामका चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। काशीकी राजसत्ता बहुत बढ़ रही थी और मध्यदेशमें यह प्रमुख शासनशक्ति थी। कोशल भी इसके अधीन था तथा गोदावरीका तटवर्ती अश्मक राज्य भी इसीमें सम्मिलित था। कहा जाता है—तीर्थंकर पार्श्वनाथका जन्म इसी नागवंशमें हुआ था। ई० पू० ८वीं शतीमें मगधमें भी राज्यविप्लव हुआ और वार्हद्रथोंका पतन होनेके अनन्तर काशी-नरेश शिशुनागको मगधवालोंने आमंत्रित किया और मगधमें इस राजवंशकी प्रतिष्ठा हो गयी। इस प्रकार ई० पूर्व छठी शतीके लगभग महाभारतकालीन समस्त वैदिक राजसत्ताओंका अन्त हो गया और उनके स्थानपर नागादि विद्याधर, लिच्छवि, मल्ल, मौर्य आदि व्रात्य क्षत्रियोंने राजसत्ताएँ स्थापित कीं।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जीने[1] अगुंत्तरनिकायमें[2] आये हुए सोलह जनपदोंकी सूची निम्नप्रकार प्रस्तुत की है:—

(१) अंग
(२) मगध
(३) कासी
(४) कोसल
(५) वज्जि
(६) मल्ल
(७) चेटि (चेदि)
(८) वंस (वत्स)
(९) कुरु
(१०) पंचाल
(११) मच्छ (मत्स्य)
(१२) सूरसेन
(१३) अस्सक (अश्मक)
(१४) अवन्ति
(१५) गंधार
(१६) कम्बोज

---

१. हिन्दू सभ्यता, हिन्दी-संस्करण, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पृ० १७६.
२. १।२१३, ४।२५२, ४।२५६, ४।२६०.

इन जनपदोंमें सात जनपद प्रमुख थे :—

(१) कलिंग—राजधानी दंतपुर,
(२) अस्सक—राजधानी पोतन,
(३) अवन्ति—राजधानी माहिस्सति,
(४) सौवीर—मुख्य नगर रोरुक,
(५) विदेह—राजधानी मिथिला,
(६) अंग—राजधानी चम्पा,
(७) काशी—राजधानी वाराणसी।

भगवतीसूत्रमें भी—अंग, बंग, मगह, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ (वत्स), कोच्छ, पाढ़ (पुण्ड्र), लाढ़ (राढ़), वज्जि, मोलि (मल्ल), काशी, कोसल, अवाह, संभुत्तर इन सोलह जनपदोंके नाम प्राप्त होते हैं।

अंग—यह मगधके पूर्वमें था। इसकी राजधानी चम्पा थी। आधुनिक विहारके भागलपुरका चम्पानगर आज भी इसकी धरोहरके रूपमें सुरक्षित है। चम्पा उस समय भारतवर्षकी सबसे प्रसिद्ध नगरियोंमें थी। यह कला, संस्कृति, सभ्यता और व्यापारका केन्द्र थी। इस राज्यने विशेष उन्नति की, पर शनैः शनैः इसकी शक्तिका ह्रास आरम्भ हुआ। मगधसे सदा संघर्ष होता रहा और अन्तमें मगधने इस राज्यको पराजित कर अपनेमें मिला लिया।

मगध—मगधकी राजधानी राजगृह नगरी थी। उस समय राजगृहका वैभव बहुत ही प्रसिद्ध था। मगधमें पटना और गयाके आधुनिक जिले भी सम्मिलित थे। प्राग्बुद्धकालमें बृहद्रथ और जरासंध यहाँके प्रमुख शासक थे। बताया जाता है कि अंगके शासक ब्रह्मदत्त और अन्य राजाओंने मगधके राजाओंको परास्त किया था, पर अंतमें मगधकी ही जीत हुई।

काशी—इसकी राजधानी वाराणसी थी, जो वरुणा और असी नदियोंके संगमपर बसी थी। यह नगरी बारह योजन विस्तृत बतलायी गयी है। 'महा-बग्ग'में काशी देशका विस्तृत वर्णन आया है। वैभव, शिल्प, बुद्धि एवं ज्ञानके लिये यह राज्य प्रसिद्ध रहा है। कोशलराज्यके साथ इसका विशेष संघर्ष रहा है। काशीराज्यकी शक्ति इस संघर्षके कारण दिनानुदिन क्षीण होती गयी और अंतमें इसका पतन हो गया।

कोशल—उत्तरप्रदेशके मध्यमें उत्तरकी ओर कोशल राज्य स्थित था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। अयोध्याका महत्त्व उस समय तक घट गया था

और श्रावस्तीका महत्त्व बढ़ता जा रहा था। काशीके साथ इसका संघर्ष बहुत दिनों तक चला और अंतमें काशीके अस्तित्वको समाप्त कर कोशल-राजाओंने अपने साम्राज्यका विस्तार किया। श्रावस्ती नगरीका व्यापारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व था। शाक्योंकी राजधानी कपिलवस्तु इसी कोशल राज्यके अंतर्गत थी।

वृज्जि—यह आठ राज्योंका एक संघ था। जिसमें लिच्छवी, विदेह, और ज्ञातृक (नाथवंश) विशेष महत्त्वपूर्ण थे। ये सभी उत्तर-विहारमें थे। महावीर और बुद्धके समय तक वृज्जिसंघ विद्यमान था। पाणिनि और कौटिल्यने भी वृज्जियोंके उल्लेख किये हैं। यहाँ गणतांत्रिक शासनपद्धति थी और इस संघकी राजधानी वैशाली थी। उन दिनों वैशाली संस्कृति और सभ्यताका प्रधान केन्द्र थी। वृज्जिशासनमें प्रत्येक ग्रामका प्रमुख राजा कहलाता था। राज्यके सामूहिक कार्यका विचार एक परिषद्द्वारा होता था, जिसके वे सभी सदस्य होते थे।

मल्ल—वृज्जियोंके पड़ोसी मल्ल थे और उनका भी गणराज्य था। ये लोग वृज्जिके पश्चिम और कोशलके पूर्वमें थे। पावा और कुशीनगर इस राज्यके प्रमुख नगर थे। मल्ल दो भागोंमें विभक्त थे। एक भाग कुशीनगरमें रहता था और दूसरा पावामें। महाभारतमें मल्लके दोनों राज्योंका उल्लेख है।

चेदि—आधुनिक बुन्देलखण्डके अन्तर्गत यह राज्य था और इसकी राजधानी शक्तिमती थी। शिशुपाल यहींका राजा था।

वत्स—काशीके पश्चिममें यह जनपद स्थित था। पुराणोंके अनुसार राजा विचक्षुने यमुना नदीके तटपर अपने राजवंशकी स्थापना हस्तिनापुरके राज्य-पतनके अनन्तर की थी। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। यह व्यापारिक मार्गपर स्थित था, इसलिये इसका विशेष महत्त्व था। अवन्तिके साथ इसका निरंतर संघर्ष चलता रहता था।

कुरु—दिल्ली और मेरठके समीपवर्ती प्रदेशमें यह राज्य स्थित था और इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। एक जातकके अनुसार इस राज्यमें तीनसौ संघ थे। उत्तराध्ययनसूत्रमें यहाँके इक्ष्वाकु नामक राजाका उल्लेख आया है। जातक-कथाओंमें सुतसोम, कौरव और धनञ्जय यहाँके राजा माने गये हैं। प्रारम्भमें यहाँ राजतन्त्र था, तदनन्तर यहाँ गणतन्त्रकी स्थापना हुई। यह धर्म और शील-प्रधान जनपद था।

पांचाल—कुरु और पांचाल मिलकर सम्भवतः एक राष्ट्र गिना जाता था। अतः कुरु राष्ट्रकी राजधानी कभी इन्द्रप्रस्थ, कभी काम्पिल्यनगर और कभी उत्तर

पांचालनगरमें अवस्थित रहती थी। पांचाल देश कोशल और वत्सके पश्चिम तथा चेदिके उत्तर था। कुरु इसके पश्चिम और व्रजभूमिके उत्तर था। ये दोनों प्राचीन जनपद थे, पर इनका महत्त्व घट रहा था। पांचाल जनपदकी दो शाखाएँ थीं :—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी पांचालकी राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिणी पांचालकी काम्पिल्य थी। आरम्भमें यहाँ राजतन्त्र था, परन्तु बादमें यहाँ गणतन्त्रकी स्थापना हुई।

मत्स्य—आधुनिक अलवर, जयपुर और भरतपुर राज्योंकी भूमिपर यह स्थित था। इसकी राजधानी विराटनगरी थी। मत्स्य पहले तो चेदियोंके अधीन था, पर कुछ समय बाद मगधके अधीन हो गया।

शूरसेन—कुरुके दक्षिण और चेदिके पश्चिमोत्तर यमुनाके दाहिने शूरसेनोंका राज्य था। इस जनपदकी मथुरा राजधानी थी। पहले यहाँ गणतन्त्र था, बादमें यहाँ राजतन्त्र हुआ।

अश्मक—यह राज्य गोदावरीके तटपर स्थित था। इसकी राजधानी पाटेली (पोतन) थी। इस राज्यके राजा इक्ष्वाकुवंशके थे। इनका अवन्तीके साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। शनैः शनैः यह राज्य अवन्तीके अधीन हो गया।

अवन्ती—आधुनिक मालवा प्रान्त ही प्राचीन अवन्तीका राज्य है। उत्तरी अवन्तीकी राजधानी उज्जयिनी और दक्षिणी अवन्तीकी राजधानी माहिष्मती थी। प्राचीनकालमें यहाँ हैहय वंशका शासन था।

गान्धार—यह आधुनिक अफगानिस्तानका पूर्वी भाग था। यह पश्चिमी पंजाब और काश्मीर तक विस्तृत था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। अवन्ती और गान्धारके बीच कई बार युद्ध हुए थे। मगधराज बिम्बसारका भी इस राज्यके साथ मित्रताका सम्बन्ध था। तक्षशिलामें एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था, जिसके कारण गान्धार विख्यात था।

कम्बोज—गान्धार काश्मीरके उत्तर आधुनिक पामीरका पठार तथा उसके पश्चिम वरख्शॉम प्रदेश, कम्बोज महाजनपद कहलाता था। हाटक या राजपुर इस राज्यकी राजधानी थी।

इन सोलह जनपदोंके अतिरिक्त भी उस समय भारतवर्षमें कई छोटे-छोटे राष्ट्र थे। गान्धार-कुरु तथा मत्स्यके बीच केकय, मद्रक, त्रिगर्त, यौधेय आदि तथा उनके पश्चिम और दक्षिण-पश्चिममें सिन्धु, शिवि, अम्बष्ठ, सौवीर आदि राष्ट्र थे। सोलह महाजनपदोंमेंसे गान्धार-कम्बोजका युगल तो एक ओर था; किन्तु अवशिष्ट सात युगलके प्रदेश लगातार एक दूसरेसे लगे हुए थे। इनकी पूर्वी सीमा अंग और कलिंग तथा दक्षिणी सीमा अश्मक थी। इस युगके भारतके

अन्तर्गत केन्द्रीयकरणकी भावनाके स्थानपर विकेन्द्रीयकरणकी भावना विशेष रूपसे विद्यमान थी। भारत कई छोटे-छोटे राज्योंमें विभक्त था और कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह भारतभूमिमें स्थित अन्य राज्योंको अपने अधिकारमें करके एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्यकी स्थापना करनेमें सफल होता। सोलह महाजनपदोंकी यह व्यवस्था भी अधिक दिनों तक न रह सकी; क्योंकि कई जनपद दूसरे जनपदोंको निगलकर अपना कलेवर बढ़ानेमें संलग्न थे।

अंग और मगधमें संघर्ष चलता रहा। इसी प्रकार काशी और कोशल भी संघर्षरत रहे। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि ईस्वीपूर्व छठी शताब्दीमें समस्त उत्तर भारतके राज्योंमें आधिपत्यके लिये जो संघर्ष चल रहा था, उसमें मुख्यरूपसे कोशल, वत्स, अवन्ती और मगधके शासकगण सक्रिय रूपसे भाग ले रहे थे। सभी अपने-अपने अस्तित्वको सुदृढ़ बनानेमें लगे हुए थे और अपने-अपने राज्यके नेतृत्वमें एक संगठित साम्राज्यकी स्थापना करना चाहते थे। बिम्बसार, प्रसेनजित, चण्डप्रद्योत एवं वत्सराज उदयन प्रबल शासक थे और अपने-अपने क्षेत्रोंके विस्तारमें संलग्न थे। इस लम्बे संघर्षसे ही भारतवर्षमें इतिहासका एक नया अध्याय आरम्भ होता है, जिसमें मगध और वैशालीका उत्कर्ष-अपकर्ष दिखलाई पड़ता है। तीर्थंकर महावीरके जन्मके समय देशकी राजनीतिक स्थिति विश्रृंखलित-सी हो रही थी। राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों ही समानान्तर रूपमें विकसित हो रहे थे। पर राजतन्त्रका अस्तित्व शनैः शनैः सुदृढ़ होता जा रहा था और यह गणतन्त्र-व्यवस्थाको ध्वस्त करना चाहता था।

बौद्ध-साहित्यमें दस गणराज्योंका उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें कपिलवस्तुके शाक्य और वैशालीके लिच्छवि प्रधान थे। शाक्य गणराज्य जनतन्त्रात्मक पद्धतिपर शासित होता था। शासनकी बागडोर जनताके हाथोंमें थी और राज-सत्ता अस्सी हजार कुलीन परिवारोंके हाथोंमें थी। राजाका निर्वाचन होता था और निर्वाचनके पश्चात् राजा राष्ट्रपतिके रूपमें कार्य करता था। राज्य-संचालनके लिये एक परिषद्का निर्माण किया जाता था, जो परामर्शदातृपरिषद्के रूपमें कार्य करती थी। कोई कार्य इस परिषद्की सम्मतिके बिना नहीं होता था। राज्यका प्रत्येक नागरिक राष्ट्रका सेवक माना जाता था। परिषद्को संथागार कहा जाता था। ललितविस्तरमें शाक्य-राज्यके सदस्योंकी संख्या पाँच सौ बतलायी गयी है।

वैशालीमें लिच्छवि-गणराज्य स्थापित था, जिसके सदस्योंकी संख्या सात

हजार सात सौ सात थी। प्रतिनिधिसभाको संथागार कहा जाता था। यह राज्यकी व्यवस्थापिका सभा होती थी।

लिच्छवि, विदेह और अन्य छः राज्योंको मिलाकर एक संघ बना हुआ था, जिसे वज्जिसंघ कहते थे। वज्जिसंघकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :—

१. वज्जिसंघकी अनेक सभाएँ थीं, जिनके अधिवेशन प्रायः हुआ करते थे।

२. वज्जिसंघके लोग परस्पर मिलकर राजकीय-कार्योंको सम्हालते थे, एक होकर बैठक करते और अपनी तथा संघकी उन्नतिके लिये प्रयास करते।

३. ये अपने संघके परम्परागत नियमों और व्यवहारोंके पालनेमें सावधान रहते थे और संघद्वारा प्रतिपादित एवं विहित व्यवस्थाका अनुसरण करते थे।

४. इनका शासन वृद्धोंके हाथोंमें था, जिनका ये लोग आदर करते थे और जिनकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनते-समझते थे।

कुशीनारा और पावामें मल्लोंका गणतन्त्र स्थापित था। इसमें आठ प्रमुख व्यक्ति रहते थे और शासनका समस्त कार्य संथागार द्वारा किये गये निर्णयोंके आधारपर सम्पादित होता था।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरके समयमें देशकी शासन-व्यवस्था एक ओर गणराज्योंकी लोकतन्त्रात्मक पद्धतिपर आधारित थी और दूसरी ओर राजतन्त्र-व्यवस्था स्वतन्त्ररूपसे विकसित हो रही थी। गणतन्त्रोंमें पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष एवं दलबन्दियाँ विद्यमान थीं।

आर्थिक स्थिति :

तीर्थंकर महावीरके समयमें भारतमें अर्थ-संकट नहीं था। उस समयका भारत आजसे कहीं अधिक सम्पन्न और सुखी दृष्टिगोचर होता है। तत्कालीन जैन और बौद्ध साहित्यमें आर्थिक समृद्धिके पर्याप्त चित्रण प्राप्त होते हैं।

पाणिनिकी अष्टाध्यायी, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें उन्नत आर्थिक जीवन-सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होती है। जनपदोंमें समृद्ध होनेवाले विभिन्न शिल्प या देशोंके लिये जानपदीयवृत्ति (४।१।४२) शब्द उपलब्ध होता है। कुछ व्यक्ति वेतनसे भी आजीविका उपार्जन करते थे और कुछ शासनमें कार्य करते थे। सरकारी श्रेणीमें कार्य करनेवाले अध्यक्ष और युक्त कहलाते थे। शस्त्रोपजीवी व्यक्तियोंका भी निर्देश प्राप्त होता है। भृत्ति या पारिश्रमिक लेकर काम करने-

वाले कर्मकार मजदूरोंका भी अस्तित्व विद्यमान था। कर्मकारोंको पारिश्रमिक नगद और सामग्रीके रूपमें भी दिया जाता था।

क्रय-विक्रयसे सूचित व्यापार और दुकानदारीका उल्लेख आया है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उस युगमें व्याजपर ऋण लेनेकी प्रथा भी विद्यमान थी। ऋण जिस मासमें देय होता था, उसके आधारपर ऋणका नाम पड़ता था। अष्टाध्यायीमें अगहन या मार्गशीर्षमें देय ऋणको आग्रहायणिक और संवत्सरके अन्तमें देय ऋणको सांवत्सरिक कहा गया है।

कृषि-सम्बन्धी शब्दावलीमें 'हल' या उसका पर्याय 'सीर' शब्द प्रचलित थे। जुताई और बोआईकी विधियोंका भी उल्लेख आया है। फसलोंका नामकरण उस महीनेके नामसे होता था, जिसमें वे बोयी जाती थीं। खेतोंके नाम उनमें बोये जानेवाले धान्योंके नामसे रखे जाते थे। ब्रीहि, शालि, जौ, साठी, तिल, उड़द, अलसी एवं सन आदि धान्य बोये जाते थे। अनाज भरनेवाले थैलेका नाम गोणी और ढरकीका प्रवाणि नाम आये हैं। कुम्हार, चर्मकार, रंगसाज और सूती तथा रेशमी वस्त्र बुननेवाले बुनकर भी उस समय समाजमें विद्यमान थे।

महाभारतके अध्ययनसे भी उस समयकी आर्थिक समृद्धिका परिज्ञान प्राप्त होता है। नागरिक और ग्रामीण दोनों प्रकारके जीवनका परिचय प्राप्त होता है। घर मिट्टी, ईंट, पत्थर और लकड़ीसे बनाये जाते थे। मकानोंके बीचमें सड़क एवं गलियाँ रहती थीं। भवन और प्रासाद कई मंजिलोंके बनाये जाते थे। ग्रामोंके बाहर मंदिर एवं चैत्य बनवानेकी प्रथा थी। कृषिके सम्बन्धमें विशेष उन्नति हुई थी। बीज, भूमिके भेद एवं मिट्टीके गुणोंका परिचय ज्ञात था। सिंचाईकी व्यवस्था भी विद्यमान थी। बाढ़युक्त क्षेत्र केदार कहलाते थे। कपास, जौ, गेहूँ, चावल, मूँग, तिल, उड़द, गन्ना एवं शाक आदि पर्याप्त मात्रामें उत्पन्न होते थे। ग्राम्य पशुओंमें गाय, भैंस, भेड़, बकरी, अश्व, गज आदिकी गणना की जाती थी। गो-पालन, दुग्धोत्पत्ति, घृत-निर्माण एवं विभिन्न प्रकारके मिष्टान्न-निर्माण भी प्रचलित थे। सुनार, लुहार, रंगरेज, तेली, धोबी, दर्जी, तन्तुवाय, कुम्हार, चर्मकार आदि विभिन्न प्रकारके पेशे करनेवाले व्यक्ति विद्यमान थे।

नगद लेन-देन और वस्तुओंकी अदला-बदली दोनों ही प्रकारको प्रथाएँ प्रचलित थीं। राज्य व्यापारियोंसे परामर्श करके आयात-निर्यात, भड़सालकी अवधि, मालकी माँग एवं उसकी उपलब्धिके आधारपर वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करता था। व्यापारियोंके सामूहिक गठन विद्यमान थे, जो क्रय-

विक्रय और उसके व्यवहारोंका नियम निर्धारण करते थे। व्यापारमार्ग वन-कान्तार, जलीय-प्रदेश और अरण्योंमें होते हुए जाते थे। माल पशु और गाड़ियों-पर ढोया जाता था। नदीका यातायात नावोंसे होता था, जिसका तर्पण्य दूरी और स्थानीय दरके हिसाबसे तय किया जाता था। समुद्री यातायातके लिये दर निश्चित नहीं था। नौसंचार-सम्बन्धी असावधानीके कारण होनेवाली क्षतिकी पूर्ति नौ या प्रवहणके स्वामीको करनी पड़ती थी। इस अध्ययनसे ऐसा भी ज्ञात होता है कि उस समय बीमेका भी प्रबन्ध प्रचलित था।

निर्यात वाणिज्यका नियमन राज्यकी ओरसे होता था। जिस मालमें राजाका एकाधिकार था या जिसका निर्गम वर्जित था, उसका निर्यात करने-वाले व्यापारीकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। प्राच्य देशमें हाथी, काश्मीरमें केसर, रेशम एवं ऊनी वस्त्र, पश्चिमी देशोंमें अश्व, दक्षिणमें रत्न एवं मोती आदिका निर्यात सीमित था।

वाणिज्यपर शुल्क भी लिया जाता था। क्रय-विक्रयके भाव माल लाने, ले जानेकी दूरी, मुख्य और गौण मूल्य एवं मार्गमें शंकास्थलोंका विचार कर शुल्काध्यक्ष शुल्कोंकी दर निश्चित करते थे। राज्यकी ओरसे नदियोंपर उतराईके घाटोंका भी प्रबन्ध था। यहाँ शुल्ककी दर निश्चित थी। महावीरके समयमें स्वर्ण, रजत एवं ताम्रकी मुद्राएँ भी प्रचलित थीं। पण, अर्द्धपण, पादपण, अष्टभागपण, रौप्यमाषक, धरण आदि सिक्के प्रचलित थे। स्वर्ण और रजतके निष्कोंका भी व्यवहार होता था। इस प्रकार महावीरके समयका भारत आर्थिक दृष्टिसे पूर्ण समृद्ध था। अन्न और वस्त्रकी कमी उस समय किसीके समक्ष नहीं थी। ग्राम और नगर अपनी-अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये समर्थ थे। कृषिसे अन्न, करघेसे वस्त्र, शिल्पियोंसे विलास-सामग्री एवं पशुओंसे दुग्ध और वाहनके कार्य सम्पन्न किये जाते थे। देशका व्यापार मिश्र, यूनान, चीन, फारस एवं सिंहल तक व्याप्त था। आमोद-प्रमोदकी सामग्रियोंका भी बाहुल्य था। कूप, वापी, स्नानागार, सभागृह, नाट्यशाला आदिकी भी कमी नहीं थी।

सामाजिक स्थिति :

महावीरके समयका समाज वैदिककालीन समाजकी अपेक्षा टूट रहा था। समाजमें शिक्षाका प्रचार तो अवश्य था, पर उसकी सीमाएँ निश्चित थीं। स्त्री और शूद्रोंको वेदाध्ययनके अधिकारसे वंचित किया गया था। ऋग्वेदकालमें जिस जातिप्रथाका प्रचार हुआ वह सूत्रकालमें आकर अधिक सुदृढ़ हो गयी। ऋग्वेदमें अन्तर्जातीय विवाहका निषेध केवल भाई-बहन या पिता-पुत्रीके व्य-

भिचारके विरोधमें ही था। शतपथ-ब्राह्मणमें विवाह-सम्बन्धी यह प्रतिषेध रक्त-सम्बन्धकी तृतीय या चतुर्थ पीढ़ी तक समाविष्ट हो गया। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अपनेसे हीन वर्णकी कन्याके साथ विवाह कर सकते थे। जाति-पाँति व्यवस्था दिनोदिन संकीर्ण होती जा रही थी। ब्राह्मणका प्रभुत्व पर्याप्त विकसित हो गया था। क्षत्रिय भूमिके स्वामी माने जाते थे। वैश्योंका कार्य कृषि एवं वाणिज्य द्वारा धनार्जन करना था तथा शूद्र सेवा द्वारा ही अपना उदर-पोषण करते थे। समाजके संचालनका दायित्व उच्च वर्गके व्यक्तियोंके हाथमें था और वे चाहें जैसे भी समाजपर अत्याचार और अनाचार कर सकते थे।

उस समय वैदिक और श्रमण दोनों ही सामाजिक संगठनमें भाग ले रहे थे। आर्थिक विषमताएँ भी उत्पन्न होने लगी थीं, जिनके फलस्वरूप विभिन्न वर्णके व्यक्ति अपने वर्णके विरुद्ध कार्य करने लगे थे। नाग, द्रविड़ आदि जातियाँ वैदिक क्षत्रिय-राजसत्ताओंका सामना करने लगी थीं।

शनैः शनैः पुरानी राजसत्ताओंके स्थानपर व्रात्य एवं क्षात्र-बन्धुओंकी राजसत्ताएँ स्थापित होने लगी थीं। ब्राह्मण-परम्पराकी अनुश्रुतियोंमें लिच्छवि, मल्ल, मोरीय आदि जातियोंको व्रात्य बताया गया है। शिशुनागवंशको भी क्षत्रिय नहीं, अपितु क्षात्र-बन्धु कहा गया है। 'व्रात्य' शब्द अथर्ववेदमें भी आया है। यह श्रमण-परम्परासे सम्बन्धित है। यह शब्द अर्वाचीन कालमें आचार और संस्कारोंसे हीन मानवोंके लिये व्यवहृत होता रहा है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने 'अभिधानचिन्तामणिकोश'में—"व्रात्यः संस्कारवर्जितः। व्रते साधुः कालो व्रात्यः। तत्र भवो व्रात्यः प्रायश्चित्तार्हः, संस्कारोऽत्र उपनयनं तेन वर्जितः[1]" लिखा है।

मनुस्मृतिमें बताया है—क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करनेपर भी असंस्कृत हैं। क्योंकि वे व्रात्य हैं और वे आर्यों द्वारा गर्हणीय हैं। ब्राह्मण-संतति, उपनयन आदि व्रतोंसे रहित होनेके कारण व्रात्य शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है[2]। इस प्रकार अर्वाचीन उल्लेखोंमें व्रात्यका अर्थ आचार-हीन बतलाया गया है, पर प्राचीन ग्रन्थोंमें व्रात्यका अर्थ विद्वत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वसम्मान्य व्यक्तिके अर्थमें आया है। अथर्ववेदमें लिखा है—

---

१. अभिधानचिन्तामणिकोष, ३।५१८.

२. द्विजातयः सवर्णासु, जनयन्त्यव्रतांस्तु तान्।
तान् सावित्री-परिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥

—मनुस्मृति १०।२०

कश्चिद् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यम् ।
ब्राह्मणविशिष्टं व्रात्यमनुलक्ष्यवचनमिति मन्तव्यम्[१] ।।

व्रात्यकाण्डकी भूमिकामें आचार्य सायणने लिखा है—"उपनयन आदिसे हीन मानव व्रात्य कहलाता है। ऐसे मानवको वैदिक कृत्योंके लिये अनधिकारी और सामान्यतः पतित माना जाता है। परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो, जो विद्वान् और तपस्वी हो, ब्राह्मण भले ही उससे द्वेष करें, पर वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्माके तुल्य होगा[२] ।"

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि अथर्ववेदका व्रात्यकाण्ड किसी ब्राह्मणेतर परम्परासे सम्बद्ध है। यह परम्परा श्रमणोंकी हो सकती है। व्रात्य शब्दका मूल व्रत है। व्रतका अर्थ धार्मिक संकल्प और संकल्पोंमें जो साधु है, कुशल है, वह व्रात्य है। डॉ० हेवरने व्रात्य शब्दका विश्लेषण करते हुए लिखा है—"व्रात्यका अर्थ व्रतोंमें दीक्षित है। अर्थात् जिसने आत्मानुशासनकी दृष्टिसे स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किये हैं, वह व्रात्य है[३] ।"

अतएव स्पष्ट है कि व्रतोंकी परम्परा श्रमण-संस्कृतिकी मौलिक देन है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्यमें कहीं भी व्रतोंका उल्लेख नहीं है। डॉ० कीथ, मैकडॉनल आदिने भी व्रतोंमें दीक्षित व्यक्तियोंको व्रात्य कहा है। इस प्रकार प्राचीन कालमें व्रात्य शब्दका प्रयोग श्रमण-संस्कृतिके अनुयायियोंके लिये प्रयुक्त होता था। डॉ० ज्योतिप्रसादजीने प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"क्षात्रबन्धु शब्दका प्रयोग हीनताका भाव सूचित करनेके लिये किया गया है। क्योंकि वे व्रात्य लोगोंके क्षत्रिय थे और व्रात्य वे आर्यजातियाँ थीं, जो मध्यदेशके पूर्व या उत्तर-पश्चिममें रहती थीं। वे मध्यदेशके कुलीन ब्राह्मण-क्षत्रियोंके आचारका अनुसरण नहीं करती थीं। उनकी शिक्षा-दीक्षाकी भाषा प्राकृत थी और वेश-भूषा आर्योंकी दृष्टिसे परिष्कृत न थी। वे मध्यदेशके ब्राह्मणोंके संस्कार न करते थे और ब्राह्मणोंके बजाय अरहन्तोंको मानते थे तथा चेतियों (चैत्यों) की पूजा करते थे।[४]"

वस्तुतः महावीरके पूर्व सामाजिक क्रान्ति परिलक्षित होने लगी थी और

---

१. अथर्ववेद १५।१।१।१.

२. वही, १५।१।१।१.

३. Vratya as initiated in varatas. Hence vratyas means a person who has volmitanly accepted the moral eode of vows for his own spiritual discipline—By Dr. Hebar.

४. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, पृ० ३९.

वैदिक आर्योंकी शुद्ध संतति समाप्त हो रही थी। रक्तमिश्रण, सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं धर्म-परिवर्तनादिके कारण नवीन भारतीय जातियाँ उदयमें आ रही थीं। आर्य और द्रविड़ोंमें भी रक्त-मिश्रण हो रहा था और परस्पर जातीय भेद-भाव टूटता जा रहा था। व्यवसायकर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंमें समस्त भारतीय समाज विभक्त हो रहा था। क्षात्र-धर्म पालन करनेवाले आर्य—व्रात्य, नाग और द्रविड सभी क्षत्रिय कहलाते थे। इतना होनेपर भी वैदिक संस्कार इतने सुदृढ़ और सुगठित थे कि उनमें सामान्य-तया कोई परिवर्तन दिखलायी नहीं पड़ता था। वेदानुयायी ब्राह्मण 'अहंवश' अपनेको सर्वश्रेष्ठ, पवित्र और क्रियाकाण्डका अधिकारी मानता था। वैदिक धर्म और मान्यताएँ इतनी जटिल और आडम्बरपूर्ण हो गयी थीं कि उनकी लोकग्राह्यता समाप्तिपर थी। वर्णाश्रमधर्म समाजपर छाया हुआ था। यद्यपि इसके विरोधमें क्रान्तिकी ध्वनि गूंज रही थी, पर इस प्रथाके विरोधमें खड़े होनेकी क्षमता किसी व्यक्तिविशेषमें अवशिष्ट नहीं थी।

धार्मिक स्थिति : ✓

ई० पू० ६०० के आस-पास भारतको धार्मिक स्थिति भी बहुत ही अस्थिर और भ्रान्त थो। एक ओर यज्ञीय कर्मकाण्ड और दूसरी ओर कतिपय विचारक अपने सिद्धान्तोंकी स्थापना द्वारा जनताको संदेश दे रहे थे। चारों ओर हिंसा, असत्य, शोषण, अनाचर एवं नारीके प्रति किये जानेवाले जोर-जुल्म अपना नग्न ताण्डव प्रस्तुत कर रहे थे। धर्मके नामपर मानव अपनी विकृतियोंका दास बना हुआ था। वैयक्तिक स्वातंत्र्य समाप्त हो चुका था और मानवके अधिकार तानाशाहों द्वारा समाप्त किये जा रहे थे। मानवता कराह रही थी और उसकी गरिमा खण्डित हो चुकी थी। धर्म राजनीतिका एक भोंथा हथियार मात्र रह गया था। भय और आतंकके कारण जनता धार्मिक क्रियाकाण्डका पालन करती थी, पर श्रद्धा और आस्था उसके हृदयमें अवशिष्ट नहीं थी। स्वार्थ-लोलुप धर्मगुरु और धर्माचार्य धर्मके ठेकेदार बन बैठे थे। मानवकी अन्त-श्चेतना मूछित हो रही थी और दासताकी वृत्ति दिनों-दिन बढ़ती जाती थी।

दिग्भ्रान्त मानवका मन भटक रहा था और कहीं भी उसे ज्ञानका आलोक प्राप्त नहीं हो रहा था। नारीकी सामाजिक स्थिति भयावह थी। उसका अपहरण किया जा रहा था। कोई उसे बेड़ियोंमें जकड़ता और कोई उसे तल-घरोंमें बन्द करता था। फलत: नारीका नारीत्व ही नहीं अपितु समस्त मानव-समाज अन्धकारमें भटक रहा था और सभीकी दृष्टि उद्धारके हेतु किसी महा-शक्तिकी प्रतीक्षामें लगी हुई थी।

निरीह पशुओंका निर्मम बध किया जा रहा था। पशुमेध ही नहीं नरमेध भी किये जा रहे थे। भीषण रक्तपात विद्यमान था। अग्निकुण्डोंसे चीत्कारकी ध्वनि कर्णगोचर हो रही थी। बर्बरता और अमनुष्यताका नग्न ताण्डव वर्त्तमान था। मनुष्य मनुष्यके द्वारा होनेवाले निर्लज्ज शोषणका इतिहास बना हुआ था। तीर्थंकर पार्श्वनाथके पश्चात् यज्ञीय क्रियाकाण्डोंने मानवताको संत्रस्त कर दिया था। आलोककी धर्मरेखा धुंधली होती जा रही थी और जीवनका अभिशाप दिनानुदिन बोझिल हो रहा था।

अनेक व्यक्ति अपनेको तीर्थंकर कहने लगे थे और ये व्यक्ति भी मानवताके त्राणमें असमर्थ थे। कोई कहता था कि भौतिकता ही जीवनका चरम लक्ष्य है, कोई कहता था कि अक्रिया ही धर्म है और कोई अकर्मण्यताको ही धर्म घोषित करता था। क्षणिकवाद, नित्यवाद, नियतिवाद आदि सिद्धान्त दिग्भ्रान्त मानवको शान्ति प्रदान करनेमें असमर्थ थे। स्वर्ग, नरक बिक रहे थे और धनिकवर्ग लम्बी-लम्बी रकमें देकर अपना स्थान सुरक्षित करा रहा था। धर्म और दर्शनके क्षेत्रमें पूर्णतया अराजकता विद्यमान थी। अव्यवस्था, औद्धत्य, अहंकार, अज्ञानता और स्वैराचारने धर्मकी पावनताको खण्डित कर दिया था। वर्गस्वार्थकी दूषित भावनाओंने मानवताको धूमिल कर दिया था। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और मैत्री जैसी उदात्त भावनाएँ खतरेमें थीं। सर्वोदयका स्थान वर्गोदयने प्राप्त कर लिया था और धर्म एक व्यापार बन गया था। उस समयके विचारकोंमें पूर्णकाश्यप, मंक्खली गोशालक, अजितकेशकम्बल, प्रक्रुद्ध कात्यायन, संजय बेलट्ठिपुत्र और गौतम बुद्ध प्रमुख थे। 'दीर्घनिकाय'के 'समञ्ञ-फलसुत्त'में निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र महावीर सहित सात धर्मनायकोंकी चर्चा प्राप्त होती है। हम यहाँ उस समयके धर्मनायकोंकी प्रमुख मान्यताओंका विवेचन कर उस समयकी धार्मिक स्थितिका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करेंगे।

अक्रियावाद-प्रवर्त्तक : पूर्णकाश्यप

पूर्णकाश्यप अक्रियावादके समर्थक थे। अनुभवोंसे परिपूर्ण मानकर जनता इन्हें पूर्ण कहती थी। ये जातिसे ब्राह्मण थे और काश्यप इनका गोत्र था। ये नग्न रहते थे और अस्सी हजार इनके अनुयायी थे। एक बौद्ध-किंवदन्तीके अनुसार यह एक प्रतिष्ठित गृहस्थके पुत्र थे। एक दिन इनके स्वामीने इन्हें द्वारपालका काम सौंपा। पूर्णकाश्यपने इसे अपना अपमान समझा और विरक्त होकर अरण्यकी ओर चल पड़े। मार्गमें चोरोंने इनके कपड़े छीन लिये, तबसे ये नग्न रहने लगे। एक बार जब ये किसी ग्राममें गये, तो लोगोंने इन्हें पहननेके लिये वस्त्र दिया। पूर्णकाश्यपने वस्त्र वापस करते हुए कहा—"वस्त्रका प्रयोजन लज्जा-निवारण

है और लज्जाका मूल पापमय प्रवृत्ति है। मैं तो पापमय प्रवृत्तिसे दूर हूँ। अतः मुझे वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता है"[1] पूर्णकाश्यपकी निस्पृहता और असंगता देखकर जनता उनकी अनुयायी होने लगी।

यतः पूर्णकाश्यप अक्रियावादके प्रवर्त्तक थे, अतः उनका अभिमत था—"अगर कोई कुछ करे या कराये, काटे या कटाये, कष्ट दे या दिलाये, शोक करे या कराये, किसीको कुछ दुःख हो या कोई दे, डर लगे या डराये, प्राणियोंको मार डाले, चोरी करे, घरमें सेंध लगाये, डाका डाले, एक ही मकान पर धावा बोल दे, बटमारी करे, परदार-गमन करे या असत्य बोले तो भी उसे पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे यदि कोई इस संसारके पशुओंके माँसका बड़ा ढेर लगा दे तो भी उसमें बिलकुल पाप नहीं है, उसमें कोई दोष नहीं है। गंगा नदीके दक्षिणी किनारे पर जाकर यदि कोई अनेक दान करे या करवाये, यज्ञ करे या करवाये, तो भी उसमें कोई पुण्य नहीं मिलता। दान, धर्म, संयम और सत्य-भाषणसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणसे निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं—

(१) क्रिया करने पर भी पाप और पुण्यसे अलिप्त रहना।
(२) क्रियामें सम्यक् और मिथ्यात्वका भेद-भाव नहीं।
(३) क्रिया करनेकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इससे जीव बन्धको प्राप्त नहीं होता।
(४) मन-वचन-कायः कृत, कारित और अनुमोदनामें तरतमभावका अभाव।
(५) क्रियाका सम्पादन नैसर्गिक है और निसर्ग बन्धका कारण नहीं है। अतएव क्रियाके प्रति निस्पृहता।

नियतिवाद-प्रवर्त्तक : मंक्खलि गोशालक

मंक्खलि गोशालक नियतिवादका प्रवर्त्तक था। मंक्खलि उसके पिताका नाम था। इसी कारण वह मंक्खलिपुत्र कहलाता था। गोशालकका जीवनवृत्त बौद्ध साहित्यके साथ भगवतीसूत्र, उवासगदसा आदि ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। कहा जाता है कि मंक्खलिकी भद्रा नामक पत्नी थी। वह सुन्दरी और सुकुमारी थी। एकबार वह गर्भिणी हुई। शरवण ग्राममें गोबहुल नामक ब्राह्मण रहता

१. बौद्धपर्व (मराठी) प्र० १०, पृ० १२७ तथा आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० १४.

२. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० ५.

था। यह धनिक तथा ऋग्वेदादिक ग्रन्थोंमें निपुण था। गोबहुलकी एक गोशाला थी। एक बार मंक्खलि भिक्षार्थ हाथमें चित्रपट लेकर गर्भवती भद्राके साथ ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ शरवण सन्निवेशमें आया। उसने गोबहुलकी गोशालामें अपना समान रखा और भिक्षार्थ ग्राममें चला गया। उसने ग्राममें निवास योग्य स्थानकी खोज की, पर उसे कोई उपयुक्त स्थान नहीं मिला। फलतः उसने गोशालाके एक भागमें चातुर्मास व्यतीत करनेका निश्चय किया। नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होनेपर मंक्खलिकी पत्नी भद्राने एक सुन्दर और सुकुमार बालकको जन्म दिया। बारहवें दिन माता-पिताने गोशालामें जन्म लेनेके कारण शिशुका नाम गोशालक रखा। क्रमशः गोशालक बड़ा हुआ और शिक्षा प्राप्तकर प्रतिभासम्पन्न बना। गोशालकने भी स्वतंत्र रूपसे चित्रपट हाथमें लेकर अपनी आजीविका सम्पादित करना आरम्भ किया। गोशालक तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कमें भी आया और पृथक् सम्प्रदायकी स्थापनाकी कामनासे अलग हो गया।

गोशालकको अष्टांगनिमित्तका परिज्ञान था। अतः वह जनताको लाभ-अलाभ, सुख-दुःख और जीवन-मरणके विषयमें उत्तर देता था। इस अष्टांग-निमित्तज्ञानके बलपर ही उसने अपनेको जिन, केवली, सर्वज्ञ आदिके रूपमें घोषित किया था। गोशालक द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त नियतिवाद है। इस सिद्धान्तका अभिप्राय यह है—"अपवित्रताके लिये कोई कारण नहीं होता, कारण-के बिना ही प्राणी अपवित्र होते हैं। प्राणीकी शुद्धिके लिये भी कोई हेतु नहीं होता, कोई कारण नहीं होता। हेतुके बिना, कारणके बिना प्राणी शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्यसे कुछ नहीं होता और न दूसरेके सामर्थ्यसे कुछ होता है। पुरुषार्थसे भी कुछ नहीं होता है। किसीमें बल नहीं, वीर्य नहीं, पुरुषशक्ति नहीं और पुरुषपराक्रम भी नहीं है। सर्वसत्व, सर्वप्राणी, सर्वभूत, सर्वजीव तो अवश, दुर्बल और निर्वीर्य है। वे नियति (भाग्य)-संगति एवं स्वभावके कारण परिणत होते हैं और सुख-दुःखका उपभोग करते हैं।"

नियतिवादके उपर्युक्त विश्लेषणसे निम्नलिखित तथ्य प्रसूत होते हैं—

(१) पुरुषार्थ और आत्मविश्वासका अभाव।
(२) नियतिवश ही कार्योंका सम्पादन।
(३) प्राणीकी पुण्य और पापसे अलिप्तता।
(४) नियति जैसा कराती है, वैसा करनेकी प्रेरणा।
(५) शुद्धि और अशुद्धिके लिये कारणोंका अभाव।

(६) प्राणियोंकी अवशता और निर्वीर्यता ।

(७) सुख-दुःखकी प्राप्ति नियतिके अधीन है, पुरुषार्थाधीन नहीं ।

उच्छेदवाद-प्रवर्तक : अजित केशकम्बल

केशोंका बना कम्बल धारण करनेके कारण ये अजित केशकम्बली कहलाते थे। एफ० एल० वुडवाल्डको धारणाके अनुसार कम्बल मनुष्यके केशोंका ही बना होता था[१]। इनकी मान्यता लोकायतिक दर्शन जैसी ही थी। कुछ विद्वानोंका यह भी मत है कि नास्तिक दर्शनके आदिप्रवर्त्तक यही थे। बृहस्पतिने इनके अभिमतोंको ही विकसित रूप दिया है।[२] उच्छेदवादका अर्थ यह है कि दान, यज्ञ और हवन आदि कुछ भी तथ्य नहीं। अच्छे या बुरे कर्मोंका फल और परिणाम नहीं होता है। इहलोक-परलोक, माता-पिता, स्वर्ग-नरक आदि कुछ भी नहीं है। इहलोक और परलोकका अच्छा ज्ञान प्राप्तकर उसे दूसरोंको देनेवाले दार्शनिक और योग्यमार्गपर चलनेवाले श्रमण-ब्राह्मण इस संसारमें नहीं हैं। मनुष्य चार भूतोंका बना हुआ है। जब वह मरता है, तब उसमें समाहित पृथ्वीधातु पृथ्वीमें, आपोधातु जलमें, तेजोधातु तेजमें और वायुधातु वायुमें जा मिलते हैं तथा इन्द्रियाँ आकाशमें चली जाती हैं। मृत व्यक्तिको अर्थीपर रखकर चार पुरुष श्मशानमें ले जाते हैं। उसके गुण-अवगुणोंकी चर्चा होती है, उसकी अस्थियाँ श्वेत हो जाती हैं, उसे दो जानेवाली आहुतियाँ भस्मरूप बन जाती हैं। दानका झगड़ा मूर्ख व्यक्तियोंने खड़ा किया है, जो कोई आस्तिकवाद बतलाते हैं, उनका वह कथन बिलकुल मिथ्या और वृथा है। शरीरके नाशके पश्चात् विद्वानों और मूर्खोंका उच्छेद होता है। वे नष्ट हो जाते हैं। मृत्युके अनन्तर उनका कुछ भी शेष नहीं रहता।

इस प्रकार अजित केशकम्बलने उच्छेदवादका प्रवर्त्तनकर परलोक, आत्मा और पुण्य-पापका निषेध किया है। इस सिद्धान्तमें निम्नलिखित तथ्य समाहित हैं:—

(१) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतोंका अस्तित्व।

(२) प्रत्यक्षदृष्टिगोचर पदार्थ ही सर्वस्व हैं, परोक्षपदार्थोंका अस्तित्व सिद्ध नहीं, अतएव उनका अस्वीकरण।

(३) शरीरके साथ ही आत्माका भी उच्छेद।

(४) पुण्य और पाप वास्तविक नहीं, कल्पित।

---

१. The book of graducl Sayings Volum 1, Page 265.

२. Barua. O. P. Cit., Page 288.

(५) आत्मा और पुनर्जन्मका अभाव।
(६) शरीरातिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं, फलतः शरीरमें ही आत्म-कल्पना।
(७) शुभ और शुद्ध प्रवृत्तियोंका सर्वथा अभाव।

अन्योन्यवाद-प्रवर्त्तक : प्रक्रुद्ध कात्यायन

ये शीतोदकपरिहारी थे और उष्णोदकको ग्राह्य मानते थे। पक्रुद्ध वृक्षके नीचे पैदा होनेके कारण ये पक्रुद्ध या प्रक्रुद्ध कात्यायन कहलाये। प्रश्नोपनिषद्में इन्हें ऋषि पिप्पलादिका समकालीन और ब्राह्मण बतलाया गया है। यद्यपि वहाँ इनका नाम कबन्धी कात्यायन बताया गया है, पर कबन्धी और प्रक्रुद्ध एक ही शारीरिक दोषके वाचक हैं। बौद्ध टीकाकारोंने इन्हें पक्रुद्धगोत्री होनेसे पक्रुद्ध माना है। बुद्धघोषने प्रक्रुद्ध उनका व्यक्तिगत नाम और कात्यायन इनका गोत्र नाम कहा है। डॉ० फीयर इन्हें कक्रुध कहनेकी भी राय देते हैं। इन्होंने अन्योन्यवादी सिद्धान्तका प्रवर्त्तन किया है। बताया है कि सात पदार्थ किसीके किये, करवाये, बनाये या बनवाये हुए नहीं हैं। ये कूटस्थ और अचल हैं। न ये हिलते हैं और न परिवर्तित होते हैं। एक दूसरेको ये नहीं सताते। एक दूसरेको सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें ये असमर्थ हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख-दुःख एवं जीव ये सात पदार्थ हैं। इन्हें नष्ट करनेवाला कोई नहीं ह। तीक्ष्ण अस्त्रसे भी कोई किसीका सिर नहीं काट सकता और न कोई किसीका प्राण ले सकता है। अस्त्र मारनेका केवल अर्थ है कि सात पदार्थोंके बीचके अवकाशमें अस्त्रका प्रविष्ट होना।

इस प्रकार प्रक्रुद्ध कात्यायनने नित्य और कूटस्थ सात पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार किया और जनताको उक्त सातों पदार्थोंके सम्मिलनसे सुख एवं विछोहसे दुःख प्राप्तिका सन्देश दिया।

विक्षेपवाद-प्रवर्त्तक : संजय बेलट्ठिपुत्र

संजय बेलट्ठिपुत्र नाम वैसा ही प्रतीत होता है, जैसा मंक्खलि गोशालक। उस युगमें ऐसे नामोंकी परम्परा प्रचलित थी, जो माता या पिताके नामसे सम्बद्ध होती थी। आचार्य बुद्धघोषने इन्हें बेलट्ठिका पुत्र माना है। कुछ विद्वान् सारिपुत्र और मौद्गलायनके पूर्व आचार्य संजय परिव्राजकको ही संजय वेलट्ठिपुत्र मानते हैं। पर यह कल्पना यथार्थ नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो बौद्ध-पिटकोंमें स्पष्ट उल्लेख भी मिलता, पर बौद्ध-पिटक इतना ही कहकर विराम लेते हैं कि सारिपुत्र और मौद्गलायन अपने गुरु संजय परिव्राजकको छोड़कर बुद्धके धर्म-

संघमें आये। परिव्राजक शब्द भी यह संकेत करता है कि संजय वैदिक संस्कृतिसे सम्बद्ध थे।

संजयने विक्षेपवादका प्रवर्त्तन किया है। इनके सिद्धान्तमें परलोक आदिका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। परलोक, कर्मफल, मृत्यु, पुनर्जन्म, आत्मा आदिके सम्बन्धमें इनकी कोई निश्चित धारणा नहीं है।

गौतम बुद्धने समाजोत्थान और चार आर्य-सत्योंका उपदेश देकर जनताको सान्त्वना देनेका प्रयास किया, पर एकान्त क्षणिकवादका प्रचार करनेके कारण सत्यका आलोक उपस्थित न हो सका।

इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथकी श्रमण-परम्परासे प्रभावित उपर्युक्त चिन्तकोंने भी समाजमें क्रान्ति लानेकी चेष्टा की, पर वे सफल न हो पाये। एक ही मतमें हिंसक और अहिंसक अनुयायी विद्यमान थे। आजीविकोंमें ऐसे दो पक्ष थे। पूर्णकाश्यप जीव-हिंसामें पुण्य-पाप नहीं मानते थे। प्रकुद्धकी भी यही स्थिति थी। अजित केशकम्बली वैदिक क्रियाकाण्डोंका विरोध अवश्य करते थे, परन्तु हिंसाको उचित मानते थे। इन विचारकोंमें इतना नैतिक बल नहीं था कि ये जनताको मांस-मदिराकी लिप्सासे बचा सकें। उस समय हस्ति तापस जैसे तपस्वी भी विद्यमान थे; जो वर्षमें एक बड़े हाथीको मारकर आजीविका चलाते थे और समस्त प्राणियोंके प्रति अनुकम्पा बुद्धि रखते थे। अहिंसाकी धारा क्षीण हो रही थी और इन्द्रियनिग्रहकी चर्चा तो दूर ही थी।

ब्राह्मण-परम्परा वैदिक मान्यताओंकी रक्षाके लिये क्रियाशील थी। इसमें भी दो धाराएँ परिलक्षित हो रही थीं। एक धाराके अनुयायी प्रश्नोपनिषद्के अधिष्ठाता पिप्पलादि, मुण्डकोपनिषद्के रचयिता भारद्वाज और कठोपनिषद्के प्रचारक नचिकेता थे। इन ऋषियोंने वैदिक कर्मकाण्डमें सुधार कर ज्ञान-यज्ञ, अहिंसा और सदाचारका प्रचार किया था। दूसरी परम्परा हिंसापूर्ण यज्ञादि उच्च करनेमें संलग्न थी। शूद्र और स्त्रियाँ मनुष्यकोटिमें परिगणित नहीं थीं। इनके साथ अभिजात्यवर्गकी अहंवादी प्रवृत्तिने नानाप्रकारके अत्याचार करना आरंभ किये थे। मनुष्यकी वासना खुल-खेलकर सामने आती थी और भोग-विलासकी प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ रही थी। निःसन्देह वैदिक क्रियाकाण्डके प्रचारने धर्म-तत्त्वकी आत्माको शुष्क बना दिया था। अनात्मवाद और कर्मकाण्डके सार्व-भौमिक राज्यने मानवको आडम्बरमें फँसा दिया था और उसकी अन्तरात्मा प्रकाशके लिये बेचैन थी।

आध्यात्मिक जीवनका गौरव विस्मृत हो गया था और भौतिकताका महत्त्व

बढ़ रहा था। कुछ व्यक्ति हठयोगकी साधनामें आत्म-शान्तिके स्वप्न देखते थे। राजा महीपाल हठयोगके विशेष उपासक थे। ऋद्धि और सिद्धियाँ प्राप्त करनेके लिये विविध प्रकारके काय-क्लेश सहन किये जाते थे। जनताके समक्ष नये विचार और नये सिद्धान्त प्रस्तुत हो रहे थे, पर कहीं भी प्रकाशकी किरण दिखलायी नहीं पड़ती थी। फलतः सर्वत्र धार्मिक अशान्ति परिलक्षित हो रही थी और चारों ओरसे यह ध्वनि हो रही थी कि किसी ऐसे धार्मिक नेताकी आवश्यकता है, जो इस विशृंखलित समाजको सुगठित और शृंखलित कर नया मार्ग प्रदर्शित कर सके।

संसारमें व्याप्त तृष्णा, अनीति, हिंसा, धर्मान्धता एवं जातिमदके विषको दूर करनेके हेतु एक ऐसे पुरुषकी आवश्यकता थी, जो अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहके साथ अनेकान्तमयी दृष्टिके आलोकसे लोगोंके हृदयान्धकारको छिन्न कर सके। प्रत्येक युगमें जब अधर्माचरण बढ़ जाता है, तो कोई ऐसी विलक्षण शक्ति प्रादुर्भूत होती है, जो टूटती हुई मानवताको जोड़नेका कार्य करती है। इस शताब्दीने भी तीर्थंकर महावीरको क्रान्तिद्रष्टाके रूपमें उपस्थित कर मानवताके त्राणकी शंखध्वनि की।

चतुर्थ परिच्छेद

तीर्थंकर महावीरकी जन्मभूमि, जन्म और किशोरावस्था

गणतंत्र वैशाली :

ई० पूर्व छठी शताब्दीमें वैशाली अत्यन्त समृद्ध सुव्यवस्थित और प्रतिष्ठित गणतंत्र था। उस समय मध्य हिमालयसे लेकर गंगानदी तकका प्रदेश छोटे-छोटे गणतंत्रोंमें विभक्त था और इनमेंसे अधिकांश राज्योंमें इक्ष्वाकुवंशके लोगोंका प्राधान्य था। कोशलमें बहुत पहलेसे इक्ष्वाकुवंश चला आ रहा था और यहाँसे इस वंशकी शाखाएँ वैशाली और मिथिलामें जब गणतंत्रोंकी स्थापना हुई, तब इस वंशके लोगोंके रूपमें कई राज्योंमें पहुँच चुकी थीं। वैशालीके लिच्छवि, कुशीनगरके मल्ल, पिप्पलीवनके मोरीय, कपिलवस्तुके शाक्य और रामगाँवके कोलिय इक्ष्वाकुवंशी थे।

जितने गणतंत्र स्थापित हुए उनमें वृजिसंघ सबसे अधिक बलशाली और प्रतिष्ठित था। इसे बज्जीसंघ भी कहा जाता था। इसकी स्थापना विदेहके

राजतंत्रके समाप्त होनेपर हुई थी। इसमें विदेह, लिच्छवि, ज्ञातृक, वृजि, उग्र, भोग, कौरव और इक्ष्वाकु ये आठ कुल सम्मिलित थे। विदेहोंकी प्राचीन राजधानी मिथिला थी और यह वैशालीके गणतंत्रमें समाहित हो गयी थी। वृजि-राष्ट्रवासियोंमें लिच्छवि सबसे प्रशस्त थे। ये वाशिष्ठ गोत्रके थे। इसी कारण वाशिष्ठ भी कहे जाते थे। इनकी राजधानी वैशाली थी।

वृजि भी आठ कुलोंमेंसे एक था। संघका नाम इसी कुलके नामपर वृजि-संघ पड़ा था। लिच्छवियोंके समान वृजियोंका भी वैशाली नगरी और इसके उपनगरोंसे घनिष्ठ संबंध था। ज्ञातृक क्षत्रिय काश्यपगोत्री थे और इनकी राजधानी कुण्डपुर या कुण्डग्राममें थी। इसे क्षत्रियकुण्ड भी कहा जाता था। यह वैशालीका उपनगर था। उग्रोंका संबंध वैशाली और हस्तिग्रामसे था। भोग भोगनगरमें रहते थे। यह नगर वैशाली और पावाके बीचमें स्थित था। कौरवोंका वृजिसंघसे संबंध था। बौद्धधर्मके उदयके बहुत पहलेसे कुरु ब्राह्मण विदेहकी राजधानीमें बसने लगे थे। इक्ष्वाकुओंका वैशालीसे अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध था; क्योंकि विशालसे लेकर सुमति तक समस्त राजा इक्ष्वाकुवंशी थे।

वृजिसंघके सदस्य 'राजा' (गणपति) कहलाते थे। सात हजार सातसौ सात राजा थे। इतने ही उपराज (अध्यक्ष), इतने ही सेनापति और इतने ही भाण्डागारिक थे। सदस्योंमें उच्च, मध्य, वृद्ध और ज्येष्ठका भेदभाव नहीं था। प्रत्येक सदस्य अपनेको राजा मानता था। संस्थागारमें सदस्योंकी बैठकें हुआ करती थीं। मुख्य कार्य अष्टकुलों और नौ लिच्छवि गणराजाओंके द्वारा सम्पन्न होते थे। नौ लिच्छवियों, नौ मल्लकि इस प्रकार अठारह काशी-कोशलके गणराजाओंने मिलकर एक संघ बनाया था।

वृजिसंघ अपनी विशिष्ट न्यायप्रणालीके लिये प्रसिद्ध था। परम्परासे चला आया 'वज्जिधर्म' यह था कि वज्जिके शासक यह 'चोर है', 'अपराधी है' न कह कर व्यक्तिको विनिश्चय महामात्यके हाथमें सौंप देते थे। वह विचार करता, अपराधी न होनेपर छोड़ देता और अपराधी सिद्ध होनेपर वह उसे व्यावहारिक (न्यायाध्यक्ष) को दे देता। वह भी अपराधी जाननेपर सूत्रधारको दे देता, सूत्रधार निरपराध होनेपर छोड़ देता और अपराधी होनेपर अष्टकुलिकको सुपुर्द कर देता। अष्टकुलिक सेनापतिको, सेनापति उपराजको और उपराज राजाको दे देता। राजा विचारकर यदि अपराधी न हो, तो उसे छोड़ देता और अपराधी होनेपर 'प्रवेणि-पुस्तक' (दण्डविधान) के अनुसार दण्ड-व्यवस्था करता था। इस प्रकार वैशाली-गणतंत्रकी राज्य-व्यवस्था अत्यन्त दृढ़ और व्यवस्थित थी।

वैशाली नगरी चहारदीवारीसे घिरी हुई थी। यहाँ तीन प्रकारकी दीवालें थीं और प्रत्येक दीवाल एक दूसरीसे एक गव्यूति (एक कोस) पर स्थित थी। तीनों स्थानोंपर द्वार थे, जो गोपुरों और अट्टालिकाओंसे युक्त थे। वैशालीके तीन भाग थे। प्रथम भागमें स्वर्णके गोपुरोंसे युक्त सात हजार भवन, मध्य भागमें रजतके गोपुरोसे युक्त चौदह हजार भवन और अन्तिम भागमें ताम्रके गोपुरोंसे युक्त इक्कीस हजार भवन थे। इनमें उच्च, मध्यम और निम्नवर्गोंके व्यक्ति अपने-अपने पदोंके अनुसार निवास करते थे। वैशालीके निवासियोंने यह नियम बना रखा था कि प्रथम भागमें जन्मी कन्याका विवाह प्रथम भागमें ही होगा, द्वितीय या तृतीय भागमें नहीं। मध्य भागमें जन्मी कन्याका विवाह प्रथम और द्वितीय भागोंमें होगा और अन्तिम भागमें जन्मी कन्याका तीनोंमेंसे किसी भी भागमें विवाह किया जा सकता था। वैशालीका यह संविधान था कि वैशालीमें जन्मी कन्याका विवाह किसी दूसरे स्थानमें नहीं किया जा सकता है।

ये तीनों भाग वैशाली, कुण्डपुर और वणियगाम (वाणिज्यग्राम) रहे होंगे, जो सम्पूर्ण नगरके दक्षिण-पूर्वी, उत्तर-पूर्वी और पश्चिमी अंशोंमें व्याप्त थे। कुण्डपुरके अनन्तर उत्तर-पूर्वी दिशामें कोल्लाग-सन्निवेश था, जिसमें ज्ञातृ-कुलके क्षत्रिय निवास करते थे। वैशालीकी समृद्धि और परम्पराके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि वैशाली कुण्डग्राम और वाणिज्यग्राममें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य निवास करते होंगे। निश्चयतः उन दिनोंमें वैशाली बहुत ही समृद्ध और सुव्यवस्थित नगरी थी। इसमें सात हजार सात सौ सतहत्तर प्रासाद, इतने ही कूटागार, आराम और पुष्करिणियाँ थीं। यह नगरी अपनी रमणीयता, वितान-युक्त आँगन, द्वार, तोरण, गवाक्ष और हर्म्योंसे समलंकृत एवं पुष्पवाटिकाओं और कुसुमित वनोंसे युक्त थी। वैशालीमें सभी प्रकारकी फसलें उत्पन्न होती थीं। वहाँ के निवासी शांति और संतोषका जीवन व्यतीत करते थे। राष्ट्र धन-सम्पन्न और देवपुर-जैसा रम्य था।

उपनगर : कुण्डग्राम

वैशालीका कुण्डग्राम या क्षत्रियकुण्ड बहुत ही प्रसिद्ध और रमणीक था। यह कुण्डपुर या कुण्डग्राम दो भागोंमें विभक्त था—क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड। क्षत्रियकुण्डसन्निवेश ब्राह्मण-कुण्डपुर सन्निवेशसे उत्तर स्थित था। क्षत्रियकुण्डग्राममें ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका निवास था। बताया जाता है कि गंडकी नदीके पश्चिम तटपर ये दोनों ही कुण्डपुर स्थित थे और एक-दूसरेके पूर्व-पश्चिम पड़ते थे। कुण्डपुरका वर्णन महाकवि असगने अपने 'वर्द्धमानचरित' में किया है। यह नगर सभी प्रकारकी वस्तुओंसे युक्त परकोटा, खातिका, वापिका एवं वाटिकाओं-

से परिपूर्ण था। कोटके प्रान्त भागोंमें लगी हुई अरुणमणियाँ, पन्नाओंकी प्रभाके छायामय पटलोंसे परिपूर्ण होनेके कारण संध्याकालीन श्रीका सृजन करती थीं। भूमिपर जटित इन्द्रनीलमणियाँ अपनी आभासे भ्रमरोंकी भ्रांति उत्पन्न करती थीं। उन्नत भवन और रत्नजटित गोपुर अपने सौन्दर्यसे पथिकोंके मनको आकृष्ट करते थे। मुक्ताओंकी आभाके कारण इस नगरमें श्वेत किरणोंका वितान तना रहता था। धन-धान्य, पशु-सम्पत्ति आदिसे युक्त यह नगर प्रजा-जनोंको अत्यंत सुखप्रद था[1]। आचार्य जिनसेन प्रथमने भी विदेहदेशके अन्तर्गत कुण्डपुरका यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने लिखा है कि यह ऐसा सुन्दर नगर है जो इन्द्रके नेत्रोंको पंक्तिरूपी कमलिनियोंके समूहसे सुशोभित है तथा सुख-रूपी जलका कुण्ड है। यहाँ शंखके समान श्वेत एवं शरद् ऋतुके मेघके समान उन्नत भवनोंके समूहसे श्वेत हुआ आकाश अत्यन्त सुशोभित होता है। भवनोंके अग्रभागमें लगी हुई चन्द्रकान्तमणिकी शिलाएँ रात्रिके समय चन्द्रमारूपी पतिके करस्पर्शसे स्वेदयुक्त स्त्रियोंके समान द्रवीभूत हो जाती हैं। भवनोंके अग्रभागमें जटित सूर्यकान्तमणियाँ अत्यन्त देदीप्यमान हैं। भवनोंके शिखरपर जटित पद्मराग-मणियाँ सूर्यकी किरणोंके संसर्गसे अत्यन्त अनुरक्त अङ्गनाकी तरह दिखलायी पड़ती हैं। इस नगरमें कहीं मोतियोंकी मालाएँ लटक रही हैं, कहीं मरकत-मणियोंका प्रकाश व्याप्त हो रहा है, कहीं हीरकप्रभा फैल रही है, तो कहीं वैडूर्य-मणियोंकी नीली-नीली आभा छिटक रही है। यह नगरी कोटरूपी पर्वतोंके बड़े-बड़े धूलि कुट्टिम और परिखासे वेष्टित है। इस नगरीका अतिक्रमण करनेमें

---

१. तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं भास्वत्कलाधरबुधैः सवृषं सतारं।
अध्यासितं वियदिव स्वसमानशोभं ख्यातं पुरं जगति कुंडपुराभिधानं॥
प्राकारकोटिघटितारुणरत्नभासां छायामयैः परिगता पटलैः समंतात्।
आभाति वारिपरिखा नितरामनेका संध्याश्रियं विदधतीव दिवापि यत्र॥
धौतेन्द्रनीलमणिकल्पितकुट्टिमेषु यत्रोपहाररचितान्यसितोत्पलानि।
एकीकृतान्यपि सलीलतया प्रयांति व्यक्तिं पतद्भ्रमरहुंकृतिभिः समंतात्॥
जैत्रेषवः सुमनसो मकरध्वजस्य निस्तेजितांबुजरुचो शशलक्ष्मभासः।
अप्रावृषोः नवपयोधरकांतियुक्ता यस्मिन्विभान्त्यसरितःसरसा रमण्यः॥
अत्युन्नताः शशिकरप्रकरावदाता मूर्धस्थरत्नरुचिपल्लवितांतरिक्षाः।
उत्संगदेशसुनिविष्टमनोज्ञरामाः पौरा विभांति भुवि यत्र सुधालयाश्च॥
लीलामहोत्पलमपास्य कराग्रसंस्थं कर्णोत्पलञ्च विगलन्मधु यत्र भृंगाः।
निश्वाससौरभरता वदने पतन्ति स्त्रीणां मृदुर्मृदुकराहतिभीप्सवश्च॥
—महाकवि असग विरचित वर्धमानचरित, सर्ग १७, पद्य ७-१२.

शत्रु सदा असमर्थ रहते हैं। धान्य, गोधन एवं अन्य आवश्यकताकी सभी वस्तुएँ इस कुण्डपुरमें समवेत हैं। यहाँके निवासी इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय, प्रजाके संरक्षण और अभ्युदयमें निरन्तर तत्पर हैं। नगरका आयाम कई मील विस्तृत है। पंक्तिबद्ध भवन, कमलयुक्त सरोवर एवं विभिन्न प्रकारकी कमलिनियोंसे युक्त पुष्करिणियाँ अपने सौन्दर्यसे जन-मानसको आकृष्ट करती हैं[1]।

यह कुण्डपुर वर्त्तमानमें बसाढ़ या बासुकुण्डके नामसे प्रसिद्ध है। इस नगरके शासनप्रमुख राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमतीसे उत्पन्न महाराज सिद्धार्थ थे। सिद्धार्थको क्षत्रियकुण्डग्रामका प्रमुख शासक माना गया है। इनकी राज्य-व्यवस्थामें इतिहासका कलुषित पृष्ठ उज्ज्वल हो उठा था।

वैशाली कृतार्थ हो गयी

वैशाली-गणतंत्र उन दिनोंमें सर्वाधिक शक्तिशाली और लोकप्रिय थी। वैशालीके अधिनायक महाराज चेटक थे। इन्हें काशी-कोशलके नौ लिच्छवियों और नौ मल्ल राजाओंका भी अधिनायक माना गया है। चेटकका ज्येष्ठपुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र था, जो वज्जिगणका प्रधान सेनापति था। चेटक निर्ग्रन्थ श्रमणोंका उपासक था। इसकी सात कन्याएँ थीं, जिनमें प्रभावतीका विवाह वीतिभयके राजा उद्रायणके साथ हुआ था। पद्मावतीका कौशाम्बीके नरेश शतानीकके साथ, शिवाका उज्जयिनीके राजा प्रद्योतके साथ, त्रिशलाका वैशालीके उपनगर कुण्डपुरके राजा सिद्धार्थके साथ, चेलनाका राजगृहके राजा श्रेणिकके

---

१. तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डनम् ।
मुखाम्भःकुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥
यत्र प्रासादसङ्घातैः शङ्खशुभ्रैर्नभस्तलम् ।
धवलीकृतमाभाति शरन्मेघैरिवोन्नतैः ॥
चन्द्रकान्तकरस्पर्शाच्चन्द्रकान्तशिलाः निशि ।
द्रवन्ति यद्गृहाग्रेषु प्रस्वेदिन्य इव स्त्रियः ॥
सूर्यकान्तकरासङ्गात् सूर्यकान्ताग्रकोटयः ।
स्फुरन्ति यत्र गेहेषु विरक्ता इव योषितः ॥
पद्मरागमणिस्फीतिर्यत्र प्रासादमूर्धनि ।
इनपादपरिष्वङ्गादङ्गनेवातिरज्यते ॥
मुक्तामरकतालोकैर्वज्रवैडूर्यविभ्रमैः ।
एकमेवं सदा धत्ते यत्समस्ताकरश्रियम् ॥
शालशैलमहावप्रपरिखापरिवेषिणः ।
यस्योपरि परं गच्छत्यमित्रेतरमण्डलम् ॥
—हरिवंशपुराण, २।५-११.
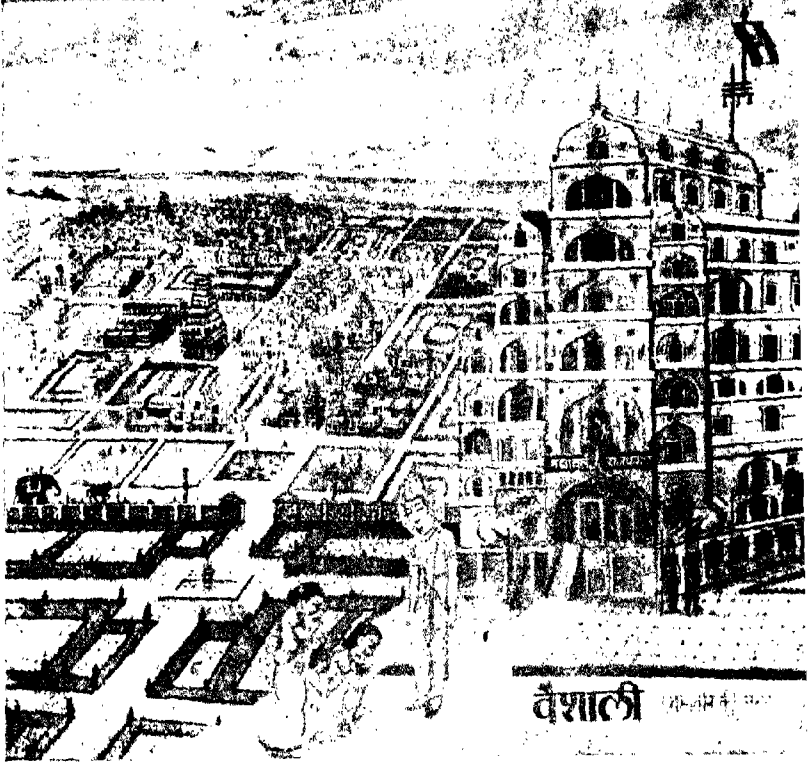
सप्ततल नन्द्यावर्त राजप्रासाद

जहाँ राजा सिद्धार्थकी प्रसन्नबुद्धि रानी त्रिशलाने महावीरको जन्म दिया था

आषाढस्य सिते पक्षे षष्ठ्यां शशिनि चोत्तरा-

पाढे **सप्ततलप्रासादस्याभ्यन्तरवर्तिनि** ॥

नन्द्यावर्तगृहे रत्नदीपिकाभिः प्रकाशिते ।

रत्नपर्यंके हंस-तूलिकादिविभूषिते ॥

आचार्य गुणभद्र, महापुराण-उत्तरपुराण

७४।२५३-५४

साथ एवं छठी कन्या सुज्येष्ठाका विवाह अवन्तिनरेश चण्डप्रद्योतके साथ हुआ था। सातवीं कन्या चन्दना अविवाहित रह गयी थी, जिसने दीक्षा-ग्रहण की।

चेटकके प्रभावकारी व्यक्तित्वके कारण अन्य देशोंके नरेश भी उनका सम्मान करते थे। चम्पाके राजा दधिवाहन, कलिंगनरेश जितशत्रु, श्रावस्तीनरेश प्रसेनजित, मथुराके राजा उदितोदय, हेमांगदनरेश जीवंधर, पोदनपुरनरेश विद्रराज, पोलाशपुरनरेश विजयसेन, पांचालनरेश जय एवं हस्तिनापुरनरेश चेटकके मित्र राजाओंमें परिगणित थे।

महाराज चेटकके इन संबंधोंके कारण वैशालीकी प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गयी थी और वैशालीके उपनगर कुण्डपुरमें तीर्थंकर महावीरका जन्म होनेसे वैशालीकी भूमि कृतार्थ हो गयी। वहाँका अणु-अणु पावन हो पाप और अनाचारके बोझको दूर करनेके लिये कृतसंकल्प था। वैशालीकी प्रजा सुखी और समृद्ध तो थी ही, यहाँ न कोई शोषणकर्त्ता था और न कोई शोषक ही था। सभी एक-दूसरेपर विश्वास और प्रेम रखते थे। सरलता, शिष्टता, निश्छलता, सादगी और सत्यका पूर्ण साम्राज्य था। तीर्थंकर पार्श्वनाथकी परम्पराने लोकमानस-को जनोद्धारके लिये कृतसंकल्प कर दिया था। प्राचीकी भाँति वैशालीकी प्रत्येक दिशा ज्योतिर्मती हो रही थी।

महाराज चेटक अपनी कन्या त्रिशलाका पाणिग्रहण सिद्धार्थके साथ सम्पन्न कर सुख और शांतिकी साँस ले रहे थे। त्रिशला स्वभावसे कोमल, वाणीसे मृदु और हृदयसे उदार थी। उसके व्यक्तित्वकी मधुर छाप प्रत्येक व्यक्तिके अंतस्तलपर पड़ती थी। जो भी उसे देखता सहज ही उसका भक्त बन जाता। प्रिय और मधुर वचन बोलनेके कारण तथा छोटे-बड़े सभीके प्रति प्रिय व्यवहार करनेके कारण उसका अपर नाम प्रियकारिणी भी था। प्रिय करना और प्रिय बोलना त्रिशलाका सहज संस्कार था। आचार्य जिनसेनने प्रियकारिणी या त्रिशलाके गुणोंका चित्रण करते हुए उसे स्नेह-पयस्विनी कहा है[१]। अपने उदात्त गुणोंके कारण त्रिशलाने महाराज सिद्धार्थके मनको वशीभूत कर लिया था। कुण्डपुरके नैसर्गिक सौन्दर्यमें प्रियकारिणीकी सत्ताने कई गुनी वृद्धि कर दी थी। धर्मवत्सल महाराज सिद्धार्थ त्रिशलाको प्राप्तकर बड़भागी बन गये थे। वैशालीका

---

१. उच्चैः कुलाद्रिसम्भूता सहजस्नेहवाहिनी।
महिषी श्रीसमुद्रस्य तस्यासीत् प्रियकारिणी॥
चेतश्चेटकराजस्य यास्ताः सप्तशरीरजाः।
अतिस्नेहाकुलं चक्रुस्तास्वाद्या प्रियकारिणी॥
—हरिवंश-पुराण, २।१६-१७.

गणतंत्र विश्वका धर्मनायक बननेके लिये प्रयत्नशील था। महाराज सिद्धार्थ ज्ञातृवंशके वैभव महावीरके जन्मकी अगवानी कर रहे थे। सारा कुण्डपुर सहज उमंग और उल्लासका अनुभव कर रहा था। नगरकी प्रत्येक डगर आनन्दमें डूबी हुई थी और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि कोई निधि यहाँ उद्भूत होनेवाली है।

सूखे धरतीके आँसू

अज्ञानवाद, अनिश्चितवाद, नियतिवाद, भौतिकवाद, अक्रियावाद, यज्ञवाद एवं क्रियाकाण्डवादने समाजमें निराशा उत्पन्न कर दी थी। फलतः समाज-विकृतिके कारण धरतीके नेत्रोंसे भी आँसू झर-झर कर गिरते थे। जब-जब धरतीपर पाप और अत्याचार बढ़े, महान् आत्माओंने जन्म ग्रहण किया। सभीने अपने-अपने ढंगसे मानव-समाजको राह दिखायी, संसारके दुःखोंको दूर करनेका संकल्प लिया, वैशालीकी धरती और आँगन महावीरके आविर्भावकी प्रतीक्षामें आँसू बहा रहा था। धरा पर चारों ओर अन्धकार आच्छादित था। विवेकका मार्ग अवरुद्ध था। फलतः उनके आगमनकी प्रतीक्षामें धरती मुस्कुरा उठी थी।

पृथ्वीके आँचलसे शनैः शनैः सुखकी मणियाँ लुप्त होती जा रही थीं और दुःखकी काली छाया चारों ओर बढ़ रही थी। यद्यपि देशमें धन, सम्पन्नता और खाद्य-सामग्रीका अभाव नहीं था, पर दास और सेवकोंके साथ किये जानेवाले वर्बरता-पूर्ण व्यवहार धरतीके हृदयको कचोट रहे थे। पापपूर्ण वासना और विलासिताके प्रचण्ड अग्नि-कुण्डमें दी जानेवाली आहुतिसे निःसृत धूम-कालुष्यने आकाशको आच्छादित कर लिया था। स्त्री और पुरुष दोनोंने ही नीति और धर्मके आँचलको छोड़ दिया था और दोनों ही कामुकताके पंकमें फँसे हुए थे। आचार-विचार, शील-संयमकी अवहेलनाने धरतीके हृदयको मथ दिया था। लोगोंका ध्यान मन-प्राण और आत्माकी धवलतासे हटकर शरीरपर केन्द्रित हो गया था। लोग शरीरको ही सर्वस्व मानने लगे थे। मांस-भक्षण, मदिरा-पान, द्यूत-क्रीड़ा आदिने धरतीको यंत्रणाका लोक बना दिया था। वर्णाश्रमधर्मका अर्थ स्वार्थकी संकीर्ण सीमामें आबद्ध हो गया था। शूद्र एवं चाण्डालोंका दर्शन भी अशुभ समझा जाता था और उनकी छायाका स्पर्श होते ही स्नानकी व्यवस्था की जाती थी। अतएव धरतीका पुलकित होना आरम्भ हुआ और वैशालीमें जगत्‌वंदनीय महावीरने जन्म ले धराको धन्य किया। निश्चय ही वैशालीकी धरती कितनी पूज्य है, जिसकी गोदमें तीर्थंकर महावीरने क्रीड़ा की है।

वैशालीका परिसर कुण्डपुर पुलकित हो उठा। शत-शत वसन्त खिल उठे, सदानीरा(आधुनिक नारायणी-गंडकी)तरंगित हो गयी और कोटि-कोटि मानवोंने

चन्दनके समान उस धरतीका वन्दन किया। शस्य-श्यामला धरतीकी छटा अनुपम हो गयी। वैशालीकी गौरव-गाथाएँ लोकको आकृष्ट करने लगीं और धरासे सुरभित उच्छ्वास निकलने लगा।

सूखे पेड़-पौधे हरीतिमाकी चादरसे आच्छादित हो गये। नदी-नालोंमें जल उफान लेने लगा। वृक्षोंकी गोद फूलोंसे भर गयीं और खेतोंमें अनाजकी बालोंसे लदे हुए पौधे झूमने लगे। पक्षियोंका कंठ खुल गया, जन-जनके हृदयका उल्लास फूट पड़ा, धरती और धरतीके लोग, उस दिव्य ज्योतिके आगमनकी प्रसन्नतामें स्वर्ग और स्वर्गके देवताओंसे स्पर्धा करने लगे।

त्रिशलाका स्वप्न-दर्शन

तीर्थंकर महावीर जब गर्भमें अवतरित हुए, उस समय त्रिशलाके मुखमण्डलपर दिव्य आभा विचरण करने लगी। उनके हृदयमें दिव्य ज्ञानका अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ और उनके पुण्यके शत-शत कमल विकसित होने लगे। त्रिशला-के अंग-प्रत्यंग स्फुरित होने लगे और आनन्दसूचक शुभ शकुन दिखलायी पड़ने लगे। धरापर ही नहीं, स्वर्गमें भी इन्द्रको माँ त्रिशलाकी सेवाकी चिन्ता उत्पन्न हुई। उसने देवांगनाओंको कुण्डपुरमें प्रेषित कर त्रिशलाकी सेवाकी व्यवस्था की। इन्द्रने कुबेर द्वारा रत्न और धन-सम्पत्तिकी वृद्धि कर विदेहदेशको समृद्ध बनाया। महाराज सिद्धार्थ विवेक और नीतिके मार्गपर चलते तथा सभी प्रकार-से प्रजाका मंगल और कल्याण करनेमें तत्पर रहते।

गर्भाधानसे छः महीने पहले ही महाराज सिद्धार्थके यहाँ धन-धान्यकी वृद्धि होने लगी। सुगंधित जलवृष्टि, फल-पुष्पोंकी वृद्धि एवं स्वर्ण-रत्न-भण्डारकी समृद्धि होने लगी।

अच्युत स्वर्गसे च्युत हो तीर्थंकर महावीरका जीव १७ जून ई० पू० ५९९ शुक्रवारके दिन आषाढ़ शुक्ला षष्ठीको त्रिशलाके गर्भमें प्रविष्ट हुआ। प्रिय-कारिणी त्रिशला अपने राजभवनमें निद्रालीन थी। रात्रिके पिछले प्रहरमें उनकी पलकोंपर एक सुहावनी स्वप्न-पंक्ति उतरती दिखलायी पड़ी। हस्तोत्तर आषाढ़शुक्ला षष्ठीकी रात्रिका अन्तिम प्रहर संसारके लिये विभूतिके उदयका निमित्त बना। त्रिशलाने देखा कि उसके सामने मदसे झूमता हुआ उन्नत गज उसके उदरमें प्रविष्ट हो रहा है। इतना ही नहीं उसने भविष्यसूचक सोलह स्वप्नोंका दर्शन किया। स्वप्न-दर्शनसे ही उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा था। उसके हृदयमें हर्षकी लहरें उत्पन्न हो रही थीं और मन-मयूर नृत्य कर रहा था। सोलह स्वप्न निम्न लिखित हैं :—

१. चार दाँतों वाला उन्नत गज,
२. श्वेत वर्णका उन्नत स्कंधवाला वृषभ,
३. उछलता हुआ सिंह,
४. कमलसिंहासनपर स्थित लक्ष्मी,
५. सुगन्धित भव्य मन्दारपुष्पोंकी दो मालाएँ,
६. नक्षत्रोंसे परिवेष्ठित चन्द्र,
७. उदयाचलपर अंगड़ाई भरता हुआ सूर्य,
८. स्वच्छ जल परिपूरित दो स्वर्णकलश,
९. जलाशयमें क्रीड़ारत मत्स्यद्वय,
१०. स्वच्छ जलसे भरपूर जलाशय,
११. गम्भीर घोष करता हुआ सागर,
१२. मणिजटित सिंहासन,
१३. रत्नोंसे प्रकाशित देव-विमान,
१४. धरणेन्द्रका गगनचुम्बी विशालभवन—नाग-विमान,
१५. रत्नोंकी विशालराशि,
१६. निर्धूम अग्नि ।

स्वप्न-बेलाके समय हस्त नक्षत्र था, जो मंगल और विभूतिका प्रतीक है। स्वप्नदर्शनके अनन्तर त्रिशलाकी निद्रा भंग हुई और वह सोचने लगी—आज कभी भी इस प्रकारके स्वप्न दिखलायी ही नहीं पड़े। क्या कारण है कि आज तक मेरे मनमें हर्ष और उल्लास इतना अधिक बढ़ रहा है ? जिस बातकी कल्पना मैंने कभी जागृत अवस्थामें नहीं की, वह स्वप्नमें क्यों आई? कर्मबद्ध प्राणीकी क्रियाएँ भूत और भावी जीवनको सूचना देती हैं। स्वप्नका अंतरंग कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायके क्षयोपशमके साथ मोहनीयका उदय है। जिस व्यक्तिके जितना अधिक इन कर्मोंका क्षयोपशम रहता है, उस व्यक्तिके स्वप्नोंका फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलता है। तीव्र कर्मोदयवाले व्यक्तियोंके स्वप्न निरर्थक एवं सारहीन होते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि सुषुप्तावस्थामें भी आत्मा तो जागृत रहती है, केवल इन्द्रियों और मनकी शक्ति विश्राम करनेके लिये सुषुप्त-सी हो जाती है।

जिस व्यक्तिके ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम है, उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय और मन-संबन्धी चेतनता और ज्ञानावस्था अधिक रहती है। अतएव ज्ञानकी मात्राकी उज्ज्वलतासे निद्रित अवस्थामें जो कुछ दिखलायी पड़ता है उसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्त्तमान और भावी जीवनसे है। पौराणिक अनेक

आख्यानोंसे भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्न मानवको उसके भावी जीवनमें घटित होनेवाली घटनाओंकी सूचना देते हैं। मेरे द्वारा देखे गये ये स्वप्न सामान्य नहीं हैं। इनसे अवश्य ही भविष्यकी सूचनाएँ उपलब्ध होंगी।

त्रिशला जैसे-जैसे स्वप्नोंके सम्बन्धमें विचार करती है, वैसे-वैसे उसका मानसिक तनाव बढ़ता जाता है। उसकी चिन्तनधारा स्वप्नोंका फल अवगत करनेके लिये उतनी ही अधिक प्रबल होती जाती है। उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती है और वह अपने द्वारा देखे गये स्वप्नोंका फल ज्ञात करनेके लिये अपने पति महाराज सिद्धार्थके पास जानेका निश्चय करती है।

नित्य-कर्मसे निवृत्त हो त्रिशला उल्लास और हर्षसे विभोर होकर वस्त्रा-भूषण धारण करती है और पूर्णतया अपनेको सज्जित कर राजसभामें चलनेके लिये तैयार हो जाती है।

राजसभामें पहुँचनेपर महाराज सिद्धार्थ उठकर उनका स्वागत-सम्मान करते हैं और अर्द्धासन दे त्रिशलाको यथोचित स्थान देते हैं। सभी सभासद उठकर महारानीका जय-जयकार करते हुए अभिननन्दन करते हैं।

महाराज सिद्धार्थ—"देवी ! आपने इतने सबेरे राजसभामें आनेका क्यों कष्ट किया ? यदि कोई आवश्यकता थी, तो मुझे ही क्यों नहीं बुला लिया ? मैं आपका आदेश प्राप्त करते ही अन्तःपुरमें चला आता।"

त्रिशला—कोकिलकंठसे कहने लगी—"स्वामिन् ! मैंने रात्रिके पिछले प्रहरमें सोलह स्वप्न देखे हैं। इन स्वप्नोंका फल जाननेके लिये मेरा मन बेचैन है। निमित्तशास्त्रमें अन्तिम प्रहरमें देखे गये स्वप्नोंको भविष्यफलसूचक बतलाया गया है। मैं इन स्वप्नोंका फल जाननेकी इच्छासे आपके समक्ष उपस्थित हुई हूँ। कृपया मेरे देखे गये सोलह स्वप्नोंका फल बतलाइए।"

महाराज सिद्धार्थ त्रिशला द्वारा बतलाये गये सोलह स्वप्नोंको सुनकर कहने लगे—"देवि ! तुम्हारे गर्भसे एक महान् विभूति जन्म लेनेवाली है, जिसके अस्तित्व मात्रसे अन्याय, हिंसा, असत्य, परिग्रह, संघर्ष, अत्याचार आदिका अन्त हो जायेगा। त्रिशले ! तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो कि तुम्हारी कुक्षिसे एक अपराजिता ज्योति प्रादुर्भूत होनेवाली है। युग आयेंगे और जायेंगे, पर तुम्हारे पुत्रकी कीर्ति-गाथा सर्वत्र और सदैव गूँजती रहेगी। वह देवोंके देव और अमरोंके भी श्रद्धा-पात्र होंगे। उनकी चरण-वन्दनाके लिये मनुष्योंकी तो बात ही क्या इन्द्र भी लालायित रहेंगे। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ तो उनके चरणोंपर लोटती रहेंगी। वह लोक-कल्याणके लिये अपने सुखका त्यागकर अलख जगायेगा।"

गज : तीर्थनायक

गज स्वप्नशास्त्रमें महत्ताका प्रतीक है। इस स्वप्न-दर्शन द्वारा महान् तीर्थ-प्रचारक होनेकी सूचना प्राप्त होती है। त्रिशले ! तुम्हारा बालक महान् होगा, संतप्त विश्वका उद्धारक होगा और तीर्थनायक बनकर अनेकान्त-शासनका पुनरुद्धारक और प्रचारक होगा। गर्भस्थ बालक अपने उदात्त गुणोंके कारण तीर्थंकर पदको प्राप्त करेगा और इसके द्वारा अहिंसाका सार्वजनीन प्रचार होगा। अहिंसा, अभय और समताके भावोंका प्रसार होगा।

स्वप्नशास्त्रके अनुसार चतुर्दन्त गजको किसी महान् अभ्युदयकी प्राप्तिका प्रतीक माना जाता है। जो गज उन्नत और पुष्ट होता है, उसका स्वप्नदर्शन भावी अभ्युदयका निमित्त समझा जाता है। राज्यलक्ष्मी उसके चरणोंकी सेवा करती है। लौकिक अभ्युदय उसे घेरे रहते हैं, पर वह मनुष्यजातिके अभ्युत्थानके लिये कृतसंकल्प रहता है। वह अपनी साधनामें चुपचाप बढ़ता जाता है और करुणाका अवतार बनकर जगत्का उद्धारक बनता है।

श्वेत वृषभ : सत्यप्रवर्त्तक

जब स्वप्नमें उन्नत स्कंध वाले श्वेत वृषभका दर्शन होता है, उस समय उस स्वप्न-दर्शन द्वारा भावी बालकको सत्य-धर्मका प्रचारक समझा जाता है। निश्चयतः यह स्वप्न पवित्र आचरणसम्पन्न, दिव्यज्योतिके प्रादुर्भावका सूचक है। इस स्वप्न द्वारा निर्भीकता, सहिष्णुता और समत्वकी सूचना प्राप्त होती है। लोककल्याण सत्य-धर्ममें निहित है। इस सत्यका साक्षात्कार उग्र तपश्चरण, वासनाओंसे युद्ध एवं आसक्तियोंके संघर्ष-विजय द्वारा होता है। गर्भस्थ बालक मार्ग-भ्रष्ट जनमानसको सत्यके लिये प्रेरित करेगा। जगतमें व्याप्त अज्ञानरूपी अन्धकारको छिन्नकर शान्ति और कल्याणका सन्देश देगा। बालकके जन्मसे देश और धरा तीर्थ बन जायँगी। युगों तक विश्वकी मृत्तिका चन्दन बनकर महकती रहेगी। कोटि-कोटि मानव उसके द्वारा पावन की गयी मिट्टीमें लोटकर अपने तन-मनको पवित्र बनायेंगे। बालकके त्याग और तपश्चरणसे सुख-सरिताएँ तरंगित हो जायँगी। श्रद्धाकी त्रिवेणी प्रवाहित होने लगेगी। मृत्युविजेता हो वह धरतीकी गोदको अक्षय सुख और शान्तिकी मणियोंसे भर देगा। सत्यका आलोक प्रस्फुटित हो जायगा। यह स्वप्न सत्यसन्ध और धर्मनिष्ठ होनेका प्रतीक है। बालक धर्मविशेषका प्रतिनिधि हो जनताको शान्ति और सुख प्रदान करेगा।

सिंह : अनन्त ऊर्जाका द्योतक

स्वप्नशास्त्रमें सिंहको बल, प्रताप और पौरुषकी वृद्धिका प्रतीक माना गया है। युद्ध-क्षेत्रमें शत्रुओंको परास्त करने योग्य सामर्थ्यकी सूचना भी इस

स्वप्नसे प्राप्त होती है। देवि ! तुमने स्वप्नमें उछलते हुए सिंहका दर्शन किया है, जिसका फल गर्भस्थ बालकको अतुलपराक्रमी और शूर-वीर होना है। बालक अपनी अपार ऊर्जाको प्रादुर्भूत कर कर्म-शत्रुओंको नष्ट कर आत्मज्योति प्राप्त करेगा। उसके मनमें न कोई तनाव होगा, न कोई चिन्ता होगी और न वह संसारके प्रलोभनोंमें आसक्त रहेगा। जन्मसे ही वह आत्मद्रष्टा होगा। बड़े-बड़े सम्राट् और इन्द्र-धरणेन्द्र उसके चरणोंकी वन्दना करेंगे। श्रम, साधना और तपके माध्यमसे अपनी अनन्त ऊर्जाका विकास कर परमात्मपद प्राप्त करेगा। बालककी ऊर्जा पूर्णतया प्रस्फुटित होगी और उसके अध्यात्म-पराक्रमकी सभी लोग प्रशंसा करेंगे।

मन्दार-पुष्पमाला : दिग्दिगन्त यशःसुरभि-विस्तार

मन्दार-पुष्पोंकी माला उत्सव, यश एवं प्रसिद्धिकी सूचक है। इस स्वप्न-दर्शन द्वारा बालकके यशस्वी होने एवं उसके कान्तिमान सुरभित सुस्फीत शरीरकी सूचना मिलती है। यह स्वप्न अनेक शुभ लक्षणोंका सूचक है। बालकका शरीर सुगन्धित एवं अनेक शुभ लक्षणोंसे युक्त होगा। यह इन्द्रियोंका निग्रह कर संयम और समताका आचरण करेगा।

लक्ष्मी : इन्द्र-देवेन्द्रों द्वारा वन्दनीय

लक्ष्मी-दर्शनसे यह प्रकट होता है कि सुमेरु पर्वतपर सौधर्म आदि इन्द्रोंके द्वारा बालकका जन्माभिषेक सम्पन्न किया जायगा। राजा-महाराजाओंके साथ इन्द्र, धरणेन्द्रादि उसके चरणोंकी पूजा करेंगे। तीर्थंकरप्रकृतिके अतिशय पुण्य-प्रभावके कारण जन्मसे छः महीने पहलेसे ही कुवेरादि धन-सम्पत्तिकी वृद्धि करेंगे। बालक अतिशय पुण्यके प्रभावसे सभीका लोकप्रिय होगा। वह केवलज्ञानादि लक्ष्मीका प्राप्तिकर्त्ता होकर पुनर्जन्म, आत्मा एवं षट्द्रव्योंके महत्त्वका प्रतिपादन करेगा। बालकके सौम्य दर्शनसे सिंह और गाय एकसाथ निवास करेंगे।

चन्द्र : अमृत-वर्षण

स्वप्नमें चन्द्रमाका दर्शन अमृत-वर्षाका प्रतीक माना जाता है। गर्भस्थ बालककी वाणीसे कोटि-कोटि मानवोंके हृदयोंकी मलिनता दूर होगी। उनके अमृत-स्पर्शसे सर्वत्र शीतलता व्याप्त हो जायगी। धर्मामृतके वर्षणसे जगतका सन्ताप दूर होगा। धर्मामृत प्राणोंमें नव शक्तिका संचार करेगा। नश्वरको स्थायित्व प्रदान करेगा। इनके धर्मामृतसे संसारके क्लेश मिट जायेंगे, मलिनताके बादल छँट जायँगे और पारस्परिक पृथकताओंकी दूरी सिकुड़कर समाप्त हो जायगी। धर्मके सम्बन्धमें विकृत हुई भावनाका अन्त होगा। विपरीत

व्याख्याएँ समाप्त हो जायँगी और सत्यका आलोक प्राप्त होगा। महावीरकी अमृत-वर्षा शीतल और सुखकर होगी। आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान प्राप्त होगा। अहिंसाका चन्द्रोदय जगतके प्राणियोंका पथ-प्रदर्शन करेगा। संसार-समुद्रमें निमग्न प्राणियोंको वह सहारा देगा, त्राण करेगा, शरण देगा, गति देगा और प्रतिष्ठा प्रदान करेगा। इनका धर्मामृत क्षुधितोंकेलिये भोजनसदृश, प्यासोंकेलिये जलसमान और रोगियोंकेलिये औषधसमान होगा। इनकी वाणी अमृतका अक्षय कोष होगी।

सूर्य : दिव्यज्ञानप्राप्ति

सूर्य-दर्शनसे भावी बालक अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला और सूर्यके समान भास्वर केवलज्ञानको प्राप्त करेगा। यों तो जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधिज्ञानका धारी होगा, पर वह अपने त्याग, तपश्चरण द्वारा कर्मकालिमाको भस्मकर केवलज्ञान प्राप्त करेगा। पूर्णज्ञानी ही जगतके उत्थानका कार्य कर सकता है। केवलज्ञानकी ज्योतिके समक्ष अगणित दीपक और असंख्य सूर्य-चन्द्र निस्तेज हो जाते हैं। बालकको जगतके अनिवार्य कोलाहलके मध्य आत्माका संगीत सुनायी पड़ेगा। उनकी ज्ञान-ज्योति सरागताको समाप्त कर वीतरागताका विकास करेगी। तालाबोंमें ही नहीं, पृथ्वीपर भी इस दिव्यज्ञान-मार्त्तण्डके आलोकसे कमल विकसित हो जायेंगे।

जलपूर्ण कलश : करुणाका प्रसार

जलपूरित दो स्वर्ण-कलशोंका दर्शन गर्भस्थ बालकके कल्याणकारी सुन्दर एवं ध्यानरत होनेका सूचक है। यह स्वप्न करुणाका प्रतीक है। बालक करुणासे द्रवीभूत हो अहिंसाके मार्गका प्रचार करेगा। उसका समस्त जीवन हिंसाके विरुद्ध संघर्ष करने और अहिंसाके प्रचारमें व्यतीत होगा। जिस प्रकार भयसे समाकुल प्राणियोंके लिये बलवानकी शरण आधार है, उसी प्रकार विश्वके दुःखोंसे भयभीत प्राणियोंके लिये अहिंसा आधार है। अहिंसाकी मंगलमयताका उद्घोष इस बालक द्वारा होगा। मन, वचन और कर्म द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मित्रताका भाव स्थापित कर करुणाकी प्रतिष्ठा करेगा। अनुकम्पा, दया, करुणा, सहानुभूति और संवेदना आदिको अहिंसाके अन्तर्गत सिद्ध करेगा।

मत्स्ययुगल : अनन्त सौख्यकी उपलब्धि

मत्स्ययुगलको अनन्त सुखकी उपलब्धिका सूचक बताया गया है। स्वप्न-शास्त्रमें मत्स्य-दर्शनको भावी सुख-समृद्धिका प्रतीक माना है। व्यक्ति प्रमाद-रहित हो अपने पुरुषार्थमें अहर्निश जागरूक रहता है और उसे अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निस्संदेह यह बालक सर्वजनकल्याणक और सुखी होगा।

जलाशय : संवेदनशीलता

जलाशय संवेदनशीलताका प्रतीक है। गर्भस्थ बालक मानव-चेतनाका अध्ययन कर संवेदनशील होगा और पथभ्रष्ट मानवताको कल्याणके पथपर पहुँचायेगा। वह पशुओंका गोपाल, शूद्र और नारियोंके आंसुओंको अपने हाथोंसे पोंछनेवाला, सर्वधर्म-समभावी और विश्वमैत्रीका प्रचारक होगा। अज्ञान-तिमिरको दूर हटाकर नव प्रकाश विकीर्ण करेगा और रोते हुए लोगोंके आँसुओंको पोंछकर उन्हें गोदीमें बैठायेगा। दलित और पतित मानवोंको कण्ठसे लगायेगा, उन्हें सहारा देगा और जाति-मदके विषको दूर कर अमृतमें परिणत करेगा। आडम्बर और गुरुडमको दूर कर अपनी संवेदना द्वारा शान्तिका सन्देश देगा। इतना ही नहीं, वह दुःखी जगतको अपनी सहानुभूति और संवेदना द्वारा सांत्वना देगा।

सागर : हृदयकी विशालता

गम्भीर घोष करते हुए समुद्रका स्वप्न हृदयकी विशालताका प्रतीक है। मोघजीवी स्वार्थी पण्डितोंने मानवताके अधिकारसे वंचित कर जनसामान्यको निरुपाय और निःसहाय बना दिया है। ऐसे व्यक्तियोंको राहत पहुँचाना और उन्हें खोये हुए अधिकारोंकी पुनः प्राप्ति कराना गर्भस्थ बालकका कार्य होगा। उसके हृदयकी विशालता ही हिंसापूर्ण क्रिया-काण्ड, जातिमद, स्वार्थ-वश ऊँच-नीचत्व, आदिका निरसनकर मानवताकी यथार्थ प्रतिष्ठा करेगी। वह अतिभोग और अभावग्रस्त प्राणियोंका विवेक जागृत कर उन्हें मानव बनने के लिये प्रेरित करेगा।

मणिजटित सिंहासन : वर्चस्व और प्रभुत्व

मणिजटित सिंहासन भावी बालकके वर्चस्व और प्रभुत्वका प्रतीक है वह अन्तःसम्पदा और अक्षयनिधि प्राप्त करेगा। उसके जीवनमें कर्त्तृत्व और भोक्तृत्वकी अप्रतिम भावसंज्ञाएँ विसर्जित हो जायँगी। प्रज्ञाका धनी वह महाचेता बन अपनी चेतनाका ऊर्ध्वीकरण कर स्थिर-प्रज्ञताको प्राप्त करेगा। प्रेम, करुणा और वात्सल्यकी अनन्ततामें वह समा जायगा। उसके चित्तकी चंचलता, चेतनाकी चिन्मयतामें रूपान्तरित्त हो जायगी। आत्माकी गतिशीलता अन्तश्चेतनाके उर्ध्वीकरणका सृजन करेगी। उसका पौरुष जीवनसे पलायन नहीं, जीवनकी अन्तर्निहित शक्तियोंका स्फुरण करेगा।

देव-विमान : कीर्ति

स्वप्नमें देव-विमानके दर्शनसे यह सूचित होता है कि गर्भस्थ बालक स्वर्गसे च्युत हो जन्म ग्रहण करेगा। इस बालककी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो जायगी। उसके

कार्योंकी यशोगाथासे जन-जन परिचित हो जायगा। परम्परागत धर्म और धार्मिक कर्म-काण्ड समाप्त हो जायँगे। जनताके समक्ष रूढ़ियोंकी आलोचना कर धार्मिक प्रतिष्ठानके विरुद्ध क्रान्तिका शंखनाद करेगा। वह मनुष्य-मनुष्यके बीच होनेवाली दलालीको बन्दकर उदार नीतिका प्रचार करेगा। जाति-प्रथा और कर्मकाण्डपर प्रहारकर अपने क्रान्तिकारी विचारों द्वारा जनमानसको आलोकित कर देगा। वह जड़-चेतनका स्वतंत्र अस्तित्व प्रतिपादित कर एकाधिकारका विरोध करेगा। व्यक्तिकी स्वतंत्रताका उद्घोषकर अनेकान्तात्मक दृष्टिकी स्थापना करेगा। उसकी अपनी राह होगी, अपनी करनी होगी और वह अपने बल-पौरुष द्वारा स्वतन्त्रताका प्रचार करेगा।

धरणेन्द्र-भवन : अवधिज्ञान

नागेन्द्र भवनके अवलोकनसे गर्भस्थ बालक अवधिज्ञानका धारी होगा। जन्मकालसे ही वह अपनी प्रतिभा द्वारा लोगोंको आश्चर्यचकित करेगा। आत्मा और ज्ञान-ज्योतियाँ जगमगा जायँगी और सर्वत्र प्रकाश व्याप्त हो जायगा। सारे अन्तर्विरोध समाप्त हो जायँगे। आत्मदर्शन द्वारा वह जगतको निराकुल बनानेका प्रयास करेगा। जन्मसे ही अद्भुत रोशनी प्राप्त कर वह वीतरागता और अनेकान्तवादका अमृतवर्षण करेगा। उसका चित्त भवसागरके तटपर चरम शक्तिका अन्वेषण करेगा। उसकी साधनाके सम्मुख सांसारिक सुख अकिंचन हो जायगा। समस्त व्यवधान, अमंगल, कोलाहल शान्त हो दिव्य आलोक प्रस्तुत करेंगे। आत्म-शुद्धिकी दिशामें बढ़ता हुआ वह एक नया आलोक प्राप्त करेगा। धर्मान्ध जनता विवेक प्राप्त कर उसका नेतृत्व स्वीकार करेगी।

रत्नोंकी विशालराशि : अनन्तगुण

स्वप्नमें रत्नराशिका दर्शन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्राप्तिका प्रतीक है। जीवनका वास्तविक कल्याण रत्नत्रयसे ही होता है। इस स्वप्न-दर्शनका फल समता, सहिष्णुता आदि लोकोत्तर गुणोंकी प्राप्ति भी है। बालक अपने समस्त आचरण और दिनचर्यामें सजग रहेगा। सभी प्रकारके संयम ग्रहण करेगा। वह ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, लोभ, मोह, छल, कपट, घृणा आदिसे रहित होगा। न उसका कोई शत्रु होगा, न मित्र, वह सभीके प्रति समभाव रहेगा। आकाशके समान व्यापक-शुद्ध अन्तःकरण —निर्मल-हृदय, कमलपत्रके समान सर्वथा अलिप्त और सिंहके समान निर्भय विचरण करेगा। वह अपना ज्ञान जन-जनको बाँट कर मुक्तिका पथ प्रशस्त करेगा।

निर्धूम अग्नि : निर्वाण

गर्भस्थ बालक अपनी समस्त कर्म-कालिमाको नष्टकर निर्वाण प्राप्त करेगा। आत्माका सच्चा सुख निर्वाण-प्राप्ति ही है। इसीके लिये संयम-तपकी साधना की जाती है। बालकका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। वह कर्मोंसे युद्ध कर अपनी आत्माको शाश्वत सुख-प्राप्तिकी ओर लगायेगा। भारतकी मानसिक और सांस्कृतिक पंगुताको समाप्तकर स्वस्थ चिन्तनकी मधुर वीणा वादित करेगा। लोक-जीवन और लोकशासन पावनताका अनुभव करने लगेगा। अज्ञान, अधर्म, अन्याय और अत्याचार समाप्त हो जायँगे। आत्म-स्वातन्त्र्यकी भावना द्वारा वह जनमानसके मनोबलकी वृद्धि करेगा। आत्मा अज्ञान, मोह और मिथ्यात्वसे मुक्त हो जायगी। विश्व-बन्धुत्व और विश्व-मैत्रीकी भावनाओंका प्रसार होगा।

भावी बालक स्वयं अपना तो उद्धार करेगा ही, अपने उपदेशों द्वारा आडम्बर और औपचारिकताओंका भी अन्त करेगा। सच्ची रुचि, सच्ची पहचान और सच्चा आचरण उसके जीवनका लक्ष्य होगा।

इस प्रकार विशिष्ट निमित्तज्ञानी महाराज सिद्धार्थ द्वारा स्वप्नोंके उपर्युक्त फलको सुनकर त्रिशला धन्य हो गयी और अपने भाग्यकी सराहना करने लगी। भाग्यशाली पुत्रका जन्म अवगतकर उसका मन अपार वात्सल्य और उत्साहसे भर गया। वह उस भाग्यशाली क्षणकी उत्कंठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगी। माँ त्रिशलाका मन होनेवाले बालककी विशेषताओंको ज्ञात कर अत्यन्त शान्त हुआ। वह सोचती है—"जिस दिन मेरी कुक्षिसे यह बालक जन्म ग्रहण करेगा, उस दिन मुझ जैसी बड़भागिन कौन होगी ? माँकी साध सुयोग्य सन्तान प्राप्त करनेकी है। यदि यह प्राप्त हो जाये, तो मातृत्व चरितार्थ हो जाता है।"

पुण्य-चमत्कार

पुण्योदयसे संसारके समस्त वैभव प्राप्त होते हैं। पुण्यात्माके यहाँ लक्ष्मी दासी बन जाती है, कुबेर किंकर हो जाता है और जगतके वैभव हस्तामलक हो जाते हैं। महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशलाके पुण्य-वैभवका कहना ही क्या, जिनके यहाँ अच्युत स्वर्गसे च्युत हो तीर्थंकर महावीरका जीव पुत्र-रूपमें जन्म ग्रहण करनेवाला है। सारा उपनगर हर्ष, उल्लास और उमंगसे अनुस्यूत है। सिद्धार्थका घर-आँगन देव-देवांगनाओंका क्रीड़ास्थल बना हुआ है। महावीरका गर्भकल्याणक सम्पादन करनेके लिये मनुष्योंकी तो बात ही क्या, चतुर्निकायके देव भी आतुर हैं। वैशालीके समस्त नगरों और उपनगरोंकी कृषि-सम्पत्ति बढ़ रही है। गोधन, अश्वधन और गजधनकी वृद्धि हो

रही है। फसलोंकी हरीतिमाने जन-जनको पुलकित कर दिया है। पशुओंने परस्पर वैर-विरोध छोड़ दिया है। श्रीदेवी प्रियकारिणी-त्रिशलाकी शोभा-वृद्धिमें, ह्रदेवी लज्जाकी समृद्धिमें, धृतिदेवी धैर्यके संवर्द्धनमें, कीर्तिदेवी स्तुति-गानमें, बुद्धिदेवी विवेक और विचारके संरक्षणमें एवं लक्ष्मीदेवी धन-धान्य समृद्धिकी वृद्धिमें संलग्न हैं। माता त्रिशलाकी सेवा महलकी परिचारिकाएँ तो करती ही हैं, पर स्वर्गकी देवांगनाएँ भी आकर उनकी सेवा-शुश्रूषामें रह रही हैं।

यह सब कुछ विलक्षण, पर सुहावना दिखलायी पड़ता था। समस्त अन्तः-पुर हर्ष और आनन्दमें विभोर था। माता-त्रिशलाकी की जानेवाली सेवा शब्दा-तीत थी। देवियों और परिचारिकाओं द्वारा की जानेवाली सेवाके समक्ष सभी हार मान जाते थे। त्रिशलाके मनोरंजन हेतु नाना प्रकारके साज-सामान एकत्र किये जाते थे। देवियाँ और परिचारिकाएँ माताके मनबहलावके हेतु विविध प्रकारके प्रश्न और पहेलियाँ पूछती थीं। प्रत्येक क्षण त्रिशलाकी समस्त सुख-सुविधाओंका ध्यान रखा जाता था।

महाराज सिद्धार्थ भी गर्भवती त्रिशलाके समस्त दोहदोंको पूर्ण करनेके लिये सचेष्ट थे। उन्होंने अनेक अप्रमत्त परिचारिकाएँ नियत की थीं। वे सभी परिचारिकाएँ माताके स्वभाव और प्रवृत्तिका अध्ययन कर कार्य करती थीं। अद्भुत पुण्यके प्रभावसे समस्त समवाय विलक्षण ही था।

मनोरञ्जनार्थं : संगीत, नृत्य एवं चित्रकला

भारतीय सभ्यतामें संगीत, नृत्य एवं चित्रादि कलाएँ मनोविनोद अथवा भोग-विलासका साधन नहीं है, अपितु इनमें तत्त्ववाद, कल्पनात्मक विस्तार एवं ऐतिहासिक परम्पराका प्रच्छन्न रूप पाया जाता है। कला केवल शारीरिक अनुरञ्जन ही नहीं करती, अपितु मानसिक और बौद्धिक विकासका भी संकेत प्रस्तुत करती है। तीर्थंकर महावीरकी माता त्रिशलाके मनोविनोदार्थ संगीत एवं नृत्यादि कलाएँ सेवाके हेतु प्रस्तुत देवियोंने उपस्थित कीं। नवीन रूपकों, नयी रेखाओं एवं नये रंगोंसे विभिन्न प्रकारके चित्रोंका निर्माण कर माताको प्रसन्न किया। दिवालों, काष्ठ-फलकों एवं वस्त्रोंके ऊपर भी विद्धचित्र, अविद्धचित्र एवं रसचित्र अंकित किये गये। कलाद्वारा विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ एवं शिल्प-साधनाएँ चित्रित कर सत्य, शिव और सौन्दर्यकी पूर्णतया अभिव्यक्ति की गयी है। लोक-जीवनकी रसभरी प्रेरणा द्वारा राग-रागिनी, ऋतु-वर्णन, लीला-वर्णन एवं प्रकृतिके रम्य रूप उपस्थितकर माताका अनुरंजन किया जाने लगा।

संगीतकला

संगीतका प्राण स्वर है। काव्यकी काया शब्द और अर्थों द्वारा निर्मित होती है, पर संगीत शब्दातीत है। संगीतमें रस-निष्पत्तिके हेतु वाचक-शक्तिकी अपेक्षा नहीं रहती है। यही कारण है कि संगीतकी भाषा शाश्वत और सार्वभौम होती है। वह भौगोलिक सीमाओंके बन्धनसे परे रहती है। प्राणी ही नहीं, वनस्पतियों तकमें स्पन्दन भर देती है। संगीतकला, सा रे, ग, म आदि सप्त स्वरोंपर आधृत है। ये सात स्वर ही सामक कहे जाते हैं। साम-गानमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र इन पाँच स्वरोंको मुख्य माना गया है और कुष्ट तथा अतिस्वार्य इन दो स्वरोंको गौण। साम-सिद्धान्तके अनुसार मुख्य पाँच स्वर क्रमसे मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज और निषाद हैं। मुख्य और गौण स्वरोंको मिला देनेसे सप्त स्वर होते हैं। इन्हींके अन्तर्गत दो मध्यम स्वर माने जाते हैं, जो अन्तर और काकली कहे जाते हैं। वीणाके साथ गान करते समय ऋषभ, धैवत और मध्यम स्वरोंके विकृत रूपोंको मिलाकर संगीतके बारह स्वर-स्थान, बाइस सूक्ष्म श्रुतियाँ एवं छयासठ नादके सूक्ष्मतर प्रभेद होते हैं।

वाणीको स्वरमयी और शब्दमयी माना जाता है तथा स्वर और शब्द नादके अधीन हैं। नादको जगतका परिणाम माना गया है। इसके आहत और अनाहत दो भेद हैं। अनाहत नाद बिना आघातके उत्पन्न होता है। इसे केवल योगीजन ही सुनते हैं, समझते हैं और इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। समस्त चराचर जगत नादसे प्रभावित है। हरिण और सर्प वीणाका स्वर सुनकर मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। संगीतको ब्रह्मानन्द-सहोदर इसीलिये कहा जाता है कि नादमें अपार आकर्षण-शक्ति विद्यमान है। जीवन और सृष्टिके जिन रहस्योंको हम ज्ञात करनेमें अक्षम रहते हैं, संगीतद्वारा वे रहस्य सहज हृदयंगम हो जाते हैं।

देवियाँ संगीतगोष्ठी और वादित्रगोष्ठी द्वारा माता त्रिशलाको प्रसन्न करती और उनके हृदयको पवित्र भावनाओंसे आप्लावित करती थीं। वे मधुर गान द्वारा ऐसे स्वर और नादका सृजन करती थीं, जिससे माताका हृदय प्रफुल्लित हो जाता था। संस्कृति, शिक्षा, धार्मिक, नैतिक विश्वास एवं निष्ठाओंकी अभिव्यक्ति संगीतके द्वारा की जा रही थी। रसानुभूतिकी क्षमता और अभिरुचिका परिष्कार अहर्निश होता रहता था।

माता त्रिशला संगीतके रसास्वादनद्वारा मनोविनोद तो करती ही थीं, पर वे जीवनके गम्भीर रहस्योंको भी अवगत करती थीं। विनोदकी सबसे प्रथम और बड़ी आवश्यकता है बन्धनोंसे मुक्ति। यद्यपि धर्म और नीति इस विनोदकी प्रवृत्तिको मर्यादित और संस्कृत करनेका सतत प्रयत्न करते आये हैं, परन्तु

विनोदकी आवश्यकता इसे मुक्त अन्तराल देनेके प्रयत्नमें लगी रहती है। इसका अर्थ यह है कि सौन्दर्यके सृजन और रसके आस्वादनमें जनरुचिकी सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है।

संगीत और सन्तुलन, लयात्मक आरोह-अवरोह तथा अंगोंका समानुपातिक विन्यास आदि सौन्दर्यके ऐसे गुण हैं, जो मानवमात्रके स्वभाव और रुचिके अंग बनते हैं। संगीतकला केवल अनुरंजनका ही साधन नहीं है, अपितु धर्मको भी मर्यादित और नियन्त्रित करती है। देवाङ्गनाएँ संगीतकलाका शुद्ध स्वरूप उपस्थित कर माताके समक्ष दिव्य मंगल प्रस्तुत करती थीं। जीवनके स्थूल और सूक्ष्म दोनों पक्षोंका उपस्थितीकरण मानवकी मानवताको उद्‌बुद्ध करता है। जीवनगत स्थूलके सघन अन्तरालमें युग-युगान्तरसे सोये हुए जड़-प्रत्यय एवं मुमूर्ष-सूक्ष्मकी कल्पना स्मृति और प्रत्यभिज्ञाको उद्‌बुद्ध कर उसके अपराहत पौरुषकी अनुष्ण अग्निशिखाको प्रदीप्त करती है। व्यावहारिकताके बर्बर क्षणोंमें मनुष्यता शील और सौन्दर्यको स्पन्दित करती है। इस प्रकार देवाङ्गनाएँ विभिन्न प्रकारके गीत और वादित्र द्वारा माता त्रिशलाका मनोरंजन कर उन्हें सदैव प्रसन्न रखनेका प्रयास करती थीं।

नृत्यकला

नृत्यकला भी सौन्दर्योपासनाकी एक सुखद प्रवृत्ति है। सौन्दर्य-जिज्ञासाकी इस प्रवृत्तिने ही सभ्यता और संस्कृतिको जन्म दिया। मानवसभ्यता और संस्कृतिके विकासमें नृत्यकलाका सर्वाधिक योगदान रहा है। भारतीय जीवनमें नृत्यकलाको सत्य, शाश्वत, नित्य और अनादि माना है। उसकी आराधना लोकमंगल और परमार्थ दोनोंके लिये होती है। नृत्यकला अनुरंजनके लिये न होकर जीवनके विकासके लिये है। नृत्यका व्यापक अनुराग काम, क्रोधादि विकारोंको शमन करनेका भी कार्य करता है। आंगिक संकेतोंद्वारा भावाभिव्यञ्जनकी प्रवृत्ति नृत्यमुद्राओंमें देखी जा सकती है। देवाङ्गनाएँ माता त्रिशलाको अपने विभिन्न अंग-संचालन द्वारा प्रसन्न करती थीं। नृत्य करते समय देवाङ्गनाओंकी दन्तपंक्तिसे निःसृत किरणें मुस्कराती हुई जान पड़ती थीं। लयके साथ पाद-संचालनकी गति और हाव-भावयुक्त विलास रस-धाराका सृजन करते थे। नृत्यमें संलग्न देवियाँ अनेक प्रकारकी गति, तरह-तरहके गीत, नृत्यविशेष एवं विचित्र शारीरिक चेष्टाओं द्वारा माताके मनको उत्कंठित करती थीं। हस्त-पल्लवोंसे वीणा-वादन करती हुईं विभिन्न शारीरिक चेष्टाओंको प्रस्तुत करती थीं। ताल और स्वरके साथ मन्द और मधुर रूपमें प्रस्तुत की गयी शारीरिक चेष्टाएँ जनमानसका अनुरञ्जन करती ही हैं।

वस्तुतः नृत्य जीवनके विस्तारका नाम है। यह जीवनका अनुपम और अमूल्य अंग है। जीवनका अर्थ है प्रगति एवं प्रवृत्तिकी गाथा तथा कर्मका इतिवृत्त। जिस जीवनमें नृत्य और संगीतका विकास न हो, वह भारभूत हो जाता है। जीवनमें यदि नृत्यादि कलाएँ न हों, तो मानवकी सात्विकता और पशुकी पाशविकतामें अन्तर ही न रहे। संगीत और नृत्यकला विहीन जीवन अपूर्ण, वेग-रहित और नीरस है। जीवनमें प्रगति लाना नृत्यादि-कलाओंका धर्म है। जैसे-जैसे जीवनमें नृत्य और संगीत आदि कलाओंका विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे जीवन मूल्यवान् बनता जाता है। अतः कलाकी निर्मलता और पवित्रताका प्रभाव भी निर्मल एवं पावन होता है। संगीत और नृत्य आत्मलीन होनेके साधन हैं। ये जागृतिके कारण हैं। आत्म-स्वतन्त्रता एवं आनन्द-प्रमोदकी प्राप्ति इन्हींके द्वारा सम्भव है।

संगीतशास्त्रमें विभिन्न मुद्राओंका उल्लेख आता है। मुखराग एवं हस्ताभिनय भी नृत्यके अन्तर्गत हैं। नर्तक एवं नर्तकियाँ मेधा-स्मृति, गुणश्लाघा, राग, संसर्ग और उत्साहसे युक्त होकर गीत-वाद्य-तालके अनुसार पाद-संचालन कर विविध प्रकारके स्वाभाविक परिभ्रमण प्रस्तुत करती थीं। पताक-हस्त, त्रिपताक-हस्त, अर्द्धपताक-हस्त, कर्तरमुख-हस्त, मयूर-हस्त, अर्द्धचन्द्र-हस्त, सूचीहस्त, चतुरहस्त, भ्रमरहस्त, व्याघ्रहस्त, कटकहस्त एवं पल्लीहस्त आदि बत्तीस प्रकारकी संयुक्त हस्तमुद्राओं द्वारा देवियाँ अभिनय करती थीं। असंयुक्त हस्तमुद्राओंमें अञ्जलि, कपोत, कर्कट, पुष्पपुट, उत्संग, शकट, शंख, चक्र, सम्पुट, पाश, कीलक, मत्स्य, वराह, गरुड़, नागबन्ध आदि तेइस प्रकारकी मुद्राएँ परिगणित हैं। शृङ्गारादि नव रसोंको अभिव्यक्त करनेवाले नृत्य उपस्थित किये जा रहे थे। इस प्रकार देवाङ्गनाएँ संगीत एवं नृत्य द्वारा माताकी आनन्दोपलब्धिका साधन बन रही थीं। वे रसाश्रित और भावात्मक नृत्य उपस्थित कर माताको प्रसन्न करती थीं

चित्रकला

गर्भस्थ बालकके सम्यक् पोषण हेतु माताका प्रसन्न और आनन्दित मुद्रामें रहना आवश्यक माना जाता है। जीवनके विविध अनुभवोंका मूल्य अवगत करनेके लिये चित्रकलाकी भी आवश्यकता अनिवार्य है। संस्कृतिकी पहचान इसीके द्वारा होती है। चित्रकलाका प्रधान कार्य कल्पनाको जागृत कर जीवनको पूर्ण बनाना है। इसकी मुख्य शर्त यह है कि इसमें जीवनका तटस्थ अनुभव ही प्राप्त हो। यथार्थताके सान्निध्यमें जो व्यवहार अनिवार्य बन जाये, उसमें उसके लिये जरा भी गुंजाइश नहीं। मनुष्यके आस-पास अपार जीवनलीलाका विस्तार रहता है। रेखा, परिबन्धन, आवेग और आलेखन द्वारा विभिन्न प्रकार

की भाव-भंगिमाएँ व्यक्त की जाती हैं। देवाङ्गनाएँ चित्रकला द्वारा माताके अन्तर्जीवनकी भूखको मिटानेवाले रसोंका सृजन करती थीं। वस्तुतः चित्र-कला सन्तप्त हृदयोंके समाधान और विश्रामके लिये अथवा दैनिक जीवनको क्षुद्र बना देनेवाली घटनाओंसे दूर हटाकर आन्तरिक जीवनको उद्दीपन और पोषण प्रदान करनेवाली दिव्य जड़ी है। चित्रकलाकी प्रशस्तिमें सौन्दर्यकी व्याख्या भी अनेक बार उलझती हुई दिखलायी पड़ती है। मनोभावों में सुसम्पादन और लीला-वैविध्यका उद्रेक चित्ताकर्षक सौन्दर्यका आग्रह करता है।

चित्रकलाकी प्रवृत्ति अनादिकालसे मानवसमाजमें पायी जाती है। विभिन्न सामाजिक स्तरोंकी जानकारी चित्रकला द्वारा प्राप्त की जाती है। मनोगत भावों एवं विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं का अंकन भी चित्रकलामें सम्भव होता है। चित्रकलाका सर्वस्व उसकी भावधारा है और इस भावधाराका अंकन विभिन्न शैलियों द्वारा किया जाता है।

देवाङ्गनाएँ चित्रोंको करुणाके सूत्रमें आबद्ध कर विभिन्न सभ्यताओंके संघर्ष और आघातोंका अंकन करती थीं। इनके द्वारा निर्मित चित्रोंमें निम्नांकित विशेषताएँ उपलब्ध होती थीं :—

(१) सादृश्यकी उपेक्षा और भावकी प्रधानता,

(२) रंगानुकूल रेखाओंका चित्रण एवं विभिन्न गतिविधिका रूपांकन,

(३) रंगों द्वारा भारतीय वातावरणका सृजन,

(४) दृष्टि-सरणिको विषयपर अवलम्बित न रहने देना,

(५) शाश्वत सौन्दर्यका अंकन।

देवाङ्गनाएँ पट-चित्र, फलक-चित्र और भित्ति-चित्रों द्वारा माताका मनोरंजन करती हुई उनकी सुसंस्कृत रुचिका परिष्कार करती थीं। बताया गया है कि देवियाँ आलस्यरहित होकर रत्नोंके चूर्णसे रंगावली तैयार कर धूलि-चित्रोंका निर्माण करती थीं। रंग-विरंगे चौकके चारों ओर पुष्प विकीर्ण कर रसमय चित्रोंका निर्माण करती थीं। वीणा और मृदंग आदि वाद्य बजाती हुई देवियाँ मनोहर और आकर्षक चित्रों द्वारा माताके मनका आकर्षण करती थीं।

इस प्रकार नृत्य-गोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी, संगीत-गोष्ठी, अभिनय-गोष्ठी, चित्र-गोष्ठी आदिके द्वारा माता त्रिशलाके मनमें रस-माधुर्यका संचार करती थीं।

काव्य-गोष्ठीद्वारा मनोरञ्जन

गर्भके नवम मासमें माता त्रिशलाके मनोविनोदार्थ देवियाँ विशिष्ट-विशिष्ट काव्य-गोष्ठियोंका आयोजन करती थीं। गूढ़ अर्थ, गूढ़ क्रिया, गूढ़ पाद एवं लुप्त मात्रा और अक्षरवाले पद्यों द्वारा माता त्रिशलाको प्रसन्न करती थीं। वे

कहने लगतीं कि हे माता ! क्या तुमने इस संसारमें एक क्षीण चन्द्रमाको देखा है ? व्याजस्तुति द्वारा वे माताकी मुखकान्तिका चित्रण करती और बतलाती हैं कि माताकी मुखकान्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, चन्द्रमा उतना ही क्षीण होता जाता है ।

देवियाँ माताके मुखकमलका अनेक दृष्टियोंसे काव्यात्मक चित्रण करती थीं। वे कभी उनके मुखकमलको भ्रमरसहित चित्रित करतीं, तो कभी कमलरहित ।

देवाङ्गनाएँ काव्यका सृजन करती हुई कहतीं कि—"हे कमलनयनी ! ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको आघ्रात कर कृतार्थ हो जाते हैं। अतएव वे फिर पृथ्वीसे उत्पन्न हुए कमलके पास नहीं जाते हैं। इस प्रकार देवाङ्गनाएँ काव्यपाठ द्वारा माताके मनको आनन्दित करती थीं। वे इष्टभावके स्वरूपको काव्य-बन्ध द्वारा प्रस्तुत करती थीं। लघु वर्ण और दीर्घ वर्णोंका प्रयोग इस रूपमें करती थीं, जिससे शब्द और अर्थमें सामंजस्य एवं माधुर्य उत्पन्न हो जाता था। सुकोमल भावनाओं और अनुभूतियोंका प्रचण्ड वेग उपस्थित कर वे माताको भाव-विभोर बनाती थीं। देवाङ्गनाओं द्वारा पठित काव्योंमें संगीतात्मकता और भावमयताके साथ सुकोमल भावनाओंका भाण्डार निहित रहता था। इनके काव्योंमें निम्नलिखित गुण समवेत रहते थे :—

(१) अन्तर्वृत्तिका प्राधान्य,
(२) संगीतात्मकता,
(३) रसात्मकता,
(४) रागात्मक अनुभूतियोंकी कसावट,
(५) शब्द-चयन और चित्रात्मकता,
(६) समाहित प्रभाव,
(७) मार्मिकता,
(८) गेयता,
(९) मधुरता।

इस प्रकार देवियाँ काव्य-सृजन द्वारा माता त्रिशलाका मनो-विनोद करती थीं। गीति-नाट्य एवं प्रबन्धों द्वारा अपूर्व रसका चमत्कार उत्पन्न करती थीं।

पहेलियों एवं प्रश्नोत्तरोंद्वारा मनोविनोद

माता त्रिशलाके मनोरंजनार्थ देवियाँ प्रश्न करती हैं कि इस संसारमें किसके वचन श्रेष्ठ और प्रामाणिक हैं ?

माता—सर्वज्ञ, हितैषी और वीतरागी तीर्थंकरके वचन ही श्रेष्ठ हैं।

देवियाँ—जन्म-मरणरूपी विषको दूर करनेवाला अमृतके समान क्या पेय है?

माता—तीर्थंकरके मुखकमलसे निर्गत ज्ञानामृत ही पेय है। इस ज्ञानामृतसे जन्म-मरणकी संसार-परम्परा छिन्न हो जाती है।

देवियाँ—लोकमें बुद्धिमानोंको किसका ध्यान करना चाहिये ?

माता—पञ्चपरमेष्ठी, आगम और आत्मतत्त्वका ध्यान करना श्रेयस्कर है। संसार-परिभ्रमणके कारणभूत आर्त्त और रौद्र ध्यान त्याज्य हैं।

देवियाँ—किस कार्यके करनेमें शीघ्रता करनी चाहिये ?

माता—संसार-उच्छेदक अनन्तज्ञान और चारित्रके प्राप्त करनेमें शीघ्रता करनी चाहिये। जो आत्मकल्याणके कारणीभूत रत्नत्रयधर्मको धारण करनेमें समयकी प्रतीक्षा करता है, वह आत्मकल्याणसे दूर रहता है। अतः धर्मपालनमें शीघ्रता करना आवश्यक है।

देवियाँ—संसारमें सज्जनोंके साथ जानेवाला कौन है ?

माता—दयामय अहिंसाधर्म ही साथ जानेवाला है, यही जीवोंका रक्षक है।

देवियाँ—धर्मके लक्षण कौन-कौन हैं ? धर्मसाधनसे क्या फल प्राप्त होता है ?

माता—आत्मतत्त्वकी अनुभूति कर द्वादश तप, रत्नत्रय, महाव्रत, अणुव्रत, शील और उत्तमक्षमादि धारण ये धर्मके लक्षण हैं। धर्मका फल कर्म-निर्जरा है।

देवियाँ—धर्मात्माओंके चिह्न क्या हैं ?

माता—उत्तम शान्तस्वभाव होना, अहंकार और ममकार न होना, शुद्धाचरणका पालन करना, धर्मात्माओंके चिह्न हैं।

देवियाँ—पापके चिह्न और फल क्या हैं ? तथा पापी जीवोंकी पहचान क्या है ?

माता—मिथ्यात्व, क्रोधादि कषाय, अनायतन-सेवन पापके चिह्न हैं। राग, द्वेष, मोह, क्लेशादि पापके फल हैं। अत्यधिक क्रोध, मान, माया और लोभ करने-वाला, दूसरोंका निन्दक और स्व-प्रशंसक, आर्त्त-रौद्रध्यानधारी होना पापियोंके चिह्न हैं।

देवियाँ—लोकमें विचारवान कौन है ?

माता—सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतराग देव, शास्त्र और गुरुका चिन्तन करनेवाला विचारवान है।

देवियाँ—परलोकगमन करते समय पाथेय क्या है?

माता—दान, पूजा, व्रत, उपवास, शील और संयम ही पाथेय है।

देवियाँ—इस लोकमें किसका जन्म सफल है?

माता—मोक्ष-लक्ष्मीके सुखदायक उत्तम भेद-विज्ञानको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिका ही जीवन सफल है।

देवियाँ—संसारमें सुखी कौन है?

माता—सब प्रकारकी परिग्रह-उपाधियोंसे रहित ध्यानरूपी अमृतका स्वाद लेनेवाला योगी ही सुखी है, अन्य व्यक्ति नहीं।

देवियाँ—संसारमें किस वस्तुकी चिन्ता करनी चाहिये और क्या उपादेय है?

माता—कर्मोंकी निर्जरा करनेकी और मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त करनेकी चिन्ता करनी चाहिये, इन्द्रियसुखोंकी नहीं। अतीन्द्रिय सुख ही उपादेय है।

देवियाँ—किस कार्यके लिये महान् उद्योग करना अभीष्ट है?

माता—रत्नत्रय और शुद्धोपयोगको प्राप्त करनेके लिये महान् यत्न करना ही अभीष्ट है।

देवियाँ—मनुष्योंका परम मित्र कौन है और अमित्र कौन है?

माता—तप, दान, व्रत, शील, संयम आदिके धारण करनेकी ओर जो प्रेरित करे वही परम मित्र है और जो इन कार्योंमें विघ्न करता है तथा हिंसा, असंयम और प्रमाद आदिमें प्रवृत्त करता हो वह अमित्र है।

देवियाँ—संसारमें प्रशंस्य कौन है?

माता—थोड़ा धन रहनेपर भी जो सुपात्रको दान देता हो और निर्बल शरीर रहनेपर भी निष्पाप तपश्चरण करता हो वही प्रशंस्य है।

देवियाँ—विद्वत्ता क्या है और मूर्खता क्या है?

माता—शास्त्रोंका ज्ञाता होकर भी जो निन्द्य आचरण और अभिमानका त्याग करता है तथा पापाचरणसे दूर रहता है वही विद्वान् है। मिथ्याचरण, मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धासे पृथक् रहना ही विद्वत्ता है। जो ज्ञानी होकर भी संयम, तप और त्यागका आचरण नहीं करता वही मूर्ख है। सम्यक् आचरणसे पृथक् रहना ही मूर्खता है।

देवियाँ—चोर कौन है?

माता—पंचेन्द्रियाँ चोर हैं। ये रत्नत्रयरूप धर्मको चुरानेवाली हैं। विषया-सक्ति ही जीवके विवेकको चुराती है।

देवियाँ—शूरवीर कौन है ?

माता—जो धैर्यरूपी खड्गसे परीषहरूपी महायोद्धाओंको, कषायरूपी शत्रुओंको एवं काम-क्रोधादि रिपुओंको जीतनेवाला ही शूरवीर है।

देवियाँ—पिञ्जरमें कौन आबद्ध है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है और जीवोंका आधार क्या है ?

माता—शुक पिञ्जरमें आबद्ध है, काक कठोर शब्द करता है और जीवोंका आधार लोक है।

देवियाँ—मधुर शब्द करनेवाला कौन है ? पुराना वृक्ष कौन है ? कैसा राजा छोड़ देने योग्य है ?

माता—मयूर तथा कोयल मधुर शब्द करनेवाले हैं। कोटरवाला वृक्ष पुराना है। क्रोधी राजा छोड़ देने योग्य है।

इस प्रकार देवियोंने मातासे विभिन्न प्रश्न पूछे और नाना प्रकारकी प्रहेलिकाएँ उनके समक्ष उपस्थित कीं। देवियाँ माता त्रिशलाकी सेवामें अहर्निश उपस्थित रहती थीं। तीर्थंकर महावीरके गर्भमें आते ही माता त्रिशलाका मन अपार वात्सल्य और उल्लाससे भर गया। सिद्धार्थ महाराजका घर-आँगन देवोत्सवोंका रंगमंच बन गया। सारा कुण्डग्राम उमंग, उत्साह और पुलकका अनुभव कर रहा था। कृषिकी समृद्धि और मैदानोंकी हरीतिमा सभीके मनको उल्लसित करती थी। वैशालीका यह उपनगर धन-धान्यसे समृद्ध होता हुआ मैत्री, प्रमोद और प्रेमका आगार बन गया। सब कुछ विलक्षण और सुखद दिखलायी पड़ने लगा। देवांगनाएँ और परिचारिकाएँ छायाके समान त्रिशलाकी सेवामें उपस्थित रहती थीं।

माता त्रिशलाका मन आमोद-प्रमोद एवं शास्त्र-चर्चा और तत्त्व-चर्चाके कारण अत्यन्त पावन रहता था। माताके पवित्र संस्कारोंका प्रभाव गर्भस्थ शिशु-पर भी पड़ने लगा। महाराज सिद्धार्थ भी त्रिशलाकी समस्त सुख-सुविधाओंका ध्यान रखते और एक क्षण भी उसे अप्रसन्न नहीं रहने देते। परिचारिकाएँ अप्रमत्तभावसे रानी प्रियकारिणीकी सेवामें उपस्थित रहतीं। इस प्रकार वैशाली-का उपनगर कुण्डग्राम समृद्धि और सुखसे ओत-प्रोत हो रहा था।

खुल गये भाग्य वैशालीके

नौ माह और आठ दिनकी गर्भावधि समाप्त कर त्रिशलाने विशाला वैशालीमें

विश्ववन्द्य वैशालिक तीर्थंकर महावीरको २७ मार्च ई० पू० ५९८ को जन्म दिया। इस समय समस्त ग्रह उच्च स्थानपर स्थित थे और चन्द्रमा उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्रका उपभोग कर रहा था। चैत्रशुक्ला त्रयोदशी चन्द्रवारकी रात्रिका वह अन्तिम प्रहर मांगलिक था, जिसमें वर्द्धमानका जन्म हुआ।

तीर्थंकर महावीरके जन्मके समय चतुर्थ काल दुषम-सुषुममें ७५ वर्ष ३ महीना अवशिष्ट थे। वैशालीके भाग्य जग चुके थे। हिंसा, असत्य, अन्याय, आडम्बर एवं विकृतियोंको ललकारा था। वैशालीकी धरा कृतकृत्य हुई। प्रकृतिने समस्त वातावरणमें मधुरिमा घोल दी। अज्ञानका अवसान हुआ और ज्ञानसूर्यका उदय। वैशालीका उपनगर कुण्डग्राम आल्हादसे परिपूर्ण था। प्राणीमात्र शान्ति और सुखकी श्वांस ले रहा था। समस्त परिसर हर्षोन्मत्त हो आमोद-प्रमोदमें संलग्न था।

तीर्थंकर वर्द्धमानका शरीर काञ्चन आभायुक्त था और मुखमण्डलपर अगणित सूर्योंकी दीप्ति विद्यमान थी। नवजात शिशुके शरीरसे दिव्य कान्ति फूट रही थी और ऐसा अनुभव हो रहा था कि बालकके दर्शनमात्रसे उपनगर निरापद, निष्कंटक और समृद्ध बन गया था। प्राणियोंके हृदयोंके साथ-साथ समस्त दिशाएँ भी प्रसन्न हो गयी थीं। आकाश निर्मल और प्रकृति मनोरम हो गयी थी। देवों द्वारा मत्तभ्रमरोंसे व्याप्त पुष्पवृष्टि और दुन्दुभिनाद सम्पन्न हुए।

देवों द्वारा जन्माभिषेक

तीर्थंकरका जन्माभिषेकोत्सव देवोंने सम्पन्न किया और स्वयं महाराज सिद्धार्थने अपने भवनमें दस दिनों तक आनन्दोत्सव मनाया। दीपक प्रज्वलित कर प्रकाश किया गया। दान, पुण्य आदि शुभकृत्य किये गये और कारागारोंसे बन्दीजनोंको बन्धनमुक्त किया गया।

सौधर्म इन्द्रका आसन कम्पित हुआ और भवनवासी आदि देवोंके यहाँ घंटा-की ध्वनि हुई। अवधिज्ञानसे देवोंने अवगत किया कि कुण्डग्राममें अन्तिम तीर्थं-कर वर्द्धमानका जन्म हो चुका है। वे हर्षमें झूम उठे और समस्त देवपरिवार नृत्य-गान करता हुआ कुण्डपुर पहुँचा। ऐरावत हाथी सजाया गया, सवाँरा गया और उसके ऊपर विभिन्न उपकरण रखे गये। मानवताका शृङ्गार करनेवाले वर्धमानका जन्माभिषेक सम्पन्न करनेके हेतु देव-परिवार चल पड़ा। सौधर्म इन्द्रने कुण्डपुरमें पहुँचकर राजमहलकी तीन प्रदक्षिणाएँ की और माता त्रिशला —प्रियकारिणीकी स्तुति की।

इन्द्राणी प्रसूतिगृहमें पहुँची और उसने माताकी सान्त्वनाके हेतु मायामयी बालक वहाँ सुला दिया और तीर्थंकर वर्धमानको गोदमें लेकर बाहर आयी। उसने शिशुको सौधर्म इन्द्रको सौंप दिया। इन्द्रने ऐरावत हाथीपर सवार हो समस्त देव-परिवारके साथ सुमेरु पर्वतकी रत्नमयी पाण्डुक शिलापर शिशुको विराजमान किया और क्षीरोदधिके निर्मल जलसे अभिषेक किया।

अभिषेकके अनन्तर इन्द्राणीने शिशुके देहको पोंछा। जब वह कपोलप्रदेश-पर लगे हुए जल-बिन्दुओंको सुखानेमें प्रवृत्त हुई, तो उसे एक विलक्षण दृश्य दिखलायी पड़ा। जैसे-जैसे वह जल-बिन्दुओंको पोंछती वैसे-वैसे जल-बिन्दुओंकी संख्या बढ़ती जाती। इन्द्राणीके समक्ष अजीब असमंजसताकी स्थिति थी। अन्ततः उसने अनुभव किया कि ये जलबिन्दु नहीं, अपितु दर्पणसे स्निग्ध निर्मल कपोलपर स्थित आभूषणोंका प्रतिबिम्ब है। उसने इतना सुन्दर शिशु अभी तक देखा ही नहीं था। उसके नेत्र लज्जासे झुकने लगे।

अभिषेकके अनन्तर शिशुको वस्त्राभरण पहनाये गये, दिव्य एवं सुगन्धित मालाओंसे उन्हें आभूषित किया गया। नम्रीभूत हो सुरेन्द्रने उनकी स्तुति की। जब इन्द्रकी दृष्टि शिशुके दक्षिण पगपर पड़ी, तो सिंहका चिह्न देखकर और उसे भावी पुरुषार्थका प्रतीक समझकर उनका चिह्न 'सिंह' स्थिर किया।

अभिषेकके पश्चात् इन्द्र उन्हें वैशालीके राजमार्गोंसे कुण्डग्राम लाया और इन्द्राणीने पूर्ववत् प्रसूति-गृहमें जाकर शिशुको माता प्रियकारिणीके पार्श्वमें सुला दिया।

शिशु महावीरके जन्मसे ही राजा सिद्धार्थका बल-वैभव बढ़ने लगा। उनकी कीर्त्ति व्याप्त होने लगी। सब ओर महाराज सिद्धार्थ एक उदाराशय राजाके नामसे प्रसिद्ध हुए। अतएव महाराज सिद्धार्थने अपने समस्त बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रोंको आमंत्रित कर वीर बालकका नामकरण-उत्सव सम्पन्न किया। वे कहने लगे—"यह शिशु महाभाग है। जिस दिनसे महारानी प्रियकारिणीके गर्भमें आया, उसी दिनसे घर, नगर और राज्यमें धन-धान्यकी समृद्धि हुई है। अतएव इस बालकका सार्थक नाम वर्धमान रखा जाय।" उपस्थित जन-समुदायने राजा सिद्धार्थके इस प्रस्तावका अनुमोदन किया और वीर बालक 'वर्धमान' नामसे प्रसिद्ध हुआ[1]।

---

१. सिद्धार्थप्रियकारिण्योः सममानन्ददायकम्।
वर्धमानाख्यया स्तुत्वा सदेवो वासवोऽगमत्॥ —हरिवंशपुराण, २।४४.

शैशव

तीर्थंकर बर्द्धमान द्वितीयाके चन्द्रमाके तुल्य वृद्धिगत होने लगे। उनकी बाललीलाएँ विलक्षण और मनोहारिणी थीं। वर्धमानकी शिशु-सुलभ क्रीड़ाओं-द्वारा महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला मनोरंजन प्राप्त करते थे। जन्मसे ही वे विलक्षण प्रतिभासे सम्पन्न थे, विशिष्ट थे और थे तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धक। उनका शरीर अनुपम सुषमा और शोभासे युक्त था। रक्त दूधके समान श्वेत, पवित्र और उज्ज्वल, वाणी मधुर तथा शरीर शंख, चक्र, पद्म, यव, धनुष आदि एक हजार आठ शुभ लक्षणोंसे युक्त अलौकिक था।

प्रियकारिणी पुत्रको पालनेमें झुलाती, दुलराती और लोरियाँ सुनाती थी। वर्धमानकी शारीरिक विभूतिके साथ आध्यात्मिक विभूति भी बढ़ रही थी। ज्ञानकी दीप्तिसे उनकी काया अनवरत जगमगाती रहती थी। एक अखण्ड परमज्योति प्रकाशित होती थी। मति, श्रुत और अवधिज्ञानका प्रकाश उन्हें आलोकित कर रहा था। सौन्दर्य-राशि आविर्भूत होती जा रही थी। क्रमशः अब वे पालनेसे गोदीमें और गोदीसे भूमिपर लड़खड़ाकर चलने लगे थे। उनकी क्रीड़ाएँ पुरजन और परिजनकी थाती बन रही थी। कूप सजल और तालाब कमलोंसे परिपूर्ण होने लगे थे। खेत हरे-भरे और खलिहान धान्य-प्रचुर दिखलायी पड़ते थे। घर-घरमें सुख-सम्पदा व्याप्त हो गयी थी। ऐसा लगता था कि धरती स्वयं अपना कोष लुटा रही है। लोगोंके घरोंको धन-धान्यसे भर रही है। ज्योतिषी और गणक शिशुके शारीरिक लक्षणोंको देखकर विस्मित-चकित थे। उनकी घोषणा थी कि यह बालक धरतीका शृंगार है। इसके प्रताप और यशका गान मनुष्य ही नहीं सूर्य-चन्द्र और नक्षत्र भी करेंगे। इसके द्वारा जगतमें मंगल-दायिनी क्रान्ति होगी, जो मनुष्यके दुःख-दैन्यको मिटाकर अक्षय सुखकी ओर ले जायगी।

तीर्थंकर महावीरकी जन्मपत्रिका और ग्रह-स्थिति

तीर्थंकरके जन्मके समय बृहस्पति, शनि, मंगल ग्रह उच्च स्थानमें थे। एक भवावतारी या धर्मनायकके लिये जिस प्रकारके ग्रह-योगकी आवश्यकता रहती है, वह ग्रह-योग इनकी जन्म-कुण्डलीमें निहित था। यहाँ उनकी जन्म-कुण्डली अंकित कर ग्रहोंके संक्षिप्त फलादेशका विचार किया जायगा। कुण्डलीके फलाध्ययनसे यह स्पष्ट है कि वे आजीवन अविवाहित रहे हैं। सप्तम गृहमें दो पापग्रहोंके मध्य राहुके अवस्थित रहनेसे पत्नीका अभाव सिद्ध होता है। उनकी जन्मपत्रिका निम्नप्रकार है :—

जन्मकुण्डली
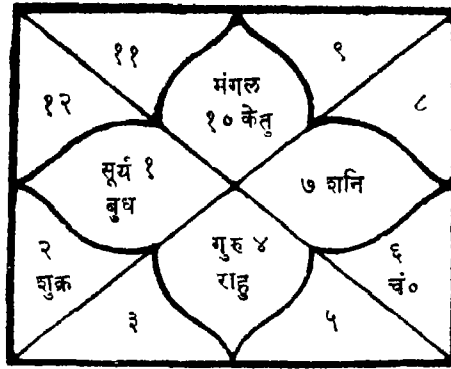
(१) जब व्यक्तिका जन्म 'चर' लग्नमें हो; गुरु, शुक्र पंचम या नवम भावमें स्थित हों और शनि केन्द्रमें हो, तो जातक, तीर्थनायक या अवतारी होना है।

(२) सप्तम भावमें राहु स्थित हो, इस भावपर पापग्रहकी दृष्टि हो, सप्तमेश पापाक्रान्त हो, तो पत्नीका अभाव रहता है[1]। ऐसे जातकका विवाह नहीं होता, इस योगसे उसके संयमी होनेकी सूचना मिलती है।

(३) तीर्थंकर महावीरकी कुण्डलीमें शुक्र और चन्द्रमा १२० अंशके अन्तराल पर स्थित हैं। यह स्थिति उनकी सर्वज्ञता और वीतरागताकी सूचक है। चन्द्रमा नवम भावमें स्थित है और बुधके गृहमें है और बुध केन्द्रमें सूर्यके साथ है। चन्द्रमा सप्तमेश भी है। अतएव महावीरकी बारह वर्षों तककी साधनाके सूचक हैं। नवमस्थ चन्द्रमा दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र एवं विभिन्न प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी अभिज्ञताका सूचक है[2]। जातकका प्रभाव अनुपम रहेगा और यह समाजका उद्धारक होगा।

(४) महावीरकी इस कुण्डलीमें चन्द्रचूड़ योग है। इस कुण्डलीमें भाग्येश बुध केन्द्रमें स्थित है। अतः यह योग चन्द्रचूड़ कहलाता है। इस योगमें जन्म लेनेवाला व्यक्ति प्रसिद्ध ज्ञानी, आत्मयोगी एवं धर्मप्रचारक होता है। लोक-

---

१. पत्नीभावे यदा राहुः पापयुग्मेन वीक्षितः।
पत्नी योगस्थिता तस्य भूताऽपि म्रियतेऽचिरात् ॥

२. लाभे त्रिकोणे यदि शीतरश्मिः करोत्यवश्यं क्षितिपालतुल्यम्।
कुलद्वयानन्दकरं नरेन्द्रं जोत्स्ना हि दीपस्तमनाशकारी ॥ —मानसागरी।

संगमदेवके साथ क्रीडारत राजकुमार

कल्याणकी भावनाकी सूचना लगनस्थ मंगलसे प्राप्त होती है। लग्न-स्थानमें उच्चका मंगल उपसर्ग और परीषहजयी होनेकी ओर इंगित करता है।

तीर्थंकर महावीरके विभिन्न नाम

तीर्थंकर महावीरके वर्द्धमानके अतिरिक्त अन्य भी कई नाम थे। इनकी माताने इन्हें 'विदेहदिन्न' और 'वैशालिक' नाम दिये। पितृवंशकी परम्पराने 'ज्ञातृपुत्र'के नामसे उन्हें प्रसिद्ध किया। वे 'अतिवीर' और 'निर्ग्रन्थ' भी कहलाते थे। उनका एक नाम 'सन्मति' था, जिसके साथ एक घटना जुड़ी है, जो बड़ी रोचक और प्रेरक है।

तीर्थंकर महावीरकी अवस्था अभी पाँच या छः वर्षकी थी कि वे एक दिन झूला झूल रहे थे। आकाशमार्गसे दो चारण-ऋद्धिधारी मुनि जा रहे थे। इन मुनियोंमें एकका नाम संजय और दूसरेका विजय था। इन्हें अनेक ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त थीं। महावीरको झूलते हुए देखकर इन मुनियोंके मनमें शंकाएँ उत्पन्न हुईं। अतएव वे उनकी परीक्षाके हेतु महावीरके निकट पहुँचे, पर जैसे ही उन्होंने उनका दिव्य दर्शन किया, वैसे ही दर्शनमात्रसे उनके मनकी शंकाएँ निराकृत हो गयीं। शंकाओंके दूर होनेसे उन मुनियोंका मन भक्ति-विभोर हो गया और वे तीर्थंकर महावीरकी स्तुति करते हुए कहने लगे कि इस बालकका नाम अब 'सन्मति' होगा[1]। उसी दिनसे इनका नाम 'सन्मति' पड़ गया।

निर्भयताका प्रतीक : महावीर

बाल्यकालसे ही महावीर अत्यन्त निर्भय थे। आठ वर्षकी अवस्थामें वे अपने समवयस्क साथियोंके साथ उद्यानमें क्रीड़ा कर रहे थे। सौधर्म इन्द्रकी सभामें महावीरके पराक्रम और वीरताका प्रसंग छिड़ा हुआ था। इन्द्रने कहा—बालक महावीर शैशवकालसे अत्यन्त साहसी और पराक्रमी हैं। देव, दानव और मानव कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता।

संगम नामक देवको इन्द्रके कथनपर विश्वास नहीं हुआ, अतएव वह वर्द्धमान महावीरकी परीक्षा करनेके लिये चल पड़ा।

---

१. संजयस्यार्थसन्देहे संजाते विजयस्य च।
जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रतः ॥
तत्सन्देहे गते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः ॥ —उत्तरपुराण ७४।२८२-२८३.

महावीर वाटिकामें अपने मित्रोंके साथ आँख-मिचौनी खेल रहे थे। संगम-देवने भयंकर विषधरका रूप धारण किया। वह देखनेमें अत्यन्त कृष्ण वर्ण और भयानक था। वह प्रकट होते ही फन फैलाकर फुफकारता हुआ उस आमलकी वृक्षकी ओर दौड़ा, जिस वृक्षपर महावीर अपने साथियोंके साथ क्रीड़ारत थे। वह भयंकर नाग वृक्षके तनेसे लिपट गया। उपस्थित सभी बालक सर्पको देखकर आतंकित हुए और वे इधर-उधर भागने लगे, पर महावीर डरे नहीं, वह हिमालयकी भाँति अडिग खड़े रहे। उन्होंने अपने साथियों को धैर्य देते हुए कहा—आप लोग घबड़ायें नहीं, मैं इसे अभी उठाकर दूर फेंक देता हूँ। बालकोंके मना करने पर भी महावीरने उस भयंकर नागको पकड़कर दूर कर दिया और सभी बालक प्रसन्न होकर पुनः क्रीड़ामें जुट गये।

उपर्युक्त घटनाके घटित होनेपर भी संगमदेवको संतोष नहीं हुआ। अतः वह समवयस्क बालकका रूप धारण कर उन्हींके साथ क्रीड़ा करने लगा। इस बार तिन्दूशक नामक खेल आरम्भ हुआ। इस खेलमें दो बालक एकसाथ लक्षित वृक्षकी ओर दौड़ते और इन दोनोंमेंसे जो वृक्षको पहले छू लेता वह विजयी माना जाता। विजयी बालक पराजितपर सवार होकर मूल स्थान पर आता।

महावीर और छद्मवेशधारी संगमदेव एकसाथ दौड़े। महावीरने वृक्षको पहले छू लिया। खेलके नियमानुसार पराजित संगमको सवारीके लिये उपस्थित होना पड़ा। महावीर उसपर सवार होकर जैसे ही नियत स्थानपर आने लगे, देवने सात ताड़के बराबर उन्नत और भयावह शरीर बनाकर महावीर को आतंकित करना चाहा। इस दृश्यको देखकर सभी बालक भयभीत हुए, पर महावीर सोचने लगे—अवश्य ही कोई मायावी देव-दानव है, जो मुझे डराना चाहता है। उन्होंने उसकी पीठपर अत्यन्त दृढ़ मुष्टि प्रहार किया; आघातसे संगमदेव चीख उठा और गेंदके समान फूला हुआ उसका शरीर दबकर छोटा हो गया[1]। महावीरके इस धैर्य और पराक्रमको देखकर संगमदेव

---

१. देवानामधुना शूरो वीरस्वामीति तच्छ्रुतेः।
देवः संगमको नाम संप्राप्तस्तं परीक्षितुम्॥
दृष्ट्वोद्यानवने राजकुमारैर्बहुभिः सह।
काकपक्षधरैरेकवयोभिर्बाल्यचोदितम्॥
कुमारं भास्वराकारं द्रुमक्रीडापरायणम्।
स विभीषयितुं वाञ्छन् महानागाकृतिं दधत्॥

नत मस्तक हो गया और उनकी स्तुति कर वहाँसे चला गया। इसी प्रकार इन्होंने मदोन्मत्त हाथीको वशमें करके उसे गजशालामें बाँध दिया। महावीर-की इस निर्भयता और पराक्रमसे पूरा वैशाली गणतन्त्र प्रभावित हुआ।

वैराग्य और निष्कामताका अंकुर

तीर्थंकर महावीरके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथकी परम्पराके अनुयायी थे। उनके अहिंसा, करुणा, दया और संयमशीलता आदि महान् गुणोंके कारण उनका जीवन आलोकित था। अतः महावीरको उनसे इन गुणोंकी आदर्श छाया प्राप्त हुई। उनका वैराग्य शनैः शनैः बढ़ने लगा और आत्मशुद्धिकी ओर उनके पग तेजीसे गतिशील होने लगे। संसारके वैभव उन्हें निस्सार और स्वादहीन लगने लगे। उन्होंने लोकजीवनमें व्याप्त बुराइयोंका अध्ययन किया और उन्हें मनुष्यद्वारा मनुष्यका किया जानेवाला शोषण अनुचित प्रतीत हुआ और उनका मन विद्रोह कर उठा। वे वैसे समाजकी रचना करना चाहते थे, जिसमें किसी भी प्रकारका भेद-भाव न हो, प्राणीमात्र समान हों और सभीको जीनेका अधिकार हो। फलतः उन्होंने आठ वर्षकी अवस्थामें ही निम्नलिखित नियमोंको धारण किया—

(१) जीवोंपर दया करना और अहिंसक वृत्ति रखना,
(२) सत्य भाषण करना,
(३) अचौर्यव्रतका पालन करना,
(४) ब्रह्मचर्यव्रतका धारण करना,
(५) इच्छाओंको सीमित करना।

विश्वके इतिहासमें ऐसा एक भी बालक दिखलायी नहीं पड़ेगा, जिसने आठ वर्षकी अवस्थामें ही जीवोंपर दया करने, सत्य बोलने, चोरी न करने, ब्रह्मचर्य

मूलात् प्रभृति भूजस्य यावत्स्कन्धमवेष्टत।
विटपेभ्यो निपत्याशु धरित्रीं भयविह्वलाः॥
प्रपलायन्तं तं दृष्ट्वा बालाः सर्वे यथायथम्।
महाभये समुत्पन्ने महतोऽन्यो न तिष्ठति॥
ललज्जिह्वाशतात्युग्रमारुह्य तमहिं विभीः।
कुमारः क्रीडयामास मातृपर्यङ्कवत्तदा॥
विजृम्भमाणहर्षाम्भोनिधिः संगमकोऽमरः।
स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार सः॥

—उत्तरपुराण ७४।२८९-२९५.

रखने और अपनी इच्छाओंके सीमित रखनेकी बात सोची हो। बाल्यावस्थामें ही उन्होंने अपनी प्रवृत्तियोंको परिष्कृत करनेका प्रयास किया।

महावीरका चिन्तन परिवारकी परिधिसे आगे बढ़ने लगा। सामाजिक जीवनमें उत्पन्न होनेवाली आर्थिक विषमता, वर्गभेद, दलित और पतितोंके प्रति निष्करुण भावना आदिको दूर करनेके लिये उन्होंने संकल्प किया। उनका जन्म ही आत्मकल्याण और लोकहितके लिये हुआ था। अतएव लोककल्याण उनका इष्ट था और लोककल्याण ही उनका लक्ष्य था।

किशोरावस्थाकी विचारधारा

महावीर सोचने लगे कि परम्परागत धर्म और धार्मिक कर्मकाण्ड मानवताके रूपको विकृत कर रहे हैं। वे मनुष्य-मनुष्यके बीच गहरी खाई उत्पन्न कर रहे हैं। वेद, कर्मकाण्ड और ब्राह्मणोंका स्वार्थमूलक व्यवहार समाजको विकृत करनेमें संलग्न है। जातिप्रथा कर्मकाण्डका मूल है और इस कर्मकाण्डपर पलनेके कारण तत्कालीन ब्राह्मण-समाज हिंसाप्रिय और अहमन्य है। आज जातिप्रथामें सड़ाँध आ गयी है। अतएव आजके समाजने मनुष्योंको विभिन्न वर्गोंमें विभक्त कर दिया है।

भाषा-नीति भी विकृत हो रही है। जनताकी बोलीसे पृथक् संस्कृतमें पुरोहित या धर्माचार्य अपना प्रवचन करते हैं, जिससे शासक और शासित ये दो वर्ग अलग-अलग दिखलायी पड़ते हैं। जनताकी भाषामें बोल या लिखकर शासकवर्ग अपनी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं कर सकता। अतएव सामान्य जनतामें अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये ही शासकवर्ग मनमाना शोषण कर रहा है। उच्चवर्ग अपनी भाषा विशिष्ट बतलाकर जनतापर शासन कर रहा है। अतः जनताको धर्म और धर्मके ठेकेदारोंके शिकंजोंसे मुक्त करनेके लिये उन्हें भाषासे भी मुक्त करना होगा, जो निहित स्वार्थोंकी प्रतीक बन गयी है।

महत्त्व भाषाका नहीं, भावोंका है। वास्तवमें वही भाषा श्रेष्ठ है, जो वक्ता और श्रोताके बीच सेतु बन सके। जिस भाषाको जनता समझ सके उसीमें उपदेश देना या वैचारिक क्रान्ति करना युक्ति-संगत है।

वर्तमानमें नारीकी भी प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी है। न उसे सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं और न पारिवारिक। शिक्षा और धर्म-संस्कारोंको प्राप्त करनेके अधिकारसे भी वंचित है। वेदाध्ययन करना या धर्मानुष्ठान करना उसकी अधिकार-सीमासे बाहर है। अतएव नारीसमाजका उत्थान करना भी इस समय आवश्यक है।

यज्ञोंमें की जानेवाली हिंसा बीभत्स और अमानवीय है। पर बलि-प्रधान-यज्ञके हिमायती ब्राह्मण और उच्च वर्गके अत्याचार एवं दबावके कारण किसी व्यक्तिमें इतनी शक्ति नहीं कि वह उसका तथा अन्य असामाजिक प्रवृत्तियोंका विरोध कर सके। न तो आज व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य ही है और न उच्च आचार-विचारको प्रतिष्ठा ही प्राप्त है। ज्ञान, कर्म और पाण्डित्यके दम्भने जन-सामान्यके हृदयको स्तब्ध कर दिया है। आजका मनुष्य मनुष्य नहीं, दानव दिखलायी पड़ता है। प्रेम, शान्ति और त्यागका वातावरण कहीं भी नहीं है।

महावीरने तद्युगीन समस्याओंपर विस्तारसे विचार किया। उन्होंने सोचा कि आज मनुष्य धनका दास बना हुआ है। वह धन और वैभवके बलसे स्वर्गका आज्ञा-पत्र प्राप्त कर सकता है। ऐसा कोई भी साधन नहीं जो धनके बलसे न खरीदा जा सके। यज्ञीय समस्त विधियोंका संयोजन भी धन द्वारा किया जा सकता है। अतएव धन-त्याग या परिग्रह-नियमनकी अत्यन्त आवश्यकता है। समाज कल्याणके मार्गसे दूर हट गया है। भोगने त्यागपर अपना अधिकार जमा लिया है। मित्रता, विश्वास, निष्कपटता और परम पुरुषार्थकी अवहेलना हो रही है। वृत्तियोंकी शुद्धि परम आवश्यक है। जबतक मनुष्य अपने विवेकको जागृत नहीं करेगा, तबतक उसका जीवन सांस्कृतिक नहीं हो सकता है।

इस युगमें आध्यात्मिक लोकतन्त्रके स्थापनकी अत्यन्त आवश्यकता है। हिंसा, असत्य, शोषण, संचय, कुशील-विचार, असहिष्णुता, संचय-शीलता आदिका विरोध करना मानवताके अभ्युत्थानहेतु आवश्यक है।

आज विचार-स्वातन्त्र्यको स्थान प्राप्त नहीं है। हठवाद और दुराग्रह मान-वताको पंगु बनाये हुए हैं। अपनी संकुचित दृष्टिके कारण विभिन्न संभावनाओं में आस्था उत्पन्न नहीं हो रही है। व्यक्ति, वस्तु, क्षेत्र और कालकी सीमाओं-का विचार नहीं किया जा रहा है। जबतक एकान्तवादका विष बना रहेगा, तबतक मनुष्य चरम शक्तिको प्राप्त नहीं कर सकेगा। वर्त्तमानमें लोगोंकी दृष्टि इतनी संकीर्ण और संकुचित है, जिससे वस्तुकी पूरी सम्भावनाओंपर विचार नहीं किया जा सकता है। असहिष्णु और अनुदार व्यक्ति सत्यका साक्षात्कार नहीं कर सकता है। अतएव सापेक्ष कथन ही सत्यके निकट पहुँचाता है। व्यक्ति, स्थिति या वस्तुको लेकर सब कुछ एक साथ और एक समयमें कहना सम्भव नहीं है। शब्द और शब्द-प्रयोक्ताकी अपनी सीमाएँ हैं तथा सुनने और समझने-वालोंकी भी अपनी सीमाएँ हैं। चाहे कोई कितना ही बड़ा दावा क्यों न करें, पर तथ्योंको एक साथ उपलब्ध नहीं कर सकता, मार्जिन सदैव ही बना रहता

है और इसका बना रहना भी आवश्यक है। आजकी इस संकुचित विचार-धाराको उदार और विस्तृत बनाना आवश्यक है।

निस्सन्देह महावीर किशोरावस्थासे ही विचारशील थे। वे जीवनके प्रथम चरणसे ही समाजकी विकृतियोंके लिये चिन्तित थे। वे समता, सहिष्णुता, अभय, अहिंसा एवं अनासक्ति आदि गुणोंका प्रचार और प्रसार चाहते थे। वे लोक-कल्याणकी उज्ज्वल ज्योति जलाकर समाजको आलोकित करना चाहते थे। उन्होंने किसी विद्यालय या महाविद्यालयमें जाकर विद्याका अभ्यास नहीं किया था। उनकी नैसर्गिक प्रतिभा अनुपम थी। वे सच्चे कर्मयोगी, महान् दार्शनिक, आत्मद्रष्टा और जीवन-क्षेत्रके अमर योद्धा थे। विश्वमें बड़े-बड़े युद्धोंके विजेता तो बहुत व्यक्ति हुए हैं, किन्तु कामनाओं और वासनाओंपर विजय प्राप्त करने-वाले महावीर कम ही हुए हैं।

महावीरने जीवनके जिस क्षेत्रमें प्रवेश किया उसमें अपने आचरण और व्यवहारोंका मान-बिन्दु स्थापित किया। उन्होंने स्वयं लोक-कल्याणके लिये कष्ट सहे और अपने पुरुषार्थ द्वारा बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाओंको समाप्त किया। अपने पवित्र आचरण और दिव्य-ज्ञानकी ज्योतिसे जन-जनको अनुरंजित किया।

जिस गुरुडममें धनिक-गरीब, राजा-रंक सभी डूबे हुए थे, उस गुरुडमको दूर करनेके लिये उन्होंने संकल्प लिया।

उनके गुणोंसे आकृष्ट होकर सहयोगी और समवयस्क ही उनके प्रति नत मस्तक नहीं होते थे, अपितु देवता भी उनका चरण-वन्दन करते थे, उनका यशोगान करते थे और अपनी समस्याओंका समाधान प्राप्त करते थे।

अलौकिक शक्तियोंका वरण

किशोरावस्थामें ही महावीरको अगणित अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हुईं। उनमें दैवी गुण प्रादुर्भूत हुए। जनता उन्हें श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखती थी। कोटि-कोटि मानव उन्हें वीतराग समझकर उनकी पूजा करते और उनके पवित्र चरणोंमें अपनी श्रद्धा निवेदित करते थे। उनका पराक्रम मित्रोंके लिये अनुकरणीय था। उनके शरीरसे न तो दुर्गंधित पसीना निकलता और न अन्य किसी प्रकारकी अशुचिता ही दृष्टिगोचर होती थी। अद्भुत रूप, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रवृषभ-नाराच-संहनन, अनन्त बल, अतिशय सुगन्धता एवं एकहजार आठ शुभ-लक्षण उनकी शारीरिक आभाको आलोकित करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि महावीरको नाना प्रकारके अतिशयों और वैभवोंने वरण किया था।

इसप्रकार उनका किशोर-काल या कुमार-काल अलौकिक और दैवीय गुणोंसे युक्त होकर व्यतीत होने लगा। उनकी प्रत्येक क्रिया विशिष्ट मालूम होती थी। वे सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा विशिष्ट विचारशील नेताके रूपमें दिखलायी पड़ते थे। यही कारण है कि उन्हें सभी लोग जापक, तारक, बोधक और मोचकके रूपमें देखते थे। वे स्वयं सोचते कि मानव-जीवन संगमर्मरके समान है और मानव एक शिल्पकार है। कुशल शिल्पीके हाथों द्वारा मानव-जीवन सुन्दरतम रूपमें परिणत हो जाता है। यदि मानव कुशल शिल्पकार नहीं बन पाया, तो जीवन-संगमर्मरका स्वयं कोई मूल्य नहीं है। संगमर्मरका यह टुकड़ा केवल पाषाण-खण्ड ही रह जायगा, इससे और आगे कुछ नहीं बनेगा। यदि सौन्दर्यकी अभिव्यञ्जना करनी है, तो कुशल शिल्पकार बनना होगा, तभी जीवन-संगमर्मरसे आराध्य आत्मा या भगवान्की मूर्ति गढ़ी जा सकेगी। मानव अपनेको पहचान ले तो उसे शिल्पकार बननेमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती है।

•

पञ्चम परिच्छेद

युवावस्था, संघर्ष एवं संकल्प

ग्रीष्म ऋतुके पश्चात् वर्षा जिस प्रकार आरम्भ होती है, उसी प्रकार कैशोर्यके अनन्तर महावीरके जीवनमें भी युवावस्थाका अध्याय आरम्भ हुआ। कलीने पुष्पका आकार ग्रहण किया और चारों ओर पुष्पका सौरभ फैलने लगा। किशोरावस्थाके आसनपर यौवनने अँगड़ाई ली, धूप-छाया एकसाथ अभिव्यक्त हुई। कैशोर्यकी विदाई और यौवनका आगम एक अपूर्व वय-सन्धि थी। एक ही प्रांगणमें सब कुछ भव्य और मनोहर प्रतीत हो रहा था। महावीर-का व्यक्तित्व विलक्षण था। शरीरमें अखण्ड यौवनका साम्राज्य रहनेपर भी उनका मन संसारके समस्त प्राणियोंके लिये करुणामें निमग्न था। समत्व उनकी श्वाँस थी और परिणाम-विशुद्धिपर उनका विशेष ध्यान था। मन, वाणी और कर्मसे वे सम्यक्त्वमें प्रवृत्त थे।

मनीषा प्रखर थी और विवेक उनके जीवनका सावधान प्रहरी था। उनका जीवन क्रान्तिका प्रतीक था, मुक्तिका दिव्य छन्द था और शक्तिकी एक विशाल शोधशाला था। यौवनके प्रकट होनेपर भी वे जलमें रहनेवाले कमलके समान संसारसे निर्लिप्त और निष्पंक थे। उनका जीवन अनासक्त था। उनके व्यक्तित्वके धरातलपर संसार था, पर तलमें वैराग्यका निवास था।

दिव्यदेह और पराक्रम

अखण्ड और सौन्दर्य-राशिने उनके तारुण्यको कृतार्थ कर दिया था। विलक्षण देह, सुगठित अवयव, ऊर्जस्वी मन, उद्दीप्त मुख, अंग-अंगके अपूर्व पुरुषार्थ एवं युवावस्थाका परिस्फुरण करवट ले रहा था। वस्तुतः महावीरका उज्ज्वल नया यौवन, विलक्षण पुरुषार्थ, बहुचर्चित पराक्रम और अप्रतिम तेज एक नया मार्ग ढूँढ़ रहा था। युवक महावीर जीवन-सत्यको अपने जीवनमें मूर्त्तिमान करना चाहते थे। वे नरसे नारायण बनकर स्वातन्त्र्य-उपलब्धिके लिये प्रयत्नशील थे।

यौवनने उनके विवेकको आच्छादित नहीं किया। वे निर्धूम अग्निके समान स्पष्ट और भास्वर बने रहे। उनकी मनीषा अहर्निश आत्मोन्मुख होती गयी। अहिंसाका रचनात्मक सूत्र उनके हाथमें आकर क्रियात्मक रूप धारण करने लगा। जैसे-जैसे युवावस्थाका ज्वारभाटा बढ़ता जाता, वैसे-वैसे महावीर साधना-पथकी ओर बढ़नेका संकल्प करते। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके अंकुरने अब विराट वटवृक्षका रूप धारण कर लिया था। लोक-कल्याण और आत्म-कल्याणका लक्ष्य उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता गया। वे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि अन्तरंग शत्रुओंसे जूझनेके लिये तैयारी करने लगे।

यह सत्य है कि महावीर राजकुमार थे। राज्य था, वैभव था, सेना थी, सेवक थे, सेविकाएँ थीं, विलास था और आमोद-प्रमोदके अनेक साधन थे। युवक महावीरके चारों ओर लौकिक सुखोंका अम्बार लगा हुआ था। उन्हें सभी प्रकारका आदर-सम्मान प्राप्त था। लक्ष-लक्ष मानवोंका प्यार, श्रद्धा और स्नेह उन्हें प्राप्त था। उनकी सात हाथ उन्नत काया यौवनकी कान्तिसे जग-मगा उठी। प्रजा उनके बलिष्ठ और कान्तिमय शरीरको देखकर सोचती थी कि एक दिन आयगा जब यही अलौकिक महापुरुष उसके अध्यात्म-मार्गका विधाता बनेगा। इस अलौकिक महापुरुषका जन्म किसी एक प्रान्त या वर्गके लिये नहीं हुआ है, वह तो सम्पूर्ण विश्वके प्राणीमात्रका कल्याण करेगा।

महावीरका सम्पूर्ण जीवन चिन्तनका क्षेत्र बन गया। इसकी सम्पूर्ण साधना विजयकी साधना हो गयी। जितेन्द्रिय बनना—आन्तरिक रूपसे आत्म-विरोधी तत्त्वोंपर विजय प्राप्त करना लक्ष्य हो गया। आत्मोदय स्वाधीनताके रूपमें परिणत होने लगा। शरीर और मनकी परतन्त्रता नष्ट होने लगी। परम-स्वातन्त्र्य अपने निज स्वभावकी ओर बढ़ने लगा। उनके पौरुषेय-पराक्रमसे अनन्त पर्यायोंके दुर्द्धर्ष मोह, राग और वासनाके विकार धूलिसात् होने लगे। चित्तकी चञ्चलता चेतनाकी चिन्मयतामें रूपान्तरित हो गयी। उन्होंने अपनी गतिशीलताको अन्तश्चेतनाके ऊर्ध्वीकरणमें प्रयुक्त किया। वे जीवनकी अन्तर्निहित शक्तियोंका स्फुरण करने लगे, जिससे राग-विद्वेषकी विकृतियाँ स्पष्ट ज्ञात होने लगीं। वे भीतर और बाहर इतने सुन्दर हो गये कि छिपानेको कुछ भी शेष नहीं रहा।

यों तो महावीरको संसारका प्रखर ज्ञान था। उनकी शाश्वत साधना अनेक जन्मोंकी थी और वे अपने इस अन्तिम पड़ावमें सम्पूर्ण चराचर जगत्‌की अनन्त पर्यायोंके ज्ञाता-द्रष्टा बननेको उत्सुक थे।

यौवनके आनेपर भी उनके जीवनमें कोई महत्त्वपूर्ण घटना घटित नहीं हुई। अतः घटनाओंके घटाटोपमें उनके व्यक्तित्वकी तलाश करना व्यर्थ है। अगणित भवोंमें तारुण्यके आते ही अनेक घटनाएँ घटित हुई थीं, पर वे सभी पीछे छूट गयी थीं। अब तो वे उस पथके नेता थे, जहाँ उन्हें पहुँचना था, जो उन्हें स्पष्ट दिखलायी पड़ता था।

इसमें सन्देह नहीं कि युवावस्थामें व्यक्तित्वको परिवर्तित करनेवाली घटनाएँ घटती हैं और घटनाओंका आकार-प्रकार वैसा ही होता है, जैसी हमारी वासना और आकांक्षा। हम प्रत्येक युवकसे लीला-प्रिय होनेकी आशा करते हैं। घटनाओं और सन्दर्भोंको उनके जीवनके साथ जोड़ना चाहते हैं। हमारे अपने संकल्प-विकल्प और विचार-वासनाएँ तरुणोंके जीवनमें घटनाओंका सृजन करती हैं। हम अपने विचारोंकी प्रतिच्छाया ही युवकोंके जीवनमें देखना चाहते हैं। युवाकी स्वाभाविक और प्रखर कान्ति हमें सन्दर्भ-कल्पनाके लिये प्रेरित करती है।

युवावस्थाके रहनेपर भी महावीरका व्यक्तित्व एक ओर जहाँ पुष्पकी तरह कोमल और सुरभित था, वहाँ दूसरी ओर अग्निकी तरह जाज्वल्यमान् भी था। उनके व्यक्तित्वमें चन्द्रमाके समान शीतलता और सूर्यके समान प्रखरताका समावेश था। वह गजकी तरह बलिष्ठ थे, तो वृषभकी तरह कर्मठ भी। उनका पराक्रम सिंहके समान निःशंक था।

महावीरके व्यक्तित्वमें सागरके समान गम्भीरता और हिमालयके समान उत्तुङ्गता विद्यमान थी। ज्ञानमें प्रखरता और करुणामें कोमलता प्रादुर्भूत हो रही थी। शान्ति और क्रान्तिका एकत्र समवाय दृष्टिगोचर हो रहा था। उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टिके साथ एकात्मकता और समरसताका अनुभव किया। युवावस्थाके रहनेपर भी उनका जीवन खुली पुस्तक था और आकाशके समान स्वच्छ और निर्मल था। उनके तारुण्य और भास्वर लावण्यने जन-जनका मन मोह लिया था। उनके दिव्य देहको देखकर मलिन मन भी पवित्र हो उठता था। अनन्त शक्तियोंका विकास दिनोंदिन होने लगा था। वे सामाजिक क्रान्तिके क्षेत्रमें एक नया अध्याय जोड़ना चाहते थे। उनका हृदय विप्लवसे भरा हुआ था। अन्याय और अनीतिकी राह चलता हुआ संसार उन्हें खटकता था। वे शोषितों, पीड़ितों और संतप्तोंके बीच अलख जगाना चाहते थे। जन-सामान्यकी दरिद्रता और जड़ताने उनके हृदयको झकझोर दिया था। वे विश्वको सह-अस्तित्वके महान् सन्देशकी ओर ले जाना चाहते थे।

जनताका आह्वान

निरीह पशुओंका हाहाकार उनकी चेतना और संवेदनाको आमन्त्रित कर रहा था। दिग्भ्रमित विश्वको वे स्पष्टतः दिशा-निर्देश करना चाहते थे। वे विगत तेईस तीर्थंकरोंके धुंधले पद-चिह्नोंको स्पष्टता और गम्भीरता देना चाहते थे। धर्म-दर्शनकी परम्पराओंपर जमी हुई रूढ़ियोंकी राखको साफकर अपनी साधनासे उसे निर्धूम अग्निका रूप देना चाहते थे।

नारीका करुण-क्रन्दन और दलित वर्गकी संवेदनाएँ उनके हृदयको आलो-डित कर रही थीं। आध्यात्मिकताकी क्रान्ति सशक्त भूमिका तैयार कर रही थी। मोह, माया, ममता और अस्मितापर विजय प्राप्त करनेके लिये उनका यौवन उत्ताल तरंगें ले रहा था। तप, त्याग और संयम द्वारा वे लोकके लोचन-कपाटोंको खोलना चाहते थे। जगत्के अनिवार्य कोलाहलमें भी उन्हें आत्माका संगीत सुनायी पड़ रहा था। जंजालोंमें भी वे प्राञ्जल बने हुए थे।

युवा महावीर वैशालीके बाल-सरस्वती बने हुए थे। उनके दर्शन-मात्रसे जनताके अन्तर्नयन उद्घाटित हो जाते थे। वय और विलक्षण मनीषाको देख लोग आश्चर्यचकित थे। यौवनमें धन-सम्पत्ति और अविवेकताके स्थानपर महावीरमें त्याग, विवेक और संयमका प्रादुर्भाव हो गया था। यौवनकी अमावास्या संयमके कारण पूर्णिमा बन चुकी थी। न उनके मनमें क्रोध था, न आकुलता और न किसी प्रकारका भय या आतंक ही था। उनकी सरलता

और स्वाभाविकता जन-जनके लिये वन्दनीय थी। अतएव वे विश्व-कल्याणके हेतु अपना सर्वस्व त्याग करनेके लिये प्रस्तुत थे।

माताकी ममता

माता त्रिशला महावीरके अद्वितीय और अलौकिक शरीरके तारुण्य और लावण्यको देखकर लाख-लाख मनसे उनपर बलिहारी हो जातीं। वह मन ही मन सोचतीं, क्या ही अच्छा होता, यदि महावीरका विवाह हो जाता और राजभवनमें बधूका प्रवेश होता। माताका मन बहूके सौन्दर्यकी कल्पनासे उल्लसित होने लगा। वह बेटेके भावी सुखकी कल्पना कर आनन्दित ही नहीं होतीं, अपितु कुछ क्षणके लिये उन्मत्त हो नृत्य भी करने लगतीं। त्रिशलाकी ममताका एकमात्र आधार महावीर था। वह अपनी समस्त आकांक्षाओंको महावीरके अभ्युदय द्वारा ही पूर्ण करना चाहती थी। वह अपने लाड़लेको सुख-भोगोंके बीच देखकर अत्यन्त आह्लादित होती थीं। उसकी कामना थी कि वह धूल-धूसरित पौत्रको गोदमें खिलाकर आनन्दित हो।

त्रिशलाने अपनी यह आकांक्षा महाराज सिद्धार्थके समक्ष प्रस्तुत की। सिद्धार्थने महारानीके प्रस्तावका समर्थन किया। मंत्रियोंने भी महाराज सिद्धार्थका अनुमोदन किया। फलतः योग्य कुमारीसे विवाह-सम्बन्ध स्थिर करनेके लिये रातदूत दौड़ाये गये। बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपनी-अपनी राजकुमारियोंका पाणिग्रहण-सम्बन्ध महावीरसे करनेके लिये लालायित थे।

विवाह-प्रस्ताव

महावीरकी जन्मगाँठके अवसरपर कलिंग देशके महाराज जितशत्रु अपने राज-शिविर सहित कुण्डग्राममें पधारे। इनकी षोडसी कन्या यशोदा अनुपम सुन्दरी थी। आकाश और धरती भी उसके सौन्दर्यका वर्णन करते थे। यशोदाकी आशुतोष छवि कलिंगका गौरव थी। मांसलपुष्ट देह, सुवर्णचम्पक-तुल्य वर्ण, शिरीषसम मृदुल गात, विशाल नेत्र, पूर्णेन्दु-तुल्य मुख, कोकिलकंठी और मृग-नयनी राजकुमारी यशोदाने महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशलाके मनको जीत लिया। महाराज सिद्धार्थ और रानी त्रिशला राजकुमारी यशोदाको अपनी पुत्रबधू बनानेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित थे[1]। सिद्धार्थने महारानी त्रिशलासे

---

१. यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमङ्गलम्।
अनेककन्यापरिवारयारुहत्समीक्षितुं तुङ्गमनोरथं तदा॥
—हरिवंश पुराण ६६।८.

कहा—देवि ! विवाह करनेके पूर्व राजकुमार महावीरसे भी सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। अतः विवाह-सम्बन्धी तैयारियाँ करनेके साथ महावीरसे सहमति लेना अनुचित नहीं होगा।

नगरमें मंगलवाद्य बजने लगे। समस्त राजभवन मंगल-गीतोंसे मुखरित हो उठा। सभी ओर नृत्य-गीतके सुमधुर आयोजन होने लगे। महावीर इन सबसे अनभिज्ञ थे। उन्हें इसका पता भी नहीं था। आखिर एक दिन अवसर पाकर माता त्रिशलाने राजकुमार महावीरसे विवाहकी चर्चा की—"बेटा ! कलिंगनरेश जितशत्रुकी पुत्री यशोदा अत्यन्त रूपवती है। मैं उसे अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहती हूँ। इस सम्बन्धमें तुम्हारा क्या अभिमत है ?"

महावीर माताके प्यार-भरे वचनोंको सुनकर मौन रह गये। उन्होंने कुछ उत्तर न दिया। माता त्रिशला कुमारके सिरपर हाथ फेरती हुई, पुचकारती हुई और प्यार करती हुई पुनः बोली—"लाड़ले ! जल्दी बताओ, मैं तुम्हारी सहमति चाहती हूँ। अब मेरी यही अभिलाषा है। आज तक तुमने मेरी सभी इच्छाओंका आदर किया है। अब मुझे निराश नहीं करोगे।"

राजकुमार महावीरने अर्थपूर्ण दृष्टिसे माँकी ओर देखकर कहा—"मुझे दुःख है माँ, तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण न हो सकेगी। मैं विवाह-बन्धनमें फँसकर परिवारकी परिधिमें आबद्ध नहीं होना चाहता। आज सामाजिक जीवनमें आर्थिक विषमता, वर्गभेद, घृणा, ग्लानि बढ़ती जा रही है। एक ओर सामान्य सुविधा-विहीन वह जनता है, जिसे दास या दलित वर्ग कहा जाता है और दूसरी ओर वह समाज है, जो ऐश्वर्य एवं प्रभुताके मदमें समाजकी इस बड़ी इकाईको अपनेसे पृथक् कर चुका है। यह प्रभुसत्ता-सम्पन्न वर्ग जनसामान्यका शोषण और दुरुपयोग भी करता है। आज दास-दासियोंके रूपमें नर-नारियोंका क्रय-विक्रय हो रहा है। इस प्रकार सारा समाज अस्त-व्यस्त और विशृंखलित है। अतएव मैं विवाह-बन्धनमें न बंधकर सत्यका अनुसन्धान करूँगा और जीवनकी श्रेष्ठताओंका वरण करूँगा।"

राजमाता त्रिशला आश्चर्यचकित हो करुण स्वरमें बोल उठी—"पुत्र ! विवाह न करोगे ? क्या मैं पौत्रके मुख-दर्शनसे वंचित रह जाऊँगी ? माताका मातृत्व पौत्रकी प्राप्तिपर ही पूर्ण होता है।"

राजकुमार महावीर—"माँ ! मैंने लोक और आत्मकल्याणका महाव्रत लिया है। देख रही हो, आज चारों ओर अधर्म और अज्ञानका अन्धकार व्याप्त है। चारों ओरसे पापका धुआँ निकल रहा है। बलि दिये जानेवाले पशुओंकी

करुण चीत्कारसे दिशाएँ कम्पित हो रही हैं। माँ! मैं अन्धकारको प्रकाशमें बदलना चाहता हूँ और सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति उत्पन्न कर समाजको मार्ग-दर्शन कराना चाहता हूँ। मैं जीवनके निर्मल लक्ष्यको छोड़कर विषयेच्छाओंमें उलझना नहीं चाहता। साधनामें सबसे बड़ा बाधक परिग्रह है और यह परिग्रह पारिवारिक सम्बन्धोंसे प्राप्त होता है। इसका सर्वथा त्याग करना अनिवार्य है। विवाह जीवनकी परिधिको संकीर्ण कर देता है। अतः इसका त्याग तो आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।"

"जीवनकी भूलों और अन्धकारके बीच प्रकाशमान सत्यको देखना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः मैं सत्यके अनुसन्धानमें प्रवृत्त होनेका प्रयास करूँगा।"

"सत्य प्रसन्नताका जनक है। यह सभ्यताका उत्पादक है और यही जीवनको श्रेष्ठ एवं पवित्र बनाता है। सबसे ऊँची महत्त्वाकांक्षा जो किसीको भी हो सकती है, वह सत्य ज्ञानकी है। सत्य ही व्यक्तिको परोपकार करनेका अधिकसे अधिक सामर्थ्य देता है। यही तलवार भी है और ढाल भी है। यह आत्माका पवित्र प्रकाश है। सत्य खोज करनेसे मिलता है, तपश्चर्यासे मिलता है और मिलता है अनुभवसे।"

राजमाता त्रिशला महावीरके उपर्युक्त कथनको सुनकर स्तब्ध हो गयीं। वह सोचती थीं कि पुत्रका विवाह करूँगी। राजभवनमें पुत्रबधू लाकर मंगलगीतोंसे उसे मुखरित कर दूँगी। फूल जैसी सुकुमारी पुत्रबधू जब राज-प्रांगणमें विचरण करेगी, तो मेरे सभी स्वप्न साकार हो जायँगे।

महावीरने तो एक ही झटकेमें मेरे समस्त स्वप्नोंके भव्य भवनको धूलिसात् कर दिया। अतः वह पुनः साहस एकत्र कर कह उठी—"बेटे! तुम लोककल्याणमें प्रवृत्त होगे, अधर्म और अज्ञानके अन्धकारको दूर करोगे, पर इस राज्यका क्या होगा? इसे कौन सम्हालेगा?"

महावीरने संयत स्वरमें उत्तर दिया—"माँ! सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं। जो नष्ट होनेवाली वस्तुएँ हैं, उनकी हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। हमें तो शाश्वत सत्यको प्राप्त करना है और इसी उपलब्ध सत्य द्वारा समाजको व्यवस्थित करना है। यह जीवनसे पलायन नहीं है, अपितु वास्तविक जीवनके साथ समझौता करना है।"

माताका आशीर्वाद

माता त्रिशला साधारण माता नहीं थीं। यदि महावीर अद्वितीय पुत्र थे,

राजकुमारावस्थामें ध्यानरत तीर्थंकर महावीर

संसार त्यागनेसे लगभग एक वर्ष पूर्व, जब महावीर अपने राज-प्रासादमें ध्यान-मग्न खड़े हुए थे, उस समयकी यह मूर्ति बनायी हुई है ।

तो वह भी अद्वितीय मातृपदपर प्रतिष्ठित थीं। उन्होंने तीर्थंकरको जन्म देकर महान् गौरव प्राप्त किया था। त्रिशलाके हृदयमें धर्म था, ज्ञान था, श्रद्धा थी और जन-कल्याणकी भावना थी। वह अपने पुत्रको प्रणय-सूत्रमें अवश्य बाँधना चाहती थी, पर यह नहीं चाहती थी कि महावीर जीवनके सच्चे पदको छोड़ दें। अत: जब उसने महावीरके मनमें विवाहके प्रति विरक्ति देखी, तो वह मौन हो गयी। उसने अनुभव किया कि महावीरका कथन यथार्थ है।

वर्तमान समाज धनके आगे झुकना और घुटने टेकना जानता है। आज धनसे शक्ति, सम्मान, प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। अत: जबतक समाजमें सत्य, न्याय और विवेककी प्रतिष्ठा नहीं होगी; तबतक समाज आत्म-निर्भर नहीं हो सकता है। राजकुमार महावीर सत्य-अनुसन्धानके हेतु यदि विवाह नहीं करते हैं, तो कुछ भी अनुचित नहीं है।

महावीरका अनुचिन्तन

महावीरके हृदयमें अनेक अनुभूतियाँ बड़ी तीव्रतासे जागृत होने लगीं। वे सोचने लगे कि "कहीं मैं पुत्रके कर्त्तव्यसे च्युत तो नहीं हो रहा हूँ।" माता-पिताकी आज्ञा स्वीकार करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है, पर मैं आध्यात्मिक पथका पथिक हूँ। मुझे संयमका पाथेय चाहिये। पिताका हृदय ममताका अतल समुद्र है, और माँके वात्सल्यका अन्त नहीं है। पर ये सब व्यामोह हैं। मोहके परिणाम हैं। मोक्ष और मोह दो परस्पर विरोधी तथ्य हैं। इनमेंसे किसी एकका ही चयन करना होगा। मोह बन्धन है, त्याग मुक्ति है। मुझे मुक्ति प्राप्त करनी है। अत: मैं विवाहके कीचड़में क्यों फंसूँ? यदि मैं बन्धनमें फंस गया, तो इस विकट परिस्थितिमें मुक्तिका प्रवर्त्तन कौन करेगा? मैं काम, वासना, हिंसा, अज्ञान, असत्य, पराधीनता और आडम्बरके दुर्भाग्यपूर्ण अनु-बन्धपर नेत्र बन्दकर हस्ताक्षर नहीं कर सकूँगा। आदितीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तकको उदात्त परम्परा मेरे समक्ष है। मुझे एक वैज्ञानिकके समान सत्यका अनुसन्धान कर कुछ नये अध्याय जोड़ने हैं। आत्माकी स्वतंत्रता उपलब्ध करनी है और वासनाकी दासतासे उन्मुक्त होना है। संसारका यह वैभव कब किसका हुआ है? यह सब कुछ क्षण-ध्वंसी है। मेघ-पटलके समान क्षणभरमें विलीन होनेवाला है।"

"आज व्यापक रूपमें प्राणियोंका बध हो रहा है। समाजमें विकृतियाँ बढ़ती जा रही हैं। स्वार्थने धर्मकी पावनता को खण्डित कर दिया है। चारों ओर कपट और मायाचार पनप रहे हैं। मनुष्य-मनुष्यका शोषण कर रहा है। हिंसा,

झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, अज्ञान, भ्रम, दुराचार, अविश्वास और आडम्बरकी वृद्धि होती जा रही है। यज्ञोंमें निरपराध जीवित पशुओंको झोंका जा रहा है और उनके दु:सह चीत्कारसे मानवता आक्रान्त हो रही है। अतः मेरा कर्त्तव्य मुझे आत्म-साधनाकी ओर प्रेरित कर रहा है।"

परिणय-बन्धनसे स्पष्ट इनकार

महावीरके अनुचिन्तनने उनके विचारोंको परिपुष्ट किया और उन्होंने स्पष्ट रूपमें कलिंग-नरेश जितशत्रुकी अनिन्द्य सुन्दरी कन्या यशोदाके साथ विवाह करनेसे इनकार कर दिया और घोषित किया कि मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहकर सत्यज्ञान प्राप्त करूँगा और उसका आलोक जन-जन तक पहुँचाऊँगा। मुझे समाजके विशाल भवनकी नींवको दृढ़ करना है। मुझे देवताओंके मन्दिर नहीं बनाना हैं अपितु जन-जनके मानस-मन्दिरको सुसंस्कृत करना है। मानवशक्तिके होते हुए अपव्ययको रोकना है। प्रत्येक जड़-चेतनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। किसीका किसीपर अधिकार नहीं है। सभी पदार्थ अपने परिणामी स्वभावके अनुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित होते हैं।

महावीरका हृदय आध्यात्मिक क्रान्तिके विप्लवसे भर गया और वे सोचने लगे कि संसारमें कोई किसीका नहीं है। सभी आत्माएँ स्वतन्त्र रूपसे कर्त्ता और भोक्ता हैं। जो जैसा करता है, उसे वैसा फल मिलता है। फल देनेवाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं है। अतः वे अपने माता-पितासे आत्म-निवेदन करने लगे—

"पूज्यवर! मैं आपका पुत्र हूँ, किन्तु आप ही बतलाइये कि इस संसारमें कौन किसका है? संसारका प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है। जीवन अनित्य है, दु:खमय है। इस चरम सत्यसे इनकार नहीं किया जा सकता है। आत्मा अमर और शाश्वत है। परिवर्तन तो जगत्का शाश्वत नियम है। यह चेतन और अचेतन दोनोंमें ही होता है, पर इतनी बात अवश्य है कि जड़में परिवर्तनकी प्रतीति शीघ्र हो जाती है, जबकि चेतनगत परिवर्तनकी प्रतीति शीघ्र नहीं हो पाती है। यदि चेतनमें परिवर्तन न होता, तो आत्माका दु:खीसे सुखी होना और अशुद्धसे शुद्ध होना यह कैसे सम्भव हो सकता है? जीवन और जगत्में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, यह चरम सत्य है।"

"शरीर अनित्य है। धन और वैभव भी शाश्वत नहीं है। मृत्यु सदा सिरपर नाचती रहती है। न जाने किस क्षण श्वाँस बन्द हो जायगी। जिस दिन बालक जन्म ग्रहण करता है, उसी दिनसे उसके पीछे मृत्यु लग जाती है।"

"जिस शरीरपर मनुष्य अभिमान करता है, वह शरीर भी विविध प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त है। क्रीड़ाओं और व्यथाओंका भाण्डार है। न जाने कब और किस समय कहाँपर उसमेंसे रोग फूट पड़ेंगे। अतएव मुझे ऐसे लक्ष्य तक पहुँचना है, जहाँ वैषम्यका प्रश्न नहीं। सबकुछ समत्वके वातावरणमें स्पन्दित है।"

"मैं शोषित, पीड़ित और सन्तप्तोंके मध्य भोगरत जीवन-यापन करना अपराध मानता हूँ। पिताजी! क्या इस व्यापक दरिद्रता और जड़ताके रहते हुए, मुझे समृद्धियोंके बीच विलास-मग्न होनेका अधिकार है? मैं इस मर्त्य-जीवनसे अमृतत्वको प्राप्त करना चाहता हूँ। यह अमृतत्व ही आत्मतत्त्व है। अविनाशी है, नित्य है और शाश्वत है। यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय है। आलोक या प्रकाश-पुञ्ज है।"

"मेरे जीवनका लक्ष्य संसारको शान्ति प्रदान करना है। मैं इन भूले और भटके हुए प्राणियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना चाहता हूँ। अहिंसा, सत्य और अचौर्य आदिके द्वारा मानवमें मानवताकी प्रतिष्ठा करना चाहता हूँ। अतएव आपका भव्य आशीर्वाद मेरी साधनाके पथको आलोकित करेगा।"

महाराज सिद्धार्थ महावीरके विचारोंको सुनकर पुलकित हो उठे। उनका पितृत्व धन्य हो गया। वे बाल्यकालसे ही महावीरका सम्मान करते थे और उनमें पूर्ण व्यक्तित्वका दर्शन करना चाहते थे। उन्हें विश्वास हो गया कि महावीर अविवाहित रहकर ही विश्वका कल्याण करेंगे। उनका कार्यक्षेत्र परिवार और वैशाली-गणतन्त्र तक ही सीमित नहीं रहेगा, अपितु वे पूरे विश्वको अपने आलोकसे आलोकित करेंगे। अतएव उन्होंने महावीरको उनके उच्च विचारोंपर मौन स्वीकृति प्रदान की। सिद्धार्थका पितृत्व भावी तीर्थंकरत्वसे पराजित हुआ।

माताकी विह्वलता

पुत्रको विरक्त अवगत कर सिद्धार्थने तो किसी प्रकार धैर्य धारण किया, पर माताकी विह्वलता अभी भी ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण थी। माताको आशा थी कि महावीर अभी विवाहके पक्षमें भले ही न हों, पर आगे वह मेरा आग्रह स्वीकार कर लेगा। माताके वात्सल्यको ठुकराना संभव नहीं है। अतएव त्रिशला हृदयका साहस एकत्र कर पुत्रके विचार-परिवर्तनकी प्रतीक्षा करने लगी। वह पुत्र-परिणयके दृश्यका काल्पनिक आनन्द लेती हुई रोमांचित होने लगी। वह सोचती-महावीर वयमें कम, परंतु प्रज्ञा और प्रतिभामें ज्येष्ठ है। उन

जैसा समझदार पुत्र किसी सौभाग्यवती माताको ही प्राप्त होता है। अभी तो महावीरका मन कच्चा है, समय आने पर उसे बदलना सम्भव है।

माता त्रिशलाने एकान्त देखकर एकाध बार अपने पुत्रसे प्रेमपूर्वक पाणि-ग्रहण करनेका अनुरोध भी किया, पर महावीरका दृढ़ संकल्प ज्यों-का-त्यों बना रहा। उन्होंने अपनी स्नेहमयी माताको समझाया और बतलाया कि इस समय त्रस्त मानवताकी रक्षा करना आवश्यक है। महावीरके चिन्तनको ज्ञात कर माता त्रिशलाको भी यह निश्चय होने लगा कि महावीर अपने संकल्पपर अडिग रहेगा और यह सांसारिक बन्धनमें न बँधकर स्वन्त्र रूपसे जन-क्रान्ति करेगा। संसारकी कोई भी मोह-माया इन्हें बाँध नहीं सकती है। यह तो वर्गहीन समाजकी स्थापना कर आत्म-स्वातन्त्र्य लाभ करेगा। अतएव पुत्र विवाह न भी करे, तो भी मेरी आँखोंके समक्ष बना रहे यही मेरे लिये बहुत है।

यौवन और गृह-निवास

तीर्थंकर महावीरका जन्म ऐश्वर्यपूर्ण परिवेशमें हुआ था और उनके चारों ओर परिवार एवं वैशाली गणतन्त्रकी समृद्धि व्याप्त थी। युवावस्थाके प्राप्त होनेपर उन्होंने विवाह न करनेका दृढ़ संकल्प किया एवं उनके हृदयमें विराग-का अंकुर पल्लवित हुआ। भोगसे योगकी ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी। यतः अतिसमृद्धिमेंसे ही त्यागकी प्रवृत्ति जन्म लेती है। गहरे रागमें विराग पनपता है। राजभवनमें नर्तकियोंके पग-नूपुरकी झंकार सुनायी पड़ती, परिचारक इच्छा व्यक्त होनेके पहले ही भोग-सामग्रियाँ प्रस्तुत कर देते। उत्तरोत्तर भोगके साधन बढ़ रहे थे।

पंचेन्द्रियोंके रमणीय सुख पूर्णरूपेण समवेत थे। न अशन-वसनकी कमी थी और न भोग-सामग्रीका ही अभाव था। महावीर प्रातःकाल व्यायाम आदिसे निवृत हो एकान्त चिन्तनमें समय यापन करते। रमणीया हरितवसना वसुन्धरा महावीरके मनको प्रसन्न करती। वैशालीके जनपदमें ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं था, जो महावीरका सम्मान न करता हो। वे सभीकी आँखोंके तारा थे। काञ्चन वर्ण और गम्भीर मुखमुद्राको देखकर जन-जन उनके चरणोंमें नत-मस्तक हो जाते थे। जब महावीर नगर-परिभ्रमणके लिये निकलते तो पौरा-ङ्गनाएँ गवाक्षोंसे एकटक दृष्टिसे देखा करती थीं। राजकुमार महावीरको सभी भोग-सामग्रियाँ प्रचुर रूपमें उपलब्ध थीं।

बड़े-बड़े सामन्त और मुकुटधारी नृपतिगण उनके चरणोंकी वन्दना करते थे। वे अपनी कठिनाइयाँ उन्हें निवेदित करते और विचक्षणबुद्धि महावीरसे अपनी

समस्याओंका समाधान प्राप्त करते। राजा सिद्धार्थ महावीरके बढ़ते हुए इस प्रभावको देखकर अत्यन्त पुलकित थे। वे पुत्रकी समृद्धिको अवलोकित कर सुनहले स्वप्न संजोते और विचार करते कि महावीरका जन्म देशकी जनताको दासताके बन्धनोंसे मुक्ति दिलानेके लिये हुआ है। वास्तवमें मैं धन्य हूँ, जिसके घरमें तीर्थंकर महावीरने जन्म लिया है। यह विश्वका धर्म-नेता बनेगा और समस्त व्यवधान, अमंगल और मोह-बन्धनोंको शिथिल करेगा।

महावीरको सब कुछ सहज और सुलभ था। बड़ी-बड़ी लावण्यवती वाराङ्गनाएँ अपने नृत्य, वाद्य और संगीत द्वारा उनका मनोरंजन करती थीं, पर महावीरका चित्त इनसे अलग था। उनका मन भव-सागरके उस तटपर चरम शक्तिका अन्वेषण करता था। वे मोक्ष-साधनके लिये तैयारियाँ कर रहे थे। अपनी इस साधनाके समक्ष उन्हें सांसारिक सुख अकिंचन प्रतीत होते थे। उनके अन्तःकरणको राजसी विलास एक क्षण भी नहीं रुचता था। वे अपने पूर्व भवोंका स्मरण करते हुए कभी सोचने लगते—

चिन्तनधारा

"आज जिन विनश्वर ऐश्वर्योंके बीच मैं हूँ, उनसे कई गुना अधिक वैभव भोग चुका हूँ। मुझे अगणित देवाङ्गनाओंका सुख मिला, इच्छानुसार अमृतकी प्राप्ति हुई, पर तृप्तिका अनुभव कभी नहीं हुआ। सांसारिक समस्त भोगोपभोग त्याग-सुखकी तुलनामें नगण्य हैं। अब संयम और त्यागका अवसर उपस्थित हुआ है। अतः मुझे आत्म-शुद्धिकी दिशामें प्रगति करनी है। मोह, माया, ममता और अस्मितापर विजय प्राप्त करनी है। अहंताके पंकसे ऊपर उठकर जीवन-को निर्मल बनाना है। मुझे उन दिनोंकी स्मृति आ रही है, जब मैं पुरुरवा भीलकी पर्यायमें धनुष-बाण लेकर आखेट किया करता था। उन दिनों मुनि सागरसेनने मुझे उपदेश दिया था, उसकी आज भी स्मृति बनी हुई है।

जटिल-पर्यायमें मिथ्याशास्त्र पढ़कर मैंने जिन भोगोंका आस्वादन किया था और मेरी आसक्तिके कारण मुझे जो नर-नारकादि पर्यायें प्राप्त हुई थीं, उनकी स्मृति-रेखा अभी भी अंकित है। विश्वनन्दीकी पर्यायमें मेरे द्वारा किये गये पराक्रमपूर्ण कार्य एवं विरक्त होती गयी साधनाकी स्मृति अक्षुण्ण है। त्रिपृष्ठनारायणकी पर्यायमें मैंने संगीत, चित्र, नृत्य आदि विभिन्न कलाओं द्वारा जो मनोरंजन किया था, उसकी भी स्मृति भूली नहीं है। इस प्रकार मैंने विगत अनेक भवोंमें अपार वैभवका भोग किया है। यह सत्य है कि इस भोग-परम्परासे आत्म-साधनाकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। वीतरागताकी प्राप्ति

बड़ी कठिनाईसे होती है आत्मानुभूति सहज नहीं है। आत्माको विकारोंसे बचानेकी आवश्यकता है। राग-द्वेषके वातावरणसे बाहर निकल कर एकबार जो श्वांस लिया कि उसकी सुगन्ध स्वयमेव सर्वशक्तिमानकी अनुभूति उत्पन्न करा देगी। सुषुप्त आत्मशक्तिके जागृत होनेपर विकाररूपी शत्रुओंका कहीं पता-ठिकाना भी नहीं रहता। जीवनमें एक नयी चमक आ जाती है, नया मोड़ उत्पन्न हो जाता है और सच्चे आनन्दकी उपलब्धि होती है। पूर्णताके अभावमें सर्वशक्तियोंका उदय नहीं हो पाता।

महावीर ज्यों-ज्यों वयकी सीढ़ियोंपर चढ़ते गये, त्यों-त्यों भोगासक्तिके स्थानपर विरक्ति-भावना वृद्धिगत होती गयी। जिस यौवनावस्थामें सांसारिक प्राणी विषय और भोगोंके प्रति आकृष्ट होते हैं और क्षणिक सुखके लिये अपने जीवनको अर्पित कर देते हैं, उसी यौवनावस्थामें महावीर पूर्णरूपसे विरक्ति प्राप्त करने लगे। तीस वर्षकी अवस्था तक वह गृहस्थ-जीवनमें रहे, पर उनका मन एक क्षण भी परिवार, गृह और भोगोंमें आसक्त न हो सका। उनके मनमें कई बार तूफान उठा कि वह गृहस्थ-जीवनके बन्धनोंको तोड़कर अपनी लक्ष्य-सिद्धिके लिये निकल पड़े। पर किसी न किसी कारणवश उन्हें रुक जाना पड़ा। वस्तुतः साधनाकी उपलब्धि सहजमें नहीं होती है। जबतक काललब्धि उपलब्ध नहीं होती, तबतक चाहनेपर भी साधना-पथ नहीं मिल पाता है।

महावीरमें अद्भुत शूरता और वीरता थी। प्रायः देखा जाता है कि लोग सन्यास लेनेके लिये घर-द्वार छोड़ते हैं। पर घरके बीच रहकर इन्द्रियसुख और मोह-ममतासे संघर्ष करना साधारण बात नहीं है। रोग, दुःख, पापाचार, क्रोध, मान, माया, लोभ और अहंकार ऐसे साधन हैं, जो व्यक्तिको एक सामान्य परिवेशमें बन्द करके रखते हैं। महावीरको वैशालीमें सभी सांसारिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं, पर उनका मन सदा विरक्त रहता था। अतः वैशालीके सुख-साधन उन्हें अधिक दिनों तक अपने बीच रोक न सके। उन्हें राज्य, भवन, सुख-सम्पदा, कुटुम्ब एवं बन्धुवर्ग आदि सभी बन्धन प्रतीत हो रहे थे। वे इन बन्धनोंसे ऊपर उठकर स्वयंबुद्ध बननेका प्रयास कर रहे थे। वे अपने जीवन-प्रवाहको नयी दिशामें परिवर्तित कर साधक बनना चाहते थे। गृह-वास करते हुए भी वे संसारसे विरक्त थे। अब उनके अन्तस्तलमें वैराग्यकी उत्ताल तरंगे उठ रही थीं। पुरजन-परिजन इन तरंगोंको शान्त करना चाहते थे, पर महावीरके संकल्पको परिवर्तित करनेकी क्षमता किसीमें नहीं थी। तप, त्याग, संयम और ज्ञानके अक्षय पदको प्राप्त करनेके लिये महावीर प्रयत्नशील थे।

युगकी पुकार

महावीरका युग एक क्रान्तिकारी युग-द्रष्टा व्यक्तिको पुकार रहा था। चारों ओर "त्राहि माम्, त्राहि माम्"की ध्वनि गूँज रही थी। यज्ञोंके धूम, पशुओंके करुण चीत्कार, नारीपर किये जानेवाले जोर-जुल्म एवं शूद्र और दलितोंपर किये गये अत्याचार जोर-जोरसे पुकार रहे थे कि कोई एक आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महान् प्रभावशाली व्यक्ति उपस्थित हो और संसारके अन्याय एवं अनीतिका विरोध करे। वास्तवमें इस समय युगका आह्वान न सुनना मानवताकी अवहेलना करना था। युग संयम और त्यागकी ओर टकटकी लगाये देख रहा था। अतः लोक-कल्याणके लिये दृढ़ संकल्प ग्रहण करना आवश्यक था। दुःखी संसार आँखें खोलकर किसी महान् व्यक्तिकी प्रतीक्षा कर रहा था। चारों ओर अनेक तरहकी प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त हो रही थीं। प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंगसे अपनी-अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त कर रहा था। दीर्घकालसे चली आयी सार्वदेशिक विषमताको दूर करनेके लिये महावीरकी खोज थी। जनकल्याणका मार्ग सभी नहीं प्राप्तकर सकते हैं। इसके प्राप्त करनेवाले तो कोई एकाध व्यक्ति ही होते हैं। अतः महावीरने वैराग्य ग्रहण करनेका संकल्प लिया। युगकी पुकार उन्होंने सुनी और वे युगनिर्माणके कार्यमें प्रवृत्त हुए।

मचल उठा त्रिशलाका मातृत्व

त्रिशलाने जब महावीरकी आध्यात्मिक जागृतिका संवाद सुना तो उनका मातृत्व मचल उठा। ममता उतावली हो उठी और उसके मनःप्राण शून्य हो गये। वह सोचने लगी—"राजसी वैभवमें पला मेरा लाड़ला बीहड़ वन-पर्वतोंमें किस प्रकार विचरण करेगा? ग्रीष्मके कड़े सन्तापको कैसे सहन करेगा? जिसने आजतक मखमलको छोड़कर नंगी भूमिपर चरण भी नहीं रखा, वह कंटकाकीर्ण भूमिमें किस प्रकार गमन करेगा? शीत-ऋतुमें सरिता-तटोंपर कैसे विचरण करेगा? जब मूसलाधार वर्षा होगी, तब वह किस प्रकार खुले आकाशमें साधना कर सकेगा? कहाँ तो मेरे पुत्रकी सुकुमारता और कोमलता; और कहाँ कंकरीली कठोर धरती? तप्त शिलाखण्डोंपर बैठकर आत्मचिन्तन करना, क्या सुकुमार महावीरसे संभव होगा? हाथियोंकी चिंघाड़, सिंहोंकी गर्जना एवं सर्पोंके उत्कट फूत्कारोंको यह कैसे सहन कर सकेगा? मेरा हृदय आशंकासे दहल रहा है और मेरा रोम-रोम काँप रहा है।"

माता त्रिशलाकी विचारधारा और तीव्रतासे आगे बढ़ी। वह चिन्तन करने लगी कि "जिसके सुकोमल पगतलोंमें प्रकृतिने स्वयं महावर लगाया है,

जिस लाड़लेने स्वप्नमें भी संघर्ष नहीं किया है, वह इन विषम परिस्थितियोंसे जूझेगा ? राजसी कोमल शैय्यापर शयन करनेवाला मेरा पुत्र कठोर चट्टानपर किस प्रकार शयन करेगा ? कहाँ बीहड़ वन और कहाँ सुख-सुविधा-सम्पन्न राजभवन। आजतक मैं जिसके मुखको निहारकर पुलकित होती रही और इसी आशामें जीवित रही कि मेरा प्यारा पुत्र महावीर मेरी मनोकामना पूर्ण कर मेरे जीवनको सफल करेगा। अब उसके संन्यासी बन जानेपर मैं जीवनको नीरस घड़ियोंको किस प्रकार विताऊँगी ? मैं पुत्रके वियोगको एक क्षणके लिये भी सहन करनेमें असमर्थ हूँ। यह मैं मानती हूँ कि महावीरपर मेरा उतना ही अधिकार है, जितना कोटि-कोटि मानवका। महावीर मेरा ही पुत्र नहीं है, वह जन-जनका प्यारा लाड़ला है।" माता त्रिशलाके सोचनेकी तीव्रताने उसे मूर्च्छित कर दिया।

परिचारिकाएँ जल लेकर उपस्थित हुईं और चन्दन-मिश्रित शीतल जलके सिंचन करते ही त्रिशलाकी मूर्च्छा दूर हो गई।

चेतनाके लौटते ही पुत्र-वात्सल्य उमड़ पड़ा। उसे सारा संसार रूक्ष, कर्कश और कठोर प्रतीत हुआ। सारा दृश्य मर्मस्पर्शी था। माता लड़खड़ाती हुई उठी और संतप्त हृदयसे महावीरको ढूँढ़ने लगी। महावीर दृढ़ संकल्प लेकर वैराग्यकी ओर कटिबद्ध थे। उनके अन्तरंगमें वीतरागताकी उत्ताल तरंगें उठ रही थीं और यह संसार उन्हें स्वार्थोंका जलता हुआ पुञ्ज दिखलाई पड़ रहा था।

लौकान्तिकों द्वारा चरण-वन्दन

महावीरकी विरक्तिको अवगत कर लौकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभुके चरणोंकी वन्दना करते हुए स्तुति की—

"प्रभो ! आप धन्य हैं और धन्य है आपका अमर संकल्प। आपने जिस जीवनके वरणका संकल्प किया है, उससे समस्त लोकोंका कल्याण होगा। आप तप, त्याग, संयम और ज्ञानके अक्षयपदको प्राप्त करेंगे। सर्वज्ञ और हितोपदेशी बनकर विश्वका कल्याण करेंगे। हम सभी आपके वैराग्यकी प्रशंसा करते हैं। आपने जन-कल्याणके लिये जिस साधना-पथका अनुसरण करनेका संकल्प लिया है, वह महनीय है। इस समय विश्वको आप जैसे साधक धर्म-नेताकी आवश्यकता है। निःसन्देह महापुरुषके जीवनमें एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह विषय-वासनाओं और भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर यथार्थ सत्यको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र हो उठता है। आत्म-संयमकी उच्च भावनाओंमें रमण करना उसे प्यारा

लगता है। धन, सम्पत्ति, राज्य, भोग-विलास आदि वस्तुएँ तो बाह्य साधन हैं और अपूर्ण हैं, क्योंकि वे स्वयं नाशवान हैं। अतएव हम आपके त्याग, संयम और सत्यानुष्ठानकी प्रशंसा करने एवं आपके वैराग्यका अनुमोदन करनेके लिये यहाँ उपस्थित हुए हैं। आप मति, श्रुत और अवधि ज्ञानके धारी, विवेकी एवं आत्म-शोधक हैं। आपकी साधनामें सफलताकी तनिक भी आशंका नहीं है। आप अपने संकल्पको अवश्य पूरा कीजिये।

माताको सांत्वना

इन्द्रको जब अवधिज्ञानसे तीर्थंकर महावीरको विरक्तिका समाचार ज्ञात हुआ, तो वह उल्लासमें पगा कुण्डग्राम आ पहुँचा और उसने कई प्रकारसे हर्षोत्सवोंका आयोजन किया। देव विभिन्न प्रकारके उत्सवोंका आयोजन करते हुए महावीरके वैराग्यकी श्लाघा करने लगे। आगत देवोंने माता त्रिशलाको विह्वल देखा तो वे मातृ-हृदयकी प्रशंसा करते हुए सांत्वनाके स्वरमें कहने लगे—

"जगदम्बे! तीर्थंकरकी माता होकर आपने महान् पुण्य अर्जित किया है। आपका पुत्र परम तेजस्वी और विश्वका कल्याणकारक है। आप इतना विलाप क्यों करती हैं? चिन्ता छोड़िये। शीत, आतप और वर्षाका कष्ट सहन करनेका उसमें अपूर्व सामर्थ्य है। ये वज्रवृषभनाराचसंहननसे युक्त हैं। धीरजके धनी हैं और समस्त उदात्त गुणोंसे सम्पन्न हैं। इन्हें सर्वोच्च पद तीर्थंकरत्व प्राप्त करना है। यह ऐसा पद है, जिसके समक्ष संसारके समस्त पद और वैभव तुच्छ माने जाते हैं। महावीर स्वयं तो मुक्ति प्राप्त करेंगे ही, पर वे अन्य साधकोंके लिये भी तीर्थका निर्माण करेंगे। विशृंखलित और विघटित होते हुए समाजका स्थिरीकरण भी इन्हींके द्वारा सम्पन्न होगा। तुम्हारी कुक्षि धन्य है। तुमने एक लोकोद्धारक विभूतिको जन्म दिया है। संसार शताब्दियों तक तुम्हारे चरण-वन्दन करेगा। देवि! तुम्हारे समान सौभाग्यशाली नारियाँ कितनी हैं? अतएव वास्तविक परिस्थितिको ज्ञातकर शान्त हो जाइये"।

देवोंकी इस सांत्वनाप्रद वाणीको सुनकर माताका मन कुछ हल्का हुआ। फिरभी पुत्र-वियोगकी कल्पना इन क्षणोंमें भी उसे विह्वल बना रही थी। उसे विश्वास नहीं हो पाता था कि उसका लाड़ला महावीर वनकी उन भयावनी स्थितियोंका सामना कर सकेगा? राजसी वातावरणमें पालित-पोषित और सम्वर्द्धित महावीर तपश्चर्यामें होनेवाले कष्टोंको सहन कर सकेगा? त्रिशलाका मातृत्व उसे विह्वल कर रहा था। आँखोंमें सावन-भादोंके बादल घिरे हुए थे। मन ममतामें उफन रहा था और महावीर दीक्षा-कल्याणककी तैयारी कर रहे

थे। अब उन्हें एक क्षण भी वैशालीमें निवास करना असह्य प्रतीत हो रहा था। देवोंने विलखते हुए मातृत्वको सांत्वना दी और महावीरकी शक्तियोंका परिज्ञान कराया।

चरण चल पड़े

मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी २९ दिसम्बर ई० पू० ५६९ की तिथि भारतीय इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अंकित है।[1] इस दिन कुण्डग्रामका राजमार्ग जयघोषोंसे गूँज रहा था और महावीर कामनाओं एवं विषय-वासनाओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये कृतसंकल्प थे। उनके साहस और शौर्यपूर्ण चरण आत्मविजयकी ओर बढ़ रहे थे। देशोंपर विजय प्राप्त करनेवाले तो विश्वके इतिहासमें अनेक महापुरुष मिलते हैं, पर कषायों और विषय-वासनाओंको जीतनेवाले महामानव कम ही होते हैं। महावीर विषय-वासनाओंकी कटीली झाड़ियोंको काटनेके लिये गतिशील थे। कोटि-कोटि मानव श्रद्धा और विश्वाससे अवनत हो चरण-स्पर्श कर रहे थे। वे मानवको दुःखोंसे त्राण देनेके हेतु उद्यत थे।

वास्तवमें इन्द्रियोंकी दासता और विलासिता दुर्दमनीय शत्रु हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली शत्रुओंको पराजित करनेवाले अनेक योद्धा होते हैं। पर रोग, शोक, कदाचार और काम जैसे अन्तरंग दुर्दमनीय शत्रुओंको तो तीर्थंकर महावीर जैसे विरले महामानव ही पराजित कर सकते हैं।

महावीर राज्य-भवन, सुख-सम्पदा और कुटुम्ब-वर्गको त्यागकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये सन्नद्ध हो गये। समस्त कुण्डग्राममें शोक और उल्लासकी लहर व्याप्त हो गयी। शोक इसलिये कि उनके प्राणप्रिय राजकुमार उन्हें छोड़कर जा रहे थे और उल्लास इसलिए कि उनके श्रद्धापात्र महावीर उन विषय-वासनाओंसे युद्ध करनेके लिए जा रहे हैं, जिन्हें अबतक लोग अजेय, अविजित समझते आ रहे थे। एक ओर जनताके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, तो दूसरी ओर जनताके कण्ठसे जयनाद भी निकल रहा था। हर्ष और विषादके समागमका अद्भुत दृश्य था।

कुण्डग्राम-वासियोंने महावीरके दीक्षा-कल्याणककी पूरी तैयारी की। इस उत्सवमें देव भी सम्मिलित हुए। समारोहमें परिजन-पुरजन और प्रजाजन एकत्र हुए। सबने महावीरको विदा दी। सभीके नेत्र आँसुओंसे गीले हो रहे

---

१. मग्गसिरबहुलदसमी अवरण्हे उत्तरासु णाधवणे।
तदियव्ववणम्मि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण॥

—तिलो० प० ४।६६७

थे। और हृदयमें प्रबल आकर्षण था। नेत्रोंसे गिरती अश्रुधारा और जनताका निश्छल प्रेम भी महावीरके चरणोंको बाँधनेमें असफल रहा। धन्य थे उनके चरण। उनके उन चरणोंमें कितनी गति थी। कितनी संचरण-शक्ति थी।

जनता डबडबाई आँखोंसे महावीरके मुखको देखती रही और महावीर मोह-बन्धनोंको तोड़कर 'चन्द्रप्रभा' पालकीपर जा बैठे।

आत्म-स्वातन्त्र्यकी बेला

देव और मानवोंके बीच विवाद आरम्भ हुआ कि त्रिलोकीनाथ महावीरकी इस चन्द्रप्रभा पालकीको पहले कौन उठायेगा? देवोंने अपने तर्क उपस्थित किये और मानवोंने अपने तर्क। मानवोंने कहा जो महावीरके साथ दीक्षित हो सकता है, वही उनकी इस पालिकीको अपने कंधोंपर उठानेका अधिकारी है। संयम-ग्रहण करनेमें असमर्थ देव कतराने लगे और मानव-मंगलके वे क्षण अत्यन्त भाग्यशाली बन गये। आरंभमें मानवोंने कंधोंपर पालकीको उठाया; अनन्तर देव-देवेन्द्र पुलकित हो 'चन्द्रप्रभा' पालकीको उठाये हुए 'खण्डवन'की ओर बढ़ने लगे। इसे 'नायखण्डवन' या 'ज्ञात-खण्डवन' भी कहते हैं। वैशाली गणतन्त्रने आत्मस्वान्त्र्यकी बेलाका अनुभव किया।

तुमुल जयघोषोंसे गगन, धरा, दिग्दिगन्त गूँज उठे। वैशालीसे ज्ञातखण्डवन तक सम्पूर्ण प्रदेश जीवन्त था। आध्यात्मिक जागृतिकी लहर एक छोरसे दूसरे छोर तक व्याप्त थी। जीवनकी समस्त उज्ज्वलताएँ लोक-कल्याणके लिये प्रवृत्त थीं।

पालकी-वाहकोंने उद्यानमें पहुँच कर महिमामय अशोकवृक्षके नीचे पालकीको उतारकर रख दिया। महावीर पालकीसे नीचे उतरे और अशोकवृक्षके नीचे स्थित मणिजटित स्फटिक-शिलापर आसीन हो गये और उत्तर दिशाकी ओर मुखकर अपने समस्त वस्त्राभूषणोंको त्यागकर दिगम्बर वेश धारण किया। अब वे यथाजात शिशुवेषमें दिखाई पड़ रहे थे। कितना हृदय-द्रावक और प्रभावक यह दृश्य रहा होगा, जिसमें एक राजकुमार अपने विशाल वैभवको ठुकरा कर अपरिग्रही विरक्त बन रहा हो। दिग्बधुओंने दिगम्बर महावीरको आरती उतारी और देव-मानवोंने दीक्षा-कल्याणक सम्पन्न किया। महावीरने सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार कर पंच-मुष्टियों द्वारा अपने राजसी, सुकोमल, स्निग्ध केशोंका लुञ्चन किया। उन्होंने शरीरके मोहपर पूर्ण विराम लगा दिया और आत्म-लोचन एवं आत्म-शोधनमें प्रवृत्त हुये।

अट्ठाईस मूलगुणोंको धारण

समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर महावीरने अट्ठाइस मूलगुणोंके पालन करनेकी महाप्रतिज्ञा की। वे ज्ञान-ध्यानमें लीन हो संयम-आराधनामें संलग्न हो गये।

महावीरने (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा की। अनंतर उन्होंने पंच-समितियोंको स्वीकार किया। प्रमादजन्य पापोंसे बचने और मनको एकाग्र करनेके लिए समितियोंकी आवश्यकता होती है। महावीर द्वारा स्वीकृत समितियाँ निम्न प्रकार हैं:—

(६) ईर्या-समिति—जीवोंकी रक्षाके हेतु सावधानीपूर्वक चार हाथ आगेकी भूमि देखकर चलना।

(७) भाषा-समिति—हित मित और प्रिय वचन बोलना।

(८) एषणा-समिति—सावद्य रहित पवित्र भोजन ग्रहण करना।

(९) आदान-निक्षेपसमिति—वस्तुओं (साधु द्वारा स्वीकार्य पिछी, शास्त्र और कमण्डलु) के रखने और उठानेमें प्रमादका त्याग कर सावधानी रखना।

(१०) व्युत्सर्ग-समिति—जीव-जन्तु रहित भूमिपर मल-मूत्र त्याग करना।

तीर्थंकर महावीरने पाँच महाव्रत और पाँच समितियोंके पालन करनेका संकल्प कर निम्नांकित गुणों—सद्‌वृत्तियोंके पालन करनेकी भी प्रतिज्ञा की—

(११) स्पर्शन-निरोध—प्रिय और इच्छित वस्तुके स्पर्शका निषेध।

(१२) रसना-निरोध—अभीप्सित वस्तुके रसास्वादनका त्याग।

(१३) घ्राण-निरोध—इच्छित गन्धके सूँघनेका निषेध।

(१४) चक्षु-निरोध—इच्छित वस्तुके अवलोकनका त्याग।

(१५) श्रोत्र-निरोध—रागात्मक इच्छित संगीतके श्रवणका त्याग।

(१६) सामायिक—समभावका पालन।

(१७) चतुर्विंशतिस्तव—तीर्थंकरोंका स्तुति-पाठ।

(१८) वन्दना—देव-गुरुको नमस्कार।

(१९) प्रतिक्रमण—दोषोंका शोधन और प्रकटीकरण।

(२०) प्रत्याख्यान—अयोग्यके त्यागका नियमन और व्रत-पालन।

(२१) कायोत्सर्ग—नियत कालके लिये देहसे ममत्व त्यागकर खड़े होना।

(२२) केश-लुञ्चन—नियत कालमें उपवासपूर्वक अपने हाथसे केशोंका लुञ्चन करना—उखाड़ना।

(२३) अचेलकत्व—वस्त्रादि द्वारा शरीरको नहीं ढँकना।

(२४) अस्नान—स्नान, अञ्जनादिका त्याग करना।

(२५) क्षिति-शयन—शुद्ध एकान्त स्थानमें एक करवटसे शयन करना।

(२६) अदन्त-धावन—दँतौन आदि नहीं करना।

(२७) स्थित-भोजन—अपनी अञ्जुलिमें समपाद खड़े होकर नियमित भोजन करना।

(२८) एकभक्त या एक समयका भोजन—सूर्योदय और सूर्यास्त कालमें तीन घड़ी अर्थात् एक घंटा बारह मिनट समय छोड़कर एकबार भोजन करना।

महावीरने साधुके इन अट्ठाइस मूलगुणोंको स्वीकार किया और साधना द्वारा अपने गुप्त आत्म-वैभवको प्रकाशित करनेका प्रयास किया। महावीरने जीवनकी ममतासे ऊपर उटकर मोह और विकारका त्याग किया। युवा योगिराट् महावीरने दिगम्बररूप धारणकर यह बता दिया कि वे जितेन्द्रिय हैं। विकारोंपर उन्होंने विजय प्राप्त करनेके लिये कमर कस ली है। निर्मलता और सरलता उनके रोम-रोममें समा गयी है। वे हिमालयके समान दृढ़-प्रतिज्ञ होकर उपवासमें प्रवृत्त हुए। वह कुण्डग्रामके ज्ञातृखण्ड उद्यानसे चलकर कुल्यपुर पहुँचे और वहाँ उन्होंने वकूल या कूल राजाके यहाँ प्रथम आहार ग्रहण किया।

वकूल या कूलको ही हिन्दी-कवियोंने 'नृपकुमार' कहा है। वरांगचरितमें इस वकूल नामक नृपकुमारको अत्यन्त धर्मात्मा कहा गया है। उत्तरपुराणमें इसे कूल बताया गया है।

•

स्पष्टीकरण

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के षष्ठ परिच्छेद में भगवान् महावीर के तपश्चरण, वर्षावास एवं कैवल्यलब्धि का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है — आगम ग्रन्थों में वर्षावासों का वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णन से महावीर के मानवीय जीवन का उज्जवल पक्ष अंकित हो जाता है। यहां आगम ग्रन्थों से उनका अभिप्राय श्वेताम्बर साहित्य से है क्योंकि दिगम्बर साहित्य में इस प्रकार के कथन नहीं पाये जाते हैं। भ्रम की संभावना के परिमार्जन के लिये यह स्पष्टीकरण किया जाता है।

(प्रकाशक)

षष्ठ परिच्छेद

तपश्चरण, वर्षावास एवं कैवल्य-उपलब्धि

अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग करते ही महावीरको मनःपर्यय-ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। वे इस ज्ञानको प्राप्तकर ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे। उनकी सतत साधना बढ़ती जा रही थी। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते आदि सभी अवसरोंपर उनका मन चिन्तनसे विरत नहीं था। वे अपने आपको सभी ओरसे समेटकर आत्म-अनुभवमें लीन हो रहे थे और सर्वस्वका विसर्जनकर विश्व-मंगलकी कामनासे ओत-प्रोत थे।

वे ग्रीष्मकी तपती हुई दुपहरियामें खुले आकाशमें अग्नि-वर्षा करते हुए सूर्यके नीचे उत्तप्त पाषाण-शिलापर तपस्या करने बैठ जाते और अविचल भावसे दीर्घकाल तक तपस्यामें लीन रहते। वर्षा-ऋतुमें जब घनघोर वर्षा, भयंकर

तूफान और बादलोंकी गड़गड़ाहटका आतंक व्याप्त रहता था, उस समय वे वृक्षके नीचे अविचल भावसे खड़े हुए तपश्चर्यामें लीन रहते थे।

चारों ओर हरी-हरी घास उग आती। ताल-तलैयाँ जलसे परिपूरित हो जातीं। मक्खी और मच्छरोंकी भरमार हो जाती, ऐसे समयमें भी महावीर अनावृत्त कायामें संयमकी साधनामें लीन रहते। शीत-ऋतुमें बर्फीली हवाएँ चलतीं, घरसे निकलना पशु-पक्षियोंके लिये भी असम्भव था। ऐसे समय निर्वस्त्र रहकर महावीर नदीके शीत-लहरीयुक्त तटपर ध्यानावस्थित रहते। पर्वतकी किसी उपत्यका, गुफा अथवा सूनसान, निर्जन और भयंकर स्थानोंमें जाकर वे तपस्या करते। इस प्रकार महावीरकी साधना उत्तरोत्तर उग्रतर होती गयी।

महावीर विहार करते समय किसी भी स्थानपर तीन दिनोंसे अधिक नहीं ठहरते थे। साधनाके दिनोंमें उन्होंने अगणित स्थानोंकी यात्राएँ कीं, अगणित मानवोंसे भेंट की और अगणित प्रकारके उपसर्ग सहन किये। तपश्चर्याके दिनोंमें जब वर्षा ऋतु आती, तो वे किसी एक स्थानपर रहकर चातुर्मास व्यतीत किया करते थे। उन्होंने साढ़े बारह वर्षोंके लम्बे तपश्चरण-कालमें कितने ही स्थानोंमें चातुर्मास किये।

महावीरके चातुर्मासोंके स्थानोंके साथ बड़े ही प्रेरक सन्दर्भ जुड़े हुए हैं। इन सन्दर्भोंसे एक ओर तत्कालीन समाजकी कायरता, कदाचार और पापाचार अभिव्यक्त होते हैं, तो दूसरी ओर तीर्थंकर महावीरके अदम्य साहस, धैर्य, सहनशीलता, दया एवं क्षमाके चित्र भी प्रस्तुत होते हैं। यहाँ महावी[र] वर्षावासोंके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना अप्रासंगिक नहीं होग[ा]

आगम-ग्रन्थोंमें वर्षावासोंका वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णनसे महावी[र] मानवीय जीवनका उज्ज्वल पक्ष अंकित हो जाता है।

प्रथम वर्ष-साधना : सहिष्णुता और साहस

ज्ञातृखण्डवनसे एक मुहूर्त दिन शेष रहनेपर महावीर कर्मार ग्राममें पहुँचे और कायोत्सर्ग धारण कर ध्यानमें संलग्न हो गये। इसी समय एक ग्वाला अपने बैलों सहित वहाँ आया और महावीरसे बोला—"मैं गाय दुहकर अभी गाँवसे वापस आता हूँ। मेरे ये बैल चर रहे हैं, इनकी निगरानी रखियेगा।" वह उत्तरकी प्रतीक्षा किये बिना ही गाँव चला गया। महावीर तो ध्यान-मग्न थे। उन्हें ग्वालेकी बातका कुछ भी ज्ञान नहीं था। बैल घास चरते हुए वनमें बहुत दूर चले गये। ग्वाला जब घरसे वापस आया और

उस स्थानपर बैलोंको चरता हुआ न पाया, तो उसने महावीरसे पूछा-"मेरे बैल कहाँ चले गये ?" महावीरने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उसने क्रोधाविष्ट हो महावीरको बहुत बुरा-भला कहा। पर जब उनसे कुछ भी उत्तर नहीं मिला, तो उसने समझा कि इन्हें मालूम नहीं है। अतः वह बैलोंको ढूँढनेके लिये जंगलकी ओर चल दिया। रातभर वह बैलोंकी तलाश करता रहा, पर बैल उसे नहीं मिले। प्रातःकाल होने पर उसने बैलोंको महावीरके पास बैठे रोमन्थन करते हुए पाया। ग्वाला बैलोंको महावीरके पास प्राप्तकर क्रोधसे जल-भुन गया और अपमानके स्वरमें बोला—"बैलोंकी जानकारी होते हुए भी आपने मुझे नहीं बतलाया। मालूम होता है कि आप मुझे तंग करना चाहते थे, इसीलिये रातभर मुझसे परिश्रम कराया गया।" यह कहकर हाथमें ली हुई रस्सीसे उसने महावीरको मारनेका प्रयास किया। तभी किसी भद्र पुरुषने आकर ग्वालेको रोका और कहा कि "अरे, यह क्या कर रहे हो ? क्या तुझे मालूम नहीं कि जिन्होंने कल ही दीक्षा ली है, वही ये महाराज सिद्धार्थके पुत्र महावीर हैं। इन्हें तुम्हारे बैलोंसे क्या प्रयोजन ? ये तो आत्म-ध्यानी हैं और कर्म-कालिमाको दूर करनेके लिये प्रयत्नशील हैं। अतएव इन्हें मारना-पीटना या अपशब्द कहना सर्वथा अनुचित है।"

ग्वालेने नतमस्तक होकर महावीरसे क्षमा-याचना की और वह बैलोंको लेकर चला गया।

ममताकी झोपड़ी कहाँ ?

अप्रतिबन्ध विचरण करते हुए महावीर मोराक-सन्निवेशमें पधारे। यहाँ दुर्जयन्त नामक तापस-कुलपतिका आश्रम था। आश्रमके समीप कल-कल निनाद करते हुए निर्झर प्रवाहित हो रहे थे। शांत वातारण था और कुलपति महावीरके पिताका मित्र था। उसने दूरसे ही महावीरको आते हुए देखा। कुलपतिने महावीरका स्वागत किया और अपनी कुटियामें विश्राम कराया।

प्रातःकाल महावीर जब चलने लगे, तो कुलपतिने उन्हें भावभीनी विदाई दी और इसी कुटियामें चातुर्मास करनेका निवेदन किया। तीर्थंकर महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करनेके उपरान्त पुनः मोराकसन्निवेशमें आये और कुलपतिकी उसी कुटियामें चातुर्मास करनेका निश्चय किया।

वर्षा-ऋतु प्रारम्भ हो चुकी थी, पर वर्षाकी कमीके कारण पर्याप्त मात्रामें वहाँ घास उत्पन्न नहीं हुई थी। गायोंका पेट नहीं भर रहा था। अतः भूखी गायें अपनी क्षुधाको शान्त करनेके लिये झोपड़ीकी घास खानेको

आने लगीं। महावीर तो मौन रूपमें आत्म-साधनामें संलग्न थे, उन्हें झोंपड़ीकी क्या चिन्ता थी ?

एक दिन कुलपतिके साथ उनके सभी शिष्य बाहर गये हुए थे। गायोंने उस दिन जी भरकर झोंपड़ीकी घास खायी और जब संध्या समय कुलपति वापस लौटा, तो उसने देखा कि झोंपड़ीका अधिकांश भाग उजाड़ दिया गया है। गायें उसकी घास खा चुकी हैं और महावीर ध्यानस्थ हैं। इस स्थितिको देखते ही कुलपतिको क्रोध उत्पन्न हो गया और महावीरको डाँटने लगे—"पक्षी भी अपने घोंसलेका ध्यान रखते हैं, आप तो मनुष्य हैं, आपको अपनी इस झोंपड़ीकी रखवाली करनी चाहिये थी। अरे, जिस झोंपड़ीमें रहते हो, उसकी रक्षा भी तुमसे सम्भव नहीं। तब तुम क्या साधना करोगे ?"

अभी वर्षावासके प्रारम्भ होनेमें कुछ दिन अवशिष्ट थे। अतः महावीरने वहाँसे विहार कर दिया और मनमें दृढ़ संकल्प लिया कि जो स्थान सस्वामिक हो, वहाँ नहीं ठहरना और निर्जन स्थानमें ध्यान एवं आत्म-शोधनका सम्पादन करना है। अब मौन रूपमें ही विचरण करूँगा।

मिट गये शूल, बन गये फूल

महावीर मोराक-सन्निवेशसे ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अस्थिग्राम पधारे। यहाँ ग्रामके बाहर रात्रिमें शूलिपाणि यक्षके चैत्यमें ठहरे। जनताने उनसे अनुरोध किया—"प्रभो ! यहाँका निवासी शूलपाणि महादुष्ट है। यदि रात्रिमें कोई भी भूला भटका यात्री इस चैत्यमें आकर ठहर जाता है, तो यह यक्ष उसे मार डालता है। आपको जो हड्डियोंका पहाड़ दिखलायी पड़ रहा है, वह इसी यक्षके कुकर्मोंका फल है। अतएव आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिये और यहाँ रात्रि व्यतीत करनेका कष्ट न कीजिये। आप त्यागी-तपस्वी हैं। अतः दूसरा स्थान उपलब्ध करनेमें आपको कठिनाई नहीं है। यहाँ रहकर व्यर्थ प्राण मत दीजिये। जो इस यक्षके फँदेमें फँस जाता है, वह जीवित नहीं जा सकता।

लोगोंने यक्षके भय और आतंककी अनेक घटनाएँ सुनायी तथा इस प्रकारके दृश्य उपस्थित किये, जिनसे कोई भी विचलित हो सकता था।

महावीर साहस और शूर-वीरताकी मूर्त्ति थे। उन्होंने सोचा कि—"सम्यक् दृष्टिको न कोई भय है और न कोई भयजन्य किसी प्रकारकी पीड़ा ही। मैं तो इसी चैत्यमें रहकर चातुर्मास व्यतीत करूँगा और ध्यान द्वारा सभी प्रकारके उपसर्गोंको जीतूँगा।" महावीर कायोत्सर्ग-मुद्रामें ध्यानस्थित हो

गये। जब आधी रात्रिका समय व्यतीत हुआ और यक्षने देखा कि एक नग्न संन्यासी उसके चैत्यमें निर्भय होकर ध्यानारूढ़ है तो उसका क्रोध बढ़ गया और वह नाना प्रकारके रूप बना-बनाकर महावीरको असह्य और असंख्य यातनाएँ देने लगा। पर महावीरपर इन सबका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अपशब्दोंके साथ मार-पीट भी की, पर अन्तमें हताश हो वह तीर्थंकर महावीरके चरणोंमें गिरकर क्षमा-याचना करने लगा और स्तुति करता हुआ अन्तर्हित हो गया।

बताया जाता है कि उपसर्गके दूर होनेपर तीर्थंकर महावीरको रात्रिके अन्तिम प्रहरमें कुछ क्षणके लिये नींद आयी और इसी समय उन्होंने कुछ स्वप्न देखे। इसके पश्चात् तो महावीर समस्त जीवन भर जागृत ही रहे और बारह वर्षोंके तपश्चरणमें एक क्षणको भी न सोये।

महावीरका अनुपम साहस और त्याग अतुलनीय था। उनकी अनवरत साधना द्वारा कर्मपाश शिथिल हो रहे थे। अविचल तपने कर्मकी शृंखलाओंको जर्जर कर दिया था। महावीरका रोम-रोम एक दीप्त आत्म-ज्योतिका सिंहासन बना हुआ था। चारों ओर एक प्रभामण्डल उनके भावी तीर्थंकरत्वका तूर्य-नाद कर रहा था।

अपने इस प्रथम चातुर्मासमें महावीरने पन्द्रह-पन्द्रह दिनके आठ अर्द्धमासी उपवास किये और पारणाके लिये केवल आठ बार उठे।

बताया जाता है कि तीर्थंकर महावीरके निमित्तसे शूलपाणि-यक्षके शान्त हो जानेके कारण अस्थिग्रामका नाम वर्द्धमाननगर रख दिया गया, जो आज भी 'वर्दवान'के नामसे पश्चिम बंगालमें प्रसिद्ध है। महावीरकी साधना अनुपम थी। उन्होंने एक वर्षके साधना-कालमें ही अनेक ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं।

द्वितीयवर्षकी साधना : सर्पोद्बोधन

प्रथम चातुर्मास समाप्त कर महावीरने अस्थिग्रामसे विहार किया और वे वे मोराकसन्निवेश पहुँचे। वहाँ कुछ दिन तक ठहर कर उन्होंने वाचलाकी ओर प्रस्थान किया। जब वे मार्गमें कुछ आगे बढ़े तो गाय चरानेवाले ग्वालोंने उनसे प्रार्थना की कि "यह मार्ग निरापद नहीं है। इसमें भयंकर एक दृष्टिविष नामक सर्प रहता है। वह पथिकोंको अपने दृष्टिविषसे मार डालता है। उसके विषैले फूत्कारसे आकाशमें उड़ते पक्षी भी धरतीपर आ गिरते हैं।

इतना ही नहीं उसके तीव्र विषके कारण आस-पासके वृक्ष और लताएँ भी सूख कर ठूँठ बन चुकी हैं।"

इस समस्त सन्दर्भको सुनकर महावीरने विचार किया कि "एक ओर चंडकौशिक है, तो दूसरी ओर निरन्तर हो रही विनाश-लीला है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि इस चंडकौशिक या दृष्टि-विषको उदबोधित कर सन्मार्ग पर लगाना आवश्यक है। इस विषधरके विषको अमृतमें परिवर्तित करना मेरा काम है।" अतएव महावीर निर्भय होकर वनके उसी मार्गसे विहार करने लगे। जिसमें नागराज दृष्टिविष निवास करता था। दृष्टिविषने तीर्थंकर महावीरको ज्यों ही देखा, फुफकार मारने लगा, विषकी ज्वालाएँ उगलने लगा। महावीर उसके बिलके पास ही स्थिर और अडिग होकर खड़े रहे। नागराजने देखा कि फुफकारका प्रभाव नहीं पड़ रहा है, तो उसने महावीरके पैरके अंगूठेको जोरसे डँस लिया। उसे अनुभव हुआ कि इस व्यक्तिके रक्तमें रक्तका स्वाद नहीं, अपितु दुग्धका स्वाद आ रहा है। उस सर्पने कई बार महावीरको डंसा, पर महावीर अविचल भावसे ध्यानस्थ रहे।

दोनों ओरसे बहुत समयतक संघर्ष चलता रहा। एक ओरसे क्रोधरूप महादानव रह-रहकर विषकी ज्वालाएँ उगलता था, तो दूसरी ओरसे क्षमाकी अमृत-पिचकारी छूट रही थी। दृष्टिविष विषका वमन करते-करते थक गया और पराजित होकर महावीरके चरणोंके पास लोटने लगा। प्रभुने अपने क्षमा-अमृतसे उसके विषकी ज्वाला सदाके लिये शान्त कर दी।

दृष्टिविष महावीरके मौनरूपसे सम्बोधित होकर मन-ही-मन विचारने लगा-"वास्तवमें मनुष्यका अहित कषायावेशके कारण ही होता है। मैंने क्रोध-कषायके कारण अपनी कितनी योनियोंको यों ही नष्ट किया है। आत्माका सच्चा मंगल रत्नत्रयके द्वारा ही सम्भव है। मैंने इस महानुभावके पगतलमें कई बार दंशन किया है। इसके शरीरसे निकलनेवाला रक्त दूधके समान स्वादिष्ट और मीठा है। इनके मौन सम्बोधनसे मेरा कल्याण सुनिश्चित है।"

दृष्टिविष महावीरका मौन उद्बोधन प्राप्तकर सचेत हुआ और अपना मुख नीचेकी ओर करके कुँएमें लटक गया। उसने फुफकार मारना बन्द कर दिया और सल्लेखना व्रतमें संलग्न हुआ। अन्तमें अहिंसाकी साधना द्वारा दृष्टिविषने अपने देहका त्यागकर सद्गति प्राप्त की।

इस प्रकार महावीर निर्भय हो ग्रामानुग्राम बिहार करते हुए श्वेताम्बी नगरीमें पधारे। यहाँके राजा प्रदेशोने भगवान्‌का स्वागत किया और भक्तिपूर्वक

उनके चरणोंकी वन्दना की। राजा प्रदेशी महावीरके दर्शन-वन्दनसे बहुत प्रभावित हुआ और धर्माराधनकी ओर प्रवृत्त हुआ।

सुरभिपुरमें ज्योतिर्विदकी भविष्यवाणी और चक्रवर्तित्वके लक्षण

श्वेताम्बी नगरीसे चलकर महावीरने सुरभिपुरकी ओर विहार किया। कुछ दूर चलनेके अनन्तर मार्गमें गंगा नदी मिली। इसे पार करनेके लिए महावीर-को नावपर बैठना पड़ा। नाव जब नदीके मध्यमें पहुँची, तो भयंकर तूफान आया। नाव भँवरमें पड़कर चक्कर काटने लगी। तूफानकी तेजीको देखकर सभी यात्रियोंको ऐसा अनुभव हुआ कि अब प्राण-रक्षा होना कठिन है। अतः वे 'त्राहि,' 'त्राहि' करने लगे। महावीर नावके एक किनारे बैठे हुए सुमेरुवत् ध्यानस्थ थे। उनके मनमें न किसी प्रकारकी आशंका थी और न भयके चिह्न ही। महावीरका साहस अतुलनीय था। तूफानके कारण उठती हुई लहरें शनैःशनैः शान्त होने लगीं। गंगाकी प्रायः समस्त आकुलित जलराशि स्तब्ध हो गयी।

एकाएक तूफानके शान्त होनेसे नावमें सवार लोगोंको ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों किसी चमत्कारी व्यक्तिने जादू कर दिया हो। भयंकर तूफानका आना, भँवरोंका उठना, नावका डगमगाना, उनका सहसा शान्त हो जाना और नावका तटपर सकुशल पहुँच जाना आश्चर्यकी बात थी। नावमें बैठा जन-समुदाय इसे महावीरका चमत्कार मान रहा था और उनका जयनाद कर रहा था।

महावीर नावसे उतरकर थूणाक-सन्निवेशकी ओर चल दिये। मार्गमें अंकित उनके पदचिह्नोंको देखकर एक सामुद्रिक-वेत्ता आश्चर्यमें डूब गया और सोचने लगा कि ये चरणचिह्न तो किसी चक्रवर्त्तीके ही हो सकते हैं। अतः वह उन पदचिह्नोंका अन्वेषण करता हुआ वहाँ पहुँचा, जहाँ महावीर ध्यानस्थ खड़े थे। उसने सिरसे पैर तक महावीरपर दृष्टि डाली। वह उनके सर्वाङ्गमें चक्रवर्त्तीके चिह्न देखकर चिन्तामें पड़ गया। वह सोचने लगा—"इस महापुरुषमें चक्रवर्तीके सभी शुभ लक्षण विद्यमान हैं। शंख, चक्र, गदा आदि चिह्नोंके साथ हाथकी ऊर्ध्व रेखाका उन्नत होना एवं गुरु और भौमके पर्वतोंका समतल रूपमें उत्कृष्ट होना चक्रवर्त्तित्वका सूचक है। इस महापुरुषमें ऐसा एक भी लक्षण कम नहीं है, जिससे इसे चक्रवर्त्ती न माना जाय। निमित्त-शास्त्रमें धर्मनेता, चक्रवर्ती एवं भाग्यशालियोंके जिन लक्षणोंका वर्णन मिलता है, वे सभी लक्षण इसमें विद्यमान हैं। क्या कारण है कि यह पुरुष साधु बनकर जंगलोंमें परिभ्रमण कर रहा है? निमित्तशास्त्रकी दृष्टिसे यह अत्यन्त विचार-णीय है"।

ज्योतिर्विद अपनी इस शंकाका समाधान प्राप्त करनेके लिए इधर-उधर

तलाश करने लगा। किसी भद्रपुरुषने बतलाया कि ये अपरिमित लक्षणवाले धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर महावीर हैं। इनके शुभ लक्षणोंसे स्पष्ट है कि ये जन-क्रान्तिके नेता, आत्मशोधक और मोक्षमार्गके नेता होंगे। ये नाना प्रकारके उपसर्ग और परीषहोंके विजेता, इन्द्रिय-निग्रही एवं जनकल्याण-कर्ता होंगे। सामान्य-चक्रवर्त्तीकी अपेक्षा इनमें अपरिमित गुणाधिक्य है। वह महावीरका वन्दन-अर्चनकर अपने स्थानको चला गया।

महावीर थूणाक-सन्निवेशसे विहार करते हुए नालन्दा पधारे। वर्षाकाल प्रारम्भ हो जानेके कारण उन्होंने वहीं चातुर्मास व्यतीत करनेका निश्चय किया।

नालन्दा : आत्मशोधन

नालन्दामें एक मासका उपवास स्वीकारकर महावीर ध्यानावस्थित हो गये। उनकी साधना मूक रूपमें चलने लगी। इसी समय वर्षवास व्यतीत करनेके उद्देश्यसे मंखली-पुत्र गोशालक वहाँ आया। इसकी महावीरसे भेंट हुई।

उपवासकी अवधि समाप्त होनेपर महावीर चर्याके लिए निकले और वहाँके विजय सेठके यहाँ उनका निरन्तराय आहार हुआ। दानके प्रभावसे नालन्दामें गन्धोदककी वर्षा और पुष्पवृष्टि हुई, सुगन्धित वायु चलने लगी, देवोंने दुन्दुभि-वादन किया और 'यह दान आश्चर्यकारी है' की ध्वनि की। नालन्दावासी इन पञ्च आश्चर्योंको देखकर महावीरका जयनाद करने लगे। गोशालक भी बहुत प्रभावित हुआ और महावीरको चमत्कारी साधु समझ उनका शिष्यत्व स्वीकार करनेका उसने निश्चय किया।

गोशालकका शिष्यत्व

जब चर्यासे महावीर लौट आये तो गोशालकने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। महावीरने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और पुनः एक मासके उपवासका नियम ग्रहणकर ध्यानस्थ हो गये। उपवास समाप्त-कर पारणाके हेतु नगरमें परिभ्रमण किया तथा आनन्द श्रावकके यहाँ उनकी पारणा हुई। अनन्तर वापस लौटकर उन्होंने पुनः एक मासका उपवास ग्रहण किया। उपवास समाप्त होनेपर वे पारणाके लिए चले और यहाँ सुनन्द श्रावकके घर उनकी पारणा सम्पन्न हुई।

महावीरने चतुर्थमासके आरम्भमें पुनः एकमासका उपवास करनेका संकल्प लिया।

चातुर्मास पूर्ण होते ही महावीरने नालन्दासे विहार किया, वे कोल्लाग-सन्निवेश पहुँचे। महावीरने जब नालन्दासे विहार किया, उस समय गोशालक

भिक्षाके लिए गया हुआ था। भिक्षासे वापस लौटनेपर उसे महावीरके विहार-का समाचार मिला, अतः वह उनकी तलाश करता हुआ कोल्लाग-सन्निवेश पहुँचा। इसके पश्चात् गोशालक छः चातुर्मासों तक उनके साथ रहा। महावीर मौन रूपमें साधना करते रहे।

तृतीयवर्ष-साधना : विकार-शमन

साधनाका लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण-प्राप्ति है। जीवन-मरणके दुःखसे मुक्त होना ही साधनाका केन्द्रबिन्दु है। इस साधनाके दो रूप हैं-(१) बाह्य साधना, (२) अन्तरंग साधना। बाह्य साधनामें शरीर और इन्द्रियोंको तपाकर साधित किया जाता है। आन्तरिक साधनामें मनको साधित कर वायुके समान मनकी चंचल गतिको वश कर केन्द्रबिन्दु आत्मापर स्थिर किया जाता है। साधनाका सम्यक् होना आवश्यक है और सम्यक्का अर्थ है साधनाका आत्मभिमुखी होना। जब साधना आत्माभिमुखी हो जाती है, तब स्व-परका भेदज्ञान प्रकट हो जाता है।

महावीरकी तृतीयवर्ष-सम्बन्धी साधना आत्माकी साधना थी, वे आत्म-विकासका प्रयास कर रहे थे। वे शुभ रूपमें अपने रागका ऊर्ध्वमुखी विकास करते हुए पूर्ण वीतरागी बननेके हेतु प्रयत्नशील थे।

महावीर कोल्लाग-सन्निवेशसे विहार करते हुए ब्राह्मणगाँव पहुँचे। यहाँ-पर महावीरकी पारणा निरन्तराय सम्पन्न हुई; किंतु गोशालकको भिक्षामें वासी भात मिला, जिसे लेनेमे उसने इनकार कर दिया और भिक्षा देनेवाली स्त्रीकी भर्त्सना करते हुए बोला—"वासी भात देते हुए तुझे लज्जा नहीं आती। किसी साधुको कैसी भिक्षा देनी चाहिए, यह भी अभी तक ज्ञात नहीं है। साधुकी साधना भोजनके अभावमें चल नहीं सकती है, अतएव साधुको पुष्ट और हित-कर अहार देना चाहिए। मैं तुम्हारी अज्ञानतापर पश्चात्ताप कर रहा हूँ और तुम्हें अभिशाप देता हूँ कि आजसे साधुओंको शुद्धाहार देना, अन्यथा तुम्हारा नाश हो जाएगा।"

इस प्रकार कहकर भिक्षा बिना लिये गोशालक चल दिया। गोशालकने यहाँ रसना-इन्द्रियको जीतनेका संकल्प किया।

ब्राह्मणगाँवसे चलकर महावीर चम्पानगरी गये और तीसरा चातुर्मास यहींपर व्यतीत किया। इस वर्षावासमें महावीरने दो-दो मास उपवास किये। कर्मनिर्जराके हेतु आट्ठाइस मूलगुणोंका पालन करते हुए वे आत्म-शोधनमें प्रवृत्त हुए। महावीरके वज्रवृषभनाराच-संहनन और समचतुरस्र-संस्थानका सौंदर्य

द्विगुणित हो गया तथा उनके आध्यात्मिक जीवनकी सुगन्ध अनन्तगुणेरूपमें वृद्धिगत होने लगी। अहिंसा और सत्यकी साधना उत्तरोत्तर निर्मल होने लगी। कषाय-भाव उनकी आत्मासे पृथक् होने लगे। विरोधोके प्रति भी उनके हृदयमें करुणाकी सतत धारा प्रवाहित होने लगी।

मानवताका श्रृंगार

पथ-भ्रमित होती हुई मानव-सभ्यताको उन्होंने सजाया और सँवारा। दान, शील, तप और भावरूप चतुर्विध धर्मकी साधना द्वारा मानवताकी प्रतिष्ठा की। उनके जीवनमें किसी भी प्रकारकी गोपनीयता नहीं थी। उनका जीवन पूर्णतया सरल और समरस था। वे अपनी अध्यात्म-शक्तियोंका सर्वोत्कृष्ट विकास अपने निजी पुरुषार्थ द्वारा करनेमें संलग्न थे। फलत: उपवास, ध्यान एवं आत्म-चिन्तनकी प्रक्रिया अहर्निश बढ़ रही थी। महावीरकी साधना राग-द्वेषके जीतनेमें प्रवृत्त थी।

चतुर्थवर्ष-साधना : क्षमाकी आराधना

अनवरत साधनाके फलस्वरूप महावीरने क्षमाका पूर्ण अभ्यास कर लिया और उनके कर्म-पाश शिथिल होने लगे। अविचल तपने कर्म-शृंखलाको जर्जरित कर दिया। दीक्षाके चतुर्थ वर्षमें उन्होंने अपने तपको और अधिक तेज बनाया। एकाग्रताके कारण उनकी समस्त आकुलताएँ शान्त हो चुकी थीं। वे शीत, ग्रीष्म और वर्षामें समानरूपसे तपश्चरण करते हुए आत्म-साधनामें रत थे।

गोशालक : घटित घटनाओंके बीच

तपस्वी महावीर चम्पानगरीसे चलकर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर घूमते हुए कालायस-सन्निवेशमें पहुँचे। वहाँ पहुँचकर एक खण्डहरमें ध्यानावस्थित हो उन्होंने रात्रि व्यतीत की। एकान्त स्थान समझ गाँवके मुखियाका व्यभिचारी पुत्र किसी दासीको लेकर वहाँ व्यभिचार करनेकी इच्छासे आया और व्यभिचार करके वापस जाने लगा। गोशालक इस दृश्यको देख रहा था। अत: उससे न रहा गया और उसने उस दुराचारिणी स्त्रीका हाथ पकड़ लिया।

जब मुखियाके पुत्रने देखा कि गोशालक उसकी प्रेमिकाका हाथ पकड़े हुए है, तो उसे गोशालकपर बड़ा क्रोध आया और उसने गोशालककी खूब पिटाई की। महावीर ध्यानावस्थित थे, उनका इस प्रकारकी घटनाओंकी ओर ध्यान न था। गोशालक पिटते समय महावीरकी सहायताकी आकांक्षा कर रहा था, पर ध्यानी महावीर अपने आत्म-चिन्तनमें विभोर थे। गोशालक मन-ही-मन

महावीरपर क्रुद्ध हो रहा था और सोचता था कि गुरुका कर्त्तव्य है कि वह कष्टके समय शिष्यकी रक्षा करे। ये गुरु तो मेरा कुछ भी उपकार नहीं करते। न तो भोजन-चर्यामें इनसे सहायता मिलती है और न अन्य किसी संकटके समय ही। अतएव इस प्रकारके गुरुका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

गोशालकका मन महावीरसे बगावत कर रहा था, पर संकोच और लज्जावश उनका साथ छोड़नेमें भी असमर्थ था।

दूसरे दिन महावीरने कालायस-सन्निवेशसे पत्रकालयकी ओर विहार किया। यहाँ पहुँचकर महावीर एकान्त स्थानमें ध्यानारूढ़ हो गये और उन्होंने-सामायिकव्रत ग्रहण कर लिया। वे सोचने लगे—"जीव और पुद्गल भिन्न भिन्न द्रव्य हैं। अनादिकालसे इनकी विजातीय अवस्थारूप बन्धावस्था हो रही है। इसीसे यह आत्मा नाना योनियोंमें परिभ्रमण करती हुई परका कर्त्ता बनकर अनन्त संसारी हो रही है। बन्धावस्थाका जनक आस्रव है। यह आस्रव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप है। पुद्गल-कर्मोंके विपाक-कालमें जो जीवके राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भाव होते हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्मोंके आनेमें निमित्त हैं। वे ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गल जीवके राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भावोंके निमित्त हैं। इस तरह पुद्गलकर्म और जीवके राग-द्वेषादि अशुद्ध भावोंमें निमित्त-नैमित्तिकभाव बना चला आ रहा है। अतएव निमित्तके हटानेमें सम्पूर्ण पुरुषार्थ करना है, जिससे नैमित्तकों (राग-द्वेषादि अशुद्ध भावों) की परम्परा समाप्त होकर सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भावोंकी ही सदा परम्परा चले। यतः सम्यग्दृष्टिके आस्रव और बन्ध नहीं हैं, अतः ज्ञानी जीवके अज्ञानभावोंकी अनुत्पत्ति है।"

महावीर आत्म-चिन्तनमें संलग्न थे कि पहले दिन कालायस-सन्निवेशमें घटित घटनाकी यहाँ भी पुनरावृत्ति हुई। प्रेमिकाका हाथ पकड़नेके कारण गोशालक यहाँपर भी पीटा गया और उसकी बुरी अवस्था की गयी।

निर्ग्रन्थता : कल्याणका मार्ग

पत्रकालयसे चलकर महावीरने कुमाराक-सन्निवेशकी ओर विहार किया। यहाँपर चम्पक-रमणीय उद्यानमें महावीर ध्यानारूढ़ हुए और सामायिकमें प्रवृत्त हो गये। इस उद्यानमें कुछ साधु ठहरे हुए थे, जो वस्त्र और पात्रादि रखते थे।

गोशालकने इन साधुओंसे पूछा—"आप किस प्रकारके साधु हैं, जो वस्त्रादि रखते हैं?"

साधु—"हम निर्ग्रन्थ हैं?"

गोशालक—"इतना परिग्रह रखनेपर आप कैसे निर्ग्रन्थ माने जा सकते हैं ? मालूम पड़ता है कि अपनी आजीविका चलानेके लिए आप लोगोंने ढोंग रच रखा है। निर्ग्रन्थत्व और परिग्रहत्वका तो शाश्वतिक विरोध है। आप लोग देखिए, सच्चे निर्ग्रन्थ तो हमारे धर्माचार्य हैं, जिनके पास एक भी वस्त्र और पात्र नहीं है। निर्ग्रन्थ सर्वपरिग्रहके त्यागी होते हैं, इनके पास तिल, तुषमात्र भी परिग्रह नहीं रहता। हमारे गुरु महावीर साक्षात् त्याग-तपस्याकी मूर्त्ति हैं। इनका आदर्श ही साधुओंके लिए अनुकरणीय हो सकता है।"

इस प्रकार सग्रन्थ साधुओंकी भर्त्सना कर गोशालक महावीरके पास आया और सग्रन्थोंके साथ हुई चर्चा-वार्ताका उल्लेख किया। पर महावीर तो आत्म-चिन्तनमें रत थे। उन्हें इन बातोंसे क्या मतलब ? उनके लिए तो आत्म-साधना मुख्य थी और अन्य सब गौण। अत: निराकुल साधनाकी वृद्धि करनेमें महावीर सतत प्रवृत्त रहते थे।

इस प्रकार चतुर्थ-वर्ष कठोर तपश्चरण और आत्मानुसंधानमें व्यतीत हुआ।

साधना और शमामृत

महावीर कुमाराक-सन्निवेशसे चलकर चोराक-सन्निवेश गये। इस सन्निवेशमें पहरेदार चोरोंके भयसे अत्यन्त सतर्क रहते थे। किसी भी अपरिचित व्यक्तिको इस ग्रामकी सीमामें प्रविष्ट नहीं होने देते थे। जब महावीर इस ग्रामकी सीमामें पहुँचे तो पहरेदारोंने उनका परिचय जानना चाहा, किन्तु महावीर मौन थे, उन्होंने अपना परिचय प्रकट नहीं किया। इसपर आरक्षकोंको सन्देह हुआ और उन्होंने उनको चोरोंका गुप्तचर समझकर पकड़ लिया तथा नाना प्रकारके कष्ट दिये। कष्ट सहन करते हुए भी महावीर अडिग थे। उनके हृदयमें शान्ति और समताका अमृत चू रहा था।

आरक्षक महावीरको जितनी अधिक ताड़ना देते, महावीर उतने ही अधिक प्रसन्न दिखलायी पड़ते। समताभावपूर्वक कष्ट सहन करनेसे कर्मोंकी प्रकृतियाँ नष्ट हो रही थीं। इनके मनमें न किसीके प्रति राग था और न द्वेष ही। वीतरागताका अनुभव करते हुए आनन्दित हो रहे थे।

अचानक सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओंको महावीरका परिचय प्राप्त हुआ। वे दोनों घटनास्थलपर पहुँचीं और आरक्षकोंको समझाती हुई कहने लगीं—"देवानुप्रिय ! तुम इन्हें नहीं जानते, ये धर्मचक्रवर्त्ती सिद्धार्थपुत्र महावीर हैं। अपनी साधनाको सफल करनेके लिए मौनरूपसे विचरण कर रहे हैं। जब कोई इन्हें कष्ट पहुँचाता है, तो ये शमामृतका पान करते हैं।

ये जितेन्द्रिय और संयमी हैं। वज्रवृषभनाराच-संहनन होनेके कारण इनकी सहनशक्ति अपार है। इन जैसा त्यागी संन्यासी कोई दूसरा नहीं। आप लोग इन्हें कष्ट देकर पापका बन्ध कर रहे हैं। न ये स्वयं चोर हैं, न चोरोंके गुप्तचर ही हैं। अतः आप इनको छोड़ दीजिये और अपने किये गये अपराधोंके लिये क्षमा-याचना कीजिये।"

आरक्षकोंने महावीरको बन्धन-मुक्त कर दिया और उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा-याचना की।

वीतरागी महावीरने चोराक-सन्निवेशसे विहार किया और पृष्ठचम्पामें पहुँचे। यहींपर इन्होंने चतुर्थ वर्षावास व्यतीत किया। इस चातुर्मासमें महावीरने पूरे चार मासका उपवास रखा और अनेक योगासनों द्वारा तपश्चरण किया। चातुर्मास समाप्त होते ही पारणाके हेतु कयंगलाकी ओर विहार किया।

पञ्चमवर्ष-साधना : कयंगलामें घटित घटनाएँ

तीर्थंकर महावीर निराकुल भावसे क्षुधा-तृषाके परिषह सहन करते हुए आत्मामृतका पान कर तृप्त होते थे। एकाग्रता और ध्यानके कारण उनके रोम-रोमसे आत्म-ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी। वे कयंगलाके बाहरी उद्यानमें स्थित एक देवालयमें ठहरे। उसके एक भागमें स्थित होकर कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ हो गये। संयोगवश उस देवालयमें रात्रि-जागरण करते हुए कोई धार्मिक उत्सव मनाया जा रहा था। अतः सन्ध्याकालसे ही नगरके स्त्री-पुरुष एकत्र हो गये। गायन-वादन और नृत्यकी योजना की गयी। देवालयमें शोरगुल होने लगा और वहाँका शान्त वातावरण अशान्तिमें परिणत हो गया।

गोशालकको देवालयका यह धूम-धड़ाका अच्छा नहीं लगा और वह उन-लोगोंकी निन्दा करने लगा। महावीर तो समत्वकी साधना करते हुए आत्म-ध्यानमें लीन रहे। उन्हें आज समायिकमें इतना आनन्द आया कि वे तन-बदन-की सुध भूल गये। ग्रामवासियोंने गोशालक द्वारा जब अपनी निन्दा सुनी, तो वे क्रोधसे आग बबूला हो गये और उन्होंने उसी समय गोशालकको देवालयसे निकाल बाहर किया। गोशालक रातभर बाहर शीतसे काँपता रहा और ग्राम-वासियोंको गालियाँ बकता रहा। वस्तुतः कयंगलामें कुछ पाखण्डी निवास करते थे, जो सपत्नीक और आरम्भ-परिग्रही थे। इन्हीं लोगोंने धार्मिक उत्सवकी योजना की थी। इस उत्सवमें गायक और वादक भी दूर-दूरसे एकत्र हुए थे। गोशा-लककी अवस्था शीतके कारण बिगड़ती जारही थी और वह बड़बड़ता हुआ शीतजन्य बाधाको सहन कर रहा था। उपस्थित व्यक्तियोंमेंसे किसीको उसपर दया आयी और वह बोला—"यह देवार्यका सेवक है। इसे कष्ट पहुँचाना उचित

नहीं। यह सत्य है कि यह क्रोधी है, असहिष्णु है और चंचल है। इसे अपने कियेका पर्याप्त फल मिल चुका है। अतएव अब इसे वापस भीतर बुला लेना चाहिये और जोर-जोरसे वाद्य बजाने चाहिये, जिससे इसकी बड़बड़ाहट सुनायी न पड़े।"

किसी प्रकार गोशालकको त्राण मिला और उसने रात्रिका अवशेष भाग व्यतीत किया। महावीर तो ध्यानस्थ थे ही; आत्मानन्दकी अनुभूति होनेके कारण उन्हें बाह्य परिवेशका बोध न था।

अग्निकृत उपसर्गजय

प्रातःकाल होते ही महावीरने कयंगलासे श्रावस्तीकी ओर विहार किया। चर्याका समय होने पर गोशालकने नगरमें प्रवेश करनेको कहा। यहाँ चर्याके समय ऐसी घटना घटित हुई, जिससे गोशालकको विश्वास होगया कि—"भवितव्यता दुर्निवार है।"

शनैः-शनैः घटनाएँ इस प्रकार घटित होरही थीं, जिससे गोशालकको नियतिवादपर अटूट विश्वास होता जारहा था।

श्रावस्तीसे तीर्थंकर महावीर हल्यदुयग्रामकी ओर चले। वे नगरके बाहर एक वृक्षके नीचे ध्यान-स्थित होगये। रात्रिमें वहाँ कुछ यात्री ठहरे हुए थे और उन्होंने शीतसे बचनेके लिये अग्नि जलायी थी। प्रातःकाल होनेके पूर्व ही यात्री तो चले गये, पर आग बढ़ती हुई महावीरके पास जा पहुँची, जिससे उनके पैर झुलस गये। महावीरने यह वेदना शान्तिपूर्वक सहन की और आगके बुझ जानेपर उन्होंने नंगला गाँवकी ओर विहार किया। यहाँ गाँवके बाहर महावीर तो वासुदेवके मन्दिरमें ध्यानस्थ हो गये, पर वहाँ खेलनेवाले लड़कोंको गोशालकने डरा-धमका दिया। लड़के गिरते-पड़ते घरोंकी ओर भागे और उन्होंने अपने अभिभावकोंसे जाकर गोशालककी घटना निवेदित कर दी।

अविभावक क्रोधाभिभूत हो गये और उन्होंने वहाँ आकर गोशालकको खूब पीटा। महावीर तो ध्यानस्थ थे, उन्हें इस घटनाकी कोई भी जानकारी न थी। पिटता हुआ गोशालक अविभावकोंको तो बुरा-भला कह ही रहा था, पर महावीरको भी कायर और डरपोक समझने लगा। वह महावीरकी सहनशीलताको समझ नहीं पा रहा था। उनकी सिंहवृत्तिका उसे यथार्थ बोध न था।

नंगलासे विहारकर महावीर आवर्त्तग्राम पहुँचे और वहाँ नगरसे बाहर बने बलदेवके मन्दिरमें रातभर ध्यानस्थ रहे। दूसरे दिन वहाँसे प्रस्थान कर वे

चोराक-सन्निवेश पहुँचे और वहाँ भी नगरके बाहर उद्यानमें सर्वसावद्यका त्याग-कर सामायिक करने लगे। महावीरकी साधना उपवासपर्वके रूपमें चल रही थी, पर गोशालक भिक्षाचर्याके लिये नगरकी ओर चला। नगरवासियोंने उसकी वेश-भूषासे उसे गुप्तचर समझा और उसकी खूब मरम्मत की।

सन्देहजन्य उपसर्ग

चोराक-सन्निवेशसे महावीर जब कलम्बुका-सन्निवेशकी ओर जारहे थे, तो मार्गमें सीमा-रक्षकोंने उनसे पूछा कि तुम लोग कौन हो? मौन साधक महावीरने तो कुछ भी उत्तर नहीं दिया और गोशालक सोचने लगा कि मैं उत्तर देते ही पीटा जाऊँगा और अब पिटते-पिटते मेरी अवस्था बहुत खराब हो रही है, अतएव महावीरकी तरह मौन रहना ही मेरे लिये भी श्रेयष्कर है।

सीमा-रक्षकोंको उन दोनोंपर सन्देह उत्पन्न हो गया और उन्हें शत्रुका गुप्तचर समझा। फलतः उन दोनोंको पकड़कर वे नगराधिपतिके पास ले गये। रहस्य अवगत करनेकी दृष्टिसे सीमा-रक्षकोंने उन्हें नानाप्रकारकी यात-नाएँ दीं।

जब महावीर नगराधिपतिके समक्ष पहुँचे, तो उसने महावीरको पहचान लिया और बन्धन-मुक्त कर वह बोला—"प्रभो! क्षमा कीजिये। आपको न पहचाननेके कारण ही यह अपराध हुआ है। आप 'त्यागी-संयमी श्रमण हैं। जन-कल्याणके लिये ही आपने राजसिंहासनका त्याग किया है। मेरे अहोभाग्य हैं कि मैं आपका दर्शनकर कृतार्थ हो रहा हूँ। मेरे सेवकोंने जो आपकी अव-मानना की है, उसके लिये मुझे पश्चात्ताप है। प्रभो! आपकी साधना सफल हो।

अनार्यदेश-विहार

अभी प्रचुर कर्मोंका क्षय करना अवशिष्ट था। कर्म-निर्जराके हेतु साधना-को और अधिक तीव्रता प्रदान करनी थी। अतएव तपस्वी महावीरने अनार्य-देशोंकी ओर विहार करनेका विचार किया। यतः इन देशोंमें उपसर्ग और परीषह सहन करनेके लिये अनेक अवसर आते हैं। उपादानमें प्रबल शक्तिके रहनेपर भी निमित्त कर्मनिर्जरामें सहायक होता है। महावीर इस तथ्यसे अव-गत थे कि शत्रु-मित्रमें समताभाव रखनेकी परीक्षा विपरीत परिस्थितियोंमें ही सम्भव होती है। विपरीत परिस्थितियोंसे युद्ध करना सामान्य बात नहीं। अतएव विरोधी परिस्थितियोंमें अविचलित बना रहना ही साधनाकी सफलता

है। इस प्रकार विचारकर महावीरने लाढ़ देशकी ओर विहार किया। यहाँपर अनार्यों द्वारा की जानेवाली अवहेलना, निन्दा, तर्जना और ताड़ना आदि अनेक उपसर्गोंको सहनकर कर्मों की निर्जरा की। इस देशकी भूमिमें महावीरको निवास करने योग्य स्थान भी नहीं मिलता था। अतः वे कंकरीली, पथरीली विषम-भूमिमें ही ठहरते थे। वहाँके लोग उनपर कुत्ते छोड़ देते तथा और भी नानाप्रकारसे कष्ट पहुँचाते थे। आहार भी बड़ी कठिनाईसे उपलब्ध होता था। अतएव महावीरको कई दिनों तक लम्बा उपवास रखना पड़ता था। जब वे वहाँसे लौट रहे थे, तो मार्गमें उन्हें दो चोर मिले, जो अनार्य-भूमिमें चोरी करने जा रहे थे। महावीरके दर्शनको उन्होंने अपशकुन समझा और भविष्यमें आनेवाली विपत्तियोंका अनुमान किया। अतएव इस अपशकुनको निष्फल करनेके विचारसे उन्होंने महावीरपर आक्रमण किया। महावीर समताभावपूर्वक उपसर्गको सहन करते रहे। उनकी साधनाने चोरोंके आक्रमणको कुण्ठित कर दिया।

आर्य-प्रदेशमें पहुँचकर महावीर मलयदेशमें विहार करते रहे और उन्होंने अपना पञ्चम वर्षावास मलयकी राजधानी भद्धिलनगरीमें सम्पन्न किया। इस चतुर्मासमें महावीरने अनशनादि तप करते हुए विविध आसनों द्वारा ध्यान किया। चातुर्मास समाप्त होनेपर वे भद्दिलनगरीसे पारणाके हेतु बाहर निकले और कयलि-समागमकी ओर विहार किया। वस्तुतः महावीरने इस पंचम चातुर्मासमें भी चार महीनेका उपवास ग्रहण किया था और अनन्तर नगरीके बाहर उनकी पारणा हुई थी।

षष्ठवर्ष-साधना : उपसर्ग-पर-उपसर्ग

महावीर कयलि या कदली-समागमसे जम्बूखण्ड गये और वहांसे तम्बाय-सन्निवेशकी ओर प्रस्थान किया। ग्रामके बाहर सामायिक ग्रहणकर महावीर ध्यानस्थ हो गये। यहाँ पार्श्वसन्तानीय नन्दीषेण आचार्य रात्रिमें किसी चौराहेपर ध्यान कर रहे थे। कोट्टपालका पुत्र पहरा देता हुआ उस चौराहेपर पधारा और नन्दिषेणको उसने चोर समझकर भालेसे मार डाला। गोशालकने इस घटनाकी सूचना नगरमें दी और वह भ्रमण करता हुआ महावीरके पास लौट आया। गोशालककी चर्चा पार्श्वापत्य अनगारोंसे भी हुई और उसने मुनि आचार-विचारकी रूपरेखा प्रस्तुत की।

तम्बाय-सन्निवेशसे तीर्थंकर महावीर कूपिय-सन्निवेश गये। यहाँपर आपको गुप्तचर समझकर राजपुरुषोंने पकड़ लिया और उनसे उनका परिचय जानना चाहा। जब महावीरने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे मौन रूपमें स्थित रहे,

तब राजपुरुषोंको उनपर और अधिक आशंका हुई। महावीर जैसे-जैसे अपनी सहनशीलता दिखलाते जाते थे, वैसे-वैसे राजपुरुष उन्हें कष्ट देते जाते थे।

महावीरके बन्दी बनाये जानेकी घटना नगरमें व्याप्त हो गयी। अतः विजया और प्रशल्भा नामक दो परिव्राजिकाएँ तुरन्त घटना-स्थलपर पहुँचीं। उन्होंने महावीरको पहचानकर राजपुरुषोंसे कहा—"क्या तुम लोग सिद्धार्थ-राजकुमार अन्तिम तीर्थंकर महावीरको नहीं पहचानते? महावीरकी साधना-से मनुष्योंकी तो बात ही क्या, देव-दानव भी प्रभावित हैं। ये तीर्थंकर-प्रकृति-धारी निर्ग्रन्थ महावीर हैं। इनकी उग्र तपश्चर्यासे इन्द्रादि भी अत्यन्त प्रभावित हैं। महावीर स्वावलम्बनके धनी हैं। इन्हें स्वयं अपनेपर विश्वास है। अतएव ये किसी परोक्ष शक्तिकी सहायता नहीं चाहते हैं।"

परिव्राजिकाओंके इस कथनको सुनकर राज्याधिकारी काँप उठे। उन्हें अपनी अज्ञानजन्य भूलका अनुभव हुआ और वे क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहने लगे—"प्रभो! अज्ञान और प्रमादसे ही अपराध होते हैं। हमने आपकी जो अवमानना की है, उसके मूलमें अज्ञान ही है। आप दयामूर्ति हैं और क्षमाके धनी हैं। अतएव हम लोगोंके अपराधको क्षमा कर दीजिये।"

महावीरने मौन रहकर उन राजपुरुषोंको क्षमा कर दिया और वे पुनः निर्द्वन्द्वभावसे विहार करने लगे।

कूपियसे महावीरने वैशालीकी ओर विहार किया। गोशालक यहाँसे महा-वीरके साथ नहीं गया और उनसे बोला—"भगवन्! न तो आप मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहनेमें मुझे किसी प्रकारका सुख मिलता है। प्रत्युत कष्ट ही भोगने पड़ते हैं और भोजनकी भी चिन्ता बनी रहती है। अत-एव अब मैं आपके साथ नहीं चल सकूँगा।" यह कह कर गोशालक राजगृहकी ओर चला गया। महावीर शान्त और मौनभावसे गोशालकका कथन सुनते रहे। वे वैशाली पहुँचकर एक कम्मारशाला—लोहारके कारखानेमें ध्यान-स्थित हो गये। दूसरे दिन कम्मारशालाका स्वामी लोहार वहाँ आया। वह छह महीनेकी लम्बी बीमारीसे उठा था। जब कारखानेमें कामपर गया, तो पहले-पहल नग्न दिगम्बर व्यक्तिके दर्शनको अमंगल और अशुभ समझा। अतएव वह हथौड़ा लेकर महावीरको मारनेके लिये दौड़ा। इसी समय संयोगवश कोई भद्र पुरुष आ गया और उसने तीर्थंकर महावीरका परिचय उस लोहारको दिया।

विमेलक यक्षका चिन्तन

वैशालीसे चलकर महावीर ग्रामाक-सन्निवेशकी ओर आये। यहाँके उद्यान-में विमेलक यक्षका चैत्य था। यक्षके कार्योंका आतंक सर्वत्र व्याप्त था। महा-

वीरने यक्षके चैत्यमें सामायिक ग्रहण किया और आत्म-स्थित हो गये। यक्षपर महावीरकी शान्त और सौम्य मुद्राका बहुत प्रभाव पड़ा और वह उनकी स्तुति करने लगा।

महावीर ग्रामाकसे शालिशीर्ष पधारे और वहाँके उद्यानमें कायोत्सर्ग करने लगे। माघका मास था। कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी और तीर्थंकर महावीर दिगम्बर-मुद्रामें ध्यानस्थ थे। इस समय महावीरके चारों ओर दिव्य कान्तिपुञ्ज अवस्थित था। उनके रोम-रोमसे शान्तिका प्रवाह निकल रहा था।

कटपूतनाका उपसर्ग : असंख्यातगुणी कार्मनिर्जरा

इसी समय वहाँ कटपूतना नामक एक व्यन्तर देवी आयी और तीर्थंकर महावीरकी इस शान्त मुद्राको देखकर द्वेषसे जल उठी। क्षणभरमें उसने परिव्राजिकाका वेश धारण किया और बिखरी हुई जटाओंमें पानी भरकर महावीरके ऊपर छिड़कने लगी तथा उनके कंधोंपर चढ़कर प्रचण्ड हवा करने लगी।

भयंकर शीतऋतु, जलवर्षा और तीक्ष्ण पवनने इस समय भीषण और असाधारण उपसर्ग उपस्थित किया। महावीर मौन भावसे साधनामें सुमेरुवत् दृढ़ रहे। कटपूतना महावीरकी अपराजिता वीतरागताके सम्मुख नतमस्तक हो गयी। उसने अपना पराजय स्वीकार किया और महावीरकी तपश्चर्याकी प्रशंसा करते हुए उनके चरणोंका वन्दन किया।

महावीरका जीवन तपोमय था। वे दुर्लंघ्य पर्वत, अन्धकारपूर्ण गुफाओं, निर्जन नदी-तट, बीहड़ वन एवं सुनसान श्मशान भूमिमें आत्म-साधना करनेमें तत्पर रहते थे। वास्तवमें महावीरका आत्म-परिष्करण अद्भुत था। वे मोह-भंगके हेतु समस्त पदार्थोंसे आसक्ति तोड़नेमें संलग्न थे। सार्वभौम समत्व ही उनका आधार था। उनके समक्ष सिंह-मृग, मयूर-सर्प, मार्जार-मूषक जैसे अन्तर्विरोधी भी शान्त थे। वीतरागताके प्रभावने उनकी जन्मजात शत्रुताको समाप्त कर दिया था। सर्वत्र प्रेम, शान्ति और सौख्यका साम्राज्य व्याप्त था।

शालिशीर्षसे महावीरने भद्दिया नगरीकी ओर विहार किया और वहीं छठा वर्षावास ग्रहण किया। महावीरने चातुर्मासभरका उपवास-व्रत किया और अखण्डरूपसे आत्म-चिन्तनमें निरत रहे।

गोशालक भी छह महीने तक अकेला भ्रमण करता हुआ शालिशीर्षमें महावीरसे आ मिला। महावीरने चतुर्मास समाप्त होनेपर भद्दिया नगरीके बाहर पारणा ग्रहण की और वहाँसे उन्होंने मगध-भूमिकी ओर विहार किया।

सप्तमवर्ष-साधना : आत्म-दर्शन

आत्म-साधक योगीश्वर तीर्थंकर महावीर क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण आदि परीषहोंको सहन करते हुए आत्म-दर्शनकी ओर उन्मुख हुए। उन्होंने निश्चय किया कि आत्माके शुद्ध स्वरूपको समझे विना साधककी साधना सफल नहीं हो सकती है। मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। मुक्ति भव-बन्धनोंसे विमुक्त होनेका नाम है। इसके लिये तत्त्वज्ञानकी नितान्त आवश्यकता है। जबतक कर्मका आवरण है, तबतक साधकके जीवनमें पूर्ण प्रकाश प्रकट नहीं हो पाता है। अतः भीतरके प्रसुप्त ज्ञान एवं विवेकको जागृत करनेको आवश्यकता है। मोक्ष जीवनकी पवित्रताका अन्तिम परिपाकरस और लक्ष्य है। विवेक एवं वैराग्यकी साधना करते हुए कदम-कदमपर साधकके बन्धन टूटते रहते हैं और मोक्षकी प्राप्ति होती है।

मानव सदा परस्परके प्रतिशोध और विद्वेषके दावानलमें झुलसता रहता है। यही कारण है कि वह आत्म-बोध, आत्म-सत्य अथवा आत्म-ज्ञानको प्राप्त नहीं कर पाता है। जब तक व्यक्ति विश्वकी समग्र आत्माओंको समान भावसे नहीं देखता, तब तक उसे आत्म-दर्शन नहीं हो पाता है। यह आत्म-दर्शन कहीं बाहरसे आनेवाला नहीं है, यह तो हमारी आत्माका धर्म है, हमारी चेतनाका धर्म है, एवं शाश्वत तत्त्व है। हमें जो कुछ पाना है, वह कहीं बाहर नहीं है, वह स्वयं हमारे भीतर स्थित है। आवश्यकता है केवल अपनी आत्म-शक्तिपर विश्वास करनेकी, विचार करनेकी और उसे जीवनकी धरतीपर उतारनेकी। आत्म-दर्शन मनुष्यकी प्रसुप्त शक्तिको प्रबुद्ध करता है, आत्माका पूर्ण विकास करता है और आत्म-स्वरूपका पूर्ण उद्घाटन करता है। अतएव मुझे अपनी साधना द्वारा आत्म-दर्शन करना है। यों तो मैंने सामायिकका अभ्यास किया है, पर अभी समग्र आत्म-साधना शेष है। जब तक पूर्ण वीतरागता और निष्कामताकी उपलब्धि नहीं होती, तक तक मेरी साधना अनवरत रूपसे चलती रहेगी।

नृपतिद्वारा चरण-वन्दन

महावीर शीत और उष्णाकालमें मगधभूमि में विचरण करते रहे। जब वर्षाकाल निकट आया, तो उन्होंने आलम्भिया नगरीमें सप्तम वर्षावास ग्रहण किया। इस वर्षावासमें भी महावीरने चातुर्मासिक तप और विविध योग-क्रियाओं-की साधना की। वर्षावासके समाप्त होनेपर उन्होंने पारणाके हेतु कुण्डाक-

सन्निवेशकी ओर विहार किया। इस सन्निवेशमें महावीरने वासुदेवके मन्दिर-में स्थित हो ध्यान लगाया और कुछ दिनों तक साधना कर मद्दना-सन्निवेशकी ओर विहार किया। यहाँ वे बलदेवके मन्दिरमें ध्यानस्थ हो गये। साधुके अट्ठा-ईस मूलगुणोंका पूर्णतया पालन करते हुए यहाँसे लोहार्गला नामक राजधानी-में पधारें। यहाँके राजा जितशत्रुपर उन दिनों शत्रुओंकी वक्र दृष्टि थो, अत-एव राजपुरुष बहुत सावधान रहते थे। कोई भी व्यक्ति अपना परिचय दिये विना राजधानीमें प्रवेश नहीं कर सकता था। महावीर और गोशालकके यहाँ पहुँचते ही पहरेदारोंने उन्हें रोक दिया और परिचय माँगा। ये दोनों मौन रहे। फलस्वरूप राजपुरुषोंने इन्हें बन्दी बना लिया।

जिस समय महावीर और गोशालक राजसभामें लाये गये, उस समय वहाँ अस्थिकग्रामवासी नैमित्तिक उत्पल भी उपस्थित था। महावीरको देखते ही वह खड़ा हो गया और चरण-वन्दन कर बोला—"अरे गुप्तचरों, तुम इन्हें नहीं पहचानते? ये चौबीसवें तीर्थंकर महावीर हैं। चक्रवर्तीके लक्षणोंसे भी बढ़कर शारीरिक लक्षण इनमें विद्यमान हैं। इन जैसा तेजस्वी, पराक्रमी, आत्म-द्रष्टा अन्य नहीं है। आप लोगोंने इन्हें बन्दी बनाकर महान् अपराध किया है।

उत्पल द्वारा परिचय प्राप्त करते ही जितशत्रुने महावीर और गोशालकको बन्धन-मुक्त कर दिया और चरण-वन्दन करते हुए उनसे क्षमा प्रार्थना की।

अष्टमवर्ष-साधना : आत्मोदयकी ओर

श्रमण-जीवनका मूलोद्देश्य प्राणियोंको श्रेयोमार्गकी ओर प्रवृत्त करना है। यही वह मार्ग है, जिसके द्वारा आत्माको अनन्त एवं यथार्थकी उपलब्धि हो सकती है। आत्मा कर्मजालमें आबद्ध होनेसे ही चिरकालतक संसारमें परिभ्रमण करती रहती है। वह अपने शुभाशुभ कर्मके परिणामस्वरूप ही नाना योनियों-में परिभ्रमण करती है। यथार्थज्ञानके अभावमें वह भौतिक सुखको ही सच्चा सुख मानकर उसीमें यथार्थ आनन्दकी मिथ्या अनुभूति करती है। अतएव भौतिक सुखकी नश्वरता सुनिश्चित होनेपर भी व्यक्ति आत्मोदयसे विमुख रहता है।

ध्यातव्य है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त-गुणोंका अक्षय अमृतकूप है, जिसका न कभी अन्त हुआ है और न कभी अन्त होगा। विवेकज्योति या आत्मोदय होनेपर आत्मा उस परमात्मा-स्वरूप अमृतरसका पान करने लगती है, जिसे

प्राप्तकर शाश्वत सुख उपलब्ध होता है। आत्मा उस धनकुबेरके पुत्रके समान है, जिसके पास कभी धनकी कमी नहीं होती, चाहे वह अपने उस अक्षय भंडार-का दुरुपयोग ही क्यों न करे।

आत्मोदयका तात्पर्य आत्माके अनन्तगुणोंके विकाससे है। आत्मामें अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य विद्यमान हैं। इन गुणोंकी अभि-व्यक्ति ही आत्मोदय है। महावीरने अष्टम वर्षकी साधनामें आत्मोदय प्राप्त करनेके हेतु अगणित उपसर्ग सहन किये तथा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, दंश-मशक आदि विभिन्न परीषहोंको समतापूर्वक सहन किया। उन्होंने अपने स्वरूपमें रहकर अक्षय आनन्दका अनुसन्धान किया। आत्माके अतिरिक्त विश्वके किसी बाह्य पदार्थमें सुखकी परिकल्पना करना भयंकर भ्रम है। सत् और चित् तो प्रत्येक आत्माके पास व्यक्तरूपमें सदा विद्यमान हैं, पर आनन्द-गुणकी अभिव्यक्तिकी कमी रहती है। अतः जो आत्मोदय प्राप्त कर लेता है, वह सच्चिदानन्द बन जाता है।

घोर उपसर्गजय

लोहार्गलासे महावीरने पुरिमतालपुरकी ओर विहार किया। यहाँ नगरके बाह्य उद्यानमें कुछ समय तक निवास किया। यहाँ भी महावीरको अनेक प्रकारके उपसर्ग सहन करने पड़े। वग्गुर श्रावकने यहाँ महावीरका सत्कार किया तथा विभिन्न प्रकारसे उनकी स्तुति की। महावीर मौनरूपमें अपनी साधनामें संलग्न रहे।

पुरिमतालसे उन्नाग, गोभूमि होते हुए महावीर राजगृह पधारे और आठवाँ वर्षावास राजगृहमें ही सम्पन्न किया। इस वर्षावासमें उन्होंने चातुर्मासिक तप एवं विविध योगक्रियाओंकी साधना द्वारा आत्मोदय प्राप्त किया।

महावीर आसन-साधनाके साथ आतापना—सूर्यरश्मियोंका ताप लेते, शीतको सहन करते और दिगम्बर रहकर आत्म-साधना करते थे। विभूषा एवं परिकर्म—शरीरकी सभी प्रकारकी साज-सज्जाओंका त्याग करते थे।

यथाशक्ति इन्द्रियोंके विषयोंसे बचते; क्रोध, मान, माया और लोभसे बचते; मन, वाणी और शरीरकी प्रवृत्तियोंका संयमन करते एवं एकान्त स्थानमें ध्यानस्थ होते थे। मनकी सहज चंचलताको ध्यान द्वारा नियन्त्रित करते थे।

अष्टम चातुर्मासके दिनोंमें महावीरने चित्तशुद्धिका पूर्ण अभ्यास किया। उन्होंने भ्रमणशील मनको विषयोंसे पृथक् कर आत्मस्वरूपपर ही केन्द्रित

किया। मन जैसे-जैसे शान्त और निष्कम्प होता गया, त्यों-त्यों स्थिरता बढ़ती गयी।

जब चातुर्मास समाप्त हुआ तो महावीरकी सावधि योग-साधना भी समाप्त हो गयी और पारणाके हेतु उन्होंने राजगृहसे विहार किया।

नवमवर्ष-साधना : सामायिक-सिद्धि

महावीर विहार करते हुए राजगृहसे लाढ़ देशकी ओर गये और वहाँसे वज्रभूमि, शुद्धभूमि एवं सुम्हभूमि जैसे आदिवासी प्रदेशोंमें पहुँचे। यहाँपर महावीरको ठहरने योग्य स्थान भी नहीं मिला। न यहाँ कोई चैत्य ही ऐसा था, जिसमें रहकर ध्यान कर सकें और न ऐसा कोई शून्य मन्दिर ही था, जिसमें सामायिककी सिद्धि कर सकें। अतएव महावीरने ग्राम और नगरके बाहर उद्यानमें खड़े होकर सामायिक किया।

महावीरकी सामायिक-क्रिया आत्मोपलब्धिका साधन थी। दुष्टज़न महावीरकी हँसी उड़ाते, उनपर धूलि-पत्थर फेंकते, गालियाँ देते, अवमानना करते और शिकारी कुत्ते छोड़ते थे। पर इन समस्त कष्टोंको सहन करते हुए भी वे अपने सामायिकमें पूर्णतया तल्लीन रहते। उनके परिणामोंमें शान्ति थी। क्रोधादि कषायोंका प्रादुर्भाव नहीं होने देते। प्रतिकल परिस्थितियोंमें भी अपनेको नियन्त्रित रखते थे।

उपवास-पर-उपवास

चातुर्मास आनेपर महावीरने एक वृक्षके नीचे नवम चतुर्मास ग्रहण किया। चार महीनेका उपवास स्वीकार कर सामायिककी सिद्धिके हेतु वे कायोत्सर्ग और ध्यानमें प्रवृत्त हुए। इन्द्रिय और मनकी दीवालोंको भेदकर आत्माके सान्निध्यमें रहना आरम्भ किया। शरीरकी चंचलता और शरीरके ममत्वका पूर्ण विसर्जन किया। प्रवृत्ति और ममत्व ये दोनों शरीर एवं मनमें तनाव उत्पन्न करते हैं तथा इन्हींके द्वारा अनेक प्रकारकी शारीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव महावीरने उक्त दोनोंका निरोध किया।

महावीर इहलोक-भय, परलोक-भय, अत्राण-भय, आकस्मिक-भय, मृत्युभय आदि सात प्रकारके भयोंसे रहित थे। अतः दुष्टजनोंके उपद्रवका उनके ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। वे जितेन्द्रिय और सामायिक-संयमी थे।

महावीर छः महीने तक अनार्य भूमिमें भ्रमणकर वर्षाकालके अनंतर आर्य-भूमिमें लौट आये।

दशमवर्ष-साधना : संयमाराधना

संयमका अर्थ है इन्द्रियों और मनका दमन करना तथा उन्हें आत्म-वशीभूत करना और हिंसा-प्रवृत्तिसे बचना। संयम अहिंसारूपी विशाल वृक्षकी एक शाखा है। अहिंसा साध्य है और संयम साधन। संयमके अनुष्ठानसे ही अहिंसाकी साधना सम्भव होती है। संयम दो प्रकारका है—इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम। इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त करनेसे रोककर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम है और षट्कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग करना प्राणी-संयम है। वस्तुतः व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रके जीवनमें सुख-शान्तिका हेतु संयम ही है और इसीके द्वारा अहिंसाकी प्राप्ति होती है। जीवनमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा संयमसे ही सम्भव है। अतएव महावीरने अपने दसवें वर्षकी साधनामें संयम और समता-प्राप्तिके लिये पूर्ण प्रयास किया।

महावीर और गोशालकने अनार्यभूमिसे निकलकर सिद्धार्थपुर जाते हुए कूर्मग्रामकी ओर प्रस्थान किया।

तपस्वरूप : परिष्कार

कूर्मग्रामके बाहर वैश्यायन नामक एक तापस तपस्या कर रहा था। वह धूपमें अधोमुख होकर तपस्यामें रत था। इस तपस्वीकी जटाएँ बहुत बड़ी-बड़ी थीं और उनमें त्रसजीव विद्यमान थे। गोशालक वैश्यायनके इस दृश्यको देखकर महावीरसे कहने लगा—"प्रभो! इस प्रकारकी तपस्यासे संयमकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? और संयमके अभावमें अहिंसाकी साधना सम्भव नहीं? अतः इस तपस्याको आत्म-कल्याणकारिणी कहा जायगा? मुझे तो यह तपस्वी ढोंगी जैसा प्रतीत हो रहा है। इसकी जटाओंसे जूएँ गिर रहे हैं। अतः इस तपस्याको केवल शारीरिक कष्ट ही माना जा सकता है। आत्म-शुद्धिके लिये तो उपवास, ध्यान, संयम आदिकी आवश्यकता है। तपस्याका अर्थ इच्छा-निरोध है। मनुष्यकी इच्छाएँ अपार, असीम और अनन्त हैं। अतः इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव नहीं है। इच्छापूर्तिके लिये असंयमके पाप-पथपर चलना अनिवार्य होता है।"

"तपोनुष्ठानसे मनुष्य संयमशील बनता है और संयमशीलतासे अहिंसाकी प्रतिष्ठा होती है। जिस व्यक्तिके अन्तरमें अहिंसा, संयम और तपकी त्रिवेणी

प्रवाहित होती है, उसकी आत्मा निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है। देव भी उसके चरणोंमें नमस्कार कर अपनेको धन्य मानते हैं।"

गोशालक द्वारा इस प्रकार संयमकी व्याख्या सुनकर और इसे अपने ऊपर आक्षेप मानकर वैश्यायनने क्रुद्ध होकर अपनी तेजोलेश्या गोशालकपर छोड़ी। पर तीर्थंकर महावीरके अहिंसा-प्रभावसे गोशालककी रक्षा हो गयी और वैश्यायनकी तेजोलेश्या व्यर्थ सिद्ध हुई।

गोशालक महावीरका साथ छोड़कर श्रावस्ती चला गया और वहाँ आजीवक मतकी उपासिका कुम्हारिन हालाहलाकी भाण्डशालामें रहकर तेजोलेश्याकी साधना करने लगा। गोशालकने छह महीनोंकी निरन्तर साधनाके पश्चात् तेजःशक्ति प्राप्त की। इतना ही नहीं, उसने निमित्तशास्त्रका भी अध्ययन किया। अब वह सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण आदि सभी बातोंको बतलानेमें निपुण हो गया।

तेजःशक्ति और निमित्तज्ञान जैसी प्रभावक शक्तियोंने गोशालकका महत्त्व बढ़ा दिया। उसके भक्त और अनुयायियोंकी संख्या प्रतिदिन बढ़ने लगी। साधारण भिक्षु गोशालक अब एक आचार्य बन गया और आजीवक-सम्प्रदायका प्रवर्त्तक कहलाने लगा।

बालकोंका उपद्रव और समता

सिद्धार्थपुरसे तपस्वी महावीर वैशाली पधारे। एक दिन वैशालीके बाहर ये कायोत्सर्ग-ध्यानमें स्थित थे। उस समय नगरके बालक खेलते हुए वहाँ आये और महावीरको पिशाच या भूत समझकर सताने लगे। बालकोंने महावीरके ऊपर ढेले फेकें, गालियाँ दी और अनेक प्रकारसे कदर्थनाएँ की, पर संयमाराधक महावीर अपनी साधनासे विचलित न हुए। उन्होंने इस उपसर्गको बड़ी समता और शान्तिके साथ सहन किया। बालकोंका उपद्रव प्रतिक्षण बढ़ता जाता था। वे धूल और मिट्टी भी उनके ऊपर फेंक रहे थे। इसी समय राजा सिद्धार्थका मित्र बनराज शंख भी अकस्मात् वहाँ पहुँच गया। उसने बालकोंके उपद्रवको रोका और स्वयं महावीरके चरणोंमें गिरकर उनसे क्षमा-याचना की।

कायोत्सर्ग-मुद्रा

वैशालीसे महावीरने वाणिज्य-ग्रामकी ओर प्रस्थान किया और वाणिज्य-ग्राम पहुँचकर ग्रामके बाहर कायोत्सर्ग-मुद्रामें ध्यान आरम्भ किया। संयमकी

साधनाके कारण महावीरको विभिन्न प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त होने लगीं, पर वे इन सभी ऋद्धियोंसे अनासक्त थे। उन्हें प्रत्येक उपसर्गको दूर करनेका सामर्थ्य उपलब्ध था। किन्तु उन्होंने कभी भी अपने सामर्थ्यका प्रयोग नहीं किया। साधक माहावीर संयम और उपवासकी सिद्धि द्वारा कर्मोंकी निर्जना करना चाहते थे। वे अन्य व्यक्तियोंको जीतनेकी अपेक्षा अपनेको जीतना अधिक उपयुक्त मानते थे।

जब वाणिज्यग्रामके निवासी श्रमणोपासक आनन्दको महावीरके पधारने-का पता चला, तो उसने आकर उनकी वन्दना की। वहाँ से विहारकर महा-वीर श्रावस्ती पधारे और यहींपर उनका दशवाँ वर्षावास सम्पन्न हुआ। गोशा-लक तो चातुर्मास आरम्भ होनेके पहले ही महावीरका साथ छोड़कर चला गया था।

इस दशम वर्ष-साधनाकी उपलब्धि संयमकी सिद्धि थी। वे आत्मसिद्धिके लिये निरन्तर प्रयासशील थे। चैतन्यके ऊर्ध्वगमनकी वृत्तिको ही वे धर्मकी जननी मानते थे।

एकादशवर्ष-साधना : आत्मानुभूति

जीवनकी यात्रामें आत्माकी अमरता ही परमबिन्दु है और यही है जीवनका अन्तिम लक्ष्य, क्योंकि इसीको मुक्ति-यात्रा कहा जाता है। आत्माकी अमरता-विभावपरिणतिरहित अवस्था वीतराग हुए विना प्राप्त नहीं होती। न तो रागी मुक्त होता है और न विरागी ही। दोनों ही संसारके बन्धनमें बन्धते हैं। वीतरागता रागी और विरागीसे ऊपरकी स्थिति है। रागका अर्थ है रंगना या किसी वस्तुमें आसक्त होना। विरागीका अर्थ है—रागकी कुछ न्यूनता। रागी आसक्त होता है, तो विरागी कम आसक्त होता है। उसका पूर्णतः राग छूटता नहीं। किन्तु वीतराग इन दोनोंसे परे है। उसकी आँखोंमें कोई रंग नहीं है, वह पूर्णतया रंग-मुक्त है। जो वस्तु जैसी है, वीतरागको वैसी ही दिखलायी पड़ती है। वीतरागकी दृष्टिमें कोई वस्तु न सुन्दर है और न असुन्दर। यतः वीतरागताकी प्राप्ति अमृतकी प्राप्ति है।

महावीरने श्रावस्तीमें चातुर्मास समाप्त कर सानुलट्ठीय-सन्निवेशकी ओर विहार किया। यहाँ इन्होंने भद्र व महाभद्र और सर्वतोभद्र तपस्याओंको करते हुए सोलह उपवास किये। उपवासके अन्तमें, इन्होंने आनन्द उपासकके यहाँ पारणा की और दृढ़भूमिकी ओर विहार किया। मार्गमें पेढ़ाल उद्यानके चैत्यमें जाकर

तेला उपवास ग्रहणकर एक शिलापर ध्यानस्थित हो गये। महावीरके इस निश्चल और निर्निमेष ध्यानको देखकर लोग प्रशंसा करते हुए कहते कि—"ध्यान और धैर्यमें तीर्थंकरका कोई समकक्ष नहीं है। वे आत्माके अमृतत्व-को प्राप्त करनेके लिये अहर्निश ध्यानकी साधना करते हैं। मनुष्य तो क्या, देव भी उन्हें विचलित नहीं कर सकते हैं। उपसर्ग और परीषहोंका ऐसा विजेता इस कालमें अन्य नहीं है।"

संगमदेवका परीक्षण और विभिन्न उपसर्ग

संगम नामक देवने विचार किया कि महावीरको ध्यानसे विचलित कर मैं उनकी परीक्षा करूँगा। ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसे मैं विचलित न कर सकूँ। मेरे समक्ष किसीका भी धैर्य अटल नहीं रह सकता है। अतः मैं जाकर महावीरको ध्यानसे च्युत करता हूँ। यह निश्चयकर संगमकने पेढ़ाल उद्यानमें स्थित पोलास चैत्यमें जाकर महावीरको ध्यानसे विचलित करनेका उपक्रम किया। उसने विविध प्रकारके कष्टदायक बीस उपसर्ग किये, पर महावीरका हृदय इन उपसर्गोंसे रंचमात्र भी क्षुब्ध नहीं हुआ।

पोलास चैत्यसे चलकर महावीरने बालुकाकी ओर विहार किया। वहाँसे सुभोग, सुच्छेत्ता, मलय और हस्तिशीर्ष आदि ग्रामोंमें विहार करते हुए तोसलि पहुँचे। संगमकदेवने इन ग्रामोंमें भी महावीरको विभिन्न प्रकारके कष्ट दिये। मारन-ताड़नजन्य बाधाएँ पहुँचायीं, पर महावीर अपनी साधनामें अविचलित रहे।

एक समय महावीर तोसलि गाँवके उद्यानमें ध्यानारूढ़ थे। संगमकदेव साधुरूप धारणकर गाँवमें गया और एक भवनमें सेंध लगानेका कार्य करने लगा। ग्रामवासियोंने उसे चोर समझकर पकड़ा और मारने लगे। संगमक कहने लगा—"मुझे मत मारो। मैं तो निरीह और निरपराधी हूँ। अपने गुरु-की आज्ञाका पालन करनेके लिये ही मुझे यह कार्य करना पड़ा है। जैसा गुरु कहते हैं, वैसा मैं करता हूँ। गुरुका आदेश चोरी करनेके लिये हुआ और मैं यहाँ आकर सेंध लगाने लगा।"

लोगोंने पूछा तुम्हारे गुरु कहाँ हैं? और क्या करते हैं? उसने कहा—"वे उद्यानमें ठहरे हुए हैं और नेत्र बन्दकर ध्यान कर रहे हैं।"

ग्रामवासी उसके साथ उद्यानमें गये, तो महावीरको संगमकके बताये हुए नियमानुसार ध्यानस्थ देखा। अज्ञानी नागरिकोंने चोर समझकर महावीरपर आक्रमण किया और बांधकर नगरमें ले जानेकी तैयारी की। उन लोगोंने

महावीरको विभिन्न प्रकारकी यातनाएँ दीं। उन्हें मारा-पीटा और बांधकर नगर-में ले जाने लगे। महावीर इन सबको सहन करते हुए भी मौन थे। वे पूर्वो-दयका कर्म-विपाक समझकर सब कुछ समतापूर्वक सहन कर रहे थे। इसी समय भूतिलक नामक एक इन्द्रजालिक वहाँ आया। वह महावीरको पहचानता था। अतः उसने ग्रामवासियोंके समक्ष महावीरका परिचय प्रस्तुत किया। जब ग्रामवासियोंको यह ज्ञात हुआ कि ये महाराज सिद्धार्थके पुत्र महावीर हैं, और कैवल्यसिद्धिके लिये ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए तपश्चरण कर रहे हैं, तो वे अपने कृत्योंके लिये लज्जित हुए। ग्रामीणोंने साधु-वेशधारी उस व्यक्तिकी भी तलाश की, जो उन्हें महावीरके पास ले गया था। पर उसका कहीं पता नहीं चला। अन्तमें ग्रामवासी इस निष्कर्षपर पहुँचे कि इस घटनामें कोई रहस्य अवश्य है।

मोसलि-नरेश द्वारा चरण-वन्दन

तोसलिसे तीर्थंकर महावीर मोसलि पधारे और वहाँ उद्यानमें ध्यानस्थित, हो गये। यहाँ भी संगमकने महावीरपर चोर होनेका अभियोग लगवाया जिससे राजपुरुषों द्वारा उन्हें अनेक प्रकारके उपसर्ग दिये गये। राजपुरुष महावीरको पकड़कर मोसलि-नरेशके पास ले गये। राजसभामें राजा सिद्धार्थ-का मित्र सुमागध नामक राष्ट्रिय बैठा हुआ था। इन्हें देखते ही वह कहने लगा—"राजन्! यह चोर नहीं हैं। यह तो सिद्धार्थके राजकुमार महावीर हैं। ये अपनी आत्म-शक्तियोंका विकास करनेके लिये तपश्चरण कर रहे हैं। इन जैसा घोरतपस्वी और परीषहजयी अन्य कोई नहीं है। अतः इनपर चोर होनेका सन्देह करना बिल्कुल निराधार है।"

सुमागधके इन वचनोंको सुनकर मोसलि-नरेशको पश्चात्ताप हुआ और उन्हें बन्धन-मुक्त कर इनके चरणोंमें गिर गया।

संगमक इतनी जल्दी अपना पराजय स्वीकार करनेको तैयार नहीं था। अतः उसने उपसर्ग देनेकी अपनी प्रक्रियाको और अधिक तीव्र बनाया। जब महावीर तोसलि उद्यानमें ध्यानस्थ थे, उस समय संगमकने इनके पास चोरी-के अस्त्र-शस्त्र रख दिये। इन अस्त्र-शस्त्रोंको देखकर लोगोंने इन्हें चोर-समझा और तोसलि-पतिके पास इन्हें पकड़कर ले गये।

अद्‌भुत चमत्कार : फांसीका फंदा टूटा

तोसलि-पतिने महावीरसे कई प्रकारके प्रश्न पूछे, पर महावीर मौन रहे। अब तो उसे और उसकी सलाहकार-समितिको यह विश्वास हो गया कि

यह अवश्य ही कोई छद्मवेशधारी चोर है। अतएव उसने महावीरको फाँसी देनेका आदेश दिया। अधिकारियोंने उन्हें फाँसीके तख्तेपर चढ़ा दिया और तुरन्त गलेमें फाँसीका फंदा लगाया। पर तख्ता हटाते ही फाँसीका फंदा टूट गया। दूसरी बार फाँसी लगायी, फिर भी वह टूट गया। इस प्रकार सात बार महावीरके गलेमें फांसी डाली गयी और सातों ही बार फाँसीका फंदा टूटता गया। इस घटनासे कर्मचारी भयभीत और आतंकित हुए। अतः वे तोसलि-नरेशके पास इन्हें ले आये और पूर्वोक्त घटनाका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। तोसलि-नरेश महावीरके इस प्रभावसे प्रभावित हुआ और क्षमा-याचना करते हुए उन्हें मुक्त कर दिया।

संगमदेवने अभी भी पराजय स्वीकार नहीं किया। अतः वह इन्हें उपसर्ग देनेके लिये और अधिक गतिशील हो गया। तोसलिसे महावीर सिद्धार्थपुर गये और वहाँ भी संगमकदेवके षड्यन्त्रके कारण इन्हें चोर समझकर पकड़ लिया गया। इसी समय कौशिक नामक एक अश्वव्यापारी वहाँ आया। वह महावीरको पहचानता था। अतः उसने इनका परिचय देकर इन्हें बन्धन-मुक्त किया। सिद्धार्थपुरसे महावीर वृजगाँव (गोकुल) पहुँचे।

वृजग्राममें उस दिन कोई उत्सव था। घर-घर क्षीरान्न बना था। महावीर भिक्षाचर्याके हेतु वृजगाँवमें पहुँचे। संगमक वहाँ पहलेसे ही उपस्थित था। वह आहारको अनेषणीय करने लगा। जब महावीरको संगमके षड्यंत्रका पता लगा, तो वे तुरंत ही उस गाँवसे बाहर चले गये। संगमकने महावीरको ध्यान-विचलित करनेके लिये अनेकानेक उपसर्ग किये, पर वह उन्हें विचलित न कर-सका।

संगमकको महावीरपर उपसर्ग करते हुए लगभग छहमास व्यतीत होने जा रहे थे। वह उन्हें ध्यानच्युत करनेके लिये अगणित विघ्न भी कर चुका था, पर वह अपने इस दुष्कृत्यमें सफल नहीं हो पाया।

संगमदेवका पराजय और चरण-वंदन

उसने अवधिज्ञान द्वारा महावीरकी मानसिक वृत्तियोंकी भी परीक्षा ली। पर उसने अवगत किया कि महावीरका मनोभाव अधिक सुदृढ़ है। वे आत्माके अमरत्वके निकट पहुँच रहे हैं। संयम और शीलकी अहर्निश वृद्धि हो रही है। अतः अपनी पराजय स्वीकार करते हुए महावीरसे निवेदन किया—"प्रभो! आपके सम्बन्धमें जो कहा गया था, वह अक्षरशः सत्य है। आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और उपसर्ग-विजेता हैं। विश्वमें कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो आपको आत्मा-

साधनसे विचलित कर दे। मैं अपना पराजय स्वीकार करता हूँ और दिये गये कष्टोंके लिये आपसे क्षमा-याचना करता हूँ। आप वास्तवमें धन्य हैं। आपका साहस और धैर्य अतुलनीय है और आपकी साधना अनुपम है।"

तीर्थंकर महावीरके धैर्यसे हार मानकर संगमक वहाँसे चला गया। दूसरे दिन महावीरने उसी वृजगाँवमें भिक्षा-चर्याके लिये प्रवेश किया। पूरे छह महीनोंके बाद इन्होंने एक वृद्धाके यहाँ निर्दोष क्षीरान्नका भोजन ग्रहण किया।

वृजग्रामसे महावीर आलम्भिया आदि प्रसिद्ध नगरियोंसे होते हुए श्रावस्ती पहुँचे और वहाँ नगरके उद्यानमें ध्यानस्थित हो गये।

चमत्कारको नमस्कार

इन दिनों श्रावस्तीमें स्कन्दका उत्सव चल रहा था। नगरनिवासी उत्सवमें इतने व्यस्त थे कि महावीरकी ओर किसीने लक्ष्य ही नहीं किया। समस्त गाँव-स्कन्दके मन्दिरके पास एकत्र था। यहाँ एक प्रभावक घटना घटी। भक्तजन देवमूर्तिको वस्त्रालंकारोंसे सजाकर रथमें बैठाने जा रहे थे कि मूर्ति स्वयं चलने लगी। भक्तोंके आनंदका पार न रहा। वे समझे कि देव स्वयं रथमें बैठने जा रहे हैं। हर्षके नारे लगाते हुए सब लोग मूर्तिके पीछे-पीछे चलने लगे। मूर्ति उद्यानमें पहुँची और महावीरके चरणोंमें गिरकर वंदना करने लगी। उपस्थित जनसमुदायने हर्ष-ध्वनि की और महावीरको देवाधिदेव मानकर उनका बहुमान किया और महिमा व्यक्त की।

निर्विघ्न पारणा सम्पन्न

श्रावस्तीसे विहारकर महावीर कोशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरोंमें परिभ्रमण करते हुए वैशाली पधारे और यहीं ग्यारहवाँ वर्षा-वास सम्पन्न किया। वैशालीके बाहर काममहावन नामक एक उद्यान था। इसी उद्यानमें महावीर चातुर्मासिक तप ग्रहणकर ठहरे।

वैशालीका नगरसेठ प्रतिदिन महावीरके चरण-वंदन करने जाता और आहार ग्रहण करनेकी प्रतिदिन प्रार्थना करता। पर महावीर आहारके निमित्त नगरमें नहीं जाते। श्रेष्ठिने सोचा महावीरका मासिक तप होगा और महीना पूरा होने पर आहारके हेतु पधारेंगे। पर महावीर आहारके लिए नहीं उठे।

सेठने द्विमास-क्षपणकी कल्पना की और दूसरे मासके अंतमें त्रिमासिक की। महावीर तीसरे महीनेकी समाप्तिपर भी भिक्षाचर्याके लिये नहीं निकले। अब

उसने अनुमान किया कि महावीरका चातुर्मास-क्षपण होगा। अतः चार महीनेके उपवासको समाप्त कर वे भिक्षाचर्याके लिये प्रस्थान करेंगे। वह अपने घर आकर चातुर्मासके अंतमें महावीरकी प्रतीक्षा करने लगा। मध्याह्नकाल महावीर चर्याके लिये निकले और पिण्डेषणाके नियमानुसार वैशालीमें भ्रमण करते हुए उन्होंने एक गृहस्थके घरमें प्रवेश किया। गृहस्वामीने, जो कुछ रूखा-सूखा तैयार था, उसीसे महावीरकी पारणा करायी। महावीरने अत्यन्त संतोष और शान्तिके साथ पारणा ग्रहण की। जब नगरसेठने सुना कि महावीरकी पारणा अन्यत्र हो गयी, तो वह अपने भाग्यको दोष देने लगा।

महावीरकी पारणा निर्विघ्न सम्पन्न होनेके कारण पञ्चाश्चर्य प्रकट हुए, जिससे वैशाली-निवासी अत्यन्त प्रसन्न थे।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरने इस एकादश वर्षकी साधनामें कर्मोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा की। उन्होंने साधुके अट्ठाईस मूलगुणों, तीन गुप्तियों, पांच समितियों आदिका पूर्णतया निर्वाह करते हुए त्याग, वैराग्य और संयमानुष्ठान किया। महावीरने आत्म-संयम और उच्च भावनाओंमें रमण करनेकी पूरी चेष्टा की। आत्म-शुद्धिके लिये प्रयत्नशील रहना ही जीवनका प्रधान उद्देश्य था। महावीरकी यह साधना आत्मशुद्धिका प्रमुख साधन थी।

द्वादशवर्ष-साधना : विचित्र अभिग्रह

संवर और कर्म-निर्जराके हेतु महावीर विचित्र अभिग्रह ग्रहण कर चर्याके लिये निकलते थे और जब अभिग्रह पूरा नहीं होता, तो वे सन्तोषपूर्वक लौटकर साधनामें संलग्न हो जाते। उनके भीतर दिव्यप्रकाशके उदयका आरम्भ हो चुका था। अतएव वे अपनी समस्त शक्तियोंके विकास हेतु प्रयत्नशील थे। वे हिमालयके समान दृढ़ होकर उपवास आरम्भ करते और अनेक प्रकारके उपसर्ग आनेपर भी वे उनसे विचलित न होते। भय और रोषसे दूर अविचलभावसे यंत्रणाओंको सहन करते रहते थे।

महावीर क्षमाके अवतार थे। दुराचारियों, अत्याचारियों और अधर्मियोंको क्षमा प्रदानकर उन्हें सच्चे पथपर लगाते थे। वे अनार्योंमें सद्व्यवहार और सम्यक्त्वके विकासके हेतु भ्रमण करते और उन्हें भी सन्मार्गपर अग्रसर होनेकी प्रेरणा देते थे।

वैशालीसे महावीरने सूसुमारपुरकी ओर विहार किया। इस नगरके परिसरमें महावीरने अशोकवृक्षके नीचे कायोत्सर्ग किया। यहाँसे महावीर भोगपुर और नन्दिग्राम होते हुए मेंढ़ियग्राम पधारे। यहाँ एक गोपने

महावीरको कठिन उपसर्ग दिया और महावीरने बड़ी समताके साथ उस उपसर्गको सहन किया।

मेंढियग्रामसे महावीर कौशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदाके दिन चर्याविषयक यह अटपटा अभिग्रह किया कि—"मुण्डित सिर, पैरोंमें बेड़ियाँ पहने हुए, तीन दिनकी भूखी, उबाले हुए उड़दके बाकुले, सूपके कोनेमें लेकर भिक्षाका समय बीत चुकनेपर द्वारके बीचमें खड़ी हुई तथा दासत्वको प्राप्त हुई यदि कोई स्त्री आहार देगी, तो मैं ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।"

उक्त प्रतिज्ञा कर महावीर प्रतिदिन कौशाम्बीमें चर्याके लिये जाते। घूमते-घूमते चार महीने उन्हें बीत गये, पर अभिग्रह पूरा न हुआ।

एक दिन महावीर कौशाम्बीके अमात्य सुगुप्तके घर चर्याके हेतु पधारे। अमात्य-पत्नी नन्दा भक्तिपूर्वक प्रतिग्रहण करने लगी, पर अभिग्रह पूरा न होनेसे महावीर चल दिये। नन्दा पश्चात्ताप करने लगी। दासियोंने निवेदन किया—"ये देवार्य तो प्रतिदिन यहाँ आते हैं और कुछ भी लिये विना यहाँसे चले जाते हैं।" दासीके इस कथनसे नन्दाने निश्चय किया कि अवश्य ही महावीरका कोई दुर्गम अभिग्रह है, जिसकी पूर्ति न होनेसे आहार ग्रहण नहीं करते।

जब अमात्य घर आया, तो उसने नन्दाको उदासीन देखा। पूछा—"क्या बात है? मलिन और चिंतितमुख क्यों दिखलाई पड़ती हो?"

नन्दा—"आपका अमात्यपन किस कामका, जब कि चार महीनोंसे योगिराज महावीर आहार ग्रहण नहीं कर रहे हैं। पता नहीं उनका क्या अभिग्रह है? और उसकी पूर्ति क्यों नहीं हो रही है? यदि आप महावीरके अभिग्रहका पता नहीं लगा सकते, तो आपका चातुर्य किस कामका?"

आश्वासन देता हुआ सुगुप्त बोला—"तुम चिंता मत करो, मैं उनके अभिग्रहकी जानकारी प्राप्त करूँगा, जिससे महावीरकी पारणा हो जाय।"

राजा-रानीकी चिन्ता

जिस समय महावीरके अभिग्रहकी चर्चा हो रही है, उस समय वहाँ प्रतिहारी विजया भी उपस्थित थी। उसने सब बातें सुन लीं और राजभवनमें जाकर रानी मृगावतीसे निवेदन किया। रानी भी इस घटनासे आकुल हुई और राजाको उलाहना देती हुई बोली—"आपका इतना समृद्ध राज्य है और इस राज्यमें एक-से-एक बढ़कर मेधावी और प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। गुप्तचर-

विभाग आपका कार्य करता है। महावीर कई महीनोंसे कोई अभिग्रह लेकर राजधानीमें चर्याके हेतु भ्रमण करते हैं। पर अभिग्रह पूर्ण न होनेसे वे आहार ग्रहण किये बिना ही लौट जाते हैं। क्या आपके व्यक्ति उनके अभिग्रहका पता नहीं लगा सकते? आपने कभी यह सोचा भी नहीं कि महावीर आहार क्यों ग्रहण नहीं करते? आपके इतने बड़े राज्यकी सार्थकता तभी है, जब आप अभिग्रहकी जानकारी प्राप्त करें। आज नगरमें सर्वत्र यही चर्चा है।"

राजा शतानीक—"देवि! चिंता मत करो! मैं शास्त्रज्ञ विद्वानोंको बुलाकर आहार-सम्बन्धी सभी अभिग्रहोंको जानकर नगरमें घोषणा करा दूँगा कि सभी भव्य उक्त अभिग्रहोंको एकत्र करनेका प्रयास करें।

राजाने सभापण्डित तथ्यवादीको बुलाया और कहा—"महाशय! धर्म-शास्त्रोंमें साधुकी चर्याका जो आचार वर्णित है, आप उसे सुनाइये। साधु भोजनके लिए जाते समय किस प्रकारके अभिग्रह ग्रहण कर सकता है, यह भी बतलाइये। आप जानते होंगे कि हमारी नगरीमें महावीर कोई दुर्बोध अभिग्रह लेकर कई महीनोंसे निराहार रह रहे हैं। जबतक उनका अभिग्रह नहीं मिलेगा, वे आहार ग्रहण नहीं करेंगे। अतएव शास्त्रोंमें जितने प्रकारके अभिग्रह वर्णित हों, नगरमें उन सभीकी व्यवस्था कर दूँ।"

राजाने सुगुप्त महामात्यकी ओर संकेत करते हुए कहा—"मन्त्रिवर! आप भी अपनी बुद्धिका उपयोग कीजिए और महावीरके अभिग्रहका पता लगाइये।"

सभापण्डित—"राजन्! अभिग्रह अनेक प्रकारके होते हैं, अतः यह कैसे जाना जाय कि किसके मनमें क्या अभिप्राय है? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-विषयक अभिग्रह, पिण्डैषणा और पानैषणा-सम्बन्धी विविध नियम शास्त्रोंमें आये हैं।"

राजा शतानीकने शास्त्रोंमें उल्लिखित चर्या-सम्बन्धी विधि-विधानकी जान कारी प्रजाको कराई। अनेक प्रकारके अभिग्रहोंकी पूर्त्तिका भी प्रबन्ध किया गया; पर महावीरका आहार न हो सका। महावीरको निराहार पाँच महीने बीत चुके थे और छठा महीना पूरा होनेमें केवल पाँच दिन शेष रह गये थे। दोपहरका समय था। सारा कौशाम्बी नगर महावीरके जयघोषसे गूँज रहा था। नगरके एक कोनेसे दूसरे कोने तक विद्युत-तरंगकी भाँति यह समाचार व्याप्त हो गया कि महावीर आहारके लिये आ रहे हैं।

महावीर आहारके निमित्त नगरमें घूमने लगे। द्वार-द्वारपर लोग उनकी प्रतीक्षा करने लगे। कौशाम्बी-निवासी आश्चर्यपूर्वक यह देखनेके लिये उत्सुक

थे कि आज किसके भाग्य खुलते हैं? कौन ऐसा पुण्यात्मा है, जो तीर्थंकर महावीरको आहार देता है? इस प्रकार नगरकी उत्सुकता देखते ही बनती थी।

भाग्योदय हुआ चन्दनाका

चन्दना चेटककी पुत्री रानी त्रिशलाकी छोटी बहन थी। चन्दना और त्रिशलाके बीचमें एक और बहन थी मृगा। पर भाग्यका चक्र विचित्र होता है। कर्मोदयसे त्रिशला और मृगावतीको तो राजभवन और पुष्पशैय्या प्राप्त हुई, पर बेचारी चन्दनाको काँटोंकी झाड़ियाँ ही उपलब्ध हुईं। बड़े दुःख भोगे चन्दनाने। यहाँ तक कि उसे दासी भी बनना पड़ा।

चन्दनाका आरम्भिक जीवन बड़ा ही गर्वित था। वह राजकन्या तो थी ही, पर अपने अद्भुत रूपलावण्यके कारण वैशालीके समस्त उपनगरोंकी शोभा थी। उन्नत ललाट, काञ्चन दिव्य वर्ण एवं कृश शरीर सहजमें ही जनमानस-को आकृष्ट कर लेता था। पुरजन, परिजन सभीका विश्वास था कि चन्दनाके समान दिव्य कुमारी देव, नाग, गन्धर्वोंमें भी नहीं हो सकती।

वसन्तके दिन थे। राजोद्यानमें पुष्प विकसित थे और भौंरे उनपर मधुर स्वर-में गुंजन कर रहे थे। चन्दना भी उद्यानमें घूम-घूमकर गुनगुना रही थी और भ्रमरोंके स्वरमें स्वर मिला रही थी। उसके कोकिल कण्ठसे निकली हुई वाणी सहजमें ही सरस और मधुमय हो जाती थी। उसके स्वरका मिठास अपूर्व था।

चन्दनाका अपहरण

हठात् एक विद्याधरकी दृष्टि चन्दनापर पड़ी। वह आकाशमार्गसे विमान द्वारा जा रहा था, पर चन्दनाके अपूर्व स्वर-माधुर्यने उसे स्तब्ध कर दिया। चन्दना उसके मनःप्राणमें समा गयी। वह नीचे उतरा और चन्दनाको लेकर फिर आकाश-मार्गसे उड़ चला। चन्दनाने शक्तिभर विरोध किया, पर विद्या-धरपर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

चन्दना रोयी-चिल्लायी। नाखूनोंसे अपने शरीरको क्षत-विक्षत किया, पर विद्याधरने उसे न छोड़ा। विद्याधर चन्दनाके शीलको नष्ट करना चाहता था और चन्दना सभी प्रकारसे अपने शीलकी रक्षा करनेमें तत्पर थी। संयोगकी बात कि विद्याधरकी धर्मपत्नी कहींसे घूमते हुए वहीं आ पहुँची। विद्याधर अब क्या करता? पत्नीसे भयभीत होकर उसने चन्दनाको भयानक वनमें छोड़ दिया।

निरीह चंदना उस भयानक वनमें इधर-उधर घूमने लगी। चारों ओर हिंसक पशु और अकेली चन्दना। भूख और प्याससे उसकी आँतें सूखी जा रही थीं, पर

वह करे तो क्या करे ? घूमते हुए उसकी भेंट एक भिल्लसे हुई। भिल्ल चन्दनाको देखकर विस्मित हो उठा। ऐसा रूप-लावण्य तो उसने अपने जीवन में कहीं देखा ही नहीं था। वह सोचने लगा—यह अवश्य कोई देवी या अप्सरा है, मानवी तो हो नहीं सकती। मनुष्योंमें इतना सौंदर्य कहाँसे आ सकता है ? अतएव वह चन्दनाको अपने सरदारके पास ले गया।

भिल्लसरदारके घेरेमें चन्दना

चन्दनाको देखते ही भिल्ल-सरदारके मनमें वासनाका विष समाविष्ट हो गया। वह उसे अपनी पत्नी बनानेके लिये चेष्टा करने लगा। पर चन्दना उसकी शर्त स्वीकार करनेको तैयार नहीं थी। वह तो एक शीलवती और सदाचारिणी नारी थी। भिल्ल-सरदार भी उसे यों ही छोड़नेवाला नहीं था। वह उसे डराने-धमकाने लगा तथा भाँति-भाँतिकी यंत्रणाएँ देने लगा। फिर भी चंदना उसके वशमें न आयी। वह अपने पवित्र विचारोंपर दृढ़ रही।

जब भिल्ल-सरदारने यह अनुभव किया कि मेरे अत्याचारोंसे यह अनिन्द्य-सुन्दरी अपने प्राण छोड़ देगी, पर मेरी इच्छा-पूर्तिका साधन न बनेगी, तो वह सोचने लगा कि अच्छा हो कि इसे बेचकर कुछ रुपये प्राप्त करूँ।

उन दिनों दास-प्रथाका प्रचलन था। स्त्री-पुरुष दास-दासियोंके रूपमें उसी प्रकार बेचे जाते थे, जिस प्रकार बाजारोंमें पशु बेचे जाते हैं। अतः वह भिल्ल-सरदार चन्दनाको लेकर कौशाम्बी नगरीमें पहुँचा और चौराहेपर खड़ा होकर उसकी बोली लगाने लगा।

चन्दनाकी बिक्री

भिल्ल-सरदार बोली लगाकर चन्दनाका मूल्य बढ़ाता चला जारहा था कि दूसरी ओरसे वहाँ वृषभदत्त नगरसेठ उपस्थित हुआ। चन्दनाको देखते ही उसके हृदयमें निश्छल वात्सल्यका उदय हो गया और उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि चन्दना उसकी कभीकी पुत्री है। अतः उसने सर्वाधिक मूल्य चुकाकर चन्दना-को खरीद लिया और धर्मपुत्रीके समान उसका पालन-पोषण करने लगा।

यद्यपि नगरसेठका हृदय पवित्र था। वह चन्दनाको अपनी धर्मपुत्री सम-झता था। पर नगरसेठकी पत्नी चन्दनाके रूप-लावण्यसे आशंकित थी। उसके मनमें संदेह था कि सेठ चन्दनाको अपनी धर्मपत्नी बना लेगा और उसकी अव-मानना करेगा। चन्दनाका रूप-सौंदर्य यहाँपर भी उसके जीवनका अभिशाप बना। नगरसेठकी पत्नी चन्दनाके साथ दासी जैसा कटु व्यवहार करने लगी।

वह अपने तीखे वाक्‌वाणों द्वारा उसके हृदयको छेदती तथा अनेक प्रकारकी जली-कटी सुनाती। चन्दना करती तो क्या करती ? वह अशुभ कर्मोदयका विपाक समझकर सब कुछ सहन करती हुई नगरसेठके घर पड़ी रहती।

दिन बीतते गये और चन्दना बड़ी होती गयी। युवावस्थाके पदार्पणने उसके शारीरिक सौंदर्यको कई गुना बढ़ा दिया। सेठकी पत्नी सुभद्राका संदेह दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था।

संदेहका भूत

एक दिनकी बात है कि नगरसेठ वृषभदत्त मध्याह्न कालमें तेज धूपमें-से लौटा था। चन्दना उसके पैर धुला रही थो। उस समय उसके बाल बिखरकर नीचेकी ओर जमीनको छूने लगे और मुहँपर छा गये। वृषभदत्तने सहज ममतावश अपने हाथसे उन बालोंको ऊपर कर दिया। जब सुभद्राने इस दृश्य-को देखा तो उसका मन आशंकाओंसे भग्न लगा। उसे यह निश्चय हो गया कि नगरसेठ वृषभदत्त चन्दनासे प्रेम करता है। अतएव वह चन्दनाको अपने घरसे निकालने और उसे विद्रूप करनेका अवसर ढूढ़ने लगी। सेठके रहते हुए उसके भयसे सुभद्रा कुछ नहीं कर पाती थी।

अन्तमें एक दिन सुभद्राको ऐसा अवसर मिल गया। सेठ वृषभदत्त बाहर गया हुआ था। उसने नाईको बुलाकर सर्वप्रथम चन्दनाकी केशराशिको उसके सिरसे उतरवा दिया। वे केश चन्दनाके सौंदर्यकी अभिवृद्धिमें बहुत बड़े कारण थे। इसपर भी उसे संतोष न हुआ, तो चन्दनाके पैरोंमें बेड़ी डलवाकर उसे तलघरमें बन्द करवा दिया। चन्दनाकी बड़ी ही दुर्गति थी। वह एकप्रकारसे जीवन-मृत्युकी घड़ियाँ गिन रही थी।

वृषभदत्त बाहरसे लौटा। चन्दनाको न देखकर उसके मनमें विभिन्न प्रकारकी आशंकाएँ उत्पन्न होने लगीं। उसने दास-दासियोंसे चन्दनाके विषयमें पूछा, पर किसीका भी साहस न हुआ कि सेठको वास्तविक स्थितिका परिज्ञान कराये। बहुत तलाश करनेके उपरान्त वृषभदत्तकी एक दासीने डरते-डरते पूरी बात बतलायी। वह शीघ्र ही तलघरमें पहुँचा और चन्दनाकी उक्त स्थिति देखकर रो पड़ा। उसकी ममताके बादल बरसने लगे। वह शीघ्र ही चन्दनाको वहाँसे निकालकर बन्धनमुक्त करना चाहता था। अतएव बेड़ियाँ काटनेके लिये वह लोहारको बुलाने चला गया।

खुल गये बन्धन, मिला रत्नमय उपहार

संयोगकी बात कि महावीर छह महीनेतक निराहार रहकर अहारके हेतु नगरमें दुर्गम अभिग्रह लिये घूम रहे थे। चन्दना बेड़ियोंमें पड़ी हुई थी। तल-

घरका द्वार खुला हुआ था। तभी महावीर उस ओरसे निकले। सुभद्राने चन्दनाको भोजनके लिये जो तुच्छ आहार दिया था उसे लिये वह बैठी थी।

महावीरके निकट आते ही उसकी बेड़ियाँ टूट गयीं और उनके अभिग्रहके अनुसार द्वारके मध्यमें स्थित होकर, सूपमें रखे बाकुलोंसे उनको पड़गाहने लगी। महावीर चन्दनाकी ओर बढ़ आये। उन्होंने आहार स्वीकार कर लिया। राजा शतानीक, सुगुप्त मंत्री, वृषभदत्त और सेठकी पत्नी सुभद्रा आदि सभी चन्दनाके भाग्यकी प्रशंसा कर रहे थे। नर-नारियोंके झुण्ड-के-झुण्ड चन्दनाके दर्शनके लिये दौड़ पडे और उसके चरणोंकी धूलि अपने मस्तक-पर लगाने लगे। राजमार्ग ठसाठस भरा था और चारों ओर जय-जयकारकी तुमुलध्वनि हो रही थी।

चन्दनाकी वन्दना

आज चन्दनाके साथ कोदोंके भी भाग्य खुल गये और कौशाम्बी कृतार्थ हो गयी। उसके जन्म-जन्मके पातक शिथिल पड़ गये। चन्दनाको आत्मशक्ति-का बोध हुआ। उसकी आत्माके बन्धन क्षीण हो गये और शीलका उपहार मिल गया। यह दृश्य इतना अलौकिक और अद्भुत था कि चन्दनाकी प्रशंसा हर व्यक्तिकी जिह्वापर विराजमान थी। भारतीय नारीत्व अमर हो गया था और चन्दनाके सतीत्वका उदाहरण आदर्श रूपमें उपस्थित था।

दशों दिशाओंके द्वार खुल चुके थे और चन्दनाकी आरतीके लिये दिग्-दिगन्त तैयार था। भारतीय नारीत्वको एक उज्ज्वल ऊँचाई प्राप्त हुई थी। चन्दनाकी बेड़ियाँ आशीर्वाद बन चुकी थीं।

चन्दनाका मिलन

कौशाम्बीकी राजमहिषी मृगावतीको जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तो वह भी चन्दनाके दर्शनार्थ द्वारपर जा पहुँची। उसे क्या पता था कि चन्दना कोई और नहीं, उसकी ही छोटी बहन है। जब उसने चन्दनाको देखा, तो उसकी आँखोंमें शोक और हर्षके आँसू छलक आये। शोकके आँसू इसलिये गिरे कि चन्दनाको राजपुत्री होनेपर भी दासीका जीवन व्यतीत करना पड़ा और हर्षाश्रु इसलिये प्रादुर्भूत हुए कि उसकी बहन चन्दनाके हाथोंसे महावीरने आहार ग्रहण किया। उसने उपस्थित जन-समुदायके समक्ष चन्दनाका परिचय प्रस्तुत किया और राजभवनमें चलनेके लिये अनुरोध किया।

वृषभदत्तकी पत्नी सुभद्रा चन्दनाके पैरोंपर गिर गयी। उसकी आँखें सजल हो गयीं और मुखपर पश्चात्तापका गहरा भाव उत्पन्न हो गया। वह कह रही थी—"बहन मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारे साथ घोर अन्याय किया है। मेरे

पापी मनने तुम्हें भी पापरूपमें ही कल्पित किया है। मुझे अपने कृत्यपर घोर पश्चात्ताप है।"

चन्दना—"देवी ! तुम बड़ी हो। तुम्हारे चरण मुझे छूने चाहिये। तुमने मेरा महान् उपकार किया है। यदि तुम्हारा यह व्यवहार न हुआ होता, तो महावीरका अभिग्रह मिल ही नहीं पाता। तुम्हारे तलघरने मेरा भाग्योदय किया है। अतएव मेरी कृतज्ञता स्वीकार कीजिये।"

रानी मृगावतीने चन्दनाको राजभवनमें चलनेका पुनः आग्रह किया और उसे अपनी बड़ी बहनका आग्रह स्वीकार करना पड़ा। कालान्तरमें महाराज चेटकको चन्दनाको प्राप्तिका समाचार भेजा गया और वे चन्दनाको अपने घर लिवा ले गये।

कौशाम्बीसे विहारकर महावीर सुमङ्गल, सुच्छेत्ता और पालक आदि गाँवोंमें विचरण करते हुए चम्पापुरी पहुँचे और यहींपर वर्षावास समाप्त किया। वर्षावासके दिनोंमें महावीरने चार महीनेका उपवास ग्रहण किया। इस वर्षा-वासमें उन्होंने स्वातिदत्तको प्रबोधित किया। तीर्थंकर महावीर नानाप्रकारसे मौन साधना करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे। वे चम्पासे विहारकर जम्भिय गाँव पहुँचे।

अन्य उपसर्ग : आत्म-दृढ़ता

स्वर्ण तपाये जानेपर ही कुंदन बनता है। व्यक्तिकी साधना भी उपसर्ग और परीषहोंके सहन करनेपर ही सफल होती है। जिस प्रकार अञ्जलिका जल शनैः शनैः हाथसे चू जाता है उसी प्रकार उपसर्ग सहनेसे कर्मका कालुष्य समाप्त हो जाता है। अविच्छिन्न तपस्या ही कर्म-निर्जराको सम्पादित करती है। तपश्चर्याकी छेनीसे कर्मकी निविड़ शृंखलाएँ कट रही थीं और धीरे-धीरे वीतरागता उभर रही थी। एक अदम्य परम ज्योतिका उदय निकट था और केवलज्ञानका उषाकाल उपस्थित था। आत्माके आवरण शिथिल हो रहे थे और निर्मलताका तेज बढ़ता जारहा था।

महावीरकी उपसर्ग-विजय साधारण नहीं थी, उन्होंने बड़े-से-बड़े उपसर्गों-को समता और शांतिसे सहन किया। उनकी दृष्टिमें कोई शत्रु-मित्र नहीं थे। सभी कल्याणमित्र थे। दुस्सह साधनाके तेजसे हिंसा, घृणा, भय और आतंक निष्प्रभ हो गये थे।

वसंतके दिन थे। चारों ओर वन-वाटिकाएँ पुष्पोंसे आच्छादित थीं। पक्षी सुमधुर स्वरोंमें कलकल-निनाद कर रहे थे। तीर्थंकर महावीर एक पुष्पित

उद्यानके मार्गसे गमन कर रहे थे। प्रकृतिका रम्य वातावरण पशु-पक्षी, मानव और देव सभीको आह्लादित कर रहा था।

अप्सराओं द्वारा प्रस्तुत मोहक राग-भोग

स्वर्गकी देवांगनाओंके मनमें संदेह उत्पन्न हुआ कि महावीर काम-विजयी और इन्द्रिय-जयी हो सकते हैं? वे महावीरकी स्वर्णकांतिमय देहको देखकर सोचने लगीं, हो नहीं सकता कि ऐसे स्वस्थ सुन्दर पुरुषके मनमें काम-विकार उत्पन्न न हो। देवांगनाएँ महावीरके संयमकी परीक्षाएँ लेनेके हेतु उद्यत हो उठीं।

वसंतश्रीका मादक सौरभ सभीके मनको काम-वासनासे बोझिल बना रहा था। देवांगनाएँ ऐसे ही मधुमय वातावरणमें महावीरके समक्ष उपस्थित हुईं। वे एक-से-एक सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत थीं। सबकी सब प्रकट होकर नृत्य करने लगीं, गाने लगीं, कामुक हाव-भाव प्रदर्शित करने लगीं और अपने कटाक्षों द्वारा अपने भावोंको प्रकट करने लगीं। अश्लीलतापूर्ण उनके वचन और विकारीभाव बड़े-बड़े संन्यासियोंको विचलित कर सकते थे, पर महावीरपर उनका रंचमात्र भी प्रभाव न पड़ा। प्रभावकी तो बात ही क्या, महावीरने उनकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा। आखिर वे हारकर तीर्थंकर महावीरसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करने लगीं।

महावीरकी यशोगाथा चारों ओर फैल गयी और काम-विजयीके रूपमें वे सर्वत्र समादृत होने लगे। महावीरने इन्द्रियोंके विकारोंको जीत लिया था। वे स्वकी उपलब्धि और स्वनिष्ठ आनन्दकी खोजमें संलग्न थे। संसारका बड़े-से-बड़ा प्रलोभन उनके लिये तुच्छ था। संसारकी भोग-वासना और दुर्गंधभरी गलियोंसे भटकना उन्हें स्वीकार नहीं था। वे सोचते—"विकृतियोंके कीड़ोंसे कुलबुलाता जीवन भी क्या जीवन है? जीवनकी निर्विकार पवित्रता एवं अनन्त सत्यकी उपलब्धि ही जीवनका महान् उद्देश्य है। वे परम सत्य और परम आनन्दको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील थे।

स्वयंबुद्ध महावीरकी साधना जड़ नहीं, सचेतन थी और सचेतन साधना गतिहीन नहीं होती। साधनाकी सचेतनता ज्ञानपर अवलम्बित है। वे श्रमण-साधनामें संलग्न थे। उनके कदम सूनी और अनजानी राहोंपर दृढ़तासे बढ़ रहे थे। उन्होंने न तो कभी किसीको डराया और न स्वयं कभी भयभीत हुए। उनके ध्यानयोगकी साधना आत्मानन्दकी साधना थी। भयसे परे, प्रलोभनसे परे, द्वेषसे परे, शरीरमें रहकर भी शरीरसे अलग, शरीरकी अनुभूतिसे पृथक्,

जीवनकी आशा और मरणके भयसे वे विप्रमुक्त थे। कायोत्सर्गका अर्थ उनकी दृष्टिमें देहभावकी विस्मृति, देहमें विदेहभाव, शरीरसे सम्बन्धित मोह-ममत्व-का त्याग था।

निश्चयतः महावीरका साधनाकाल बड़ा विकट था। उस युगका जन-मानस बड़ा ही संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण था। विश्वहितकी दिशामें सर्वस्व त्याग-कर निकले हुए साधकको इतना उत्पीड़न, ऐसी भयंकर बाधाएँ एवं ऐसी निर्दयतापूर्ण यातनाएँ दी जा सकती हैं, यह महावीरके जीवनसे स्पष्ट है। महावीरके उपसर्गोंकी कथा जानकर सहृदय श्रोताका तन-मन काँप उठता है, मन सिहर जाता है, पर महावीर ऐसे थे, जैसे एक प्रशांत महासागर, जिसमें कभी तूफान नहीं उठता। मैत्रीभावनाका ऐसा सर्वोच्च आदर्श, जिसे फूल और कांटोंसे समान प्यार हो। सतानेवालेके प्रति भी एक सहज करुणा, कल्याणकी कामना और उनके उत्थानकी भावना निहित थी। हम प्रायः देखते हैं कि मनुष्य अनादि कालसे दूसरोंकी शिकायत करता चला आ रहा है। महावीरको अपने सतानेवालोंसे भी कोई शिकायत नहीं थी। उनका चिन्तन था—"जो पा रहा हूँ, वह अपना ही किया पा रहा हूँ। जो भोग रहा हूँ, अपना ही किया भोग रहा हूँ। दूसरोंका कोई दोष नहीं, दोष तो मेरा है।"

"अन्य व्यक्ति किसीके सुख-दुःखमें निमित्त तो हो सकते हैं, कर्त्ता नहीं। कर्त्ता मनुष्य स्वयं ही होता है। जो कर्त्ता है, वही भोक्ता भी होगा। कर्त्ता कोई हो और भोक्ता कोई हो, यह कैसे सम्भव होगा। जो कृत है, उसे भोगे विना बन्धनमुक्ति नहीं।"

इस प्रकारका चिन्तन भी महावीरकी प्रारम्भिक भूमिकाओंमें ही रहा। आगे चलकर तो वे इन समस्त विकल्पोंसे रहित हो गये। मेरे और तेरेका कोई विकल्प नहीं। करने और भोगनेका भी कोई विचार नहीं। अन्तर्लीनताके क्षणोंमें किया गया ध्यान-योग निर्वात कक्षमें प्रज्वलित दीप-शिखाके समान स्थित हो जाता है। उस समय न अशुभकी लहर उठती है और न शुभकी। यह तो शुद्धोपयोगकी स्थिति होती है। आत्मा विकल्पसे अविकल्पकी ओर और चिन्तनकी ओर आती है। इस शुद्धस्थितिको प्राप्त करना ही तो साधकका लक्ष्य है।

भवरुद्र द्वारा प्रदत्त उपसर्गोंपर विजय

उज्जयनीके चातुर्मासकी कथा तीर्थंकर महावीरके अनुपम शौर्य और वीरत्व-का चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकारके उपसर्ग बड़े-बड़े साहसियोंके भी

साहसको तोड़ देते हैं। महावीर जैसे असाधारण साहसी ही इस प्रकारके उप-सर्गोंमें सफल हो पाते हैं।

महावीर जिन दिनोंमें साधना कर रहे थे, उन दिनों उज्जयिनीमें बलि-प्रथाका बड़ा जोर था। देवताओंकी पूजामें प्रायः पशुओंकी बलि दी जाती थी। महावीरने यह वर्षावास श्मशानमें ग्रहण किया था। इस श्मशानमें भव नामक रुद्र निवास करता था। वह महावीरको देखते ही कोपसे जल उठा। यतः वह महावीरके अहिंसक विचारोंसे परिचित था। वह नहीं चाहता था कि वे अपना वर्षावास उज्जयिनीमें करें। उसे भय था कि महावीरकी अहिंसा-साधनाके प्रभावसे यहाँकी बलि-प्रथा बन्द हो जायगी। अतएव उज्जयिनीसे महावीरको हटानेके लिये अगणित अत्याचार और उपसर्ग किये। वह चारों ओरसे अग्नि जलाकर महावीरको यन्त्रणा देने लगा। कभी वह धूलि-मिट्टीकी वर्षा करता, कभी कंकड़ पत्थर गिराता और मूसलाधार जलवर्षा कर महावीरको भिगो देता और तीक्ष्ण तूफान चलाकर उनकी हड्डियों तकको शीतसे जकड़ देता।

भयावनी और डरावनी आकृतियाँ बनाकर महावीरको डराता, धमकता। कभी सर्प बनकर उन्हें डंसता, तो कभी सिंह बनकर उन्हें खा जाना चाहता। इसप्रकार उस रुद्रने तीर्थंकर महावीरपर विभिन्न प्रकारके हिंसक उपसर्ग किये। पर महावीर हिमालयकी चट्टानके समान दृढ़ बने रहे और इन उपसर्गोंसे तनिक भी विचलित न हुए। उनके समत्वयोगकी साधना बढ़ती जा रही थी। विष अमृत बन रहा था। राग और द्वेष चूर-चूर होकर वीतरागतामें परिणत हो रहे थे। उन्हें अपनी सहायताके लिये किसी अन्यकी आवश्यकता नहीं थी। जब रुद्र थक गया और महावीरका कुछ न बिगाड़ सका, तो वह उनकी असाधारण वीरताकी प्रशंसा करता हुआ कह उठा कि ये तो महान् महावीर या अतिवीर हैं। इन्हें साधना-मार्गमें कोई भी विचलित नहीं कर सकता। इन्होंने अपने शरीरको संयमकी अग्निमें तपाया है।

साढ़े बारह वर्षोंके साधनाकालके अधिकांश भागको निराहार रहकर व्यतीत किया। बारह वर्ष, छहमास और पन्द्रह दिनके अपने साधना-कालमें महावीरने केवल ३५० दिन ही आहार ग्रहण किया।

महावीरके तपश्चरणका विवरण निम्न प्रकार है—

छहमासी अनशन तप	१	पक्षोपवास	७२
पाँचदिन कम छहमासी तप	१	भद्रप्रतिमा दो दिनपर उपवास	१
चातुर्मासिक ,,	९	महाभद्रप्रतिमा चार दिनपर उपवास	१
त्रैमासिक ,,	२	सर्वतोभद्रप्रतिमा दस दिनपर उपवास	१

अढ़ाई मासिक	,,	२	षष्ठोपवास (वेला)	२२१
दोमासी	,,	६	अष्टमभक्त (तेला)	१२
डेढ़मासी	,,	२	पारणाके दिन	३४९
एकमासी	,,	१२	दीक्षाका दिन	१

स्पष्ट है कि महावीर उपसर्ग और परीषहकी घड़ियोंमें भी अनाकुल रहते, विचलित नहीं होते थे। वे उग्रतपस्वी, घोरतपस्वी या दीर्घतपस्वी थे। उनका तप विवेककी सीमामें आबद्ध था। वे सहज तपस्वी थे। वे क्षमाके क्षीरसागर थे। अवज्ञा और अवमानना सहन करनेका उन्हें अभ्यास था। लोग उनपर धूल फेंकते, पत्थर मारते, उन्हें नोच डालनेके लिये शिकारी कुत्ते भी छोड़ते, पर महावीर शान्त रहते। किसीको कुछ भी नहीं कहते। उद्दण्ड विरोधियोंके प्रति भी सौहार्द एवं सौजन्यपूर्ण मधुरभाव विद्यमान था। वाणीमें तो क्या, मनमें भी कटुता नहीं होती थी। जिस प्रकार विजलियां या उल्काएँ सागरमें गिरकर स्वयं शान्त हो जातीं, सागरका कुछ नहीं बिगाड़ पातीं, उसी प्रकार महावीरके ऊपर किये गये उपसर्ग स्वयं ही शान्त हो जाते और उनमें किसी भी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं कर पाते। महावीर अपनी तपःसाधनामें अडिग थे। उन्होंने आत्मनिष्ठा और ज्ञान-ध्यानके अभ्यास द्वारा समताभावकी जागृति कर ली थी। ऐहिक सुख-दुःख, आकुलता और व्याकुलता एवं मोह-ममता सभी उनसे दूर थे। महावीरने आस्रवका निरोधकर संवर और निर्जराको सक्रिय बनाया था। उनकी आत्माकी अनन्त तेजस्विता ज्ञानके उदयाचलकी ओर झांक रही थी।

कैवल्योपलब्धि

वैशाखशुक्ला दशमी, २३ अप्रिल ई० पू० ५५७ का शुभ दिन मानवताके इतिहासमें अमर है। इस शुभ तिथिमें महावीर ऋजुकूला नदीके तटपर स्थित जम्भृका ग्रामके निकट शालिवृक्षके नीचे ध्यानमग्न हो गये थे और क्षपकश्रेणीका आरोहणकर केवलज्ञानको आवृत करनेवाली कर्मप्रकृतियोंका क्षय करने हेतु ध्यानस्थ थे। फलस्वरूप इन्होंने निर्मल चित्तसे आज्ञा-विचय आदि चार महान् धर्म-ध्यानोंका अभ्यास किया। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व, तिर्यंचायु, देवायु, नरकायु इन दश कर्मप्रकृतियोंको (तीन आयुओंका तो अबन्ध था, शेष सात प्रकृतियोंका) चतुर्थ गुणस्थानसे सप्तम गुणस्थानके मध्य क्षयकर दिया। कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये तीर्थंकर महावीरने शुक्लध्यानका अभ्यास किया और क्षपक-श्रेणी आरूढ़ होकर स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचलाप्रचला; नरकगति,

तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियरूप चार जातियों, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इन सोलह कर्मप्रकृतियोंको नष्ट किया। महावीर शुक्ल-ध्यानकी साधनाद्वारा अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थानके प्रथम भागमें अवस्थित रहे। पुनः इसी गुणस्थानके द्वितीय भागमें चारित्रघातक आठ कषायोंको, तृतीय भागमें नपुंसकवेदको, चतुर्थ भागमें स्त्रीवेदको, पंचम भागमें हास्यादि षट्को, षष्ठ भागमें पुरुषवेदको, सप्तम भागमें संज्वलन क्रोधको, अष्टम भागमें संज्वलन मानको और नवम भागमें संज्वलन मायाको क्षीण किया। अनन्तर दशम गुणस्थानकी भूमिपर आरोहित हो सूक्ष्मसंज्वलन लोभका विनाश किया।

इस प्रकार समस्त मोहनीय कर्मको नष्टकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान-का आरोहण किया। इस बारहवें गुणस्थानके दो समयोंमेंसे उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला इन दो कर्मप्रकृतियोंको तथा अन्त समयमें पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह कर्मप्रकृतियोंका नाश किया। इस प्रकार द्वादश गुणस्थान तक त्रेसठ कर्मप्रकृतियोंका विनाशकर त्रयोदश गुणस्थानका आरोहण किया।

इस गुणस्थानारोहणसे महावीरकी शुभ्रता और उज्ज्वलता सर्वत्र प्रकट हो रही थी। घातियाकर्मोंकी ४७ और अघातियाकर्मकी सोलह प्रकृतियाँ कुल मिलाकर त्रेसठ प्रकृतियाँ विगलित होनेसे कैवल्य-सूर्यका उदय हो गया। महावीरकी सौम्य मुद्रामें सर्वज्ञता तरंगायित हो रही थी। कर्मशत्रुओंने आत्मार्पण कर दिया था और ज्ञान-प्राचीपर कैवल्य-भास्कर उदित हो चुका था। जिस प्रकार सूर्योदय होनेपर सर्वत्र प्रकाश व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कैवल्योदय होनेपर दिव्य तेज व्याप्त हो गया था।

अनन्त सौख्यकी अनुपम विभूतिसे धराका कण-कण मुस्कुरा उठा और त्रस्त मानवता त्राणके हेतु आशान्वित हो गयी। राग-द्वेषके विकल्प शान्त हो चुके थे और आत्माने निर्विकल्पक स्थितिको प्राप्त कर लिया था। समताके समक्ष विषमताका अस्तित्व समाप्त हो गया था।

महावीरको कैवल्यबोध या सत्यकी उपलब्धि जिस दिन हुई उसका उल्लेख करते हुए आचार्य यतिवृषभने लिखा है—

> वइसाहसुद्धदसमी मघारिक्खम्मि वीरणाहस्स।
> रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं॥
>
> —ति० ४।१७०१

वैशाख शुक्ला दशमी (२३ अप्रैल ई० पू० ५५७) का शुभ दिन था, जिस दिन महातपस्वी महावीरको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उस दिन अपराह्न काल और मघा नक्षत्र था। ऋजुकूला नदीका पावन तट था। जृम्भिका गांव निकट था। शालिवृक्षके नीचे ध्यानमग्न होकर क्षपकश्रेणीका आरोहण करते हुए घातिकर्मोंकी ४७ और अघातिकर्मोंकी १६ कुल ६३ प्रकृतियोंको निरस्त करके महावीरने कैवल्य उपलब्ध किया था।

कैवल्यप्राप्ति-स्थान : विभिन्न मान्यताएँ

इस कैवल्य-प्राप्ति-स्थानके सम्बन्धमें विद्वानोंमें विवाद है :—

बाबू कामताप्रसादजीने[1] झरियाको जृम्भिक गाँव माना है। आपका अभिमत है कि प्राचीन लाटदेशका विजयभूमि प्रान्त वर्तमान विहारके अन्तर्गत छोटानागपुर डिवीज़नके मानभूमि और सिंहभूमिमें है। श्रीनन्दलाल डे भी झरियाको ही जृम्भिक गाँव मानते हैं। यहाँकी बराकर नदी ही प्राचीन ऋजुकूला है। इस कथनमें एक ही बात विचारणीय है—वह है भगवान्की केवलज्ञान-प्राप्तिका वज्रभूमिमें होना। वर्त्तमान झरियामें कोयला निकालते समय यहाँकी भूमिसे प्रथम बार पत्थर निकलता है। अतः यह भूमि यथार्थमें वज्रभूमि है।

आगम-साहित्यके भौगोलिक निर्देशानुसार इस गाँवको वज्रभूमिमें होना चाहिये। श्वेताम्बर आगम-साहित्यमें जृम्भिक गाँवकी स्थिति लाटदेशमें मानी गयी है।

मुनि श्रीकल्याणविजयजी इस ग्रामकी स्थितिके विषयमें लिखते हैं :— "जृम्भिक गाँवकी अवस्थितिपर विद्वानोंका ऐकमत्य नहीं है। परम्पराके अनुसार सम्मेदशिखरसे दक्षिणमें बारह कोसपर दामोदर नदीके पास जो जम्भिय गाँव है, वही प्रचीन जम्भिक गाँव है। कोई सम्मेदशिखरसे दक्षिण-पूर्वमें लगभग पचास मीलपर आजी नदीके पासवाले जमगामको प्राचीन जम्भिय गाँव बताते हैं। हमारे मान्यतानुसार जम्भिक गाँवकी अवस्थिति इन दोनों स्थानोंसे भिन्न स्थानमें होनी चाहिये, क्योंकि महावीरके विहार-वर्णनसे जम्भिय गाँव चम्पाके निकट कहीं रहा होगा[2]।"

मौलिक विरोध

बाबू कामताप्रसादद्वारा अनुमानित स्थान झरिया प्राचीन जम्भिय या जृम्भिक गाँव नहीं है। इस स्थानको ऋजुकूला नदीके किनारे होना चाहिये।

---

१. बाबू कामताप्रसाद : भगवान् महावीर।

२. श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३७०।

बराकर नदी ऋजुकूलाका अपभ्रंश नहीं है और न झरियामें कोई भी ऐसा प्राचीन चिह्न ही उपलब्ध है, जिससे इसे तीर्थंकर महावीरका केवलज्ञान-स्थान माना जा सके। बाबू कामताप्रसाद भी स्वयं इस स्थानके विषयमें पूर्ण असन्दिग्ध नहीं हैं।

मुनि कल्याणविजयको तो स्वयं ही इस स्थानकी अवस्थितिके विषयमें आशंका है, पर इतना उन्हें निश्चय है कि यह स्थान चम्पाके निकट ही कहीं होना चाहिये। आवश्यकचूर्णिके अनुसार महावीर केवली होनेके पूर्व चम्पासे जम्भिय, भिण्डिय, छम्माणी होते हुए मध्यमा पावा गये थे और मध्यमासे फिर जम्भिय गाँव गये थे, जहाँ उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इस वर्णनसे लगता है कि जम्भिय ग्राम और ऋजुपालिका नदी दोनों मध्यमाके रास्तेमें चम्पाके निकट ही कहीं होने चाहिये।

जृम्भिक या जम्भिय ग्रामकी अवस्थिति

वर्त्तमान विहारके भूगोलका अध्ययन करने तथा विहारके कतिपय स्थानोंका पर्यटन करनेपर अवगत होता है कि महावीरका कैवल्यप्राप्ति-स्थान वर्त्तमान मुंगेरसे दक्षिणकी ओर पचास मीलकी दूरीपर स्थित जमुई गाँव है। यह स्थान वर्त्तमान क्विल नदीके तटपर है। यही नदी ऋजुकूलाका अपभ्रंश है। क्विल स्टेशनसे जमुई गाँव अठारह-उन्नीस मीलकी दूरीपर अवस्थित है। जमुईसे चार मील उत्तरकी ओर क्षत्रिय-कुण्ड और काकलो नामक स्थान हैं। इन स्थानोंकी प्राचीनता आज भी प्रसिद्ध है। जमुईसे तीन मील दक्षिण एनमेंगढ़ नामक एक प्राचीन टीला है। कनिंघमने इसे इन्द्रद्विमनपालका माना है। यहाँपर खुदाईमें मिट्टीकी अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। वर्षाकालमें अधिक पानी बरसनेपर यहाँ अपने-आप ही अनेक मनोज्ञ मूर्तियाँ निकल आती हैं।

जमुई और लिच्छबाड़के बीचमें महादेवसिमिरिया गाँव है। यहाँ सरोवरके मध्य एक तीन-चारसौ वर्ष पुराना मन्दिर भी है। इस मन्दिरमें कुछ प्राचीन जैन प्रतिमाएँ भी हैं। जमुईसे १५-१६ मीलपर लक्खीसराय है। यहाँपर एक पर्वतश्रेणी है, जिसमेंसे प्रतिवर्ष अनेक बौद्ध और जैन मूर्तियाँ निकलती हैं। जमुई और राजगृहके बीच सिकन्दरा गाँव है तथा सिकन्दरा और लक्खीसराय-के मध्यमें एक आम्रवन है। कहा जाता है कि इस आम्रवनमें भगवान महा-वोरने तपश्चरण किया था। आज भी यहाँके निकटवर्ती लोग इस वनको पावन मानकर इसके वृक्षोंकी पूजा करते हैं।[1]

---

१. लेखकने स्वयं जाकर देखा और जानकारी प्राप्त की।

'**जमुई**' गाँवकी भौगोलिक स्थितिसे प्रकट है कि जैन साहित्यमें उल्लिखित यह 'ऋजुकूला' नदी वर्त्तमान अपभ्रंश '**क्यिूल**' नदी ही है और इसका तटवर्ती वर्तमान '**जमुई**' गाँव ही 'जृम्भिक' ग्राम है। हमारे इस कथनकी पुष्टि आगमोंमें वर्णित भूगोल और महावीरके विहार-प्रदेशके वर्णनसे भी होती है। यहाँ प्रचलित किवदन्तियाँ और उपलब्ध पुरातत्त्व भी इसकी पुष्टिमें सहायक हैं। 'जमुई'-के दक्षिण लगभग ४-५ मीलकी दूरीपर एक '**केवाली**' नामक ग्राम है, जो महावीरके केवलज्ञानोत्पत्ति-स्थानकी स्मृतिको बनाये रखनेके लिये ही प्रसिद्ध हुआ होगा। इस गाँवके समीप बरसाती 'अञ्जन' नदी बहती है, जिसके किनारेपर बालू अधिक पायी जाती है। सिकन्दराबाद तथा केवाली-निवासियोंसे बातें करनेपर वे कहते हैं कि यही '**केवाली**' भगवान् महावीरका '**केवल**' ज्ञान-स्थान है तथा 'अंजन' नदीको 'ऋजुपालिका' या ऋजुबालिका' बतलाते हैं। वैशाख-शुक्ला दशमीके दिन यहाँ सामूहिक रूपसे उत्सव भी मनाया जाता है। सिकन्दराबादके निवासी श्रीभगवानदास केशरीने इस स्थानसे अनेक पुरातत्त्वावशेषोंका संकलन किया है तथा उनके पास ऐसी अनेक किम्वदन्तियाँ भी संग्रहीत हैं, जिनसे 'जमुई'का निकटवर्ती प्रदेश महावीरका कैवल्यप्राप्ति-स्थान सिद्ध होता है।[१]

'जमुई'से राजगिर लगभग ३० मीलकी दूरीपर है। झरियासे चम्पा और राजगृहकी दूरी सौ-सवासौ मीलसे भी अधिक है। '**जमुई**' चम्पाके भी निकट है। अतः यह निश्चित है भगवान् महावीरका बोधि-स्थान ऐसी जगह था, जो राजगृह और चम्पा दोनोंसे ३०-३५ मीलकी दूरीसे अधिक न था। 'जमुई' भी वज्रभूमि है। यहाँ भी पृथ्वीके नीचे पत्थर निकलते हैं, पहाड़ी स्थान भी है। '**क्यिूल**' नदीका तटवर्ती प्रदेश है। जमीन पथरीली और उबड़-खाबड़ है। अतः महावीरका केवलज्ञान-स्थान '**जमुई**' ग्रामका निकटवर्ती वह प्रदेश, जहाँ आजकल '**केवाली**' ग्राम बसा है, होना चाहिये।

केवलज्ञान : अर्चना

महावीरके केवलज्ञान-कल्याणकका उत्सव सम्पन्न करनेके लिए चतुर्निकायके देव और मनुष्य एकत्र हुए। सभीने भक्तिभावपूर्वक उनके केवलज्ञानकी पूजा की। ऋजुकूलाका तट मुखरित था। बारह वर्ष, पाँच मास और पन्द्रह दिनकी दुर्द्धर्ष तपश्चर्याका फल अर्हत्वके रूपमें प्राप्त हो चुका था। तीर्थंकरप्रकृतिका उदय होनेसे दिव्य देशनाका सामर्थ्य उत्पन्न हो गया था।

●

१. लेखकने स्वयं जाकर देखा और जानकारी प्राप्त की है।

सप्तम परिच्छेद

गणधर, समवशरण, शिष्य एवं निर्वाण

समवशरण : पीयूष-वाणीकी आकांक्षा

तीर्थंकर महावीरने अर्हत्व प्राप्त कर लिया। उनके ज्ञानके अपूर्व प्रकाशसे सारा संसार जगमगा उठा, दिशाएँ शान्त एवं विशुद्ध हो गयीं। मन्द-मन्द सुखद पवन बहने लगा। सौधर्म इन्द्र और अन्य चतुर्निकायदेव महावीरके केवलज्ञान-कल्याणककी पूजा कर चुके थे। इन्द्रने अपने कोषाध्यक्ष कुबेरको बुलाया और एक विशाल सभा-मण्डप—समवशरणकी रचनाका आदेश दिया। इन्द्रकी अभिलाषा थी कि विगत २३ तीर्थंकरोंके समान अन्तिम तीर्थंकर महावीर भी अपनी देशनाद्वारा संसारके संत्रस्त, सन्तप्त प्राणियोंको शान्ति प्रदान करें। इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये ऋजुकूलाके तटपर अविलम्ब समव-

शरणकी रचना की गयी। कुबेर हर्षित था और उसे अपना वैभव अकिंचन लग रहा था।

विशाल भव्य समवशरण रचा गया। उसकी शोभा अप्रतिम और सजावट अद्वितीय थी। धरतीके वक्षस्थलपर निर्मित यह समवशरण विश्वके गौरवका प्रतीक था। इसके चारों द्वारोंके आगे धर्म-ध्वजोंसे मण्डित मानस्तम्भ और धर्मचक्र सुशोभित थे। समवशरणमें प्राकार, चैत्य वृक्ष, ध्वजा, वनवेदी, तोरण, स्तूप आदि रत्नमय एवं जिन-प्रतिमाओंसे युक्त थे।

प्राणी इस सभा-मण्डपमें पहुँचते ही आधि-व्याधि भूल जाता था। धर्ममय वातावरणमें वह निराकुल हो जाता था। इस सभा-मण्डपमें मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक पहुँच कर अपना कल्याण करते थे। समवशरण द्वादश कोष्ठकोंमें बटा हुआ था, जिनमें साधु-आर्यिका, देव-देवाङ्गना और पशु-पक्षी बैठते थे। इसके मध्यमें गन्धकुटी थी, जिसमें एक स्वर्णसिंहासन रखा हुआ था। महावीर इतने निर्लिप्त और निर्मोही थे कि उसका स्पर्श भी उन्हें नहीं होता था। उनकी पुण्यप्रकृतियोंसे शरीर इतना सूक्ष्म और सुन्दर हो गया था कि वह अधिक स्थूल पदार्थका आश्रय न चाहकर आकाशमें ही स्थिर था। सिंहासनपर स्वर्ण-कमल बना था, जिससे यह प्रतिभासित होता था कि भगवान् कमलासनपर विराजित हैं।

यह समवशरण आत्मानुशासनका प्रतीक था। यहाँ किसी प्रकारकी आकुलता नहीं थी, सभी प्राणी शान्त, विनम्र और अनुशासित थे।

स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे भी यह एक अलौकिक उदाहरण था। सर्वप्रथम धूलिसालकोट बना हुआ था, इसके आगे मानस्तम्भ और मानस्तम्भके आगे वापिकाएँ विद्यमान थीं। वापिकाओंसे कुछ दूर जानेपर जलपूर्ण परिखा, इसके आगे लतावन और तदनन्तर प्रथम परिकोट आता था। इस कोटके द्वार पर देव द्वारपालके रूपमें विद्यमान थे और गोपुरद्वारपर आठ मंगलद्रव्य स्थित थे। इसके आगे दूसरा परिकोट विद्यमान था, जिसमें अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन ये चार वन विद्यमान थे। इन वनोंमें चैत्यवन भी थे, जिनके वृक्षोंपर तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ विराजमान थीं। यहाँ किन्नर-जातिकी देवियाँ तीर्थंकरका गुणगान करती हुई परिलक्षित होती थीं। इसके पश्चात् चार गोपुरद्वारों सहित वलवेदिका उल्लंघन करनेपर अनेक भवनोंसे युक्त पृथ्वी और स्तूप अवस्थित थे। ये भवन तीन, चार और पांच खण्डोंके थे। भवनोंके बीचमें रत्नतोरण लगे हुए थे। जिनमें मूर्तियाँ अंकित थीं। यहाँ रत्नमय स्तूप भी सुशोभित होता था।

इसके आगे आकाशमें स्फटिकका बना हुआ तृतीय कोट था। इसके द्वारपर कल्पवासी देव उपस्थित रहकर पहरा देते थे। उनसे आज्ञा लेकर अथवा बिना आज्ञा लिये ही सभामें प्रवेश करते थे। यहाँ चारों ओर एक योजन लम्बा-चौड़ा और गोल श्रीमण्डप बना हुआ था। इसके मध्यमें तीर्थंकर महावीर सुशोभित थे। बारह कक्षोंमें क्रमशः मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ; आर्यिकाएँ, महारानियाँ एवं अन्य स्त्रियाँ; ज्योतिषीदेवोंकी स्त्रियाँ, व्यन्तरदेवोंकी स्त्रियाँ; भवनवासीदेवोंकी स्त्रियाँ; भवनवासीदेव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषीदेव; कल्पवासी-देव; सभी प्रकारके पुरुष और सभी प्रकारके मृगादि पशु-पक्षी उपस्थित थे।

तीर्थंकर महावीरकी देशना सुननेके लिये जनसमूह एकत्र हो रहा था। इन्द्र भी अपने विशाल परिवार सहित आ पहुँचा। उसने तीर्थंकर महावीरका अर्चन, वन्दन किया और समवशरणके नियमानुसार अपने कक्षमें बैठ गया। इस सभामण्डपमें ज्ञानालोक व्याप्त था और तिमिर छिन्न करनेवाली प्रकाश-व्यवस्था भी बड़ी महनीय थी। रात-दिनका भेद मिट गया था और प्रकाश-ही-प्रकाश सर्वत्र दिखलायी पड़ता था। जो भी प्राणी इस समवशरण-सभामें आया, उसके हृदयसे वैर, द्वेष, क्रोध, हिंसा एवं प्रतिशोधकी दूषित भावनाएँ समाप्त थीं और उनके परिणाम इतने निर्मल थे कि वे जन्मजात शत्रुताको भी विस्मृत कर चुके थे। समस्त अन्तर्विरोध समाप्त हो गये थे। गाय-सिंह, मृग-व्याघ्र, मार्जार-मूषक बड़े निर्मलभावसे एकसाथ स्थित रहकर तीर्थंकर महावीरकी दिव्य वाणीकी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे।

अगणित श्रोता महावीरकी ओर अपलक दृष्टि थे। उनके मनःप्राण तीर्थं-करकी पीयूष-वाणीको सुननेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। महावीरकी सौम्य मुखमुद्रा सभीको अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। उनकी मुखाभा दिव्यभाषा बनी हुई थी। उनकी मुद्रा अविचल, वचनातीत और भाषातीत थी। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी उज्ज्वलता सर्वत्र विद्यमान थी।

समवशरण-सभामें एकत्र सभी प्राणिवर्ग उद्ग्रीव होकर महावीरकी देशना सुननेके लिये लालायित थे।

देशना-अवरोध और इन्द्रकी चिन्ता

महावीरको दिव्यज्ञानकी प्राप्ति वैशाख-शुक्ला दशमीके दिन अपराह्न कालमें हो चुकी थी। आषाढ़का मास व्यतीत होने जा रहा था, पर अभी तक महावीरकी देशना आरम्भ नहीं हुई थी। विद्वज्जन, देवगण एवं अन्य विचारशील व्यक्ति देशनाके अवरोधके सम्बन्धमें विचार कर रहे थे। वे

चिन्तित थे कि तीर्थंकर महावीरने अपने तपस्या-कालमें मौन रहकर साधना-की, उन्होंने कोई देशना नहीं दी। उनके सम्पर्कसे दृष्टिविष जैसे सर्प और शूलपाणि जैसे यक्ष अवश्य उपकृत हुए थे। पूर्वतीर्थंकरोंके समान सर्वभूत-हितार्थ महावीरकी दिव्यध्वनिका लाभ हमें अवश्य होना चाहिये। पर यह क्या ? दिन गिनते-गिनते पैंसठ दिन बीत गये और महावीरकी दिव्य-वाणी प्रकट नहीं हुई। श्रोताओंने मनको समझाया कि अभी काललब्धि नहीं आयी है। यही कारण है कि प्रभुकी देशनामें बिलम्ब है।

इन दिनोंमें सभा-मण्डपमें कितने ही लोग आये, कुछ आकर लौट गये और कुछ भव्यप्राणी दिव्यध्वनिकी प्रतीक्षा करते हुए उपस्थित रहे।

दिन-पर-दिन और रात-पर-रात व्यतीत होती गयी; पर तीर्थंकरकी वाणी मुखरित न हुई। उपस्थित जनसमुदाय निराश होने लगा और वाणीके अवरुद्ध होनेके कारणकी जिज्ञासा करने लगा। सभी लोग स्तब्ध थे, असमंजस-में थे, पर समाधान किसीके पास न था। सब जानते थे कि तीर्थंकर महावीर मूककेवली नहीं। उनका उपदेश अवश्य होगा। पर कब होगा ? और अबतक क्यों अवरुद्ध है ? इसकी जानकारी किसीको नहीं थी।

पैंसठ दिनों तक समवशरण भी एक स्थानपर नहीं रह सका और तीर्थंकर महावीर विहार करते हुए राजगृहके निकट विपुलाचलपर आये। यहाँ भी कुबेरने पूर्ववत् सभा-मण्डप—समवशरणकी रचना की। असंख्य श्रोता इस सभामें भी उपस्थित थे, पर गतिरोध ज्यों-का-त्यों बना हुआ था। तीर्थंकर महावीरकी वाणीके प्रकट न होनेसे सौधर्म इन्द्रको चिन्ता उत्पन्न हुई और उसने ज्ञान-गंगाके अवरुद्ध रहनेके कारणोंकी जानकारी चाही। सौधर्म इन्द्रने अवधिज्ञानसे ज्ञात किया कि सम्यक और यथार्थ ज्ञानी गणधरके अभावमें ज्ञान-गंगा रुकी हुई है। उसे अवतरित करनेके लिये किसी भगीरथकी आवश्यकता है। जब-तक सच्चा जिज्ञासु और श्रुतज्ञानका धारक व्यक्ति उपस्थित न होगा, तब तक तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि सम्भव नहीं है। समवशरणमें इस समय-कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो तीर्थंकर महावीरकी वाणीको सुने, समझे और ठीक-ठीक उसकी व्याख्या कर सके। जब तक ज्ञानकी गूढताका ज्ञाता यथास्थितिका संवहन करनेवाला व्यक्ति इस सभामें उपस्थित नहीं होगा, तब तक तीर्थंकरकी वाणी मुखरित नहीं हो सकेगी। अतएव मुझे गणधरकी खोज करनी है।

जिस प्रकार तीर्थंकर तीर्थका निर्माता होता है और श्रुतरूप ज्ञान-परम्पराका पुरस्कर्ता होता है, उसी प्रकार-गणधर तीर्थ-व्यवस्थापक, नियोजक

और तीर्थंकरोंकी अर्थरूप वाणीका व्याख्याता होता है। प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें गणधर एक अत्यावश्यक उत्तरदायित्वपूर्ण और महान् प्रभावशाली व्यक्तित्व होता है। वह इनके पादमूलमें दीक्षित होता है।

वस्तुतः साधनाके क्षेत्रमें व्यक्ति स्वयं अपना विकास कर सकता है, पर साधनाको सिद्ध करके उसके प्रकाशको जन-जनके जीवनमें प्रसारित करनेके हेतु महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्ति भी समाजमें जब प्रविष्ट होता है अथवा संघ एवं समाजकी स्थापना करता है, तब उसे इसके लिये सहयोगीके रूपमें तेजस्वी व्यक्तित्वकी अपेक्षा होती है। यतः सहयोगके बिना कार्यको साकार रूप नहीं दिया जा सकता है। ज्ञानकी अभिव्यक्ति करनेके लिए क्रियाका सहयोग आवश्यक है। व्यक्तिका आचार ही व्यक्तिके विचारको अभिव्यक्ति दे सकता है। आचारके विना विचार साकार रूप ग्रहण नहीं कर सकता है। इसी प्रकार श्रद्धालु एवं कर्मनिष्ठ व्यक्ति ही महान् तेजस्वी व्यक्तित्वकी तेजस्विता-को जन-जनके समक्ष प्रकट कर सकता है।

प्रत्येक तीर्थंकरके लिए गणधरकी नितान्त आवश्यकता है। तीर्थंकरकी ज्ञान-साधना गणधरके द्वारा ही अभिव्यक्तिको प्राप्त होती है। अतः महावीर-की दिव्यज्ञानधाराको ग्रहण करनेवाला गणधर परम आवश्यक है।

सोमिल और इन्द्रभूति

मगधमें आर्य सोमिल नामक एक विद्वान् ब्राह्मण ब्राह्मणवर्गका नेतृत्व अपने हाथमें लिये हुए पूर्वीय भारतमें अत्यन्त प्रतिष्ठित था। उसने मध्यमा पावामें एक विराट् यज्ञका आयोजन किया, जिसमें पूर्वी भागोंके बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानोंको उनके शिष्य-परिवार सहित आमन्त्रित किया। इस महायज्ञके अवसरपर वेद-विरोधी विचारधाराके कड़े प्रतिवादके उपायोंपर एवं साधारण जनताको पुनः वैदिकविचारोंकी ओर आकृष्ट करनेके साधनोंपर भी विचार करनेके निमित्त योजना बनाई गई थी। इस महायज्ञका नेतृत्व मगधके प्रसिद्ध विद्वान् एवं प्रकाण्ड तर्कशास्त्री इन्द्रभूति गौतमके हाथमें था।

इस अनुष्ठानमें सहस्रों विद्वानोंके साथ अग्निभूति, वायुभूति आदि एका-दश महापण्डित उपस्थित थे। वैदिक विचारधाराके समर्थक अपने विखरते हुये प्रभुत्वकी पुनः स्थापनाहेतु वहाँ सम्मिलित थे। आर्य सोमिलकी जयध्वनि आकाश तक पहुँच रही थी।

इन्द्रभूति गौतम : खुला श्रद्धाका द्वार

इन्द्रभूति गौतमका जन्म मगध-जनपदके गोब्बर ग्राममें हुआ था। इनकी

माताका नाम पृथ्वी और पिता नाम वसुभूति था। इनका गोत्र गौतम था। गौतमका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—'गोभिस्तमो ध्वस्तं यस्य'—बुद्धिके द्वारा जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है अथवा जिसने अन्धकार नष्ट किया है। यों तो 'गौतम' शब्द कुल एवं वंशका वाचक है। ऋगवेदमें भी गौतमनामसे अनेक सूक्त मिलते हैं। इस नामधारी अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। इन्द्रभूति गौतमका व्यक्तित्व विराट् एवं प्रभावशाली था। दूर-दूर तक उनकी विद्वत्ताकी धाक विद्यमान थी। ५०० छात्र उनके पास अध्ययन करते थे। इनके व्यापक प्रभावके कारण ही सोमिल आर्यने इस महायज्ञका धार्मिक नेतृत्व इनके हाथमें सौंपा था। मगध-जनपदके सहस्रों नागरिक दूर-दूरसे इस यज्ञके दर्शन करने आये थे।

राजगृहके निकट विपुलाचलपर निर्मित समवशरणमें तीर्थंकर महावीरकी देशना सुननेके लिए असंख्य देव विमानों द्वारा पुष्पोंकी वर्षा करते हुए जा रहे थे। आकाशमार्ग जयजयकारकी ध्वनिसे गूँजित था। जिस प्रकार छोटी-छोटी सरिताएँ बृहत् समुद्रमें सम्मिलित होती हैं, उसी प्रकार नर-नारियोंके विभिन्न वर्ग इस सभामें सम्मिलित होनेके लिये आकुलित थे।

निराशा और जिज्ञाशा

यज्ञ-मण्डपमें स्थित विद्वानोंने आकाशमार्गसे आते हुए देवगणोंको देखा, तो वे रोमांचित हो कहने लगे—"यज्ञ-महात्म्यसे प्रभावित होकर आहुति ग्रहण करनेके हेतु देवगण आ रहे हैं।" लक्ष-लक्ष मानवोंकी आँखे आकाशकी ओर टकटकी लगाये देख रही थीं, पर जब देवविमान यज्ञ-मण्डपके ऊपरसे होकर सीधे आगे निकल गये, तो यज्ञ-समर्थकोंके बीच बड़ी निराशा उत्पन्न हुई। सबकी आँखे नीचे झुक गयीं, मुख मलिन हो गये और आश्चर्यके साथ सोचने लगे—"अरे! देवगण भी किसीकी मायामें फँस गये हैं या भ्रममें पड़ गये हैं? यज्ञ-मण्डप छोड़कर कहाँ जा रहे हैं?"

इन्द्रभूतिने देवविमानोंको प्रभावित करनेकी दृष्टिसे वेद-मन्त्रोंका पाठकर तुमुल ध्वनि की, पर उनके अहंकारपर चोट करते हुए देवविमान सीधे निकल गये।

इन्द्रभूतिको यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि ये सभी देवविमान महावीरकी समवशरण-सभामें जा रहे हैं। इन्द्रभूतिका मन अहंकारपर चोट लगनेसे उदास हो गया। उनका धर्मोन्माद मचल उठा। इसी समय सौधर्मइन्द्र वटुकका रूप बनाये हुए इन्द्रभूतिके समक्ष पहुँचा और कहने लगा—"गुरुवर! आपकी विद्वत्ताकी यशोगाथा देशभरमें व्याप्त है। वेद, उपनिषद्का

ज्ञान आपकी चेतनाके कण-कणमें छाया हुआ है। आप दर्शन, न्याय, तर्क, ज्योतिष और आयुर्वेदके मर्मज्ञ विद्वान् हैं। मुझे एक गाथाका अर्थ समझमें नहीं आ रहा है। अतः उसका अर्थ ज्ञात करनेके लिये मैं आपकी सेवामें उपस्थित हुआ हूँ। यदि आप आदेश दें, तो मैं उस गाथाको आपके समक्ष प्रस्तुत करूँ।

इन्द्रभूति गौतम ब्राह्मणवटुकरूपधारी इन्द्रके विनीत भावसे बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अनुभव किया कि आगन्तुक वृद्धमें ज्ञानकी पिपासा है। वह नम्र और अनुशासित भी है। अतः इसकी जिज्ञासा पूर्ण करना मेरा कर्त्तव्य है।

इन्द्रने नम्रतापूर्वक कहा :—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीव-णिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ यपवयण-मादा सहेउओ बंध-मोक्खो य[1]॥

इन्द्रभूति—"मैं इस गाथाका अर्थ तभी बतलाऊँगा, जब तुम इसका अर्थ ज्ञात हो जानेपर मेरे शिष्य बननेकी शर्त स्वीकार करो।"

इन्द्रभूति बहुत समय तक गाथाका अर्थ सोचता रहा। पर उसकी समझमें कुछ नहीं आया। अतएव वह इन्द्रसे कहने लगा—"तुमने यह गाथा कहाँसे सीखी है? किस ग्रन्थमें यह गाथा आयी है"?[2]

ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र—"मैंने यह अपने गुरु तीर्थंकर महावीरसे सीखी है। पर वे कई दिनोंसे मौनावलम्बन लिये हुए हैं। इसी कारण इस गाथाका अर्थ मैं उनसे नहीं जान पाया। आपका यश वर्षोंसे सुनता चला आ रहा हूँ और आपकी प्रखर प्रतिभाका मैं प्रशंसक हूँ। अतएव इस गाथाका अर्थ ज्ञात करनेके लिये आपकी सेवामें उपस्थित हुआ हूँ।"

इन्द्रभूति समझ न सके कि पञ्चास्तिकाय क्या हैं? छः जीवनिकाय कौन से हैं? आठ प्रवचनमात्रिकाएँ क्या वस्तु हैं? इन्द्रभूतिको जीवके अस्तित्वके

---

१. षट्खण्डागम, धवला, पु० ९, पृ० १२९ में उद्धृत।

२. उक्त गाथाके समकक्ष संस्कृतमें भी निम्नलिखित पद्य उपलब्ध है:—

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्-काय-लेश्याः।
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्रभेदाः॥
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

—तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतभक्ति

सम्बन्धमें स्वयं शंका थी।[1] अतः वे और भी असमंजसमें पड़कर कहने लगे—"चलो, तुम्हारे गुरुके समक्ष ही इस गाथाका अर्थ बतलाऊँगा। मैं अपनी विद्वत्ताका प्रभाव तुम्हारे गुरुपर ही प्रकट करना चाहता हूँ।"

इन्द्रभूति गौतमकी उक्त बातको सुनकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और मनमें सोचने लगा—"मेरा कार्य अब सम्पन्न हो गया। तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें पहुँचते ही इनका अहंकार विगलित हो जायगा और शंकाओंका समाधान स्वयं प्राप्त हो जायगा।"

मानस्तम्भदर्शन : मानगलन और रत्नत्रयका उपहार

इन्द्रभूति गौतमने शास्त्रार्थ करनेकी आकांक्षासे तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें प्रवेश किया। मानस्तम्भके दर्शनमात्रसे ही उनके मनका सारा कालुष्य धुल गया। स्तम्भ देखकर इन्द्रभूति स्तब्ध रह गया और ज्ञानका समस्त अहंकार पिघल गया। इन्द्रभूति गौतमके लिये मानस्तम्भ प्रकाश-स्तम्भ बन गया। उनके हृदयका तिमिर छिन्न हो गया और उन्हें क्षायोपशमिक ज्ञानकी सीमा ज्ञात हो गयी। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि मेरा ज्ञान कितना बौना है। मैं तो महावीरके ज्ञानकी एक किरण भी छूनेमें असमर्थ हूँ। न मालूम क्यों मुझे अपने ज्ञानका अहंकार था। आज मेरा अभिमानी मन विनम्रतासे भर गया है, द्रवीभूत हो गया है।

इन्द्रभूति गौतम गततम होकर गन्धकुटीमें विराजमान तीर्थंकर महावीरकी मङ्गल-मुद्राका दर्शनकर हर्षविभोर हो उठा। प्रतिभाके साथ उसकी श्रद्धाके कपाट भी खुल गये। मिथ्यात्वरूपी ओस-कण महावीरके केवलज्ञानरूपी सूर्यप्रभासे सूखने लगे। उसकी अन्तरात्मा निर्मल नीरकी तरह स्वच्छ हो गयी। सम्यक्दर्शनका आविर्भाव हो गया और ज्ञानका मद चूर हो गया।

श्रद्धातिरेकके कारण उसके परिणामोंमें अतिशय कोमलता उत्पन्न हो गयी। आया था शास्त्रार्थ करने, पर उसके शास्त्रके सभी शस्त्र कुण्ठित हो गये। वीतरागताके समक्ष उसके मनका कालुष्य धुल गया। दम्भ और मिथ्या-

---

१. खओवसमजणिद-चउरमलबुद्धिसंपण्णेण बम्हणेण गोदमगोत्तेण सयल-दुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विषय-संदेहविणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पादमूलेण इंदभूदिणा वहारिदो। उक्तं च—

गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंग वि।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं बम्हणुत्तमो॥

—षट्खंडागम, धवला, पुस्तक १, पृ० ६४ में उद्धृत.

का लेशमात्र भी न रहा। मनकी ग्रंथि खुल गयी और वह महावीरका सच्चा उपासक हो गया। वह तन और मनसे निर्ग्रन्थ बननेका संकल्प करने लगा।

इन्द्रभूतिने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। उसे मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रभूति गौतमकी मिथ्याते श्रद्धाका ताला टूटते ही जयजयकारकी ध्वनि होने लगी।

यह पावन दिन आषाढ़ी पूर्णिमाका था, इसी दिन गौतमने दीक्षा धारण की थी। इसी कारण यह दिन 'गुरुपूर्णिमा'के नामसे लोकमें प्रसिद्ध है। अगले दिन श्रावण कृष्ण-प्रतिपदाके ब्राह्ममुहूर्त्तमें भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि आरम्भ हुई। और इसीलिए धर्मतीर्थकी उत्पत्ति भी इसी दिन हुई :—

> वासस्स पढममासे सावणमासम्मि बहुलपडिवाए।
> अभिजी-णक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स॥[1]

वीरसेनाचार्यने केवलज्ञानोत्पत्तिके ६६ दिनतक देशना प्रकट न होनेके कारणकी मीमांसा की है। लिखा है—

> केवलणाणे समुप्पण्णे वि दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती? गणिदा-भावादो। सोहम्मिदेण तक्खणे चेव गणिदो किण्ण ढोइदो? ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स, देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे? साहा-वियादो। ण च सहाओ परपज्जणिओगारुहो, अव्ववत्थापत्तोदो।[2]

आशय यह है कि सौधर्म इन्द्र भी काललब्धिके अभावमें तत्काल गणधरकी तलाश नहीं कर सका। काललब्धिके सम्बन्धमें प्रश्न नहीं किया जा सकता, यतः यह स्वभाव है और स्वभावमें तर्कका प्रवेश नहीं होता।

इन्द्रभूति गौतमने पचास वर्षकी अवस्थामें दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की और मोक्ष-भवनकी सीढ़ियोंपर पदार्पण किया। ये तत्त्वज्ञानी, विशिष्ट साधक और तपस्वी थे और थे विरल अध्यात्मयोगी, सिद्धिसम्पन्न साधक और विश्व-कल्याणकी उदग्र भावनासे युक्त परिव्राजक। उनमें विनय, सरलता, मृदुता और विचारशीलता पूर्णतः विद्यमान थी। इनका जीवन पुष्पतुल्य ही नहीं, किन्तु पुष्पोंका रंग-विरंगा गुलदस्ता था, जिसमें विविध प्रकारके सौरभके साथ सुरम्य सुकुमारता भी निहित थी।

---

१. तिलोयपण्णत्ती, १।६९.

२. कसायपाहुड, जयधवला, पुस्तक १, पृ० ७६.

गणधरोंमें इन्द्रभूतिका प्रधान स्थान था। महावीरके समवशरणमें ग्यारह विद्वान् गणधरनामसे विख्यात् थे। इन सभीने महावीरके दिव्य ज्ञान और तेज-से प्रभावित होकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की थी।

अन्य गणधर : हृदय-परिवर्तन और दीक्षा

इन्द्रभूति गौतमके दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेका समाचार मगध-भूमिमें विद्युत्के समान व्याप्त हो गया। शिष्य-परिवार सहित इनके दीक्षित होनेसे अग्निभूति आदि विद्वानोंको महान् आश्चर्य हुआ और वे इन्द्रभूतिका समाचार ज्ञात करनेके लिए राजगृहके निकट विपुलाचलपर पधारे।

अग्निभूति

अग्निभूति इन्द्रभूतिके मझले भाई थे। ये भी पाँचसौ छात्रोंके विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्यके यज्ञोत्सवमें अपने छात्रगणके साथ मध्यमा पावामें पधारे थे। वेद, उपनिषद् और कर्मकाण्डके महान् ज्ञाता थे। इनके आकर्षक व्यक्तित्वका प्रभाव प्रत्येक व्यक्तिपर पड़ता था। इनका व्यवहार मधुर एवं विनय-पूर्ण था।

इन्द्रभूतिकी दीक्षाके समाचारसे आश्चर्य-चकित हो शास्त्रार्थ करनेकी साध लेकर महावीरके समवशरणमें आये। मानस्तम्भके दर्शनमात्रसे इनके हृदयका व्यामोह दूर हो गया तथा मिथ्यात्वके विगलित होते ही सम्यक्त्वकी प्रकाश-किरणें फूट पड़ीं।

वे महावीरकी शांत मुखमुद्राका दर्शन करनेमें इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें शरीरकी भी सुध-बुध न रही। जिस प्रकार स्वर्ण अग्निमें तपकर निखर जाता है और समस्त मलिनता दूर हो जाती है, उसी प्रकार अग्निभूति-की आत्मज्योति तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कसे निखर गई और आत्म-शोधनके हेतु दीक्षित होनेकी उनकी कामना भी जागृत हो गयी।

सच्ची रुचि, सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण भी उत्पन्न हो गया। अग्निभूतिके हृदय-परिवर्तनमें विलम्ब न हुआ। सच है कि काल-लब्धिके आनेपर आत्मोत्थानमें रुकावट नहीं आती। द्वैत-अद्वैत-सम्बन्धी उनकी शंकाएँ स्वयं निराकृत हो गयीं।

अग्निभूतिने ४६ वर्षकी अवस्थामें तीर्थंकर महावीरके चरणोंमें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। इनके दीक्षित होनेका समाचार भी बात-की-बातमें सर्वत्र व्याप्त हो गया और विद्वानोंकी उत्सुकता जागृत हुई कि महावीरमें ऐसा कौन-सा

चमत्कार है ? क्रियाकाण्डी ब्राह्मण-परम्परानुयायी विद्वान् आश्चर्य-चकित हो समवशरण-सभामें आने लगे।

वायुभूति गौतम : अहंकार चूर

वायुभूति इन्द्रभूतिका छोटा भाई था। यह भी सोमिलार्यके यज्ञोत्सवमें ५०० छात्रोंके साथ मध्यमा पावामें आया हुआ था। जब इसे इन्द्रभूति और अग्निभूतिके दीक्षित होनेका समाचार प्राप्त हुआ तो इसका मन महावीरसे शास्त्रार्थ करनेके लिये फड़क उठा। इसने विचार किया—"मेरे दो भाई, पता नहीं, किस प्रकार मायावीके इन्द्रजालमें फँस गये हैं। मुझे वैदिक मान्यताओंकी रक्षा करनी है। अतएव मैं शास्त्रार्थद्वारा महावीरको अवश्य पराजित करूँगा। भौतिक सुख, समृद्धि, यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड, जातिवाद, बहुदेववाद आदिका विरोध करनेका सामर्थ्य किसमें है ? यह मैं मानता हूँ कि मेरे दोनों बड़े भाई मुझसे अधिक विद्वान् और प्रतिभाशाली हैं, पर मैं भी अपने ज्ञानपर भरोसा करता हूँ। मेरा विश्वास है कि देहातिरिक्त 'आत्मा' नामका कोई पदार्थ नहीं। चलता हूं महावीरकी सभामें और अपने तर्कोंसे उन्हें परास्त कर देता हूँ।"

इस प्रकार अहंकारसे पुलकित होता हुआ वायुभूति महावीरके समवशरणमें उपस्थित हुआ। जैसे ही वह मानस्तम्भके निकट आया, उसके अहंकाररूपी ओले गल गये और मानस-चक्षु उद्घाटित हो गये। गन्धकुटीमें विराजमान तीर्थंकर महावीरकी सौम्य मुद्राको निर्निमेष होकर वह देखता रहा। ज्ञानमद चूर होते ही उसका हृदय श्रद्धासे जगमगाने लगा। दम्भ और मिथ्याके हटते ही उसका हृदय परिवर्तित हो गया। मनके सारे विकल्प समाप्त हो गये। मन दिगम्बरी दीक्षाके लिये विवश करने लगा।

वायुभूतिने ४२ वर्षकी अवस्थामें तीर्थंकर महावीरके पादमूलमें दिगम्बर-दीक्षा धारण की और तृतीय गणधरका पद प्राप्त किया। वायुभूतिको भी आत्मदर्शन हो गया और वह भी तीर्थंकरके चरणोंका उपासक हो गया।

शुचिदत्त : हृदय-परिवर्तन

परिवेश व्यक्तिको कितना परिवर्तित कर देता है, यह शुचिदत्तके जीवनसे जाना जा सकता है। यह ब्रह्मवादी था और यज्ञ-यागादि द्वारा लौकिक अभ्युदयकी प्राप्तिमें विश्वास करता था। जब उन्हें इस बातका ज्ञान हुआ कि तीर्थंकर महावीर समवशरणमें स्थित हैं और जनसमुदाय उनकी पीयूष-वाणीका पान करनेके लिये एकत्र है, तो वे भी अपनी इच्छाका संवरण न कर सके और तीर्थंकर महावीरके दर्शनके लिये चल पड़े। शुचिदत्त ज्ञानी अध्यापक थे और ५००

शिष्य इनके चरणोंमें बैठकर वेदाध्ययन करते थे। इनके ज्ञानकी धूम भी समस्त पूर्वाञ्चलमें व्याप्त थी। ये कोल्लाग-सन्निवेशके निवासी और भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माताका नाम वारुणी और पिताका नाम धनमित्र था। शुचिदत्त अपनी विद्वत्ताके लिये प्रसिद्ध थे। इनके हृदयमें दृश्य जगत्के अस्तित्वके सम्बन्धमें आशंका विद्यमान थी। इन्हें भी अपने ज्ञानका दम्भ था और शास्त्रार्थमें बड़े-बड़े विद्वानोंको परास्त करनेकी क्षमता भी थी।

शुचिदत्त महावीरके समवशरणमें उपस्थित हुआ और महावीरके दर्शनमात्रसे उसकी शंकाओंका समाधान हो गया। वह सोचने लगा—"महावीरका तेज अद्भुत है। इनके तेजके समक्ष सभीका तेज फीका पड़ जाता है। मैं द्वैतवादकी शंकामें अबतक पड़ा हुआ था, पर आज मेरी आँखें खुल गयीं और मुझे सत्यका साक्षात्कार हो गया। अतएव मुझे दीक्षा-ग्रहण करनेमें अब विलम्ब नहीं करना चाहिये।"

शुचिदत्तने ५० वर्षकी अवस्थामें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की और महावीरके चतुर्थ गणधरका पद प्राप्त किया। शुचिदत्तका अन्य नाम आर्यव्यक्त भी प्राप्त होता है।

सुधर्मा : दीक्षा और आत्मशोधन

महावीरके पंचम गणधरका नाम सुधर्मा है, जो सुधर्मा स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये कोल्लाग-सन्निवेश-निवासी अग्निवैश्यायनगोत्री ब्राह्मण थे। इनकी माताका नाम भद्दिला और पिताका नाम धम्मिल्ल था। ये भी अपने ५०० शिष्योंके साथ आर्य सोमिलके यज्ञोत्सवमें सम्मिलित होनेके हेतु मध्यमापावा पधारे थे।

जब इन्हें इन्द्रभूति, अग्निभूति आदिके दीक्षित होनेका वृत्त ज्ञात हुआ, तो इनके मनमें भी तीर्थंकर महावीरके दर्शनकी इच्छा जागृत हुई और निर्मल वातावरणमें तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें इन्होंने प्रवेश किया। मानस्तम्भके दर्शनमात्रसे मनका सारा कालुष्य धुल गया और मिथ्यात्वका गलन होते ही आत्मामें पात्रता उत्पन्न हो गयी। सुधर्माकी काललब्धि भी आ पहुँची और उनके मनमें भी वीतरागता प्रकट होने लगी। आज सुधर्माका कर्म-कालुष्य विसर्जित होने जा रहा था और उनकी उज्ज्वलता, शुद्धता, निर्मलता और समता वृद्धिगत हो रही थी। क्षणकी सत्ता विलक्षणतामें परिवर्तित हो रही थी। आत्माके महान् शिल्पीके स्पर्शसे उनकी सरागता उज्ज्वलतामें बदल रही थी। वे महावीरकी सौम्य मुद्राके दर्शनसे आनन्दविभोर थे।

सुधर्मा सोचने लगा—"मेरे पचास वर्ष बीत गये। मैंने अभी तक अपनी आत्माका कुछ भी सुधार नहीं किया। ज्ञान और जातिके अहंकारमें डूबा रहा। न मैंने आत्म-साधना की और न कल्याण ही। वास्तवमें अहिंसा ही जीवनोत्थान-का साधन है। जो व्यक्ति वैभव और विभूतियोंसे दबा रहता है, वह महान् नहीं बन सकता है। मानवकी मानवताके सामने देव भी नतमस्तक हो जाते हैं। अतएव व्यक्तिको सदा सत्य, अहिंसा आदि मानवीय एवं ज्ञान-दर्शनादि आत्मीय गुणोंका साक्षात्कार करना चाहिये। मानवताके नाते सभी मानव समान हैं। जन्मसे कोई भी व्यक्ति न बड़ा है न छोटा। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य-गुणों और श्रमसे महान् बनता है। अतएव अब मुझे प्रव्रजित हो जाना आश्यक है।"

सुधर्माने ५० वर्षकी अवस्थामें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। महावीरके गण-धरोंमें इनका पाँचवाँ स्थान था। सुधर्मा दीर्घजीवी थे। इन्होंने बहुत दिनों तक श्रमण-संघका संचालन किया।

मण्डिक : आत्मोद्‌बोधन

मण्डिक सांख्य-दर्शनका समर्थक था। उसे बन्ध-मोक्षके सम्बन्धमें आशंका थी। वह मौर्य-सन्निवेशका निवासी और वाशिष्ठगोत्री विद्वान् ब्राह्मण था। उसकी माताका नाम विजयदेवी और पिताका नाम धनदेव था। वह ३५० छात्रोंका विद्यागुरु था। सोमिल आर्यके निमंत्रणपर यज्ञोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये मध्यमा पावामें आया हुआ था। मण्डिक स्वस्थ शरीर, गौरवर्ण और सात हाथ उन्नत था। उसके ज्ञानका प्रकाश पूर्वाञ्चलमें पूर्णतया व्याप्त था। वेदकी अपेक्षा वह तर्कशास्त्रमें अधिक निष्णात था। उसका शिष्यवर्ग दर्शन और तर्कमें विशेष निपुण था।

मण्डिकको इन्द्रभूति, वायुभूति आदिके दीक्षित होनेका समाचार उपलब्ध हुआ, तो उसके मनमें भी महावीरके समवशरणमें प्रविष्ट होनेकी भावना उत्पन्न हुई। मण्डिक सोचने लगा—"देवार्य महावीरमें ऐसा कौन-सा चमत्कार है, जो बड़े-बड़े विद्वानोंको अपना शिष्य बना लेते हैं। इन्द्रभूति, अग्निभूति वैदिक कर्मकाण्डी विद्वान् थे। तर्क-शास्त्रसे वे प्रायः दूर थे। अतः सम्भव है कि महावीरने इन्हें सरलतासे प्रभावित कर लिया हो। मैं तो तर्कका पण्डित हूँ। मेरे समक्ष महावीर या उनका अन्य कोई शिष्य नहीं ठहर सकता। मैं आज जाकर महावीरसे अवश्य शास्त्रार्थ करूँगा और उन्हें पराजित कर अपनी यशःपताका फहराऊँगा।"

मण्डिक अपने ही विचारमें डूबता-उतराता अपने ३५० शिष्यों सहित विपुलाचलपर स्थित महावीरके समवशरणमें सम्मिलित हुआ। जैसे ही वह समवशरणके निकट पहुँचा कि उसके मनमें एक जोरका झटका लगा। ज्ञानका सारा-दम्भ धूलिसात् हो गया, मिथ्यात्वके बन्धन शिथिल हो गये और सम्यक्त्वसूर्यका उदय हो गया। जो मण्डिक कुछ क्षण पूर्व महावीरकी आलोचना कर रहा था वही उनका स्तवन करने लगा। वह स्वरचित स्तोत्र पढ़ता जाता था और भक्तिकी विह्वलताके कारण उसके राग-द्वेष धुलते जा रहे थे। भक्ति-गंगामें स्नान करते ही उसकी अन्तरात्मा पवित्र हो गयी और वह दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उत्सुक हो उठा।

५० वर्षकी अवस्थामें मण्डिकने उद्बोधन प्राप्त किया और तीर्थंकर महावीरके पादमूलमें स्थित होकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। अब मण्डिक वह मण्डिक नहीं रहा, जिसे अपने तर्क और ज्ञानका अहंकार था। आत्माके मृदुल होते ही अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन दर्शनमोहनीय इस प्रकार सात कर्म प्रकृतियोंके क्षय होते ही मण्डिकमें परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक था। मण्डिकने छठे गणधरका पद प्राप्त किया।

मौर्यपुत्र : सम्यक्त्वलाभ

तीर्थंकर महावीरके सप्तम गणधरका नाम मौर्य-पुत्र है। ये मौर्यपुत्र काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिताका नाम मौर्य और माताका नाम विजयादेवी था। ये मौर्य-सन्निवेशग्रामवासी थे।

मौर्यपुत्र भी ३५० छात्रोंके अध्यापक थे और आर्य सोमिलके आमंत्रणपर मध्यमा पावामें पधारे थे। इन्हें परलोक, पुनर्जन्म आदिके सम्बन्धमें सन्देह था। अतएव अग्निभूति, इन्द्रभूति आदिकी दीक्षाका समाचार ज्ञात कर ये भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें सम्मिलित हुए। महावीरके समवशरणके दर्शन करते ही इनकी आत्मामें सम्यक्त्वकी लहर उत्पन्न हो गयी। ये सोचने लगे—"यह मानव जीवन क्या है? इस विश्वमें तो मत्स्यन्याय चल रहा है। जैसे समुद्रमें बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी शक्तिशाली मनुष्य निर्बलको आक्रान्त कर देता है। जाति-पाँतिका बन्धन भी कम नहीं है। ब्राह्मणको अपनी विद्या और जातिका अभिमान है। भजन-भोजन एवं पठन-पाठनपर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है। वैश्य वाणिज्यपर अपना अधिकार मानता है और जैसे-तैसे धन-संचय करना ही अपना अधिकार समझता है। क्षत्रिय-कुमार पर-पीड़ा देनेमें ही आनन्दानुभूति करते हैं। शूद्रजाति सब ओरसे

प्रताड़ित हो रही है। आत्मामें प्रज्वलित होती हुई ज्योतिका कोई अनुभव नहीं करता है। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न करनेपर परमात्मा बन सकती है। जन्मसे व्यक्ति ऊँच-नीच नहीं होता, यह तो आचारपर निर्धारित है। अतः मैं तीर्थंकर महावीरकी शरणमें आकर आत्मोत्थान करूँगा। इससे बढ़कर मेरे लिये अन्य कोई श्रेयस्कर कार्य नहीं है। उसका रोम-रोम पुलकित होने लगा और भोगोपभोगोंका त्याग करनेके लिये वह कृतसंकल्प हो गया।

राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार उसके छूटने लगे। "आत्मा अपनेमें अनन्तज्ञानादि गुणोंकी झलक पाकर अपने वास्तविक स्वरूपको अनुभव करे और अपने सतप्रयत्नों द्वारा कर्म-कलंकसे छूटनेका प्रयास करे, तो उसका परमात्मा बन जाना कठिन नहीं है।"

"यह आत्मा शरीरादि अजीवतत्त्वोंसे भिन्न है। ज्ञान-दर्शन, सुख और वीर्य इसके अपने गुण हैं। यह पर-संयोगके कारण क्लेशका अनुभव करती है। जहाँ पर-संयोग छूटता है कि आत्माको शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है। अगणित शास्त्रोंके पढ़ लेनेपर भी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता है। सम्यग्दर्शनके साथ आत्मामें तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान पैदा होता है।"

इस प्रकार चिन्तन करते हुए मौर्यपुत्रने सम्यक्त्व-लाभ कर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहका त्यागकर ६५ वर्षकी अवस्थामें दिगम्बर-दीक्षा धारण की।

अकम्पिक : रिक्त श्रद्धाकी पूर्ति

तीर्थंकर महावीरके समवशरणकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गयी थी। विद्वानोंका समूह अपने विद्याके अहंकारको छोड़कर उनकी सभामें उपस्थित होने जा रहा था। अकम्पिक भी अहंकारके पंकसे ऊपर उठकर विपुलाचलकी ओर गया और उसने अष्टम गणधरका पद प्राप्त किया।

अकम्पिक मिथिलाका निवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण था। इनकी माताका नाम जयन्ती और पिताका नाम देव था। अकम्पिकके चरणोंमें बैठकर ३०० छात्र विद्याध्ययन करते थे। आर्य सोमिलके यज्ञ-महोत्सवका निमन्त्रण प्राप्तकर ये भी अपनी छात्र-मण्डलीके साथ मध्यमा पावामें पधारे थे। इनके हृदयमें नरकलोक और नारकी जीवोंके अस्तित्वके सम्बन्धमें शंका चली आ रही थी। जब अकम्पिकको महावीरके प्रभावका परिज्ञान हुआ तो वह भी उनके समवशरणकी ओर चला। उसने जैसे ही मानस्तम्भका दर्शन किया वैसे ही उसका जाति-अहंकार नष्ट हो गया और वह आत्माकी शाश्वत सत्ताके सम्बन्धमें

विचारने लगा—"आत्माके गुण निजी सम्पत्ति हैं। वे कहीं बाहरसे नहीं आते। इनकी उपलब्धिका अर्थ इतना ही है कि मिथ्यात्वभावके हटते ही इन गुणोंकी अनुभूति होने लगती है। जैसे सूर्यपरसे मेघका आवरण हटते ही सूर्यका भास्वर प्रकाश व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्माकी विभावपरिणतिके दूर होते ही स्वभावपरिणति उत्पन्न हो जाती है। जब साधकके हृदयमें संसारकी आशा और तृष्णाका अन्त हो जाता है, तब साधकका चित्त सविकल्प-समाधिसे निकलकर निर्विकल्प-समाधिमें पहुँच जाता है और अपने पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा कर डालता है। यह निर्विकल्प-समाधिभाव कहींसे आता नहीं है, यह तो स्वभावका रमण है। अतएव मैं भी इस अवसरका लाभ उठाकर महावीरके समक्ष दीक्षा ग्रहण कर लूँ।"

अतएव अकम्पिकने समस्त परिग्रहका त्याग कर ४८ वर्षकी अवस्थामें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की और अष्टम गणधरका पद प्राप्त किया।

अचल : मिली साधना

महावीर और उनके प्रमुख शिष्योंके अन्तरंग और बहिरंग-परिग्रहके त्याग-की चर्चा सर्वत्र व्याप्त थी। उनकी देशना जीवनके परत खोल रही थी। आत्मा-की बद्धता और मुक्तताका कथन विचारशीलोंको आकृष्ट कर रहा था। अतः अचल भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें चलनेकी तैयारी करने लगा। वह कोशल-निवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण था। उसकी माताका नाम नन्दा और पिताका नाम वसु था। ३०० छात्र उसके शिष्य थे। क्रियाकाण्ड, यज्ञविधान आदिका वह ज्ञाता था। अतः सोमिलार्यके यज्ञोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये शिष्य-परिवार सहित आया था। इसके मनमें पुण्य-पापके अस्तित्व एवं उसके फलाफलके सम्बन्धमें आशंका थी। जीवनकी दृष्टि उलझी हुई थी। वह शरीर, इन्द्रियाँ और मनके विषयोंमें ही आनन्दानुभूति करता था। अनेक परतोंके नीचे दबे हुए जल-स्रोतके समान उसकी चेतनाका विशुद्ध अस्तित्व भी विकारों-की परतोंके नीचे दबा हुआ था। रूप, रस, गन्ध आदि भौतिक स्थितियोंकी अनुभूतिको ही उसने सर्वस्व मान लिया था।

जब वह तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें प्रविष्ट हुआ तो राग-द्वेष और इनसे होनेवाली उत्तेजना, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार आदि विकृतियाँ दूर हो गयीं। वह सोचने लगा—"मनपर विकारों, संस्कारों एवं अच्छे-बुरे विचारोंकी एक सघन तह जमी हुई है। मनके क्षुद्र आँगनमें नाना प्रकारकी विकृतियाँ उपस्थित हैं। विकृतियोंकी यह भीड़ ही शुद्ध चेतनाको प्रकट नहीं होने देती। विकृतियोंका

आवरण ही चेतनाकी अनन्तज्योतिको सभी ओरसे आवृत्त किये हुए है। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि अगणित विकृतियोंके मूल बीज हैं—राग और द्वेष। इसी राग-द्वेषसे मुक्त होनेकी दिशामें चेतनाका अपना पुरुषार्थ है। जब चेतना विकृतियोंसे मुक्त होकर अपने विशुद्ध मूल स्वरूपमें पहुँच जाती है, तो यही परम चेतना बन जाती है। यही परम तत्त्व है और यही परमात्मा है। अतः परम तत्त्व या परम चैतन्यको प्राप्त करनेकी आध्यात्मिक प्रक्रिया दिगम्बर-दीक्षा है। यह दीक्षा ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप परम तत्त्वको प्राप्त करनेमें साधक है। अतएव मुझे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर परमात्मपद प्राप्त करनेके लिये प्रयास करना चाहिये।"

अचलने ४६ वर्षकी अवस्थामें तीर्थंकर महावीरके पादमूलमें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की और नवम गणधरका पद पाया।

मेदार्य : जागा विवेक

मेदार्य या मेतार्य वत्सदेशके निवासी और कौण्डिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माताका नाम वरुणिदेवी और पिताका नाम दत्त था। ये ३०० छात्रोंके अध्यापक थे। आर्य सोमिलके निमन्त्रणपर मध्यमा पावामें पधारे थे। इन्हें आत्माके पुनर्जन्म और अस्तित्वके सम्बन्धमें आशंका थी। जब अन्य गणधरोंके समान इन्हें भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणकी जानकारी प्राप्त हुई, तो ये भी तत्काल ज्ञानके अहंकारकी गठरी बाँधे हुए आ पहुँचे और समवशरणमें प्रविष्ट होते ही इनके ज्ञानचक्षु खुल गये। ये सोचने लगे—"याज्ञिक-क्रियाकाण्ड आत्माको अमरत्व और शान्ति नहीं दे सकते। पञ्चाग्नि आदि तपश्चरण भी आत्मोपलब्धिमें सहायक नहीं हैं। यतः दमनकी साधना यथार्थ साधना नहीं। वृत्तियोंका विवेक ही यथार्थ है। इनका अंधनिग्रह करके उन्हें शुद्ध नहीं बनाया जा सकता है। दमन द्वारा निगृहीत विकार या वृत्तियाँ पिंजड़ेमें बन्द किये गये भूखे सिंहके समान हैं। जैसे ही अवसर प्राप्त होता है, विकार पुनः उत्तेजित हो जाता है। महानदीकी जलधाराको कितने दिनोंतक बाँधा जा सकता है? अवसर मिलते ही जलधारा बाँध तोड़ देती है और संहारलीला उपस्थित हो जाती है। अतएव दमन या पञ्चाग्नि तपके साधनों द्वारा विकारोंको जीता नहीं जा सकता है।"

"आत्मामें तीन प्रकारकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सम्बन्धी वृत्तियाँ राग-द्वेषका मूल होनेसे अशुभ हैं। इन अशुभ वृत्तियोंकी निवृत्ति दमनद्वारा सम्भव नहीं है। शुभ वृत्तियाँ आत्मामें परिष्कृत रागके कारण उत्पन्न होती हैं और वे आत्माके निकट पहुँचाती हैं।

वृत्तियोंका शुद्धिकरण तो राग-द्वेषकी निवृत्तिसे ही होता है। वीतरागता ही आत्माका निजरूप है और इसी स्थितिमें वृत्तियाँ शुद्ध होती हैं। मैं अनादि-कालसे जन्म-मरणका दुःख उठा रहा हूँ। अब वीतरागताकी प्राप्तिका अवसर आ चुका है। अतएव मुझे इस अवसरका उपयोग करना आवश्यक है।"

मेदार्यने ३६ वर्षकी अवस्थामें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर महावीरका शिष्यत्व स्वीकार किया। इन्हें दशम गणधरका पद प्राप्त हुआ।

प्रभास : पुरुषार्थ-जागरण

तीर्थंकर महावीरका युग बहुदेववादका था। तत्कालीन जनजीवन भय, एवं प्रलोभनोंसे प्रताडित था। जनता दुःख और विपत्तियोंसे त्राण पानेके लिए देवताओंकी शरणमें जाती थी और उन्हें प्रसन्न करनेके लिए यज्ञानुष्ठान करती थी। यक्ष, भूत, राक्षस सभी देवत्वको प्राप्त हो चुके थे। आर्त मानव उन यक्षों, भूतों, एवं राक्षसोंको प्रसन्न करनेके लिए विभिन्न प्रकारका अनुष्ठान करता था। यज्ञ-बलिकी तो बात ही क्या, शान्ति-कर्मके नामपर मनुष्यों तकका हवन कर दिया जाता था।

मानव अपने पुरुषार्थको भूलकर दिग्भ्रमित हो देवोंसे ऐश्वर्यकी भिक्षा माँगता था। धन, ऐश्वर्य, राज्य-शासन, विद्या, पुत्र, स्वास्थ्य आदि सभीकी प्राप्तिके लिए विशिष्ट-विशिष्ट देवोंकी अर्चना की जाती थी। पुरुषार्थपर किसी-को विश्वास नहीं था। अतः इस युगमें पुरुषार्थ प्राप्तिकी ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक था।

प्रभासने युगका अध्ययन किया और महावीरके समवशरणमें पहुँचनेका संकल्प किया।

यह कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण था। इनकी माताका नाम अतिभद्रा और पिताका नाम बल था। यह राजगृहका निवासी था। ३०० छात्र उसके शिष्य थे। उसे भी आत्मा और मुक्तिके विषयमें संदेह था और श्रुति-वाक्योंका अर्थ भी यथार्थ ज्ञात नहीं था। महावीरके दर्शनमात्रसे प्रभासका पुरुषार्थ जागृत हो गया और उसने ४६ वर्षकी अवस्थामें दिगम्बर-दीक्षा स्वीकार की तथा एका-दश गणधरका स्थान प्राप्त किया।

प्रथम देशनास्थल : विपुलाचल

विपुलाचलपर अवसर्पिणीके चतुर्थ कालके अन्तिम भागमें तेतीस वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहनेपर श्रावण-कृष्णा प्रतिपदाके दिन अभिजित् नक्षत्रमें धर्म-

तीर्थकी उत्पत्ति हुई[1]। देव, विद्याधर और मनुष्य तिर्यञ्चोंके मनको प्रसन्न करनेवाला वह विपुलाचल प्रथम देशनाका स्थल होनेके कारण सभीसे वन्दनीय है[2]।

राजगृह नगरके पूर्वमें चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिणमें वैभार और नैऋत्य दिशामें विपुलाचल पर्वत है। ये दोनों वैभार और विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृतिके हैं। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशामें फैला हुआ धनुषके आकारका छिन्न नामक पर्वत है और ईशान दिशामें पाण्डुपर्वत है। इस प्रकार पांच पर्वतोंसे युक्त होनेके कारण यह पंचशैलपुर कहलाता है।

षट्खण्डागमकी धवला-टीकामें उद्धृत पद्योंके आधारपर पंच-पहाड़ियोंके क्रमशः नाम ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलाचल, चन्द्राचल और पाण्डुगिरि आये हैं।

हरिवंश-पुराणमें बताया गया है कि पहला पर्वत ऋषिगिरि है। यह पूर्व दिशाकी ओर चौकोर है। इसके चारों ओर झरने निकलते हैं। यह इन्द्रके दिग्गजोंके समान सभी दिशाओंको सुशोभित करता है।

दूसरा पर्वत दक्षिण दिशाकी ओर वैभारगिरि है। यह पर्वत त्रिकोणाकार है। वन और झरनोंसे युक्त है। इसका सौन्दर्य प्राकृतिक दृष्टिसे अपूर्व है।

तीसरा दक्षिण-पश्चिमके मध्य त्रिकोणाकार विपुलाचल पर्वत है। इसी पर्वतके ऊपर तीर्थंकर महावीरका प्रथम समवशरण हुआ था और यहीं एकादश गणधरोंने भगवान्के पादमूलमें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की थी। विपुलाचल पर्वत अपनी प्राकृतिक शोभा और सौन्दर्यके लिये भी प्रसिद्ध है।

---

१. एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवास-अडमास-पण्णरसदिवस-सेसम्मि ॥
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥
—तिलोयपण्णत्ती १।६८-६९.

इम्मिस्से वसप्पिणीए चउत्थ—समयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए संते ॥
वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥
—षट्खण्डागम, धवलाटीका-समन्वित, पु० १, पृ० ६२-६३.

२. सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥
चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो।
णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥

चतुर्थ पर्वत वलाहक नामका है। यह धनुषके आकारका तीनों दिशाओंको घेरे हुए शोभित है। पाँचवाँ पाण्डुक नामक पर्वत गोलाकार पूर्वोत्तर-मध्यमें है। ये पाँचों पर्वत फल-पुष्पोंके समूहसे युक्त हैं। इन पर्वतोंके वनोंमें वासूपूज्य स्वामीको छोड़कर शेष समस्त तीर्थंकरोंके समवशरण हुये हैं। ये वन सिद्धक्षेत्र भी हैं और कर्म-निर्जरामें कारण हैं[1]।

वर्तमानमें पहला पर्वत विपुलाचल है। इसी विपुलाचलपर तीर्थंकर महावीरका प्रथम समवशरण हुआ था। दूसरा रत्नगिरि है, तीसरा उदयगिरि है, चौथा स्वर्णगिरि है और पाँचवाँ वैभारगिरि नामका है।

राजगृहके प्राचीन नाम पंचशैलपुर, गिरिव्रज, कुशाग्रपुर, क्षितिप्रतिष्ट आदि मिलते हैं। मगध-देशमें अनेक उत्तम भव्य भवनोंसे युक्त राजगृह-नगर

चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।
ईसाणाए पंडू वण्णा सव्वे कुसग्गपरियरणा॥

—तिलोयपण्णत्ती १।६५-६७

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स।

—षट्खण्डागम, धवलाटीका-समन्वित, पु० १, पृ० ६१.

१. पंचशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना।
यत्परध्वजिनीदुर्गं पञ्चशैलपरिष्कृतम्॥
ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः।
दिग्गजेन्द्रं इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम्॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः।
दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः॥
सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य वलाहकः।
शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे॥
फलपुष्पभरानम्रलतापादपशोभिताः।
पतन्निर्झरसङ्घातहारिणो गिरयस्तु ते॥
वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनाम्।
सर्वेषां समवस्थानैः पावनोरुवनान्तराः॥
तीर्थयात्रागतानेकभव्यसंघनिषेवितैः।
नानातिशयसम्बद्धैः सिद्धक्षेत्रैः पवित्रिताः॥

—हरिवंशपुराण, १।५२-५८.

है। इस नगरीको वेष्टित किये हुए पाँचशैल हैं, इसीलिए इसे पंचशैलपुर कहा गया है। तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथके चार कल्याणक यहीं सम्पन्न हुये थे। जैन साहित्यमें राजगृह और विपुलाचलका बड़ा महत्त्व वर्णित है। धवलाटीका, जयधवलाटीका, तिलोयपण्णत्ती, पद्मपुराण, महापुराण, हरिवंशपुराण, णायकुमारचरिउ, जम्बुसामिचरिउ, उत्तरपुराण, आराधना-कथाकोश, पुण्यास्रव-कथाकोष, मुनिसुव्रतकाव्य, धर्मामृत आदि ग्रन्थोंमें इस नगरीका माहात्म्य वर्णित है।

राजगृहके साथ जैन पुराणोंकी शताधिक कथाएँ सम्बद्ध हैं। पुरातत्त्वकी दृष्टिसे भी विपुलाचल और राजगृह महत्त्वपूर्ण हैं।

फाहियान (ई० सन् ४००) ने आँखों देखा राजगृहका वर्णन किया है। वह लिखता है—"नगरसे दक्षिण दिशामें चार मील चलनेपर वह उपत्यका मिलती है, जो पाँचों पर्वतोंके बीचमें स्थित है। यहाँपर प्राचीन कालमें सम्राट् बिंबसार विद्यमान था। विपुलाचल धार्मिक पवित्रताकी दृष्टिसे प्रसिद्ध है। आज यह नगरी नष्ट-भ्रष्ट है[१]।"

१८ जनवरी सन् १८११ ई० को बुचनन साहबने इस स्थानका निरीक्षण किया था और इसका वर्णन भी लिखा है। उनसे राजगृहके ब्राह्मणोंने कहा था कि जरासंधके किलेको किसी नास्तिकने बनवाया है—जैन उसे उपश्रेणिक द्वारा बनाया बताते हैं। बुचनन साहबने यह भी लिखा है कि पहले राजगृहपर चतुर्भुजका अधिकार था, पश्चात् राजा वसु अधिकारी हुए, जिन्होंने महाराष्ट्रसे चौदह ब्राह्मणोंको लाकर बसाया था। वसुने श्रेणिकके बाद राज्य किया था[२]।

कनिंघमने लिखा है कि—"प्राचीन राजगृह पाँचों पर्वतोंके मध्यमें विद्यमान था। मनियारमठ नामक छोटा-सा जैन मन्दिर सन् १७८० ई० का बना हुआ था। मनियारमठके पास एक पुराने कुएँको साफ करते समय इन्हें तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। इनमें एक मायादेवीकी मूर्ति थी, दूसरी सप्तफणमण्डलयुक्त एक नग्न मूर्ति तीर्थंकर पार्श्वनाथकी थी[३]।

एम० ए० स्टीन साहब लिखते हैं—"वैभारगिरिपर जो जैन मन्दिर बने हुए हैं, उनके ऊपरका हिस्सा तो आधुनिक है, किन्तु उनकी चौकी, जिनपर वे बने हुए हैं, प्राचीन हैं।"

श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने मनियारमठवाली-पाषाण मूर्तिका लेख पढ़कर

---

१. Travels of Fa-Hian, Beal (London, 1869) pp. 110–13.

२. Buchanan, Travels in Patna District, Page 125–144.

३. Archacological Survey of India, Vol. I (1871) PP. 25–26.

बताया है कि यह लेख पहली शताब्दीका है और उसमें सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलाचलका उल्लेख है[1]।

आर० डी० बनर्जीने बताया है कि सातवीं शताब्दीतक विपुलाचल और वैभारगिरिपर जैन स्तूप विद्यमान थे और गुप्तकालकी कई जैन मूर्तियाँ भी वहाँ हैं। सोनभद्र-गुफामें यद्यपि गुप्तकालीन लेख हैं, पर इस गुफाका निर्माण मौर्यकालके जैन राजाओंने किया था[2]।

विपुलाचल पर्वतके तीन मन्दिरोंमेंसे मध्यवाले मन्दिरमें चन्द्रप्रभस्वामीकी श्वेतवर्णकी मूर्ति विराजमान थी, जो गुप्तकालीन अनुमानित है।

द्वितीय रत्नगिरिपर महावीर स्वामीकी श्यामवर्ण-प्रतिमा एवं तृतीय उदयगिरिपर महावीर स्वामीकी खड्गासन-प्रतिमा निश्चयतः गुप्तकालीन है।

संक्षेपमें राजगृहके विपुलाचल पर्वतपर अन्तिम तीर्थंकर महावीरका प्रथम समवशरण लगा था। आज भी सोनभण्डार, मनियार, गौतमवन, सीताकुण्ड आदि स्थान जैन संस्कृतिसे सम्बद्ध हैं।

पुरातत्त्वके अनुसार राजगृह नगरको कुशात्मज वसुने गंगा और सोन नदीके संगमपर बसाया था। महाराज श्रेणिकने पंचपहाड़ीके मध्यमें नवीन राजगृह नगरको बसाया, जो विभूति और रमणीयतामें अद्वितीय था। जब श्रेणिकके पुत्र अजातशत्रुने मगधकी राजधानी चम्पाको बनाया, उस समय किसी कारणवश अग्निदाहसे यह नष्ट हो गया। अतएव संक्षेपमें राजगृहके निकट स्थित विपुलाचल पर्वत तीर्थंकर महावीरका प्रथम देशनास्थल है। यहींसे धर्मतीर्थका उदय हुआ है।

चतुर्विधसंघ-स्थापना

तीर्थंकर महावीरके उपदेशोंसे प्रभावित होकर अनेक राजा-महाराजा, राजकुमार, सार्थवाह, श्रेष्ठि, राजमहिषियाँ, श्रेष्ठिपत्नियाँ एवं सामान्य नर-नारीजन उनके शिष्य बने। इस सम्पूर्ण शिष्य-समुदायको महावीरने चतुर्विध-संघमें विभक्त किया था—(१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक और (४) श्राविका। इस व्यवस्थाको दो भागोंमें भी विभक्त किया जा सकता है—(१) मुनि और (२) श्रावक।

संन्यस्त व्यक्तियोंके लिये मुनि और आर्यिका अलग-अलग संघ बनाये गये थे। इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओंके लिये पृथक् संघकी व्यवस्था की गयी थी। जो

---

१. Journal of the Bihar and Orissa Rea. Soe. Vol. XXII (June, 1935).

२. Indian Historical Quarterly, Vol. XXV, Pages 205–210.

निर्ग्रन्थ बनकर आत्माका विकास करना चाहता था, वह मुनि-संघका सदस्य बनता और जो घरमें रहकर श्रावकके व्रतोंका आचरण करते हुए आत्मोत्थान करना चाहता था, उसके लिये श्रावक और श्राविका-संघकी व्यवस्था थी। तीर्थंकर महावीरके यहाँ जाति और वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, बल्कि आचारके आधारपर संघ-व्यवस्था थी। जैन मुनियोंके आचारके नियम कठोर थे और वे उन नियमोंका आचरणकर आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंका विकास करते थे।

महावीरके संघमें पूर्वधारी ३००, शिक्षक ९९००, अवधिज्ञानी १३००, केवली ७००, विक्रियाधारी ९००, मनःपर्ययज्ञानी ५००, वादी ४००, सर्वऋषिसंख्या १४०००, आर्यिका ३६०००, श्रावक १००००० और श्राविकाएँ ३००००० थीं।[1]

प्रधान श्रोता—श्रेणिक : समवशरणकी शरण

काललब्धिके प्राप्त होनेपर मिथ्यादृष्टि सहजमें ही सम्यग्दृष्टि बन जाता है। श्रेणिक बिम्बसार जैनधर्मका विरोधी था, निर्ग्रन्थ साधुओंकी निन्दा और अवमानना करता था। बौद्धधर्मके प्रति उसके हृदयमें अटल श्रद्धा थी, पर महारानी चेलनाने अपने चातुर्यसे उसे महावीरका भक्त एवं अनुयायी बना दिया। उसकी समस्त अशुभवृत्तियाँ शुभवृत्तियोंके रूपमें परिवर्तित हो गयीं। भौतिकतामें भटकता हुआ उसका मन शान्त हो गया। तीव्र पापाचरणसे बाँधी गयी सप्तम नरककी आयु खण्डित होने लगी और वह प्रथम नरककी जघन्य आयुके रूपमें परिणत हो गयी। सत्य है कि जीवनमें जब आध्यात्मिक जागृति होती है, तो सभी शुभोपलब्धियाँ स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं। एक क्षणके लिए प्राप्त की गयी आध्यात्मिक जागृति भी अनेक जन्मोंको मंगलमय बना देती है। श्रेणिकका मोह भंग हुआ और उसकी जीवनधारा परिवर्तित हो गयी। महावीरके समवशरणकी शरणने उसे भावी तीर्थंकर बना दिया।

---

१. शतानि त्रीणि पूर्वाणां धारिणः शिक्षकाः परे।
शून्यद्वितयरन्ध्रादिरन्ध्रोक्ताः सत्यसंयमाः॥
सहस्रमेकं त्रिज्ञानलोचनास्त्रिशताधिकम्।
पञ्चमावगमाः सप्तशतानि परमेष्ठिनः॥
शतानि नवविज्ञेया विक्रर्यद्धिविवर्द्धिताः।
चतुर्दशसहस्राणि पिण्डिताः स्युर्मुनीश्वराः॥
चन्दनाद्यार्यिकाः शून्यत्रयषड्वह्निसम्मिताः।
श्रावका लक्षमेकं तु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः॥
—उत्तरपुराण ७४।३७५–३७९; तिलो० प० ४।११६६–११७६;
हरि० पु० ६०।४३२–४४०;

श्रेणिक : वंशपरिचय

ई० पू० छठी शतीमें मगधका शासन शिशुनागवंशीय क्षत्रिय राजाओंके बाहुओंकी छायामें पल रहा था। इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें बताया जाता है कि महाभारतयुद्धमें जरासन्धकी मृत्युके पश्चात् उनके अन्तिम वंशज रिपुञ्जय-को मगधका शासनभार प्राप्त हुआ। इसके मन्त्री शुकनदेवने वि० सं० पूर्व ६७७ (ई० पू० ६१०) में इसे मार डाला और अपने पुत्र प्रद्योतनको मगधका राजा नियुक्त किया। इस वंशमें वि० सं० ६७७-५८५ (ई० पू० ६१०-५२८) पूर्व तक पालम, विशाखाभूप, जनक और नन्दिवर्द्धनने राज्य किया। अनन्तर इस वंशका पाँचवाँ राजा शिशुनाग हुआ। यह पराक्रमी, प्रतापी, साहसी और शूरवीर था, अतएव इसीके नामपर इस वंशका नाम शिशुनागवंश प्रसिद्ध हुआ। ई० पू० ६४२-४८० तक शिशुनाग, कामवर्ण, कर्मक्षेपण, उपश्रेणिक, श्रेणिक या बिम्बसार, कूणिक या अजातशत्रु, हर्षक, उदयाश्व, नन्दिवर्धन और महानमि ये दस राजा हुए।

उपश्रेणिकके पुत्रका नाम श्रेणिक बिम्बसार था। इसका जन्म ई० पू० ६०१ में हुआ था। उपश्रेणिक मगध-जनपदके राजा थे। राजगृह इनकी राज-धानी थी। मगधके समीपवर्ती चन्द्रपुरके राजा सोमशर्माका उपश्रेणिकके साथ युद्ध हुआ और उपश्रेणिकने उसे युद्धमें परास्तकर अपने राज्यकी वृद्धि की। उपश्रेणिककी पट्टरानीका नाम इन्द्राणी था। श्रेणिकका जन्म इसीकी कुक्षिसे हुआ था।[1]

श्रेणिकका बचपन सुखके रंगीन पलकोंमें बसा था। इन्हें बचपनमें माता-पिता दोनोंका ही प्यार मिला था। श्रेणिककी बुद्धिकी प्रशंसा प्रत्येक व्यक्ति करता था। वह असाधारण गुणोंका आगार था। बालक श्रेणिकको विद्यारम्भ कराया गया। उसने अपनी कुशाग्रबुद्धिके कारण थोड़े ही समयमें समस्त विद्याओं, कलाओं और शस्त्र-संचालनमें प्रवीणता प्राप्त कर ली। श्रेणिकमें दान देनेकी संस्कारगत प्रवृत्ति थी।

उपश्रेणिकको श्रेणिकके अतिरिक्त अन्य पुत्र भी थे। महाराज उपश्रेणिकने चिलातीपुत्रको राज्य देनेका पहले ही वचन दे दिया था, परन्तु इस समय इन्हें चिन्ता उत्पन्न हुई कि सब पुत्रोंमें सच्चा राज्याधिकारी कौन है? अतः उन्होंने एक ज्योतिषीको बुलाकर पूछा—"मेरे पुत्रोंमें मेरे राज्यका अधिकारी कौन होगा"?

ज्योतिषीने कहा कि—"महाराज आप अपने पुत्रोंकी परीक्षा करें, जो अधिक

१. श्रेणिकचरित, पृ० १८-३२.

बुद्धिमान् और योग्य हो, उसे ही राज्याधिकारी बनाइये"। परीक्षा निम्न प्रकारसे ली जा सकती है :—

१. आप एक चीनो भरा हुआ घड़ा पुत्रोंको दीजिए, जो घड़ेको सेवकके सिरपर रखवाकर सिंहद्वारपर रख आये और स्वयं क्रीडा करता हुआ पीछेकी ओर से निकल आये, वही मगधका स्वामी होगा।

२. प्रत्येक पुत्रको एक नवीन घड़ा दीजिए, जो घड़ेको ओससे भर दे, वही मगधका शासक होगा।

३. सभी पुत्रोंको एक साथ भोजन कराइये, वे जब भोजनमें लीन हों, एक खूंखार कुत्तेको छोड़ दीजिए। जो पुत्र निर्भय होकर भोजन करता रहे और कुत्तेको भी खिलाता रहे, वही राजा होगा।

४. जिस समय नगरमें आग लगे, उस समय जो पुत्र सिरपर क्षत्र, चमर धारणकर निकले, वही पुत्र मगधका भावी सम्राट् होगा।

५. भोजन और जलसे परिपूर्ण वर्त्तन दीजिए, जो पुत्र इन वर्त्तनोंका मुँह खोले विना ही भोजन और जल ग्रहण कर ले, वही मगधका अधिकारी होगा।

उपश्रेणिकने उपर्युक्त रूपोंमें अपने सभी पुत्रोंकी परीक्षा की। कुमार श्रेणिक अपनी अद्भुत प्रतिभाके कारण सभी परीक्षाओंमें सफल हुए। उन्होंने घड़ेको ओससे भर दिया। एक मोटा वस्त्र लेकर जिस स्थानकी घास भींगी हुई थी, उस वस्त्रको उस घासपर रखकर कई बार घुमाया और भींगे हुए वस्त्रका जल घड़ेमें निचोड़ दिया। इस प्रकार कुछ ही घंटोंमें ओससे घड़ेको भर दिया।

भोजन करते समय खूंखार कुत्तेके आनेसे अन्य पुत्र तो भाग गये, पर श्रेणिकने अपनी थालीमेंसे कुछ भोजन कुत्तेके सामने भी रख दिया, जिससे कुत्ता शांत होकर भोजन करता रहा। कुमार श्रेणिक भी निश्चिन्त होकर भोजन करता रहा।

इस प्रकार श्रेणिक बिम्बसार अपनी अद्भुत मेधाके कारण सभी परीक्षाओंमें सफल हुए, जिससे उपश्रेणिकने यह निश्चयकर लिया कि मगधका भावी सम्राट् श्रेणिक ही होगा। पर उपश्रेणिक वचनबद्ध होनेके कारण अशांत था। वह सोच रहा था कि मैंने चिलातीपुत्रको राज्य देनेका संकल्प किया है। मेरा यह संकल्प कैसे पूरा होगा? श्रेणिकके रहते हुए चिलातीपुत्र राजा नहीं हो सकता है। अतएव श्रेणिकका मगधसे निष्कासन आवश्यक है।

उपश्रेणिकने श्रेणिकको मगध छोड़कर चले जानेका आदेश दिया। कुमार

श्रेणिक राजगृह छोड़कर नन्दग्राम पहुँचा और यहाँ अपनी विद्या-बुद्धिके प्रभाव-से आजीविका अर्जित करने लगा। इसकी विद्वत्ता और प्रतिभासे सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री नन्दश्री अत्यन्त आकृष्ट हुई और श्रेणिकके साथ पाणिग्रहण करनेका अभिग्रह किया।

श्रेणिकका विवाह नन्दश्रीके साथ सम्पन्न हो गया और इसीसे अभयकुमार नामक बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ। इस नगरमें श्रेणिकने राजा वसुपालके हाथीको निर्मदकर वशमें किया, जिससे राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ। श्रेणिक-के परामर्शसे राजाने सात दिनों तक अहिंसा-धर्मके पालन करनेकी घोषणा की और हिंसाको बन्द कर दिया।

उपश्रेणिकने अपने संकल्पानुसार चिलातीपुत्रको मगधका शासक नियत किया, पर चिलातीपुत्र अपनी योग्यताओं और असमर्थताओंके कारण राज्य-संचालनमें असमर्थ रहा। उपश्रेणिककी मृत्युके अनन्तर चिलातीपुत्रने प्रजापर अत्याचार करना आरम्भ किया, जिससे प्रजा "त्राहि', 'त्राहि' करने लगी। मन्त्रियोंने राज्यकी दुरवस्थापर विचार किया और निश्चय किया कि चिलाती-पुत्रसे राज्य नहीं चल सकता है। अतएव श्रेणिककी तलाश करनी चाहिए। शिशु-नागवंशमें श्रेणिक बिम्बसार ही ऐसा योग्य व्यक्ति है, जो मगध-शासनको सुदृढ़ कर सकता है। फलत: श्रेणिकको ढूँढ़कर मगधमें लाया गया और ई० पू० ५७९ में इसका राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ।

चिलातीपुत्र स्वयं ही राज्यभार छोड़कर चला गया और वैभारगिरिपर मुनियोंके निकट पहुँचा और वहाँ दिगम्बरी-दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने घोर तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि विमान प्राप्त किया।

श्रेणिकने मगध-शासक बन राज्यका विस्तार किया और ई० पू० ५५९ में इसने अपना प्रधानमन्त्री अभयकुमारको नियत किया। केरलनरेश मृगांकने अपनी कन्या विलासवतीका विवाह श्रेणिक बिम्बसारके साथ सम्पन्न किया।

बिम्बसारका एक अन्य विवाह वैशालीके राजा चेटककी पुत्री चेलनाके साथ भी सम्पन्न हुआ, जिससे इनके धार्मिक जीवनमें आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हुआ।

बिम्बसारके साथ चेलनाका विवाह भी एक घटना है। कहा जाता है कि भरत नामक चित्रकार चेटककी पुत्री चेलनाका सुन्दर चित्र अंकितकर राजगृह-में उपस्थित हुआ। बिम्बसार चित्रके दर्शनमात्रसे मन्त्रमुग्ध हो, चित्राङ्कित नारी चेलनाको प्राप्त करनेके लिए उत्कंठित हो गया। बिम्बसार मगध छोड़नेके अनन्तर बौद्धधर्ममें दीक्षित हो गया था और इसी धर्मका वह पक्का श्रद्धालु था।

चेटककी यह प्रतिज्ञा थी कि वह साधर्मीके साथ ही अपनी कन्याका विवाह

करेगा। बिम्बसार बौद्धधर्मानुयायी था। किन्तु चेलनाके साथ विवाह करनेके लिए वह छलसे जैन धर्मानुयायी बन गया। फलत: चेटकने चेलनाका विवाह बिम्बसारके साथ ई०पू० ५५८ में कर दिया।

जब चेलना राजगृहमें आयी तो बिम्बसारको जैनधर्मद्वेषी और बौद्धधर्मका अनुयायी ज्ञातकर उसे आन्तरिक वेदना हुई। वह सोचने लगी—"वह नारी क्या, जो अपने जीवन-साथीको अनुकूल नहीं बना सकती ? जो कार्य अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न नहीं होते, वे बुद्धिद्वारा सम्पन्न हो जाते हैं। मैं अपनी सेवा, त्याग और तपश्चर्या द्वारा बिम्बसारके हृदयको परिवर्तित कर दूँगी।"

चेलनासे ई० पू० ५५७ मार्चमें अजातशत्रु या कुणिकका जन्म हुआ। वह बड़ा तेजस्वी और प्रतापी था। बड़ा होनेपर ई० पू० ५३५ में वह चम्पाका शासक नियुक्त हुआ और षड्यन्त्रद्वारा श्रेणिकको बन्दीगृहमें बन्दी बनाकर ई० पू० ५२६-५०३ में मगधका शासक बना।

श्रेणिक : मिथ्यात्व-तिमिरका ध्वंस : सम्यक्त्वका प्रकाश

बिम्बसारको बौद्धधर्मका अहंकार था और वह जैन साधुओंको कष्ट पहुँचाने-में आनन्दका अनुभव करता था। एक दिन पाँच-सौ शिकारी कुत्तोंको लेकर एक वनमें आखेटके लिए गया। वहाँ उसे एक साधु ध्यान-संलग्न दिखाई पड़ा। वह जैन साधु थे और नाम था यमधर। बिम्बसारके मनमें जैन साधुओंके प्रति पहलेसे ही द्वेषाग्नि प्रज्वलित थी। यमधरको देखते ही उसका क्रोध बढ़ गया। उसने अपने सभी कुत्तोंको संकेत किया और वे यमधरकी ओर झपटे। पर यमधर वीतराग थे, उन्हें किसीसे राग-द्वेष क्या ? वे अपने कर्मावरणको तोड़ने-में सचेष्ट थे। उनकी वीतरागताकी साधना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। वे गम्भीरतापूर्वक अपने आत्म-निरीक्षणमें रत थे।

शिकारी कुत्तोंके झपटनेपर भी वह अपने स्थानपर हिमालयकी भाँति अडिग थे। उनके ऊपर न किसीका भय था और न आतंक ही। निर्भय होकर ध्यानमें लीन थे। महान् आश्चर्यकी घटना घटित हुई कि शिकारी कुत्ते यमधरके पास पहुँचकर पूँछ हिला-हिलाकर धरतीपर लोटने लगे। यमधरकी अहिंसा और क्षमाशीलताके समक्ष शिकारी कुत्ते भी सरल सीधे हो गये। उनके हृदयमें विषके स्थानपर अमृत उत्पन्न हो गया। वे अपनी खूँखारता भूल गये तथा मुनिके चरणोंमें नतमस्तक हो गये।

बिम्बसारने इस घटनाको विस्मयकी दृष्टिसे देखा, पर क्षमा और शांतिके स्थानपर उसके हृदयमें मुनिराजके प्रति द्वेषाग्नि और अधिक उद्दीप्त हो गयी। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि यह साधु अवश्य ही मायावी है। इसने माया करके

शिकारी कुत्तोंको अपने वशमें कर लिया है। अब मैं इसकी खबर लिये बिना नहीं मानूँगा।

इस प्रकार विचारकर बिम्बसारने तरकशसे बाण निकाला और यमधर मुनिपर चलाना आरम्भ किया। पर यहाँ भी अत्यन्त विस्मयकारी घटना घटित हुई। बिम्बसारके बाण यमधर मुनिराज तक पहुँचते ही नहीं थे। बलपूर्वक चलाये गये बाण भी उनकी प्रदक्षिणा देकर वापस लौट आते। बाणोंसे मुनिराजकी कुछ भी हानि नहीं हुई।

इस घटनासे बिम्बसारका मन कोपज्वालासे जल उठा। उसकी द्वेषाग्नि और अधिक भभक उठी। अतएव उसने एक मृत सर्प यमधर मुनिके गलेमें डाल दिया। सर्पके डाल देनेपर भी मुनिराज पहलेके समान ही गम्भीर और अटल बने रहे।

बिम्बसार जब लौटकर अपने राजभवनमें पहुँचा, तो उसने बड़े गर्वके साथ राजमहिषी चेलनाको बतलाया कि आज उन्हें किस प्रकार एक मुनिका दर्शन हुआ। अपने शिकारी कुत्तोंको छोड़ा, पर वे मुनिकी प्रदक्षिणा कर शान्त हो गये। मुनिको आहत करनेके लिए उसने बाण चलाये, पर वे भी विफल हो गये। जब मुनिको प्रत्यक्ष रूपसे किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचा सका तो मृतसर्प उनके गलेमें डालकर वहाँसे वापस चला आया। राजमहिषी चेलनासे अहंकारपूर्वक उक्त बातें कहते हुए वे बोले—"देवी! लगता है कि तुम्हारा गुरु बड़ा मायावी या मान्त्रिक है। उसने कुत्तोंको तो वशमें कर ही लिया, मेरे बाणोंको भी असफल कर दिया।"

राजमहिषी चेलना—"स्वामिन्! अहिंसाकी पूर्ण साधना करनेवाले जैन मुनि वीतराग होते हैं। राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण उनके समक्ष हिंसाकी क्रियाएँ असफल हो जाती हैं। शरीरसे ममत्वका त्याग करनेके कारण ये सम-दर्शी होते हैं। आपने इन्हे दुःख देकर बड़ा पाप किया है। आपको अपने बुरे आचरणके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

बिम्बसारने राजमहिषी चेलनाकी बातोंको हँसीमें उड़ा देना चाहा; पर जब चेलनाने अपने तर्कों द्वारा राजाको प्रभावित किया तो उन्हें मुनिराज यमधरकी सेवामें उपस्थित होनेके लिए बाध्य होना पड़ा।

यमधर ध्यानमें संलग्न थे। उनके मुँहपर दिव्य तेजकी छटा विद्यमान थी। शरीरपर लाखों चींटियाँ चढ़ी हुई थीं। चींटियोंने काट-काटकर उनके शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया। किन्तु शरीरसे इतने अनासक्त थे कि उन्हें इस वेदनाका तनिक भी अनुभव नहीं हो रहा था। उनकी चेतना अखण्ड अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण थी। उनके आध्यात्मिक विकासके समक्ष भौतिक विकास

नगण्य और श्रीहीन थे। संयमकी साधनाने उनकी आत्मामें अपूर्व तेज उत्पन्न कर दिया था।

मुनिराजको चींटियोंके उपसर्गसे आक्रान्त देखकर चेलनाकी आँखें सजल हो उठीं। उसने अपने हाथोंसे यमधरके शरीरपर चढ़ी हुई चींटियोंको हटाया और उनके शरीरपर चन्दनका लेप किया। उपसर्गके दूर होते ही मुनिने आँखें खोल दीं। बिम्बसार अपनी राजमहिषी चेलनाके सामने खड़े थे। मुनिने एक साथ दोनोंको धर्मवृद्धिका आशीर्वाद दिया; अतः उनकी दृष्टिसे उपकार और अपकार करनेवालेमें कोई अन्तर नहीं था।

मुनिराजके इस व्यवहारसे बिम्बसार बहुत प्रभावित हुए। उनके हृदयकी ग्रन्थि खुल गयी। हृदय परिवर्तित हो गया। प्रतिहिंसाकी अग्नि शान्त हो गयी और अर्जित मिथ्यात्व विगलित होने लगा। आत्म-कल्याणका दुर्द्धर्ष मार्ग दृष्टिगोचर होने लगा। जीवनका मँगलघट आत्मसौरभसे भरने लगा। बिम्बसारको आज ऐसा अनुभव हुआ—मानो उसका नया जन्म हुआ हो। उनका अज्ञान-तम ढल चुका था और सच्चे ज्ञानकी किरणें फूट रही थीं। उनके जीवनके इतिहासमें यह घड़ी सदा अविस्मरणीय रहेगी।

मंगल-प्रभातका दर्शन होते ही बिम्बसारकी आत्मा मृदुल हो गयी और उसमें उपदेश ग्रहण करनेका पात्रत्व विकसित हो गया। यमधर मुनि कहने लगे— "वत्स! यह संसार नाशवान है, शरीर क्षणस्थायी है, आत्मा अजर-अमर है। जो अनन्त चैतन्यको प्रबुद्ध करनेकी साधना करता है, उसीका मानव-शरीर प्राप्त करना सार्थक है। जीवनमें कुछ ऐसे प्रसंग आते हैं, जो जीवनकी धाराको मोड़ देते हैं। अतएव अब तुम तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें जाओ। वह समवशरण विपुलाचलपर स्थित है।"

महावीरके दर्शन-मात्रसे बिम्बसारका जीवन कृतार्थ हो गया। वह महावीरके उपदेशोंका प्रमुख श्रोता था। उसने साठ हजार जीवन और जगत्-सम्बन्धी प्रश्न पूछे, जिनका महावीरने उत्तर देकर श्रेणिकको सन्तुष्ट किया।

इतिहासकारोंकी दृष्टिमें श्रेणिक

इतिहासकारोंने श्रेणिकका उल्लेख बिम्बसारके नामसे किया है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी श्रेणिकका विस्तृत जीवन-परिचय प्राप्त होता है। बताया गया कि २२ वर्षकी अवस्थासे ५२ वर्ष तक श्रेणिकने राज्य-शासन किया था। गिलगिटसे प्राप्त मैन्युस्क्रिप्टमें श्रेणिकका उल्लेख है।[1] बौद्धसाहित्यमें श्रेणिक-

---

१. दीपवंश ३-५६-१०

का वृत्त उसी अवस्था तक है; जब तक वह बौद्धधर्मावलम्बी रहा था। जैनधर्मको ग्रहण करनेके पश्चात्‌की घटनाओंका उल्लेख बौद्धसाहित्यमें नहीं मिलता है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विसेन्ट स्मिथने 'ऑक्स फोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में श्रेणिकका निर्देश किया है तथा इनके राज्य-विस्तारका भी वर्णन दिया है।[1] श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने बिहार रिसर्च सोसाइटीके जर्नल भाग एकमें बताया है कि श्रेणिकका राज्यकाल ५१ वर्षका था। कौशाम्बीके परन्तप शतानीक और श्रावस्तीके प्रसेनजित इनके समकालीन राजा थे।[2] श्रीजयचन्द्र विद्यालंकारने अपने 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' ग्रन्थमें श्रेणिकका विशेष वर्णन किया है। इन्होंने बौद्ध एवं जैन ग्रन्थोंके आधारपर मगध-साम्राज्यका सर्वप्रथम शासक श्रेणिकको ही स्वीकार किया है। बताया गया है कि चेटक, बिम्बसार आदि राजाओंके समकालीन महात्मा बुद्ध थे। श्रेणिकका उत्तराधिकारी अजातशत्रु हुआ, जिसने अपने राज्यका बहुत विस्तार किया।

डॉ० रमाशंकर त्रिपाठीने लिखा है—"बिम्बसार एक सामान्य सामन्त भट्टियका पुत्र था और उसका विरुद सेनिय अथवा श्रेणिक था। पहले तो उसकी राजधानी भी प्राचीन गिरिव्रज थी, पर बादमें अपने नये राजप्रासादके चतुर्दिक् राजधानी बसाकर उसने उसका 'राजगृह' नाम सार्थक किया। बिम्बसारने आरम्भमें अपने प्रभावको वैवाहिक सम्बन्धोंकी नीतिसे बढ़ाया। उसकी प्रधान महिषी कोशलदेवी राजा 'पसेनदि'की भगिनी थी; दूसरी रानी चेलना विख्यात लिच्छवि राजा 'चेटक' की कन्या थी और तीसरी रानी क्षेमा मद्र (मध्य पंजाब) की राजकुमारी थी। इन विवाहोंसे न केवल बिम्बसारका समसामयिक राजकुलोंपर प्रभाव विदित होता है, वरन् यह भी सत्य है कि इन्हींकी पृष्ठभूमिपर मगधके प्रसारकी अट्टालिका खड़ी हुई। उदाहरणत: केवल कोशलदेवीके विवाह-दहेजमें ही काशीकी एक लाखकी वार्षिक आय मगधको प्राप्त हुई। बिम्बसारने अपनी विजयोंसे भी राज्यका विस्तार किया। अंगके राजा ब्रह्मदत्तको परास्त कर उसके जनपद-राज्यको मगधमें मिला लिया"।[3]

श्रेणिक : प्रधान श्रोता

तीर्थंकर महावीरके समवशरणका वैभव अनिर्वचनीय था। मुनिराज यमधरके उपदेशसे और महारानी चेलनाके कार्यों द्वारा हृदय परिवर्तित होनेसे श्रेणिक विपुलाचलपर स्थित समवशरणमें प्रधान श्रोता थे। वे इन्द्र द्वारा लाये गये

१ Oxford History of India P. 45.

२ Journal of Bihar Research Society VI,P.114.

३ प्राचीन भारतका इतिहास, सन् १९५६, बनारस, पृ० ७३-७४.

इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, आदिकी अभ्यर्थनाके हेतु उपस्थित थे। वज्जि और लिच्छवी राजा भी समवशरणमें श्रोताके रूपमें उपस्थित थे। चारों ओर हर्ष और उल्लासकी लहर व्याप्त थी। यों तो समवशरणकी व्यवस्था ही ऐसी थी कि सभी श्रोता जीव-जन्तु अपने-अपने नियत स्थानपर बैठते चले जा रहे थे। पर महाराज श्रेणिक अपनी औपचारिकता प्रदर्शित करनेके लिये सभीकी भावभीनी अभ्यर्थना करते हुए यथास्थान बैठनेका निवेदन कर रहे थे।

श्रेणिक युगविभूति तीर्थंकर महावीरके प्रति अपनी अपार भक्ति दिखला रहे थे। इस समय श्रेणिकको देखकर ऐसा तनिक भी आभास नहीं होता था कि ये कभी मिथ्यादृष्टि रहे हैं। श्रेणिकके हृदयमें भक्तिके साथ आत्म-चिन्तन-की आकुलता भी समाहित थी। उनके मनमें त्रिषष्टिशलाका-पुरुषोंके जीवन-वृत्तको अवगत करनेकी प्रबल इच्छा थी। अतएव उन्होंने समवशरणमें त्रिषष्टिशलाका-पुरुषोंके चरितको ज्ञात करनेकी इच्छा व्यक्त की। आज जितने जैन पुराण उपलब्ध हैं, वे सभी श्रेणिकके प्रश्नोंके उत्तरके रूपमें ग्रथित किये गये हैं। समवशरणमें यों तो सभी श्रोताओंको प्रश्न करनेका अधिकार था, पर श्रेणिकको यह अधिकार सबसे अधिक प्राप्त था। जिस प्रकार इन्द्रभूति गौतम-को महावीरके पट्टगणधर होनेका सौभाग्य प्राप्त है, उसी प्रकार श्रेणिकको प्रधान श्रोता होनेका गौरव उपलब्ध है।

समवशरणमें दिव्यध्वनिके प्रादुर्भावहेतु गौतम गणधर जैसे व्याख्याताकी आवश्यकता थी, उसी प्रकार जनहितके लिये श्रेणिक जैसे प्रश्नकर्त्ताकी भी। तीर्थंकर महावीरके उपदेश जनकल्याणके हेतु सरल और सुबोध शैलीमें होते थे। उनमें न आडम्बर था, न ढकोसला था, न दुराव था, न कोई छल-कपट ही।

रोहा : बदला जीवन एक प्रवचनने

रोहाका पिता मृत्यु-शय्यापर पड़ा है। वह अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। पर न मालूम किस आशामें उसके प्राण अटके हुए हैं। रोहा पिताकी सेवामें उपस्थित हुआ और करबद्ध प्रार्थना करता हुआ कहने लगा—"पूज्य तात! आपकी अन्तिम इच्छा क्या है? पुत्रका कर्त्तव्य है कि वह पिताकी इच्छाओंको पूर्ण करे। अतएव मैं आपकी अन्तिम इच्छाको पूर्ण करनेके लिये प्रस्तुत हूँ।"

पिता—"वत्स! मैं तो कुछ ही क्षणोंका मेहमान हूँ, पर तुझे मेरी अन्तिम इच्छा पूर्ण करनी है।"

रोहा—"तात! शीघ्र आज्ञा दीजिये। मैं सभी तरहसे तैयार हूँ।"

पिता—"वत्स! तीर्थंकर महावीर नामका एक अद्भुत जादूगर है। उसकी वाणीका प्रभाव विचित्र रूपमें पड़ता है। वह सदाचार, धर्म और ज्ञानका उपदेश देता है, उसके उपदेशने मेरे कितने ही साथियोंके हृदय परिवर्तित कर

दिये हैं। वे चौर-कर्म छोड़कर सद्गृहस्थका जीवन व्यतीत करने लगे हैं। अतएव तुम तीर्थंकर महावीरका उपदेश सुननेके लिये कभी मत जाना और जिस रास्तेमें उनकी समवशरण-सभा जुटी हो, उस रास्तेसे भी अलग रहना।"

रोहा—"पूज्यचरण ! आपकी आज्ञा स्वीकार है।"

पिताकी मृत्युके अनन्तर रोहा अपने पैतृक-व्यवसाय चौर्य-कर्मको सुचारु रूपसे सम्पादित करने लगा। एक दिन वह किसी गाँवसे चोरी करके लौट रहा था कि मार्गमें तीर्थंकर महावीरका समवशरण दृष्टिगोचर हुआ। वह सोचने लगा—"कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है। मैं कहाँ आकर फँस गया हूँ। दिव्यध्वनिका एक भी शब्द सुनायी न पड़े, इस उद्देश्यसे उसने अपने कान बन्द कर लिये और तेजीसे दौड़ने लगा। दौड़ता हुआ जब वह समवशरणके समीप पहुँचा, तो उसके पैरमें एक काँटा गड़ गया। अब तो उसका चलना ही बन्द हो गया। अतः कानोंपरसे हाथ हटाकर काँटा निकालने लगा। इसी समय तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि द्वारा देवलोकका वर्णन किया जा रहा था—"देवोंकी प्रतिच्छाया नहीं पड़ती। उनके नेत्रोंके पलक नहीं गिरते। वे धरतीपर पाँव नहीं रखते। चार अंगुल ऊपर आकाशमें ही चलते हैं। उनकी पुष्पमाला म्लान नहीं होती।"

विना इच्छाके रोहाके कानोंमें ये प्रवचन प्रविष्ट हो गये और वह इन प्रवचनोंको भूलनेके लिये नाना प्रकारकी गालियाँ बकने लगा। किन्तु संसारका यह नियम है कि जिस बातको भूलनेका प्रयास किया जाता है, वह बात और अधिक याद आती है। रोहाने भी महावीरके प्रवचनोंको भूलनेका पूरा प्रयास किया, पर वह उन्हें भूल न सका।

रोहाके चौर्य-कृत्योंसे राजगृह-निवासी बहुत तंग हो गये थे। चोरीसे परेशान नागरिकोंने सम्राट् श्रेणिकके समक्ष प्रार्थना प्रस्तुत की और श्रेणिकने मंत्री अभय-कुमारको चोरको पकड़ने और उचित दण्ड देनेका अधिकार दे दिया। अभय-कुमारने गुप्तरूपसे चोरोंके अड्डोंका निरीक्षण किया और चन्द्रसेना नामक वेश्याको चोरके पकड़नेके लिये षड्यन्त्रहेतु तैयार किया।

रोहा वेश्या-गमनके हेतु चन्द्रसेनाके यहाँ गया। चन्द्रसेना रोहाकी भाव-भंगिमासे समझ गयी कि यह चोर है। अतः उसने मदिरा-पान द्वारा रोहाको बेहोश कर अभयकुमारको सूचना दी। अभयकुमारके आदेशानुसार रोहाके रहस्यका पता लगानेके लिये उसे एक सुवासित भवनमें सुला दिया गया और उसके चारों ओर चार सुन्दरियाँ दिव्य वस्त्रालंकार धारणकर खड़ी हो गयीं। जब रोहाकी मूर्च्छा दूर हुई, तो अपनेको एक सज्जित, सुवासित और दिव्यभवनमें प्राप्तकर उसे आश्चर्य हुआ। वे चारों सुन्दरियाँ हाथ

जोड़कर कहने लगीं—"यह स्वर्ग है और हमलोग देवाङ्गनाएँ हैं। आपकी सेवाके लिये प्रस्तुत हुई हैं।"

रोहा सोचने लगा—"तीर्थंकर महावीरने बतलाया था कि देवांगनाओंकी प्रतिच्छाया नहीं पड़ती। नेत्रोंके पलक नहीं झपकते। धरतीपर पाँव नहीं पड़ते। पर इन सुन्दरियोंमें ये लक्षण नहीं घटित हो रहे हैं। अवश्य ही मुझे पकड़नेके लिये यह षड्यन्त्र किया गया है। अतः मुझे कपटपूर्वक उत्तर देना चाहिये। वह बोला मैं अत्यन्त धर्मात्मा हूँ। मैंने दान-पुण्यके अनेक कार्य किये हैं। उन्हींके फलस्वरूप यह स्वर्ग मिला है।"

प्रमाण न मिलनेसे अभयकुमारने लाचार होकर रोहाको छोड़ दिया। बन्धनमुक्त होनेपर रोहा विचारने लगा—"यह संसार स्वार्थी है। मेरे पिताने स्वार्थसे प्रेरित होकर ही तीर्थंकर महावीरका उपदेश न सुननेके लिये प्रतिज्ञा करायी थी। आज मेरे प्राणोंकी रक्षा महावीरके प्रवचनोंसे ही हुई है। महावीर सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतराग हैं। अतः मेरे लिये उनका शरण ही कल्याण-कारक हो सकता है। मैंने उनके प्रति अपशब्दोंका व्यवहारकर पाप-बन्ध किया है। अतः मैं क्षमा याचनाकर इस चौर्य-कर्मको त्यागकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँगा। इस संसारमें कोई किसीका नहीं है। सब स्वार्थवश हितैषी बनते हैं।"

इस प्रकार ऊहापोहकर रोहा चोर महावीरके समवशरणमें उपस्थित हुआ। पश्चात्तापके कारण उसका हृदय शुद्ध तथा निर्मल बन गया और उसने दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर ली।

वास्तवमें महावीर ऐसे पारसमणि थे, जिनके सम्पर्कसे रोहा चोर जैसे कितने ही पापी स्वर्ण बन गये। उनके प्रवचनमें हृदय-परिवर्तनकी अपूर्व क्षमता थी। दुष्ट-से-दुष्ट और दुराचारी-से-दुराचारी भी उनके निकट सम्पर्कमें आनेपर परिवर्तित हुए बिना नहीं रह सकता था। उनकी वाणीका प्रभाव जादू जैसा था। उन्होंने अपनी अहिंसाकी मधुर वीणाद्वारा लोगोंके हृदयको द्रवीभूत कर दिया। वे अपने युगके सर्वश्रेष्ठ धर्मनायक और जनहितैषी थे।

मेघकुमार : विलासका विराग

कहा जाता है कि मेघकुमारका जीवन बड़ा ही विलासी था। उसे भोगो-पभोगकी वस्तुओंसे विशेष रुचि थी। सुस्वादु और सुन्दर भोजन करना, नृत्यका अवलोकन करना और संगीतद्वारा चित्तका अनुरंजन करना उसका प्रतिदिन-का कार्य था। जिसने भी मेघकुमारके वैभव और विलासको देखा, उसने कभी यह कल्पना भी नहीं कि यह व्यक्ति कभी विरक्त हो सकता है। विला-सका परिणमन वीतरागतामें शायद ही कभी होता है। जो इन्द्रिय-सुखोंका

दास बन चुका है, क्या वह कभी आत्माका आराधक हो सकता है? दाससे स्वामी बनना सहज नहीं है। मानवताके इतिहासमें मेघ कुमारका ऐसा उदाहरण है, जो जीवनको परिवर्तित करनेकी क्षमता रखता है।

श्रेणिकके साथ मेघकुमार भी महावीरके समवशरणमें पहुँचा। उसने बड़े भक्तिभावसे प्रभुका चरण-वन्दन किया और अपने स्थानपर बैठकर तीर्थंकर महावीरका उपदेश श्रवण करने लगा। दिव्यध्वनि द्वारा सम्यक्त्वका विवेचन किया जा रहा था। आत्मोत्थानका साधन सम्यग्दर्शनको प्रतिपादित किया जा रहा था। प्रत्येक आत्मामें परमात्मज्योति विद्यमान है और प्रत्येक चेतनमें परमचेतन सामाहित है। चेतन और परमचेतन दो नहीं हैं, एक हैं। कर्मावरणके कारण यह आत्मा संसारमें परिभ्रमण कर रही है, पर जब यह संसारके बन्धनोंसे मुक्त हो जायगी, तो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर लेगी तथा यही भिखारीसे भगवान् बन जायगी।

सम्यग्दर्शनके उक्त माहात्म्यको सुनकर मेघकुमार सोचने लगा—"कामनाओंकी दासता ही सबसे बड़ी दासता है। इन्द्रिय-सुखोंके अधीन रहनेवाला व्यक्ति कभी निराकुल नही हो सकता है। मैंने अपनी इस युवावस्थामें सभी प्रकारके इन्द्रिय-सुखोंको एकत्र किया है, पर मुझे कभी इन सुखोंसे तृप्ति प्राप्त नहीं हुई है। दिव्यध्वनिमें आत्मनिष्ठाका और संसारके विषयोंकी असारताका सतर्क विवेचन किया गया है। अतएव मैं शुद्ध निरंजन निर्विकारी पद प्राप्त करनेके लिए प्रभुचरणोंमें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँगा। अब न तो मुझे राज्य करनेकी इच्छा है और न राजसी वैभवको भोगनेकी ही आकांक्षा है। यह जगत् मुझे धधकती चिताके समान सन्ताप-कारक प्रतीत हो रहा है। अतएव मैं माता-पिताकी अनुमति लेकर अब दिगम्बर-दीक्षा धारण करूँगा।"

समवशरणसे लौटनेके पश्चात् मेघकुमारने माता-पितासे अनुरोध किया—"मेरा मन संसारके विषयोंसे ऊब गया है और मुझे यह निश्चय हो गया है कि ये विषयचाहकी दाह बढ़ानेवाले हैं। जैसे अग्निमें जितना अधिक ईंधन डालते जाइये, अग्नि उतनी ही अधिक प्रज्वलित होती जायगी। अग्निको शांति करनेके लिए जलकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार इन्द्रिय-विषयोंको शमन करनेके लिए त्याग और वैराग्यकी आवश्यकता है। संयम ही एक ऐसा साधन है, जो भोगेच्छाओंको नियन्त्रित कर सकता है। पूज्यवर! आप दोनोंके उपकार मेरे ऊपर अधिक हैं। आपने मेरी समस्त सुख-सुविधाओंका ध्यान रखा है तथा मेरा भरण-पोषण सभी प्रकारसे किया है।

अब मेरी अन्तरंग इच्छा दिगम्बर-दीक्षा धारण करनेकी है। मेरी विल-

सितामें वीतरागताका गुणात्मक परिवर्त्तन हो गया है। विगत विलासी-जीवन-का स्मरण आते ही मेरा मन पश्चात्तापसे भर जाता है। अतएव आप महानुभाव मुझे दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति प्रदान कीजिए; जिससे मैं तीर्थंकर महावीर-की शरणमें जाकर व्रत ग्रहण कर सकूँ।"

श्रेणिक मेघकुमारकी उदासीनता और उक्त भावनाको अवगत कर अत्यंत आश्चर्य चकित हुए और उन्हें इस बातकी चिन्ता हुई कि मेघकुमारके दीक्षित होनेसे त्रुटि आयेगी और शासन-व्यस्था सम्यक्रूपसे नहीं चल पायेगी। वह सोचने लगे—

"मेघकुमार सुकुमार प्रकृतिके हैं, इनसे क्या कठोर दिगम्बर-दीक्षाका निर्वाह हो सकेगा? तपस्या करना बड़ा कठिन है। क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदिकी बाधाओंको सहन करना सरल नहीं है। इन्द्रिय और मनका निग्रह करनेके हेतु बड़े साहस और धैर्यकी आवश्यकता है। अत: मेघकुमार दिगम्बर मुनिके असिधारा-व्रतका पालन किस प्रकार कर सकेगा?"

बहुत सोच-विचार करनेके पश्चात् श्रेणिकने मेघकुमारको सम्बोधित कर कहा—"वत्स! त्याग और संयमके कठोर मार्गका तुम अनुसरण कर सकोगे? अभी तुम्हें घरमें रहकर ही आत्म-साधना करनी चाहिए। इसके साथ चिन्तन, मनन, प्राणिमात्रकी हितैषिता एवं सर्वप्राणि-समभावकी उदात्तवृत्तियोंको भी आत्मसात् करना चाहिए। परिग्रह और ममताके घटने या नष्ट होनेपर ही गृहत्याग करना उचित होगा।"

मेघकुमार—"पूज्यवर तात! आपका उक्त कथन यथार्थ है। पर मैंने यह अनुभव कर लिया है कि पाप कभी सुखका कारण नहीं बन सकते। इनके सेवन-से अन्तरात्मा कलुषित हो जाती है और व्यक्ति अपने निज स्वरूपको भूले रहता है। यह मोहोदयका परिणाम है कि आपके मुखसे इस प्रकारकी बातें निकल रही हैं। सात्त्विक वृत्तिको प्रत्येक समझदार व्यक्ति सुखप्रद मानता है। पापका सेवन करनेवालेको लोक, परलोकमें सभी प्रकारकी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। अत: मेरा निश्चय अटल है। आप संयम ग्रहण करनेकी अनुमति दीजिए।"

मेघकुमारके उक्त कथनको सुनकर माताकी ममता उमड़ पड़ी और वह कहने लगीं—"वत्स! तुम मेरी आँखोंके तारा हो। तुम्हारे बिना मैं कैसे प्राण धारण कर सकूँगी। क्या मछली जलसे विमुक्त होनेपर जीवित रह सकती है? अत: माँका आग्रह स्वीकार कर तुम्हें अभी गृहवास ही करना चाहिए।

ज्येष्ठपुत्र होनेके कारण तुम्हीं राज्यके अधिकारी हो, अतः राज्यसुखका उपभोग किये बिना तुम्हें दीक्षा धारण नहीं करनी चाहिए।"

उपर्युक्त कथनसे प्रभावित हो श्रेणिक कहने लगा—"वत्स! तुमने यदि दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया है, तो कोई बात नहीं। पर मेरा एक अनुरोध स्वीकार करो—तुम ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः एक दिनके लिए राज्य-शासन स्वीकार करो, तदनन्तर दीक्षा ग्रहण करना।"

मेघकुमारने पिता श्रेणिकका आदेश स्वीकारकर एक दिनके लिए मगधका राज्यशासन ग्रहण किया और बड़ी सतर्कता एवं कुशलतापूर्वक राज्यका संचालन किया। इसके द्वारा की गयी राज्यव्यवस्थाने श्रेणिकको आश्चर्य चकित कर दिया। एक अनुभवी सम्राट् जिस प्रकार राज्यशासनकी व्यवस्था करता है, उसी प्रकार मेघकुमारने राज्यकी व्यवस्था की। मन्त्रिवर्ग भी उसकी बुद्धि एवं राजनीतिज्ञताको देखकर प्रभावित्त था।

जब दिन समाप्त हो गया तो श्रेणिकने मेघकुमारसे प्रश्न किया कि अब क्या विचार है? श्रमण-दीक्षा ग्रहण करोगे अथवा राज्य-संचालन? मेघकुमारने विनीत भावसे उत्तर दिया—"तात! मैं अपने निश्चयपर अटल हूँ। मुझे राज्य-सुख नीरस प्रतीत हो रहा है। इन भयंकर विषय-भोगरूपी सर्पोंकी फुफकारसे मैं जला जा रहा हूँ। अतएव अब मुझे शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति मिलनी चाहिए।"

श्रेणिकको मेघकुमारके दृढ़ निश्चयका बोध हो गया। अतः उसने प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा धारण करनेकी अनुमति प्रदान की।

माता-पितासे अनुमति प्राप्तकर मेघकुमार अपनी आठ पत्नियोंके मध्य दीक्षाकी स्वीकृति लेनेके लिए उपस्थित हुआ। उसने अपनी पत्नियोंसे माता पिताकी अनुमति प्राप्तिकी चर्चा की और कहा—"तीर्थंकर महावीरकी देशना सुननेसे मेरे हृदयकी कालिमा दूर हो गयी है। मेरा हृदय चन्द्रमाके समान निर्मल और धवल हो गया है। सत्यकी वास्तविकता और संसारकी असारताका चित्र नेत्रोंके समक्ष साकार हो उठा है। अतएव अब आप लोग भी मुझे आत्म-कल्याण करनेके लिए अनुमति दीजिए।"

पत्नियाँ कहने लगीं—"नाथ! हम लोग आपके वियोगमें जीवित भी नहीं रह सकेंगी। आपके यहाँसे चले जानेके पश्चात् हमारे प्राण भी आपके साथ ही चले जायेंगे। शरीरका चलना तो हमारे हाथमें नहीं है, पर प्राणोंका चलना तो हमारी इच्छाके अधीन है। आप जानते ही हैं कि नारीके लिए पति ही गति है, पति ही शरण है और पति ही सर्वस्व है। पतिके न रहने पर नारीका

जीवन विपन्न हो जाता है। अतः अभी हम लोग आपको दीक्षित होनेकी अनुमति नहीं देंगी।"

मेघकुमारके विरक्तिमय भावोंको परिवर्तित करनेकी दृष्टिसे वे नानाप्रकारके हाव-भाव और कटाक्षोंसे उसे पथ-विचलित करने लगीं। जितेन्द्रिय मेघकुमारके मनपर इस प्रकारके विकारी भावोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। लाख चेष्टाएँ करनेपर भी वे उन्हें पथभ्रष्ट न कर पायीं।

जब मेघकुमारकी रानियोंको उसकी दृढ़ताका परिचय प्राप्त हो गया, तो वे भी लाचार हो गयीं और उन्हें भी पराभूत होकर मेघकुमारको अनुमति देनी पड़ी।

परिवारके सभी सदस्योंसे स्वीकृति प्राप्तकर मेघकुमार अत्यधिक प्रसन्न हुआ और वह सीधे चलकर राजगृहमें अवस्थित महावीरके समवरणमें पहुँचा। उसने गौतम स्वामीसे निवेदन किया—"प्रभो! मैंने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करनेकी अपने परिवारसे अनुमति प्राप्त कर ली है। अतएव अब मुझे भी आत्म-कल्याण करनेका अवसर दिया जाय। तीर्थंकर महावीरकी शरण ही मेरे लिए सर्वस्व है।"

मेघकुमारने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली और वह अन्य मुनियोंके समान आत्म-शोधनमें प्रवृत्त हुआ।

मेघकुमार बिहारमें अन्य मुनियोंके साथ भूमिपर शयन करते थे। सबसे बादमें दीक्षित होनेके कारण ये लघुमुनि कहलाते थे। इन्हें सोनेके लिए द्वारके पास स्थान प्राप्त होता था। द्वारसे होकर मुनियोंका आवागमन लगा ही रहता था। इससे मेघकुमारको प्रायः अन्य मुनियोंके टकरा जानेका कष्ट उठाना पड़ता था इनकी नींद समाप्त हो गयी थी और मनमें पश्चात्तापकी भावना उत्पन्न हो गयी थी।

जब मेघकुमार राजकुमारके पदपर प्रतिष्ठित थे, उस समय सभी मुनि उनका आदर-सत्कार करते थे। पर आज वे ही अपने पैरोंकी धूलि उड़ाते हुए उनके पाससे निकल जाते हैं। आदर-सम्मान प्रकट करनेकी कौन कहे, कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, मेघकुमारके हृदयमें विचारोंका तूफान उठ रहा था। उनके हृदयमें राग, द्वेष और अमर्षके भाव जागृत हो उठे थे। अतः उन्होंने निश्चय किया कि अब इस संघमें रहकर अपमान सहना उचित नहीं। इन्द्रभूति गौतम गणधरको सूचितकर और उनसे अनुमति लेकर यहाँसे चले जाना ही श्रेयस्कर है।

मेघकुमार तीर्थंकर महावीर और उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूतिकी सेवा-

में उपस्थित हुए। मनःपर्ययज्ञानी गौतमने मेघकुमारके अन्तस्‌को जान लिया और कहा-"मेघकुमार, तुम मुनियोंके व्यवहारसे उदासीन होकर घर जाना चाहते हो ? तुम्हें मुनियोंके आवागमनसे कष्ट हो रहा है ? तुम्हारे सोनेका स्थान सबके अन्तमें है, द्वारके पास यह सब तुम्हारे लिए अपमानका कारण है। जब तुम राजकुमार अवस्थामें थे, तब सभी मुनि तुम्हारा आदर करते थे, पर अब दीक्षामें लघु होनेके कारण समस्त मुनियोंको तुम्हें ही 'नमोऽस्तु' कहना पड़ता है। सभी साधुवर्ग मौन होकर साधनामें संलग्न हैं, अतः तुमसे कोई बात-चीत भी नहीं करता। तुम्हें इन सब बातोंके कारण आन्तरिक वेदना हो रही है।"

मेघकुमार उक्त बातोंका क्या उत्तर देता ? तीर्थंकर महावीर और गौतम गणधरके समक्ष उनका मस्तक नत हो गया। इन्द्रभूति द्वारा कही गयीं सभी बातें यथार्थ थीं।

इन्द्रभूति तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिका आधार ग्रहणकर कहने लगे—"वत्स, सभी मुनि तुम्हारे साथी हैं, साधनापथमें वे सभी तुम्हारे सहयात्री हैं। साधना-कालमें मौन रहना आवश्यक होता है और यह भी अनिवार्य माना जाता है कि व्यर्थकी बात-चीतकर समय नष्ट न किया जाय। विकथाओंकी चर्चा करना हेय माना गया है।"

"साधना-व्रतीके लिए मौन सबसे बड़ा बल माना गया है। मौनसे हृदयके भीतर एक ऐसी आग उत्पन्न होती है, जिसमें मनकी कलुषता जलकर भस्म हो जाती है। मौन मनके विकारभावोंको नियन्त्रित करनेका साधन है।"

"अन्य मुनिवर्ग तुम्हारे प्रति इसीलिए उदासीन रहते हैं कि तुम अपने हृदयमें समभावको स्थिर रख सको। तुमने दीक्षा ग्रहण की है और तुम साधना-पथपर चल रहे हो। अतः तुम्हारा किसीके द्वारा सम्मान किया जाय या न किया जाय, इससे क्या बनता-बिगड़ता है। आत्म-साधकको तो अपने प्रति सदा जागरूक रहना चाहिए। जिसे मान-अपमानका खयाल है, उससे आत्मसाधना संभव नहीं है। साधनाका उद्देश्य वीतरागताकी प्राप्ति है। वीतराग ही निर्वाण-लाभ करता है।"

इन्द्रभूति गणधरके उक्त वचनोंको सुनकर मेघकुमारके नेत्र खुल गये। उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो गयी। उनकी वाणीने मेघकुमारके भीतर अमृत-रस घोल दिया और वे मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे।

इन्द्रभूति पुनः कहने लगे—"वत्स ! तुम नहीं जानते कि तुम कौन हो ? क्या थे ? पर मैं तुम्हारी पूर्वपर्यायोंको भलीभाँति जानता हूँ। आजसे तीसरे भवमें तुम एक हाथी थे।

एक दिन सहसा आकाशमें बादल छा गये। बड़े जोरका तूफान आया। धरती-आकाश सभी कुछ धूलसे भर गये। चारों ओर अन्धेरा छा गया। जीव-जन्तु व्याकुल होकर इधर-उधर भागने लगे। तुम्हें भी अपने प्राणोंकी चिन्ता हुई। तुम भी उस अन्धेरेमें भाग खड़े हुए। कहाँ जा रहे थे, कुछ पता नहीं, यतः सभी दिशाएँ तिमिराच्छन्न थीं। हाथों-हाथ दिखलायी नहीं पड़ता था।"

"आखिर तुम एक दल-दलमें जा फँसे। तुमने उस दलदलसे बाहर निकलनेका अथक प्रयत्न किया, पर तुम निकल न सके। अब वर्षा बन्द हो गयी, बादल छूट गये और आँधी शांत हो गयी, तब दिशाएँ स्वच्छ हुईं। अब तुम्हें ज्ञान हुआ कि तुम बड़ी कठिनाईमें फँस गये हो। यहाँ उद्धार होना भी सम्भव नहीं। वनके हिंसक जीव-जन्तुओंने जब तुम्हें दल-दलमें फँसा हुआ निस्सहाय देखा, तो वे तुम्हारे ऊपर टूट पड़े। तुम्हारा सारा शरीर उन्होंने नख और दाँतोंसे क्षत-विक्षत करदिया। तुमने प्राणोंका त्याग किया और यह दुर्भावना उत्पन्न की कि इन शत्रुओंसे प्रतिशोध लिया जाय। इस निदानके फलस्वरूप तुम पुनः विन्ध्याचलपर्वतपर हाथीके रूपमें उत्पन्न हुए।"

"तुम्हारा शरीर भारी-भरकम था। तुम्हारे पदाघातसे धरती काँपती थी। वनके बड़े-बड़े हिंसक जीव-जन्तु भी तुम्हें देखते ही भयभीत हो जाते थे और तुम्हारा मार्ग छोड़कर एक ओर खड़े हो जाते थे। एक दिन तुम पुनः महा-विपत्तिके आवर्तमें फँस गये। उस वनमें भीषण दावाग्नि लग गयी। पेड़-पौधे जलकर भस्म होने लगे। वनके साथ-साथ सहस्रों जीव-जन्तु भी समाप्त होने लगे।"

"दावाग्निके कारण वनके जीव-जन्तु अपनी रक्षाके लिए सुरक्षित स्थान ढूँढ़ने लगे। तुम भी प्राणभयसे भागकर एक सुरक्षित स्थानपर खड़े हो गये। यह स्थान तुमने पहलेसे ही निरापद बनाया था। यहाँके पेड़-पौधे उखाड़कर सूँड़से जल छींटकर चौरस बना दिया था। अतः दावाग्निका प्रभाव इस स्थान-पर नहीं था। यहाँ पर बहुतसे पशु पहलेसे ही एकत्र थे। इस समय सभी पारस्परिक वैर-विरोध भाव छोड़कर अपने-अपने प्राण बचानेके लिए उपस्थित थे।"

"तुम भी उस निरापद स्थानपर पहुँचकर एक ओर खड़े हो गये। वनके लघुकाय जीव तुम्हारे विशाल शरीरको आश्चर्यके साथ देख रहे थे। तुम हिमा-लयके द्रहके समान खड़े हुए थे। तुम्हें देखकर भी वे प्राणी भयभीत नहीं हुए और न तुम्हारे मनमें ही अहंकार उत्पन्न हुआ। यतः उस समय सभीकी स्थिति समान थी।"

"अग्निदाहके कारण सहसा तुम्हारे एक पैरमें खाज पैदा हो उठी और तुम झुककर दूसरे पैरको खुजलाने लगे। जब खुजला चुके, तो फिर उठे हुए पैरको धरती पर रखने लगे, तो देखा कि एक खरगोशका छोटा-सा बच्चा तुम्हारे पैर-की भूमिपर स्थित है। यदि इस समय तुम पृथवीपर पैर रख देते, तो निश्चय ही उस निरीह खरगोशका प्राणान्त हो जाता।"

वह काँप रहा था, भयभीत दृष्टिसे इधर-उधर देख रहा था। उसे देखकर तुम्हारे मनमें दया उत्पन्न हो गयी, अतः तुम धरतीपर अपना पैर न रख सके और तूफान शान्त होने तक अपने पैरको ऊपर उठाकर तीन पैरोंपर ही खड़े रहे। दावाग्निके शान्त होनेपर जब बनके जीव-जन्तु अपने-अपने स्थानपर चले गये, तो उनके साथ ही वह खरगोशका बच्चा भी चला गया। अब तुमने अपने पैरको धरतीपर रखा। बहुत समय तक तीन पैरोंसे खड़े रहनेके कारण तुम्हारे अंग जकड़ उठे। समस्त शरीरमें पीड़ा हो रही थी और अब खड़ा रहना भी सम्भव नहीं था। अतः तुम गिर पड़े और तुम्हारा प्राणान्त हो गया।"

"मृत्युके समय तुम्हारे परिणाम शान्त थे और तुम आत्म-चिन्तनमें लीन थे, अतः तुम्हें यह मनुष्य-पर्याय प्राप्त हुई। पशु-योनिमें खरगोश-शिशुके प्रति कष्ट उठाकर तुमने दया प्रदर्शित की थी, अतएव तुम्हें राजकुमारका पद प्राप्त हुआ तथा तुम्हारे हृदयमें उज्ज्वल भावनाएँ उत्पन्न हुई।"

अब तुम कल्याण-मार्गके निकट आकर क्यों पीछेकी ओर मुड़ना चाहते हो? पशुयोनिमें तुमने जो समभाव रखा और खरगोशके शिशुके प्रति जो दया दिखलायी, उससे तुम्हें यह फल प्राप्त हुआ। तुम्हारा नाम मेघ है, जिस प्रकार मेघ समानरूपसे बिना किसी भेदभावके जलको वर्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम्हें भी सभीको समान समझना चाहिए। इस विश्वमें न कोई प्राणी बड़ा है और न कोई छोटा। ऊँच-नीच, उन्नत-अवनत, छोटे-बड़े सभी अपने-अपने कर्मोंसे ही बनते हैं। अतः सत्कर्मोंके प्रति अनुराग रखना आवश्यक है।"

"देवानुप्रिय! तुम संयमके महत्त्वको समझ गये होगे। भवरोगोंसेछूटनेके लिए संयम ही संजीवनी-बूटी है। जिस व्यक्तिने अपने जीवनमें संयमका अव-लंबन ग्रहण कर लिया है, वह नियमतः इस भव-बन्धनसे छुटकारा प्राप्त कर लेता है।"

मान-अपमान, आपत्ति-विपत्तिसे भयभीत होना तो कायरपुरुषोंका कर्म है। जो क्षात्रतेजसे सम्पन्न हैं, वे कभी किसी भी सांसारिक बातसे घबड़ाते नहीं। जीवनका लक्ष्य त्याग है, भोग नहीं। भोग तो अनादिकालसे प्राप्त होते

आ रहे हैं, पर उनसे कभी तृप्ति नहीं हुई। अतः तुम अपनी महत्ताको समझ-कर शाश्वत सत्यको प्राप्त करनेका प्रयास करो।"

मेघकुमारके ज्ञान-चक्षु उद्घाटित हो गये। उसे अपनी पूर्वभवावली स्मृत हो गयी। जातिस्मरणके कारण उसका चंचल मन स्थिर हो गया। वह सोचने लगा—"जो मानव सच्चे मनसे धर्माचरण करता है, अपने भीतरकी विकृतियों-पर विजय प्राप्त कर लेता है, अपने सोये हुए दिव्य भावको जगा लेता है, वह स्वर्गके देवताओंके द्वारा भी वन्दनीय हो जाता है। अहिंसा, संयम और तपकी ज्योति ही जीवनको आलोकित कर सकती है। निस्सन्देह भोगसे त्याग परा-जित नहीं होता, त्यागसे ही भोग पराजित होते हैं।"

इस प्रकार स्थिर विचार होकर मेघकुमारने तीर्थंकर महावीरके पादमूलमें रहकर आत्म-साधना की और कर्म-कालिमाको नष्ट कर निर्वाण-लाभ किया। महावीरके सान्निध्यसे अनेक भव्य-जीवोंने अपने भीतर ज्ञान-दीप प्रज्वलित किया।

वारिषेण : सौरभ

तीर्थंकर महावीरके उपदेशसे कल्याण करनेवालोंमें वारिषेणकी भी गणना है। वारिषेण थे तो राजकुमार, पर श्रद्धा और विवेकमें वे बहुत आगे थे। सम्राट् श्रेणिक इनके पिता और महारानी चेलना इनकी माता थीं। ये अत्यन्त गुणी और सम्यग्दृष्टि थे। निःशंक होकर व्रत-उपवासमें रत रहते थे। ये लौकिक कार्योंसे दूर और आत्म-चिन्तनमें समय यापन करते थे।

चतुर्दशीको श्याम रात्रि थी। चारों ओर घना अन्धकार आच्छादित था। वारिषेण उपवास ग्रहण कर श्मशानमें सामायिक करनेके लिये इसी काली रात्रि-में पहुँच गये और एकान्त स्थानपर बैठकर आत्म-ध्यानमें लीन हो गये।

इसी रात्रिमें नगरमें ऐसी घटना घटित हुई, जिससे वारिषेणकी जीवनधारा ही परिवर्तित हो गयी। बात यह हुई कि नगरमें विद्युत नामका चोर रहता था। विद्युतकी एक प्रेमिका थी—वारवधू। विद्युत उसे हृदयसे प्रेम करता था। वह जो कुछ कहती, विद्युत प्राण देकर भी, उसे पूर्ण करनेका प्रयत्न करता था।

संयोगकी बात, उस दिन रातमें जब वारवधूके घर गया, तो वह हाव-भाव प्रकट करती हुई कहने लगी—"यदि तुम मुझसे सच्चा प्यार करते हो, तो आज ही महारानी चेलनाका रत्नजटित स्वर्णहार चुराकर मेरे लिये ला दो। उस हारके विना मेरा गला सूना है।"

महारानीका स्वर्णहार ! विद्युतके शरीरसे पसीना निकलने लगा। स्वर्ण-हारको चुराकर लाना असम्भव है। राजभवनमें दिन-रात संतरियों और सिपा-

हियोंका पहरा रहता है। संतरियों और सिपाहियोंकी आँख बचाकर वह राजभवनमें कैसे प्रवेश कर सकेगा ? यदि कहीं वह पकड़ा गया, तो अवश्य ही उसे प्राण-दण्ड प्राप्त होगा।

विद्युतके प्राण काँप उठे। उसने वारवधूको बहुत समझाया कि वह उसके लिये अच्छे-से-अच्छा हीरक-जटित स्वर्णहार ला देगा। महारानीके स्वर्णहारका हठ वह छोड़ दे। पर वारवधू उसकी बातको स्वीकार ही नहीं करती। उसने स्पष्ट कह दिया कि यदि वह महारानीका स्वर्णहार लाकर न देगा, तो वह उससे अपना संबन्ध तोड़ लेगी।

विद्युत हर मूल्यपर वारवधूको प्रसन्न रखना चाहता था। वह उसके लिये संभव-असंभव सब कुछ करनेको तैयार था। आखिर वह प्राण हथेलीपर रख-कर राजभवनकी ओर चल पड़ा। रात्रिका समय था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। विद्युत बड़े साहस और कौशलके साथ राजभवनमें प्रविष्ट हुआ। वह धीरे-धीरे महारानीके कमरेमें घुसा और स्वर्णहार लेकर राजभवनसे बाहर निकल गया। राजपथपर उसे जाते हुए नगर-कोतवालने देख लिया। हारकी चमक-दमकने विद्युतको आलोकित कर रखा था। अतः नगर-कोतवालने उसे डपटते हुए कहा—"खड़ा रह, कहाँ जा रहा है, तेरे हाथमें क्या है ?"

विद्युतने सोचा कि कोतवालने महारानीका स्वर्णहार देख लिया है। अतः वह भाग खड़ा हुआ। कोतवालने सिपाहियों सहित चोरका पीछा किया। विद्युत भागता-भागता श्मशानमें पहुँचा और ध्यानमें लीन वारिषेणके पास स्वर्णहार फेंककर चलता बना। नगर-कोतवाल भी कुछ क्षणोंके पश्चात् वारिषेणके पास जा पहुँचा। वारिषेण ध्यानमें मग्न थे और स्वर्णहार उनके पास पड़ा हुआ था। कोतवालने स्वर्णहार उठा लिया और साथमें वारिषेणको भी वन्दी बना लिया। कोतवाल सोचने लगा—"अवश्य ही इसने स्वर्णहार चुराया है और अपनी चोरीको छिपाने लिये तपस्याका ढोंग रचे हुए है। चोर अनेक प्रकारके अभिनय करते हैं। यह भी इसी कोटिका चोर है।"

नगर-कोतवालने स्वर्णहारके साथ वारिषेणको न्यायालयमें उपस्थित किया। श्रेणिक बिम्बसार स्वयं न्यायके आसनपर विराजमान थे। महारानी चेलनाके स्वर्णहारके चोरके रूपमें अपने पुत्र वारिषेणको देखकर वे विचारमग्न हो उठे। क्या यह संभव हो सकता है कि वारिषेण जैसा निर्लिप्त राजकुमार अपनी माताके ही स्वर्णहारकी चोरी करेगा ? कुमार वारिषेणकी यह प्रवृत्ति तो रही नहीं, पर जितनी गवाहियाँ वहाँ प्रस्तुत की गयीं, वे सब वारिषेणके विरुद्धमें थीं। सभी प्रमाणों और साक्षियोंसे यही सिद्ध होता था कि वारिषेणने ही स्वर्ण-

हार चुराया है। फलतः श्रेणिक बिम्बसारने विवश होकर वारिषेणको अपराधी घोषित किया और उसे मृत्यु-दण्डकी आज्ञा दी।

चाण्डाल वारिषेणको लेकर श्मशान-भूमिमें पहुँचे और उसे बधस्थलपर खड़ा करके उसपर शस्त्र-प्रहार करना चाहा। पर यह क्या, चाण्डलोंके शस्त्र ही नहीं उठ रहे थे। उन्होंने अनेक प्रयत्न किये, पर वे सभी विफल रहे। सहसा वारिषेणपर अकाशसे पुष्पवर्षा होने लगी। चारों ओर यह वृत्तान्त बिजलीकी शक्तिके समान व्याप्त हो गया। जनताके झुण्ड-के-झुण्ड वारिषेणके दर्शनार्थ उमड़ पड़े। श्रेणिक बिम्बसार भी रानी चेलना सहित वहाँ उपस्थित हुए और कहने लगे—"वत्स ! मैं पहले ही यह जानता था कि तुम निरपराध हो, पर मैं क्या करता ? मैं न्यायके आसनपर था और था अपने कर्त्तव्यसे विवश। भूल जाओ पिछली बातोंको। अब चलो, घर लौट चलो। यह तुम्हारे सत्यकी विजय है।"

वारिषेण लौटकर घर न गया। उसने उत्तर दिया—"घर ? कौन-सा घर ? मेरा कोई घर नहीं। न मैं किसीका पुत्र हूँ और न मेरा कोई पिता है। ये लौकिक सम्बन्ध हैं। यह समस्त जगत-प्रपंच है। सब कुछ नश्वर है। मैं सब कुछ त्यागकर तीर्थंकर महावीरकी शरणमें जाऊँगा और मुनिजीवन व्यतीत करूँगा।"

वारिषेणके उक्त विचारोंको सुनकर श्रेणिक बिम्बसार अत्यन्त प्रसन्न हुए। महारानी चेलना और बिम्बसार दोनोंने ही पुत्रको दीक्षा-ग्रहण करनेकी अनुमति दे दी। वारिषेण तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें आया और इन्द्रभूति गौतम गणधरको अपने मुनि बननेकी इच्छा प्रकट की। वारिषेणका धर्म-सौरभ महावीरके पादपद्मोंमें विकसित हुआ।

जिस प्रकार पावस-कालमें मेघ-पटल जलकी वर्षा करते हैं, उसीप्रकार तीर्थंकर महावीरकी वाणीकी अमृत-वर्षा भी होती थी और त्रस्त भव्य जीव इस वाणीका पानकर आनन्दानुभव प्राप्त करते थे। धर्मदेशनाके श्रवणसे परिणामोंके परिवर्तनमें विलम्ब नहीं होता था। जो भी तीर्थंकर वाणीका श्रवण करते वे व्रत-उपवास ग्रहणकर आत्म-कल्याणमें प्रवृत्त हो जाते। वारिषेण भी तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कसे आत्म-साधक बन गये।

पुरानी स्मृतियाँ : नयी व्याख्याएँ

एक दिन वारिषेण चर्याके हेतु पोलासपुरकी ओर जा रहे थे कि उन्हें राजमंत्रीका पुत्र सोमदत्त, जो उनका बालसखा था, मिला। मुनि वारिषेणको

देखकर उसका सखाभाव जागृत हो उठा। उसने बड़े भक्ति-भावपूर्वक उन्हें आहार दिया। वारिषेणने भी मित्रका सच्चा हित साधा। उनके उपदेशसे वह साधु हो गया। सोमदत्त मुनि तो बन गया और दिगम्बर-दीक्षा भी उसने ग्रहण कर ली, पर उसका मन ममतामें फँसा रहा। वह बोला—"मित्र! स्मरण है यह लता-कुंज, जहाँ हम और आप मिलकर केलि करते थे। मधुर-संगीत आलाप कर आनन्द-विभोर हो जाते थे। क्या महावीरके संघमें केलि-क्रीड़ा-जन्य आनन्द है?"

वारिषेण मुस्कुराकर कहने लगे—"सोमदत्त! यह तो तुम अभी कलकी बात कह रहे हो। पर याद करो, न जाने कितने अनन्त जन्मोंमें श्रोत्र-इन्द्रियको प्रिय लगनेवाली संगीत-लहरी हमने-तुमने सुनी होगी। क्या उससे तृप्ति हुई? नहीं, उसको सुननेसे ही केवल तृष्णा बढ़ी है। आशा और तृष्णा ही तो संसार-परिभ्रमणका कारण है। इन्हींसे मन दूषित होता है और दूषित वस्तुमें आनन्द कहाँ?"

"महावीरका सघ कल्याण-धाम है, शान्ति-निकेतन है और है जन्म-मरणकी परम्परासे छुड़ानेका साधन। वे दोनों मुनि तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें लौट आये। सोमदत्तका मन पवित्र हो गया। उसके विकार क्षीण होने लगे, मोह गलने लगा और आत्म-शान्तिकी प्रतीति होने लगी। वह सोचने लगा—वारिषेणका कथन यथार्थ था। वीरप्रभुकी निकटता संसार-तापको दूर करने-वाली है।"

"दोनों मुनियोंने बड़े भक्ति-भावसे तीर्थंकर महावीरकी वन्दना, स्तुति की और संघके समस्त साधुओंको 'नमोस्तु' किया। वारिषेण अपने योग्य आसन-पर आसीन हुए और सोमदत्त भी उनके पास ही बैठ गया। एक वरिष्ठ साधुने सोमदत्तको सम्बोधित करते हुए कहा—"तुम बड़े पुण्यात्मा और विशुद्धहृदय हो, जो तुम्हें तीर्थंकर महावीरका समवशरण प्राप्त हुआ। महती तपस्या करनेकी तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो!"

"पार्श्वमें स्थित एक अन्य साधुको यह कथन असह्य प्रतीत हुआ। अतः वह क्रुद्ध होकर कहने लगा—"यह मूढ़ क्या तपस्या करेगा? इसे आगमका सामान्य ज्ञान भी नहीं है। यह तो अपनी काली-कलूटी स्त्रीकी यादमें दुबला होता जा रहा है। विषय-वासनाओंके विकारका त्याग किये बिना कोई साधु नहीं हो सकता है। जिस प्रकार केंचुलका त्यागकर देनेपर भी विष-विकारके अस्तित्वके कारण सर्प शान्त नहीं माना जा सकता है, उसी प्रकार बहिरंग परिग्रहका त्याग कर देनेपर भी अन्तरंग विकारोंके सद्भावके कारण कोई

मुनि नहीं माना जा सकता है।" इसी बीच कहींसे किन्नर-किन्नरीकी गीत ध्वनि सुनायी पड़ी, जिससे सोमदत्तका मन चंचल हो उठा और उसे रह-रहकर अपनी पत्नीकी याद सताने लगी। राग और मोहने उसके विवेकको अन्धा बना दिया। घर जानेके लिये उसका मन मचल उठा।

वारिषेणने जब सोमदत्तको विह्वल देखा, तो उसने उसे रोका नहीं। बल्कि कहा—"सोमदत्त! घर जाना चाहते हो, तो चलो, पर पहले हमारे घर होकर, तुम्हें अपने घर जाना होगा। सोमदत्तने वारिषेणकी बात स्वीकार कर ली। राजप्रासादमें दोनों मुनि पहुँचे। महारानी चेलना मुनियों को आया हुआ जानकर आश्चर्य चकित हुई। यतः दिगम्बर मुनि आहार-बेलाके अतिरिक्त किसी भी गृहस्थके घर नहीं जाते। परीक्षाके लिये चेलनाने दो आसन बिछाये—एक प्रासुक और दूसरा रत्न-जटित। वारिषेण प्रासुक आसनपर स्थित हो गये, पर सोमदत्तके पास यह विवेक नहीं था। अतः वह रत्नजटित आसन-पर स्थित हो गया। अनन्तर वारिषेणने कहा—"माँ! हमारी पत्नियोंको शृंगार करके यहाँ बुलाइये।" चेलनाने हाँ तो किया, परन्तु उसका हृदय सशंक हो धड़कने लगा—क्या उसका पुत्र मुनिधर्मसे पतित हो रहा है?

चेलनाने धर्ममें दृढ़ करनेके हेतु वारिषेणको धर्म-कथा सुनायी। वह कहने लगी—"सुभद्रा ग्वालिनका पुत्र सुभद्र था। वह गाय चराकर अपनी आजीविका सम्पन्न करता था। एक दिन उसके साथी ग्वालोंने उसे खीर खिलायी। सुभद्र-को यह खीर बहुत अच्छी लगी। उसने घर आकर अपनी माँसे आग्रह किया कि मैं खीर अवश्य खाऊँगा। गरीब माँने पुत्रके दुराग्रहको पूरा करनेके लिये इधर-उधरसे सामान एकत्र किया और खीर बनायी। रसनालोलुपी सुभद्रने खूब खीर खायी और इतनी अधिक खायी, जिससे उसे वमन होने लगा। वह खीर खाता जाता और वमन करता जाता था। जब खीर समाप्त हो गयी और माँके पास खिलानेके लिये अवशिष्ट न रही, तो वमन की गयी खीरको ही उसके सामने रख दिया। रसना-लम्पटीने उसे भी खा लिया। मुनिवर! क्या सुभद्रने यह ठीक किया?"

वारिषेण चेलनाके अभिप्रायको समझ गया। उसकी धार्मिकता और विनय-भावनासे प्रसन्न होकर वारिषेण कहने लगा—"उज्जयिनीमें वसुपाल राजा रहता था और वसुमती नामकी उसकी रानी थी। दोनोंमें प्रगाढ़ प्रेम था। एक दिन रानीको सर्पने डंस लिया। मंत्रवादी बुलाये गये। एक मंत्रवादीने उस सर्पको बुला लिया, जिसने रानीको डंसा था। परन्तु वह सर्प इतना क्रोधी था कि उसने रानीको निर्विष नहीं किया। उसने स्वयं अग्निमें जल मरना उचित

समझा। अब विचार कीजिये कि उस सर्पका हठ कहाँ तक उचित था ? धर्म-पालनके लिये दृढ़ता दिखलाना तो उचित है, पर विकारोंकी वृद्धिके लिये हठ करना कहाँ तक उचित है ?"

महारानी चेलना और वारिषेणका कथा-प्रसंग चल रहा था; इसी समय अन्तःपुरसे श्रृंगार किये हुए वारिषेणकी सभी पत्नियाँ आ गयीं। वे अनुपम सुन्दरी थीं। पति-आगमनकी प्रसन्नताने उनके सौन्दर्यको कई गुणा विकसित कर दिया था। वे आयीं और नमस्कार कर बैठ गयीं। वारिषेणने सोमदत्तसे कहा—"मित्र देखते हो, ये रमणियाँ कैसी सुन्दर हैं ? ये तुम्हारी पत्नीसे अधिक सुन्दर हैं या नहीं ? यदि प्रणय वासना जागृत हो गयी है, तो इन्हींके साथ रमणकर तुम अपने कषायभावको शान्त करो। घर जाकर क्या करोगे ? इतनी सौन्दर्य-राशि तुम्हें घरमें नहीं मिल सकती है।" वारिषेणका तीर काम कर गया। सोमदत्तके पैरों तलेसे धरती खिसकने लगी। वह लज्जा और पश्चात्तापसे गलने लगा। वारिषेणके त्यागने उसके विवेक-नेत्रोंको खोल दिया। वह बोला—"आप धन्य हैं। आपका धैर्य और त्याग श्रेष्ठ है। आप सत्यवीर हैं, शीलसम्पन्न हैं और हैं इन्द्रियजयी। आप जैसे मित्रने आज मेरे हृदयके कपाट खोल दिये हैं। मेरी ममता-मूर्च्छा गल गयी और मेरा मिथ्यात्व नष्ट हो गया। अब मुझे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो गयी है। मेरा चंचल मन स्थिर हो गया है। अब आप शीघ्र ही यहाँसे चलिये। एक क्षण भी यहाँ ठहरना कठिन है।"

दोनों मुनि तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें आये और वहाँ उन्होंने वारिषेणके स्थितिकरणकी कथा सुनी। नवदीक्षित मुनि सोमदत्त अपना विवेक खो बैठे, यह कोई नयी बात नहीं। इन्द्रियोंके विषय इन्द्रायनफल जैसे सुन्दर और मोहक होते हैं। परन्तु उनका परिपाक कटु होता है। मूढ़बुद्धि तत्त्वको नहीं पहचान पाता है और विषयोंमें आसक्त हो जाता है। वारिषेणने धर्मका आदर्श रूप उपस्थित किया है। उन्होंने गिरतेको गिरनेसे रोका है और गिरे हुएको उठाया है। यही सम्यक्‌दृष्टिका लक्षण है। स्थितिकरण और उपबृंहण सम्यक्त्वके अंग हैं। सम्यक्‌दृष्टि पापसे घृणा करता है, पापीसे नहीं। उसके हृदयमें साधर्मीके प्रति अपार वात्सल्य रहता है। लोक-कल्याणकी भावना भी उसीमें रह सकती है, जिसका हृदय उदार और विशाल है।

सोमदत्तने गुरुदेवसे प्रायश्चित्त ग्रहण किया और मुनिधर्मके पालन करनेमें वह दृढ़ हो गया।

तीर्थंकर महावीरके समवशरणने अनेक राजा-महाराजा और सम्भ्रान्त

व्यक्तियोंको प्रभावित किया। जो भी उनके समवशरणमें सम्मिलित होता, वही उनसे प्रभावित हो जाता। उनका यह समवशरण विहार और मगधके विभिन्न प्रदेशोंमें परिभ्रमण करता रहा। तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिने लोक-हृदयको एक अपूर्व दिव्यता प्रदान की और जन-जनके ज्ञानचक्षु खोल दिये। अज्ञानके बादल फट गये और ज्ञानका सूर्योदय हो गया। रुढ़ियाँ, दुराग्रह एवं हठवादिता समाप्त होने लगी। इनके समवशरणके प्रभावसे संघर्ष समाप्त हुए और शान्तिकी जलधारा प्रवाहित हुई।

अभयकुमार

अभयकुमार अपने बुद्धिकौशलके कारण अपूर्व ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनका प्रत्युत्पन्नमतित्व अनुपम था। बड़ी-से-बड़ी समस्याओंका समाधान चुटकियोंमें कर दिया करते थे। ये शान्तप्रकृतिके तो थे ही, पर एकान्तप्रिय भी थे। ये निरन्तर चिन्तनमें ही लगे रहते थे और गूढ तत्त्व-चर्चायें भी किया करते थे। तत्त्व-सम्बन्धी बड़ी-से-बड़ी शंकाएँ तत्त्वजिज्ञासु उनसे करते और बातों-ही-बातोंमें उनका समाधान कर देते थे। मेधावी अभयकुमार संसारकी स्वार्थपरताओं और छल-छिद्रोंसे ऊब गये थे तथा शान्तिका मार्ग प्राप्त करनेके लिए सचेष्ट थे। रोहा चोरके हृदय-परिवर्तनकी घटनाका प्रभाव उनके हृदयपर बहुत गहरा पड़ा था और ये सत्योपलब्धिके लिए सचेष्ट थे।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण विपुलाचलसे इधर-उधर ग्राम और नगरोंमें हुआ करता था। यह एक प्रकारसे चलता-फिरता विश्वविद्यालय था और जहाँ भी होता, जनकल्याणका अमृतवर्षण करता। समवशरणके प्रभावसे चारों ओर बहुत दूर तक करुणा और मैत्रीकी दुन्दुभि बजने लगी। लोकमानस उनके अभिनन्दनके लिए पलक पाँवड़े बिछाने लगा। भारतकी अन्तरात्मा निर्मल हो गयी। इतिहासका कालुष्य धुल गया और उज्ज्वलताकी लेखनी द्वारा अहिंसा एवं सत्यके पृष्ठोंपर भारतका नया इतिहास लिखा जाने लगा।

महावीरका समवशरण पुनः तीसरी बार राजगृहमें अनुमानतः ई० पू० ५३०-३२ में हुआ तथा उनके उपदेशामृतकी चर्चा सर्वत्र व्याप्त हो गयी। जनसाधारणके साथ सेठ, साहूकार और सामन्त भी समवशरण-सभामें सम्मिलित होने लगे।

अभयकुमार भी समवशरणमें दिव्यध्वनि सुननेके लिए उपस्थित हुआ। वे विरक्त तो पहलेसे ही थे, पर तीर्थंकर महावीरके वीतराग प्रवचनको सुनकर उनका वैराग्य कई गुना बढ़ गया। वे सोचने लगे—"मनुष्य जीवनकी उपयोगिता

इसी बातमें है कि इसे प्राप्त कर जन्म-मरणसे छुटकारा प्राप्त किया जाये। मानव-जीवन दुर्लभ है, अनुपम है और है यह मूल्यवान पर्याय। तीर्थंकरके पादमूलको प्राप्तकर भी यदि इस जीवनमें साधना नहीं की गई, तो फिर शायद ही कभी अवसर प्राप्त होगा। जो व्यक्ति वासनासक्त है, वह अपने स्वरूपको नहीं समझ सकता है। उसे आत्मबोध और आत्मविवेक प्राप्त होना कठिन है। अतएव मुझे क्रोध, मान, माया, आदि विकारोंको जीतनेके लिए सचेष्ट होना चाहिए।"

अभयकुमारने संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हो दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिए प्रभुके चरणोंमें प्रार्थना की। महावीरने अभयके पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त प्रकटकर उसके हृदयकी गाँठ खोल दी। उन्होंने बतलाया:—"अभय पूर्व जन्ममें एक ब्राह्मण-पुत्र था, वेदाध्ययनकी ओर उसकी विशेष रुचि थी; पर विद्वान् होनेपर भी वह मूढ़ताओंमें आबद्ध था। उसकी मिथ्याभिरुचि उसे पथभ्रष्ट कर रही थी।"

"पाँच मूढ़ताएँ प्रमुख थी :—

(१) पाखण्ड मूढ़ता।

(२) देवमूढ़ता—सभी प्रकारके देवोंमें अन्धविश्वास।

(३) तीर्थमूढ़ता—तीर्थोंमें अन्धभक्ति।

(४) जाति-बन्धन।

(५) क्रियाकाण्ड एवं हिंसकधर्ममें विश्वास।"

"इन मूढ़ताओंमें जकड़े हुए इस ब्राह्मण-पुत्रका एक श्रावकसे साक्षात्कार हुआ। श्रावकने उसे सत्यज्ञानका उपदेश दिया। बतलाया कि मनुष्य अपने सत्कर्मसे ही उन्नत होता है। अतः सत्कर्म ही पूजा है, सत्कर्म ही तीर्थ और सत्कर्म ही महान् है। सत्कर्म वही है, जो जगत्के समस्त प्राणियोंको सुख और शान्ति प्रदान कर सके। जातिवाद अतात्त्विक है। संसारके सभी मनुष्य समान हैं, न कोई छोटा और न कोई बड़ा है। मनुष्यकी श्रेष्ठता आचारमूलक है। जिस व्यक्तिका अहिंसामूलक आचार रहता है, वही व्यक्ति अपना और संसारका हित-साधन करता है।"

"श्रावकके उक्त उपदेशसे ब्राह्मण-पुत्र प्रभावित हुआ और वह अहिंसाके आचरणमें संलग्न हो गया। मृत्युके पश्चात् सत्कार्योंके परिणामस्वरूप उसने राजाके यहाँ जन्म ग्रहण किया और राजकुमार-पद प्राप्त किया। यह राजकुमार ही अभयके रूपमें उपस्थित है।"

अभयकुमार अपने पूर्वजन्मके वृतान्तको सुनकर अधिक प्रभावित हुआ।

उसके मनमें उत्पन्न हुई विरक्ति और सबल हो गयी। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये लालायित हो गया। उसका मन आत्म-निष्ठासे भर गया तथा उसकी दृष्टि निर्मल और उज्ज्वल हो गयी। अतः उसने प्रार्थना की--"प्रभो! मुझे दीक्षा देकर आत्म-साधनाका अवसर दीजिये।"

इन्द्रभूति गौतम गणधरने अभयकुमारको सम्बोधित करते हुए कहा—"तुम्हारी तभी दिगम्बर-दीक्षा हो सकती है, जब तुम अपने माता-पिताकी अनुमति प्राप्त कर लो। यतः तुम राज्यके एक उत्तरदायी पदपर प्रतिष्ठित हो।"

अभयकुमार गौतम गणधरके अदेशानुसार अपने पितासे अनुमति प्राप्त करनेके लिए राजसभामें उपस्थित हुआ। उसने सिंहासनासीन श्रेणिकको बड़ी श्रद्धासे प्रणाम किया। अपनी इच्छा पिताके सम्मुख व्यक्त करनेके पूर्व भूमिकाके रूपमें तत्त्वोंका विवेचन किया। उसके सारगर्भित विवेचनको सुनकर श्रेणिक और राजसभाके अनेक विद्वान् आश्चर्य चकित हो गये।

अभयकुमारने अपनी भूमिका समाप्त करनेके अनन्तर अपना मन्तव्य भी पिताके समक्ष प्रस्तुत किया। उसने विनीत शब्दोंमें निवेदन किया—"पूज्यवर तात! संसारके ये विषय-सुख मुझे नीरस प्रतीत हो रहे हैं। राजनीतिक दाँव-पेंच और षड्यन्त्र मुझे अब नागफनी जैसे प्रतीत हो रहे हैं। मेरी अन्तरात्मा ज्ञानज्योतिसे आलोकित हो गयी है। अतएव अब मैं दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर महावीरके संघमें सम्मिलित हो आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।"

अभयकुमारके उक्त विचारोंको सुनकर सम्राट् श्रेणिक स्तब्ध हो गये। वे नहीं चाहते थे कि अभयकुमार घर-द्वार, राज्य, धन, दौलत आदि छोड़कर मुनिपद ग्रहण करे। वह अभयकुमारको समझाते हुए कहने लगे—"वत्स! मगधका यह विशाल राज्य तुम्हारे बुद्धिकौशलसे ही चल रहा है। तुम्हारे कारण राज्यकी सीमाका विस्तार हुआ है और कई राजाओंने अधीनता प्राप्त की है अभी तुम्हारी वय ही क्या है? दीक्षाके लिये अवसर आने दीजिये, तब दीक्षा-ग्रहण करनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं है। अभी मेरा मन तुम्हें अनुमति देनेके लिये तैयार नहीं हैं।"

अभयकुमार—"तात! अब सत्कर्ममें मुझे रस आ गया है, आनन्दकी उपलब्धि हो गयी है और संसारके विषय-सुख नीरस प्रतीत हो रहे हैं। अतएव दीक्षा ग्रहण करनेके लिये अवश्य अनुमति दीजिये।"

श्रेणिकने जब अभयकुमारका दृढ़ निश्चय ज्ञात कर लिया, तो उन्हें अनु-

मति देनी पड़ी। अभयकुमारने अपनी मातासे भी अनुमति प्राप्त कर ली। अतः वह गौतम गणधरके निर्देशानुसार तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें पहुँचा और वहाँ दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रेणिक भी पुत्रके दीक्षित होनेसे प्रसन्न हुआ और उसने राजगृहमें उत्सव सम्पन्न किया।

अभयकुमारने दिगम्बर-दीक्षा धारण कर उग्र तप किया। उसने विकार और वासनाओंका निरोधकर कर्मोंकी निर्जरा की। साक्षात् तीर्थंकर महावीरका उपदेश श्रवणकर अभयकुमारने अपने कर्मोंकी अनन्तगुणी निर्जरा आरम्भ की। उन्होंने चार घातियाकर्मोंको नष्टकर वीतराग हो। अर्हन्तपद प्राप्त किया। समवशरणमें जीव और कर्मके सम्बन्धमें ज्ञात कर अपनेको शुद्ध-बुद्ध और ज्ञान-स्वरूप बनाया। ध्यानके प्रभावसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी उपलब्धि की। जो आत्मा बन्धका कर्त्ता है, वही आत्मा बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेवाला है। पर इस मुक्तिकी प्राप्ति तभी होती है, जब अपने भीतरके परमात्मासे साक्षात्कार हो जाता है। इस परमात्मा पदके प्राप्त होते ही आत्मा सुख-दुःख, पुण्य-पाप आदिसे मुक्त हो जाती है।

आर्यिका-संघकी प्रमुख आचार्या : चन्दना

महावीरके संघमें मुनि और श्रावकोंके साथ आर्यिका और श्राविकाओंके भी संघ थे। वीरसंघकी व्यवस्था महिलाओंके सहयोगके बिना सम्भव नहीं थी। महावीरके संघमें छत्तीस हजार आर्यिकाएँ और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। महाराज चेटककी पुत्री चन्दना कौशाम्बीमें व्रात्य जीवन व्यतीत कर रही थी और वह वीर-तीर्थप्रवर्त्तनकी आशा लगाये हुई थी। जब महावीरका धर्म-प्रवर्त्तन आरम्भ हुआ, तो चन्दना समवशरण-भूमिमें पहुँची और अनुरोध करने लगी—"स्त्री-पर्यायकी माया प्रसिद्ध है। इस मायाका विनाश आर्यिका बनकर साधनाद्वारा नारी भी कर सकती है। पुरुष-पर्याय हो या नारी-पर्याय, सभी बन्धन हैं। सोनेका बन्धन लोहेके बन्धनसे अच्छा नहीं हो सकता है। दोनों ही प्रकारके बन्धन व्यक्तिकी स्वतन्त्रतामें बाधक हैं। जो भव्य हैं, अपना और परका हित चाहते हैं, वे किसीसे द्वेष नहीं रखते, किसीको बुरा नहीं कहते। व्यक्तिके शुभ और अशुभ-संस्कार ही द्रष्टव्य हैं। अच्छे संस्कार उपादेय होते हैं और बुरे संस्कार हेय। जो व्यक्ति अपने संस्कारोंका निर्माण करता है, वही साधनाका अधिकारी बनता है।"

चन्दनाके अनुरोधका समर्थन इन्द्रभूति गौतमने भी किया और कहा—"संघका संचालन प्रमुख विदुषी आर्यिकाके अभावमें संभव नहीं है। अतः चन्दनाके विरक्त भावोंका समादर होना आवश्यक है।"

चन्दनाको आर्यिका-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति प्राप्त हो गयी। उसने

द्वादश अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन किया और पञ्चमुष्टि लोंचकर श्वेत शाटिका धारण की।

चन्दनाकी दीक्षा होते ही हर्ष-ध्वनि हुई और देवोंने भी इसका अनुमोदन किया। चन्दना तीर्थंकर महावीरके आर्यिका-संघकी गणिनी बन गयी।

चेलना : भक्ति और त्याग

वीरसंघकी साध्वी-रमणियोंमें चेलनाकी भी गणना की गयी है। इनका धर्माचरण दैनिक जीवनमें अनुस्यूत था। चेलनाने ही सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारको महावीरका अनुयायी बनाया था। इनका भवन मुनि और त्यागियोंकी चरण-रजसे पवित्र होता रहता था। यह चारों प्रकारका दान देती, देवार्चन करती और स्वाध्यायद्वारा अपने अन्तरंगको पावन बनाती। धर्ममार्गसे च्युत होनेवाले व्यक्तियोंके स्थितिकरणमें संलग्न रहती।

एक समयकी घटना है कि चेलना द्वारापेक्षण कर रही थी। सौभाग्यवश एक कृशकाय द्विमासोपवासी तपस्वी विशाख चर्याके लिए पधारे। रानीने भक्तिपूर्वक मुनिराजको पड़गाहा और आहार-दान देनेकी तैयारी करने लगी। इसी समय उसने देखा कि कोई अदृश्य शक्ति मुनिराजपर उपसर्ग कर रही है—उनका इन्द्रिय-वर्द्धन होता जा रहा है। यदि मुनिराज अपने इस इन्द्रिय-वर्द्धनका देखते तो अन्तराय मानकर विना आहार लिए लौट जाते। अतः चेलनाने मुनिराजका निरन्तराय आहार सम्पन्न करानेके हेतु ऐसा उपाय किया, जिससे मुनिराजको उक्त उपसर्गका अनुभव ही नहीं हुआ।

मुनिराज आहार-ग्रहणकर विपुलाचलपर्वतपर गये और ध्यानस्थ हो गये। उन्होंने शुक्लध्यान आरम्भ किया, जिससे घतियाकर्म नष्ट होने लगे। गुणस्थानारोहणके क्रमसे उन्होंने सयोगकेवली गुणस्थानमें पहुँचकर अनन्तचतुष्टयकी प्राप्ति की और केवलज्ञान उपलब्ध किया। सुर, असुर, नर, नारी, सभी केवलीकी वन्दनाके लिए आने लगे। चेलना भी वहाँ उपस्थित हुई और उसने केवलीसे उस परोक्ष उपसर्गका कारण पूछा।

केवली—"मुनि होनेके पहले मैं पाटलिपुत्रका राजकुमार था मेरा नाम विशाख था। मेरी पत्नी कनकश्री अत्यन्त रूप-लावण्ययुक्त थी। मेरा विवाह हुए अभी एक महीना भी नहीं हुआ था कि मैंने अपने बालसखा मुनिराज मुनिदत्तको देखा। वे अपनी चर्याके लिए भ्रमण कर रहे थे। मैंने भक्तिभावपूर्वक मुनिदत्तको आहार दिया। मुनिराजने मुझे संसारका स्वरूप बतलाया तथा आत्मोत्थानके लिए प्रेरणा दी। महाराजके उपदेशसे मुझे बड़ी शान्ति

मिली तथा मेरे मनमें संसारके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी। फलतः सर्वारम्भ-परिग्रहका त्यागकर मैं भी मुनि बन गया।"

"कनकश्रीको मेरा मुनि बनना अच्छा न लगा। अतः वह क्रोधावेशमें मुझे गालियाँ देने लगी तथा उसकी स्थिति उन्मत्त जैसी हो गयी और कुछ ही दिनोंमें उसका शरीर छूट गया। कनकश्री कुभावनाके प्रभावसे व्यन्तरी हुई। उसने विभंगावधिसे मेरे सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त की और प्रतिशोधके रूपमें उसने मेरी तपस्यामें विघ्न करना आरम्भ किया। मैं जब चर्याके लिए निकलता वह मेरी इन्द्रिय-वृद्धि कर देती, जिससे अन्तरायके कारण मैं विना आहार लिए ही लौट जाता। इस प्रकार अन्तराय होनेसे मैंने द्विमासोपवास ग्रहण किया। जब मैं चर्याके लिए राजगृहमें आया, तो कनकश्रीके जीव उस व्यन्तरीने पुनः अन्तराय उपस्थित करनेका प्रयास किया, किन्तु तुमने उस उपसर्गकी जानकारी मुझे नहीं होने दी। मैं तुम्हारे द्वारा शुद्धरूपसे दिये गये आहारको ग्रहण कर यहाँ आया और मुझे उत्कृष्ट ध्यानकी प्राप्ति हुई, जिसके फलस्वरूप केवलज्ञान मिला।"

हुआ आत्मोदय

चेलनाने उपगूहन अंगका पालनकर अपने सम्यक्त्वको दृढ़ किया। चेटककी पुत्री ज्येष्ठा आर्यिका बनकर धर्मसाधना कर रही थी और इनके पति सात्यकि भी मुनिपद ग्रहण कर आत्म-साधना कर रहे थे। चारित्रमोहोदयसे ये दोनों तपसे भ्रष्ट हुए। चेलनाने इनका स्थितिकरण कर इन्हें पुनः धर्माराधनमें प्रवृत्त किया और तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें इन्हें प्रविष्ट कराया। प्रायश्चित्त कर ये दोनों आर्यिका और मुनि व्रत पालन करनेमें दृढ़ हुए।

चेलना आर्यिका चन्दनाकी वन्दनाके लिए गयी। चन्दनाके धर्मोपदेश-का उसपर जादू जैसा प्रभाव पड़ा। फलतः उसके परिणाम भी विरक्तिसे आप्लावित हो गये। श्रेणिकके अभावके कारण उसका मन भी सांसारिक कार्योंमें नहीं लग रहा था। उसे संसारकी असारताकी अनुभूति हो गयी। फलतः चेलनाने भी चन्दनासे आर्यिका-दीक्षा धारण कर ली।

चेलना तीर्थंकर महावीरके संघमें रहकर आत्म-साधना करने लगी। वह स्त्री-पर्यायका छेदकर पुरुष-पर्याय द्वारा कैवल्य प्राप्तिके लिए सचेष्ट थी। तीर्थंकर महावीरके दर्शन-वन्दनसे चेलना और ज्येष्ठाका कल्याण हुआ।

अन्य अनेक राजाओंद्वारा महावीरकी भक्ति-वन्दना

तीर्थंकर महावीरकी वन्दना अनेक राजा-महाराजाओंने की और उनके

दर्शन-अर्चनसे अपनेको धन्य बनाया। वैशालीनरेश चेटक, मगधनरेश कुणिक अजातशत्रु, हस्तिशीर्षनरेश अदीनशत्रु, सौगन्धिका-नरेश अप्रतिहत, वाराणसी-नरेश जितशत्रु, सिन्धुसौवीर-नरेश उद्रामण, श्रावस्ती-नरेश जितशत्रु, चम्पा-नरेश दधिवाहन, उज्जयिनी-नरेश चण्डप्रद्योत एवं कौशाम्बी-नरेश शतानीक प्रसिद्ध हैं। इन सभी नरेशोंने तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें पहुँचकर शान्ति-लाभ किया था। देशनामें आत्मशुद्धिके हेतु कर्मोंसे संघर्ष करनेका संकेत विद्यमान था। जीवन जितना कठोर एवं संयमी होता है, व्यक्ति उतना ही ऊँचा उठ जाता है। जो विषय-वासनाओंमें पड़ा रहता है, तपस्याके लिए प्रयास नहीं करता, वह जीवनमें कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता है। नदी, सरोवर और गड्ढोंमें पड़ा भूतलका जल संघर्ष करता है—सूर्य-किरणोंसे संतप्त होता है, तो वह रश्मियोंके सहारे ऊपर उठ जाता है, सारी गन्दगी और मैल नीचे रह जाते हैं। राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या शूद्र, विद्वान् हो या मूर्ख जो श्रम करता है, तपश्चरण करता है, वह महान् बन जाता है।

महावीरके उपदेशने कितने ही व्यक्तियोंके हृदय परिवर्तित कर दिये। उनके उपदेशसे प्रभावित होकर किसीने अणुव्रत ग्रहण किये और किसीने महाव्रत। समाज-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्थाकी महत्त्वपूर्ण बातोंकी जानकारी भी प्राप्त हुई।

दिव्यध्वनि या देशनाकी भाषा

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है या अक्षरात्मक, इस सम्बन्धमें आगम-ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। कसायपाहुड और तिलोय-पण्णत्तीमें दिव्यध्वनिको तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठके हलन-चलनरूप व्यापारसे रहित होकर एक ही समयमें भव्यजनोंको आनन्द देनेवाली बताया है[१]। हरिवंश-पुराणसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है। इस ग्रन्थमें लिखा है कि ओठोंको विना हिलाये ही निकली हुई तीर्थंकर-वाणीने तिर्यञ्च, मनुष्य और

---

१. अट्ठारस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।
अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ॥
एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो॥
—तिलोयपण्णत्ती १।६१-६२.

देवोंका दृष्टिमोह नष्ट कर दिया।[1]

तत्त्वार्थवार्त्तिकमें मुखसे दिव्यध्वनिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। बताया है कि सकलज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न अतीन्द्रिय केवलज्ञान से युक्त केवली जिह्वाइन्द्रियके आश्रयमात्रसे वक्तृत्वरूपमें परिणत होकर सकल-श्रुतविषयक अर्थोंका उपदेश करता है।[2]

हरिवंशपुराणमें भी बताया गया है कि दिव्यध्वनि चारों दिशाओंमें दिखनेवाले चारों मुखोंसे निकलती है।[3]

महापुराणके आधारपर कहा जा सकता है कि भगवान्‌के मुखरूप कमलसे बादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्यजीवोंके मनमें स्थित मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करती हुई सूर्यके समान सुशोभित हो रही थी। इस दिव्यध्वनिमें सभी अक्षर स्पष्ट थे और ऐसी प्रतीति हो रही थी, मानो गुफाके अग्रभागसे प्रतिध्वनि ही निकल

---

१. (क) जिनभाषाऽधरस्पन्दमन्तरेण विजृम्भिता।
तिर्यग्देवमनुष्याणां दष्टिमोहमनीनशत्॥
—हरिवंशपुराण २।११३.

(ख) त्रैलोक्ये जिनशासनोरुपदवीशुश्रूषयावस्थिते,
सम्पृष्टः प्रथमेन तत्र गणिना विश्वार्थविद्योतनः।
भूयो भेदविवृत्तयाधरपरिस्पन्दोज्झितस्वात्मना
मोहध्वान्तमपकरोदथ जिनो भानुः स्वभाषाश्रिया॥
—वही, ९।२२४.

(ग) भाषाभेदस्फुरन्त्या स्फुरणविरहितस्वाधरोद्भाषया च।
—हरिवंशपुराण ५६।११७.

२. सकलज्ञानावरणसंक्षयाविर्भूतातीन्द्रियकेवलज्ञानः रसनोपष्टम्भमात्रादेव वक्तृत्वेन परिणतः सकलान् श्रुतविषयानर्थानुपदिशति।
—तत्त्वार्थवार्त्तिक २।१९।१०, पृ० १३२ (–ज्ञानपीठ-संस्करण)

३. तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुखविनिर्गता।
चतुर्मुखफला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया॥
—हरिवंश ५८।३

रही हो[1]।

दिव्यध्वनिके सम्बन्धमें कुछ आचार्योंका अभिमत है कि यह सर्वहित करनेके कारण वर्णविन्याससे रहित है[2]। पर कुछ आचार्य इसे अक्षरात्मक ही मानते हैं, यतः अक्षरोंके समूहके विना लोकमें अर्थका परिज्ञान नहीं हो सकता है। भाषात्मक शब्द दो प्रकारके माने गये हैं—(१) अक्षरात्मक और (२) अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शब्द संस्कृतादि भाषाके हेतु हैं और अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिके शब्दरूप होते हैं।[3]

दिव्यध्वनिको अनक्षरात्मक इसलिए कहा जाता है कि वह जबतक सुननेवालेके कर्णप्रदेशको प्राप्त नहीं होती, तबतक अनक्षरात्मक है और जब कर्णप्रदेशको प्राप्त हो जाती है, तब अक्षररूप होकर श्रोताके संशयादिको दूर करती है। अतः अक्षरात्मक कही जाती है।[4]

वस्तुतः दिव्यध्वनि शब्दतरंगरूप होती है। तरंगें संप्रेषित होती हैं और श्रोता अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार उन्हें ग्रहण कर लेता है। अतः अनक्षरात्मक होते हुए भी अक्षरात्मक दिव्यध्वनि मानी जाती है। आजका विज्ञान भी कहता है कि ध्वनिमात्र प्रकम्पनकी प्रक्रिया है। शब्दोत्पादक सभी वस्तुएँ कम्पन करती हैं। कम्पनके अभावमें ध्वनि पैदा नहीं होती। केवली बोलनेका प्रयत्न नहीं करते, अपितु तीर्थंकरनामकर्मोदयके कारण कण्ठ, तालु आदिको प्रकम्पित किये विना ही शब्द-वर्गणाओंके कम्पनके साथ ध्वनि होती है। यह ध्वनि पौद्गलिक है। काययोगसे आकृष्ट कर्म-पुद्गलस्कन्ध स्वयं शब्दका आकार लेते हैं, भाषारूपमें परिणत होते हैं।

---

१. (क) दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन्नद्युतदेष यथैव तमोऽरिः॥
—महापुराण २३।६९.

(ख) ताल्वोष्ठमपरिस्पन्दि नच्छायान्तरमानने।
अस्पृष्टकरणा वर्णा मुखादस्य विनिर्ययुः॥
स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुद्ध्वनिसन्निभः।
प्रस्पष्टवर्णो निरगाद् ध्वनिः स्वायम्भुवान्मुखात्॥
—वही, २४।८२-८३.

२. पञ्चास्तिकाय-तात्पर्यवृत्ति १।४।९.

३. वही, ७९।१३५।६.

४. गोम्मटसार-जीवकाण्ड—जी० प्र० २२७।४८८।१५.

शब्दोत्पत्तिकी प्रक्रिया दो प्रकारकी है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रयत्न-जन्य शब्दोंको प्रायोगिक कहा जाता है और सहज निष्पन्न शब्द वैस्रसिक कहलाते हैं। शब्द ध्वन्यात्मक होते हैं, पर सभी शब्द भाषात्मक नहीं होते। वैस्रसिक शब्द अभाषात्मक माने जाते हैं। मेघकी गर्जना सहज उत्पन्न होती है, पर उसमें कोई भाषा नहीं। प्रायोगिक शब्द अभाषात्मक और भाषात्मक दोनों प्रकारके होते हैं। भाषात्मक ध्वनि अर्थविशेषको अभिव्यक्त करती है, अभाषात्मक ध्वनि अर्थशून्य होती है। तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि प्रयोगकालमें अनक्षरात्मक होते हुए श्रोताके श्रवणके समय अक्षरात्मक रूपमें परिवर्तित हो जाती है। इस दिव्यध्वनिकी यह प्रमुख विशेषता है। दिव्यध्वनि जिन पुद्गलस्कन्धोंको प्रेषित करती है; वे गतिशील होते हैं। उनमें शब्दरूप-परिणमन करनेकी क्षमता होती है। आवर्त्तन-परावर्त्तन और विवर्त्तनकी क्रियाएँ भी होती रहती हैं। यह ध्वनि चलनेमें किसीको माध्यम नहीं बनाती। साधारणतः ध्वनि-प्रसारके लिये वायुका माध्यम अपेक्षित होता है। पर तीर्थंकरकी ध्वनिमें ऐसी सहज स्वाभाविक शक्ति विद्यमान रहती है, जिससे वह सभी जातिके श्रोताओंके कर्णप्रदेशमें पहुँचकर तत्तद् भाषारूपमें परिणत हो जाती है।

हरिवंशपुराणके एक पद्यमें बताया गया है कि जिस प्रकार आकाशसे वर्षाका पानी एकरूप होता है, परन्तु पृथ्वीपर पड़ते ही वह नानारूपोंमें दिखलायी पड़ने लगता है। उसी प्रकार तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि एकरूपमें रहते हुए भी सभामें स्थित पशु-पक्षी, देव-गंधर्व, मनुष्य आदिको अपनी-अपनी भाषामें अवगत होती है।[1]

दिव्यध्वनि : सर्वभाषा

दिव्यध्वनिको सर्वभाषात्मक माना गया है। आचार्य समन्तभद्रने अपने स्वयंभू-स्तोत्रमें तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिको सर्वभाषात्मक कहा है[2] और

---

१. अनानात्मापि तद्वृत्तं नाना पात्रगुणाश्रयम्।
सभायां दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ॥
—हरिवंशपुराण ५८।१५.

× × × ×

एकरूपापि तद्भाषा श्रोतॄन् प्राप्य पृथग्विधान्।
भेजे नानात्मतां कुल्याजलस्रुतिरिवाङ्घ्रिपान्॥
—आदिपुराण १।१८७.

२. स्वयंभू-स्तोत्र, पद्य ९७.

बतलाया है कि तीर्थंकरका वचनामृत संसारके समस्त प्राणियोंको अपनी-अपनी भाषामें तृप्त करता है। अलंकार-चिन्तामणिमें भी इसे सर्वभाषात्मक, असीम सुखप्रद और समस्त नयोंसे युक्त बतलाया है।[1]

धवलाटीकामें आचार्य वीरसेनने लिखा है—"योजनान्तरदूरसमीपस्था-ष्टादशभाषा - सप्तहृतशतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिक-भावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः भवनवासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासीन्द्र - विद्याधर-चक्रवर्ति-बल-नारायण-राजाधिराज-महाराजार्ध-महामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्यालादि-देव - विद्याधर-मनुष्यर्षि - तिर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्त्ता[2]।"

अर्थात् एक योजनके भीतर दूर अथवा समीपमें बैठे हुए अठारह महाभाषा और सात-सौ लघु भाषाओंसे युक्त तिर्यंच, मनुष्य और देवोंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद भाषाके अतिशयोंसे युक्त तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि होती है।

महापुराणमें आचार्य जिनसेनने भी इसे अशेषभाषात्मक कहा है। अतिशय-विशेषके कारण यह दिव्यध्वनि समस्त भाषारूपमें परिणमन करती है। स्याद्वादरूपी अमृतसे युक्त होनेके कारण समस्त प्राणियोंके हृदयान्धकारको नष्ट करती है[3]।

महापुराणमें यह भी बताया गया है कि दिव्यध्वनि एकरूपमें होती हुई भी तीर्थंकर-प्रकृतिके पुण्य-प्रभावसे समस्त मनुष्यों और पशु-पक्षियोंकी संकेतात्मक भाषामें परिणत हो जाती है[4]।

निष्कर्ष यह है कि दिव्यध्वनि, ध्वनिरूप होती है और अठारह महाभाषा तथा सात-सौ कुभाषारूप परिणमन करती है। यह अक्षर और अनक्षर स्वरूप

---

१. अलंकार-चिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ-संस्करण १।१०२.

२. षट्खण्डागम, धवलाटीका-समन्वित, प्रथम जिल्द, पृ० ६१.

३. त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती।
तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते बुधानां स्याद्वादनीतिविहृतान्धमतान्धकारा॥
—आदिपराण २३।१५४.

४, एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्टबहूश्च कुभाषाः।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना॥
—आदिपुराण २३।७०.

बीजपदोंसे युक्त है। अतः सभी प्राणियोंको अपनी-अपनी भाषामें प्रवचन सुनायी पड़ता है।

कहा जाता है कि तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि अर्धमागधी-भाषामें होती थी[1]। वैयाकरणोंने इसे आर्ष प्राकृत कहा है। अर्धमागधीशब्दकी व्युत्पत्ति 'अर्धं मागध्या' अर्थात्—जिसका अर्धांश मागधी हो और शेष अर्द्धांश अन्य भाषाओंसे निर्मित हो, वह अर्धमागधी है। इस व्युत्पत्तिका समर्थन ई० सन् सातवीं शताब्दीके विद्वान् जिनदासगणि महत्तरके 'निशीथचूर्णि' नामक ग्रन्थमें उल्लिखित "पोराणद्धमागहभासा निययं हवई सुत्तं" द्वारा भी होता है। अर्धमागधीशब्दकी व्याख्या—"मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागही"—अर्थात् मगधदेशके अर्धप्रदेशकी भाषा अर्धमागधी कही जाती है। अर्धमागधीमें अठारह देशीभाषाओंका मिश्रण माना गया है। बताया है—"अट्ठारस देसी भासा निययं वा अद्ध-मागहं"। जिनसेनने भी इसे सर्वभाषात्मक कहा है।[2]

अर्धमागधीका मूल उत्पत्ति-स्थान मगध और शूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश है। तीर्थंकरोंके उपदेशकी भाषा अर्धमागधी ही मानी गयी है। आदितीर्थंकर ऋषभदेव अयोध्याके निवासी थे। अतः अयोध्याके पार्श्ववर्ती प्रदेशकी भाषा अर्धमागधी रही होगी।

एक धारणा यह भी प्रचलित है कि भगवान् महावीर अर्धमागधीमें उपदेश देते थे। इनका जन्मस्थान वैशाली था, इनके विहार और प्रचारका मुख्य क्षेत्र पूर्वमें राढ़ भूमिसे लेकर पश्चिममें मगधकी सीमा तक, उत्तरमें वैशालीसे लेकर दक्षिणमें राजगृह और मगधके दक्षिणी किनारे तक था। यों तो महावीरका समवशरण देशके प्रत्येक भागमें गया था, पर उनकी तपस्या और वर्षावासोंका सम्बन्ध उक्त प्रदेशके साथ विशेषरूपसे है। अतः अर्धमागधी इसी क्षेत्रकी भाषा रही होगी। यह भी ज्ञातव्य है कि इन क्षेत्रोंमें बोली जानेवाली अन्य बोलियोंका प्रभाव भी अवश्य पड़ा होगा। आर्यभाषाके अतिरिक्त इन क्षेत्रोंमें मुण्डा एवं द्रविड़वर्गकी भाषाएँ भी प्रचलित थीं। अतः इन दोनों वर्गकी भाषाओंका प्रभाव भी अर्धमागधीपर अवश्य पड़ा है। अर्धमागधीमें संस्कृतके

---

१. सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सर्वेषां सर्वतो वाचं सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे॥ —वाग्भट-काव्यानुशासन, पृ० २.

× × × ×

"भगवं च णं अद्धमाहीए भासाए धम्ममाइक्खइ"—समावायाङ्गसूत्र, पद्य ६०

२. महापुराण ३३।१२०, ३३।१४८.

स्वार्थिक 'क' प्रत्ययके स्थानपर 'ह्' प्रत्यय भी पाया पाया जाता है। यह 'ह्' प्रत्यय मुण्डा-वर्गकी भाषासे गृहीत है। 'अरिहा' शब्द उदाहरणार्थ लिया जा सकता है। 'आर्य' शब्दसे प्राकृतमें 'अय्य' और 'अरिया' शब्द निष्पन्न होगें। तब यह 'अरिहा' शब्द किस प्रकार बनेगा। आर्यशब्दसे स्वार्थिक 'क' प्रत्यय जोड़कर 'अरिय' या 'अरिया' बन सकते हैं। पर 'अरिहा' शब्दका बनना सम्भव नहीं है। यहाँ मुण्डा भाषाका स्वार्थिक 'ह्' प्रत्यय विद्यमान है। यही कारण है कि उत्तरकालीन प्राकृतवैयाकरणोंने इस समस्याके समाधानार्थ 'क'-के स्थानपर 'ह्' प्रत्ययका विधान स्वीकार किया।

तीर्थंकर महावीर अर्धमागधीमें उपदेश देते थे और उनकी वह दिव्य-ध्वनि मनुष्य, पशु आदिकी भाषामें परिणत हो जाती थी। समवायांग-सूत्रमें लिखा है—"भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ। सा वि य णं अद्धमागहीभासभासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमनारियाणं दुप्पयचउप्पयमियपसुपक्खिसरिसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुहदायभासत्ताए परिणमइ[1]।"

अर्थात् भगवान् महावीरकी देशना अर्धमागधीमें होती थी। यह शान्ति, आनन्द और सुखदायिनी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु-पक्षी और सरिसृपोंके लिये उनकी अपनी-अपनी बोलीमें परिणत हो जाती थी।

ओववाइयसुत्तसे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है—"तए णं समणे भगवं महावीरे कूणियस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स अद्धमागहए भाषाए भासइ। अरिहा धम्मं परिकहेइ।.......सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।"

उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि अर्धमागधी-भाषामें आर्य और आर्येत्तर भाषाओंका सम्मिश्रण है।

सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अर्धमागधीका रूप-गठन मागधी और शौरसेनीसे हुआ है। हार्नलेने समस्त प्राकृतभाषाओंको दो वर्गोंमें बाँटा है[2]। एक वर्गको उसने शौरसेनी प्राकृत बोली और दूसरे वर्गको मागधी प्राकृत बोली कहा है। इन बोलियोंके क्षेत्रोंके बीचों-बीचमें उसने एक प्रकारकी एक रेखा खींची, जो उत्तरमें खालसीसे लेकर बैराट, इलाहाबाद और फिर वहाँसे दक्षिणको रामगढ़ होती

---

१. समवायाङ्ग (अहमदाबाद, सन् १९३८ ई०), सूत्र ९८.

२. कम्परेटिव ग्रामर, भूमिका, पृ० १७ तथा उसके बादके पृष्ठ।

हुई जौगढ़ तक गयी है[1]। ग्रियर्सन[2] उक्त मतसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि उक्त रेखाके पास आते-जाते शनैः-शनैः ये दोनों प्राकृतें आपसमें मिल गयीं और इसका परिणाम यह हुआ कि इनके मेलसे एक तीसरी बोली उत्पन्न हुई, जिसका नाम अर्धमागधी पड़ा।

इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषाकी सहज प्रवृत्तिके अनुसार अड़ोस-पड़ोसकी बोलियोंके शब्द धीरे-धीरे आपसमें एक दूसरेकी बोलीमें घुल-मिल जाते हैं और उन बोलियोंके भीतर इतना घर कर लेते हैं कि बोलनेवाले यह नहीं समझ पाते कि वे किसी दूसरी बोलीके शब्दोंका प्रयोग कर रहे हैं। अतः शौरसेनी और मागधीके संयोगसे अर्धमागधीके रूपका गठित होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

वस्तुतः प्राचीन भारतमें दो ही प्रकारकी प्राकृत भाषाएँ मान्य थीं—शौरसेनी और मागधी। शौरसेनी पश्चिम प्रदेशकी भाषा थी और मागधी पूर्वकी।

वर्त्तमानमें श्वेताम्बर आगम-साहित्यके जो ग्रन्थ अर्धमागधीमें उपलब्ध होते हैं, वह अर्धमागधी तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिकी भाषा नहीं है। इसका रूप तो चौथी-पाँचवीं शताब्दीमें गठित हुआ है। तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिका अध्ययन करनेपर उसके स्वरूपके सम्बन्धमें निम्नलिखित निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं—

(१) दिव्यध्वनि ध्वन्यात्मक होती है और ध्वनिके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों ही भेद हैं। तरंग रूपमें परिणत होती हुई ध्वनि श्रोताओंके कर्ण-प्रदेशमें भाषात्मक रूपमें उपस्थित होती है।

(२) दिव्यध्वनिका यह भाषात्मक रूप आर्य-अनार्य आदि वर्गकी विभिन्न भाषाओं द्वारा ग्रथित होता है। यही कारण है कि आचार्योंने अठारह भाषाओं और सातसौ कुभाषाओंका मिश्रण इसमें माना है। भाषाका यह रूप सभी स्तरके प्राणियोंको बोध्य था। पशु-पक्षी संकेतात्मक भाषाको समझते हैं। उनके पास वाणी नहीं होती, पर वे अनुभव सभी बातोंका करते हैं। तीर्थंकरोंकी यह दिव्यध्वनि अनुभवके तलपर पशु-पक्षियोंको भी उद्बोधित करती थी। पशु-पक्षियोंका अनुभव मूक रूपमें होता है। वे भाषासे दूर रहकर भी अनुभूतिके स्तरपर तरंगरूप ध्वनियोंको संकेतात्मक रूपमें ग्रहण करते हैं। अतः अनुभव और भावके रूपमें पशु-पक्षी दिव्यध्वनिसे लाभान्वित होते हैं। मानव-

१. चण्डके प्राकृत-लक्षणकी भूमिका, पृ० २१.

२. सेवन ग्रामर्स ऑफ दी डाइलेक्ट्स एण्ड सब डाइलेक्ट्स ऑफ दी बिहारी लैंगवेज, खण्ड १, पृ० ५, (कलकत्ता १८८३ ई०).

जगतके प्राणी अनेक बोलियोंके बोलनेवाले होते हैं। अतः उन्हें लाभान्वित करनेके लिये ऐसी वाणी कार्यकारी हो सकती है, जो सभी भाषाओंका मिश्रण हो। जिस प्रकार आजकल एक ही भाषा विभिन्न अनुवादक-यन्त्रोंके द्वारा अनेक भाषाओंमें सुनी जाती है, उसी प्रकार दिव्यध्वनि भी अपनी विशेषताओंके कारण समस्त मानव-जगतको अपनी-अपनी बोलीमें सुनायी पड़ती थी।

देव भी दिव्यध्वनिको समझते थे। इस जगतकी भाषाका क्या रूप है, यह तो अभी तक निर्धारित नहीं हो पाया है। दिव्यध्वनिका देव-जगतके भावोंके साथ सीधा सम्बन्ध है। भाव-सम्प्रेषणके लिये किसी माध्यमकी आवश्यकता नहीं थी। उदाहरणार्थ आजके वायरलेसको लिया जा सकता है। वायरलेसमें कोई माध्यम नहीं है। विचारोंका सीधा सम्प्रेषण होता है। दिव्यध्वनि इसी कारण अनक्षरात्मक मानी गयी है कि देव-जगतके साथ तरंगावली या भाव-धाराका सीधा सम्प्रेषण हो। कहा जाता है कि मौनरूपमें स्थित रहकर अनुभवका जितना ज्यादा और सीधा सम्प्रेषण होता है, उतना वाणीके द्वारा नहीं।

दिव्यध्वनिकी तरंगे देव-जगतके तलपर पहुँचती हैं। यह अनुभवकी बात है कि मनुष्य जिस तथ्यको शब्दोंके द्वारा प्रतिपादित नहीं कर पाता है, उस तथ्यको वह मौन साधना द्वारा व्यक्त कर देता है।

(३) दिव्यध्वनिको भाषात्मक मानकर ही उसे अर्धमागधी कहा गया है और यह अर्धमागधी आर्य एवं आर्येत्तर भाषाओंका सम्मिलित रूप थी।

समवशरण-विहार

तीर्थंकर महावीरने धर्मामृतकी वर्षा केवल राजगृहके आस-पास ही नहीं की, अपितु उनके समवशरणका विहार भारतके सुदूरवर्ती प्रदेशोंमें भी हुआ। हरिवंश-पुराणमें[1] बताया गया है कि जिस प्रकार भव्यवत्सल तीर्थंकर ऋषभ-

---

१. काशिकौशलकौशल्यकुसन्ध्यास्वष्टनामकान्।
सात्वत्रिगर्त्तपञ्चालभद्रकारपटच्चरान्॥
मौकमत्स्यकनीयांश्च सूरसेनवृकार्थपान्।
मध्यदेशानिमान् मान्यान् कलिंगकुरुजांगलान्॥
कैकेयाऽऽत्रेयकाम्बोजबाह्लीकयवनश्रुतीन्।
सिन्धुगान्धारसौवीरसूरभीरुदेसरुकान्॥
वाडवानभरद्वाजक्वाथतोयान् समुद्रजान्।
उत्तरांस्तार्णकार्णांश्च देशान् प्रच्छालनामकान्॥

देवने अनेक देशोंमें विहारकर उन्हें धर्मसे युक्त किया था, उसी प्रकार अन्तिम तीर्थंकर महावीरने भी वैभवके साथ विहारकर मध्यके काशी, कौशल, कौशल्य, कुसन्ध्य, अस्वष्ट, शाल्व, त्रिगर्त, पांचाल, भद्रकार, पटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, शूरसेन एवं वृकार्थक नामके देशोंमें; समुद्र-तटके कलिंग, कुरु-जांगल, कैकेय, आत्रेय, काम्बोज, बाल्हिक, यवनश्रुति, सिन्धु, गान्धार, सूर-भीरु, दशेरुक, बाड़वान, भारद्वाज और क्वाथतोय देशोंमें एवं उत्तर दिशामें तार्ण, प्रच्छाल आदि देशोंमें विहारकर उन्हें धर्मकी ओर उन्मुख किया था। तीर्थंकर महावीरका यह समवशरण-विहार विभूतिसहित होता था, जिसके कारण मानवताका विशेष प्रचार हुआ। महावीरने वैशाली, वणिय-ग्राम, राजगृह, नालन्दा, मिथिला, भद्रिका, अलामिका, श्रावस्ती और पावामें विशेष रूपसे धर्मामृतकी वर्षा की थी। विपुलाचल और वैभारगिरिपर महावीरकी दिव्यध्वनि कई बार हुई थी। अनेक राजा-राजकुमार और राजकुमारियोंने आत्म-कल्याणका मार्ग ग्रहण किया।

भगवती-सूत्रमें तीर्थंकर महावीरके नालन्दा, राजगृह, पणियभूमि, सिद्धार्थग्राम, कूर्मग्राम आदि स्थानोंमें पधारनेका उल्लेख है। उवासगदसा-सूत्रमें वणिजग्राम, चम्पा, वाराणसी, आलभी, काम्पिल्यपुर, पोलासपुर, राज-गृह और श्रावस्तीमें तीर्थंकर महावीरके समवशरण-विहारका कथन आया है। वाणिज-ग्रामकी धर्मसभामें आनन्द श्रावक और उसकी भार्या शिवानन्दा इनके उपासक बने थे। चम्पामें श्रावक कामदेव और श्राविका भद्रा; वारा-णसीमें श्रावक चूलनिप्रिय एवं सूरदेव तथा श्राविका श्यामा और धन्या; आलभीमें श्रावक चुल्लशतक और श्राविका बहुला, कम्पिल्यपुरमें कुण्डको-लिय और पुष्पा दम्पति, पोलासपुरमें सर्दलमित्र और अग्निमित्रा, राजगृहमें श्रावक महाशतक और विजय एवं श्रावस्तीमें नन्दिनीप्रिय और शलतिप्रिय उपासक बने थे।

महावीरके वचनामृतने ऊँच-नीच और जाति-पांतिके भेद-भावको मिटा-कर मानवताकी प्रतिष्ठा की थी। हम यहाँ तीर्थंकर महावीरके समवशरण-विहारका संक्षिप्त निर्देश प्रस्तुत करेगें।

वैशाली : चेटक एवं सेनापति सिंहका धर्म-श्रवण

राजगृहसे भगवान् महावीरके समवशरणने वैशालीमें विहार किया। यहाँके गणनायक महाराज चेटक थे, जिनकी रानीका नाम सुभद्रा था। चेटक

धर्मेणायोजयद् वीरो विहरन् विभवान्वितः।
यथैव भगवान् पूर्वं वृषभो भव्यवत्सलः ॥—हरिवंशपुराण ३।३-७

ऋषभदेव आदि तर्थंकरोंके धर्मके आराधक थे। जिनेन्द्रप्रभुकी पूजा और अर्चामें विशेष भाग लेते थे। इनके धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतंगक, प्रभंजन और प्रभास ये दश पुत्र थे[१]।

सिंहभद्र वृजिगण-सेनाका पराक्रमी सेनापति था। चेटक वीर, पराक्रमी और रणकुशल था। जब चेटकको वैशालीमें महावीरके समवशरणके पधारनेका समाचार प्राप्त हुआ तो वह परिवार-सहित तीर्थंकर महावीरकी वन्दना करनेके लिये गया। उसने महावीरके मुखसे सुना—"मनुष्य सहस्रों दुर्दान्त शत्रुओंपर सरलतासे विजय प्राप्त कर सकता है, पर अपने ऊपर विजय प्राप्त करना कठिन है, बाह्य शत्रुओंसे लड़ना जितना सुकर है अन्तरंग काम, क्रोधादि शत्रुओंसे लड़ना उतना ही कठिन है। शत्रुओंके परास्त करनेसे सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सुख-शान्ति तो अहिंसामय वातावरणमें ही उपलब्ध होती है।" महावीरने जिनदत्त और सूरदत्तका इतिवृत्त सुनाकर संसार-विरक्तिकी ओर उन्हें आकृष्ट किया। महावीरने आध्यात्मिक उत्क्रान्तिका विवेचन करते हुए गुणस्थान और मार्गणाओंका स्वरूप बतलाया। चेटकके अधीन नौ लिच्छवो, नौ मल्ल इस प्रकार काशी-कोशलके अठारह गणराजा थे। इनके चेटक नाम होनेका कारण यही था कि ये शत्रुओंको अपना चेटक—सेवक बनाते थे। हरिषेण-कृत कथाकोशमें इनके पिताका नाम केक और माताका नाम यशोमती बताया गया है[२]।

महावीरके उपदेशसे चेटक विरक्त हुआ और वह उनका भक्त हो गया तथा उनके चरणोंमें दीक्षा ग्रहण कर ली। कहा जाता है कि चेटकने दिगम्बर-दीक्षा धारणकर विपुलाचल पर्वतपर तपश्चरण किया। चेटकके मुनि होनेपर वैशाली-का आधिपत्य उनके पुत्रको प्राप्त हुआ[३]।

किसी समय सेनापति सिंहभद्र भी तीर्थंकर महावीरकी वन्दनाके लिये समवशरणमें पहुँचा और विनयपूर्वक बोला—"प्रभो! लिच्छवी-राजकुमार शाक्य मुनि गौतमबुद्धकी प्रशंसा करते हैं, उनके मतको अच्छा बताते हैं, इसका क्या कारण है?"

---

१. उत्तरपुराण ७५।३.

२. अथ वज्रविवे देमे विशालीनगरीनृपः।
अस्यां ककोऽस्य भार्याऽऽसीत् यशोमितिरिनप्रभा।।
—बृहत्कथा-कोश. पृ० ८३, श्लोक १६५.

३. सो चेडवो सावओ।—आवश्यकचूर्णि, उत्तरार्द्ध, पत्र १६४.

तीर्थंकर महावीरकी वाणीकी व्याख्या करते हुए इन्द्रभूति गणधर कहने लगे—"गौतमबुद्धके वचन मनको लुभानेवाले इन्द्रायण फलके समान सुन्दर है। पर तुम तो कर्म-सिद्धान्तके श्रद्धालु हो। तुम्हें अक्रियावादी गौतमके मतसे क्या प्रयोजन? मुग्ध लिच्छवी-कुमार इस भेदको नहीं जानते, जो कर्मों के फलको भोगनेवाली आत्माके अस्तित्वको भी स्पष्टतः स्वीकार नहीं करते। वे पुनर्जन्म और कर्मफलकी व्यवस्था स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं। जिसे आत्माके अस्तित्वमें विश्वास है, वही हिंसाका त्यागी हो सकता है। सहृदय व्यक्ति कभी किसीके प्राणोंका बध नहीं कर सकता। अतएव द्रव्यहिंसा और भावहिंसाके स्वरूपको ज्ञात कर ही व्यक्ति अहिंसा-धर्मका पालन कर सकता है। जो प्रमादवश क्रोध, मान, माया, लोभके वशीभूत है, वह प्राणिवध न करनेपर भी हिंसाका भागी है। इन्द्रभूति गणधरने संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसाओंका स्वरूप सेनापति सिंहभद्रको बतलाया। साथ ही यह भी कहा कि देशरक्षाके हेतु प्राणियोंका वध भी हिंसाके अन्तर्गत नहीं है। जो भावहिंसक है, वह द्रव्य-हिंसा न करनेपर भी हिंसाका पातकी बनता है। भावोंकी पवित्रता और लोकोपकारिताकी वृत्ति अहिंसामें सम्मिलित है। जो संग्राम स्वार्थ, द्वेष, लोभ और अहंकारवश किया जाता है, वह संग्राम अहिंसा-धर्मकी दृष्टिसे वर्जित है, पर देशोत्थानकी कामनाकी दृष्टिसे किया जानेवाला संग्राम अहिंसा-धर्ममें बाधक नहीं है।" सिंह सेनापति तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें इन्द्रभूति गणधरके वचनोंसे अधिक प्रभावित हुए और उन्होंने श्रावकके व्रत स्वीकार किये।

वाणिज्यग्राम : जितशत्रुका नमन

वैशालीके निकट ही वाणिज्यग्राम अवस्थित था। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ भी आया। जितशत्रु राजा उनकी वन्दनाके लिये चला। वह महावीरकी दिव्यध्वनिको सुनकर बहुत प्रभावित हुआ तथा उनका भक्त बन गया[1]।

पोलासपुर : विजयसेन और सद्दालपुत्रका मोहभंग

उत्तर भारतका यह भी एक प्रसिद्ध नगर है। इस नगरके बाहर सहस्राम्र नामक उद्यान था। यहाँके राजाका नाम विजयसेन था। राजा विनय और श्रीदेवीके पुत्र अतिमुक्तक राजकुमारने बाल्यावस्थामें ही मुनिदीक्षा ग्रहण

---

१. वाणियगामे नयरे जियसत्तू नामं राया होत्था—उवासगदसाओ (पी० एल० वैद्य सम्पादित), पृ० ४.

कर ली थी। विजयसेनने जब तीर्थंकर महावीरके मुखसे धर्मामृत सुना और आत्माके अहितकारक विषय-कषायोंका परिज्ञान हुआ, तो उसने विरक्त हो श्रावकके व्रत ग्रहण कर लिये।

इसी नगरमें सद्दालपुत्त नामक एक प्रसिद्ध कुम्भकार भी निवास करता था। जिसने तीन करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ मिट्टीके वर्तन बनाकर अर्जित की थी। इसकी पाँच सौ दुकानें अनेक नगरोंमें चलती थीं। यह भारतका प्रसिद्ध शिल्पी था। महवीरके उपदेशसे प्रभावित होते ही इसके मोहका भंग हो गया और मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार पोलासपुरमें तीर्थंकर महावीरके समवशरण द्वारा अनेक प्राणियोंका कल्याण हुआ। कुछ व्यक्ति पोलासपुरकी अवस्थिति मगध और विदेहके मध्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पोलासपुर उस समयका प्रसिद्ध नगर था। इस नगरमें तीर्थंकर महावीरका समवशरण कई बार आया था।

चम्पा : कुणिक अजातशत्रु, दधिवाहन और करकण्डुकी दीक्षा

चम्पाको अंगदेशकी राजधानी बताया गया है। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ भी आया था। यहाँके समय-समयपर होनेवाले कई राजा महावीरके समवशरणसे प्रभावित हुए हैं। तीर्थंकर महावीरका समवशरण जब चम्पामें पहुंचा तो उस समय चम्पाका राजा कुणिक अजातशत्रु था। इसने भक्ति-भावपूर्वक महावीरकी वन्दना की। कहा जाता है कि आरम्भमें अजातशत्रु उदार और सहिष्णु था, पर बादमें देवदत्तके बहकानेसे उसकी श्रद्धा बौद्धधर्मकी ओर हो गयी। इसने जैनधर्मके प्रचार और प्रसारके लिए जो कार्य किए हैं, वे इतिहासमें अजर-अमर हैं।

वन्दना करनेके अनन्तर सम्राट् अजातशत्रुने पूछा—"प्रभो! विश्वके लोग लाभके हेतु ही कोई उद्योग करते हैं। साधु भी किसी अच्छे लाभके लिए ही घर छोड़ते होंगे? इस संम्बन्धमें संसारके विभिन्न विचारकोमें मत-भिन्नता है। कौन-सा मत सत्य है? यह बतलानेकी कृपा कीजिए।"

उत्तरमें धर्मदेशना हुई—"राजन्! यह सत्य है कि मनुष्यका उद्योग लाभके लिए होता है। परंतु लाभ दो प्रकारका है—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक लाभ—धन,सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री-विषयक हैं और यह नाशवान हैं। ये सब प्रकट पदार्थ हैं और पुद्गलांशोंसे इनका निर्माण हुआ है। इनके द्वारा शाश्वत सुख किसीको प्राप्त नहीं हो सकता है। इनमें स्वयं सुख है ही नहीं। अतएव साधु शाश्वत सुख प्राप्तिके लिए मोक्ष-पुरुषार्थकी साधना करते हैं।

उन्हें लौकिक सुखकी चाह नहीं है। उनका लाभ अनन्त कालके लिए स्थायी होता है। यह मोक्ष-सुख ही सर्वदा आनन्ददायक है। निर्ग्रन्थ श्रमण संवर और निर्जरा द्वारा अपने पापोंको दूर करते हैं।"

अजातशत्रुने उपर्युक्त धर्मामृतको सुनकर अपना जन्म कृतार्थ समझा। वह जिज्ञासुके रूपमें पुनः निवेदन करने लगा—"आपका कहना यह सत्य है कि मोक्ष-सुख सर्वोत्तम सुख है, पर इस सुखका क्या स्वरूप है, कैसा है? यह तो ज्ञात नहीं। आत्मा और मोक्ष-सुखका भी अस्तित्व कैसे जाना जा सकता है?"

व्यवस्था करते हुए गौतम गणधरने कहा—"राजन् मोक्षका सुख आकाश-कुसुमवत् नहीं है और न यह इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य ही है। यह तो जीवन मुक्तावस्था है। निरपद और शाश्वत सुखरूप है। आत्माकी स्वतन्त्रता ही सुखदायक है और मोक्षमें यही स्वतंत्रता उपलब्ध होती है। आत्म-सुख अनुभूति-गम्य है। इसकी तुलना सासांरिक सुखोंसे नहीं की जा सकती है।" इतना ही नहीं, अनेकान्तवादकी व्याख्या भी प्रस्तुत की गयीं। अजातशत्रु कुणिक इस देशनाको सुनकर प्रभावित हुआ और उसने इन्द्रभूति गौतमके निकट श्रावकके व्रत ग्रहण किये।[1]

चम्पा : अनेकबार समवशरणका सौभाग्य

चम्पा नगरीमें दूसरी बार जब भगवान् महावीरका समवशरण पहुँचा, तो उस समय जितशत्रु राज्य करता था। उनका यह समवशरण पूर्णभद्र उद्यानमें स्थित हुआ। समवशरणके पहुँचते ही सभी दिशाओंमें तुमुल जयघोष आरम्भ हो गया। धनी-मानी राजा-महाराजाओंके साथ सामान्य और उपेक्षित जनता भी उनका धर्म श्रवण करनेके लिए पहुँचने लगी। जिसके भी कानोंमें तीर्थंकर महावीरकी वाणी पड़ जाती थी, वही धन्य हो जाता था। राजा जितशत्रु भी तीर्थंकर महावीरकी वन्दनाके लिए चल पड़ा और उनकी देशना सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसे अनुभव हुआ कि समाज, देश और राष्ट्र-व्यवस्थापकके रूपमें तीर्थंकर महावीरसे बढ़कर अन्य कोई व्यक्ति नहीं है। ये जन्म, जरा और मरण-रोगके चिकित्सक तो हैं ही, पर समाजमें उत्पन्न हुए अर्थजन्य वैषम्यको भी मिटानेवाले हैं। यज्ञवाद, जातिवाद, बहुदेववाद आदिकी समीक्षाकर समाजको नई क्रान्ति देनेवाले हैं। इन्होंने भारतकी सांस्कृतिक विरासतको ऊर्ध्वमुखी बनानेके लिए पूरा प्रयास किया है।

---

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं महावीरे जाव समोसरिए। परिसा निग्गमा। कूणिए राया जहा तहा जितसत्तू निग्गच्छइ–निग्गच्छइत्ता जाव पज्जुवासइ।

—उवासगदसाओ (पी० एल० वैद्य–सम्पादित); पृ०२५.

इस प्रकार विचार-विनियम करते हुए राजा जितशत्रुने तीर्थंकर महावीर-की शरण स्वीकार की और श्रावकके व्रत ग्रहण किये।[1]

करकण्डु जन्म और दीक्षा

तीसरी बार जब महावीरका समवशरण चम्पामें पहुँचा, तो उस समय इस नगरीके राजा दधिवाहन अपने पुत्र करकण्डुको राज्य देकर दीक्षित हो गये। बताया जाता है कि दधिवाहनकी पत्नीका नाम पद्मावती था। यह वैशालीके महाराज चेटककी पुत्री थी। दधिवाहनकी दूसरी पत्नीका नाम धारिणी था। पद्मावती जब गर्भवती हुई, तो उस समय गर्भके प्रभावसे उसे यह दोहद हुआ—"मैं पुरुषवेश धारणकर, हाथीपर चढ़ूँ और राजा मेरे मस्तकपर छत्र लगाये। मन्द-मन्द वर्षा हो। इस प्रकार मैं आराम आदिका परिभ्रमण करूँ।[2]"

रानी लज्जावश अपने इस दोहदकी चर्चा किसीसे न कह सकी। फलतः वह दिनानुदिन कृषकाय होने लगी। एक दिन राजाने बड़े आग्रहके साथ उससे पूछा, तो रानीने अपने मनकी बात कह दी।

दधिवाहनने कृत्रिम वर्षाकी योजना की और रानीको हाथीपर बैठाकर, उसके मस्तकपर छत्र लगा सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला। वर्षा आरम्भ की। मन्द-मन्द फुहार पड़ रही थी और शीतल हवा चल रही थी। अतः हाथी-को विन्ध्य-क्षेत्रकी अपनी जन्मभूमिका स्मरण हो आया और वह वनकी ओर भागा। सैनिकोंने रोकनेकी चेष्टा की, पर निष्फल रहे।

हाथी वनकी ओर भागा जा रहा था कि राजाको एक वटवृक्ष दिखलायी पड़ा। राजाने रानीसे कहा—"सामने वटवृक्ष आ रहा है, जब हाथी वहाँ पहुँचे, तो तुम उसकी शाखा पकड़ लेना।" हाथी वृक्षके नीचेसे निकला। राजाने तो वृक्षकी डाल पकड़ ली, पर रानी उसे पकड़नेमें चूक गयी।

---

१. (अ) तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था। जियसत्तू राया।
—उवासगदसाओ, (पी० एल० वैद्य सम्पादित), पृ० २२.
(आ) चम्पा नाम नयरी····जियसत्तू नामं राया।
—नायाधम्मकहाओ, अध्ययन १२, पृ० १३५ (एन०वी० वैद्य) सम्पादित.

२. चंपाए नयरीए दहिवाहणो राया। तस्य चेडग-धूया पउमावई देवी। अन्नया य तीसे दोहलो जाओ। किहाहं राय–नेवत्थेण नेवत्थिया महाराया–धरीय–छत्ता। उज्जाण-काणणाणि हत्थि-खंध-वर-गया विहरेज्जा। सा ओलुग्गा जाया। राइणा पुच्छिया। कहिओ सब्भावो। ताह राणा साय जयहत्थिम्मि आरूढाइं।—उत्तराध्ययन सुख-बोध-टीका, करकण्डुकथा।

स्वस्थ मन होने पर राजा दधिवाहन तो चम्पा लौट आये, पर हाथी रानी-को एक निर्जन जंगलमें लेकर प्रविष्ट हुआ। सरोवरमें अवसर देखकर रानी किसी प्रकार हाथीपरसे उतर आयी और तैरकर किनारे आ गयी। रानी उस वनकी भयंकरता देखकर विलाप करने लगी। पर अपनी असहाय अवस्था जान-कर साहस बाँध एक ओर चल पड़ी। कुछ दूर जानेपर उसे एक तापस मिला। रानीने तापसको प्रणाम किया और उसके पूछनेपर अपना परिचय दिया। ताप-सने रानीको आश्वासन देते हुए कहा—"मैं चेटकका सगोत्री हूँ। अतः अब चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं।" उस तापसने वनके फल खिलाकर रानीकी क्षुधा शान्त की और उसे कुछ दूर जाकर गाँवका मार्ग दिखला दिया और कहने लगा—"पुत्री ! हल चली भूमिपर मैं नहीं चल सकता। अतः तुम अकेले सीधी चली जाओ। आगे दन्तपुर नामक नगर है वहाँ दन्तवक्र नामक राजा है। वहाँसे किसीके साथ चम्पा चली जाना।"

पद्मावती रानी दन्तपुर पहुँची और साध्वियोंके उपाश्रयकी तलाश करती हुई भ्रमण करने लगी। रानी साध्वियोंके उपदेशसे विरक्त हुई और उसने क्षुल्लिका-दीक्षा ग्रहण कर ली। रानीका गर्भ वृद्धिगत होने लगा। उसने प्रमुख साध्वीको अपना समाचार कह सुनाया। जब प्रसव हुआ, तो नवजात शिशुको रत्नकम्बलमें लपेटकर पिताकी नाम-मुद्राके साथ श्मशानमें छोड़ दिया। बच्चे-की रक्षाके लिये रानी श्मशानमें ही एक जगह छिपकर बैठ गयी। इतनेमें श्मशान-का मालिक चाण्डाल आया, उसने बच्चेको उठा लिया और अपनी पत्नीको पालन-पोषण करनेके लिये सौंप दिया। रानीने छिपकर चाण्डालका घर देख लिया। रानीने उपाश्रयमें आकर साध्वियोंसे कहा—"मृत पुत्र हुआ था, उसे मैंने छोड़ दिया।" रानी पुत्रस्नेहके कारण चाण्डालके घर जाती और भिक्षामें मिली अच्छी वस्तुओंको पुत्रको देती।

जब बालक बड़ा हुआ, तो अपने समवयस्क बच्चोंमें राजा बनता। एक दिन वह श्मशानमें था कि दो साधु चले जा रहे थे। एक साधुने एक बाँसको दिखाकर कहा कि चार अंगुल बड़ा हो जानेपर जो इसे धारण करेगा, वह राजा बनेगा।

एक ब्राह्मण भी इस कथनको सुन रहा था। उसने वह बाँस जमीनसे नीचे चार अंगुलतक खोदकर काट लिया। जब चांडालके घरमें पले-पुसे लड़केने ब्राह्मणको बाँस काटते देखा तो वह उससे झगड़ पड़ा और अन्तमें उसे राज्य मिलनेपर एक गाँव देनेका वचन देकर वह बाँस ले लिया। ब्राह्मणने बाँस तो दे दिया, पर षड्यन्त्रकर उस चांडाल-परिवारको मारनेका प्रयास करने लगा।

अतः वह चांडाल-परिवार कांचनपुर चला गया। जिस दिन यह परिवार वहाँ पहुँचकर विश्राम कर रहा था, उसी दिन वहाँके राजाका स्वर्गवास हो गया था। उसका कोई पुत्र नहीं था। अतः राजा निर्वाचन करनेके निमित्त अभिमन्त्रित अश्व छोड़ा गया। अश्वने करकण्डुकी प्रदक्षिणा की और उसके निकट ठहर गया। करकण्डु कांचनपुरका राजा बन गया और जब यह समाचार उस ब्राह्मणको प्राप्त हुआ, जिसने बाँस काटा था, तो वह करकण्डुकी सेवामें उपस्थित हुआ और उससे चम्पामें एक ग्राम देनेका अनुरोध किया। करकण्डुने दधिवाहनके नाम एक पत्र लिखा और चम्पामें से कोई एक गाँव उस ब्राह्मणको देनेका निवेदन किया तथा इसके बदलेमें काञ्चनपुरसे अन्य गाँव देनेका आश्वासन दिया।

दधिवाहन इस पत्रको पढ़कर अत्यन्त कुपित हुआ और कहने लगा—"चांडाल-पुत्रका इतना साहस कि वह मुझे चम्पाके राज्यसे एक गाँव देनेके लिये लिखता है। अतः उसने स्पष्ट रूपमें ग्राम देनेसे इनकार कर दिया।"

करकण्डु दधिवाहनका समाचार प्राप्त कर क्रोधित हुआ और दधिवाहनकी उदण्डता समझकर चम्पापर आक्रमण करनेकी तैयारी की।

करकण्डुने चम्पा नगरीको चारों ओरसे घेर लिया और दोनों नरेशोंकी सेनाके बीच तुमुल युद्ध होने लगा। पिता-पुत्र दोनों ही परस्परमें अपरिचित रहकर तीव्र बाण-वर्षा कर रहे थे। रानी पद्मावतीको जब इस आक्रमणका समाचार मिला, तो वह पिता-पुत्रका पारस्परिक परिचय करनेके हेतु वहाँ उपस्थित हुई। उसने महाराज दधिवाहनसे हाथी द्वारा अपहृत किये जानेसे लेकर चम्पा-आक्रमण तककी समस्त कथा कह सुनायी और पिता-पुत्रका परिचय कराया।

परिचय प्राप्त होते ही युद्ध बन्द कर देनेकी घोषणा की गयी। राजा दधिवाहनको विरक्ति हुई और वह तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें उपस्थित हुआ। चम्पाका राज्यभार वह करकण्डुको सौंप चुका था। दधिवाहनने इन्द्रभूति गौतमसे निवेदन किया—"प्रभो! मैं इस संसारके दुःखोंसे ऊब गया हूँ। अतएव मुझे शाश्वत सुख-प्राप्तिका मार्ग बतलाइये। मैं दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये लालायित हूँ। अतएव शीघ्र ही मुझे दीक्षित कीजिये।"

इस प्रकार राजा दधिवाहनने तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें दीक्षा धारण की। कालान्तरमें करकण्डु भी विरक्त होकर दीक्षित हो गया।

श्रावस्ती : प्रसेनजितकी भक्ति

कोशलदेशकी राजधानी श्रावस्ती थी[१]। आजकल इस नगरीके खंडहर

१. ''''सावत्थी नयरी''''जियसत्तू राया—उवासगदसाओ (पी०एल० वैद्य), पृ० ६९.

गोंडा-बहराइच जिलोंकी सीमापर 'सहेत-महेत' नामसे बड़े विस्तारमें बिखरे पड़े हैं। श्रावस्ती नगरीकी स्थापना श्रावस्त नामक सूर्यवंशी राजाने की थी। इस नगरीमें संभवनाथ तीर्थंकरका जन्म हुआ था। महावीरका समवशरण चम्पासे श्रावस्तीको गया था। यहाँ उनकी देशना प्राणिमात्रको आत्मवत् समझना, अपने-परायेको समान दृष्टिसे देखना, आत्म-नियन्त्रण करना, अहिंसा-संयम-तपके महत्त्वको स्वीकार करना आदि तथ्योंपर प्रकाश डाल रही थी। श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर तीर्थंकरके उपदेशामृतका पान कर रहे थे। जब कोशलाधिपति प्रसेनजितको तीर्थंकर महावीरके समवशरणका समाचार ज्ञात हुआ, तो वह भी भक्ति-विभोर हो गया। वह विचार करने लगा—"निष्काम-भक्ति ही सुख-शांतिका साधन है। वीतरागकी उपासना करनेसे आत्मामें वीतरागता जागृत होती है। सच्ची सुख-शांति निराकुलतामें है। आकुलतासे क्रोध, मान, माया और लोभ आदि वृत्तियोंका प्रादुर्भाव होता है। ये वृत्तियाँ हमारे मनमें जितनी गहराईमें प्रविष्ट होती जाती हैं, हमारा मन उतना ही अधिक अशांत हो जाता है। अतएव तीर्थंकर महावीरकी शरण स्वीकारकर आत्म-कल्याणमें प्रवृत्त होना ही उपादेय है।"

प्रसेनजित भक्तिभावपूर्वक तीर्थंकरके समवशरणमें प्रविष्ट हुआ और भाव-विभोर होकर उनकी स्तुति करने लगा। उसने नियति या भाग्यवादके संबंध-में अपनी शंकाएँ उपस्थित कीं। भगवान्‌के दिव्योपदेशसे प्रसेनजितकी शंकाओं-का निराकरण हुआ और इसे अपने पुरुषार्थपर विश्वास हो गया। देशनामें एकान्तरूपसे भाग्य एवं पुरुषार्थवादकी समीक्षा की गयी थी और अनेकान्तद्वारा भाग्य एवं पुरुषार्थका समर्थन विद्यमान था। प्रसेनजित तीर्थंकर महावीरका भक्त बनकर धर्मपुरुषार्थी हो गया। शंख भी तीर्थंकर महावीरका भक्त बन गया।

कौशाम्बी : रानी मृगावतीकी दीक्षा एवं वृषभसेनका दिगम्बरत्व

तीर्थंकर महावीरका समवशरण विभिन्न जनपदोंसे होता हुआ, कौशाम्बी[1]-में आया। उस समय कौशाम्बी संकट-ग्रस्त थी। उज्जयिनीके राजा चण्ड-प्रद्योतने अपनी विशालवाहिनीके साथ कौशाम्बीपर आक्रमण कर दिया था। उसके पास अनुपम सैन्यबल था। राजा उदयन अभी बालक था, अतः शासन-का संचालन महारानी मृगावती कर रही थी। सभी भयभीत थे। अत्यधिक क्रोधी होनेके कारण ही उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योत कहलाते थे। युद्धका कारण यह था कि वह रानी मृगावतीको अपनी पत्नी बनाना चाहता था। वासना-

१. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, १०।८।१७६.

की पूर्तिके लिए उसने निर्दोष प्रजाका रक्त बहानेके हेतु कौशाम्बीपर आक्रमण किया था।

मृगावती अपने चातुर्यसे इस युद्धको टालना चाहती थी। उसने अपनी शील-रक्षा एवं युद्धको रोकनेका एक उपाय सोचा। उसने प्रद्योतके पास अपना सन्देश भेजा—"अभी पतिशोक ताजा है। मुझे राज्य-व्यवस्था भी करनी है तथा बालक उदयनकी अवस्था छोटी है। अतएव सोचने-समझनेके लिए अवसर दीजिए।"

प्रद्योत रानी मृगावतीके इस सन्देशको अवगतकर प्रसन्न हुआ और वह अपनी सेनाको व्यवस्थितकर उज्जयिनी लौट गया।

प्रद्योत मृगावतीके निमन्त्रणकी प्रतीक्षा करते-करते थक गया। उसने कौशाम्बी कई पत्र लिखे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। आखिर क्रोधित हो उसने कौशाम्बीपर पुनः आक्रमण कर दिया। रक्तपात होने ही वाला था कि महावीरके समवशरणकी धूम मच गयी। आबाल-वृद्ध सभी कौशाम्बी-निवासी समवशरणमें धर्मोपदेश सुननेके लिए जाने लगे। समवशरण कौशाम्बीके बाहर उद्यानमें अवस्थित था।

रानी मृगावतीने विचार किया कि करुणासागर तीर्थंकर महावीरके समवशरणकी शरण ही इस युद्धकी विभीषिकासे रक्षा कर सकती है। अतः उसने नगरके द्वार खोल दिये और उनके दर्शनार्थ चल पड़ी।

समवशरणमें देशना हो रही थी। महाराज प्रद्योत भी तीर्थंकरकी वाणी सुन रहे थे। महावीरने वातावरणको शांत बनानेका सामयिक उपदेश दिया। क्रोध, मान आदि आन्तरिक शत्रुओंपर विजय पाना ही सच्चा विजेता बनना है और यह विजय ही आत्माकी विजय है। संसारमें अमृत और विष दोनों हैं, यह हमपर निर्भर है कि किसे ग्रहण करें। धर्म अमृत प्राप्तिमें सहायक है, किन्तु आज धर्म और संस्कृतिकी बातको पाखण्डने आवृत कर दिया है। क्रियाकाण्ड, हिंसा, शोषण या जाति-वर्गभेद कभी धर्मके अंग नहीं हो सकते। धर्मका कार्य शांति और सुख प्रदान करना है।

इस उपदेशका प्रभाव महारानी मृगावतीपर भी पड़ा और उसके हृदयमें त्यागवृत्ति जागृत हुई। उसने खड़े होकर राजा प्रद्योतसे संयमाराधनाकी अनुमति माँगी। महाराजने सहर्ष आर्यिका-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति प्रदान की। रानी हर्षविभोर हो कहने लगी—"आप मुझे प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे रहे हैं, तो मेरे पीछे मेरे पुत्र उदयनका दायित्व भी आपको लेना

होगा। वह अभी अबोध है। अतः उसकी शिक्षा-दीक्षा आपको अपने पुत्रके समान करनी होगी तथा राज्यशासनके संचालनमें भी सहयोग देना होगा।"

तीर्थंकर महावीरकी वाणीके सुननेसे प्रद्योतकी आत्म-परिणति निर्मल हो चुकी थी, अतः उन्होंने रानी मृगावतीकी सभी बातोंकी स्वीकृति प्रदान की। रानीने आर्यिका-दीक्षा ग्रहण की। मृगावती वैशालीनरेश चटेककी पुत्री था और इसका विवाह कौशाम्बीनरेश शतानीकसे हुआ था। कहा जाता है कि शतानीक भी तीर्थंकर महावीरके उपदेशसे प्रभावित हुआ था, पर इसकी मृत्यु रोगविशेषके कारण हो गयी थी।

इस नगरका सेठ वृषभसेन विपुल सम्पत्तिका स्वामी था। चन्दनाको प्रश्रय इसीके यहाँ प्राप्त हुआ और यहीं पर महावीरका अभिग्रह पूर्ण हुआ तथा उन्होंने आहार ग्रहण किया। महावीरकी देशनासे प्रभावित होकर वृषभसेन अनेक व्यापारियों सहित मुनि बन गया। वत्सदेशकी कौशाम्बी नगरीमें तीर्थंकर महावीरका समवशरण कई बार आया था।

हस्तिशीर्ष : अदीनशत्रुके[1] पुत्र सुबाहुका व्रतग्रहण

संभवतः यह नगर कुरुदेशके पश्चिमोत्तर प्रदेशमें कहीं अवस्थित था[2]। इस नगरके बाहर पुष्पकरण्डक नामका उद्यान था, जहाँ कृतवनमालप्रिय यक्षका मन्दिर था। इस नगरमें अदीनशत्रु नामक राजा राज्य करता था। इसकी पट्ट-महिषीका नाम धारिणीदेवी था। धारिणीदेवीने एक रात्रिके अन्तिम प्रहरमें स्वप्नमें सिंह देखा। समय आनेपर उसे पुत्रलाभ हुआ और उसका नाम सुबाहु रखा।

सुबाहुकुमार जब युवा हुआ तो उसका विवाह पुष्पचूला नामक कन्यासे सम्पन्न हुआ। एक बार तीर्थंकर महावीरका समवशरण विहार करता हुआ हस्तिशीर्षनगरमें आया और नगरके उत्तर-पश्चिम स्थित उद्यानमें सभामण्डप निर्मित हुआ। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी तीर्थंकरकी वाणी सुननेके लिए आने लगे। राजा अदीनशत्रु भी समवशरणमें गया और धर्मोपदेश सुनकर आनन्दित हुआ।

राजकुमार सुबाहु भी रथपर आरूढ़ होकर समवशरणमें सम्मिलित हुआ। परिषद्के सदस्य देशना सुनकर चले गये, पर सुबाहुकुमार वहीं स्थित रहा।

---

१. विपाकसूत्र—(पी० एल० वैद्य सम्पादित), श्रु० २ अ० ५, पृ० ७५-७८.

२. श्रमण भगवान् महावीर : मुनि कल्याणविजय, पृ० ९८.

वह 'स्व' की उपलब्धि और स्वनिष्ठ आनन्दका चिन्तन करने लगा—"जीवन महत्त्वपूर्ण है, उसका कोई विशिष्ट प्रयोजन है। यह आधि-व्याधिके दुःखों और क्लेशोंसे नष्ट होनेके लिए नहीं है और न भोग-विलासके पंकमें लिप्त होनेके लिए ही है। इसका महान् उद्देश्य है। अतएव मुझे इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए प्रयास करना चाहिए।"

उसने इन्द्रभूति गौतम गणधरसे निवेदन किया—"प्रभो! मैं घरमें रहकर ही अभी साधना करना चाहता हूँ। अतएव मुझे अणुव्रत और शिक्षाव्रतोंके नियम देनेकी कृपा कीजिए। तीर्थंकर महावीरके चतुर्विध संघमें 'श्रावक' भी एक संघ है। श्रावक-धर्मके अभावमें मुनिधर्मका निर्वाह नहीं हो सकता है।"

इन्द्रभूति गौतमने सुबाहुकुमारको तीर्थंकर महावीरके समक्ष श्रावकके द्वादश व्रतोंके नियम दिये।

कालान्तरमें एक बार मध्यरात्रिमें जाग जानेके कारण सुबाहुकुमारके मनमें यह संकल्प उठा कि वे राजा और राजकुमार धन्य हैं, जो दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर आत्म-साधनापथपर विचरण करते हैं। अतः अबकी बार तीर्थंकर महावीर-का समवशरण आनेपर मैं मुनिदीक्षा ग्रहण करूँगा।

महावीरका समवशरण पुनः हस्तिशीर्षमें आया और पुष्पकरण्डक उद्यानमें धर्मसभा हुई। राजा अदीनशत्रु एवं सुबाहुकुमार आदि भी धर्मपरिषद्में सम्मिलित हुए और सुबाहुकुमारने विरक्त होकर अपने पितासे मुनिदीक्षा धारण करनेकी अनुमति माँगी। अनुमति प्राप्त होते ही उसने दिगम्बरी-दीक्षा ग्रहण कर द्वादशांग-वाणीका अध्ययन आरम्भ किया। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिसंख्या, रसपरित्याग आदि बारहव्रतोंका आचरण करते हुए वह कर्मनिर्जरामें प्रवृत्त हुआ।

सौगन्धिका नगरी[1] : अप्रतिहतकी जागी सुषुप्तचेतना

सौगन्धिका नगरीके समीप नीलाशोक उद्यान था, जिसमें सुकालयक्षका चैत्य था। महावीरके समयमें इस नगरीमें अप्रतिहत राजा राज्य करता था। इसकी महारानी सुकृष्णा थी। इनका पुत्र महाचन्द्र हुआ। महाचन्द्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और निकटभव्य था। यह आरम्भसे ही संसारसे विरक्त था। वह सोचता—"मनुष्य स्वयं अपने भाग्यका विधाता है। समाजमें ऊँच-नीच, आर्थिक संघर्ष एवं राजनीतिक दासताका अन्त आवश्यक है। मनुष्य अपनी आत्माका पूर्ण विकास कर सकता है और इस विकासका आधार अहिंसा है, जो जितना अहिंसक है, उसकी आत्मा उतनी ही विकसित है।"

उसने अपने मनमें निश्चय किया कि तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें जाकर संयम ग्रहण करनेकी इच्छा व्यक्त करूँगा।

१. विपाकसूत्र-पी० एल० वैद्य-सम्पादित, श्रु० २ अ० ५, पृ० ८२.

सौभाग्यसे तीर्थंकर महावीरका समवशरण सौगन्धिकामें आ पहुँचा। सभी आबालवृद्ध उनकी वन्दनाके लिए जाने लगे। मालीद्वारा राजा अप्रतिहतको भी समवशरणके आनेका समाचार मिला। राजा अप्रतिहत भी आसन्नभव्य था। अतः वह भी अपने परिवारसहित समवशरणमें सम्मिलित हुआ। वह तीर्थंकरकी स्तुति करता हुआ निवेदन करने लगा—"प्रभो! आपका जीवन मानव-समाजका आमूलचूल सुधार करनेके लिए है। आप घोरतपस्वी हैं, वीतराग हैं, हितोपदेशी हैं। अपका उदेशामृत सामाजिक, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिका प्रबल साधन है। बड़े भाग्योदयके होनेपर ही मनुष्य आपकी धर्मपरिषद्में सम्मिलित होता है। आपके दर्शनमात्रसे मेरे मानसचक्षु उद्घाटित हो गये हैं और मेरी आत्माकी मूर्छित चेतना जागृत हो गयी है। अतएव आपके उपदेशके फलस्वरूप मैं कल्याणमार्ग ग्रहण करनेके लिए प्रस्तुत हूँ।"

राजा अप्रतिहतने इन्द्रभूति गणधरसे व्रत ग्रहण करनेकी इच्छा व्यक्त की। कुमार महाचन्द्र तो पहलेसे ही संसारके प्रति अनासक्त था। कामिनी और काञ्चन इन दोनोंके आकर्षणका पहलेसे ही त्याग कर चुका था। वह अपनी भोगतृष्णाको संयमितकर श्रावकके व्रताचरणमें निरत था। वह संसारके वैभव और विषयसुखोंको विष मान रहा था। अतः महाचन्द्रने वैराग्य भावनाके उदित होते ही संसारकी मोह-ममतासे अपना नेह तोड़ दिया। उसने दिगम्बरी दीक्षा धारण करनेकी अपनी इच्छा व्यक्त की। फलतः माता-पितासे अनुमति लेकर वह दीक्षित हो गया और पूर्ण संयमकी आराधना करने लगा।

सौगन्धिकाकी धर्मसभाने अप्रतिहतके जागरणके साथ महाचन्द्रको भी आत्म-शोधनमें प्रवृत्त किया। माया, मिथ्यात्व और निदानका वमनकर समत्वभावको प्राप्त हो महाचन्द्र आत्महितका पथिक बना।

हेमाङ्गद देश : जीवन्धर : निर्वाणमार्गके पथिक

तीर्थंकर महावीरका समवशरण हेमांगद देशमें पहुँचा। यह प्रदेश वर्तमान में दक्षिणभारतमें कर्णाटकमें अवस्थित है। यहाँके सुरमलय उद्यानमें धर्म-सभा जुड़ी थी[1]। जीवन्धरने आनन्द-भेरी बजवाकर अत्यन्त समारोह पूर्वक

१. जिनपूजां विधायानु वर्धमानविशुद्धिकः।
सुरादिमलयोद्यानायानं वीरजिनेशितुः॥
श्रुत्वा विभूतिमद् गत्वा संपूज्य परमेश्वरम्।
महादेवीतनूजाय दत्वा राज्यं यथाविधिः॥
वसुन्धरकुमाराय वीतमोहो महामनाः।
मातुलादिमहीपालैर्नन्दाढ्यमधुरादिभिः॥—उत्तरपुराण ७५।६७९-६८१.

वीरसंघका स्वागत किया। तीर्थंकरके समवशरणमें भव्यजीव धर्मामृतका पान करनेके लिए जाने लगे। जीवन्धर भी गन्धर्वदत्ता आदि देवियोंके साथ समवशरणमें प्रविष्ट हुए। तीर्थंकर महावीरके उपदेशसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने महारानी गन्धर्वदत्ताके पुत्र वसुन्धरकुमारको राज्य देकर नन्दाढ्य, मधुर आदि भाइयों और मामाके साथ दिगम्बर-दीक्षा धारण की। समवशरणमें पहुँचते ही जीवन्धरकुमारका मोह शान्त हो गया, मन निर्मल बन गया और सम्यक्त्व सुदृढ हो गया। इस प्रसंगमें जीवन्धरकुमारका संक्षिप्त जीवनवृत्त देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

हेमांगददेशकी राजपुरीमें सत्यन्धर राजा अपनी रानी विजया सहित शासन करता था। राजा विषयासक्त हो अन्तःपुरमें अपना समय यापन करता था। अतः उसने काष्ठांगार नामक मन्त्रीको राज्यका अधिकारी बना दिया। रानी विजया गर्भवती हुई और उसे एक रात्रिके पिछले भागमें तीन स्वप्न दिखलाई पड़े। सत्यन्धरसे उसने स्वप्नोंका फल पूछा। प्रथम स्वप्नका अनिष्ट फल जानकर राजा कुछ सावधान हुआ और उसने एक मयूराकृति यन्त्र बनाया। काष्ठांगारने एक दिन बगावतकर राजा सत्यन्धरको मारनेके लिए सेना भेजी। राजाने वंशरक्षाके लिए गर्भवती महारानीको यन्त्रमें बैठाकर आकाशमें उड़ा दिया और स्वयं युद्ध करते करते मारा गया। चालकके अभावमें यन्त्र राजपुरीकी श्मशान भूमिमें गिरा। रानीने वहीं पुत्रको जन्म दिया। पुत्रके पालन-पोषणका साधन न देखकर उस पुत्रको राजनामांकित मुद्रिका पहनाकर श्मशानके एक हिस्सेमें रख दिया।

उस नगरीके सेठ गन्धोत्कटके यहाँ उसी दिन पुत्र जन्म हुआ, पर थोड़ी देरके अनन्तर उसकी मृत्यु हो गयी। फलतः वह मृतसंस्कारके लिए उस पुत्रको वहाँ लाया और यहीं उसे वह नवजात शिशु मिला। उसने उसे उठा लिया। पासमें छिपी विजयाने पुत्रको आर्शीवाद दिया—'जीव', अतः इस शब्दके आधारपर 'जीवक' या 'जीवन्धर' नाम रखा गया। गन्धोत्कटने घरपर जाकर पत्नीसे कहा—"तुमने जीवित पुत्रको मृत कैसे घोषित कर दिया।" सुनन्दा सेठानी पुत्रको प्राप्तकर बड़ी प्रसन्न हुई और अपना ही पुत्र समझ सावधानीपूर्वक पालन करने लगी। गन्धोत्कटने पुत्रप्राप्तिके उपलक्ष्यमें बहुत बड़ा उत्सव सम्पन्न किया। महारानी विजया पुत्र-व्यवस्थाके पश्चात् दण्डकवनमें तपस्वियोंके आश्रममें पहुँची। कुछ दिनोंके पश्चात् सुनन्दाको एक पुत्र और हुआ जिसका नाम 'नन्द' रखा गया। पाँच वर्षकी अवस्थामें जीवन्धरका विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न हुआ।

जीवन्धरने आर्यनन्दी गुरुसे समस्त विद्याओंका अध्ययन किया। आर्यनन्दीने एक अपना आत्मवृत्तान्त जीवन्धरको सुनाया और इसी प्रसंगमें उससे यह भी कहा कि तुम सत्यन्धर महाराजके पुत्र हो और तुम्हारा राज्य काष्ठांगारने हड़प लिया है। जीवन्धरद्वारा क्रोध प्रदर्शित किये जानेपर उन्होंने एक वर्ष तक युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा करायी। राजपुरी नगरीके नन्दगोपकी गायोंको एक दिन वनमें व्याधोंने रोक लिया। नन्दगोपने राजा काष्ठांगारसे प्रार्थना की कि गायें वापस दिलानेकी व्यवस्था करें। काष्ठांगारने व्याधोंसे लड़नेके लिए सेना भेजी, पर सेना कुछ न कर सकी। फलतः नन्दगोपने नगरमें घोषणा करायी कि जो व्यक्ति भीलोंसे गायोंको छुड़ा लायेगा, उसे स्वर्णकी सात पुत्त-लियाँ दहेजमें देकर अपनी गोविन्दा नामक पुत्रीका विवाह कर दूँगा। जीवन्धर भीलोंसे गायोंको छुड़ा लाया और अपने मित्र पद्मास्यके साथ गोविन्दाका विवाह करा दिया।

राजपुरी नगरीका श्रीदत्त सेठ जहाजी बेड़ा लेकर व्यापारके लिए गया। वह सामान लेकर लौट रहा था कि उसका जहाज समुद्रमें डूबने लगा। उसे वहाँ एक स्तूप मिला, जहाँ एक व्यक्ति छिपा हुआ था, उसने कहा—"यह गान्धार देश है। यहाँ की नीलालोक नगरीमें गरुडवेग विद्याधर राजा रहता है। इसकी पुत्री गन्धर्वदत्ता है। जन्मके समय ज्योतिषियोंने भविष्यवाणी की है कि राजपुरी नगरीमें जो इसे वीणावादन कर पराजित करेगा, वही इसका पति होगा। आपका जहाज डूबा नहीं है, यह भ्रम है। आप गन्धर्वदत्ताको अपने जहाजमें बैठाकर राजपुरी ले जाइये।" श्रीदत्तने गन्धर्वदत्ताको अपने जहाजमें बैठा लिया और राजपुरीमें आ गया। यहाँ काष्ठांगारकी स्वीकृतिसे स्वयंवर योजना की गयी, जिसमें राजकुमारोंने वीणावादन किया। पर सभी राजकुमार गन्धर्वदत्तासे हार गये। अन्तमें जीवन्धरने अपनी घोषवती वीणा बजायी और गन्धर्वदत्ताको पराजित कर उसके साथ विवाह किया।

वसन्त ऋतुमें जलक्रीडा सम्पन्न करनेके लिए नगरवासियोंके साथ जीवन्धर-कुमार भी गया। वहाँ वैदिकोंके द्वारा घायल किये गये एक कुत्तेको उन्होंने 'णमोकार' मंत्र सुनाया, जिससे उसने यक्ष-पर्याय प्राप्त की। कुत्तेके जीव उस यक्षने अपने ज्ञानबलसे उपकारीको जान लिया, अतः वह जीवन्धरके समक्ष अपनी कृतज्ञता प्रकट करने आया। वह समय पड़नेपर सेवामें उपस्थित होनेका वचन देकर चला गया। इस उत्सवमें गुणमाला और सुरमंजरी नामकी दो सखियाँ भी सम्मिलित हुई थीं। उन्होंने 'स्नानीय चूर्ण' तैयार किये। उनके चूर्णोंकी परीक्षा जीवन्धरकुमारने की और गुणमालाके चूर्णको श्रेष्ठ सिद्ध किया। इससे

सुरमंजरी रूठकर चली आयी और जीवन्धरकुमारसे विवाह करनेका अनुबन्ध किया। गुणमाला स्नानकर उत्सवसे लौट रही थी कि काष्ठांगारके मदोन्मत्त हाथीने उसे घेर लिया। प्रियंवदा सखीको छोड़ अन्य सभी व्यक्ति भाग गये। जीवन्धरने हाथीको भगा दिया। गुणमालाका जीवन्धरके साथ विवाह भी हो गया।

हाथीको ताड़ित करनेके कारण राजा काष्ठांगार जीवन्धरपर बहुत रुष्ट हुआ और उसे अपनी सभामें पकड़वाकर बुलाया। गन्धोत्कटने कुमारको सभामें उपस्थित कर दिया। राजा काष्ठांगारने उसके वधका आदेश दिया। कुमारने यक्षका स्मरण किया। यक्ष कुमारको चन्द्रोदय पर्वतपर ले गया। वहाँ उसने उनको तीन मन्त्र दिये और एक वर्षमें राजा होनेकी भविष्यवाणी की। जीवन्धरकुमार वहाँसे चलकर एक वनमें आया, जहाँ दावाग्निसे बहुतसे हाथी जल रहे थे। कुमारने जिनेन्द्र-स्तवनद्वारा मेघवृष्टिकर दावाग्निको शान्त किया। तीर्थवन्दना करते समय कुमार चन्द्रप्रभा नगरीमें आया, यहाँ धनमित्रकी पुत्री पद्मासे विवाह किया।

चन्द्रप्रभा नगरीसे चलकर कुमार दक्षिण देशके सहस्रकूट चैत्यालयमें आया और वहाँ चैत्यालयके बन्द किवाड़ोंको अपने स्तुतिबलसे खोला, जिससे क्षेमपुरीके सुभद्र सेठकी पुत्री क्षेमश्रीके साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ।

क्षेमपुरीमें कुछ दिनों तक रहनेके पश्चात् कुमार जीवन्धर मायानगरीके समीप पहुँचा और वहाँके दृढ़मित्र राजाके पुत्रोंको धनुर्विद्या सिखलायी। राजाने प्रसन्न होकर अपनी कन्या कनकमालाका विवाह जीवन्धरके साथ कर दिया।

क्षेमपुरीमें जीवन्धरका साक्षात्कार नन्दभाईसे हुआ। वह सुनाता है कि गन्धर्वदत्ताने अपने विद्याबलसे मुझे यहाँ भेजा है तथा वह गन्धर्वदत्ताका पत्र भी देता है। इसी समय पद्मास्य आदि मित्र भी कुमारसे मिलते हैं और दण्डकारण्यमें माता विजयाके निवास करनेका समाचार देते हैं। कुमार माताजीके दर्शन करता है और उन्हें अपने मामाके यहाँ भेज देता है। वह राजपुरीमें लौट आता है और वहाँ सागरदत्तकी कन्या विमलाके साथ विवाह करता है।

कुमारका मित्र बुद्धिषेण कहता है—"पुरुषोंकी छायासे घृणा करनेवाली सुरमंजरीके साथ विवाह करो, तभी तुम्हारी विशेषता मानी जा सकती है।" कुमार यक्षद्वारा प्रदत्त विद्याबलसे वृद्ध ब्राह्मणका वेश धारणकर सुरमंजरीके

यहाँ गया और उसे प्रभावित कर कामदेवके मन्दिरमें ले आया। यहाँ कामदेव-की पूजा करते समय उसने कुमार जीवन्धरको प्राप्त करनेकी याचना की। कुमारने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और सुरमंजरीका कुमारके साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

सुरमञ्जरीसे विवाह होनेके उपरान्त कुमार अपने धर्ममाता-पिता सुनन्दा और गन्धोत्कटके यहाँ आया और परिवारसे मिलकर प्रसन्न हुआ। जीवन्धरने राज्यप्राप्तिके लिए उनसे सलाह की। पश्चात् वह धरणीतिलका नगरीके राजा अपने मामा गोविन्दराजके पास गया। मामा गोविन्दराजने राजपुरीको ससैन्य प्रस्थान किया और वहाँ नगरके बाहर मण्डप तैयारकर चन्द्रक यन्त्र बनवा-कर घोषणा की कि जो व्यक्ति इस यन्त्रका भेदन करेगा, उसके साथ लक्ष्मणाका विवाह किया जायगा। अनेक राजकुमारोंने प्रयास किया, पर सभी असफल रहे। अन्तमें जीवन्धरने यन्त्रका भेदन किया। गोविन्दराजने समस्त व्यक्तियों-को कुमार जीवन्धरका परिचय कराया। काष्ठांगार जीवन्धरकुमारसे बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने युद्धके लिए कुमारको ललकारा। काष्ठांगार युद्धमें मारा गया। जीवन्धरकुमार राजा हो गया और उसने अपने धर्मभाई सेठपुत्र नन्दकुमारको युवराज नियत किया। कुमारका विवाह भी लक्ष्मणाके साथ सम्पन्न हो गया।

जीवन्धरकुमार अपनी आठों स्त्रियों सहित जलक्रीडाके लिए गया। वहाँ एक वानर-वानरीके प्रेमकलहको देखकर उसके मनमें विरक्ति हुई। तीर्थंकर महावीरके समवशरणका सम्पर्क प्राप्तकर जीवन्धरकुमारने मुनिदीक्षा धारण की[1]।

महावीरकी धर्मसभाने उसके जीवनमें मंगल-प्रभातका उदय किया। सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी उपलब्धि हुई। तीर्थंकरके निर्वाणपट्टपर जीवन्धरके नये हस्ताक्षर शोभित हो रहे थे। जीवन-संग्राममें जूझनेकी जिस कलाका अनुभव जीवन्धरकुमारने किया था, उसीका क्रियात्मक प्रयोग तपस्याकालमें किया। अहिंसा, मैत्री, अपरिग्रह और सत्यकी उदात्त भावनाएँ उनके जीवनको उत्तरोत्तर निर्मल बनाती रहीं।

हेमपुरीका यह समवशरण जीवन्धरकुमारके आत्मोत्थानका प्रबल साधन बना।

---

१. गद्यचिन्तामणि और जीवन्धरचम्पू—सम्पादक पं० पन्नालाल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, उत्तरपुराणान्तर्गत जीवन्धरचरित्र, अध्याय ७५; पं० दौलतरामकृत 'जीवन्धरचरित; वीरवाणी, जयपुर, अंक ३-४, सन् १९६६.

कलिंग : वीरश्रेणी और चित्रश्रेणीका व्रतग्रहण

तीर्थंकर महावीरका कलिंगदेशमें विहार हुआ। यह कलिंग राज्य पूर्वी समुद्रतटपर तामलुकसे गंजम पर्यन्त व्याप्त था। इसकी उत्तरी सीमा गंगा नदीको स्पर्श करती थी। दक्षिणमें मध्य गंजमके उपरान्त घने वन फैले हुए थे। पूर्वमें भारतीय महासागर था और पश्चिमी सीमा मध्यप्रान्तकी अमर-कंटक पर्वतमाला तक फैली थी। दक्षिण कोसल या महाकोसल प्रदेश भी इसीके भीतर था। कलिंगको त्रिकलिंगदेश भी कहा गया है, क्योंकि इसमें उत्कल, कंगोद और कोसल ये तीन देश सम्मिलित थे। कलिंगमें तीर्थंकर महावीरके समवशरणका विहार हुआ और कुमारीपर्वतपर समवशरण स्थित हुआ[1]। कुमारीपर्वत आजकल उदयगिरि कहलाता है[2]। डॉ० ज्योति-प्रसादने भी लिखा है—"तीर्थंकर पार्श्वका विहार कलिंगदेशमें हुआ था। भगवान् महावीर भी वहाँ पधारे थे और राजधानी कलिंग नगरके निकट कुमारीपर्वतपर उनका समवशरण लगा था। उपर्युक्त घटनाओंकी स्मृतिमें उक्त स्थानपर स्तूपादि स्मारक बने थे और मुनियोंके निवासके लिये गुफाएँ भी निर्मित हुई थीं, जो खारवेलके समयके बहुत पहलेसे वहाँ विद्यमान थीं।[3]"

तीर्थंकर महावीरके समय कलिंगदेशपर जितशत्रु नामका राजा राज्य करता था, जो महावीरके पिता राजा सिद्धार्थका मित्र और बहनोई था। इन्हींकी कन्या यशोदाके साथ महावीरके विवाहकी बात चली थी, पर महा-वीरने विवाह करनेसे इनकार कर दिया और वे आजन्म ब्रह्मचारी बने रहे।

जब कलिंगनरेश जितशत्रुका तीर्थंकर महावीरके समवशरणके आगमन-का समाचार मिला, तब वह प्रसन्नतापूर्वक जय-जयध्वनि करता हुआ कुमारी-पर्वतपर धर्मसभामें सम्मिलित हुआ। महावीरके धर्मामृतका उसपर अपूर्व प्रभाव पड़ा और उसकी आत्मा संसारके प्रपंचोंसे दूर हटकर कल्याणके हेतु मचल उठी। वह चेतन-आनन्दकी खोजमें संलग्न होनेके लिये चिन्तन करने लगा। निजानुभूतिकी गहराईमें उतरते ही उसका मिथ्यात्व गल गया, मोह नष्ट हो गया और वह दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये कृतसंकल्प हो गया। जितशत्रुने निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा ग्रहणकर कर्मक्षपणका प्रयास किया[4]।

---

१. महावीर जयन्ती-स्मारिका, सन् १९७३, पृ० ३९.

२. हाथी गुम्फा अभिलेख, पंक्ति १४.

३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, प्रथम संस्करण पृ० १८१.

४. बाबू कामता प्रसाद जैन, भगवान् महावीर, प्रथम संस्करण, पृ० १३३.

कलिंग देशके बसन्तपुर नगरके राजा वीरश्रेणीका राजकुमार चित्रश्रेणी इतना सुन्दर था कि उसके रूपको देखकर उस नगरकी स्त्रियाँ अपनेको भूलकर उसपर मोहित हो जाती थीं। जनताने राजासे निवेदन किया कि कुमारका नगर-परिभ्रमण स्त्रियोंके कष्टका कारण होता है, अतएव कुमारके नगर-परिभ्रमणपर बन्धन लगा देना चाहिये। कुमारका अपराध न होनेपर भी राजाने प्रजाको संतुष्ट करनेके हेतु राजकुमारको देशसे निष्कासित कर दिया। वह रत्नपुर नगरीमें आया। वहाँके राजाकी पुत्री पद्मावती[1] अनिन्द्य सुन्दरी थी। अतएव अनेक राजकुमार उसके साथ परिणय करनेके हेतु वहाँ आते, पर वे सभी निराश होकर लौट जाते। पद्मावतीने यह संकल्प किया था कि जो रूप-लावण्यमें उससे अधिक सुन्दर होगा, उसीके साथ वह विवाह करेगी।

जब कुमार चित्रश्रेणी रत्नपुर नगरीमें पहुँचा तो उसके सौन्दर्यकी चर्चा समस्त नगरमें व्याप्त हो गयी और नगरवासी युवक-युवतियाँ उसे देखनेके लिये आने लगे। चित्रश्रेणीको देखकर पद्मावतीका पिता बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी रूपसी कन्या पद्मावतीका विवाह चित्रश्रेणीके साथ कर दिया। चित्रश्रेणी कुछ दिनों तक सांसारिक ऐश्वर्य और भोग-विलासोंका उपभोग करता रहा, पर जब उसे कुमारीपर्वतपर तीर्थंकर महावीरके समवशरणके पधारनेका समाचार प्राप्त हुआ, तो वह उनके समवशरणमें धर्मामृत सुननेके लिये पहुँचा। संयोगवश महाराज वीरश्रेणी भी वहाँ उपस्थित थे। वीरश्रेणीने चित्रश्रेणीके विरक्त भावोंको अवगतकर स्वयं भी दीक्षित होनेकी इच्छा व्यक्त की। वे धर्मोपदेश सुनकर नगरमें पधारे और चित्रश्रेणीका राज्याभिषेककर पुनः तीर्थंकर महावीरके निकट जाकर मुनि-दीक्षा ग्रहण की[2]।

चित्रश्रेणी और पद्मावतीने प्रभुके पादमूलमें श्रावकव्रत ग्रहण किये। बहुत समयतक प्रजाका पालनकर चित्रश्रेणी और पद्मावतीने भी मुनि एवं आर्यिका दीक्षाएँ धारण कीं।

कलिंगकी ओरसे ही पुण्ड्र, वंग और ताम्रलिप्त आदि देशोंमें भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणका विहार हुआ और वहाँकी जनताको अहिंसा-धर्मका उपासक बनाया। महावीरका समवशरण जिस स्थानपर जाता, उसी स्थानका

---

१. कथानकके लिये देखिये, चित्रश्रेणी पद्मावती चरित तथा Dr. Kamata prasad द्वारा लिखित Religion of Tirhankaras' (world jain mission, Ali G. Jurg. पृ० १५१.

२. जैन सिद्धान्त-भास्कर, भाग १२, किरण १, पृ० १६-२२.

प्राणीवर्ग परस्परके वैर-विरोधको छोड़कर शान्ति और सुखका अनुभव करता। महावीरके प्रभावसे चारों ओर सुभिक्ष और शान्ति व्याप्त हो जाती थी।

वंगदेश : सिंहरथ-जातिस्मरण एवं नग्गतिका प्रत्येकबुद्धत्व

तीर्थंकर महावीरका समवशरण वंगदेशके पुण्ड्रवर्द्धन[1] नगरमें पधारा। इस नगरकी स्थिति वर्तमानमें मालदह जिलेमें मालदहसे छह मील उत्तरकी ओर बंगालमें मानी जाती है। वर्तमानका पाण्डुआ अथवा पांडुआ, पुण्ड्रका अपभ्रंश रूप है। पुराने पुण्ड्रवर्द्धनमें दीनाजपुर, रंगपुर, नदिया, वीरभूमि, जंगलमहल और चुनार जिले शामिल थे।

इस नगरमें सिंहरथ नामका राजा राज्य करता था। एक बार उत्तरापथके किसी राजाने सिंहरथको अश्व भेंट किये। उनमें एक अश्व वक्रशिक्षावाला था। राजा उस वक्रशिक्षावाले अश्वपर सवार हुआ और उनका कुमार दूसरे अश्वपर। इस प्रकार राजा सिंहरथ अपनी सेनाके साथ नगरके बाहर क्रीड़ा करनेके लिये चल पड़ा।

घोड़ेकी चाल तेज करनेके लिये राजाने उसे चाबुक लगाया। घोड़ा तेजीसे भागा। राजा घोड़ेको रोकनेके लिये जितनी ही लगाम खींचता, घोड़ा उतना ही तेज होता जाता। इस प्रकार भागता-भागता घोड़ा राजाको बारह योजन दूर तक जंगलमें ले गया। लगाम खींचनेसे राजा थक गया था। अतः उसने घोड़ेकी लगाम ढीली कर दी। रास ढीली होते ही घोड़ा रुक गया। घोड़ेके रुक जानेसे राजाको यह ज्ञात हो गया कि यह अश्व वक्रशिक्षावाला है। राजाने घोड़ाको वृक्षसे बांध दिया और फल-पुष्प खाकर अपनी क्षुधा शान्त की। रात्रि व्यतीत करनेकी दृष्टिसे राजा पहाड़के ऊपर चढ़ा। उसे सातमंजिल ऊँचा भवन दिखलायी पड़ा। राजा उस भवनमें भीतर गया और उसे एक अत्यन्त रूपवती कन्या मिली। कन्याने राजाको उच्चासन दिया और उसका परिचय पूछा। राजाने भी कन्याके सम्बन्धमें जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा—"तुम कौन हो और यहाँ एकान्त स्थानमें क्यों रहती हो?"

कन्याने उत्तर दिया—"पहले मेरे साथ आपका विवाह हो जाय, तत्पश्चात् मैं आपको सारी बात बताऊँगी।" विवाहके अनन्तर उस कन्याने कहना आरम्भ किया—

"क्षितिप्रतिष्ठ नामक नगरमें जितशत्रु नामका राजा रहता था। एक समय

---

१. श्रमण भगवान् महावीर, मुनि कल्याणविजय, पृ० ३७६ तथा तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ५६९.

उसने अपनी चित्रशाला बनवायी और नगरके चित्रकारोंको बुलाकर सबको बराबर भाग बाँटकर, उस चित्रसभाको चित्रित करनेका आदेश दिया। चित्रकारोंमें चित्रांगद नामका एक अत्यन्त वृद्ध चित्रकार था। इसे पुत्र नहीं था, केवल एक कनकमंजरी नामकी कन्या थी। वह प्रतिदिन अपने पिताके लिये चित्रसभामें भोजन लेकर आती। एक दिन वह भोजन लेकर चित्रसभाकी ओर आ रही थी कि राजमार्गपर घोड़ेके दौड़नेसे वह भयभीत हो गयी और कुछ बिलम्बसे भोजन लेकर पिताके पास पहुँची। जब पिता भोजन कर रहा था, तब कनकमंजरीने एक मयूर-पिच्छ बना दिया। उस दिन सभागार देखने राजा आया और मयूर-पिच्छ देखकर उसे उठाने लगा, पर वह तो चित्र था, आघातसे उँगलीका नख टूट गया।

राजाको ध्यानपूर्वक चित्र देखते हुए देखकर कनकमंजरी कहने लगी—"अबतक तीन पांव वाला पलंग था। आज चतुर्थ मूर्खके मिल जानेसे पलंगके चारों पांव पूरे हो गये।"

राजा कहने लगा—"शेष तीन कौन हैं? और मैं चौथा किस प्रकार हूँ?" कन्या कहने लगी—"मैं चित्रांगद नामक चित्रकारकी पुत्री हूँ। मैं सर्वथा अपने पिताके लिये भोजन लेकर आती हूँ। आज जब मैं राजमार्गसे भोजन लेकर आ रही थी, तो एक घुड़सवार बड़ी तेजीसे घोड़ेको दौड़ाता हुआ राजपथसे आ रहा था। भीड़-भाड़की जगहमें तेजीसे घोड़ा चलाना बुद्धिमानी नहीं है। अतः वह मूर्खरूपी पलंगका पहला पावा है।

दूसरा मूर्ख इस नगरका राजा है, जिसने चित्रकारोंकी शक्ति और योग्यताको बिना जाने ही सभी चित्रकारोंको समानभाग चित्र बनानेको दिया है। घरमें अन्य सहयोगी होनेसे दूसरे चित्रकार तो अपने कार्यको अल्प समयमें समाप्त करनेमें समर्थ हैं, पर मेरे पिता तो पुत्र रहित है, वृद्ध हैं। वे अकेले दूसरोंके समान कैसे काम कर सकते हैं? अतएव मूर्खरूपी पलंगका दूसरा पावा यहांका राजा है।

तीसरे मूर्ख मेरे पिता हैं। उनका अर्जित धन समाप्त हो चुका है, जो बचा है उससे ही किसी प्रकार भोजन बनाकर नित्य मैं लाती हूँ। जब मैं भोजन लेकर आती हूँ, तब वे शौचादि क्रियाओंसे निवृत्त होनेके लिये जाते हैं। मेरे आनेके पूर्व वे इन क्रियाओंको सम्पन्न नहीं करते। इतनेमें भोजन ठण्डा और नीरस हो जाता है। अतएव मूर्खरूपी मंचेके वे तीसरे पावे हैं।

चतुर्थ मूर्ख आप हैं। जब यहाँ मोरके आनेकी कोई सम्भवना नहीं, तब फिर

मयूर-पंख यहाँ कहाँसे आयेगा ? यदि कोई मयूर-पंख ले भी आये, तो उसे हवा-से उड़ जाना चाहिये। इनकी जानकारीके बिना आप उसे लेनेके लिये तैयार हो गये। अतः चौथे पावे आप हैं।"

राजाने उस चतुर सुन्दरी कन्यासे विवाह कर लिया और जन्मान्तरमें वह कनकमंजरी तोरणपुर नामक नगरमें दृढ़शक्ति राजाकी पुत्री हुई और उसका नाम कनकमाला रखा गया। वह चित्रकार मरकर व्यन्तरदेव हुआ। कनक-मालाने उस देवसे पूछा—"इस भवमें मेरा पति कौन होगा ?" देवने कहा—"पूर्वमें जो जितशत्रु नामक राजा था, वही इस भवमें सिंहरथ नामक राजा होगा और घोड़ेपर सवार होकर यहाँ आयेगा।"

इस आख्यानको सुनकर सिंहरथको भी जाति-स्मरण हो गया। कुछ दिनों तक राजा वहाँ रहा और पश्चात् राजधानीमें लौट आया। वह प्रायः पर्वतपर कनकमालाके यहाँ जाया करता था और वहाँ रहनेके कारण ही उसका नाम नग्गति पड़ा।[1]

कार्तिक मासकी पूर्णिमाके दिन राजा ससैन्य भ्रमण करने निकला और वहाँ नगरके बाहर एक आम्रवृक्षको देखकर वह प्रतिबोधको प्राप्त हुआ और प्रत्येकबुद्ध हो गया।

नग्गति प्रत्येकबुद्ध होनेपर भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें गये और वहाँ ही उन्होंने प्रत्येकबुद्धत्वकी योग्यता अर्जित की। सिंहरथको तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कने ही जितशत्रुकी पर्यायमें प्रत्येकबुद्धत्वप्राप्तिकी योग्यता समाहित की।

सुश्मकदेश[2] (दक्षिणभारत) : विद्रदाजकी दीक्षा

इस देशकी राजधानी पोदनपुर थी। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ आया। समवशरणके आनेका समाचार प्राप्त करते ही सभी नर-नारी उनकी वन्दनाके लिये समाहित होने लगे। राजा विद्रदाज भी अपने मंत्रियों सहित तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये गया। महावीरका कल्याणकारी उपदेश सुनकर उसकी आत्म-ज्योति प्रज्वलित हो गयी। वह मानव-जीवनके महत्त्वको समझने लगा—"जो मानव सच्चे मनसे धर्माचरण करता है, वह अपने भीतरकी

१. तओ कालेण जम्हा नगे अईइ तम्हा 'नग्गइ एस' त्ति पइट्ठियं नामं लोएण राइणो।
—उत्तराध्ययन (नेमिचन्द्र-टीका), पत्र १४४२.

२. महावीर जयन्ती-स्मारिका सन् १९७३, पृ० ४०.

विकृतियोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, अपने सोये हुए दिव्यभावको जागृत कर लेता है तथा स्वर्गके देवताओंके लिये भी वन्दनीय हो जाता है। अहिंसा, संयम और तपकी ज्योति आत्माको आलोकित कर देती है।" अतएव उसने अपने पुरुषार्थको जागृतकर दिगम्बर-दीक्षा धारण करनेका संकल्प लिया। वह अपने प्रधान आमात्य सहित मुनि बन गया।

मत्स्यदेश : नन्दिवर्द्धनका अर्चन-वन्दन

मत्स्यदेशकी स्थिति वर्त्तमानमें अलवर, धौलपुर, भरतपुर और जयपुरके प्रदेशोंमें सीमित हैं। साढ़े पच्चीस आर्यदेशोंमें इसकी गणना की गयी है। मत्स्य-देशकी राजधानी विराटनगरी थी। जो वर्तमान जयपुरसे उत्तर-पूर्वमें बयालीस मील पर है। मत्स्य-जनपद कुरुराजके दक्षिण और यमुनाके पश्चिममें था। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ आया और यहाँके राजाओंने अत्यन्त हर्षोल्लासके साथ उनके धर्मोपदेशको सुना। तीर्थंकर महावीरके यहाँ पहुँचनेका प्रभाव आज भी विद्यमान है।

प्रसिद्ध इतिहासकार ओझाजीके शब्दोंमें मेवाड़ राज्यमें सूर्यास्तके अनन्तर रात्रि-भोजनकी आज्ञा न थी[1]। टॉड साहबका कथन है कि कोई भी जैन यति उदयपुरमें पधारे, तो रानी महोदया आदरपूर्वक राजमहलमें लाकर सम्मान-पूर्वक ठहराती और आहारका प्रबन्ध करती थी[2]।

आबूके राजा नन्दिवर्द्धनने जब महावीरके समवशरणकी चर्चा सुनी, तो उसका मनमयूर भी हर्षोन्मत्त हो नृत्य करने लगा। वह सोचने लगा कि तीर्थ-करोंका सम्पर्क भव्यव्यक्तियोंको ही प्राप्त होता है। जो जन्म-मरणके दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये तीर्थंकर-वाणी ही कल्याणप्रद है। संसारके शत्रुओंसे युद्ध करना सरल है, पर इन्द्रियोंके साथ युद्ध करना कठिन है। जो इन्द्रियजयी हैं, वही संसारमें महान् हैं। ज्ञान मानवताका सार है। पर ज्ञानका भी सार सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा है। ज्ञान, दर्शन और चारित्रके परिपूर्ण होनेसे ही आत्मा शाश्वत सुखको प्राप्त कर सकती है। जिसने मनुष्य शरीर प्राप्तकर, सद्धर्मका श्रवण नहीं किया, और सद्धर्म श्रवणकर भी जिसने संयम और तप धारण नहीं किया, उसका धर्म-श्रवण कोई महत्त्व नहीं रखता। अनादिकालसे यह प्राणी मनोरम काम-भोगोंमें आसक्त है। स्वर्गका वैभव सहजमें प्राप्त हो सकता है, पुत्र-मित्रादिका संयोग भी सुलभ है, पर एक धर्मकी

---

१. ओझाजीकृत अनूदित, टॉड राजस्थान, जागीर-प्रथा, पृ० ११.

२. रा० रा० वासुदेव गोविन्द आप्टे, जैनधर्मका महत्त्व, सूरत, भाग १, पृ० ३७.

प्राप्ति होना दुर्लभ है। मुझे इस समय बहुत ही अच्छा संयोग प्राप्त हुआ है। इस संयोगका लाभ उठाना चाहिये।

इस प्रकार विचारकर राजा नन्दिवर्द्धन तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें गया और वहाँ उसने श्रावकके द्वादश व्रत ग्रहण किये। महावीरकी स्मृतिमें उसने एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया[1]। जिसका पता खुदाईसे प्राप्त एक अभिलेख द्वारा मिलता है[2]।

अवन्ती : चण्डप्रद्योतका नमन

तीर्थंकर महावीरका समवसरण विभिन्न स्थलोंपर विहार करता हुआ अवन्तिदेशकी उज्जयिनी नगरीमें पहुँचा। यहाँ चण्डप्रद्योत शासन करता था। यह प्रतापशाली और क्रोधी स्वभावका था। बताया गया है कि इसके पास चार रत्न थे :—१. लोहजंग नामक लेखवाहक, २. अग्निभीरु नामक रथ, ३. अनलगिरि नामक हस्ति और ४ शिवा नामक देवी।[3] शिवा देवी वैशालीके राजा चेटककी बेटी थी। चण्डप्रद्योतकी आठ रानियाँ थीं। उनमें एकका नाम अंगारवती था। यह अंगारवती सुंसुमारपुरके राजा धुन्धुमारकी पुत्री थी। इस अंगारवतीको प्राप्त करनेके लिए प्रद्योतने सुंसुमारपुरपर घेरा डाला था। अंगारवती श्राविकाके व्रतोंका पूर्णतया पालन करती थी।

चण्डप्रद्योतका सम्बन्ध राजगृह, वत्स, वीतभय और पांचाल आदि देशोंके साथ भी था। चण्डप्रद्योत अपने समयका प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, पुरुषार्थी, शूरवीर और वासना-प्रिय था।

जब तीर्थंकर महावीरका समवशरण उज्जयिनीमें पहुँचा, तो उज्जयिनी-के सभी नर-नारी उपदेशामृत पान करनेके लिये समवशरणमें सम्मिलित हुए। राजा प्रद्योत भी धर्म-श्रवणकी इच्छासे समवशरणमें सम्मिलित हुआ। वह सोचने लगा कि तीर्थंकरका दर्शन सौभाग्योदयसे ही होता है। मैंने अपने जीवन-में अनेक युद्धकर विजयलाभ किये हैं। अब तकके जीवनपर दृष्टिपात करने-से ज्ञात होता है कि मैंने जो कुछ भी किया है वह शरीर और संसारके लिये किया है, आत्माके लिये कुछ नहीं किया है। अब समय आ गया है अतः आत्म-शोधनके लिये प्रवृत्त होना आवश्यक है।

---

१. जैनमित्र (सूरत) १५।३।१९३१.

२. मूर्तिका प्राचीन इतिहास (फलोधि), पृ० १३६ तथा महावीर जयन्ती-स्मारिका, सन् १९७३, पृ० ४०.

३. आवश्यकचूर्णि, भाग २, पत्र १६० तथा त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, १०।११।१७३.

महावीर क्रियाकाण्ड और यज्ञका विरोध, धार्मिक जड़ता एवं आर्थिक अपव्ययको रोकनेके लिए ही कर रहे हैं। मनुष्य-मनुष्यके बीच भेद-भावकी खाई जातिवादके कारण उत्पन्न हो रही है। ईश्वरके नामपर जनता पुरुषार्थ-को भुली हुई है। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीरने आत्माको ही ईश्वर बताया है और आत्माके लिए जोर दिया है। संतुलित और संघर्ष-विहीन जीवन-यापनके लिये आचार, विचार-सहिष्णुता एवं वाणीकी उदारता आवश्यक है। मानव-जीवनके मूल्योंमें शांति, संयम, क्षमा और सुखको प्रधान स्थान दिया गया है। अतएव मैं तीर्थंकर महावीरके चरणोंमें नमनकर धार्मिक आचार-व्यवहारको ग्रहण करूँगा। तीर्थंकर महावीरकी सुदृढ़ भक्ति ही आत्मोत्थानका कारण है।[1] इस प्रकार विचारकर चण्डप्रद्योतने इन्द्रभूति गौतम गणधरसे श्रावकके व्रत ग्रहण किये।

पांचाल जनपद : जन-अभिनन्दन

पांचाल जनपदकी राजधानी काम्पिल्य नगरी थी। यह नगरी गंगाके तट पर बसी हुई थी। काम्पिल्यके नामकरणके सम्बन्धमें कई मत हैं। पांचालके राजा भृम्यश्वके एक पुत्रका नाम कपिल या काम्पिल्य था। इसीके नामपर नगरीका नाम कम्पिल्य पड़ा होगा। पौराणिक इतिवृत्तोंसे ज्ञात होता है कि पंचाल राज्य दो भागोंमें विभक्त था। इन दोनों भागोंकी सीमा गंगा नदी थी। गंगाके उत्तरका भाग उत्तरी पंचाल कहलाता था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी। दक्षिणवाला भाग दक्षिण पंचालके नामसे प्रसिद्ध था, जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी। पंचालके निर्बल हो जानेपर कौरववंशी शासकोंने यहाँ आधिपत्य जमाया।

काम्पिल्य जैन तीर्थंकरोंकी विहारभूमि रहा। भारतवर्षकी प्रसिद्ध दस राजधानियोंमें काम्पिल्यकी गणना है।[2]

---

१. Malva was blessed by the auspicious visit of Tirthankar Mahavira, in whose time king pradyota was rules of ujjain a great devotee of the lord in deed.—The religion of Tirthankaras, P. 167.

२. जम्बूदीवे भरहवासे दस रायहाणिओ पं० तं०—चंपा १, महुरा २, वाराणसी ३, य सावत्थी ४, तहत सातेतं ५, हत्थियणाउर ६, कंपिल्ल ७, मिहिला ८, कोसंबि ९, रायगिहं—ठाणांगसूत्र, ठाणा १०, उद्देशः ३, सूत्र ७१९, पत्र ४७७-२.

अत्थि इहेव जंबुद्दीवे दक्खिण भारह खण्डे पुव्वदिसाए पंचाला नाम जणवओ। तत्थ गंगानाम महानई तरंगभंगिपक्खालिज्जमाण पायारभित्तिअं कंपिल्ल-पुरं नामं नयरं····—विविधतीर्थकल्प, पृ० ५०.

काम्पिल्य नगरमें संजय या जय नामक एक राजा राज्य करता था।[1] एक दिन वह सेना और वाहन आदिसे सज्जित होकर आखेट आदिके लिए निकला और घोड़ेपर आरूढ़ राजा केसर नामक उद्यानमें मृगोंका शिकार करने लगा। इस उद्यानमें एक परमतपस्वी मुनि द्राक्षा और नागवल्ली आदि लताओं-के मण्डपमें ध्यानस्थ थे। राजा मुनिके समीप पहुँचा और घोड़ेसे उतरकर मुनिराजके चरणोंमें 'नमोऽस्तु' कर अपने अपराधकी क्षमा-याचना करने लगा। मुनिराज कहने लगे—"हे पार्थिव! तुझे अभय है। तुम भय और आतंक उत्पन्न करना छोड़ अभय देनेवाले बनो और हिंसाके मार्गको छोड़ो। प्राणियोंको दुर्गतिमें ले जानेवाली हिंसा है। जो व्यक्ति यह लोक और परलोकके सुखकी कामना करता है उसे हिंसाका त्याग कर देना चाहिए। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य आदि पदार्थ क्षणविध्वंसी हैं। जो आत्मोत्थानका इच्छुक है वह संसारके विषय-सुखोंमें आसक्त नहीं रहता। अतएव हे राजन्! आपको आत्म-कल्याणके लिये प्रवृत्त होना चाहिए।"

संजय तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें प्रविष्ट हुआ और वहाँ उसने निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की। इसी नगरका कुण्डकोली भी अपनी पत्नी सहित महावीरके समवशरणमें धर्मसाधनमें प्रवृत्त हुआ। काम्पिल्य नगरीके जन-समुदायने बड़े भक्ति-भावके साथ तीर्थंकर महावीरका अभिनन्दन किया और उनके प्रति अपार भक्ति प्रदर्शित की।

अहिच्छत्रामें भी तीर्थंकर महावीरका समवशरण पहुँचा था और वहाँके निवासियोंने धर्मामृतका पानकर अपनेको कृतार्थ माना था।

सम्भवतः पंजाबमें ही गान्धारदेशकी राजधानी तक्षशिला भी भगवान् महावीरके समवशरणसे पवित्र हुई थी। यहाँके निकटमें कोटेरा ग्रामके पास एक पहाड़ीपर तीर्थंकर महावीरके शुभागमनको सूचित करनेवाला एक ध्वस्त मन्दिर अवशिष्ट है। जैन साहित्यमें पंचालकी गणना सोलह जनपदोंमें की गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि तीर्थंकर महावीरके समवशरणसे पंचालके सभी नगर पवित्र हुए हैं।

---

१. तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ६६०; श्रवण भगवान महावीर, प्रथम संस्करण, पृ० ३६१. तथा भगवान् महावीर, कामता प्रसाद, प्रथम संस्करण, पृ० १३५. विशेष जाननेके लिए देखें—उत्तराध्ययन, सुखबोधटीका, अध्ययन १८, २२८।१, २५९।२.

दशार्ण : दशार्णभद्रका[1] निर्ग्रन्थत्व

भोपाल राज्य सहित पूर्व मालव प्रदेश पहले दशार्ण कहलाता था। मौर्य-कालमें इसकी राजधानी चैत्तगिरिमें और उसके पश्चात् विदिशा या भेलसामें थी। जैन सूत्रोंमें इस देशकी गणना आर्यदेशोंमें की गई है और इसकी राजधानीका नाम मृत्तिकावती लिखा गया है। मृत्तिकावती वत्सभूमिके दक्षिणमें प्रयागके पार्वतीय प्रदेशोंमें अवस्थित थी।

यहाँका राजा दशार्णभद्र था। उसे एक दिन चरपुरुषोंद्वारा यह सूचना प्राप्त हुई कि कल प्रातः दशार्णपुरमें तीर्थंकर महावीरका समवशरण आनेवाला है। चरपुरुषकी बात सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने अपनी सभाके समक्ष निवेदन किया—"कल प्रातःकाल मैं तीर्थंकर महावीरकी वन्दना ऐसी समृद्धिसे करना चाहता हूँ जैसी समृद्धिसे कभी किसीने न की हो।"

वह अन्तःपुरमें गया और अपनी रानियोंसे भी तीर्थंकर-वन्दनाकी बात करने लगा। दसार्णभद्र रात्रिभर तीर्थंकर महावीरके स्वागतके लिये कल्पनाएँ करता रहा। सूर्योदयसे पूर्व ही नगरके अध्यक्षको बुलाकर नगर सजानेका आदेश दिया। नगर ऐसा सजाया गया, जैसे वह स्वर्गका एक खण्ड ही हो। राजाने स्नान किया, अंगराग लगाया, पुष्पमालाएँ पहनीं, उत्तमोत्तम वस्त्रा-भूषण धारण किये और उत्तम गजपर सवार होकर तीर्थंकर महावीरके समव-शरणकी ओर ऋद्धिपूर्वक चल पड़ा।

उसका अहंकार देखकर इन्द्रके मनमें दशार्णभद्रके गर्वहरणकी इच्छा व्याप्त हुई। अतः इन्द्रने जलमय एक विमान बनाया। उसे नाना प्रकारके स्फटिक मणियोंसे सुशोभित किया। उस विमानमें कमल आदि पुष्प विकसित थे और नानाप्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे। उस विमानमें बैठकर इन्द्र अपने देव-समुदायके साथ समवशरणकी ओर चला।

इन्द्र अतिसज्जित ऐरावत हाथीपर बैठकर पृथ्वीपर पहुँचकर देव-देवियोंके साथ समवशरणमें आया। इन्द्रकी इस ऋद्धिको देखकर दशार्णभद्रके मनमें अपनी ऋद्धि-समृद्धि क्षीण लगने लगी और उसने वस्त्राभूषण उतारकर दिगम्बर-दीक्षा धारण कर ली।

---

१. दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ताणं मुणीचरे।
दसण्णभद्दो निक्खतो, सक्खं सक्केण चोइओ ॥
—उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्य-टीका, अध्ययन १८, श्लोक ४४, पत्र ४४७-२.

दशार्णभद्रो दशार्णपुरनगरवासी विश्वंभराविभुः यो भगवन्तं महावीरं दशार्णकूट-नगरनिकटसमवसृतमुद्यान—ठाणांगसूत्र सटीक, पत्र ४८३-२.

दशार्णभद्रको दीक्षित होते देखकर इन्द्रने अपने पराजयका अनुभव किया। वह दशार्णभद्रके पास गया और उसके त्याग और वैराग्यकी पुन: पुन: प्रशंसा करने लगा। दशार्णभद्रने तीर्थंकर प्रभुके समवशरणमें अपने मिथ्यात्व और मोहका दलनकर सम्यक्त्व लाभ किया।

सुह्म : कण-कण पुलकित

वर्तमानमें हुगली और मिदनापुरके बीचके प्रदेशको 'सुह्म' माना जाता है। यह उड़ीसाकी सीमापर फैला हुआ दक्षिण बंगका प्रदेश है। कुछ विद्वान् 'दक्षिण बंगको' सुहम मानते हैं और इसकी राजधानी ताम्रलिप्ति बतलाते हैं। एक अन्य मान्यताके अनुसार हजारीबाग, संथालपरगनाके जिलोंकी गणना सुह्मके अन्तर्गत है। वैजयन्तीकार सुह्मको राढ़का ही नामान्तर मानते हैं।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण ताम्रलिप्त, राढ़ और सुह्मकी भूमिमें पहुँचा था। प्राकृत चरितकाव्योंमें समुद्रतटवर्ती ताम्रलिप्तिमें समवशरणके पहुँचनेका निर्देश आया है। महावीरके धर्मोपदेशसे यहाँकी भूमिका कण-कण आनन्दसे विभोर था। प्रजा दर्शनके लिए नदी-नालोंके समान उमड़कर जा रही थी। महावीर धर्मका स्वरूप प्रतिपादित कर रहे थे और जनता उत्सुक होकर धर्मामृत पान कर रही थी। विश्वबन्धुत्व और विश्वमैत्रीका उपदेश सभीको प्रभावित कर रहा था। इस धरतीकी मानसिक और सांस्कृतिक पङ्गुता समाप्त हो रही थी। स्वस्थ चिन्तनकी सुमधुर और सुरभित वायु लोक-जीवनको आनन्दित कर रही थी। सुह्म देशकी भूमि आज कृतार्थ हो गयी थी, उसका कण-कण पुलकित था।

अस्मक-पोतनपुर : प्रसन्नचन्द्रकी दीक्षा

अस्मक देशकी राजधानी पोतनपुर थी। बौद्ध ग्रन्थोंमें भी पोत नगरको अस्सककी राजधानी बताया गया है। जातक-ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि पहले अस्सक और दन्तपुरके राजाओंमें परस्पर युद्ध हुआ करता था। यह पोतन कभी काशीराज्यका अंग भी रह चुका था। वर्तमान पैठनकी पहचान पोतनसे की जाती है।[१] सातवाहनकी राजधानी प्रतिष्ठान यही पोतनपुर है।

एक बार महावीरका समवशरण विहार करता हुआ पोतनपुर नगरमें पधारा। इस नगरके बाहर मनोरम नामक उद्यानमें धर्मपरिषद् एकत्र हुई। समवशरणके आनेका समाचार प्राप्त करते ही पोतनपुरनरेश प्रसन्नचन्द्र[२] तत्काल

१. ज्यागरैफी ऑव अर्ली बुद्धिज्म, पृ० २१.

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व १०, सर्ग ९, पद्य २१–५०.

तीर्थंकरकी वन्दनाके लिए चल दिया। यहाँ वह महावीरकी देशनासे अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसके राग-द्वेष विभाजित होने लगे। उसके हृदयमें विभिन्न प्रकारको अनुभूतियोंका संघर्ष हो रहा था। कभी वह अपने विशाल राज्यकी ओर सोचता और अपने उत्तराधिकारीकी अल्पवयका चिन्तनकर मोहाभिभूत हो जाता। 'मेरे द्वारा दीक्षा ग्रहण कर लेनेपर इतने विशाल साम्राज्यका संचालन कैसे हो? अभी मेरा पुत्र छोटा है, मन्त्रियोंके ऊपर इतने बड़े राज्यका दायित्व सौंप देना उचित नहीं है।' अतः उसके दीक्षाके भावोंपर मोहके पयोधर आच्छादित हो जाते।

कुछ क्षणके पश्चात् वह सांसारिक सम्बन्धों, अस्थिरताओं, वासना-जन्य विकृतियों और जगत्के प्रपञ्चोंके विषयोंमें सोचता, तो उसका हृदय विरक्तिसे परिपूर्ण हो जाता। संसारके सभी संयोगीभाव उसे कष्टकर प्रतीत होने लगते।

शुभ परिणामोंकी तीव्रता और सघनताने उसके मिथ्यात्वभावको गला दिया और सम्यक्त्वके सूर्योदयने आत्माको अलोकित कर दिया। अतः उसने दिगम्बर-दीक्षा धारण करनेका निश्चय किया।

द्वादश अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे परिणामोंमें निर्मलता बढ़ती जाती और वह आरम्भ एवं परिग्रहका त्याग करनेके लिए कृत-संकल्प होता जाता। फलतः समस्त वस्त्रोंका त्यागकर केशलुञ्चन करनेके लिए वह प्रवृत्त हुआ। पञ्चमुष्टी केश-लुञ्च करते ही मनकी ग्रन्थियाँ खुल गयीं। राजा प्रसन्नचन्द्रका चारों ओर जयघोष सुनायी पड़ रहा था। इन्द्रभूति गौतम गणधरके तत्त्वावधानमें और अन्तिम तीर्थंकर महावोरके पादमूलमें सम्पन्न यह दीक्षा सभीकी चर्चाका विषय थी।

प्रसन्नचन्द्रने अपने अल्प-वयस्क पुत्रको प्रधान अमात्यके संरक्षणमें राज्यभार सौंप दिया। प्रसन्नचन्द्र दीक्षित होकर महावीरके संघमें उग्र तपश्चरण करने लगा।

एक दिन समवशरणमें श्रेणिकने प्रसन्नचन्द्रके सम्बन्धमें प्रश्न किया। इन्द्र-भूतिने प्रसन्नचन्द्रके परिवारकी कथा सुनायी।[1] कालक्रमानुसार प्रसन्नचन्द्रने केवलज्ञान प्राप्त किया।

केकयार्द्धजनपद-श्वेताम्बिका : प्रदेशीका मोह-ग्रन्थि-भेदन

जैन ग्रन्थोंमें प्रतिपादित साढ़े पच्चीस आर्यदेशोंमें इसकी गणना की गई है। केकयराज्यका उपनिवेश होनेके कारण यह केकयार्द्ध कहलाता था।

---

१. परिशिष्ट पर्व, याकोबी-सम्पादित द्वितीय, संस्करण, सर्ग १, पद्य ९२-१२८.

श्वेताम्बिका इस जनपदकी राजधानी थी। इसके ईशान-कोणमें नन्दनवनके समान मृगवन नामक उद्यान था। यहाँका राजा प्रदेशी[1] अधार्मिक, नास्तिक और अधर्मानुकूल आचरण करनेवाला था। उसके शील-आचारमें धर्मका किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं था। एक दिन प्रदेशीका साक्षात्कार पार्श्वापत्य केशीकुमारसे हुआ। केशीकुमारने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-सम्बन्धी विचारोंका महत्त्व बतलाते हुए प्रदेशीको आस्तिक बनानेका प्रयास किया। प्रदेशी केशीकुमारके आचार-सम्बन्धी विचारोंसे अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसे मानव-जीवनके रहस्यका बोध हो गया। जीवनमूल्योंकी पहचान उसे प्राप्त हो गयी।

प्रदेशीने यह अनुभव कर लिया कि भौतिक शरीरसे ज्ञान-दर्शनरूप आत्मा भिन्न है—आत्मा देह या पञ्चभूतरूप नहीं है। जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप चतुर्भूतसे आत्माको उत्पन्न मानते हैं, वे अज्ञानी हैं—आत्म-स्वरूपके बोधसे रहित हैं। प्रदेशीने अपनी शंकाका समाधान करनेके लिए केशीसे प्रश्न किया—"मेरे पिता निर्दयी थे और मरकर नरक गये, जहाँ वह दुःख भोग रहे हैं, फिर वह उन दुःखोंसे बचनेके लिए मुझे क्यों सम्बोधित नहीं करते ?"

केशीकुमार—"राजा अपराधीको दण्ड देता है, उस दण्डको भोगते समय जैसे अपराधी अपने पुत्र-कलत्रके पास नहीं जा सकता, उसी प्रकार नारकी जीव अपने अशुभ कृत्योंका फल भोगते समय वहाँसे तब तक नहीं निकल सकता है, जब तक सम्पूर्ण कर्मोंका फल भोग नहीं लेता।"

प्रदेशी—"अच्छा यह मान लिया, पर यह बतलाइये कि मेरी धर्मात्मा दादी स्वर्ग गयी हैं, वह मुझे सम्बोधित करने क्यों नहीं आती ?"

केशी—"जो मनुष्य देवदर्शनके लिए शुद्ध होकर मन्दिर गया है, वह अशुद्धिके भय से दूसरे कामके लिए बुलाये जानेपर भी नहीं आता। देवगतिके जीव शुद्ध हैं, उन्हें मनुष्यगतिकी अशुचिता असह्य है। अतः उपर्युक्त भक्तके समान वे नहीं आते। पर जिन जीवोंका पारस्परिक मोह प्रबल होता है और वे इष्टमित्रोंका उपचार करना चाहते हैं, वे कष्ट सहकर भी आते हैं। आगम-ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उदाहरण मिलते हैं। सीताजीका जीव अपने एक बन्धुको सम्बोधित करनेके लिए नरक गया था।"

प्रदेशीकी जिज्ञासा अभी भी शान्त नहीं हुई। उसके मनमें आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें अभी भी आशंका अवशिष्ट थी। अतः वह कहने लगा—

---

१. पएसिकहा, रायपसेणी सटीक, पत्र २७३.

"एक मरनेवाले व्यक्तिको सन्दूकमें बन्द कर दिया जाता है तथा सन्दूकको भी चारों ओरसे इस प्रकार बन्द कर दिया जाता है, जिससे उसमें हवा भी नहीं जाती। पर मरते समय वह आत्मा न तो सन्दूकके भीतर दिखलायी पड़ती है और न कहीं बाहर ही। यदि आत्मा है, तो उसे अवश्य दिखना चाहिए।"

केशी—"राजन्! भवनके भीतर सब दरवाजों और खिड़कियोंको बन्द करके जब संगीतकी मधुरध्वनि आरम्भ होती है, तब उसे भवनके बाहर निकलते हुए कोई नहीं देखता, पर वह निकलकर श्रोताओंके कानोंसे टकराती है और उन्हें आह्लादित करती है। सूक्ष्म शब्द तो पौद्गलिक हैं, फिर भी नेत्रोंसे नही दिखते। अब विचार कीजिए कि अरूपी यह आत्मा नेत्रोंसे किस प्रकार दिखलायी पड़ेगी?"

प्रदेशीकी जिज्ञासा अभी शान्त नहीं हुई थी। अतः वह पुनः प्रश्न करता हुआ कहने लगा—"मनुष्य-शरीरके टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें एक ऐसे सन्दूकमें भर दिया जाय, जिसमें कोई दूसरी वस्तु प्रवेश न कर सके। यहाँपर शरीरके वे टुकड़े सड़ जाते हैं और उनमें कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि जीव यहाँपर कहाँसे आता है?"

केशी—"राजन्! जब आत्मा निकलते हुए नहीं दिखलायी पड़ती तो प्रवेश करते हुए किस प्रकार दिखलायी पड़ेगी? अमूर्त्तिक आत्माका दर्शन नहीं होता, अनुभूति होती है।"

इस प्रकार केशीकुमारने प्रदेशीको आत्माके अस्तित्वका बोध कराया और उसके परिणामोंमें परिवर्त्तन किया।

ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ तीर्थंकर महावीरका समवशरण कैकेयी[1]-की राजधानी श्वेताम्बिकामें आया। प्रदेशी परिजन-पुरजन सहित महावीरकी वन्दनाके लिए गया। भगवान्‌की दिव्यध्वनि प्रारम्भ हुई, सभी श्रोता धर्म-श्रवणकर आनन्दित हो रहे थे। अवसर प्राप्तकर प्रश्न किया—"संसारका कारण क्या है? और मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जाती है? लोकके प्राणी किस प्रकार सुखी होते हैं?"

इन्द्रभूति गणधरके निमित्तसे धर्मको प्रतिपादित करते हुए तीर्थंकर महावीर-ने कहा—"षट् द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल द्रव्यमें दो प्रकारकी परिणमन शक्तियाँ हैं—(१) स्वभाव और (२) विभाव। शेष द्रव्योंका परिणमन स्वभाव

---

1. कैकेयऽत्रेय····हरिवंशपुराण ३।५

रूप ही होता है। ये दोनों द्रव्य विभावरूप परिणमन करनेके कारण अनादि कालसे सम्बद्ध हैं। शरीरमें बंधा हुआ जीव शुभाशुभ कर्म कर रहा है। जीवने पूर्व जन्ममें कर्म किये हैं और इस जन्ममें भी कर्म संचित कर रहा है। इन संचित कर्मोंके शुभाशुभ फलको भोगता हुआ जीव सुखी-दुःखी होता है। यदि व्रतोपवास, संयम, तपस्या आदिके द्वारा इन कर्मोंकी निर्जरा कर ले, तो शरीर-बन्धनसे मुक्त हुआ जा सकता है। मन, वचन, काय द्वारा आस्रव निरोधकर संवरका पालन किया जाय, तो नवीन कर्मोंका बन्धन नहीं होता और तपस्या-से संचित कर्मोंका नाश हो जानेपर भवभ्रमणका अन्त हो जाता है। निस्स-न्देह कर्मक्षयसे ही दुःखक्षय होता है।"

तीर्थंकर महावीरके कार्य-कारण सिद्धान्तपर आधृत उपदेशने अन्य श्रोताओंके साथ राजा प्रदेशीको बहुत प्रभावित किया। इस सन्दर्भमें सप्ततत्त्व, नवपदार्थ, पञ्चास्तिकाय, छः द्रव्य, चार कषाय और अष्टकर्मोंके स्वरूपको समझा। आत्म-परिणतिके निर्मल होते ही प्रदेशीके राग-द्वेष गल गये, उसकी आत्मा आलोकसे आपूरित हो गयी और उसने मुनिदीक्षा धारण कर ली।

कुरुदेश-हस्तिनापुर : शिवराजर्षि द्रवीभूत

हस्तिनापुरकी अवस्थिति मेरठसे २२ मील पूर्वोत्तर और बिजनौरसे नैर्ऋ-त्यमें बूढ़ी गंगाके दक्षिण तटपर मानी जाती है। इस नगरके बाहर उत्तर-पूर्व दिशामें सहस्राम्रवन नामका उद्यान था। वह उद्यान सब ऋतुओंके फल-पुष्पोंसे समृद्ध था और नन्दनवनके समान रमणीय था।

उस समय हस्तिनापुरमें शिव नामका राजा राज्य करता था। इसकी पट्टरानीका नाम धारिणी था। इस दम्पतिके शिवभद्र नामक पुत्र था।

एक दिन राजाके मनमें रात्रिके पिछले प्रहरमें विचार आया कि हमारे पास जो विपुल धनसम्पत्ति है, वह सब पूर्वोपार्जित पुण्यका फल है। अतः पुनः पुण्यार्जनके लिए प्रयत्न करना चाहिए। अपने उक्त विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेके उद्देश्यसे उसने अपने पुत्र शिवभद्रको राज्यपदपर प्रतिष्ठित कर दिया और स्वयं तापस दीक्षा लेकर गंगातटपर व्रतोपवास करना आरम्भ किया।

शिवराजर्षिने घोर तपश्चरण किया और दिक्चक्रवाल तपके प्रभावसे उसने विभंगावधि प्राप्त किया। उसे अपने इस कुअवधिके कारण अधिकांश वस्तुएँ विपरीत दिखलायी पड़ने लगीं। उसे सात द्वीप और सात समुद्र दिखलायी पड़ने लगे।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण हस्तिनापुरके निकटवर्त्ती सहस्राम्रवनमें पहुँचा। समवशरणके प्रभावसे इस आम्रवनका सौन्दर्य कई गुना बढ़ गया। समवशरणसभाकी चर्चा समस्त कुरुदेशमें व्याप्त हो गयी। नर-नारियाँ विभिन्न प्रकारकी वेश-भूषामें सजकर महावीरके समवशरणमें सम्मिलित हुईं। स्वार्थी, भोगी, उच्छृंखल पुरुष अपनी विभिन्न-लालसाओंसे विवश होकर इस धर्मसभा-में सम्मिलित न हो सके, पर विभिन्न दिशाओं और विदिशाओंसे अगणित नर-नारी धर्म-प्रवचनके श्रवणके लिये एकत्र हुए। समवशरण हरित-श्याम वर्णकी मणियोंसे सुशोभित था और स्थान-स्थानपर मणि-मुक्ताओंके झालर-तोरण लगे थे। उद्यानकी उपत्यकामें विभिन्न प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे। विभिन्न सरोवरोंमें कमल विकसित थे और मंगलवाद्योंकी उछाहभरी रागि-नियोंसे विशाल उद्यान-प्रान्त गूंजित था। तोरण, द्वार, गोपुर, मण्डप और वेदिकाओंसे तटभूमि रमणीय थीं। जब देशना आरम्भ हुई, तो किसीने प्रश्न किया—"प्रभो! शिवराजर्षि इस लोकमें सात ही द्वीप और सात ही समुद्र बत-लाता है। क्या उनका यह कथन सत्य है?"

महावीरने कहा—' गौतम ! इस तिर्यक् लोकमें स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। शिवका उक्त कथन सत्य नहीं है।"

आजकी दिव्यध्वनिका विषय लोक-वर्णन था। लोकका स्वरूप, विस्तार, द्वीप, समुद्र, क्षेत्र आदिके सम्बन्धमें उपदेश हो रहा था। जब शिवराजर्षिको तीर्थंकरके उपदेशका परिज्ञान हुआ, तो उसका विभंगज्ञान नष्ट हो गया और वह सोचने लगा कि काय-क्लेश सहनकर मैंने जो पुण्यार्जन किया है, वह तो संसार-परिभ्रमणका ही कारण है। राग-द्वेषकी निवृत्तिके विना जन्म-मरणके दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वह जितना अधिक अपना आत्मालोचन करता, उतना ही उसकी आत्मामें प्रकाश फैलता जाता। राशि-राशि सौन्दर्य उसके चरणोंके समक्ष विद्यमान था। अतएव वह तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें आकर जिन-दीक्षा धारण करना चाहता था। मोहका परदा हटते ही, उसकी आत्मा द्रवीभूत हो गयी। मिथ्यात्वका पंक धुल गया और सम्यक्त्वकी ज्योति प्रज्वलित हो गयी।

शिवराजर्षिने त्रिवार 'नमोस्तु' किया और गौतम गणधरके निकट बैठकर अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट की। उसकी आत्मासे ज्ञान और दर्शनकी किरणें निःसृत होने लगीं। उसने अनुभव किया कि कर्मावरणकी सघनता छूट रही है और आध्यात्मिक अनुभूति बढ़ती जा रही है। सम्यक्त्वके साथ सम्यक् विवेक भी उत्पन्न हो गया है और आत्मा चारित्र ग्रहण करनेके लिये उत्सुक है।

शिवराजर्षिने इन्द्रभुति गौतमसे निवेदन किया—"स्वामिन् ! अज्ञानता-पूर्वक तो मैंने बहुत तप किया है, पर अब मैं ज्ञानपूर्वक तीर्थंकर महावीरकी शरणमें रहकर संयम और तपका आराधना करना चाहता हूँ। कृपया मुझे निर्ग्रन्थ मुनिके व्रत दीजिए।"

शिवराजर्षिने पंचमुष्टि लोंचकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की।[1]

पुरिमताल : महाबलका[2]-वन्दन

प्रयागका ही प्राचीन नाम पुरिमताल बतलाया जाता है। जैन ग्रन्थोंके आधारपर यह अयोध्याका एक शाखानगर रहा होगा। यह निःसन्देह है कि पुरिमताल प्राचीन नगर था। इस नगरके शकटमुख उद्यानमें बग्गुर श्रावकने तीर्थंकर महावीरकी अर्चा की थी। पुरिमतालके अमोघदर्शी उद्यानमें तीर्थंकर महावीरका समवशरण आया हुआ था। भव्य नर-नारी इस समवशरणमें सम्मिलित होकर धर्मामृतका पान कर रहे थे।

जब इस नगरके नृपति महाबलको तीर्थंकर महावीरके समवशरणके पधारनेकी सूचना प्राप्त हुई, तो वह भी अपने दल-बल सहित वन्दनाके लिये चला। जब वह समवशरणमें प्रविष्ट हुआ, तो उसे विजयचौर सेनापतिके पुत्र अभग्नसेनके पूर्व भवोंका वर्णन सुनायी पड़ा। इस पूर्व भवावलिको सुनकर महाबल प्रभावित हुआ और उसे संसार, शरीर एवं भवोंसे विरक्ति होने लगी। पर उसके मनमें राज्य-संचालनकी आकांक्षा अवशिष्ट थी। अतः धार्मिक प्रवृत्तिके रहते हुए भी, वह तीर्थंकर महावीरकी केवल वन्दना कर नगरमें लौट आया। महाबल अपने समयका प्रसिद्ध शासक था और तीर्थंकर महावीरके प्रति अपार श्रद्धा रखता था।

वर्द्धमानपुर : विजयमित्रका धर्मश्रवण

वर्द्धमानपुरकी स्थिति आधुनिक बंगालमें होनी चाहिये। यदि इसका सम्बन्ध आधुनिक वर्दवान नगरसे जोड़ा जाय, तो आश्चर्य नहीं। इस नगरके बाहर विजयवर्द्धन नामक उद्यान था। यहाँ मणिभद्र यक्षका विशाल मन्दिर

---

१. समणेणं भगवता महावीरेणं अट्ठ रायाणो मुंडे भवेत्ता आगारातो अणगारितं पव्वाविता, तं०—वीरंगय, संजय एणिज्जते य रायरिसी। सेय सिवे उदायणे [तह संखे कासिवद्धणे]—स्थानांगसूत्र, सटीक, स्थान ८, सूत्र ६२१ पत्र (उत्तरार्द्ध) ४३०–२.

२. विपाकसूत्र (पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित) सू० १, अ० ३, पृ० २६-२७.

था। इस नगरमें विजयमित्र[1] नामक राजा राज्य करता था। तीर्थंकर महावीरका समवशरण ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वर्द्धमानपुरमें आया। अन्य जनताके समान विजयमित्र भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें धर्मश्रवण करनेके लिए गया। यहाँ उसने देखा कि विश्वकल्याणके हेतु तीर्थंकर महावीरका धर्म-प्रवचन हो रहा है। वह मनोयोगपूर्वक उनके उपदेशको सुनता रहा। उसे तीर्थंकर महावीरका व्यक्तित्व विकसित पुष्पके सौरभके समान प्रतीत हुआ और ऐसा लगा कि चारों ओरका वातावरण सुरभित हो रहा है। सरलता, सत्यनिष्ठा, संयम, इन्द्रिय-निग्रह आदि जीवनमूल्य विविध प्रकारसे जीवनको प्रेरित कर रहे थे। वह तीर्थंकरकी वाणीसे भक्ति-विभोर हो गया और विनय-पूर्वक उनकी वन्दना की।

वाराणसी : जितशत्रुका नमन

प्राचीन समयमें काशीराष्ट्र अत्यन्त प्रसिद्ध था। इस राष्ट्रकी राजधानी वाराणसी[2] नगरी थी। इसके बाहर कोष्ठक नामक चैत्य था। यहाँ कई बार तीर्थंकर महावीरका समवशरण आया। यहाँके तत्कालीन राजाका नाम जितशत्रु[3] था। इस नगरीके चुलनी पिता और सुरादेव नामक धनाढ्य गृहस्थ महावीरके दश श्रमणोपासकोंमें थे। यहाँके राजा लक्षको काममहावन चैत्यमें तीर्थंकर महावीरने अपना शिष्य बनाया था।

तीर्थंकर महावीरके समवशरणका समाचार अवगतकर जितशत्रु उनकी वन्दनाके लिये पहुँचा और उसने अत्यन्त भक्ति-भाव-विभोर होकर उनकी अर्चा की।

काकन्दी : धन्य एवं सुनक्षत्रका मोह छिन्न

काकन्दी[4] उत्तर भारतकी प्राचीन और प्रसिद्ध नगरी थी। यह नूनखार स्टेशनसे दो मील और गोरखपुरसे दक्षिणपूर्व तीस मील किष्किन्धा अथवा खुखुन्दके नामसे प्रसिद्ध है।

---

१. विपाकसूत्र, पी० एल० वैद्य-सम्पादित, श्रु० १, अ० १०, पृ० ७२.

२-३. वाराणसी नामं नगरी.......... जियसत्तू राया।—उवासगदसाओ, पी० एल० वैद्यसम्पादित, पृ० ३२.

४. श्रवण भगवान् महावीर, मुनि कल्याणविजय, पृ० ३६१.
कागन्दी नामं नयरी होत्था।........जियसत्तू राया।
—अणुत्तरोववाइयदसाओ, एन० वी० वैद्य सम्पादित, पृ० ५१.

बताया जाता है कि काकन्दीके बाहर सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। इस उद्यानमें तीर्थंकर महावीरका समवशरण एकाधिक बार आया था। राजा जितशत्रुने भक्ति-भावसे तीर्थंकरकी वन्दना की थी। जब समवशरणमें गृहस्थ-धर्मका वर्णन किया जा रहा था, तब क्षेमक और धृतिधरने इन्द्रभूति गौतम गणधरसे श्रावकके द्वादश व्रत ग्रहण किये थे।

जिस समय तीर्थंकर महावीर आत्म-धर्मका प्रवचन कर रहे थे और कषाय एवं विकारोंको पर-संयोगजन्य होनेके कारण हेय बतला रहे थे, उस समय भद्रा सार्थवाहीके पुत्र धन्य और सुनक्षत्र बहुत प्रभावित हुए। वे सोचने लगे कि "आत्मा अपने स्वरूपका अनुभव, परिज्ञान और शुद्धाचरण न कर शरीर, धन, सम्पत्ति, परिवार, मित्र आदि पदार्थोंको अपना समझ उनसे राग-मोह करती है। राग-मोह और द्वेषके कारण ही संसारका सारा जंजाल जीवके समक्ष उपस्थित होता है। अतएव राग-द्वेषका त्यागकर ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य आत्माकी अनुभूति करना ही आत्महितका साधन है।"

धन्य और सुनक्षत्रने आत्म-प्रकाश प्राप्तकर इन्द्रभूति गौतमसे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेकी अभिलाषा प्रकट की। वास्तविक विरक्ति अवगतकर गौतम गणधरने इन दोनोंको दिगम्बर-प्रव्रज्या प्रदान की।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण बम्बईके भरुच नगरमें भी गया और यहाँ का तत्कालीन राजा वसुपाल अधिक प्रभावित हुआ। नगरसेठ जिनदत्त तथा उसकी पत्नी जिनदत्ता एवं पुत्री नीलीने श्रावकके व्रत ग्रहण किये।

सिन्धु-सौवीर : उदायनका सम्यक्त्व-बोध

जैन आगम-ग्रन्थोंमें साढ़े पच्चीस देशोंमें सिन्धु-सौवीरका नाम भी सम्मिलित है[1]। महावीरके समयमें यह एक संयुक्त राज्य था, पर बादमें सिन्धु-सिन्धके नामसे और सौवीर पृथक् नामसे प्रयुक्त होने लगा। भारतीय साहित्यमें सिन्धु-सौवीरका विशेष महत्त्व दिखलायी नहीं पड़ता। बौद्धायनमें सिन्धु सौवीरको अस्पृश्य देश कहा गया है और वहाँ जानेवाले ब्राह्मणको पुनः संस्कारके योग्य बताया है। बौद्ध साहित्यमें गान्धार और कम्बोज राज्योंके उल्लेख तो हैं, पर सिन्धु-सौवीरके नहीं।

---

१. से णं उदायणे राया सिंधुसोवीरप्पमोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीतीभयप्पामोक्खाणं तिण्हं तेसट्ठीणं नगरागरसयाणं सहसेणाप्पमोक्खाणं दसण्हंराइणं बद्धमउडाणं--भगवतीसूत्र सटीक, शतक १३, उद्देस ६, पत्र ११३५.

तीर्थंकर महावीरका समवशरण इस जनपदमें आया था। उस समय इस जनपदका राजा उदायन था और इसकी रानी प्रभावती महारज चेटककी पुत्री थी[1]। तीर्थंकर महावीरके उपदेशोंसे उदायन बहुत प्रभावित हुआ और वह उनका भक्त बन गया। उसने महावीरके जीवनकालमें ही उनका मन्दिर बनवा कर चन्दनकी प्रतिमा स्थापित की थी और वे दोनों ही उस प्रतिमाकी पूजा किया करते थे[2]।

इस अतिशयपूर्ण प्रतिमाके चमत्कारोंको सुनकर उज्जयिनी-नरेश महाराज चण्डप्रद्योतने उसे चोरीसे अपने यहाँ मंगा लिया। उदायनने मूर्तिको वापस करनेके लिये कहा, पर चण्डप्रद्योतने मूर्ति लौटानेसे इनकार कर दिया। उदायन विशाल सेना लेकर उससे लड़ने गया। घमासान युद्ध हुआ। चण्डप्रद्योतको बन्दी बनाकर कारागृहमें बन्द कर दिया और तीर्थंकर महावीरकी उस चन्दनकी प्रतिमाको सिन्धके मन्दिरमें प्रतिष्ठित कर दिया गया। उदायन सम्यक्-दृष्टि श्रावक था और उसकी रानी प्रभावती भी धर्मश्रद्धालु थी। किसी पर्वके अवसरपर रानी प्रभावतीके कहनेसे उदायनने चण्डप्रद्योतको कारागृहसे मुक्त किया और उसे उसका राज्य भी वापस कर दिया।

महावीरका समवशरण जब सिन्धमें आया, तो महाराज उदायन और रानी प्रभावती इस समवशरणमें प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हुए। उनके धर्मोपदेशसे प्रभावित होकर उदायन और प्रभावतीने श्रमणव्रत ग्रहण कर लिया। राजा उदायन दिगम्बर मुनि बन गया और प्रभावती आर्यिका।

कुसन्ध्य

हरिवंशपुराणमें तीर्थंकर महावीरके समवशरण-विहारका निर्देश करते हुए कुसन्ध्य देशका वर्णन किया गया है। इसी पुराणमें एक कुशोदय देश भी आया है, जिसकी राजधानी शौर्यपुर थी। आजकल यह स्थान आगरा जिलेके बटेश्वरके अन्तर्गत है। सम्भव है कुसद्य और कुसन्ध्य देश एक ही हैं। शौर्यपुर और कान्यकुब्जके मध्यमें शंकासा (शंकास्या) नगरी है। यह फर्रूखाबाद जिलेमें पड़ती है। ऐसा अनुमान होता है कि यह समस्त प्रदेश कुसद्य या कुसन्ध्यके नामसे प्रसिद्ध रहा है। संक्षेपमें आगरासे कन्नौज तक फैला हुआ प्रदेश कुसन्ध्य या कुसद्य है।

---

१. उदायणस्स रन्नो महादेवी चेडगरायधूया समणोवासिया पभावई।

—उत्तराध्ययन, नेमिचन्द्राचार्यकी टीका सहित, पत्र २५३-१.

२. वीर, वर्ष ९, पृ० ११३-११५.

अश्वष्ट

इस नामसे सादृश्य रखनेवाले दो स्थान उपलब्ध हैं :—(१) अश्वक और (२) अष्ठकप्र। अश्वक प्रदेश पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तसे परे काबुल नदीके उत्तर-भागमें स्थित था। यूनानियोंने इसे—'Aspasioi' नामसे बताया है।[१]

अश्वष्टसे अश्वकका सादृश्य अधिक है। अष्टकप्रका उल्लेख टौलमीने किया है, जो हस्तकवप्रका अपभ्रंश है। यह गुजरातमें था।[२]

शाल्व

इस प्रदेशके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कोई जानकारी नहीं है। दक्षिण भारतके राजाओंमें सालुब नामक एक राजवंशका उल्लेख मिलता है। साल्व-मल्ल जिनदास तुलुबदेशपर शासन करते थे[3]।

दक्षिणके एक अभिलेखमें बताया गया है कि सालुब राजा पूर्वी प्रदेशसे वहाँ आये थे। अतः साल्व देशकी स्थिति दक्षिण भारतमें कहीं सम्भव है[४]।

त्रिगर्त

आचार्य हेमचन्द्रने अभिधानचिन्तामणिमें त्रिगर्तका उल्लेख जालन्धरके साथ किया है। रावी, व्यास और सतलज नदियोंका मध्यवर्ती प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसके जालन्धर और कोटकांगड़ा प्रमुख नगर थे[५]।

पाटच्चर

निश्चित रूपसे इस नगरके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता है। यूनानियोंने पाटलिनके नामसे सिन्धुका उल्लेख किया है। बहुत संभव है कि पाटच्चर सिन्धुका पार्श्ववर्ती प्रदेश हो[६]।

मौक

कनिंघमने पंजाबमें जलालपुरके पास राजा मोघ द्वारा स्थापित मोगका निर्देश किया है। यदि यह मोग ही मौक हो, तो जलालपुरके पास इसकी स्थिति मानी जा सकती है[७]।

---

१. कनिंघम : ऐन्शिएन्ट जोग्राफी ऑफ इन्डिया, पृ० ६६७.

२. कनिंघम : Ancient Geography of India, Fage 699.

३. Jainism and Karnataka culture (Dharwar). Page 52.

४. Mysore and Kurga, Page 152-53.

५. कनिंघम—ऐन्शिएंट जागरफी ऑव इण्डिया, पृ० ६८२.

६. जैनसिद्धान्त-भास्कर, भाग १२, किरण १, पृ० २०.

७. वही, पृ० २०.

कम्बोज

यह गान्धारका पार्श्ववर्ती प्रदेश था। आजकल कंधारके निकटवर्ती प्रदेशको कम्बोज माना जाता है। अशोकके पञ्चम अभिलेखमें बताया गया है कि उसने अपने धर्ममहामात्योंको यवन और कम्बोज लोगोंके साथ-साथ गन्धार-निवासियों-के प्रदेशमें भी नियुक्त किया था। यह जनपद गन्धारसे लगा हुआ, संभवतः उसके पश्चिमका प्रदेश था। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जीने इसे काबुल नदीके तट-पर स्थित प्रदेश माना है[1]। पर वस्तुतः इसे बिलोचिस्तानसे लगा ईरानका प्रदेश मानना ही अधिक उचित है।

बौद्ध साहित्यसे अवगत होता है कि यवन और कम्बोजमें आर्य और दास दो ही वर्ण थे। डॉ० मोतीचन्द्रने कम्बोजको पामीर प्रदेश मानकर द्वारकाको आधुनिक दरवाज़ नामक नगरसे मिलाया है, जो बदख़्शांके उत्तरमें स्थित है। जातककथाओंमें कम्बोजके सुन्दर घोड़ोंका उल्लेख आया है।

वाल्हीक

इस जनपदकी अवस्थितिके सम्बन्धमें दो मत हैं:—(१) कुछ विद्वान् इसकी अवस्थिति उत्तरापथमें और कुछ (२) वैकट्रियन देशकी राजधानी बलखके रूपमें स्वीकार करते हैं। पाणिनिके "वाहीकग्रामेभ्यश्च" (४।२।११७) तथा "आयुध-जीविसंघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्" (५।३।११४) में वाहीक जनपदका उल्लेख आया है। इसे भाष्यकार पतञ्जलि पंजाबमें स्थित मानते हैं। इसकी अवस्थिति व्यास और सतलज नदियोंके बीच निश्चित की गयी है। इस वाहीक राष्ट्रको शतपथ ब्राह्मणमें (१२।९।३।१-३) वाल्हीक कहा गया है। वाल्हीक लोग मूलतः वैक्ट्रियाकी राजधानी बलखके निवासी थे तथा भारतमें चिनाव और सतलज नदियोंके बीचके मैदानमें बस गये थे। महाभारतके सभापर्वमें भी वाल्हीक लोगोंका वर्णन आया है और उनके प्रदेशको भी मूलतः बलख और बादमें भारतके उत्तर-पश्चिम भाग तथा पंजाबको माना है[2]।

कुछ विचारक वाल्हीकको अफ़गानिस्तानके उत्तरमें बतलाते हैं। पालि साहित्यमें वाहिय राष्ट्रका जो वर्णन आता है, उसकी दृष्टिसे इस राष्ट्रको व्यास और सतलज नदियोंके बीचके प्रदेश तक सीमित नहीं रख सकते। इस वर्णनसे यह राष्ट्र सिन्धु नदीके इस पार या उस पार भी संभव है[3]। महारौलीके लौह-

---

१. अशोक (गायकवाड़ लैक्चर्स), पृ० १६८.

२. डॉ० मोतीचन्द्र : ज्योग्रेफीकल एण्ड इकोनोमिक स्टडीज इन दि महाभारत, पृ० ९१.

३. भरतसिंह उपाध्याय : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग सं० २०१८, पृ० ४८०.

स्तम्भ-लेखमें चन्द्रद्वारा सिन्धुके सात मुहानोंको पारकर वाल्हीकको जीतनेका निर्देश किया गया है।

आदिपुराणमें प्रतिपादित वाल्हीककी स्थितिसे भी यह स्पष्ट है कि सिन्धु-के पार उत्तर-पश्चिममें वाल्हीक जनपद रहा है।[1]

तीर्थंकर महावीरका समवशरण इस जनपदमें गया था और यहाँकी जनता-ने उनका उदार हृदयसे स्वागत किया था।

यवनश्रुति

यह प्रदेश यूनान और उसके पार्श्ववर्ती भूभागका द्योतक है। यूनानी लोग प्राचीन भारतमें 'यवन' नामसे उल्लिखित होते थे।[2] पश्चिमी भागोंमें यवन जनपदकी स्थिति सम्भव है। यों तो 'यवन' शब्दका प्रयोग आधुनिक यूनानके लिए पाया जाता है। महाभारतमें बताया गया है कि नन्दिनीने योनिदेशसे यवनोंको प्रकट किया तथा उसके पार्श्वभागमें यवन जातिकी उत्पत्ति हुई[3]। कर्णने द्विग्विजयके समय पश्चिममें यवनोंको जीता था[4]। काम्बोजराज सुदक्षिण यवनोंके साथ एक अक्षौहिणी सेनाके लिए दुर्योधनके पास आया था।

यवन भारतीय जनपद है। यवन पहले क्षत्रिय थे, परन्तु ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेके कारण शूद्रभावको प्राप्त हो गये थे[5]। आदिपुराणमें जिनसेनने (आदिपु० १६।१५५) बताया है कि तीर्थंकर ऋषभदेवने यवन देशकी प्रतिष्ठा की थी।

हरिवंशपुराणके अनुसार महावीरका समवशरण यवन प्रदेशमें गया था। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया था। इस जनपदकी जनताने श्रद्धा और भक्तिके साथ तीर्थंकर महावीरका उपदेश सुना था।

गान्धार

प्राचीन भारतके सोलह जनपदोंमें गान्धारका उल्लेख आया है। इस जन-पदका निर्देश अशोकके पञ्चम अभिलेखमें भी पाया जाता है। मज्झिम-निकाय-की अट्ठकथामें गान्धार जनपदको सीमान्त जनपद कहा गया है[6]। गान्धारकी

---

१. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत, वर्णीग्रन्थमाला, वाराणसी, पृ० ६७.

२. हिस्टॉरीकल लीड्ग्-ग्विस्, पृ० ७०–७८.

३. महाभारत, आदिपर्व १७४।३६–३७.

४. वही, वनपर्व २५४।१८।१५०.

५. वही, अनुशासन पर्व ३५।१८।१५२.

६. मज्झिमनिकाय, जिल्द दूसरी, पृ० ९८२ (पपंचसूदनी).

स्थिति स्वात नदीसे झेलम नदी तक थी। इस प्रकार इस जनपदमें पश्चिमी पंजाब और पूर्वी अफगानिस्तान सम्मिलित थे। गान्धारकी राजधानी तक्षशिला नगरी थी। तक्षशिला शिक्षा और व्यापार इन दोनों ही दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण थी। जीवकवैद्य तक्षशिलाका प्रसिद्ध स्नातक था। छान्दोग्य उपनिषद्[1] और शतपथ ब्राह्मणमें गान्धारका उल्लेख आया है।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण सिन्धुसे गान्धार गया था और यहाँकी जनताने उनका स्वागत-अभिनन्दन किया था। वीतरागवाणीका श्रवणकर अगणित व्यक्तियोंने आत्मोत्थानकी प्रेरणा प्राप्त की थी।

सूरभीरु

यह समुद्रतटवर्ती प्रदेश था, जो संभवत: 'सुरभि' नामक देशका बोधक है। यह सुरभि देश मध्य एशियाके क्षीरसागर (caspian sea)के निकट (oxus) ऑक्स नदीके उत्तरकी ओर स्थित था। आजकल खीव (khiva) प्रांतका खनत अथवा खरिस्म प्रदेश है[2]। हरिवंशपुराणके वर्णनानुसार यहाँ भी महावीरका समवशरण गया था।

क्वाथतोय

समुद्रके किनारे होनेके कारण अथवा समुद्रसे वेष्टित होनेसे इस जनपदका नाम यह पड़ा होगा। यह जनपद उस समुद्रके तटपर अवस्थित था, जिसका जल क्वाथ—काढ़े (अनेक औषधियोंको जलमें डालकर गर्म करनेपर हुए लाल वर्ण)के समान था। बहुत सम्भव है कि यह लाल समुद्र (Red sea) के निकट रहा होगा। इस लाल समुद्रके तटपर अबीसीनिया, अरब, इथ्यूपिआ आदि देश अवस्थित हैं। इन प्रदेशोंमें जैनधर्मका प्रचार हुआ था।[3] अत: हरिवंश-पुराणमें प्रतिपादित क्वाथतोय लाल समुद्र (Red sea) का तटवर्ती प्रदेश है।

तार्ण

सम्भवत: यह तूरानके लिए व्यवहृत है।

कार्ण

हरिवंशपुराणमें इस जनपदको उत्तर दिशामें बताया गया है। सम्भवत: यह काफिरिस्तान है।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् (गीताप्रेस) ६।१४।११८.

२. इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भाग २, पृ० २९.

३. भगवान् पार्श्वनाथ, पृ० १७३-२०२.

करुणाकी परम ज्योति प्रज्वलित

तीर्थंकर महावीर उनतीस वर्ष, पाँच माह और बीस दिन तक अपनी देशना द्वारा जन-जनको ज्ञान देते रहे। उनकी देशना सुनते ही मिथ्यात्व भंग हो जाता, मोह छिन्न हो जाता और हृदयकी समस्त गाँठें खुल जातीं। उन्होंने मुनि-आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओंके साथ विहार किया। गृहस्थ, नृपति, राजकुमार, राजकुमारियाँ, श्रेष्ठि, सार्थवाह, विद्वान् एवं बुद्धिजीवी-वर्गको प्रतिबोधित किया। उनकी धर्मामृत-वर्षा काशी, कर्ममार-ग्राम, कोल्लाग-सन्निवेश, मोराक-सन्निवेश, नालन्दा, चम्पा, श्रावस्ती, वैशाली, विपुलाचल, वैभारगिरि, मगधके विभिन्न ग्राम-नगर, कौशाम्बी, मिथिला, विदेह, पंचाल, वंग, पुण्ड्र, ताम्रलिप्ति, हस्तिनापुर, साकेत, मथुरा, हेमांगद, कम्बोज, कुसन्ध्य, अश्वष्ट, शाल्व, त्रिगर्त, भद्रकार, पट्टच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, व्रकार्थक, कुरु-जांगल, कैकेय, आत्रेय, वाल्हीक, यवन, सिन्ध, गान्धार, सौवीर, सूरभीरु, दरोरुक, बाड़वान, भरद्वाज, क्वाथतोय, तार्ण, कार्ण एवं प्रच्छाल आदि देशों और नगरोंमें हुई थी।

राजगृह, विपुलाचल, वैभार, चम्पा, वैशाली और नालन्दाको तो एकाधिक बार धर्मामृत-श्रवणका अवसर प्राप्त हुआ था। महावीरने अपनी देशना द्वारा लोक-हृदयको अपूर्व दिव्यता प्रदान की और जन-जनके ज्ञानचक्षु उन्मीलित कर दिये। अज्ञानका सघन अन्धकार समाप्त हो गया और ज्ञानका सूर्योदय अपनी भास्वर रश्मियोंसे आलोक प्रदान करने लगा। रूढ़िग्रस्त धर्म और समाजने मुक्तिकी सांस ली। जनताका संदेह और भ्रम समाप्त हो गया।

उनका समवशरण चलता-फिरता एक विश्वविद्यालय था, जो स्पष्ट और प्राञ्जल ज्ञान-विज्ञानका प्रसार करता था। जहाँ भी उनका समवशरण जाता वहाँ करुणा और मैत्रीकी सरिताएँ प्रवाहित होने लगतीं। अन्तरात्माका कालुष्य धुल जाता। इतिहासकी गरिमा व्यक्त हो जाती और संस्कृतिपर उत्पन्न हुए दुराग्रह छिन्न हो जाते। उज्ज्वलताकी लेखनीसे मानवताका इतिहास लिखा जाने लगा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, समत्व, संयम, मैत्री, पारस्परिक विश्वास एवं प्राणीमात्रकी समता अनेकान्तसिद्धान्तके रूपमें प्रतिपादित हो रहे थे। उनका लोक-कल्याणकारी समवशरण पूर्वोक्त प्रदेशोंमें भ्रमणकर राजभवनसे जन-सामान्यकी झोपड़ी तक पहुँच चुका था। भारतका कोना-कोना तो उनके उपदेशसे आलोकित हुआ ही, पर ईरान, फारस, अफगानिस्तान, कम्बोडिया, अरब आदि देशोंकी प्रजाने भी उनकी उपदेश-सुधाका पान किया था। जहाँ भी तीर्थंकर महावीर पहुँचे, जन-जनके हृदयसे उनके प्रति श्रद्धाकी मन्दा-

किनी फूट पड़ी। कोटि-कोटि जन उन्हें भगवान्, तीर्थंकर, पुरुषोत्तम, सर्वज्ञ, अर्हत्, जिन, स्वयंभू आदि मानकर अपनी श्रद्धाके सुमन उनके चरणोंमें अर्पित करते थे।

निश्चयतः तीर्थंकर महावीर लोकभाषामें हित-मित-प्रिय देशना देते हुए ग्राम और नगरोंमें विचरण कर रहे थे। उनकी दिव्य देशना उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम इन चारों दिशाओं तथा चारों ही विदिशाओंमें प्रकाश-पुञ्ज-का सृजन कर रही थी। सभी ओर उपदेशामृतकी धूम थी। युगोंसे चली आयी शारीरिक और मानसिक दासतासे मुक्ति प्राप्त हो रही थी। धर्मके नामपर प्रचलित रूढ़ियाँ और दर्शनके नामपर पनपते हुए दुराग्रह शान्त हो रहे थे। स्याद्वादमय यह दिव्यध्वनि विश्वधर्म और मानव-धर्मका ऐसा रूप प्रस्तुत कर रही थी, जिसकी आवश्यकता मानवमात्रको थी। अहिंसा और करुणाका मधुर संगीत प्राणिमात्रको आह्लादित और निर्भय बना रहा था। मानव सदियोंसे भूले हुए अपने पुरुषार्थको जागृत कर रहा था। जाति-पाँतिकी झूठी मर्यादाएँ टूट रही थीं और यज्ञ-यायागादिके, बोझिल कर्मकाण्ड समाप्त हो रहे थे।

तीर्थंकर महावीरने धर्मकी समस्त विकृतियोंको चुनौती दी। इतना ही नहीं उन्होंने धार्मिक जड़ता और आर्थिक अपव्ययको रोकनेके लिये यज्ञ-विधियोंका विरोध किया। मनुष्यको मनुष्यके समीप बैठानेके लिये जन्मना वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और गुण-कर्मके आधारपर समाज-व्यवस्था प्रचलित की। सुखपूर्वक शान्तिकी श्वास लेनेके लिये अनेकान्तको वर्णमाला और व्रतोंके आचार-विचार प्रस्तुत किये। मनुष्यको स्वावलम्बी और स्वतन्त्र बनानेके हेतु नियतिवाद और ईश्वरवाद जैसे सिद्धान्तोंकी समीक्षा की। उन्होंने बताया कि ईश्वर कहीं बाहर नहीं, वह प्रत्येक आत्माके भीतर है, जो अपने आपको पह-चान लेता है, वही ईश्वर बन जाता है।

उनकी दिव्यध्वनिका मधुर संगीत प्राणिमात्रको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का उद्घोष भी जनताके लिये सरल-सहज मार्गका उद्घाटन कर रहा था। लोक-जीवन और लोक-शासन पावनताका अनुभव कर अपनेको निर्विकार और स्वतन्त्र समझ रहे थे।

महावीर वस्तुतः प्रबुद्ध थे, जागृत थे, तीर्थंकर थे और थे पक्षपात एवं कालिमासे रहित। अतः उन्होंने अपने अनेकान्त-सिद्धान्त द्वारा जनताके वैषम्य-को दूर किया और राष्ट्रीयताकी भावनाको जागृत किया। इनके उपदेशने विश्वशान्तिको सम्भावनाओंको सर्वाधिक स्पष्ट किया। इनका उपदेश प्राणि-मात्रके लिये हितकारी था। अहिंसाका अवलम्बन लेकर जनताने अन्तरंग और

बहिरंग शौर्यका अनुभव किया। जो पलायनवादी हैं, जीवन-संग्रामसे भागने-वाले हैं, वे अहिंसक नहीं हो सकते। अहिंसक निर्भय होकर जीवनसे जूझता है। कमियोंको दूर करता है और बनाता है सशक्त अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों-को। वैर-विरोध, घृणा, हिंसा आदि पतनके कारण हैं। इन्हीं विकारोंसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका शत्रु बनता है, विरोधी बनता है और बनता है समाज-का विघटन-कर्त्ता।

तीर्थंकर महावीरके धर्मामृतने जन-जनमें नये प्राण फूँक दिये। लोक-चेतना-का कायाकल्प हो गया। अहंकारजन्य भेद-भावका विसर्जन किया और आत्म-स्वरूपको समझने-अनुभव करनेके लिये नये क्षितिज उद्घाटित किये। उनका उपदेश प्राणिमात्रके लिये समान रूपसे हितकर था।

उन्होंने गाँव-गाँव, नगर-नगर, जनपद-जनपदकी धरतीके एक-एक कणको पुलकित किया। जहाँ भी लोकभाषामें उनका प्रवचन होता, दम्भ और मिथ्यात्व वहाँसे लुप्त हो जाता था। वीतरागता मनके कालुष्यको धो डालती थी। मनके सारे विकार समाप्त हो जाते थे और हृदय पावनता एवं नम्रतासे भर जाता था। ज्ञानामृतकी अपूर्व वर्षा मनः-श्रवण और मनः-चक्षुका उद्घाटन कर देती थी। उनके उपदेशोंमें न आडम्बरका समावेश था और न औपचारिकताका ही। वे इतने सरल, सुबोध और हृदयग्राही थे कि जिससे विज्ञ और अविज्ञ, अन्ध और बधिर, विकसित और अविकसित, ऋजु और वक्र एवं मानी और अमानी सभी समान रूपसे अपने कालुष्यको प्रक्षालित करते थे।

तीर्थंकर महावीरके मंगलकारी उपदेशको प्राणिमात्र श्रद्धापूर्वक नतमस्तक हो श्रवण करता था। उनकी उपकारी वाणी प्राणियोंके हृदयका सहज कालुष्य दूर करती थी और विश्वास, सहयोग और सहकारिताकी भावना वृद्धिगत होती जा रही थी। जनताने सहस्राब्दियोंके बाद पहलीबार धर्मकी व्यापक लोकोपयोगिता समझी थी। तीर्थंकर पार्श्वनाथने जिस अहिंसा-मार्गका निरूपण किया था, महावीरने उसी धरातलपर स्थित हो लोकमानसको क्रान्तिका एक अभिनव मोड़ दिया। शोषण और वर्गभेदकी प्रवृत्ति समाप्त हो गयी तथा अहिंसा और संयमकी अपराजित शक्तियाँ विकसित हुईं। चारों ओर सर्वोदय-की सम्भावनाएँ स्पष्ट होने लगीं।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरने लगभग तीस वर्षों तक धर्मामृतका वर्षण-कर तत्कालीन समाजको उर्वर किया।

निर्वाणकी ओर

मानव जीवनका चरम लक्ष्य है निर्वाण प्राप्त करना। आत्माको परमात्मा

बना देना। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य निर्वाणको प्राप्त किस प्रकार करे ? उसे अपने स्वरूपकी उपलब्धि कैसे हो ? अनुष्ठान-विधान, तीर्थ-यात्रा, मन्दिर-मूर्तियोंके दर्शन एवं अन्य आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ क्या मन और आत्माको परिष्कृत कर सकती हैं ? क्या बाह्य साधन कुछ सहायता कर सकते हैं ? यदि मनमें कालुष्य हो, आत्मा मलिन हो और अपने स्वरूपकी पहचान न हो, तब क्या बाह्य साधनोंसे निर्वाण प्राप्त हो सकता है ?

तीर्थंकर महावीरने बताया कि यह आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। यही अपना मित्र भी है और अपना शत्रु भी है। आत्मापर अनुशासन करनेसे स्वयं-पर विजय प्राप्त होती है और जो स्वयंपर विजय प्राप्त करनेवाला है, वह सभी प्रकारके दुःख-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

आध्यात्मिक सम्पदासे सम्पन्न होनेकी अभिलाषासे धर्म-रुचि जागृत होती है और इस प्रकारकी रुचिसे सम्पन्न व्यक्ति धर्मके व्यावहारिक भेदों, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा-मार्दव, आर्जव प्रभृतिको जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करता है और अभ्यासपरायण रहकर धीरे-धीरे व्रती हो जाता है। व्रतोंका नियम-निष्ठासे पालन, उनमें शुचिता, सम्यक्त्व और आत्मोद्धारकी भावनाको उत्कट करनेसे सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार संयम और धर्मको अग्रगामी बनाकर आहार-विहार, गमन-आसन, मौन-भाषण आदि समस्त क्रिया-कलापोंका निर्वहन व्यक्तिको चारित्रके समीप लाता है। चारित्र-का बहिरंग व्यवहाररूप है और अन्तरंग निश्चयपरक। जब सम्यक् चारित्र-की उपलब्धि हो जाती है, तो श्रद्धा और ज्ञानके सम्यक् रहनेके कारण व्यक्ति राग-द्वेष और मोहसे छूट जाता है।

तीर्थंकर महावीरने अथक तप, संयम और साधनाके मार्गपर चलकर योग और कषायोंके निरोध द्वारा निर्वाणकी भूमिका तैयार की। निर्वाण प्राप्त करनेकी इन सीढ़ियोंको गुणस्थानारोहण कहा जाता है। ये सीढ़ियाँ एक ही दिशाकी ओर इंगित करती हैं—कामनाओंको जीतो, आत्माको निष्कलुष बनाओ। तीर्थंकर महावीरने मनुष्यको ऊँचा उठानेके लिये, जो कुछ कहा, जो कुछ किया, उसमें मन और आत्माको ही वशमें करनेकी प्रेरणा थी।

प्रायः देखा जाता है कि जन-सामान्य बाह्य जगतमें बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ करके विश्वमें ख्याति प्राप्त करता है, पर अन्तर्जगतमें क्रान्तिका शंखनाद करनेवाला कोई एकाध ही महावीर होता है। बल, पराक्रम और पुरुषार्थ दिखाकर वीर बन जाना सरल है, पर इन्द्रियों और मनपर विजय प्राप्त कर महावीर बनना कठिन है।

तीर्थंकर महावीर स्वयं कामनाओंसे लड़े। विषय-वासनाओंपर विजय प्राप्त की, हिंसाको पराजित किया। असत्यको पराभूत किया जात्यभिमान, वर्गाभिमान एवं कर्माभिमानको पीछेकी ओर फेंककर निर्वाणका पक्का मार्ग तैयार किया। साधना द्वारा उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, उसे बड़ी उदारताके साथ जनकल्याणके हेतु मानव-समाजको दे डाला। मानव ही नहीं, समस्त प्राणी-वर्ग उनके द्वारा प्रदत्त आलोकमें सुख-शान्तिका मार्ग ढूँढ़ने लगा। महावीर स्वयं सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी तो थे ही, पर वे समस्त प्राणीवर्गको अपने ही समान विकार और विषयोंके विजेताके रूपमें देखना चाहते थे। उनके द्वारा निर्मित निर्वाणकी सीढ़ियाँ प्राणिवर्गके लिये सहज और सुलभ थीं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भौतिक कामनाओंमें उलझे हुए मनुष्यमें इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह उन सीढ़ियोंका आरोहण कर सके। यों तो उनकी दिव्य-देशना प्राणि-मात्रके लिये हितकर थी और प्राणिमात्रको ही सुख और शान्तिकी ओर इंगित करती थी। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि धर्म वही है, जिसमें अहिंसाका आचरण हो, मन, वचन और कायकी क्रियाएँ अहिंसक होनेपर ही धर्मका रूप ग्रहण कर सकती हैं। अहिंसाकी साधना तितिक्षा और संयमके बिना सम्भव नहीं है। अतः जहाँ अहिंसा है, वहाँ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी विद्यमान है। जो व्यक्ति सांसारिक सुख-समृद्धिके लिये अथवा पूजा-प्रतिष्ठाके लिये धर्माचरण करता है, वह अहिंसक नहीं। धर्माचरणका उद्देश्य आत्माकी पवित्रता होना चाहिये। जिसकी दृष्टिमें समता और विचारोंमें उदारता समाहित हो गयी है, वही व्यक्ति निर्वाण-मार्गका पथिक बनता है। आत्माकी शुद्धि न गाँवमें होती है, न नगरमें होती है और न वनमें। इसकी शुद्धि तभी होती है, जब स्वयं आत्मा अपनेको अनुभूति कर ले। सुख-दुःख अपने ही द्वारा अर्जित है। स्वर्ग और नरक भी मनुष्यके हाथमें हैं। शुभोपयोग द्वारा सम्पादित कर्म अच्छा फल देते हैं और अशुभोपयोग द्वारा सम्पादित कर्म अनिष्ट फल। जो इन दोनों प्रकारके उपयोगोंसे ऊपर उठकर शुद्धोपयोगका आचरण करता है, उसे ही निर्वाण प्राप्त होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है और वही धर्मात्मा माना जाता है।

जिस प्रकार शरत्‌ऋतुके निर्मल जलमें रहनेपर भी कमल, जलसे पृथक् और अलिप्त रहता है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगमें विचरण करनेवाली आत्मा संसारसे अलिप्त और बन्धनरहित रहती है। राग-द्वेष कर्मके बीज हैं और मोह उनका जनक है। जिसके राग-द्वेष और मोह विगलित हो गये हैं, वही शुद्धोपयोगका आचरण कर सकता है।

मुक्तिका अर्थ है—मोक्ष, बन्धनोंका विगलन, निर्बन्ध होना, छुटकारा प्राप्त

करना। संसारके कोटि-कोटि जनको यह मुक्ति या आत्माकी स्वतन्त्रता तो अभीष्ट है, पर स्वतन्त्रताको प्राप्त करनेकी चेष्टा या प्रयत्न अभीप्सित नहीं है। चाहनेपर भी पुरुषार्थकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। परमत्वकी उपलब्धिके लिये शील, संयम, तप, त्यागरूप सम्यक्चारित्रका आचरण करना होगा। जिसके हाथमें सम्यक्श्रद्धा और ज्ञानके साथ सम्यक्चारित्र-पालनरूपी तीक्ष्ण खंग है, वही प्रलोभनों और विकारोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। अतः मुक्तिश्रीके अभिलाषीको सम्यग्ज्ञान-दर्शनपूर्वक सम्यक्चारित्रकी डोर थामनी होगी। वस्तुतः चारित्र नौका है, और सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान—ये दो केवट हैं, जो चारित्रकी नौकापर आरूढ़ है, उसे भवसागर पार करनेमें बिलम्ब नहीं है। पर चारित्रकी सफलता तब है, जब वह आत्माका सर्वस्व बन जाय। ऊपरसे ओढ़ा हुआ चारित्र तो किसी भी समय उतारकर फेंका जा सकता है। अग्नि और उष्णताके समान चारित्र और चारित्रवान्में तादात्यभाव होना चाहिये। उष्णता अग्निसे अविभाज्य है, चारित्र भी चारित्रवान्से अपृथक् है।

मुक्तिपर्व—पावापुरकी ओर

तीर्थंकर महावीर इस धरतीपर ज्ञानका अमृत प्रवाहित करने आये थे। उन्होंने निरन्तर तीस वर्षों तक विहारकर धरतीके क्लेशोंका अपहरण किया। मानव-समाजको दुःखोंसे छुड़ाया, उसके हृदयमें ज्ञानदीप प्रज्ज्वलितकर सुख, शान्ति और कल्याण-मार्गको आलोकित किया।

यों तो संसारके रंगमंचपर अनेक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं, पर उन सभी क्रान्तियोंका प्रभाव बाह्य जगत तक सीमित रहा है। तीर्थंकर महावीरने अपनी क्रान्ति द्वारा संक्लिष्ट मनको उद्बुद्ध किया। वे जाति, सम्प्रदाय एवं वर्गकी सीमाके घेरेको तोड़कर बाहर निकले। उन्होंने देश और जनपदोंके सीमाबन्धन-को भी अतिक्रान्त किया और विश्वके समस्त मानवोंको विषमताकी खाइयोंसे निकालकर समताके धरातलपर उपस्थित किया। उन्हें जो दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ था, उसे उन्होंने विश्वके प्राणि-जगतमें बाँट दिया।

महावीर इस धरतीको ज्ञानामृतसे सिंचन करते हुए पावापुर[१] नामक स्थान-

१. जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके॥
—हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण, ६६।१५.

क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले॥

में पधारे और वहाँके मनोहर नामक वनके मध्य अनेक सरोवरोंके बीचमें मणि-मय शिलापर विराजमान हुए। विहार छोड़कर उन्होंने कर्मोंकी निर्जराको वृद्धिगत किया।

यहाँपर मन, वचन और काय योगका निरोधकर क्रियारहित हो मोक्षके लिए आवश्यक अघातियाकर्मोंको नष्ट करनेवाले प्रतिमायोगको धारण किया। दिव्यध्वनि बन्द हो गयी और वचनयोगका भी पूर्णतया निरोध हो गया।

इस योगद्वारा देवगति, पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बन्धन, तीन अंगो-पांग, छह संस्थान, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगतियाँ, अपर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, सुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, असातावेदनीय, नीचगोत्र एवं निर्माण इन बहत्तर कर्मप्रकृतियोंका अयोगी गुणस्थानके उपान्त्यमें क्षय किया। अपने शक्तिबलसे शुक्लध्यानके चतुर्थ भेद व्युपरतक्रियानिर्वतिका आलम्बनकर आदेय, मनुष्यगति, मनुष्य-गत्यानुपूर्व्य, पञ्चेन्द्रियजाति, मनुष्य-आयु, पर्याप्ति, त्रस, बादर, सुभग, यशः-कीर्ति, सातावेदनीय, उच्चगोत्र एवं तीर्थंकर नामकर्म इन तेरह प्रकृतियोंका अन्त समयमें क्षपण किया।

महावीरने योगनिरोधार्थ षष्ठोपवास धारण किया और कायोत्सर्ग द्वारा कर्म-प्रकृतियोंका विनाश किया।[1]

अन्य आगम-ग्रन्थोंसे भी अवगत होता है कि तीर्थंकर महावीरने आयुके

स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये॥
स्वातियोगे तृतीयार्द्ध शुक्लध्यानपरायणः।
कृतत्रियोगसंरोधः समुच्छिन्नक्रियं श्रितः॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम्॥

—उत्तरपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण, ६७।५०९–५१२.

१. एभिः समं त्रिभुवनाधिपतिर्विहृत्य,
त्रिंशत्समाः सकलसत्वहितोपदेशी।
पावापुरस्य कुसुमाचितपादपानां,
रम्यं श्रियोपवनमाप ततो जिनेंद्रः॥

दो दिन अवशिष्ट रहनेपर विहाररूप काययोग, धर्मोपदेशरूप वचनयोग एवं क्रियारूप मनोयोगका निरोधकर प्रतिमायोग धारण किया और पावापुरके बाहर अवस्थित सरोवरके मध्यमें कायोत्सर्ग ग्रहणकर अघातिया कर्मोंकी पचासी कर्म-प्रकृतियोंका क्षय किया।[1] कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम प्रहरमें स्वाति नक्षत्रके रहते हुए ई० पू० ५२७ में मोक्षपद प्राप्त किया।

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंकी मान्यताके अनुसार तीर्थंकर महावीर पावा नगरीके राजा हस्तिपालके रज्जुक-सभा-भवनमें अमावस्याकी समस्त रात्रि धर्मदेशना करते हुए मोक्ष पधारे[2]।

अगणित देव-मानवों द्वारा निर्वाणकल्याणक-पूजन

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी पावन रात्रि अपना घूँघट उठाकर मानवताके उन्नायक तीर्थंकर महावीरका निर्वाणोत्सव मनानेके लिये सन्नद्ध थी। देव-मानवोंमें हर्षका सागर उमड़ पड़ा और सभी महावीरका निर्वाणोत्सव सम्पन्न करनेके लिये चल पड़े। पावापुरका कोना-कोना सज उठा। घर-घरमें मंगल-गान हुए। द्वार-द्वारपर मंगलदीप जलाये गये। जन-जनके हृदयसे आनन्दका स्रोत फूट पड़ा, उल्लासकी लहर दौड़ गयी और सभी निर्वाण-पूजनके लिये अर्चन-सामग्री लेकर प्रस्तुत हुए।

पौ फटने जा रही थी। चन्द्रमा स्वाति नक्षत्रके साथ विचरण कर रहा था और इन्द्रके जय-जयकारसे नभोमंडल ध्वनित था। यों तो महावीरके परि-निर्वाणसे शून्यता और स्तब्धता व्याप्त थी। पर मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण देवगण उत्तमोत्तम सामग्री लेकर निर्वाण-कल्याणके अर्चन हेतु आ रहे थे।

कृत्वा योगनिरोधमुज्झितसभः षष्ठेन तस्मिन्वने।
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलरुचिः कर्माण्यशेषाणि सः॥
स्थित्वेन्दावपि कार्तिकासितचतुर्दश्यां निशान्ते स्थिते।
स्वातौ सन्मतिराससाद भगवान्सिद्धि प्रसिद्धश्रियम्॥

—असगकवि-विरचित वर्द्धमानचरित, सर्ग १८, पद्य ९७-९८.

१. 'षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमानः।' टीका—'षष्ठेन दिनद्वयेन परिसंख्याते आयुषि सति निष्ठितकृतिः। निष्ठिता विनष्टा कृतिः द्रव्यमनोवाक्कायक्रिया यस्यासौ निष्ठित-कृतिः, जिनवर्धमानः।' —पूज्यपादकृत सं० निर्वाण-भक्ति, श्लोक २६.

२. मुनिश्री कल्याणविजयगणि-लिखित श्रमण भगवान महावीर, पृ० २०६, २०७.

सुर-असुरोंने मिलकर दीपपंक्तियाँ प्रज्वलित कीं, जिससे पावानगरीमें आलोक व्याप्त हो गया।[1] श्रेणिक आदि राजाओंने प्रजाके साथ मिलकर निर्वाण-कल्याणकका महोत्सव सम्पन्न किया[2]। धरती-गगन सभी आलोकसे व्याप्त हो गये।

पावाकी शोभा निराली ही थी। नौ लिच्छिवि, नौ मल्ल इस प्रकार अठारह काशी-कोशलके गणराजा तीर्थंकर महावीरके निर्वाणके समय उपस्थित थे। गाँव-नगर सर्वत्र दीपोंकी जगमगाहट शोभित थी। उत्सवने प्रकाशपर्वका रूप ले लिया था और काली रात्रि पूर्णिमाके रूपमें परिवर्तित हो गयी थी। आध्यात्मिक आभा सर्वत्र छायी हुई थी। यह लोकविभूतिका ऐसा महान् पर्व था, जिसमें प्रकाशकी राशि दिखलाई पड़ रही थी। वैशालीके प्रांगणमें क्रीड़ा करनेवाले, माता त्रिशलाकी ममताको उभाड़नेवाले तीर्थंकर महावीर आज प्रणम्योंके भी प्रणम्य बन गये थे। वैषम्यको समतामें, विरोधको समन्वयमें और तमको प्रकाशमें परिवर्तित कर महावीरने सत्य-अहिंसाकी एक नयी लिपि प्रदान की।

निर्वाण-तिथि

तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मंगलवार १५ अक्टूबर ई० पू० ५२७ या विक्रम-पूर्व ४७० तथा शक-पूर्व ६०५ प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व हुआ। इस तिथिकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि इतिहासके क्षेत्रमें सम्राट् चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना जाता है[3] और इसी तिथिके आधारपर चन्द्रगुप्त मौर्यसे पूर्व एवं उत्तरकालीन तिथियोंकी प्रामाणिकताकी परीक्षा की जाती है। जैनपरम्परा अवन्तीमें चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण महावीर-

---

१. ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥

—हरिवंशपुराण, ६६।१९.

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्रीवर्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा॥

—सं० निर्वाणभक्ति, श्लो० २४.

२. तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुजः प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथायथं प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः॥

—हरिवंशपुराण, ६६।२०.

३. Dr. Radha Kumud Mukherjee, Chandragupta Maurya and his time, F. 44–46. तथा श्रीनेत्रपाण्डेय, भारतका बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, प्राचीन भारत, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४२.

निर्वाणके २१५ वर्ष पश्चात् मानती है[१]। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्यने पाटलिपुत्र(मगध)-राज्यारोहणके १० वर्ष पश्चात् अवन्तीमें अपना राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार इतिहास और जैन परम्पराके समन्वित आलोकमें महावीरका निर्वाण ई० पू० ३१२ + २१५ = ई० पू० ५२७ सिद्ध होता है।[२]

परम्पराके आधारपर निर्वाण-समयका समर्थन विक्रम, शक, गुप्त आदि संवत्सरोंसे भी होता है। जैन ग्रन्थोंमें बताया गया है कि महावीरके निर्वाण-कालसे ४७० वर्ष बाद विक्रम-संवत्का प्रचलन हुआ। इतिहासकी यह सर्वसम्मत धारणा है कि विक्रम-संवत्का प्रवर्तन ई० पू० ५७ से हुआ है। इस प्रकार महावीरका निर्वाण-संवत् ४७० + ५७ = ई० पू० ५२७ आता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० आर० सी० मजुमदार, डॉ० एच० सी० राय चौधरी और डॉ० के०के० दत्त द्वारा लिखित "एन एडवांस हिस्ट्री ऑव इण्डिया"-में महावीरकी निर्वाण-तिथि ई० पू० ५२८ मानी गयी है। यद्यपि इन विद्वानोंने इस तिथिको भी निर्विवाद नहीं बताया है और इसकी असंगतियोंकी ओर इंगित करते हुए हेमचन्द्रके उल्लेखोंके साथ विरोध बतलाया है। हेमचन्द्रने चन्द्रगुप्त मौर्यके १५५ वर्ष पूर्व महावीरका निर्वाण बताया है, २१५ वर्ष पूर्व नहीं। इन सब विसंगतियोंके रहनेपर भी उक्त विद्वान् तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणतिथि १५ अक्टूबर ई० पू० ५२७ ही मानते हैं।[3] इस तिथिका समर्थन इतिहास और परम्परा इन दोनों ही तथ्योंसे होता है।

---

१. मुनिश्री नगराजजी : आगम और त्रिपिटिक : एक अनुशीलन, पृ० ८८.

२. The date 313 B. C. for Chandragupta's accession, if it is based on correct tradition, May refer to his acquisition of Avanti in Malwa, as the Chronological datum is found in verse where the Maurya king finds mention in the list of succession of Pālak, the king of Avanti.

—H.C. Ray Choudhuri : Political History of Ancient India. P. 295.

The jain date 313 B.C. if based on correct tradition, may refer to acquisition of Avanti (Malwa).

—An Advanced History of India, P. 99.

३. एन एडवान्स हिस्ट्री ऑव इण्डिया—ऐंसिएन्ट इण्डिया खण्ड.

'तित्थोगालीयपयन्ना'[1] में बताया गया है कि जिस रात्रिमें अर्हन् महावीर तीर्थंकरका निर्वाण हुआ, उसी रातमें अवन्तिमें पालकका राज्याभिषेक हुआ।

अतः ६० वर्ष पालकके, १५० नन्दोंके, १६० मौर्योंके, ३५ पुष्यमित्रके, ६० बल-मित्र-भानुमित्रके, ४० नभसेनके और १०० वर्ष गर्दभिल्लोंके व्यतीत होनेपर शक राजाका शासन हुआ।

उपर्युक्त तथ्योंकी पुष्टि 'तिलोयपण्णत्ती[2]', 'तिलोयसार[3]', 'धवलाटीका[4]' और 'हरिवंशपुराण'से[5] भी होती है। इन ग्रन्थोंमें बताया गया है कि निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ माह बीतनेपर शक राजा हुआ। इस आधारपर भी महावीर-निर्वाण ६०५ वर्ष, ५ माह–७८ वर्ष = ५२७ ई० पू० है। शक-संवत् और ईस्वी-संवत्में ७८ वर्षका अन्तर है।

तपागच्छ-पट्टावलिमें[6] लिखा है—६० वर्ष पालक राजा, १५५ वर्ष नवनन्द,

---

१. जं रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया॥
पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणं।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूसमित्ताणं (त्तस्स)॥
बलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ता य होंति नहसेणो।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया॥
पंच य मासा पंच य, वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगे राया॥
—तित्थोगालीयपयन्ना ६२०–६२३ गाथा तथा—हरिवंशपुराण ६०।४८७–४९०.

२. णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास सदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥
—तिलोयपण्णत्ती, भाग १, पृ० ३४१.

३. पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहिय सगमासं॥ —तिलोयसार, गाथा ८५०.

४. पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥
—धवलाटीका, जैनसिद्धान्त भवन आरा, पत्र ५३७.

५. वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रं मासपञ्चकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥
—हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण ६०।५५१.

६. जं रयणि कालगओ, अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणि अवणिवई, अहिसित्तो पालओ राजा॥

१०८ वर्ष मौर्यवंश, ३० वर्ष पुष्यमित्र, ६० वर्ष बलमित्र-भानुमित्र, ४० वर्ष नहपान, १३ वर्ष गर्दभिल्ल और ४ वर्ष शक-काल है। अतएव ६० + १५५ + १०८ + ३० + ६० + ४० + १३ + ४ = ४७० वर्ष–महावीर निर्वाण ४७० विक्रमादित्यका राज्यप्राप्तिकाल हुआ। इस आधारपर पूर्ववत् ४७० + ५७ = ५२७ ई० पू० महावीरका निर्वाण-काल आता है।

डॉ० वासुदेव उपाध्यायने 'गुप्तसाम्राज्यका इतिहास' ग्रन्थमें गुप्त-संवत्पर विचार करते समय जैन ग्रन्थोंका आधार स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है[1]:—"अलबेरुनीसे पूर्व शताब्दियोंमें कुछ जैन ग्रन्थकारोंके आधारपर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शककालमें २४१ वर्षका अन्तर है। प्रथम लेखक जिनसेन, जो ८ वीं शताब्दीमें वर्त्तमान थे, उन्होंने वर्णन किया है[2] कि भगवान् महावीरके निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ माहके पश्चात् शक राजाका जन्म हुआ तथा शकके अनुसार गुप्तके २२१ वर्ष शासनके बाद कल्किराजका जन्म हुआ। द्वितीय ग्रन्थकार गुणभद्रने (८८९ ई०) उत्तरपुराणमें[3] लिखा है कि महावीर निर्वाणके १००० वर्ष बाद कल्किराजका जन्म हुआ। जिनसेन तथा गुणभद्रके कथनका समर्थन आचार्य नेमिचन्द्रके वचनोंसे भी होता है।"

"नेमिचन्द्र त्रिलोकसारमें लिखते हैं—'शकराज-महावीर-निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ मासके बाद तथा शककालके ३९४ वर्ष ७ माहके पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ। इनके योगसे (६०५ वर्ष ५ माह + ३९४ वर्ष ७ माह =)१००० वर्ष होते हैं।'

सट्ठी पालयरण्णो पणवण्णसयं तु होइ नंदाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं तीस च्चिअ पूसमित्तस्स ॥
बलमित्त-भाणुमित्त सट्ठी वरिसाणि चत्त नहवाणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस वरिस सगस्स चउ (वरिसा) ॥

— तपागच्छ-पट्टावलि, पन्यास कल्याणविजय, पृ० ५०–५२.

१. गुप्तसाम्राज्यका इतिहास, भाग १, पृ० १८२, १८३.

२. वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते।
लोकेऽवन्तिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥
भद्रवाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम्।
एकविंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ॥
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता।
ततोऽजितञ्जयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ॥

—हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण ६०।४८७, ४९१, ४९२.

३. उत्तरपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण ७६।४२८–४३१.

इन तीनों जैन ग्रन्थकारोंके कथनानुसार शकराज तथा कल्किराजका जन्म निश्चित हो जाता है।"

विद्वान् लेखक डॉ० उपाध्यायने शक-संवत्-सम्बन्धी जैन धारणाओंके आधारपर शक और गुप्त संवत्का सम्बन्ध व्यक्त करते हुए लिखा है—"इस समयसे यह ज्ञात होता है कि गुप्तसंवत्की तिथि २४१ जोड़नेसे शक-कालमें परिवर्त्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचनके कारण अलबेरुनीके कथनकी सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित हो गया कि शक-कालके २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत्का आरम्भ हुआ।"[1]

पूर्वोक्त अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि शकसंवत्, गुप्तसंवत्, विक्रम-संवत् आदिकी मीमांसा महावीर-निर्वाण संवत्से की गयी है। अतः—

गुप्त-संवत्का प्रारम्भ	ई० सन् ३१९
महावीर-निर्वाण	गुप्त-संवत् पूर्व ८४६

अतएव ८४६ – ३१९ = ५२७ ई० पू० महावीर-निर्वाणकाल आता है।

संक्षेपमें तीर्थंकर महावीरकी निर्वाण-तिथि कार्त्तिक कृष्णा चतुर्दशी रात्रिका अन्तिम प्रहर, स्वातिनक्षत्र, मंगलवार, १५ अक्टूबर ई० पू० ५२७ है। इसी दिनसे यह तिथि 'दीपावलि' के रूपमें प्रचलित हो गयी।

निर्वाणस्थल

तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मध्यमा पावा अथवा पावापुरीमें हुआ। इस पावापुरीकी स्थिति कहाँपर है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वर्त्तमानमें अनुसंधानके नामपर कुछ व्यक्ति नये-नये स्थानोंपर पुराने क्षेत्रोंकी कल्पना कर प्रसिद्धि प्राप्त करनेके प्रयासमें हैं। तथ्य कहाँ तक इतिहाससे सम्मत है, यह शोधका विषय है। जैन-साहित्यके प्राचीन और अर्वाचीन सभी ग्रन्थोंमें महावीरका निर्वाण-स्थान पावापुरीमें बताया गया है। कल्पसूत्रमें तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-सम्बन्धी सन्दर्भ निम्नप्रकार उपलब्ध हैं :—

'तत्थ णं जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अंतरावासं उवागए तस्स णं अंतरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तियबहुले सस्स णं कत्तियबहुलस्स पन्नरसी पक्खेणं जा सा चारिमारयणि तं रयणि च णं समणे भगवं महावीरे कालगये विइक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणसिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिब्बुडे सव्वदुक्खपहीणे चंदे नामं से दिवसे उवसमि त्ति पवुच्चइ देवाणंदा नामं सा रयणी निरइ त्ति पवुच्चइ अच्चेलवे मुहुत्ते पाणू थोवे सिद्धे नागे करणे सव्वट्ठ-

१. गुप्तसाम्राज्यका इतिहास, भाग १, पृ० १८१.

सिद्धे मुहुत्ते साइणा जक्खत्तेणं जोगमुवागएणं कालगए विइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ' "

अर्थात् महावीर अन्तिम वर्षावास करनेके हेतु मध्यमा पावाके राजा हस्तिपालके रज्जुकसभा—धर्मगृहमें ठहरे हुए थे। चातुर्मासका चतुर्थ मास और वर्षाऋतुका सप्तम पक्ष चल रहा था। अर्थात् कार्तिक कृष्ण अमावस्याकी तिथि थी। रात्रिका अन्तिम प्रहर था। श्रमण भगवान् महावीर कालधर्मको प्राप्त हुए—संसारको त्याग कर चले गये। जन्म-ग्रहणकी परम्पराका उच्छेदकर चले गये। इनके जन्म, जरा और मरणके सभी बन्धन नष्ट हो गये। भगवान् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये। सब दुखोंका अन्तकर परिनिर्वाणको प्राप्त हुए।

तीर्थंकर महावीरके निर्वाणस्थलके सम्बन्धमें दिगम्बर-ग्रन्थोंसे भी प्रकाश प्राप्त होता है। बताया है:—

पावाए मज्झिमाए हत्थवालिसहाए णमंसामि।

—प्राकृतप्रतिक्रमण, पृ० ४६.

अर्थात् मध्यमा पावामें हस्तिपालकी सभामें स्थित महावीरको नमस्कार करता हूँ।

आशाधरजीने अपने क्रियाकलापमें लिखा है—

पावायां मध्यमायां हस्तिपालिकामण्डपे नमस्यामि।

—संस्कृत-क्रियाकलाप, पृ० ५६.

अतएव यह स्पष्ट है कि तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मध्यमा पावामें राजा हस्तिपालकी रज्जुक-शालामें हुआ था। अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि यह रज्जुक-शाला धर्मायतनके रूपमें होती थी। यहाँपर धर्मोपदेश अथवा प्रवचन होनेके लिए पर्याप्त स्थान रहता था। सहस्रों व्यक्ति इस स्थानपर बैठ सकते थे। रज्जुकशालामें चौरस मैदानके साथ एक किनारे भवन स्थित रहता था। अतः दिगम्बर-परम्पराके उल्लेखानुसार भी महावीरका निर्वाण-स्थल मध्यमा पावा है। यह हस्तिपाल राजा कोई बड़ा राजा नहीं था, सामन्त या जमींदार जैसा था। यतः उस युगमें नगराधिपति भी राजा द्वारा उल्लिखित किया जाता था। अतएव यह आशंका संभव नहीं है कि मगध नृपति श्रेणिकके रहते हुए निकटमें ही हस्तिपाल राजाका अस्तित्व किस प्रकार संभव है? महावीरके समयमें प्रायः प्रत्येक बड़े नगरका अधिपति राजा कहा जाता था।

१. कल्पसूत्र, सूत्र १२३, पृ० १९८. श्रीअमर जैन आगम शोध संस्थान, शिवाना (राजस्थान)

इस आलोकसे ध्वनित होता है कि पावापुरका हस्तिपाल राजा था और उनकी रज्जुकशालामें महावीरका अन्तिम समवशरण हुआ था।

महावीर जिस समय कालधर्मको प्राप्त हुए, उस समय चन्द्र नामक द्वितीय संवत्सर चल रहा था, प्रीतिवर्द्धन मास, नन्दिवर्द्धन पक्ष, अग्निवेश दिवस, देवानन्दा नामक रात्रि, अर्थ नामक क्षण, सिद्ध नामक स्तोक, नाग नामक करण, सर्वार्थसिद्धि मुहूर्त्त एवं स्वाति नक्षत्रका योग था। ऐसे समयमें तीर्थंकर महावीर निर्वाणको प्राप्त हुए।

महावीरके निर्वाणके समय सुर-असुरके साथ अनेक राजा भी उपस्थित थे। बताया है:—

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणो सा णं रयणी बहूहिं देवेहि य देवीहि य ओवयमाणेण य उप्पयमाणेहि य उज्जोविया यावि होत्था ॥१२४॥'

'जं रयणि च णं समणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं नव मल्लइ नव लिच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो अमावसाए पाराभोयं पोसहोववासं पट्ठवइंसु, गते से भावुज्जोए दव्वुज्जोवं करिस्सामो ॥१२७॥'[1]

अर्थात्, जिस रात्रिमें श्रमण भगवान् महावीर कालधर्मको प्रप्त हुए, सम्पूर्ण दु:खसे छुटकारा प्राप्त किया, उस रात्रिमें बहुतसे देव और देवियाँ नीचे आ जा रहीं थीं, जिससे वह रात्रि उद्योतमयी हो गयी थी ॥१२४॥

जिस रात्रिमें श्रमण भगवान् महावीर कालधर्मको प्राप्त हुए, सम्पूर्ण दु:खोंसे मुक्त हुए, उस रात्रिमें नौ मल्ल-संघके, नौ लिच्छवी-संघके अर्थात् काशी-कोशलके अठारह गणराजा अमावस्याके दिन आठ प्रहरका प्रोषधोपवास कर वहाँ स्थित थे। उन्होंने यह विचार किया कि भावोद्योत—ज्ञानरूपी प्रकाश चला गया है। अत: अब हम द्रव्योद्योत—दीपावलि प्रज्वलित करेंगे।

कल्पसूत्रके उपर्युक्त उद्धरणोंसे निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं:—

(१) तीर्थंकर महावीरका निर्वाण, राजा हस्तिपालकी नगरी पावापुरीमें हुआ।

(२) निर्वाणके समय नौ मल्लगण, नौ लिच्छवीगण इस प्रकार काशी-कोशलके अट्ठारह गणराजा विद्यमान थे।

(३) अन्धकारके कारण दीपावलि प्रज्वलित की।

---

१. कल्पसूत्र, सूत्र १२४ और १२७. (श्रीअमर आगम शोध संस्थान, शिवाना, राजस्थान)

(४) यह पावा मध्यमा पावा कहलाती थी।

प्राचीन भारतमें पावा नामकी तीन नगरियाँ थीं। जैन सूत्रोंके अनुसार एक पावा भंगदेशकी राजाधानी थी। यह देश पारसनाथ पर्वतके आस-पासके भूमि भागमें अवस्थित था। वर्तमान हजारीबाग और मानभूमिके जिले इसीमें शामिल हैं। जैन आगम-ग्रन्थोंमें भंगि जनपदकी गणना साढ़े पच्चीस आर्य देशोंमें की गयी है।

बौद्ध साहित्यमें इसे मलय देशकी राजधानी बताया है। मल्ल और मलयको एक मान लेनेसे ही पावाकी गणना भ्रांतिवश मलय देशमें की गयी है।

दूसरी पावा कोशलसे उत्तर-पूर्वमें कुशीनाराकी ओर मल्ल राज्यकी राजधानी थी। मल्ल जातिके राज्यकी दो राजधानियाँ थीं—एक कुशीनारा और दूसरी पावा। सठिआँव—फाजिलनगरवाली पावा सम्भवतः यही है।

तीसरी पावा मगधमें थी। यह उक्त दोनों पावाओंके मध्यमें थी। पहली पावा इसके आग्नेय कोणमें और दूसरी इसके वायव्य कोणमें लगभग सम अन्तरपर थी। इसी कारण यह पावा मध्यमाके नामसे प्रसिद्ध थी।

इस पावाका सम्बंध राजा हस्तिपालकी सभासे भी है। पावामें जैन सूत्रों-के अनुसार महावीरका दो बार अवश्य आगमन हुआ था। उनकी दो महत्त्व-पूर्ण घटनाएँ इस नगरीके साथ सम्बद्ध हैं। प्रथम बार केवलज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर अगले ही दिन यहाँ पधारे। देवोंने समवशरणकी रचना की, पर विरति-रूप संयमका लाभ किसीको नहीं हो सका। बात यह है कि उन दिनों मध्यम पावामें, जो जृम्भक ग्रामसे लगभग बारह योजन दूर थी, आर्य सोमिल बड़ा भारी यज्ञ कर रहा था। इस यज्ञमें देश-देशांतरके अनेक विद्वान् सम्मिलित हुए थे। महावीरने जाना—यज्ञमें आये हुए विद्वान् पण्डित यदि सम्बोधित हो जायँ, तो वे धर्मके आधार-स्तम्भ बन जा सकते हैं। अतः मध्यमा पावाके महासेन उद्यानमें वैशाख शुक्ला एकादशीके दिन उनका दूसरा समवशरण लगा। उनका उपदेश एक प्रहर तक हुआ। उपदेशकी चर्चा समस्त नगरमें व्याप्त हो गयी। आर्य सोमिलके यज्ञमें सम्मिलित हुए इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् ज्ञानमदसे उन्मत्त हो अपने विद्वान् शिष्योंके साथ महावीरसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे। इनका उद्देश्य महावीरसे विवाद करके उन्हें पराजितकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना था, पर वहाँ पहुँचते ही उनका ज्ञानमद विगलित हो गया और उन्होंने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। इसी दिन महावीरने मध्यमा पावाके महासेन उद्यानमें चतुर्विध संघकी स्थापना की।

द्वितीय घटना महावीरके निर्वाणकी है। महावीर चम्पासे विहारकर मध्यमा पावा या अपापा पधारे। इस वर्षका वर्षावास हस्तिपालकी रज्जुक-सभामें ग्रहण किया। चातुर्मासमें दर्शनोंके लिए आये हुए, राजा पुण्यपालने भगवान्से दीक्षा ली। कार्तिक अमावस्याके प्रातःकाल अपने जीवनकी समाप्ति निकट समझकर अन्तिम उपदेशकी अखण्ड धारा चालू रखी। जो अमावस्या-की पिछली रात तक चलती रही। गौतम गणधर उस समय महावीरकी आज्ञा-से निकटवर्ती ग्राममें देवशर्मा ब्राह्मणको उपदेश करनेके लिए गये हुए थे। जब वे लौटकर आये, तो उन्हें देवताओंसे ज्ञात हुआ कि भगवान् कालगत हो गये। इन्द्रभूति गौतमको तत्क्षण केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

श्वेताम्बर वाङ्मयके आधारपर प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त विवेचनसे मध्यमा पावाकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पहली घटना चतुर्विध संघ-स्थापनकी है। मध्यमा पावा और जृम्भक ग्राममें इतना अन्तर होना चाहिए, जिससे एक दिन-रातमें जृम्भक ग्रामसे मध्यमा पावा पहुँचा जा सके। यह अंतर अधिक-से-अधिक बारह योजन दूरीका हो सकता है। हम पूर्वमें तीर्थंकर महावीरके केवलज्ञान-स्थान जम्भिय ग्रामकी अवस्थितिका निर्देश कर चुके हैं। यह ऋजुकूला नदीके तटपर स्थित जमुई गाँव है, जो वर्तमान मुंगेरसे पचास मील दक्षिणकी दूरीपर स्थित हैं। यहाँसे राजगृहकी दूरी तीस मील या पंद्रह कोस है। पावापुर और राजगृहकी दूरी भी अधिक-से-अधिक पच्चीस मील है। इस प्रकार जमुईसे पावापुरकी दूरी दस योजनसे अधिक नहीं है। यदि सठि-आँव वाली पावाको मध्यमा पावा माना जाय, तो जम्भिय गाँवसे यह पावा कम-से-कम सौ-डेढ़सौ मीलकी दूरीपर स्थित है। इतनी दूरीको वैशाखशुक्ला दशमीके अपराह्न कालसे वैशाख शुक्ला एकादशीके पूर्वाह्न काल तक तय करना सम्भव नहीं है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्वे० सूत्र-ग्रन्थोंमें बताया गया है कि तीर्थंकर महावीर चम्पा नगरीमें चातुर्मास पूर्णकर जम्भीय गाँवमें पहुँचे। वहाँसे मेंढ़ीय होते हुए छम्माणि गये। यहाँ एक ग्वालेने महावीरके कानोंमें काठके कीले ठोंककर उपसर्ग दिया था। छम्माणिसे महावीर मध्यमा पावा आये। महावीर-के इस विहार-क्रमका भौगोलिक अध्ययन करनेसे दो तथ्य प्रसूत होते हैं:—

(१) छम्माणि ग्रामकी स्थिति चम्पा और मध्यमा पावाके मध्य मार्गपर स्थित है। मेढ़ीय ग्रामकी दो स्थितियाँ मानी जाती हैं। एक स्थिति तो राजगृह और चम्पाके मध्यकी और दूसरी श्रावस्ती और कौशाम्बीके मध्यकी है। यदि महावीरने चम्पासे चलकर श्रावस्ती और कौशाम्बीके मध्यवाले मेढ़ीय ग्राममें धर्मसभा की हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। कहा जाता है कि गोशा-

लककी तेजोलेश्याके प्रयोगके पश्चात् महावीर श्रावस्ती और कौशाम्बीके मध्य-वर्त्ती मेढ़िय ग्रामके शालि-कोष्ठक चैत्यमें पधारे थे। महावीरके विहार-वर्णन-में आता है कि मध्यमा पावासे वे जम्भिय गाँव गये और वहाँ उन्हें केवल-ज्ञान हुआ और वहाँसे राजगृह आये।

(२) विहार-वर्णनसे पावाकी स्थिति चम्पा और राजगृहके मध्यमें होनी चाहिए। अतः चम्पासे मध्यमा पावा होते हुए राजगृह गये और वहाँसे वैशाली। अतएव तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणस्थली पावा चम्पा और राज-गृहके मध्यमें होनी चाहिये।

कल्पसूत्रमें आया है कि तीर्थंकर महावीरके निर्वाणोत्सवमें नव मल्ल और नव लिच्छिवियोंने भाग लिया। और अठारह गणराजा काशी-कोशलवंशके थे। नवमल्ल, नवलिच्छिवि और अठारह काशी-कोशलके गणराजा इस प्रकार कुछ विद्वानोंने समस्त गणराजाओंकी संख्या छत्तीस निश्चित की है। पर जैन सूत्रोंके टीका-ग्रन्थोंके अध्ययनसे उक्त अर्थ भ्रान्त सिद्ध हो जाता है। महावीरके निर्वाणोत्सवमें सम्मिलित होनेवाले कुल अठारह ही गणराजा थे, जो वैशालीके अधीन थे। कल्पसूत्रकी संदेह-विषौषधि टीकामें लिखा है:—

> 'नवमल्लई' इत्यादि काशीदेशस्य राजानो मल्लकी जातीया नव कोशलदेशस्य राजानो लेच्छकी जातीया नव....' अर्थात् नवमल्ल काशी देशके राजाओंकी जाति थी और नवलिच्छिवि कोशल देशके राजाओंकी जाति थी।

भगवती-सूत्र (सात ऊ० ९, सूत्र २९९, पत्र ५७६)में युद्धका प्रसंग आया है। इस प्रसंगको यहाँ अभयदेवसूरिकी टीकाके साथ प्रस्तुत किया जा रहा है—

> "नवमल्लई नवलेच्छई कासी-कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो।"
>
> 'नव मल्लई त्ति मल्लकिनामानो राजविशेषाः, 'नव लेच्छइ' त्ति लेच्छकीनामानो राजविशेषाः एवं 'कासीकोसलग' त्ति काशी-वाराणसी तज्जनपदोऽपि काशी तत्सम्बन्धिन आद्या नव, कोशला अयोध्या तज्जन-पदोऽपि कोशला तत्सम्बन्धिनः नव द्वितीयाः। 'गणरायाणो' त्ति समुत्पन्ने प्रयोजने ये गणं कुर्वन्ति ते गणप्रधाना राजानो गणराजा इत्यर्थः, ते च तदानीं चेटकराजस्य वैशालीनगरीनायकस्य साहाय्याय गण कृतवंत इति....' पत्र ५७९-५८०.

अर्थात् नवमल्ल मल्लकी नामक राजाविशेष और नवलिच्छिवि लेच्छकी नामक राजाविशेष ये अठारह काशी-कोशलके गणराजा कहलाते थे। इनमें प्रथम नौ कोशल अर्थात् अयोध्या जनपदसे सम्बन्धित थे और द्वितीय नौ मल्ल

ये काशीसे सम्बद्ध थे। अठारह गणराजा वैशालीके नायक चेटककी सहायता करते थे।

उपर्युक्त टीकासे यह स्पष्ट है कि वैशालीके अधीन अठारह गणराजा थे। इनमें ही काशी-कोशलकी भी गणना सम्मिलित थी। हमारे इस कथनकी पुष्टि निरयावलिकाके एक अन्य सन्दर्भसे भी होती है। इस सन्दर्भमें बताया गया है कि जब चेटक युद्ध करनेके लिये चला तो अठारह गणराजा भी अपनी सेनाओंके साथ चले। सन्दर्भ निम्न प्रकार है:—

'तते णं ते चेडए राया तिहि दंति सहस्सेहिं जहा कूणिए जाव वेसालि नगरि मज्झमज्झेण निग्गच्छति निग्गच्छित्ता जेण·वे नवमल्लई नवलेच्छई काशीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो तेणवे उवागच्छति····

तते णं चेडए राया सत्तावन्नाए दंतिसहस्सेहिं सत्तावन्नाए आसस-हस्सेहिं सत्तावन्नाए रहसहस्सेहिं सत्तावन्नाए मणुस्स कोडीएहिं····[1]'

चेटकके अठारह गणराजा थे, यह बात आवश्यकचूर्णिसे भी सिद्ध होती है। बताया है:—

'चेडएणवि गणरायाणो मोलिता देसप्पंते ठिता, तेसिंपि अट्ठारसण्हं रायीणं समं चेडएणं तओ हत्थिसहस्सा रहसहस्सा मणुस्स कोडीओ तहा चेव, नवरि संखेवो सत्तावण्णो सत्तावण्णो····[2]'

विचार-रत्नाकरमें आया है, '**चेटकेनाऽप्यष्टादशगणराजानो मेलिताः**', स्पष्ट है कि नौ मल्ल और नौ लिच्छिवि ये अठारह गणराजा ही काशी-कोशल वंशज कहलाते थे। जेकोबीका मत है कि उक्त नव जन लिच्छिवि क्षत्रिय काश्यप गोत्रीय महावीरके मातुल वैशाली-राज चेटकके सामन्त थे।[3]

जैन ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि लिच्छिवि क्षत्रिय थे और वे अयोध्यासे वैशाली आये थे। भगवान् महावीरका गोत्र काश्यप था और काश्यप गोत्र तीर्थंकर ऋषभदेवसे प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार मल्लोंका सम्बन्ध काशीके साथ है।

इन गणराजाओंके वर्णनसे पावापुरीकी वास्तविक स्थितिके सम्बन्धमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:—

१. महावीरके निर्वाणमें नौ मल्ल और नौ लिच्छिवि ये अठारह गणराजा

---

१. श्रीविजेन्द्र सूरि, तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ३१६ पर उद्धृत.

२. आवश्यकचूर्णि, उत्तरार्द्ध, पत्र १७३.

३. उपेन्द्र महारथी, वैशालीके लिच्छिवि, पृ० ४ पर उद्धृत.

वैशालीसे पावापुरमें सम्मिलित हुए होंगे। यदि सठियाँव वाली पावामें सम्मिलित होते तो दूरी इतनी अधिक हो जाती कि उनका निर्वाणोत्सवमें सम्मिलित होना असम्भव था।

२. हस्तिपाल पावापुरका शासक था और यह राजा सिंहका पुत्र था। यदि इसे हम मल्ल गणके अन्तर्गत मान लें तो भी अनुचित नहीं है। यतः चेटककी सहायता नवमल्लोंने की थी और यह भी उसी मल्लगणके अन्तर्गत था।

३. बुद्धने जिस पावामें भोजन ग्रहण किया था और जो कुशीनगरके पास सठियाँवके रूपमें मान्य है, उसका नृपति हस्तिमल्ल नहीं है। हस्तिमल्लका किसी भी बौद्ध ग्रन्थमें उल्लेख नहीं आता। जैन ग्रन्थोंमें हस्तिमल्ल महावीरके प्रथम समवशरणमें भी उपस्थित होता है, जिसका संयोजन पावापुरी (नालन्दाके निकटवर्ती) में हुआ था। निर्वाण-लाभ करनेके समय महावीरने अपना अन्तिम चातुर्मास इसी पावामें हस्तिमल्लके रज्जुगगृहमें किया था। अतः जैन साहित्यके प्रचुर प्रमाणोंके आधारपर वर्त्तमान पावापुरी ही तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि है।

जो यह प्रश्न उठाया जाता है कि मगधवासी होनेपर भी अजातशत्रु मगध जनपदमें स्थित मध्यम पावामें महावीरके निर्वाणोत्सवमें क्यों सम्मिलित नहीं हुआ? इसका समाधान सीधा और स्पष्ट है। तीर्थंकर महावीरके निर्वाणोत्सवके अवसरपर श्रेणिक जीवित था। अतएव उसीने मगधका प्रतिनिधित्व किया। हरिवंशपुराणमें[1] स्पष्ट उल्लेख है कि श्रेणिक इस उत्सवमें सम्मिलित हुआ। इस पुराणकी रचना शक-संवत् ७०५ वि० सं० ८४० ई० सन् ७८३में हुई है। हरिषेणरचित बृहत्कथाकोशसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है। इस ग्रन्थमें आयी हुई श्रेणिक-कथामें बताया गया है कि श्रेणिककी मृत्यु महावीरके निर्वाणके पश्चात् हुई। श्रेणिक निर्वाण-प्राप्तिके कई वर्ष पश्चात् परलोकवासी हुआ।[2] श्रेणिक-चरितमें महावीरके निर्वाणके पूर्व श्रेणिकके देहावसानकी सूचना दी गयी है। पर ये दोनों तथ्य पूर्वोत्तरवर्ती होनेके कारण विरोधी नहीं हैं। श्रेणिकचरितकी रचना पन्द्रहवीं शताब्दीकी है। अतः उसकी अपेक्षा हरिवंशपुराण और हरिषेण-कथाका कथन पूर्ववर्ती होनेसे अधिक प्रामाणिक है।

---

१. तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुजः प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथार्थं प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः ॥—ह० ६६।२१.

२. बृहत्कथाकोश-हरिषेणकृत, श्रेणिककथा, कथा ५५.

दिगम्बरसाहित्यके आलोकमें ईस्वीकी पाँचवी शताब्दीसे ही नालन्दाकी निकट-वर्तिनी पावा ही महावीरकी निर्वाणभूमि मानी गयी है। पूज्यपादने लिखा है:—

पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं सम्प्रापद् व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ॥
परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु चागम्य ।
देवतरुरक्तचन्दनकालागुरुसुरभिगोशीर्षैः ॥
अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यैः ।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं खं च वनभवने ॥

अर्थात्—तीर्थंकर महावीर कमलवनसे भरे हुए और नानावृक्षोंसे सुशोभित पावानगरके उद्यानमें कायोत्सर्ग ध्यानमें आरूढ़ हो गये। उन्होंने कार्तिक कृष्णा-के अन्तमें स्वाति नक्षत्रमें सम्पूर्ण अवशिष्ट कर्म-कलंकका नाश करके अक्षय, अजय और अमर सौख्य प्राप्त किया। देवताओंने जैसे ही जाना कि भगवान्-का निर्वाण हो गया, वे अविलम्ब वहाँ पर आये और उन्होंने पारिजात, रक्त चन्दन, कालागुरु तथा अन्य सुगन्धित पदार्थ और धूपमालाएँ एकत्र कीं। अग्निकुमार देवोंके इन्द्रने अपने मुकुटसे अग्नि प्रज्वलितकर जिनेन्द्रप्रभुकी देहका संस्कार किया। देवोंने गणधरोंकी भी पूजा की और अपने-अपने स्थानपर चले गये।

हरिवंशपुराण, जयधवला टीका, तिलोयपण्णत्ती, उत्तरपुराण आदि सभी ग्रन्थोंसे यह सिद्ध होता है कि तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मगध देशकी पावा नगरीमें हुआ है।

बौद्ध साहित्यके आधारपर श्रीकन्हैयालाल सरावगीने कुशीनगरके समीप-वर्ती सठियाँवको तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि पावा सिद्ध करनेका प्रयास किया है। उन्होंने सठियाँवकी जो व्युत्पत्ति पावाके साथ घटित की है उसे पढ़कर महान् आश्चर्य होता है। उन्होंने लिखा है "श्रीका प्राकृत रूप सरि या सठि होता है। पावाका कालान्तरमें यावा—याँवा हो गया। इस प्रकार श्रीपावा>सिरिपावा>सठियावा>सठियाँवा बन गया।"[1]

श्रीका सरि रूप बनता है पर प्राकृतके किसी भी नियमके आधारपर 'र' का 'ठ' और 'प' का 'य' नहीं होता। पावाका याँवा रूप और श्रीके सठि रूप-की कल्पना करना भाषा-विज्ञानके समस्त नियमोंकी अवहेलना करना है।

१. पावा-समीक्षा, पृ० ४२.

अतः श्रीपावाका सठियाँवा सम्भव नहीं है। पूर्वाग्रह लेकर किसी भी शब्द-को कहीं भी घसीटा जा सकता है। यहाँ श्रीसरावगीजीका पूर्वाग्रह ही प्रतीत होता है।

श्रीसरावगीजीकी एक नयी सूझ भी विचारणीय है। उन्होंने 'मज्झिमा'-का मध्यवर्त्ती अर्थ न कर मध्यदेशवर्त्ती किस आधारपर किया है? 'मज्झिमा' विशेषणका सीधा सम्बन्ध 'पावा' के साथ है, अतः देश शब्दका अध्याहार किस प्रकार सम्भव हुआ? 'मज्झिमा' को विशेषार्थक विशेषण माना जाय अथवा साभिप्राय विशेषण माना जाय, इन दोनों ही स्थितियोंमें 'पावा' विशेष्यके रहते हुए 'देश' को बीचमें नहीं डाला जा सकता है।

प्राचीन टीका-ग्रन्थोंमें 'पावाए मज्झिमाए' का अर्थ सर्वत्र 'मध्यमा पावा' ही प्राप्त है; मध्यदेशवर्त्तिनी पावा नहीं। अपने कथनकी पुष्टिके लिए उन्होंने हरिवंशपुराणमें वर्णित 'मध्यदेश' को 'मज्झिम' का बोधक लिखा है। पर इसकी सिद्धिके लिए प्रमाण नहीं दिया है। एक अन्य तर्क यह है कि 'मज्झिमाए पावाए' में मज्झिमा विशेषण स्त्रीलिङ्ग है, इसके 'मध्य' पुंल्लिङ्ग 'देश' शब्दका किस प्रकार अध्यहार संभव है? अध्याहार साभिप्राय विशेषणके होनेपर लिङ्ग, वचन और विभक्तिके नियमानुसार ही होता है। शब्द-गठनमें अनियमित व्यवहार नहीं पाया जाता है।

शब्दरूपकी दृष्टिसे 'मज्झिमा'—मध्यमाका रूपान्तर है, 'मध्य' का नहीं। 'मज्झ' से मध्य बनता है, यह विशेषण है और इसकी निष्पत्ति 'मन् + यत्—नस्यधः' से सम्भव है। मज्झिमा—मध्यमा भव अर्थमें 'म' प्रत्यय होनेसे 'मध्ये भवः—मध्य + म'—मध्यम + स्त्रीत्व टाप्—मध्यमा—मज्झिमा रूप निष्पन्न है। अतएव 'पावाए मज्झिमाए' का अर्थ मध्यमा पावा अथवा मध्यवर्ती पावा है, मध्यदेशवर्त्तिनी पावा नहीं।

उल्लिखित तीनों पावाओंकी अवस्थिति पौराणिक भूगोलकी दृष्टिसे मध्य-देशमें है। मनुस्मृति, विष्णुपुराण, वामनपुराण आदिके आधारपर मध्यदेशका विस्तार हेमाद्रिसे लेकर सह्याद्रि तक माना गया है। तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि 'मध्यमा पावा' थी, जिसकी स्थिति भंगि प्रदेशकी पावा और गोरखपुर जिलेमें कुशीनाराकी निकटवर्त्तिनी पावाके मध्य थी।

बौद्ध साहित्यमें अनेक प्रसंगोंमें पावाका निर्देश आया है। वर्त्तमानमें कई विद्वान् बुद्धकी अन्तिम यात्रामें वर्णित पावाको ही तीर्थंकर महावीरको निर्वाण-भूमि बतलाते हैं। भयंकर बीमारीके अनन्तर[1] बुद्ध वैशालीसे भण्डग्राम, अम्बग्राम

१. दीघनिकाय २।३ महापरिनिब्बाणसुत्त।

(आम्रग्राम), जम्बुग्राम, भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे। यहाँ चुन्द कर्मारपुत्रके आम्रवनमें निवास किया। उसने दूसरे दिन बुद्धको भोजनके लिए आमन्त्रित किया और सूकर-मद्दव तथा अन्य भोजन-सामग्री तैयार करायी। बुद्धने भिक्षु-संघके साथ जाकर भोजन किया। सूकर-मद्दव खानेसे बुद्धको रक्त गिरने लगा। थोड़ी दूर चलकर वे थक गये। उन्हें मरणान्तक कष्ट हुआ।

बुद्ध कुशीनाराकी ओर जा रहे थे। मार्गमें श्रान्त होनेपर वे एक वृक्षके नीचे विश्राम करने लगे। बुद्धने आनन्दसे जल मांगा। आनन्द समीपवर्त्तिनी ककुत्थासे जल भरकर लाये और बुद्धको पीनेके लिए दिया।

पावासे कुशीनारा छः गव्यूति था, किन्तु इतनी दूरीमें बुद्धको पच्चीसबार बैठना पड़ा, मध्याह्नसे चलकर सूर्यास्तके समय कुशीनारा पहुंचे। पावासे चलकर ककुत्था नदी पार की। आगे हिरण्यवत्ती नदी मिली, उसके परले तटपर स्थित कुशीनाराके मल्लोंके शालवनमें गये और दो घने शालवृक्षोंके बीचमें उत्तरकी ओर सिरहाना करके लेट गये और यहीं निर्वाण प्राप्त किया।

इस सन्दर्भसे यह स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध पावासे कुशीनगर पहुँचे थे तथा पावा और कुशीनगरकी दूरी १२ मील रही होगी। ककुत्था नदी भी पावाके निकट थी, जिससे जल लाकर आनन्दने उनको पिलाया था। यह पावा मल्लोंकी पावा है, तीर्थंकर महावीरकी निर्वाण-भूमि मध्यमा पावा नहीं। इतिहासज्ञोंने, बुद्धको जहाँ भोजन कर सांघातिक रोग हुआ, पावाकी खोज की। कपिलवस्तुसे लेकर कुशीनारा, पडरौना, फाजिलनगर, सठियाँव, सरेया, कुक्कुरपाटी, नन्दवा, दनाहा, आसमानपुर डोह, मीर विहार, फरमटिया और गांगीटिकार तक प्राचीन भवनों, मन्दिरों और स्तूपोंके ध्वंसावशेष बिखरे पड़े हैं। इन अवशेषोंके देखनेसे ऐसा अनुमान होता है कि आततायी राजाओं अथवा प्रकृतिके बहुत बड़े प्रकोपके कारण ये ध्वंसावशेष हुए होंगे।

इतिहास बतलाता है कि श्रावस्तीके राजसिंहासनपर आसीन होकर विदूडभने अपने पिता प्रसेनजितको मरवाकर शाक्यों और उनके नगरोंको ध्वस्त कर दिया। श्रेणिकके पुत्र अजातशत्रु कुणिकने भी अपने पिताको बन्दी बनाकर मगधका सिंहासन अधीन किया और अपने ननिहाल वैशाली-गणसंघ और उनके मित्र मल्लसंघको नष्ट कर दिया। इन दो महत्त्वाकांक्षी राजाओंके प्रतिशोधके परिणाम स्वरूप ही यहाँ डीह-टीले विद्यमान हैं। बुद्धकी मृत्युके पश्चात् उनकी अस्थियोंके आठ भाग किये गये, इनमेंसे एक भाग शक्योंने और दो भाग पावा एवं कुशीनगरके मल्लोंने ग्रहण किये। दोनों संघोंने उन अस्थि-भस्मोंपर स्तूपोंका निर्माण कराया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

कपिलवस्तु, कुशीनारा और पावाका विनाश बुद्धकी मृत्युके आस-पास हुआ और स्तूप इसके उत्तर कालमें ध्वस्त किये गये। अतएव ध्वंसावशेष सठियाँवकी प्राचीनताके सूचक हैं।

वर्तमान सठियाँवमें तालाब और स्तूपोंके ध्वंसावशेष प्रचुर रूपमें विद्यमान हैं। पावा वैशाली-कुशीनारा मार्गपर अवस्थित थी। अतः वह कुशीनारासे दक्षिण-पूर्व होनी चाहिए। पडरौना उत्तर और उत्तर-पूर्वमें बारह मीलकी दूरी-पर है, पर यह वैशाली-कुशीनारा मार्गपर स्थित नहीं है। इस विवेचनके अनुसार फाजिलनगर सठियाँव ही पुरानी पावा है।

लंकाकी बौद्ध अनुश्रुतियोंके अनुसार पावा कुशीनारासे बारह मील दूर गण्डक नदीकी ओर संभव है। यह कुशीनारासे पूर्व या दक्षिण-पूर्वमें अवस्थित है। इस अनुश्रुतिमें कुशीनारा और पावाके बीचमें एक छोटी नदी भी बतायी गयी है, जो 'ककुत्था' कहलाती थी। यहीं बुद्धने स्नान और जलपान किया था। इस नदीका वर्त्तमान नाम 'घागी' है। यह कसियासे पूर्व, दक्षिण-पूर्वकी ओर छः मील दूर है।

फाजिलनगरके भग्नस्तूपसे डेढ़ फर्लांग उत्तर-पूर्वमें बहनेवाली 'सोनुआ' 'सोनावा' या 'सोनारा' नामकी नदी है। यही नदी ककुत्था है, यह पावा और कुशीनगरके मध्य बहती है। वर्त्तमानमें सठियाँवसे डेढ़ मील पश्चिमकी ओर प्राचीन नदीके चिह्न मिलते हैं, जो अन्हेया, सोनिया और सोनाका कही जाती है। इससे दो मील पश्चिममें 'घागी' नामकी एक बड़ी नदी है। पड़रौनासे दस मील उत्तर-पश्चिममें सिंघा गाँवके पास एक झील है, 'घागी' नदी इसीसे निकलती है। अतएव संक्षेपमें महात्मा बुद्धकी राजगृहसे कुशीनगर तककी यात्राका अध्ययन करनेपर पावा भोगनगर (बदरांव) और कुशीनगरके मध्य सठियाँव-फाजिलनगर हैं। परन्तु यह मध्यमा पावा नहीं है।

निर्वाणस्थल-सम्बन्धी बौद्धागम प्रमाण

बौद्ध वाङ्मयमें महावीरकी निर्वाणभूमि पावाके सम्बन्धमें 'सामगामसुत्तन्त', 'पासादिकसुत्त', 'संगीतिपरियायसुत्त' आदि ग्रन्थोंमें उल्लेख आये हैं। ये निर्देश विद्वेषपूर्ण साम्प्रदायिक संकीर्णताके परिचायक हैं। यहाँ मूल सन्दर्भ प्रस्तुतकर निर्वाणभूमिसे संबद्ध निष्कर्ष अंकित किये जायँगे। बताया है :—

> एव मे सुतं। एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावायं अधुना कालंकतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनभिन्ना निगण्ठा द्वेधिक-जाता—'पे० भिन्नथूपे अप्पटिसरणे' ति। एवं वुत्ते आयस्मा आनंदो चुन्दं

समणुद्देसं एतदवोच 'अत्थि खो इदं आवुसो चुन्द, कथा पामन्तं भगवन्तं दस्सनाय। अयाम आवुसो चुन्द, येन भगवा तेनुपसङ्कमिस्साम। उपसङ्कमित्वा एतमत्थं भगवतो आरोचेस्साम' ति। 'एव भन्ते' ति खो चुन्दो समणुद्देसो आयस्मतो आनन्दस्स पच्चस्सोसि।[1]

अर्थात् एक बार भगवान बुद्ध शाक्य देशके सामगाममें विहार करते थे। निगंठ नातपुत्रको कुछ समय पर्व ही पावामें मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्युके अनन्तर ही निगंठोंमें फूट हो गयी, दो पक्ष हो गये, वे कलह करते हुए एक दूसरेको मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे थे—'तू इस धर्म-विनयको नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनयको जानता हूँ। तू भला इस धर्म-विनयको क्या जानेगा? तू मिथ्यारूढ है, मैं सत्यारूढ हूँ।'

निगण्ठ नातपुत्रके श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नातपुत्रीय निगंठोंमें वैसे ही विरक्त चित्त हैं, जैसे कि वे नातपुत्रके दुराख्यात (अस्पष्ट), दुष्प्रवेदित (अज्ञात), अनैर्याणिक (पार न लगानेवाले), अनुपशम संवर्तनिक (न शान्ति गामी), असम्यक् सम्बुद्ध प्रवेदित (किसी बुद्धसे न जाने गये), प्रतिष्ठा (आधार) रहित, भिन्नस्तूप, आश्रमरहित धर्मविनयमें थे।

चुन्दसमणुद्देस पावामें वर्षावास समाप्त कर सामगाममें आयुष्मान आनन्दके पास आये और उन्हें निगण्ठ नातपुत्रकी मृत्यु तथा निगंठोंमें हो रहे विग्रहकी सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द—"आवुस चुन्द! भगवान्के दर्शनके लिए यह बात भेंट रूप है। आओ—आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ चलें। चलकर यह बात भगवान्को कहें—अच्छा भन्ते! चुन्द समणुद्देसने कहकर आयुष्मान् आनन्दका समर्थन किया।

उपालि-संवादमें बताया गया है कि नातपुत्र नालन्दावासी होनेपर भी पावामें कालगत हुए। उन्होंने सत्यलाभी उपालि गृहपतिको दस गाथाओंसे भाषित बुद्धके गुणोंको सुनकर उष्ण रक्त उगल दिया। अस्वस्थ अवस्थामें ही उन्हें पावा ले गये और वहीं कालगत हुए।[2]

इन सन्दर्भोंके अध्ययनसे निम्नाङ्कित तथ्य प्रसूत होते हैं:—

१. तीर्थंकर महावीरका निर्वाण पावामें हुआ।

२. उनकी मृत्युके समय ही जैनसंघमें फूट पड़ गयी।

३. इसी समय श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद प्रकट हुए।

---

१. मज्झिमनिकाय, सामगाम-सुत्तन्त ३।९।४.

२. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, सामगाम-सुत्तवण्णना, खण्ड ४, पृ० ३४.

४. महावीरकी मृत्यु रक्तपित्त रोगसे हुई।

५. अस्वस्थावस्थामें नालन्दासे उन्हें पावामें ले जाया गया।

इन तथ्योंपर क्रमशः विचार करनेपर अवगत होता है कि महावीरका निर्वाण पावामें हुआ, यह सत्य है। पर यह पावा कौन-सी है? यह स्पष्ट नहीं होता। मल्ल गणराज्यकी पावा तो यह हो नहीं सकती, क्योंकि जैन ग्रन्थोंमें महावीरको निर्वाणभूमि मध्यमा पावा बतलायी गयी है।

महावीरके निर्वाण-समयमें ही जैनसंघमें फूट पड़ गयी, यह नितान्त भ्रामक है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि उक्त संघभेद मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें हुआ। जब मगध जनपदमें बारह वर्ष-का दुष्काल पड़ गया तो श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने नेतृत्वमें बारह हजार मुनि-संघको लेकर दक्षिण भारतकी ओर चले गये। कुछ मुनि यहाँ भी रह गये, वे समयके प्रभावसे श्वेतवस्त्रधारी बन गये। फलतः श्वेताम्बर और दिगम्बर संघ-भेद ई० पू० ३००के लगभग उत्पन्न हुआ। अतएव बौद्ध वाङ्मयमें निर्ग्रन्थोंके सम्बन्धमें जो फूटकी चर्चा की गयी है, वह बुद्धके समयकी नहीं हो सकती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि साम्प्रदायिक विद्वेषवश यह सन्दर्भ बादमें जोड़ा गया है।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री, ऐनशियेन्ट इण्डिया, भारतके प्राचीन राजवंश आदि ग्रन्थों-में एक मतसे श्वेताम्बर और दिगम्बर भेदको मगधके दुर्भिक्षके पश्चात् माना गया है। कैम्ब्रिज हिस्ट्रीमें भद्रबाहुके दक्षिण गमनका निर्देश करते हुए लिखा गया है—'यह समय जैनसंघके लिये दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ई० पू० ३०० के लगभग महान् संघभेदका उद्गम हुआ, जिसने जैन संघको श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायोंमें विभाजित कर दिया। दक्षिणसे लौटे हुए साधुओंने, जिन्होंने दुर्भिक्ष कालमें बड़ी कड़ाईके साथ अपने नियमोंका पालन किया था, मगधमें रह गये, अन्य अपने साथी साधुओंके आचारसे असन्तोष प्रकट किया तथा उन्हें मिथ्याविश्वासी और अनुशासनहीन घोषित किया[1]।"

आर० सी० मजुमदारने भी अपने इतिहासमें संघभेदका समय मगधके दुर्भिक्षको ही इंगित किया है। उन्होंने लिखा है—"जब भद्रबाहुके अनुयायी मगधमें लौटे, तो एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। नियमानुसार जैन साधु नग्न रहते थे, किन्तु मगधके जैन साधुओंने सफेद वस्त्र धारण करना प्रारम्भ

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री (सन् १९५५), पृ० १४७.

कर दिया। दक्षिण भारतसे लौटे हुए जैन साधुओंने इसका विरोध किया, क्योंकि वे पूर्ण नग्नताको महावीरकी शिक्षाओंका आवश्यक भाग मानते थे। विरोधका शान्त होना असम्भव पाया गया और इस तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुए[1]।"

'भारतके प्राचीन राजवंश' ग्रन्थमें पण्डित श्रीविश्वेश्वर नाथ रेऊने उपर्युक्त तथ्य जैसा ही विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है—"कुछ समय बाद जब अकाल निवृत्त हो गया और कर्नाटकसे जैन लोग वापस लौटे, तब उन्होंने देखा कि मगधके जैन साधु पीछेसे निश्चित किये गये धर्म-ग्रन्थोंके अनुसार श्वेतवस्त्र पहनने लगे हैं। परन्तु कर्नाटकसे लौटनेवालोंने इस बातको नहीं माना। इससे वस्त्र पहननेवाले जैन साधु श्वेताम्बर और नग्न रहनेवाले दिगम्बर कहलाये।[2]"

अतएव बौद्ध साहित्यमें जो संघभेदकी समीक्षा की गयी है, वह उसकी प्रामाणिकतामें सन्देह उत्पन्न करती है।

साम्प्रदायिक विद्वेषवश बौद्ध साहित्यमें महावीरके रक्त-पित्त रोगका कथन और नालन्दासे उनका पावामें ले जाना ये दोनों ही बातें भी भ्रान्त हैं। यदि मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा और सामगामसुत्तवण्णनामें महावीरकी निर्वाणभूमिके लिये आये हुए सन्दर्भपर विचार करें, तो दो तथ्य प्रस्फुटित होते हैं।

(१) किसी भी रोगीको मरणासन्न स्थितिमें बहुत दूर नहीं ले जाया जा सकता है और साथ ही रोगी ऐसा हो, जो साधु, त्यागी, व्रती है और जिसका संसारमें कहीं कोई सम्बन्धी नहीं है, उसे उतनी अधिक दूर ले जाना बुद्धिमत्ता नहीं है। अतः कुशीनगरके निकटवर्ती सठियांव—पावा तक महावीर नहीं गये होंगे। यह पावा तो नालन्दाकी निकटवर्त्तिनी ही सम्भव है। अतः बौद्ध वाङ्मयके उक्त तर्कसे नालन्दाकी समीपवर्त्तिनी पावा ही निर्वाणभूमि सिद्ध होती है।

(२) जैन वाङ्मयमें महावीरके अन्तिम समयकी ऐसी कोई घटना नहीं मिलती, जिससे यह सिद्ध होता हो कि महावीर अन्तिम समयमें नालन्दासे पावा गये। जैन आगमोंमें स्पष्ट उल्लेख है कि चम्पामें वर्षावास समाप्त कर महावीर भ्रमण करते हुए पावाके गणराज्य हस्तिपालकी रज्जुकशालामें आये और यहीं अन्तिम चातुर्मास किया।

---

१. एनशियेन्ट इण्डिया, पृ० १७९.
२. भारतीय प्राचीन राजवंश, भाग २, पृ० ४१.

उपालि द्वारा बुद्धकी प्रशंसा सुनकर महावीरका उष्ण रक्त वमन करना इतिहास विरुद्ध मिथ्या कल्पना है। अतएव संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि बौद्ध साहित्यके आधारपर महावीरकी निर्वाणभूमि नालन्दाकी समीपवर्तिनी पावा ही है, सठियाँव वाली पावा नहीं। यदि जैनागमके सबल प्रमाण उपलब्ध हो जायँ, तो इस मन्यताको परिवर्तित करनेमें तनिक भी संकोच नहीं होगा।

वर्त्तमान पावा-सम्बन्धी सामग्री

कुछ विद्वान् मगध जनपदकी अन्तर्वर्तिनी पावामें प्राचीन जैन चिह्नोंका अभाव देखकर इसे निर्वाण-भूमि माननेके पक्षमें नहीं हैं। वहाँ निर्मित मन्दिर एवं सांस्कृतिक चिह्न आधुनिक हैं। पर इतिहास इस बातका साक्षी है कि १२ वीं-१३ वीं शताब्दीमें जैनधर्मका केन्द्र उत्तरी विहारसे हटकर दक्षिणी विहार-में स्थापित हो गया था। राजगृह और पावापुर तो महावीरके समयमें ही जैनतीर्थ बन चुके थे। पावापुरीमें ई० सन्की १३ वीं शताब्दीमें एक जैन सम्मे-लन हुआ। ई० सन् १२०३ में यहाँ भगवान महावीरकी मूर्ति विराजमान की गयी[1]। इसके पहले भी यहाँ मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा हुई हो, तो इसमें कोई अतिरंजना नहीं है। मदनकीर्त्तिने अपने समयके छब्बीस तीर्थोंका वर्णन किया है। मदन-कीर्तिका समय ई० सन्की १३वीं शतीका उत्तरार्द्ध है[2]। इन्होंने पावापुरीके वीर जिनका वर्णन किया है। अत: १२वीं शताब्दीके पहले ही मगधवाली पावाकी प्रतिष्ठा महावीरकी निर्वाणभूमिके रूपमें हो चुकी थी। 'तीर्थकल्प' में भी जिन-प्रभसूरिने 'पावापुरी' या 'अपापा' के नामसे इस तीर्थका महत्त्व प्रतिपादित किया है। अतएव यह निश्चित है कि वर्त्तमान पावापुरीको मान्यता जिनसेन प्रथमके पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। जिनसेनने इसी कारण श्रेणिकको निर्वा-णोत्सवमें सम्मिलित किया है।

अभी गाँवके मन्दिरकी मरम्मतके समय खुदायीमें एक प्राचीन मन्दिरका अवशेष नींवमें प्राप्त हुआ है। इस ध्वंसावशेषके सम्बन्धमें विशेष जानकारी तो नहीं, पर इतना अवश्य है कि यह ध्वस्त मन्दिर जिसकी बुनियादपर नया मन्दिर निर्मित है, पर्याप्त प्राचीन रहा है। सम्भवत: खुदायीमें अन्य सामग्री भी उपलब्ध हो जाय। अतएव उपलब्ध प्रमाणोंके आलोकमें वर्तमान पावापुरी ही महावीरकी निर्वाणभूमि है।

जैन प्रमाणोंकी अवहेलना कर नवीनताके व्यामोहमें कोई भले ही सठि-याँव—फाजिलनगरको तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि बतलाये, पर यथार्थता

---

१. श्री पूर्णचन्द्र नाहर, जैन लेख-संग्रह, भाग २ (कलकत्ता १९२७), पृ० २६३.

२. सम्पा० डॉ० दरबारीलाल कोठिया, शासनचतुस्त्रिंशिका, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली.

इससे दूर है। इसमें संदेह नहीं कि राजगृहसे कुशीनगरकी यात्रा करते समय बुद्धने जिस पावामें भोजन ग्रहण किया था, वह पावा सठियाँव है। सठियाँव-का बौद्ध संस्कृतिसे घनिष्ट सम्बन्ध है और यहाँ अनेक स्तूपावशेष भी है। पर जैन संस्कृतिसे इस स्थानका तनिक भी लगाव नहीं है। न एक भी ऐसा जैन प्रमाण उपलब्ध है, जिसका साक्ष्य देकर इस स्थानको तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि माना जा सके।

उत्तराधिकार

तीर्थंकर महावीरके चतुर्विध संघके सदस्य पांच लाख नर-नारी थे। मुनि-संघ ग्यारह गणधरोंकी अध्यक्षतामें नौ गणों या वृन्दोंमें विभक्त था। श्रावक-श्राविका संघमें सभी वर्ग और जातिके व्यक्ति सम्मिलित थे। भारतके कोने-कोनेमें तो उनके अनुयायी विद्यमान थे ही, पर भारतके बाहर गान्धार, कपिशा और पारसीक आदि देशोंमें भी उनके भक्त थे।

महावीरके निर्वाणोपरान्त उनका उत्तराधिकार—जैनसंघका नायकत्व उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमको प्राप्त हुआ। जिस दिन तीर्थंकर महा-वीरका निर्वाण हुआ, उसी दिन उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर केवलज्ञानी हुए[1]। उनके मुक्त होनेपर सुधर्म स्वामी केवलज्ञानी हुए और इनके मुक्त होने-पर जम्बूस्वामी केवलज्ञानी हुए। जम्बूस्वामीके मुक्त होनेपर कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ। इन तीनोंके धर्मप्रवर्त्तनका सामूहिक काल ६२ वर्ष है।

इन्द्रभूति गौतम गणधरने महावीरके उपदेशोंको श्रृंखलाबद्ध, व्यवस्थित एवं वर्गीकृत रूपमें संकलितकर उनकी वाणीको स्थायित्व प्रदान किया[2]। इन्द्रभूतिने बारह वर्षों तक संघका संचालन किया। ये भी अर्हत्, केवली और सर्वज्ञ थे। इनसे अगणित प्राणियोंने आलोक प्राप्त किया।

---

१. जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
   जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो॥
   तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो।
   तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा॥
   वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं।
   धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेणं॥

—तिलोयपण्णत्ती ४।१४७६-१४७८.

२. पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथाण-मेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा।

—धवलाटीका, १ पुस्तक, पृ० ६५.

इनका निर्वाण वी० नि० सं० १२ ई० पू० ५१५ में हुआ। इनके पश्चात् लोहाचार्य या सुधर्माचार्य संघनायक हुए। ये भी अर्हत्, सर्वज्ञ और केवली थे। इन्होंने बारह वर्षों तक संघका संचालन किया।

धवलाटीकामें बतलाया गया है कि इन्द्रभूति गौतम गणधरने दोनों प्रकार-का श्रुतज्ञान लोहाचार्यको दिया[1]। लोहाचार्य सात प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त और समस्त श्रुतज्ञानके पारगामी थे। लोहाचार्य या सुधर्माचार्यने अपने उपदेशामृत द्वारा जनसमूहका अज्ञानान्धकार छिन्न किया। इनका निर्वाण विपुलाचलपर[2] वी० नि० सं० २४ ई० पू० ५०३ में हुआ।

सुधर्माचार्यने जिस दिन निर्वाणलाभ किया, उसी दिन जम्बूस्वामीको केवलज्ञान हुआ। जम्बूस्वामी चम्पा नगरीके सेठ अर्हद्दासके पुत्र थे और इनकी माताका नाम जिनदासी था। इनके गर्भमें आनेके पहले माताने गज, सरोवर, शालिक्षेत्र, निर्धूमाग्निशिखा और जम्बूफल ये पाँच स्वप्न देखे तथा माता इन स्वप्नोंका फल ज्ञातकर अत्यधिक प्रसन्न हुई। कुमार जम्बू शैशवकालसे भविष्णु, पराक्रमी और वीर थे। इन्होंने एक मदोन्मत्त हाथीको वश किया, जिससे इनकी वीरता और साहससे प्रभावित होकर सागरदत्त सेठने अपनी कन्या पद्मश्री, कुबेरदत्तने कनकश्री, वैश्रवणदत्त सेठने विनयश्री एवं धनदत्त सेठने रूपश्रीका विवाह जम्बूके साथ कर देनेका निश्चय किया।

जम्बूकुमार एक मुनिका उपदेश सुनकर विरक्त हो गये और दीक्षा ग्रहण करनेका विचार किया। माता-पिता पुत्रको परिवारके बन्धनमें बांध रखनेके उद्देश्यसे उनका विवाह कर देते हैं। चारों रूपवती पत्नियाँ उन्हें अपनी ममतामें जकड़कर रखना चाहती हैं, और विभिन्न प्रकारकी कथाएँ सुनाकर उनके हृदयके विकारोंको उभाड़ती हैं, पर जम्बूकुमार हिमालयके समान अडिग रहते हैं। माता जिनदासी कुमारको विषयासक्त बनानेके लिए विद्युच्चोरकी सहायता भी लेती है; किन्तु विजय जम्बूकुमारकी ही होती है और वह विद्युच्चोरके साथ महावीरकी धर्मसभामें दीक्षित हो जाता है।

---

१. जयधवला, तिलोयपण्णत्ती और इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें लोहाचार्यके स्थानपर सुधर्माका नाम आता है। यथा—

तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा अंतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगगंथरयणेण गुणेहि सगसमाणस्स सुहुमाइरियस्स गंथो वक्खाणिदो।

—जयध० अ० पृ० ११.

२. विउलइरिसिहरे विसुद्धगुणि निव्वाणु पत्तु सोहम्मु मुणि—जंबूसामिचरिउ १०।२३.

जैनमुनि बनकर मथुरा नगरीके चौरासी नामक स्थानपर जम्बूकुमारने तपश्चरण किया। महावीरकी शिष्यपरम्परामें जम्बूस्वामी अन्तिम केवली थे। इनका निर्वाण राजगृहके विपुलाचल पर्वतसे वी० नि० सं० ६२ ई० पू० ४६५ में हुआ[1]। अड़तीस वर्ष तक जम्बूस्वामी धर्मका प्रवचन करते रहे।

जम्बूस्वामीके मुक्त होनेके पश्चात् कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ। इन तीनों केवलियोंके धर्मप्रवर्त्तन का काल ६२ वर्ष है।

इन केवलियोंके पश्चात् नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली महावीरके तीर्थमें हुए[2]। इन पाँचों का सम्मिलित काल सौ वर्ष है। कुछ आगम-ग्रन्थोंमें नन्दिके स्थानपर विष्णुका उल्लेख है। बहुत संभव है कि विष्णु और नन्दि भी एक ही आचार्य हों। इनका कहीं नाम विष्णु लिखा गया हो और कहीं नन्दि। पूरा नाम विष्णुनन्दि रहा होगा।

जम्बूस्वामी केवलीके पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु संघनायक हुए। ये युग-प्रधानाचार्य थे तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें इन्हें मान्यता प्राप्त थी। इन्हींके समयमें संघभेद हुआ। निस्सन्देह भद्रबाहुका स्थान अखण्ड जैनपरम्पराकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तके समकालीन हैं। इनका जन्म स्थान पुण्ड्रवर्धन देश और गुरुका नाम गौवर्धन बताया गया है। श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है[3]—"समस्त दिगम्बर जैन साहित्यमें तथा शिलालेखोंमें गोवर्द्धनको चतुर्थ श्रुतकेवली बतलाया है और उन्हें भद्रबाहु श्रुतकेवलीका पूर्वज बतलाया है। तथा भद्रबाहुको पुण्ड्रवर्धन देशके कोटिमत नगरका निवासी बतलाया है। अतः यह निर्विवाद है कि बृहत्कथाकोषमें जिस भद्रबाहुका आख्यान दिया है, वे श्रुतकेवली भद्रबाहु ही हैं और उनके समयमें चन्द्रगुप्त नामका यदि कोई राजा हुआ है तो वह मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त ही है। चन्द्रगुप्त नामक अन्य राजा तो बहुत समय

१. विउलइरिसिहरि कम्मट्ठचत्तु सिद्धालय—सासयमोक्खपत्तु।

—जंबूसामिचरिउ, १०।२४.

२. णंदी य णंदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइज्जो य।
गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहु त्ति॥
पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा।
ते बारस अंगधरा तित्थे सिरिवड्ढमाणस्स॥
पंचाण मेलिदाणं कालपमाणं हवेदि वाससदं।
वीदम्मि पंचमए भरहे सुदकेवली णत्थि॥—तिलोयपण्णत्ती ४।१४८२-१४८४.

३. जैनसाहित्यका इतिहास, पूर्वपीठिका, प्रथम संस्करण, पृ० ३४३.

पश्चात् हुए हैं। अतः उनके श्रुतकेवली भद्रबाहुके समकालीन होनेका प्रश्न ही नहीं है।"

मगधमें जब बारह वर्षका महादुर्भिक्ष पड़ा तो भद्रबाहुके नेतृत्वमें जैनसंघ दक्षिणकी ओर गया और कर्णाटक देशके श्रवणबेलगोल नामक स्थानको अपना केन्द्र बनाया। श्रुतकेवली भद्रबाहुने दक्षिण भारतमें ही समाधिमरण ग्रहण किया।

पश्चात् एकसौ तेरासी वर्षमें ग्यारह मुनि दश पूर्वके धारक हुए। अनन्तर दोसौ बीस वर्षमें पाँच मुनि ग्यारह अंगके धारी हुए। तदनन्तर एकसौ अठारह वर्षमें सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्य ये चार मुनि आचारांगके धारी हुए।[1]

इनके पश्चात् महातपस्वी विनयन्धर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य, मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिसेन आचार्य हुए। अनन्तर षट्खण्डागमके ज्ञाता, इन्द्रियजयी जयसेन नामक आचार्य हुए। इनके शिष्य प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और सिद्धान्तपारगामी अमितसेन गुरु हुए। ये पवित्र पुन्नाट गणके अग्रणी—अग्रेसर आचार्य थे।

जिनेन्द्र शासनके स्नेही परमतपस्वी, सौ वर्षकी आयुके धारक एवं दाताओंमें मुख्य इन अमितसेन आचार्यने शास्त्रदानके द्वारा पृथिवीमें अपनी वदान्यता—दानशीलता प्रकट की थी। इन अमितसेनके अग्रज धर्मबन्धु कीर्त्तिषेण नामक मुनि थे; जो शान्त, बुद्धिमान और तपस्वी थे। इनके शिष्य जिनसेन प्रथम हुए[2]। इस प्रकार पुन्नाटसंघी आचार्योंकी परम्परा चली।

धवलाटीकाके उल्लेखानुसार पांच श्रुतकेवलियोंके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य एकादश अंग और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वोंके धारक तथा शेष चार पूर्वोंके एकदेश धारक हुए।

इसके पश्चात् नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पांच अचार्य सम्पूर्ण ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंके एकदेश धारक हुए। अनन्तर

१. हरिवंशपुराण ६६।२३-२४.
२. वही, ६६।२५-३३.

सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य आचारांगके धारक तथा शेष अंग एवं पूर्वोंके एकदेश धारक हुए। इसके अनन्तर धरसेन, भूतबली, पुष्पदन्त आदि आचार्य हुए।[1]

इस प्रकार संघका विकास देश, काल एवं परिस्थितियोंके अनुसार होता गया। निर्ग्रन्थ-संघके प्रधान केन्द्र श्रवणबेलगोला, मथुरा आदि स्थान तथा श्वेताम्बर-संघके उज्जयिनी, बलभी, प्रतिष्ठान प्रभृति स्थान बने। यद्यपि समयके प्रभावके कारण अनेक विकृतियां उत्पन्न हुईं, पर तीर्थंकर महावीरके सिद्धान्त अक्षुण्ण रहे।

आचार्योंकी पट्टावली कई रूपोंमें मिलती है। इन पट्टावलियोंमें समानताके साथ कई विषमताएँ भी उपलब्ध होती हैं।[2]

●

---

१. धवलाटीका, १ पुस्तक, पृ० ६६-६७.

२. विशेषके लिए देखें—आचार्यपरम्परा, द्वितीय तृतीय भाग।

अष्टम परिच्छेद

देशना—ज्ञेयतत्त्व

विरासतकी उपलब्धि और वितरण

तीर्थंकर महावीरके पूर्व तेईस अन्य तीर्थंकर हो चुके थे, जिनकी विरासत उन्हें सहजरूपमें उपलब्ध हुई थी। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथको हुए अभी अधिक समय नहीं व्यतीत हुआ था। अतः उनकी परम्परा धर्मदेशनाके रूपमें प्राप्त थी। पार्श्वनाथ महावीरसे केवल २५० वर्ष पूर्व हुए थे। पार्श्वनाथके जनकल्याणकारी उपदेशके सम्बन्धमें कोई निश्चित विवरण प्राप्त नहीं होता, पर जैन और बौद्ध ग्रन्थोंसे यह ज्ञात होता है कि इन्होंने चातुर्याम धर्मका उपदेश दिया था। पार्श्वनाथके समयमें बालतप और यज्ञीय हिंसाकी समस्याएँ ज्वलन्त थीं, अतः इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर अपने उपदेश द्वारा उनका समाधान प्रस्तुत किया।

पार्श्वनाथ अन्य तीर्थंकरोंके समान अचेल थे। अतः महावीरको उनसे अचेल-धर्म उपलब्ध हुआ था। यदि पार्श्वनाथ स्वयं सचेलक होते और उनकी परम्परामें साधुओंके लिए वस्त्रकी स्वीकृति होती, तो महावीर स्वयं न तो दिगम्बर रहकर साधना ही करते और न नग्नताको साधुत्वका अनिवार्य अंग मानकर उसे व्यावहारिक रूप ही देते। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बेचरदास दोशीने "जैन साहित्यमें विकार" ग्रन्थमें स्पष्ट लिखा है—"किसी वैद्यने संग्रहणीके रोगीको दवाके रूपमें अफीम सेवन करनेकी सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होनेपर भी जैसे उसे अफीमकी लत पड़ जाती है और वह उसे नहीं छोड़ना चाहता, वैसी ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई[1]।"

अतः यह संभव है कि पार्श्वनाथकी परम्पराके साधु मृदुमार्गको स्वीकार कर वस्त्र धारण करने लगे हों और इस आपवादिक वस्त्रको उत्सर्ग मार्गमें ग्रहण कर लिया हो। उत्तराध्ययनके केशी-गौतम संवादमें इस आपवादिक वस्त्रकी गन्ध प्राप्त होती है। वस्तुतः महावीरको पार्श्वनाथका सर्वसावद्यत्याग-रूप दिगम्बर-मार्ग उपलब्ध हुआ। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह रूप चातुर्यामधर्ममें सर्वप्राणिहितकी भावना समाहित थी। ब्रह्मचर्यका अन्तर्भाव अपरिग्रहमें किया गया था।

तीर्थंकर महावीरने भगवान् पार्श्वनाथके इस धर्ममार्गको आगे बढ़ाया। महावीरके समयमें राजनीतिका आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग-स्वार्थियोंने धर्मकी आड़में अपने वर्गके संरक्षण हेतु बहुत प्रकारके नियम-कानून बना डाले थे। ईश्वरके नामपर अभिजात वर्ग विशेष प्रभुसत्ता लेकर उत्पन्न होता था। इसके जन्मजात उच्चत्वका अभिमान स्ववर्गके संरक्षण तक ही नहीं फैला था, किन्तु शूद्र प्रभृति निम्न वर्गके व्यक्तियोंके मानवोचित अधिकार भी अपहृत किये जा चुके थे। स्वर्गलाभके लिए बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया जाता था। जो धर्म प्राणिमात्रके लिए सुख-शान्तिका कारण था, वही हिंसा, विषमता, प्रताड़न और शोषणका अस्त्र बना हुआ था। अतएव तीर्थंकर महावीरने धर्म-समाजके क्षेत्रमें मानवमात्रको समान अधिकार दिये। धर्मसाधनमें जाति, कुल, शरीर और आकारके बन्धनको स्वीकार नहीं किया।

महावीरने अपनी तप, संयम और ध्यानकी साधना द्वारा स्वयं दिव्यज्योति प्राप्त की और तदनन्तर उपलब्ध उस ज्योतिके प्रकाशको जनतामें बाँट दिया। उनकी साधनाका आरम्भिक और अन्तिम बिन्दु वीतरागता थी। अन्तर केवल

---

१. जैन साहित्यमें विकार, पृ० ४०.

पूर्णता और अपूर्णताका है। वीतरागताकी चरम परिणति ही पूर्णता है और देशना पूर्णताकी स्थितिमें ही संभव होती है। साधनाके समयमें तो महावीर प्रायः मौन रहे। उन्होंने मौन रहकर ही विभिन्न प्रकारके उपसर्ग और परीषहों-को जीता। मौन साधना ही आत्माके आवरणोंको हटानेमें समर्थ होती है।

काम, क्रोध, मद, लोभ और मोहादि अनन्त विकृतियोंके मूल बीज हैं—राग और द्वेष। साधना इसी राग-द्वेषसे मुक्त होनेकी दिशामें पुरुषार्थ है। जब आत्मा विकृतियोंसे मुक्त होकर अपने विशुद्ध मूलस्वरूपमें पहुँच जाती है, तो वह सदाके लिए परमशुद्ध बन जाती है। समस्त पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती गुण-पर्याएँ प्रतिभासित होने लगती हैं। यही अवस्था तीर्थंकर, सर्वज्ञ और वीतरागकी होती है। महावीरने केवलज्ञान प्राप्त कर विरासतके रूपमें मिले धर्मका अनन्त गुणात्मक रूपमें प्रवचन किया।

ज्ञेयस्वरूप प्रवचन

तीर्थंकर महावीर अपने समयके महान् तपस्वी ही नहीं थे, बल्कि एक उच्चकोटिके विचारक तत्त्वान्वेषी थे। उन्होंने धर्म, और दार्शनिक विचारोंको साधु-जीवनके चरमोद्देश्य मुक्तिके साथ निबद्ध कर क्रियात्मक रूप दिया। बतलाया कि संसारके बन्धनमें पड़ा हुआ जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मोंके भारसे पूर्ण मुक्त होकर शाश्वत सुख मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

महावीरके समयमें मुक्तिके साथ जीवस्वरूप, जीवका अस्तित्व, जगत्का नित्यत्व-अनित्यत्व, आत्माका शरीरसे भिन्न-अभिन्नत्व, लोकस्वरूप, आदि प्रश्नों-की चर्चा विद्यमान थी। अतः उन्होंने धर्म-आचारके निरूपण के पूर्व वस्तुस्वरूप-का विवेचन आवश्यक समझा, यतः ज्ञेय या वस्तुके स्वरूप परिज्ञानके बिना ज्ञेयको ग्रहण नहीं किया जा सकता। हेयोपादेयकी प्रवृत्ति ज्ञेयस्वरूपके परिज्ञान-से ही होती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका आचरण भी ज्ञेयकी जानकारीके अभावमें संभव नहीं। अतएव ज्ञेयस्वरूप, ज्ञेयके भेद-प्रभेद, उनका सर्वाङ्गविवेचन तथा लोकव्यवस्था आदिके सम्बन्धमें देशना हुई। जन-साधारणके सम्मुख उठनेवाले जीवादि-सम्बन्धी प्रश्नोंका समाधान भी ज्ञेयके अन्तर्गत समाहित है। अतः तीर्थंकर महावीरके मुखसे पहला वाक्य—"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" निकला। अर्थात् वस्तु-प्रतिक्षण उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव रहती है। ये तीनों ही अवस्थाएँ जिसमें रहती हैं, वही ज्ञेय है, वस्तु है, पदार्थ है।

आशय यह है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है, वही सत् है और

जो सत् है वही द्रव्य है। उत्पाद उत्पत्तिको, व्यय विनाशको और ध्रौव्य अवस्थितिको कहते हैं। इन तीनोंका परस्परमें अविनाभाव है—उत्पादके बिना व्यय नहीं होता, व्ययके बिना उत्पाद नहीं होता और ध्रौव्य या स्थितिके बिना उत्पाद और व्यय नहीं होते[1]। दूसरे शब्दोंमें जो उत्पाद है, वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद है और जो उत्पाद-व्यय हैं, वही स्थिति है तथा जो स्थिति है वही उत्पाद-व्यय हैं। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि जो घटकी उत्पत्ति है, वही मिट्टीमें पिण्डका विनाश है, यतः भाव अन्य भावके अभावरूपसे दृष्टि-गोचर होता है। जो मिट्टीके पिण्डका विनाश है, वही घड़ेका उत्पाद है, क्योंकि अभाव अन्य भावके भाव रूपसे दिखलायी पड़ता है और जो घटका उत्पाद तथा मिट्टीके पिण्डका विनाश है, वही मिट्टीकी स्थिति है, क्योंकि व्यतिरेक अन्वय-का अतिक्रमण नहीं करता।[2]

यदि उपर्युक्त स्थितिको स्वीकार नहीं किया जाय, तो उत्पत्ति अन्य, विनाश अन्य और स्थिति अन्य प्राप्त होंगे। वस्तुमें व्यय और ध्रौव्यके बिना केवल उत्पादको ही माना जाय तो घटकी उत्पत्ति संभव नहीं होगी; क्योंकि मिट्टीकी स्थिति और उसकी पिण्ड-पर्यायके विनाशके बिना घट उत्पन्न नहीं हो सकेगा। यदि उत्पन्न होगा तो असत्का उत्पाद मानना पड़ेगा। एक बात यह भी होगी कि जिस प्रकार घट उत्पन्न नहीं होगा, उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी उत्पन्न नहीं होंगे।

असत्का उत्पाद माननेपर आकाशकुसुम जैसी असंभव वस्तुओंका भी उत्पाद मानना होगा।

---

१. ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥
—प्रवचनसार, गाथा १००.

२. न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिम-न्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः, या वेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथा हि—य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभाव-स्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः स एव कुम्भस्य सर्ग, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्।—प्रवचनसार, गाथा १०० की अमृतचन्द्राचार्य-टीका.

इसी प्रकार उत्पाद और ध्रौव्यके विना केवल व्यय माननेपर व्ययके कारण-का अभाव होनेसे मिट्टीके पिण्डका विनाश नहीं हो सकेगा। यदि उक्त स्थितिमें विनाश होगा तो सत्के उच्छेदका भी प्रसंग आएगा।

मिट्टीके पिण्डका विनाश होनेपर सभी पदार्थोंका विनाश नहीं होगा और सत्का उच्छेद होनेसे चैतन्यादिका भी उच्छेद हो जायगा। उत्पाद और व्ययके विना केवल स्थिति माननेपर व्यतिरेक सहित स्थितिरूप अन्वयका अभाव होनेसे मिट्टीकी स्थिति ही नहीं रहेगी अथवा केवल क्षणिकत्वको प्राप्त हो जायगा। मिट्टीकी स्थिति नहीं होनेपर सभी पदार्थोंकी स्थिति नहीं होगी। क्षणिकनित्यता-में बौद्धसम्मत चित्तक्षण भी नित्य हो जायंगे। अतः पूर्व-पूर्व पर्यायोंके विनाश, उत्तरोत्तर पर्यायोंके उत्पाद तथा अन्वयरूप की। स्थितिसे अविनाभूत त्रैलक्षण्य ही ज्ञेय-पदार्थका स्वरूप है[1]। यही सत् है और सत् ही द्रव्य है।

उक्त त्रिलक्षणात्मक पदार्थ या द्रव्यके माननेसे वैशेषिक आदि अन्य दर्शनोंके समान गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नामक पृथक् पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं है, ये सब द्रव्यकी अवस्थाएँ हैं।

तीर्थंकर महावीरने अपने इस त्रिपदी मातृका-वाक्य द्वारा वस्तुके एकान्तरूप नित्यत्व और अनित्यत्व—क्षणिकत्वकी समीक्षा की। उन्होंने उद्घोषित किया कि इस विश्वमें न कोई वस्तु सर्वथा नित्य है और कोई सर्वथा क्षणिक ही। दोनों समस्वभाव हैं। जैसे आकाश द्रव्यरूपसे नित्य है, उसी प्रकार दीपक भी नित्य है और जिस प्रकार पर्यायरूपसे दीपक क्षणिक है, उसी प्रकार आकाश भी

---

१. यदि पुनरिदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति। तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्। तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा संवादीनामप्युच्छेदः स्यात्। तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरे-काणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमान-निर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम्।—प्रवचनसार, गाथा १००की अमृतचन्द्र-टीका.

क्षणिक है। यतः प्रत्येक सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है[1]। अतएव आकाश भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, उसमें भी प्रतिक्षण उत्पाद, व्ययकी धारा चल रही है। पर इस धाराके चलनेपर भी आकाशका स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। वस्तुके प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील होते हुए भी उसमें एकरूपता प्रवाहित रहती है। इसे ही द्रव्यरूप कहते हैं और परिवर्त्तनको पर्यायरूप। अतः वस्तु या पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें होते हैं और पर्यायें द्रव्यमें स्थित हैं।[2] तथ्य यह है कि किसी भाव अर्थात् सत्यका अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत्का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय-रूपसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त रहते हैं। विश्वमें जितने सत् हैं, वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्यामें कभी परिवर्तन नहीं होता; पर उनके गुण और पर्यायोंमें परिवर्तन अवश्य होता है, इसका कोई अपवाद नहीं हो सकता है।

प्रत्येक सत् परिणामशील होनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्याय धारण करता है। उसके पूर्व पर्यायोंके व्यय और उत्तर पर्यायोंके उत्पादकी यह धारा अनादि-अनन्त है, कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। चेतन अथवा अचेतन सभी प्रकारके सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी परम्परासे युक्त हैं। यह त्रिलक्षण पदार्थका मौलिक धर्म है, अतः उसे प्रतिक्षण परिणमन करना ही चाहिए। ये परिणमन कभी सदृश होते हैं और कभी विस-दृश तथा ये कभी एक दूसरेके निमित्तसे भी प्रभावित होते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी परिणमन-परम्परा कभी भी समाप्त नहीं होती। अगणित और अनन्त परिवर्त्तन होनेपर भी वस्तुकी सत्ता कभी नष्ट नहीं होती और न कभी उसका मौलिक द्रव्यत्व ही नष्ट होता है। उसका गुणपर्यायात्मक स्वरूप बना रहता है।

साधारणतः गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य। अतः द्रव्यको नित्या-नित्य कहा जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत् ही द्रव्य है।

सत्के सम्बन्धमें चार मान्यताएँ प्रचलित हैं:—

१. सत् एक और नित्य है।

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्—तत्त्वार्थसूत्र ५।३०.

२. उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं॥

—प्रवचनसार-गाथा १०१.

२. सत् नाना और उत्पाद-व्यय—विशरणशील है।

३. सत् और असत् दोनों हैं तथा सत् कारणद्रव्योंकी अपेक्षा नित्य और कार्यद्रव्योंकी अपेक्षा अनित्य है।

४. सत्के चेतन और अचेतन दो भेद हैं। चेतन नित्य है और अचेतन परिणामी नित्य है।

तीर्थंकर महावीरने सत् या पदार्थके सम्बन्धमें प्रचलित उक्त धारणाओंकी समीक्षा करते हुए पदार्थ या सत्को न तो सर्वथा नित्य कहा और न सर्वथा अनित्य ही। कारणद्रव्यको सर्वथा नित्य माननेसे अर्थक्रियाकारित्वका विरोध आयगा और वस्तु निष्क्रिय सिद्ध हो जायगी। कार्यद्रव्यकी अपेक्षा सर्वथा अनित्य माननेसे भी वस्तु-उच्छेदका प्रसंग आयेगा। अतएव अपनी जातिका त्याग किये बिना नवीन पर्यायको प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्यायका त्याग व्यय है और अनादि पारिणामिक स्वभावरूपसे अन्वय बना रहना ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सत् या द्रव्यके निज रूप हैं।

तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्त्तनशील है और उसमें वह परिवर्त्तन प्रतिसमय होता है। उदाहरणार्थ एक नन्हें शिशुको लिया जा सकता है। इस शिशुमें प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है, अतः कुछ समय बाद वह युवा होता है और तदनन्तर वृद्ध। शैशवसे युवकत्व और युवकत्वसे वृद्धत्वकी प्राप्ति एकाएक नहीं हो जाती है। ये दोनों अवस्थाएँ प्रतिक्षण होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तनका ही परिणाम हैं। यह यहाँ ध्यातव्य है कि प्रतिक्षण होनेवाला यह परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे देखनेमें असमर्थ हैं। पर इस परिवर्तनके होनेपर भी उस शिशुमें एकरूपता बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप वह अपनी युवा और वृद्ध अवस्थामें भी पहचाना जाता है। यदि त्रिलक्षणात्मक न मानकर द्रव्यको केवल नित्य मानें, तो उसमें कूटस्थ नित्यता आ जायगी और किसी भी प्रकारका परिणमन नहीं हो सकेगा। यदि अनित्य मान लिया जाये तो आत्माके सर्वथा क्षणिक होनेसे पूर्वमें ज्ञात किये गये पदार्थोंका स्मरण आदि व्यापार भी नहीं बन सकेगा।

द्रव्यमें गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद-विनाशशील। अतः उत्पाद-व्ययध्रौव्यात्मकका अभिप्राय गुणपर्यायात्मकसे है। द्रव्यके इन तीनों लक्षणोंमेंसे एकके कहनेसे शेष दो लक्षण स्वतः व्यक्त हो जाते हैं; क्योंकि जो सत् है, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है और गुण-पर्यायका आश्रय भी है तथा जो गुण-पर्यायात्मक है, वह सत् है और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे संयुक्त है।

महावीरने तत्त्वको त्रयात्मक बताया है। इस त्रयात्मकताकी सिद्धि निम्नलिखित उदाहरण द्वारा होती है:—

एक राजाके एक पुत्र और एक कन्या थी। राजाके पास एक स्वर्णकलश है। कन्या उस कलशको चाहती है, किन्तु राजपुत्र उस कलशको तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्रकी हठ पूरी करनेके लिए कलशको तुड़वाकर उसका मुकुट बनवा देता है। कलशनाशसे कन्या दुःखी होती है, मुकुटके उत्पादसे पुत्र प्रसन्न होता है। पर राजा तो स्वर्णका इच्छुक है, जो कलश टूटकर मुकुट बन जानेपर भी मध्यस्थ रहता है, उसे न शोक होता है और न हर्ष। अतः वस्तु त्रयात्मक है।[1]

एक अन्य उदाहरण भी मननीय है:—

जिसने केवल दूध ही सेवन करनेका व्रत लिया है, वह दही नहीं खाता। जिसने केवल दही खानेका व्रत लिया है, वह दूध नहीं खाता और जिसने गोरसमात्र न खानेका व्रत लिया है, वह न दूध खाता है और न दही; क्योंकि दूध और दही दोनों गोरसकी पर्यायें हैं, अतः गोरसत्व दोनोंमें है। अतएव सिद्ध होता है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।[2]

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरने पदार्थका स्वरूप त्रयात्मक कहा। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है। इसे संक्षेपमें सामान्यविशेषात्मक भी माना जा सकता है।

स्वरूपास्तित्व और त्रयात्मकता

अस्तित्व दो प्रकारका है:—(१) स्वरूपास्तित्व और (२) सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक द्रव्य या पदार्थको अन्य सजातीय अथवा विजातीय द्रव्यसे असंकीर्ण रखनेवाला और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वका प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है।[3] इसी

---

१. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
—आप्तमीमांसा, पद्य ५९.

२. पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥
—वही, पद्य ६०.

३. सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं॥
अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपतया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च, भावभाववद्भावाभा-

अस्तित्वके कारण प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें अपनेसे भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्यायोंसे असंकीर्ण बनी रहती हैं, जिससे उनका पृथक् अस्तित्व पाया जाता है। यह स्वरूपास्तित्व दो कार्य सम्पन्न करता है:—

(१) प्रत्येक द्रव्यको इतर द्रव्योंसे व्यावृत—पृथक् करता है।

(२) अपने कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें अनुगत रहता है।

स्वरूपास्तित्वके कारण अपनी पर्यायोंमें अनुगतप्रत्यय—अनुगताकारप्रतीति, उत्पन्न होती है और इतर द्रव्योंसे व्यावृत्त प्रत्यय भी। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य और अवान्तरसत्ता भी कहा जाता है। आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्यके जितने अखण्ड प्रदेश हैं, वह द्रव्य उतने प्रदेशोंके साथ अपनी सत्ताको दूसरे द्रव्यसे पृथक् रखता है तथा उसकी इस अवान्तर अथवा पृथक् सत्तामें ही गुण-पर्यायत्व या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व रहते हैं। जहाँ द्रव्यका अस्तित्व है, वहीं उसके गुण-पर्याय हैं और वहीं उनके उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य हैं। न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ताको छोड़ता है, न गुण-पर्यायोंको और न उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यको ही। यही द्रव्य है, यही अपने क्रमिक पर्यायों द्वारा द्रवित—प्राप्त होता है।

स्वरूपास्तित्वको ही ध्रौव्य माना जाता है। किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षण परिणमन करते रहनेपर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूप-से परिणमन नहीं होना ध्रौव्य है। इस स्वरूपास्तित्वके ही द्रव्य, ध्रौव्य अथवा गुण नामान्तर हैं। स्वरूपास्तित्व अथवा ध्रौव्य गुणके कारण ही प्रतिक्षण पर्यायरूपसे परिवर्तन होनेपर भी उसकी अनाद्यनन्त स्वरूपस्थिति बनी रहती है और इसी कारण द्रव्यका समूलोच्छेद नहीं हो पाता। यह काल्पनिक नहीं है, परमार्थ सत्य है।

सादृश्यास्तित्व और त्रयात्मकता

नाना द्रव्योंमें अनुगत व्यवहार करनेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक् सामान्य या सादृश्यसामान्य कहते हैं[1]। अनेक स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्योंमें

नात्वेऽपि प्रदेशाभेदाभावाद् द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते। यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत्।

—प्रवचनसार, गाथा ९६ तथा अमृतचन्द्राचार्य-टीका.

१. इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं॥

—प्रवचनसार, गाथा ९७.

अनुगत प्रत्ययकी कल्पना सम्भव नहीं, यतः स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्योंमें अनुस्यूत कोई एक पदार्थ हो ही नहीं सकता। इसे पृथक् सत्तावाले द्रव्योंकी संयुक्त पर्याय तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि एक पर्यायमें दो अतिभिन्नक्षेत्रवर्ती द्रव्य उपादान नहीं होते। जिस व्यक्तिने अनेक मनुष्योंमें बहुतसे अवयवोंकी समानता देखकर सादृश्यकी कल्पना की है, उसीको उस सादृश्यके संस्कारके कारण 'मनुष्यः मनुष्यः' इस प्रकारकी अनुगत प्रतीति होती है। अतएव दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुगत प्रतीतिका कारणभूत सादृश्यास्तित्व मानना पड़ता है, इसे ही महासत्ता कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अनुगतप्रत्यय ऊर्ध्वता सामान्यसे होता है और व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायनामके विशेषसे। दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुगत-प्रत्यय तिर्यक् सामान्य--सदृश्यास्तित्वसे तथा व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेकनामक विशेषसे होता है। तिर्यक् सामान्यरूप सादृश्यकी अभिव्यक्ति यद्यपि पर-सापेक्ष है, किन्तु उसका आधारभूत प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग है। यह उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येकमें परिसमाप्त है।

सामान्यविशेषात्मक अथवा अनन्तधर्मात्मक वस्तु या पदार्थमें ध्रौव्यांशको ऊर्ध्वतासामान्य और उत्पाद-व्ययको पर्याय नामक विशेष कहा जाता है। यदि केवल स्वरूपास्तित्वरूप ऊर्ध्वतासामान्यको ही स्वीकार किया जाय, तो वस्तु त्रिकालमें सर्वथा एकरस, अपरिवर्त्तनशील और कूटस्थ बनी रहेगी। इस प्रकारके पदार्थमें कोई परिणमन न होनेसे जगत्के समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। कोई भी क्रिया कार्यकारी नहीं हो सकेगी। पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदिकी व्यवस्था भी नष्ट हो जायगी। अतः वस्तु या पदार्थमें परिवर्तन स्वीकार करना होगा।

इसी प्रकार यदि पदार्थको पर्यायनामक विशेषके रूपमें ही स्वीकार किया जाय अर्थात् क्षणिक माना जाय, तो पूर्वक्षणका उत्तरक्षणके साथ कोई सम्बन्ध ही घटित नहीं हो सकेगा।

अतएव पदार्थ या वस्तु सामान्य-विशेष, एक-अनेक, विधि-निषेध आदि परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले समस्त धर्मोंके समन्वयका पिण्ड है। वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर उसमें उत्पाद-व्यय सम्भव नहीं हैं, अतएव क्रिया-कारककी योजना भी नहीं बन सकती है। इसी प्रकार जो सर्वथा असत् है, उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है, उसका कभी नाश नहीं होता। दीपकके बुझ जानेपर भी उसका सर्वथा नाश नहीं माना जाता, यतः उस समय अन्धकार-

रूप पुद्गल-पर्यायके रूपमें उसका अपना अस्तित्व रहता है।[1]

द्रव्य : लक्षण

जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायोंको क्रमशः प्राप्त होता है, वह द्रव्य है। अथवा अनेक गुणोंके अविष्वग्भावविशिष्ट अखण्ड पिण्डको द्रव्य कहते हैं। द्रव्यके नामान्तर पदार्थ, वस्तु और तत्त्व भी हैं। द्रव्यके 'सद्द्रव्यलक्षणं' और 'गुणपर्ययवद्' ये दो लक्षण प्रसिद्ध हैं। इन दोनों लक्षणोंमें परस्पर-विरोध नहीं है, किन्तु अपेक्षाविशेषसे दोनों एक ही अभिप्रायके समर्थक हैं।

द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है और वह अनेक कार्य करता है। इस कारण-कार्यसे अनुमित कारणरूप शक्त्यंशोंकी कल्पना की जाती है तथा इन शक्त्यंशों-को ही गुण कहते हैं। ये गुण उस अखण्ड पिण्ड स्वरूप द्रव्यसे भिन्न सत्तावाले कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं। इन गुणोंका समुदाय ही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही गुण हैं। द्रव्यसे भिन्न गुण नहीं और गुणोंसे भिन्न द्रव्य नहीं है।

उक्त दोनों द्रव्यलक्षणोंका अभिप्राय द्रव्यका कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक होना है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सत्में ध्रौव्य नित्यका और उत्पाद, व्यय उत्पत्ति तथा नाशके सूचक हैं। जिसमें उत्पत्ति और नाश होते हैं, वह अनित्य तथा ध्रौव्यके रहनेसे नित्य माना जाता है। इस प्रकार द्रव्य कथञ्चित् नित्यानित्य सिद्ध होता है। 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' लक्षणमें भी गुण नित्य धर्मके सूचक और पर्याय अनित्य धर्मका बोधक हैं। अतएव दोनों लक्षणोंका तात्पर्य एक है।

गुण : स्वरूप और भेद

शक्तिविशेषको गुण कहते हैं, इसमें अन्य शक्तिका वास नहीं रहता, इस-लिए इसे निर्गुण कहा जाता है। गुणका पर्याय स्वभाव और विशेषको भी माना जाता है। जिस प्रकार आम्रफलमें भिन्न-भिन्न इन्द्रियगोचर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि अनेक गुण दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार जीव, पुद्गल आदि प्रत्येक द्रव्यमें अनेक गुण विद्यमान रहते हैं। ये गुण द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। उदाहरणार्थ यों समझा जा सकता है कि जिस प्रकार मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प और फलोंके समुदायको वृक्ष कहते हैं, तथा मूल, स्कन्ध आदि वृक्षसे भिन्न पदार्थ नहीं हैं, उसी प्रकार गुणोंका जो समुदाय है, वही द्रव्य है। गुणोंसे द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है।

---

१. न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥—स्वयम्भूस्तोत्र, पद्य २४.

द्रव्यमें अनन्त गुण विद्यमान हैं। इन्हें साधारणतः दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता हैः—(१) सामान्यगुण और (२) विशेषगुण।

जो गुण अनेक द्रव्योंमें पाये जाते हैं, वे सामान्य गुण हैं। सामान्यगुणके मुख्य छः भेद हैं:—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरुलघुत्व और (६) प्रदेशवत्व।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कभी भी अभाव नहीं होता, सदा अस्तित्व बना रहता है, उसे अस्तित्व कहते हैं।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें अर्थक्रियाकारित्व विद्यमान रहता है, उसे द्रव्यत्व कहते हैं। इस गुणके कारण ही द्रव्यमें अर्थकियाकी प्रवृत्ति होती है।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य अर्थात् उसके समस्त गुण प्रतिक्षण एक अवस्थाको त्यागकर अन्य अवस्थाको प्राप्त होते हैं, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। इस गुणके कारण द्रव्य परिणामान्तर अर्थात् पर्यायरूप परिणमन करता है।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसी न किसी ज्ञानका विषय हो, उसे प्रमेयत्व कहते हैं। इस गुणके सद्भावसे द्रव्य प्रमाणका विषय बनता है।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यकी अनन्त शक्तियाँ एक पिण्डरूप रहती हैं तथा एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप परिणमन नहीं करती, उस शक्तिको अगुरु-लघुत्व गुण कहते हैं।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें आकारविशेष होता है, उसे प्रदेशवत्व गुण कहते हैं।

ये छः गुण सामान्य हैं, क्योंकि सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं। चेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व आदि विशेषगुण हैं, क्योंकि ये गुण खास द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। गुण द्रव्यका सहभावी विशेष है। गुण द्रव्यसे पृथक् नहीं पाये जाते हैं। इन्हें भी द्रव्यके समान कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य माना गया है। उदा-हरणार्थ यों कहा जा सकता है कि जीवमें ज्ञान, पुद्गलमें मूर्त्तत्व और धर्मद्रव्यमें अमूर्त्तत्व गुणोंका अन्वय सदा दृष्टिगोचर होता है। ऐसा समय कभी न तो प्राप्त हुआ है और न प्राप्त होगा, जिसमें ज्ञानादि गुणोंका अभाव रहे। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञानादि गुण नित्य हैं और उनकी यह नित्यता प्रत्यभिज्ञानसे सिद्ध है। विषय-भेदसे जीवका ज्ञानगुण परिवर्तित हो सकता है। जब वह घटको जानता है, तब ज्ञान घटाकार हो जाता है और जब पटको जानता है, तो पटा-कार परिणत हो जाता है। पर ज्ञानकी धारा कभी भी विच्छिन्न नहीं होती।

अतएव ज्ञानसन्तानकी अपेक्षा ज्ञान गुण नित्य है। इसी नित्यको ध्रौव्य भी कहा जाता है। अपरिणामी ध्रुवत्व इष्ट नहीं हैं। फलितार्थ यह है कि गुण विविध अवस्थाओंमें रहकर भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ता, इसी कारण वह नित्य कहा जाता है। यथा—हरा आम पकने पर पीत हो जाता है, तो भी उससे रंग पृथक् नहीं रहता है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण, नित्य है यही सिद्धान्त समस्त गुणोंके सम्बन्धमें है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नित्यताका अर्थ सर्वदा एक-सा बना रहना नहीं है, अपितु परिणमनशीलतायुक्त सततप्रवहमान रहना भी है। किसी भी वस्तु या गुणमें विजातीय परिणमन नहीं होता। जीव बदल कर पुद्गल या अन्य द्रव्य-रूप नहीं होता और पुद्गल या अन्य द्रव्य बदलकर जीवरूप नहीं होता। जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल पुद्गल ही। जो द्रव्य जिस रूपमें है, उसी रूपमें बना रहता है। जीव चींटीसे हाथी या मनुष्य हो सकता है, पर जीवत्वको कभी नहीं छोड़ सकता। अतएव प्रत्येक वस्तु या गुणमें सजातीय परिणमन निरन्तर होता रहता है। प्रायः देखा जाता है कि हमारी बुद्धि विषयके अनुसार सदा परिवर्तित होती है। जो बुद्धि वर्त्तमानमें पटको जान रही है, वह कालान्तरमें घटको जानने लगती है। इस प्रकार हरा आम कालान्तरमें पीला हो जाता है। अतः इस प्रकार परिणमनोंकी भिन्नताके कारण ही गुणोंको सर्वथा नित्य नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध है कि गुण कथञ्चित् अनित्य भी हैं।

तत्त्वतः गुण और पर्याय सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं होते, ये कथञ्चित् भेदाभेदात्मक हैं। यदि गुणोंको सर्वथा नित्य और पर्यायोंको सर्वथा अनित्य माना जाय, तो अर्थक्रियाकारित्वका विरोध आता है। गुण और पर्यायोंसे पृथक् द्रव्य नाम की कोई वस्तु नहीं है।

जिस प्रकार वस्तु परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी परिणमनशील है, अतः निश्चयतः गुणमें भी उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं, उनमें ध्रौव्यकी स्थिति गुणसन्ततिकी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञानसे सिद्ध है। अतएव गुण स्वयंसिद्ध और परिणामी भी हैं, इसलिए नित्य और अनित्यरूप होनेसे उनमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता भी सिद्ध है।

संक्षेपमें द्रव्यमें भेद करनेवाले धर्मको गुण कहते हैं अथवा जो द्रव्यको द्रव्यान्तरसे पृथक् करता है, वह गुण है। वस्तुकी सहभावी विशेषताका वाचक भी गुण है। द्रव्यके विस्तार-विशेषको भी आचार्योंने गुण माना है। गुणके अन्य प्रकारसे तीन भेद हैं:—१. साधारण, २. असाधारण, ३. साधारणासाधारण।

वस्तुस्वरूप-विवेचनकी दृष्टिसे गुणोंके चार भी भेद हैं:—१. अनुजीवी, २. प्रतिजीवी, ३. पर्यायशक्तिरूप, ४. आपेक्षिक धर्मरूप।

गुणोंके स्वभाव और विभावकी अपेक्षासे भी भेद संभव हैं।

भावस्वरूप गुण अनुजीवी कहलाते हैं। यथा—सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि। वस्तुके अभावस्वरूप धर्मको प्रतिजीवी कहा जाता है। यथा—नास्तित्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व आदि। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुणस्वरूप अभावांश होते हैं।

प्रकारान्तरसे सामान्यगुणके दस भेद हैं:—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरुलघुत्व, (६) प्रदेशत्व, (७) चेतनत्व, (८) अचेतनत्व, (९) मूर्त्तत्व और (१०) अमूर्तत्व। इन दस गुणोंमेंसे प्रत्येक द्रव्यमें आठ-आठ गुण रहते हैं। यत: जीवद्रव्यमें अचेतनत्व और मूर्त्तत्व नहीं हैं तथा पुद्गलमें चेतनत्व और अमूर्त्तत्व नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंमें चेतनत्व और मूर्त्तत्वगुणका अभाव है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें आठ-आठ गुण पाये जाते हैं। आपेक्षिक गुणोंमें नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वकी गणना की जाती है।

गुणोंके साधारणत्व और असाधारणत्वका निर्देश करते हुए बतलाया है कि ज्ञानादि गुण स्वजातिकी अपेक्षा साधारण होते हुए भी विजातिकी अपेक्षा असाधारण हैं। ये गुण जीवद्रव्यके प्रति साधारण हैं और शेष द्रव्योंमें न पाये जानेसे उनके प्रति असाधारण हैं। अमूर्त्तत्व गुण पुद्गल द्रव्यके प्रति असाधारण है, परन्तु आकाशादि अन्य द्रव्योंके प्रति साधारण है। प्रदेशत्व गुण कालद्रव्य और पुद्गल परमाणुके प्रति असाधारण है, परन्तु शेष द्रव्योंके प्रति साधारण है।

पर्याय : स्वरूपनिर्धारण और भेद

द्रव्यकी परिणतिको पर्याय कहते हैं। पर्याय[1] का वास्तविक अर्थ वस्तुका अंश है। अंशके दो भेद हैं:—(१) अन्वयी और (२) व्यतिरेकी। अन्वयी अंशको गुण और व्यतिरेकीको पर्याय कहते हैं। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे जो स्वभाव, विभाव-

---

१. परि समन्तादाय: पर्याय:—जो सब ओरसे भेदको प्राप्त करे, वह पर्याय है।

रूपसे परिणमन करती है, वह पर्याय है।[1] प्रतिसमयमें गुणोंकी होनेवाली अवस्थाका नाम पर्याय है। व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय एकार्थक हैं।

पर्याय क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक होती हैं।[2] पर्यायके व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्यायकी अपेक्षा दो भेद हैं। प्रदेशत्व गुणकी अपेक्षा किसी आकारको लिए हुए द्रव्यकी जो परिणति होती है, उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और अन्य गुणोंकी अपेक्षा षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो परिणति होती है, उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन दोनों पर्यायोंके स्वभाव और विभागकी अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं। स्वनिमित्तकपर्याय स्वभाव-पर्याय है और परनिमित्तकपर्याय विभावपर्याय है। जीव और पुद्गलको छोड़कर शेष चार द्रव्योंका परिणमन स्वनिमित्तक होता है, अतः उनमें स्वभाव-पर्याय सर्वदा रहती है। जीव और पुद्गलकी जो पर्याय परनिमित्तक है, वह विभावपर्याय कहलाती है। परका निमित्त दूर हो जानेपर जो पर्याय होती है, वह स्वभावपर्याय कही जाती है।

प्रकारान्तरसे विचार करनेपर द्रव्यकी अंश-कल्पनाको पर्याय कहा जाता है। यह अंश-कल्पना दो प्रकारकी होती है:—(१) तिर्यगंशकल्पना और (२) ऊर्ध्वांशकल्पना। एक समयमें द्रव्यके अखण्ड देशमें विष्कम्भक्रमसे जो देशांशों-की कल्पना होती है, उसे तिर्यगंशकल्पना कहते हैं और इसीको द्रव्यपर्याय कहते हैं। अनेक समयोंमें प्रत्येक गुणकी कालक्रमसे तरतमरूप गुणांशकल्पना-को ऊर्ध्वांशकल्पना कहते हैं और यही गुणपर्याय है।

शक्ति—गुण दो प्रकारकी होती है:—एक भाववती शक्ति और दूसरी क्रिया-वती शक्ति। द्रव्यके ज्ञानादिक स्वभावोंको भाववती शक्ति कहते हैं। द्रव्यकी उस शक्तिको, जिसके निमित्तसे द्रव्यमें प्रदेशपरिस्पन्दन–चलन होकर आकार-विशेषकी प्राप्ति होती है, क्रियावती शक्ति कहते हैं। इसका ही दूसरा नाम प्रदेशत्व है। गुणके परिणमनको गुणपर्याय कहा जाता है। गुणके दो भेद होनेसे गुणपर्यायके भी दो भेद हैं:—(१) अर्थगुणपर्याय और (२) व्यञ्जनगुण-

---

१. स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति।

—आलापपद्धति अ. ६.

२. क्रमवर्त्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च॥

—पञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, पद्य १६५.

पर्याय। भाववती शक्तिके परिणमनको अर्थगुणपर्याय और क्रियावती शक्तिके परिणमनको व्यञ्जन-गुणपर्याय कहते हैं।

प्रदेशवत्व गुणके परिणमनका नाम द्रव्य या व्यञ्जनपर्याय है और शेष गुणोंके परिणमनको गुणपर्याय या अर्थपर्याय कहा जाता है।[1]

संसारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्यायसे तन्मयीभावको प्राप्त हो रहा है। क्षणभरके लिए भी न तो द्रव्य पर्यायसे रहित मिलता है और न पर्याय द्रव्यसे रहित। यद्यपि पर्याय क्रमवर्ती है,[2] तो भी सामान्यरूपसे कोई न कोई पर्याय प्रत्येक समयमें रहती है। इसी द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थको सामान्यविशेषात्मक या अनेकान्तात्मक कहा जाता है।

अतएव ज्ञेय उत्पादादि त्रयात्मक, गुणपर्यायात्मक है। ज्ञानका विषय होनेसे यह ज्ञेय कहलाता है। ज्ञेय—अर्थ द्रव्यरूप है और द्रव्य गुण-पर्यायरूप है। इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्यायका त्रिक ही ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञेय कहा गया है।

जीवादि द्रव्य अपना-अपना स्वतः सिद्ध अस्तित्व रखते हैं और लोकाकाशमें एक क्षेत्रावगाहरूपसे स्थित होनेपर भी अपनी-अपनो स्वतन्त्र सत्ताको नहीं छोड़ते हैं।

द्रव्य-निरूपण

गुण और पर्यायोंको प्राप्त होनेवाले द्रव्यके मूल छः भेद हैं:—(१) जोव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। ये छः द्रव्य ज्ञेय या प्रमेय कहलाते हैं। इनमें जीव, पुद्गल और काल अनेक भेदस्वरूप

---

१. तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्वेऽपि।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भागवती॥
तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पन्दलक्षणो वा स्यात्।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथवा निरंशांशैः॥
यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यायनाम्ना।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव॥
—पञ्चाध्यायी, १।१३३-१३५.

२. विष्कम्भःक्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा॥
क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवति॥ —वही, १।१७४-७५.

हैं और धर्म, अधर्म एवं आकाश ये तीन द्रव्य अनेक भेदस्वरूप न होकर एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। जो गुण अपने समस्त भेदोंमें रहकर अन्य द्रव्यमें न पाया जाय वही विशेषगुण लक्षणस्वरूप होता है, तथा इसीके द्वारा द्रव्यकी पहचान होती है।

इन छः द्रव्योंमें जीव और अजीव द्रव्य प्रधान हैं, यतः सभी द्रव्य किसी न किसी रूपमें इन दोनों द्रव्योंके हेतु कार्यरत रहते हैं। प्रथमतः जीवद्रव्यका विवेचन किया जाता है:—

जीवद्रव्य : स्वरूप

जीव और अजीवका सम्पर्क ही ऐसी विभिन्न शक्तियोंका निर्माण करता है, जिनके कारण जीवको नाना प्रकारकी अवस्थाओंका अनुभव करना पड़ता है। यदि यह सम्पर्क-धारा अवरुद्ध हो जाय और उत्पन्न हुए बन्धनोंको जर्जरित या नष्ट कर दिया जाय, तो जीव अपनी शुद्ध-बुद्ध और मुक्त अवस्थाको प्राप्त हो सकता है।

जीव इन्द्रिय-अगोचर ऐसा तत्त्व है, जिसकी प्रतीति अनुभूति द्वारा ही सम्भव है। जीवको ही आत्मा कहा जाता है। प्राणियोंके अचेतन तत्त्वसे निर्मित शरीरके भीतर स्वतन्त्र आत्मतत्त्वका अस्तित्व है और यह आत्मतत्त्व ही चेतन या उपयोगरूप है। आत्मा स्वतन्त्र और मौलिक है। उपयोग जीवका लक्षण है और उपयोगका अर्थ चैतन्य-परिणति है। चैतन्य जीवका असाधारण गुण है, जिसके कारण वह समस्त जड़ द्रव्योंसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शन रूपसे दो परिणमन होते हैं। जब चैतन्य स्वसे भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है, उस समय वह ज्ञान कहलाता है और जब चैतन्य मात्र ज्ञेयाकार रहता है, तब वह दर्शन कहलाता है। जीव असंख्यात प्रदेशवाला है और अनादिकालसे सूक्ष्म कार्मण-शरीरसे सम्बद्ध है। अतः चैतन्य युक्त जीवकी पहचान व्यवहारमें पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-कायरूप तीन बल तथा श्वासोच्छ्वास और आयु इस प्रकार दश प्राणरूप लक्षणोंकी हीनाधिक सत्ताके द्वारा ही की जा सकती है।[1]

यों तो जीवमें अनेक गुण हैं, पर उसकी कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियाँ प्रधान हैं। (१) जीव जीव है, (२) उपभोगरूप है, (३) अमूर्तिक है, (४) कर्त्ता है,

---

१. पंच वि इंदियपाणा मनवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा॥ —गो० जी० १२९.

(५) स्वदेह परिमाण है, (६) भोक्ता है, (७) संसारी है, (८) सिद्ध है और (९) है स्वभावसे उर्ध्व गमन करनेवाला।[1]

संसारमें जीवोंकी संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीरमें विद्यमान जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और इस अस्तित्वका कभी संसार अथवा मोक्षमें विनाश नहीं होता। जीवमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार पुद्गलके धर्म नहीं पाये जाते हैं। अतएव वह स्वभावसे अमूर्तिक है, फिर भी प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार होनेसे वह अपने छोटे-बड़े शरीरके परिमाण हो जाता है।

आत्मसिद्धि

यह प्रश्न निरन्तर उठाया जा रहा है कि आत्मा शरीरके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। जब आत्म-तत्त्व नहीं, तो फिर संसार, बन्ध और मोक्षकी आवश्यकता ही क्या है? अतएव पृथ्वी, जल, वायु और आकाशके अतिरिक्त आत्म-तत्त्व नहीं है। इन चारों भूतोंके संयोगसे ही चैतन्यशक्तिकी उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़, जौ, आदिके संयोगसे मादकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार इन चारों भूतोंके संयोगसे इस शरीररूपी यन्त्रका संचालन उत्पन्न हो जाता है।

देहात्मवाद या अनात्मवादके अनुसार शरीर ही आत्मा है, इससे भिन्न कोई आत्मा नहीं। अतएव पुनर्जन्म और परलोकका अभाव है। यदि शरीरसे भिन्न कोई आत्मा है और मरनेपर यह आत्मा परलोक चली जाती है, तो बन्धु-बान्धवोंके स्नेहसे आकृष्ट हो, वह वहाँसे लौट क्यों नहीं आती है। हमें इन्द्रियातीत कोई आत्मा दिखलायी नहीं पड़ती। अतः भूतचतुष्टयके संयोगसे उत्पन्न शक्ति-विशेष ही आत्मा है।

प्रत्यक्ष द्वारा भौतिक जगत्का ज्ञान प्राप्त होता है। यह जगत् चार प्रकारके भौतिक तत्त्वोंसे बना हुआ है। वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये चार ही भौतिक तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंका ज्ञान हमें इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है। संसारके जितने द्रव्य हैं, वे सभी इन चार तत्त्वोंसे बने हुए हैं।

उत्तरपक्ष

यह जीव अपने शरीरमें सुखादिककी तरह स्वसंवेदनसे जाना जाता है। क्योंकि उसके स्व-संविदित होनेमें कोई भी बाधक कारण नहीं है और दूसरी

---

१. जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥ द्रव्यसंग्रह, गा० २.

बात यह है कि बुद्धिपूर्वक कार्य—व्यापार देखा जाता है। अतः जिस प्रकार अपने शरीरमें जीव है, उसी प्रकार दूसरेके शरीरमें भी जीव है, यह अनुमानसे जाना जाता है। तत्काल उत्पन्न हुआ बालक जो माताके स्तन पीता है, उसे पूर्वभवका संस्कार छोड़कर अन्य कोई भी सिखानेवाला नहीं है। आत्मा अमूर्तिक है और ज्ञानके द्वारा ही जानी जाती है।

भूतचतुष्टयके संयोगसे जीव उत्पन्न होता है, यह कथन भी निराधार है, क्योंकि बटलोहीमें दाल बनाते समय जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी इन चारों तत्त्वोंका संयोग है, पर चेतनकी उत्पत्ति नहीं होती है। गुड़ आदिके सम्बन्धसे होनेवाली जिस अचेतन उन्मादिनी शक्तिका कथन किया है, वह उदाहरण चेतनके विषयमें लागू नहीं होता।

भूतचतुष्टयरूप आत्म-तत्त्वकी सिद्धि सम्भव नहीं है। यतः पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये तत्त्व हैं। इनके समुदायसे शरीर, इन्द्रिय और विषयाभिलाष अभिव्यक्त होती है। यह अभिव्यक्ति किसकी है? सत्‌की या असत्‌की अथवा सद्-असद्रूपकी? प्रथम पक्षमें अनादि और अनन्त चैतन्यकी सिद्धि हो जायगी। दूसरी बात यह है कि सद् चैतन्यकी अभिव्यक्ति माननेपर '**परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः**' यह भी स्वतः खण्डित हो जायगा। असद् चैतन्यकी अभिव्यक्ति तो मानी नहीं जा सकती, क्योंकि किसी असद् वस्तुकी अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। कथंचित् सद्-असद् माननेपर परमतका प्रवेश हो जायगा।

भूतचतुष्टयको चैतन्यके प्रति उपादानकारण माना जाय, या सहकारीकारण? उपादानकारण तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि चैतन्यके साथ भूतचतुष्टयका अन्वय ही नहीं। जिस वस्तुका जिसके साथ अन्वय रहता है, वही वस्तु उसका उपादान होती है। जैसे मुकुटका निर्माण स्वर्णके होनेपर होता है, अतः स्वर्णका मुकुटके साथ अन्वय माना जायगा, पर भूतचतुष्टयके रहनेसे तो आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः भूतचतुष्टयको आत्माका उपादान नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि संसारमें सजातीय कारणसे सजातीय कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है, विजातीयकी नहीं। जब भूतचतुष्टय स्वयं अचेतन है, तो चैतन्यकी उत्पत्तिमें वह कारण कैसे हो सकता है? और यह कहना भी भ्रान्त है कि चैतन्यशक्ति भी शरीरके नाशके साथ ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि पूर्वभवकी स्मृति आनेसे पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है।

चैतन्य आत्माका धर्म नहीं, शरीरका है; यह कथन भी निराधार है। जो यह कहा जाता है कि पंचेन्द्रिय विषयोंका उपभोग ही जीवन-सर्वस्व है, स्वर्ग-नरक आदिकी स्थिति सिद्ध ही नहीं होती, अतः शरीरसे भिन्न आत्मा नामका

कोई पदार्थ अनुभवमें नहीं आता है। यह सब कथन भी मिथ्या है, क्योंकि जन्मसे पूर्व और पश्चात् भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध है। चेतन आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जानेपर पुण्य-पाप, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदि सभी सिद्ध होते हैं। आत्माके कर्त्ता और भोक्ता होनेसे भोगवादका समर्थन स्वयं निरस्त हो जाता है।

मनुष्य विषय और कषायोंके अधीन होकर जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उसीके अनुसार वह पुण्य और पाप अर्जन करता है। जब अशुभका उदय आता है, तो प्रतिकूल सामग्रीके मिलनेसे दुःखानुभूति होती है और जब शुभका उदय आता है, तो अनुकूल सामग्रीके मिलनेसे सुखानुभूति होती है। सुख और दुःखका कर्त्ता एवं भोक्ता यह आत्मा स्वयं ही सिद्ध है। यदि संसारमें पुण्य, पाप और शुभाशुभकी स्थिति न मानी जाय, तो एक व्यक्ति सुन्दर, रूपवान और प्रिय होता है, तो दूसरा व्यक्ति कुरूप, अप्रिय और नाना विकृतियोंसे पूर्ण होता है, यह कैसे संभव होगा? एक ही माता-पिताकी विभिन्न सन्तानोंमें विभिन्न गुणोंका समावेश पाया जाता है। एक पुत्र प्रतिभाशाली और सच्चरित्र है, तो दूसरा निर्बुद्धि और दुराचारी। एक धनी है, तो दूसरा दरिद्र है। एक दुःखी है, तो दूसरा सुखी है। इस प्रकारकी भिन्नता कर्म-वैचित्र्यके बिना सम्भव नहीं है। जिसका जिस प्रकार अदृष्ट होता है, वह उसी प्रकार-की भोगसामग्री प्राप्त करता है। अतएव जिस प्रकार कृषक खेतमें उत्पन्न हुई फसलमेंसे कुछ धान्य बीजके लिए रख छोड़ता है और शेषको उपभोगमें ले आता है, उसी प्रकार शुभोदयके फलको भोगनेके अनन्तर इस शरीर द्वारा तपश्चरण आदिकर पुनः शुभोदयका अर्जन करना आवश्यक है। भोगोंका त्याग किये बिना साधना सम्भव नहीं और न बिना साधनाके उत्तम भोगोंका मिलना ही सम्भव है। अतएव पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदिका विश्वास करना और पुनर्जन्म मानना अनुभव-संगत है।

तर्क द्वारा भी जीवकी सिद्धि होती है। जीवित शरीर आत्म-सहित है, क्योंकि श्वासोच्छ्वास वाला है। जो आत्म सहित नहीं है, वह पूजा श्वासोच्छ्-वास सहित भी नहीं है, जैसे घटादिक। अथवा जीवित शरीर आत्म-सहित है, क्योंकि वह प्रश्नोंका उत्तर देता है, जो आत्मसहित नहीं है प्रश्नोंका उत्तर भी नहीं देता, जैसे घटादिक। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान-प्रमाणसे भी जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है।

जीव अनादिनिधन है। यतः यह अस्तित्ववान होनेपर कारणजन्य नहीं। जो जो पदार्थ अस्तित्ववान होनेपर कारणजन्य नहीं होते, वे वे अनादिनिधन होते हैं, जैसे पृथ्वी-आदि। और जो अनादिनिधन नही होते वे अस्तित्ववान

होनेपर कारणजन्य होते हैं—जैसे घटादिक। इस प्रकार अनुमान-प्रमाणसे जीव पदार्थ अनादिनिधन सिद्ध है।

यदि भूतचतुष्टयसे जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, तो यह भूतचतुष्टय जीवका निमित्त कारण है या उपादान कारण? यदि निमित्तकारण है, तो भूतचतुष्टयसे भिन्न उपादानकारण कोई दूसरा ही होगा और वह उपादानकारण जीव ही हो सकता है। यदि भूतचतुष्टय जीवका उपादानकारण है, तो ये चारों मिलकर जीवके उपादानकारण हैं, अथवा पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये चारों पृथक्-पृथक् उपादान कारण हैं? यदि पृथक्-पृथक् जीवके उपादानकारण हैं, तो पृथ्वीके बने हुए जीव अन्य, जलसे निर्मित अन्य, पवनसे निर्मित अन्य और अग्निसे निर्मित अन्य, इस प्रकार चार तरहके जीव होने चाहिए। पर चार तरहके जीव प्रतीत नहीं होते। अतएव भूतचतुष्टय भिन्न-भिन्न रीतिसे उपादान कारण नहीं है। चारों मिलकर भी जीवके उपादानकारण नहीं हो सकते, क्योंकि घट-पटादि कार्योंका उपादानकारण सजातीय होता है। तथा यदि जीवका उपादानकारण भूतचतुष्टय है, तो भूतचतुष्टयके स्पर्श, रस, गंध, वर्णगुण जीवमें आने चाहिए। पर ये चारों गुण जीवमें नहीं होते। यदि ये चारों गुण जीवमें होते, तो जीव भी इन्द्रियगोचर होता। परन्तु जीव इन्द्रियगोचर नहीं है। इसलिये जीव भूतचतुष्टयजन्य नहीं है।

जीवकी स्वतन्त्रसिद्धि

जीव या आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जानेके पश्चात् जीवका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। जो स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते, उनसे यह पूछा जाय कि जो जीव द्रव्य नहीं है, तो वह जीव गुण है या पर्याय? इनके अतिरिक्त कोई वाच्य हो नहीं सकता। अतः जितने बाह्य पदार्थ हैं, वे द्रव्य, गुण, और पर्याय इन तीनोंमेंसे किसी न किसीके वाच्यमें अन्तभूर्त हैं। यदि जीव गुण है, तो उसका गुणी कौन है? गुणीके बिना गुण नहीं होता। यदि यह माना जाय कि जीवगुणका गुणी जीवद्रव्य है तो जीवद्रव्य स्वतन्त्र सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि जीवगुण पुद्गलद्रव्यका है, तो गुण नित्य होता है। इसलिये घट-पटादिक समस्त पुद्गल द्रव्योंमें उसकी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु प्रतीति होती नहीं। अतएव जीव पुद्गलका गुण नहीं है।

यदि जीव पर्याय है, तो पर्याय किसी गुणकी अवस्था-विशेष कही जाती है। अतः जीवपर्याय पुद्गलके किस गुणकी अवस्था-विशेष है और उस गुणका नाम क्या है? तथा उसका लक्षण क्या है? न तो कोई ऐसा गुण ही है और न कोई उसका लक्षण ही है, जिसके आधारपर जीवपर्याय पुद्गलगुणकी मानी जा सके। अतएव संक्षेपमें जीव पदार्थका अस्तित्व स्वतन्त्र रूपमें सिद्ध

होता है। आत्मा स्वतन्त्र है और ज्ञान-दर्शनादि गुण उसकी निजी सम्पत्ति हैं। आनन्द और सौन्दर्यानुभूति उसके स्वतन्त्र अस्तित्वके सबल प्रमाण हैं। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा आदिके आरम्भमें जुट जाना भौतिक यन्त्रका काम नहीं है। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़नेपर अपने-आप मरम्मत हो जाय, यह सम्भव नहीं है। अतएव इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नहीं है, अपितु चैतन्यके विभाव-शक्तिजन्य विकार हैं।

अवस्थाके अनुसार बढ़ना, जीर्ण होना आदि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान भौतिकतासे सम्भव नहीं है। अनुभवसिद्ध कार्य-कारणभावके द्वारा आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

आत्माको शरीर-परिणाम माननेपर भी देखनेकी शक्ति नेत्रोंमें रहनेवाले आत्म-प्रदेशोंमें ही नहीं, सूँघनेकी शक्ति घ्राणमें रहनेवाले केवल आत्म-प्रदेशोंमें ही नहीं, अपितु शरीरान्तर्गत समस्त आत्म-प्रदेशोंमें ये शक्तियाँ समाहित रहती हैं। आत्मा पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहती है। वह इन्द्रियोंके उपकरणोंके झरोखों द्वारा गन्धादिका परिज्ञान करती है। वासनाओं और कर्म-संस्कारोंके कारण आत्माको अनन्तशक्ति छिन्न-भिन्न रूपमें अभिव्यक्त होती है। जब कर्मवासनाओं और सूक्ष्म कर्म-शरीरका सम्पर्क छूट जाता है, तब यह आत्मा अपने अनन्त चैतन्य-स्वरूपमें लीन हो जाती है। उस समय इस आत्माके प्रदेश अन्तिम शरीरके आकार रह जाते हैं। क्योंकि उनके फैलने और सिकुड़नेका कारण कर्म-संस्कार नष्ट हो चुका है। अतएव आत्म-प्रदेशोंका अन्तिम शरीरके आकार रह जाना स्वाभाविक और युक्ति-संगत है।

व्यापक एवं अणु आत्मवाद

आत्माको अमूर्त और व्यापक माना जाता है। व्यापक होनेपर भी शरीर और मनके सम्बन्धसे शरीरावच्छिन्न आत्म-प्रदेशोंमें ज्ञानादि विशेषगुणोंकी उत्पत्ति होती है। अमूर्त होनेसे यह आत्मा निष्क्रिय और गतिहीन है। शरीर और मनके गतिशील होनेसे सम्बद्ध आत्म-प्रदेशोंमें ज्ञानाधिककी अनुभूति होती है। व्यापक आत्मवादमें निम्नलिखित दोष घटित होते हैं।

(१) समस्त आत्माओंका सम्बन्ध समस्त शरीरोंके साथ होनेसे अपने-अपने सुख-दुःख और भोगका नियम घटित नहीं होगा।

(२) एक अखण्ड द्रव्यमें सगुण और निर्गुणके भेद सम्भव नहीं हैं।

(३) अमूर्तत्व हेतुके द्वारा आत्माको व्यापक सिद्ध नहीं किया जा सकता

है, मनके साथ दोष आनेसे मन भी अमूर्त है, अतएव उसे भी व्यापक मानना पड़ेगा।

(४) नित्य होनेसे भी आत्माको व्यापक माननेमें दोष है। यहाँ भी मनके साथ व्यभिचार आता है।

(५) आत्माके व्यापक होनेसे एक व्यक्ति भोजन करेगा, तो समस्त नगर, ग्राम, देश एवं राष्ट्रवासियोंकी तृप्ति हो जायगी। इस प्रकार व्यवहार-सांकर्य उत्पन्न होगा। मन और शरीरके सम्बन्धसे विभिन्नताकी व्यवस्था भी सम्भव नहीं है।

(६) जहाँ गुण पाये जाते हैं, वहीं उसके आधारभूत द्रव्यका सद्भाव रहता है। गुणोंके क्षेत्रसे गुणीका क्षेत्र न बड़ा होता है और न छोटा। सर्वत्र आकृतिमें गुणीके बराबर ही गुण होते हैं। अतएव आत्मा शरीरके बाहर व्यापकरूपमें उपलब्ध नहीं है।

जिस प्रकार आत्माका व्यापकत्व सिद्ध नहीं; उसी प्रकार आत्माका अणुत्व भी सिद्ध नहीं है। अणुरूप आत्माको माननेपर अंगुलीके कट जानेसे समस्त शरीरके आत्म-प्रदेशोंमें कम्पन और दुःखका अनुभव होना सम्भव नहीं। अणु-रूप आत्माके माननेपर भी आलात-चक्रवत् उसकी गति स्वीकार करलेनेसे उक्त दोष नहीं आता। पर जिस समय अणु आत्माका चक्षु-इन्द्रियके साथ संबंध होगा, उस समय भिन्न क्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियोंके साथ युगपत् सम्बन्ध होना असम्भव है। जब हम किसी सुन्दर वस्तुको आँखोंसे देखते हैं, तो अन्य इन्द्रियाँ भी उस वस्तुको पानेके लिये गतिशील हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि सभी इन्द्रियोंके प्रदेशोंमें आत्माका युगपत् सम्बन्ध है। आपादमस्तक अणुरूप आत्माके चक्कर लगानेमें कालभेद होना स्वाभाविक है तथा सर्वांगीण रोमां-चादि कार्योंसे ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूतिके विरुद्ध भी है। अतएव आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारकी शक्ति रहनेके कारण संसारावस्थामें यह शरीरप्रमाण है। संकोच और विस्तारकी शक्ति आत्मामें स्वाभाविक रूपसे विद्यमान है।

आत्माके संकोच और विस्तारकी दीपकके प्रकाशसे तुलना की जा सकती है। खुले आकाशमें रखे हुए दीपकका प्रकाश विस्तृत परिमाणमें होता है, उसी दीपकको यदि कोठरीमें रख दें, तो वही प्रकाश कोठरीमें समा जाता है। घड़ेमें रखते हैं, तो वह प्रकाश घड़ेमें समा जाता है और ढकनीके नीचे रखनेसे ढकनीमें समा जाता है। इसी प्रकार कार्मणशरीरके आवरणसे आत्मप्रदेशोंका भी संकोच और विस्तार होता है।

जो आत्मा शिशु-शरीरमें रहती है, वही आत्मा युवा-शरीरमें रहती है और वही वृद्ध-शरीरमें भी। स्थूलशरीरव्यापी आत्मा कृशशरीरव्यापी हो जाती है।

आत्माको शरीरपरिमाण माननेसे वह अवयव सहित होनेके कारण अनित्य नहीं हो सकती है। यतः यह कोई नियम नहीं है कि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। आकाश सावयव होनेपर भी नित्य है। जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवीसे कभी पृथक् नहीं हो सकते।

जीव या आत्मा : ज्ञान-स्वरूप

यह अनुभव सिद्ध है कि जो जीव है, वह ज्ञानवान् है और जो ज्ञानवान् है, वह जीव है। जिस प्रकार उष्णत्वके बिना अग्निका अस्तित्व संभव नहीं, उसी प्रकार ज्ञान गुणके बिना जीवका अस्तित्व भी असंभव है। एकेन्द्रियसे मुक्तात्माओं तकमें ज्ञानगुणकी हीनाधिकता पायी जाती है। जीवका यह ज्ञानगुण ही जड़ पदार्थोंसे उसे भिन्न सिद्ध करता है। अतः ज्ञान जीव या आत्माका निज स्वरूप है।

ज्ञान और ज्ञानीको परस्परमें सर्वदा एक दूसरेसे भिन्न माना जाय तो दोनों ही अचेतन हो जायँगे। यदि यह कहा जाय कि ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी आत्मा ज्ञानके समवायसे ज्ञानी होता है, तो ज्ञानके समवायसम्बन्धके पूर्व आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी ? समवायसम्बन्धके पूर्व आत्माको ज्ञानी माननेसे ज्ञानका समवायसम्बन्ध मानना व्यर्थ है, यतः इस सम्बन्धकी कोई आवश्यकता नहीं। अज्ञानीमें ज्ञानका समवाय बन नहीं सकता है। क्योंकि अज्ञानीमें ज्ञानके मिलनेसे भी अज्ञानता बनी ही रहेगी तथा अज्ञान और ज्ञानके मिश्रणको क्या कहा जायगा ?[1]

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने शरीरसे भिन्न रहनेवाले दात्र—हँसियाके द्वारा तृणादिका छेदक हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी भिन्न रहनेवाले ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका ज्ञायक हो सकता है। यतः छेदनक्रियाके प्रति दात्र बाह्य उपकरण है और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे

---

१. णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स ।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥
ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी ।
अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि ॥
—पञ्चास्तिकाय, गाथा ४८-४९.

उत्पन्न हुई पुरुषकी शक्तिविशेष आभ्यन्तर उपकरण है। इस आभ्यन्तर उपकरणके अभावमें दात्र तथा हस्तव्यापार आदि बाह्य उपकरणके रहनेपर भी ज्ञानरूप आभ्यन्तर उपकरणके अभावमें जीव पदार्थोंका ज्ञाता नहीं हो सकता। बाह्य उपकरण कर्त्तासे भिन्न रहता है, पर आभ्यन्तर उपकरण उससे अभिन्न रहता है। अतएव ज्ञान-ज्ञानीके प्रदेश भिन्न नहीं है। जो आत्माके प्रदेश हैं, वे ही प्रदेश ज्ञानादि गुणोंके भी हैं, इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

ज्ञान ही आत्मा है। यतः ज्ञान आत्माके बिना नहीं रहता, अतः ज्ञान आत्मा ही है।[1] आत्माके अनेक गुणोंमें ज्ञानगुण प्रधान है, यह आत्माका असाधारण गुण है। यह आत्माके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पाया जाता, अतएव गुण-गुणीमें अभेद विवक्षाकर ज्ञानको ही आत्मा कह दिया जाता है। यों तो आत्मा जिस प्रकार ज्ञानगुणका आधार हैं, उसी प्रकार अन्यगुणोंका भी आधार है। ज्ञानगुणके आधारकी अपेक्षा आत्मा ज्ञानरूप है।

कर्तृत्व : विवेचन

परिणमन करनेवालेको कर्त्ता, परिणामको कर्म और परिणतिको क्रिया कहते हैं। ये तीनों वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, एक द्रव्यकी ही परिणति हैं। जीवमें कर्तृत्वशक्ति स्वभावतः पायी जाती है। आत्मा असद्भूतव्यवहारनयसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आदि पुद्गलकर्मों तथा भवन, वस्त्र आदि पदार्थोंका कर्त्ता है। अशुद्धनिश्चयनयसे अपने राग-द्वेष आदि चैतन्यकर्मों—भावकर्मोंका और शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे अपने शुद्ध चैतन्यभावोंका कर्त्ता है।[2]

जीव और अजीव अनादिकालसे सम्बद्ध अवस्थाको प्राप्त हैं, अतः यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इन दोनोंके अनादि सम्बन्धका क्या कारण है? जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया? यदि यह माना जाय कि जीवने बिना किसी विशेषताके कर्मको किया, तो सिद्धावस्थामें भी कर्म करनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी। यदि कर्मने जीवको किया, तो कर्ममें ऐसी विशेषता

---

१. णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥
—प्रवचनसार, गाथा २७.

२. पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं॥
—द्रव्यसंग्रह, गाथा ८.

कहाँसे आई कि वे जीवको कर सकें—उसमें रागादिभाव उत्पन्न कर सकें। यदि कर्म विना किसी वैशिष्टयके रागादिक करते हैं, तो कर्मके अस्तित्वकालमें सदा रागादि उत्पन्न होने चाहिए।

इन प्रश्नोंका समाधान विभिन्न दृष्टियोंके समन्वय द्वारा संभव है। यतः जीवके रागादि परिणामोंसे पुद्गलद्रव्यमें कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गलके कर्मरूप परिणमनसे उनकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामें रागादिभाव उत्पन्न होते हैं। यद्यपि इस समाधानमें अन्योन्याश्रय दोष दिखलायी पड़ता है, पर अनादि संयोग माननेसे इस दोषका निराकरण हो जाता है।

कर्तृ-कर्मभावकी व्यवस्थाके स्पष्टीकरणके लिए कारकव्यवहारका विचार कर लेना आवश्यक है।

संसारमें अनादिकालसे समस्त द्रव्य प्रतिक्षण पूर्व-पूर्व अवस्था—पर्यायको त्यागकर उत्तरोत्तर अन्य अवस्थाको प्राप्त होते हैं, इसी परिणमनको क्रिया कहा जाता है। अनन्तर पूर्वक्षणवर्त्ती परिणामविशिष्ट द्रव्य उपादानकारण है और अनन्तर उत्तरक्षणवर्त्ती परिणामविशिष्ट द्रव्य कार्य है। इस परिणमन—अवस्थापरिवर्त्तनमें सहकारीस्वरूप अन्य द्रव्य निमित्तकारण है। निमित्त-कारणके दो भेद हैं:—(१) उदासीन निमित्तकारण और (२) प्रेरक निमित्त-कारण। इन्हीं कारणोंमें कारकव्यवहार होता है। क्रियानिष्पादकत्व कारक-का लक्षण है और इसके कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधि-करण ये छः भेद हैं। क्रियाका उपादानकारण कर्त्ता; जिसे क्रिया प्राप्त हो वह कर्म; क्रियामें साधकतम अन्य पदार्थ करण; कर्म जिसको प्राप्त हो वह सम्प्रदान, दो पदार्थोंके लिये वियुक्त होनेमें जो ध्रुव रहे, वह अपादान एवं आधारको अधिकरण कहा जाता है। इस कारक-प्रक्रियाका अभिप्राय यह है कि संसारमें जितने पदार्थ हैं, वे अपने-अपने भावके कर्त्ता हैं, परभावका कर्त्ता कोई पदार्थ नहीं है।

वास्तवमें कर्त्ता-कर्मभाव उसी द्रव्यमें घटित होता है, जिसमें व्याप्य-व्यापक भाव अथवा उपादान-उपादेयभाव रहता है। जो कार्यरूपमें परिणत होता है, उसे व्यापक या उपादान कहते हैं और जो कार्य होता है उसे व्याप्य या उपादेय। मिट्टीसे घड़ा बना, यहाँ मिट्टी व्यापक या उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है। यह व्याप्य-व्यापकभाव या उपादान-उपादेयभाव सर्वदा एक द्रव्यमें ही होता है, दो द्रव्योंमें नहीं; यतः एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप त्रिकालमें भी परिणमन नहीं होता है।

जो उपादानके कार्यरूप परिणमनमें सहकारी है, वह निमित्त है। यथा-

मिट्टीके घटाकार परिणमनमें कुम्भकार और उसके दण्ड-चक्रादि। इस निमित्त-की सहायतासे उपादानमें जो कार्य होता है, वह नैमित्तिक कहलाता है, जैसे कुम्भकार आदिकी सहायतासे मिट्टीमें हुआ घटाकार परिणमन। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निमित्त-नैमित्तिकभाव दो विभिन्न द्रव्योंमें भी घटित होता है, पर उपादानोपादेय या व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्यमें संभव हैं।

पुद्गलद्रव्य जीवके रागादि परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार जीव द्रव्य भी पुद्गल कर्मोंके विपाककालरूप निमित्तको पाकर रागादि भावरूप परिणमन करता है। इस प्रकारका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी जीवद्रव्य कर्ममें किसी गुणका उत्पादक नहीं, अर्थात् पुद्गल-द्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादिभावको प्राप्त होता है। इसी तरह कर्म भी जीवमें किन्हीं गुणोंको नहीं करता है, किन्तु मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्तकर जीव स्वयमेव रागादिरूप परिणमता है। इतना होनेपर भी पुद्गल और जीव-का परिणमन परस्परनिमित्तक है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपने भावोंके द्वारा अपने परिणमनका कर्त्ता होता है; पुद्गलकर्मकृत भावोंका कर्त्ता नहीं है। तथ्य यह है कि पुद्गलके जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं, उनका कर्ता पुद्गल है और जीवके जो रागादि भाव हैं, उनका कर्त्ता जीव है।[1]

आत्मा और पुद्गल इन दोनोंमें वैभाविकी शक्ति है। इस शक्तिके कारण ही आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वयं करती है और पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। इस प्रकारके परिणमनको ही निमित्त-नैमित्तिकभाव कहा जाता है।

निमित्त-नैमित्तिकभाव एव कर्तृ-कर्मभाव स्वीकार करनेपर द्विक्रिया-कारित्वका दोष नहीं आता है। यतः निमित्त अपने परिणमनके साथ उपादान-परिणमनका कर्त्ता नहीं है।

जीव न तो घटका कर्ता है, न पटका कर्त्ता है और न शेष अन्य द्रव्योंका

---

१. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥

—समयसार-गाथा ८०-८२.

ही। जीवके योग और उपयोग ही उनके कर्त्ता हैं।[1]

आत्मा घटादि और क्रोधादिपरद्रव्यात्मक कर्मोंका कर्त्ता न तो व्याप्य-व्यापकभावसे है और न निमित्त-नैमित्तिकभावसे हो; पर अनित्य योग और उपयोग ही घट-पटादि द्रव्योंके निमित्तकर्त्ता हैं। जब आत्मा ऐसा विकल्प करती है कि मैं घटको बनाऊँ, तब काययोगके द्वारा आत्म-प्रदेशोंमें चञ्चलता आती है और चञ्चलताको निमित्तता पाकर हस्तादिके व्यापार द्वारा दण्डसे चक्रका परिभ्रमण होता है और इससे घटादिकी निष्पत्ति होती है। ये विकल्प और योग अनित्य हैं, अज्ञानवश आत्मा इनका कर्त्ता हो भी सकती है, परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मोंका कदापि संभव नहीं।

तथ्य यह है कि निमित्तके दो भेद हैं:—(१) साक्षात् निमित्त और (२) परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्त्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है। यत: इनके साथ कुम्भकारका साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकारके योग एवं उपयोगसे दण्ड-चक्रादि द्वारा घटकी उत्पत्ति परम्परा-निमित्तकी अपेक्षा है। जब परम्परा-निमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकको गौण कर कथन किया जाता है, तब जीवको घट-पटादिका कर्त्ता नहीं माना जाता। किन्तु जब परम्परा-निमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक भावको प्रमुखता दी जाती है, तब जीवको घट-पटादिका कर्त्ता कहा जाता है।

घटका कर्त्ता कुम्भकार, पटका कर्त्ता कुविन्द और रथका कर्त्ता बढ़ईको न माना जाय तो लोकविरुद्ध कथन हो जायगा। पर यथार्थमें वे अपने-अपने योग और उपयोगके ही कर्त्ता होते हैं। लोकमें उनका कर्तृत्व परम्परा-निमित्तकी अपेक्षा ही संगत होता है।

अभिप्राय यह है कि संसारके सभी पदार्थ अपने-अपने भावके कर्त्ता हैं, परभावका कर्त्ता कोई पदार्थ नहीं। कुम्भकार घट बनानेरूप अपनी क्रियाका कर्त्ता है। व्यवहारमें जो कुम्भकारको घटका कर्त्ता कहते हैं, वह केवल उपचार मात्र है। घट बनने रूप क्रियाका कर्त्ता घट है। घटको बननेरूप क्रियामें कुम्भकार सहायक निमित्त है। इस सहायक निमित्तको ही उपचारसे कर्त्ता कहा जाता है। वस्तुत: कर्त्ताके दो भेद हैं:—(१) वास्तविक कर्त्ता और (२) उपचारित कर्त्ता। क्रियाका उपादान ही वास्तविक कर्त्ता है। अत: कोई भी क्रिया वास्तविक कर्त्ताके बिना संभव नहीं। उपचरित कर्त्ताके लिए यह नियम नहीं है। यथा,

---

१. जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता॥
—समय०, गाथा १००.

घटरूप कार्यके बननेमें उपचरित कर्त्ताकी आवश्यकता है, पर नदीके बहनेरूप कार्यमें उपचरित कर्त्ताकी आवश्यकता नहीं है।

जीव परपदार्थोंका कर्त्ता अपनेको नहीं मानता, यतः कर्त्ता माननेसे 'अहं' भावकी उत्पत्ति होती है तथा परकी इष्टानिष्ट परिणतिमें हर्ष-विषादकी अनुभूति होती है और इस अनुभूतिके रहनेपर जीव अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावमें स्थिर नहीं हो पाता तथा मोहके प्रभावके कारण अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है। अतएव निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है।

यह सत्य है कि सब द्रव्य स्वभावसे परिणामी-नित्य हैं। प्रत्येक समयमें द्रव्यकी एक पर्यायका व्यय होना और नवीन पर्यायका उत्पाद होना ही उसका परिणाम-स्वभाव है। उत्पाद, व्यय निमित्तके रहनेपर तथा शुद्धावस्थामें निमित्तके नहीं मिलने पर भी होते रहते हैं। पर्यायरूपसे प्रत्येक द्रव्यका उत्पन्न होना और नष्ट होना यह उसका अपना स्वभाव है। इसमें षड्स्थानपतित हानि और षड्स्थानपतित वृद्धिरूपसे वर्त्तमान अनन्त अगुरुलघुगुण प्रयोजक हैं। इस प्रकार अशुद्धद्रव्योंमें निमित्तपूर्वक पर्यायमें परिवर्तन होता है और शुद्ध द्रव्योंमें षड्गुणहानिवृद्धिकी अपेक्षा पर्याय-परिवर्तन होता है। आत्मा शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा स्वभावका कर्त्ता और निमित्त-नैमत्तिककी अपेक्षा रागादिकभाव और पुद्गलद्रव्यके कर्मरूप परिणमनका कर्त्ता सभव है। अतएव निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती है। नयदृष्टिका अवलम्बन ग्रहण कर ही कर्तृत्वभावका निश्चय करना उपादेय है।

भोक्तृत्वशक्ति : विवेचन

आत्मा फलोंका स्वयं भोक्ता है। यह असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षा पुद्गलकर्मफलोंका भोक्ता है। अन्तरंगमें साता, असाताका उदय होनेपर सुख-दुःखका यह अनुभव करता है। इसी साता-असाताके उदयसे बाहरमें उपलब्ध होनेवाले सुख-दुःखके साधनोंका उपभोग करता है। अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा चेतनाके विकार रागादिभावोंका भोक्ता है और शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा शुद्ध चैतन्यभावोंका भोक्ता है।[1]

वस्तुतः आत्माके ही कर्त्ता और भोक्ता होनेके कारण संसारकी कोई भी परोक्ष शक्ति जीवके लिये किसी प्रकारका कार्य नहीं करती है। जीव स्वयं अपने भावोंका कर्त्ता-भोक्ता है। किसी दूसरी शक्तिके द्वारा इसे फलकी प्राप्ति

---

१. ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स॥ —द्रव्यसंग्रह, गाथा ९.

नहीं होती। आत्मा स्वयं ही अपने किये गये भावोंके अनुसार कर्मोंको बांधता है और स्वयं ही अपने प्रयाससे कर्मसे मुक्त होता है। बन्धन और मुक्तिमें परका किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है। अतः स्वभावसे अपने रूपमें चलनेवाले इस जगतका न कोई नियन्ता है और न कोई स्रष्टा है। किसी भी देवी-देवता-की कृपासे इष्टानिष्ट फल प्राप्त नहीं हो सकता। सबसे बड़ा आत्मदेव है। इससे शक्तिशाली अन्य कोई भी नहीं है। हानि-लाभ, सुख-दुःख, अपने ही हाथमें है, अन्य किसीके हाथमें नहीं। जब आत्मा अपनी कर्तृत्व-भोक्तृत्वशक्तिका अनुभव करने लगता है, अपने स्वरूपको पहचान लेता है, उस समय जगतके देवी-देवता सभी आत्माके चरणोंमें नतमस्तक हो जाते हैं। अतएव यह जीव स्वतन्त्र है तथा स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता है।

जीव : भेद-प्रभेद

जीवके मूलतः दो भेद हैं:—(१) संसारी जीव और (२) मुक्त जीव। कर्म-बन्धनसे बद्ध एक गतिसे दूसरी गतिमें जन्म और मरण करनेवाले संसारी जीव कहलाते हैं। जो संसारसे बन्धनमुक्त हो चुके हैं, वे मुक्त जीव कहलाते हैं। संसारी जीवके ज्ञान, दर्शन, सुख, बल आदि गुणोंपर कर्मका आवरण चढ़ा हुआ है, जिससे उनके ज्ञान-दर्शन, सुख आदि गुण हीनाधिक रूपमें अभिव्यक्त होते हैं। जब तक जीवके साथ क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायभाव रहते हैं, तबतक जीवके अनन्त ज्ञानादि गुण विकसित नहीं हो पाते। जब संसारी जीवको यह प्रतीति हो जाती है कि यह मेरी दुःखित अवस्था पर-पदार्थके संयोगसे है, तो उस संयोगको हटानेके लिये प्रयत्न करता है। आर्त्त और रौद्र-ध्यानको छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका आराधन करता है। अन-शनादि तप द्वारा अपनी अन्तरंग मलिनताको दूर करता है। जिस प्रकार सोनेको तपानेसे उसमें मिले हुए रजत, ताम्र आदि परसंयोगरूप मैल और कालिमा नष्ट हो जाते हैं और वह सौ टंचका शुद्ध सोना हो जाता है। इसी-प्रकार आत्मध्यान आदि तपोंके द्वारा यह जीव भी अपनी शुद्धि कर लेता है तथा इसके भी क्रोध, मान, अज्ञान आदि असंयमरूपी मैल समाप्त हो जाते हैं।

बाहरी गन्ध, रंग आदिकी तनिक भी मिलावट न होनेपर वर्षाका जल एक समान रहता है, उसी प्रकार पूर्ण शुद्ध आत्मा मुक्त जीव भी सब परस्परमें समान होते हैं। मुक्त जीवके ज्ञान-दर्शन, सुख और वीर्य पूर्णतया विकसित रहते हैं। पर संसारी जीवमें इन गुणोंकी हीनाधिक रूपमें अभिव्यक्ति देखी जाती है।

मुक्त जीव सभी प्रकार आकुलताओं और व्याकुलताओंसे छूटकर

आत्माके ज्ञान, सुख आदि गुणोंमें लीन रहते हैं। इन्हें वचनातीत सुख प्राप्त होता है।

संसारी जीव क्षुधा-तृषा, रोग-शोक, बध-बन्धन आदिके दुःखोंसे व्याकुल रहते हैं और कर्मानुसार उन्हें अनेक प्रकारकी आकुलताएँ प्राप्त होती रहती हैं। कर्म-बन्धके कारण जीवकी परतन्त्र दशा ही संसार है। यह जीव अपने ही राग-द्वेष, मोहभावोंसे अपने लिये कर्मोंका बन्धन निर्मित करता है और इस कर्म-चक्रके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करता है। बालक, युवक, वृद्ध होता हुआ अनेक प्रकारसे दुःख उठाता है। संसारी जीव आवागमन—जन्म-मरणजन्य दुःखोंमें लिप्त रहता है।

मुक्त जीव कर्म-बन्धनसे पूर्णतया निवृत्त होकर आत्म-स्वातन्त्र्यको प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पूर्ण स्वातन्त्र्य ही सबसे बड़ा सुख है। जब कर्मजन्य जीवकी परतन्त्रता छूट जाती है, तो मुक्त जीव लोकाग्रभावमें स्थित होकर शाश्वत सुखका अनुभव करता है। इस प्रकार कर्म-बन्धन और कर्म-मुक्तिकी दृष्टिसे जीवके उक्त दो भेद हैं।

संसारी जीव : भेद-प्रभेद

संसारी जीवके मूल दो भेद हैं:—(१) त्रस और (२) स्थावर। द्वीन्द्रिय जीवसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी त्रस कहलाते हैं। जीवविपाकी त्रसनाम-कर्मके उदयसे उत्पन्न वृत्ति-विशेषवाले जीव त्रस हैं। अपने रक्षार्थ स्वयं चलने-फिरनेकी शक्ति त्रसजीवोंमें रहती है। त्रसजीव लोकके मध्यमें एक राजू विस्तृत और चौदह राजू लम्बी त्रसनालीमें निवास करते हैं।

त्रसजीवोंके दो भेद हैं:-(१) विकलेन्द्रिय और (२) सकलेन्द्रिय। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंको विकलेन्द्रिय माना जाता है। पंचेन्द्रिय जीवोंकी गणना सकलेन्द्रियमें है। द्वीन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, तीन इन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ और चतु-रिन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। लट, शंख आदि जीव द्वीन्द्रिय, चीटीं आदि त्रीन्द्रिय और भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय माने गये हैं।

सकलेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। इनके भी दो भेद हैं:—(१) संज्ञी और (२) असंज्ञी। जिनके मन है और सोचने-विचारनेकी विशिष्ट शक्ति है, वे संज्ञी कहलाते हैं और जिनके मन या सोचने-विचारनेकी शक्ति नहीं है, वे असंज्ञी कहलाते हैं। सभी त्रसजीव बादर

होते हैं, पर अनन्तानन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित औदारिक नवकर्म-स्कंधोंसे रहित वे विग्रहगतिमें सूक्ष्म होते हैं।

स्थावरजीव एकेन्द्रिय होते हैं। स्थावरनामकर्मके उदयसे स्थावरजीव-पर्याय प्राप्त होती है। स्थावरजीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। इनके पाँच भेद हैः—

(१) पृथ्वीकायिक—जिनका शरीर पार्थिव—पृथ्वीरूप होता है। यथा—पत्थर, लोहा, सोना, चाँदी आदि खनिज पदार्थ।

(२) जलकायिक या अप्कायिक—जलके रूपमें जिनका शरीर होता है। यथा—जल, बर्फ, ओस, ओला आदि।

(३) अग्निकायिक—अग्निरूप जिनका शरीर होता है। यथा—विद्युत्, दीपक, अंगारा इत्यादि।

(४) वायुकायिक—वायु या पवनके रूपमें जिनका शरीर रहता है।

(५) वनस्पतिकायिक—जिन जीवोंका शरीर वनस्पतिके रूपमें हो। यथा—वृक्ष, लता, वीरुध आदि।

पृथ्वीकायिक जीवोंकी सिद्धि प्रत्यक्षद्वारा होती है। पर्वत पहले पृथ्वीके तुल्य थे। पश्चात् बढ़ते-बढ़ते ऊँचे होते गये और ये निरन्तर वृद्धिगत हो रहे हैं। खानोंमेंसे पत्थर निकालते रहते हैं, पर जब उन खानोंको खोदना बन्द कर दिया जाता है, तो उन खानोंके पत्थर पुनः बढ़ने लगते हैं। शरीरकी वृद्धि उसी पदार्थकी होती है, जिसमें जीव रहता है। खानसे पृथक् कर देनेपर पत्थरोंका बढ़ना भी रुक जाता है। अतः प्रमाणित होता है कि खनिज पदार्थ खानमें रहते हुए सजीव रहते हैं, अन्यथा उनकी शारीरिक वृद्धि और ह्रास सम्भव नहीं था। जब पत्थरों या लोहादि अन्य पदार्थोंको खोदकर खानसे बाहर निकाल लिया जाता है, तब वे निर्जीव हो जाते हैं।

इसी प्रकार जल जबतक अपने शीतल रूपमें कुएँ, तालाब आदिमें रहता है, सजीव होता है और अग्निसे गर्मकर लेनेपर निर्जीव हो जाता है। अग्नि और वायुके भी इसी प्रकार सजीव और निर्जीव दो-दो रूप हैं।

पेड़-पौधे, लता आदि जबतक हरे रहते हैं, उनके शरीरमें वृद्धि होती रहती है। बीजसे अंकुर, अंकुरसे पौधा और पौधेसे वृक्ष बन जाता है। समय पाकर वह वृक्ष सूख भी जाता है। इस प्रकार वनस्पतिकायके भी सजीव और निर्जीव दो भेद हैं। जब वनस्पतिकायिक निर्जीव हो जाता है, तो गेहूँ, जौ, चना आदि अन्न प्राप्त होते हैं। ये स्थावर जीव स्पर्शन (त्वचा), कायबल—शरीर

बल, श्वासोच्छ्वास और आयु इन चार प्राणोंसे युक्त हैं। जीवके दश प्राण माने जाते हैं:—(१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु, (५) कर्ण, (६) कायबल, (७) वचनबल, (८) मनोबल, (९) आयु और श्वासोच्छ्वास। इन दश प्राणोंमेंसे एकेन्द्रिय जीवके चार प्राण, दो इन्द्रियके छह प्राण, तीन इन्द्रियके सात प्राण, चार इन्द्रियके आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियके नव प्राण और और संज्ञी पंचेन्द्रियके दश प्राण होते हैं। असंज्ञी या असैनी पंचेन्द्रिय जीव मनशक्तिके अभावमें शिक्षा-उपदेश आदिको ग्रहण करनेमें असमर्थ रहते हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव शिक्षा उपदेश आदिको ग्रहण करते हैं।

ये सभी त्रस और स्थावर जीव अपने-अपने शरीरके प्रमाण होते हैं। जिस जीवको हाथीका शरीर प्राप्त हुआ है, वह जीव उस शरीरमें फैलकर रहता है। यदि वह हाथी मरकर चींटी हो जाये, तो वह जीव सिकुड़ कर चींटीके शरीरमें समाहित हो जाता है। जीवका समस्त शरीर आत्मप्रदेशोंसे व्याप्त रहता है। न तो आत्माके प्रदेश शरीरसे बाहर रहते हैं और न शरीरका कोई भी अंश आत्मप्रदेशोंसे खाली रहता है।

यों तो जीवसमासकी अपेक्षा जीवोंके एकाधिक—अनेक भेद हैं, पर गतिकी अपेक्षा जीवके भेदोंका विचार करना आवश्यक है। जीवकी संसारदशा चार गतियोंकी अपेक्षासे जानी जाती है। वे चार गतियां हैं (१) मनुष्यगति, (२) देवगति, (३) तिर्यंचगति और (४) नरकगति।

जिस समय जीव मनुष्य—पुरुष या स्त्रीके शरीरमें रहता है, उस समय उसकी मनुष्यगति होती है। मनुष्य घोर पापकर नरक भी जा सकता है, शुभकर्म करके देव भी हो सकता है। अल्प पाप करके पशुशरीर भी प्राप्त कर सकता है और अल्प शुभकर्म करके पुनः मनुष्यभव प्राप्त कर सकता है। प्रबल तपस्या द्वारा कर्म-बन्धन नष्टकर मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। आशय यह है कि मनुष्यगति वह चौरस—चतुष्पथ है, जहाँसे समस्त गतियोंकी ओर यात्रा की जा सकती है। इसी कारण मनुष्यभवको सबसे उत्तम माना गया है।

जीव जब देव-शरीरको प्राप्त करता है, तब उसकी देवगति होती है। देवको जन्मसे ही अवधिज्ञान—इन्द्रिय सहायताके बिना मूर्तिक पदार्थोंको जाननेकी शक्ति—होता है। उनका शरीर सुन्दर, स्वस्थ, विक्रियाऋद्धि-सम्पन्न और सुखी होता है। देव यदि पाप संचय करें, तो तिर्यंच योनिमें जन्म लेते हैं और शुभ कर्मोदयसे उनको मानव शरीर प्राप्त होता है। देवगतिसे च्युत जीव न तो नरकमें जन्म ग्रहण करता है और न पुनः देव होता है।

नरकमें उत्पन्न होना नरकगति है। नरक दुःखमय स्थान है। यहाँका

वातावरण सब प्रकारसे दुःखदायक है। यहाँकी प्रकृति भी दुःखदायी रहती है। शीत-उष्णता भयंकर होती है। नारकी जीव परस्परमें सदा युद्ध और कलह करते रहते हैं तथा आपसमें मार-पीट करते रहते हैं। इस प्रकार नरकमें एक क्षणको भी जीवको शान्ति नहीं मिलती है। यहाँ क्षुधा-तृषाजन्य अपार वेदना भी रहती है। नरकसे निकलकर जीव तिर्यंच या मनुष्यगति ही प्राप्त करता है। नारकी जीव न तो देवगति ही प्राप्त कर सकता है और न पुनः नरकगति ही प्राप्त करता है। एकाध भवके पश्चात् उसे नरक या देवगतिकी प्राप्ति होती है। इन तीनों गतियोंमें सभी प्राणी संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं।

उक्त तीनों गतियोंके अतिरिक्त अन्य जितने प्राणी हैं वे तिर्यंच गतिके हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय जीव तो तिर्यंचगतिमें ही होते हैं, अन्य किसी गतिमें नहीं। सैनी पंचेन्द्रिय पशुओंमें मगर, मत्स्य, घड़ियाल आदि जीव जलचर, तोता, कबूतर, मयूर, चिड़िया आदि आकाशमें उड़नेवाले जीव नभचर एवं गाय-घोड़ा, बंदर, चूहा, साँप, कुत्ता आदि जीव थलचर कहलाते हैं। तिर्यंचगतिके संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके जलचर, नभचर और थलचर ये तीन भेद किये गये हैं। जीवोंका विचार और भी विस्तारके साथ किया जा सकता है, पर संक्षेपमें जीवोंकी यही मीमांसा है। इस जीव-विज्ञानका उपयोग अहिंसा आचरणमें किया जाता है। जो प्राणी उपयोगिताकी दृष्टिसे जितना अधिक विशिष्ट होता है, उसकी हिंसामें उतना ही अधिक पापार्जन होता है। यों तो हिंसा और अहिंसाका सबंध भावोंके साथ है। पर प्राणियोंकी उपयोगिताको दृष्टि भी अध्ययनीय है।

पुद्गल : निरूपण

जिसमें 'पूरण'—बाहरी अंश मिलनेकी शक्ति और 'गलन'—गल जानेकी शक्तिकी क्रिया होती रहती है। अर्थात् जो टूटता-फूटता और मिलता रहता है, उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गलमें रूप-रस-गंध और स्पर्श ये चार गुण अवश्य होते हैं। जो द्रव्य स्कंध अवस्थामें 'पूरण'—अन्य-अन्य परमाणुओंसे मिलना और 'गलन'-कुछ परमाणुओंका बिछुड़ना, इस प्रकार उपचय और अपचयको प्राप्त होता है, वह पुद्गल कहलाता है। यह समस्त दृश्य जगत् पुद्गलका ही विस्तार है। मूलदृष्टिसे पुद्गल परमाणुरूप है। अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो स्कंध तैयार होता है, वह संयुक्त द्रव्य कहलाता है। पुद्गलपरमाणु जब-तक अपनी बन्धशक्तिसे शिथिल या निविडरूपमें एक-दूसरेसे जुटे रहते हैं, तब-तक स्कंध कहलाते हैं। इन स्कंधोंका बनाव और बिगाड़ परमाणुओंकी बन्ध-शक्ति और भेदशक्तिके कारण होता है। परमाणुओंकी बन्ध-व्यवस्थाकी निम्नलिखित स्थितियाँ हैं:—

(१) स्निग्ध और रूक्षका संयोग—इसे विषम वैद्युत् प्रकृतिजन्य कारण माना जाता है।

(२) जघन्य या शून्य वैद्युत् प्रकृतिके परमाणुओंमें बन्धाभाव। जघन्य गुण-वाले परमाणुओंमें बन्ध नहीं होता।

(३) सदृश परमाणुओंका गुण साम्य होनेपर बन्धाभाव रहता है।

पुद्गलबन्ध-प्रक्रिया

पुद्गलको बन्ध-व्यवस्था बहुत ही विस्तृत है। गुणशब्द शक्ति अंशका पर्यायवाची है। पुद्गलके प्रत्येक गुणकी पर्याय एक-सी नहीं रहती, प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है। अतएव बन्धकी योग्यतापर विचार करना आवश्यक है। जिन परमाणुओंमें स्निग्ध और रूक्ष पर्याय जघन्य हो, उनका बन्ध नहीं होता। वे तबतक परमाणु दशामें ही बने रहते हैं, जबतक उनकी जघन्य पर्याय परिवर्तित नहीं हो जाती। इससे स्पष्ट है कि जिनकी जघन्य पर्याय नहीं होती, उन परमाणुओंका बन्ध हो सकता है। बन्धकी योग्यता रहनेपर भी समान शक्ति अंशवाले परमाणुओंका बन्ध नहीं होता। संक्षेपमें असमान शक्ति अंश-वाले सदृश परमाणुओंका और समान शक्ति अंशवाले विशदृश परमाणुओंका बन्ध सम्भव है। यों तो दो शक्ति-अंश अधिक होनेपर एक पुद्गलका दूसरे पुद्गलसे बन्ध होता है। उदाहरणके लिये यों कहा जा सकता है कि एक पर-माणुमें स्निग्ध या रूक्ष गुणके दो शक्ति-अंश हैं और दूसरे परमाणुमें चार शक्ति-अंश हैं, तो इन दोनों परमाणुओंका बन्ध सम्भव है। एक परमाणुमें स्निग्ध या रूक्ष गुणके तीन शक्ति-अंश हैं और दूसरे परमाणुमें पाँच शक्ति-अंश हैं, तो इन दोनों परमाणुओंका भी बन्ध हो सकता है। प्रत्येक अवस्थामें बधनेवाले पुद्-गलोंमें दो शक्ति-अंशोंका अन्तर होना चाहिये। इससे न्यून या अधिक अंतरके होनेपर बन्ध नहीं होता। बन्ध सदृश और विशदृश दोनों प्रकारके पुद्गलोंका परस्परमें होता है। सदृशका अर्थ समान जातीय और विसदृशका अर्थ असमान जातीय है। एक रूक्ष पुद्गलके प्रति दूसरा रूक्ष पुद्गल समान जातीय है और स्निग्ध पुद्गल असमान जातीय है। इसी तरह एक स्निग्ध पुद्गलके प्रति दूसरा स्निग्ध पुद्गल समानजातीय है और रूक्ष पुद्गल असमानजातीय है। इस प्रकार परमाणुकी बन्ध-व्यवस्था अवगत करनी चाहिए।

प्रत्येक परमाणुमें स्वभावतः एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श-गुण हैं। पुद्गलके बीस गुण माने गये हैं—पाँच रूप, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श। पाँच रूपोंमें काला, नीला, पीला, श्वेत और लालकी गणना है। तिक्त—चरपरा, आम्ल—खट्टा, कटुक—कडुवा, मधुर—मोठा और कषाय—कसैला ये पाँच

रस हैं। सुगंध और दुर्गंध दो प्रकारके गंध हैं। कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण; स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं।

पुद्गलकी परमाणु अवस्था—स्वाभाविक पर्याय है और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय है।

पुद्गलके भेद

पुद्गलके (१) स्कन्ध, (२) स्कन्धदेश, (३) स्कन्धप्रदेश और (४) परमाणु ये चार विभाग हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कंध देश और स्कंधदेशका आधा स्कंधप्रदेश होता है। परमाणु सर्वतः अविभागी होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, इन्द्रियोंके विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गलद्रव्यके ही विविध परिणाम हैं।

स्कन्धके भेद

अपने परिणमनकी अपेक्षा पुद्गल स्कन्धोंके छः भेद हैं। स्कन्ध दोसे अधिक परमाणुओंके संश्लेषसे बनता है। त्र्यणुक आदि स्कन्ध परमाणुओंके संश्लेषसे भी बनते हैं तथा विविध स्कन्धोंके संश्लेषसे भी। अन्त्य स्कंधके अतिरिक्त शेष सभी स्कंध परस्पर कार्यरूप भी हैं और कारणरूप भी। जिन स्कंधोंसे बनते हैं उनके कार्य हैं और जिन्हें बनाते हैं, उनके कारण भी।

१. **बादर-बादर**—स्थूल-स्थूल:–जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं न मिल सकें, वे लकड़ी, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि बादर-बादर हैं। ऐसे ठोस पदार्थ जिनका आकार, प्रमाण और घनफल नही बदलता, बादर-बादर कहलाते हैं।

२. **बादर-स्थूल**—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं आपसमें मिल जायँ, वे बादर-स्थूल स्कन्ध हैं। यथा—दूध, घी, जल, तैल आदि द्रवपदार्थ, जिनका केवल आकार बदलता है, घनफल नहीं, वे बादर कहलाते हैं।

३. **बादर-सूक्ष्म**—स्थूल-सूक्ष्म –जो स्कन्ध देखनेमें स्थूल हों, पर जिनका छेदन, भेदन और ग्रहण न किया जा सके, वे बादर-सूक्ष्म कहलाते हैं। यथा छाया, प्रकाश, अन्धकार आदि। आशय यह है कि जो केवल नेत्र इन्द्रियसे गृहीत हो सके और जिनका आकार भी बने, किन्तु पकड़में न आवें, वे बादर-सूक्ष्म पुद्गल कहलाते हैं।

४. **सूक्ष्म-बादर**—सूक्ष्म-स्थूल—जो सूक्ष्म होनेपर भी स्थूलरूपमें दिखलायी पड़ें, ऐसे पाँचों इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म-बादर स्कन्ध हैं। जैसे ताप, ध्वनि आदि ऊर्जाएँ।

५. **सूक्ष्म**—जो स्कन्ध सूक्ष्म होनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हों, वे कार्मण-वर्गणाएँ आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

६. **सूक्ष्म-सूक्ष्म**[1]—कार्माणवर्गणासे भी छोटे द्व्यणुक स्कन्ध तक सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं।

परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अविभागी है, शब्दका कारण होकर भी स्वयं अशब्द है और शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्यय युक्त है। परमाणुमें भी त्रयात्मकता पायी जाती है।

पुद्गलपर्याय

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत, और गर्मी आदि पुद्गलद्रव्यकी पर्यायें हैं।[2]

शब्द पुद्गलद्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे धारण किया जाता है, पुद्गलसे रुकता है, पुद्गलोंको रोकता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनुकम्पन उत्पन्न करता है, अतः शब्द पौद्गलिक है। स्कन्धोंके परस्पर संयोग, संघर्षण और विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदिके संयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। शब्दके उत्पादक, उपादानकारण तथा स्थूल निमित्तकारण दोनों ही पौद्गलिक हैं।

दो स्कन्धोंके संघर्षसे शब्द उत्पन्न होता है, वह आस-पासके स्कन्धोंको अपनी शक्तिके अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् संघर्षके निमित्तसे उन स्कन्धोंमें भी शब्दपर्याय उत्पन्न हो जाती है। शब्द बीची-तरंग न्यायसे श्रोताके कर्णप्रदेशको प्राप्त होता है।

शब्द केवल शक्ति नहीं है, अपितु शक्तिमान् पुद्गलस्कन्ध है, जो वायुस्कन्धके द्वारा देशान्तरको जाता हुआ आस-पासके वातावरणको झनझनाता है। शब्दके पौद्गलिकत्वकी सिद्धि अनुभव द्वारा भी होती है। निश्छिद्र बन्द कमरेमें आवाज करनेपर वह वहीं गुँजती रहती है, बाहर नहीं निकलती। यन्त्रों द्वारा शब्दतरंगोंको देखा जा सकता है। अतः शब्द अमूर्त्त आकाशका गुण न होकर पौद्गलिक है।

---

१. बादरबादर बादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च।
सुहमं च सुहमसुहमं च धरादियं होदि छब्भेयं॥

—जीवकाण्ड, गाथा ६०२.

२. शब्दबन्धसौक्ष्म्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।

—तत्त्वार्थसूत्र, ५।२४.

शब्दके भाषात्मक और अभाषात्मक दो भेद हैं। भाषात्मक शब्दके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेद हैं। बोल-चालमें आनेवाली विविध प्रकारकी भाषाएँ, जिनमें ग्रन्थरचना होती है, वे अक्षरात्मक हैं। द्वीन्द्रिय आदि प्राणियोंके जो ध्वनिरूप शब्द उच्चरित होते हैं, वे अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्दके वैस्रसिक और प्रायोगिक ये दो भेद हैं। मेघ आदिकी गर्जना वैस्रसिक शब्द हैं और प्रायोगिक शब्द चार प्रकारके हैं:—तत, वितत, घन और सुषिर। चमड़ेसे मढ़े हुए मृदँग, भेरी और ढोल आदिका शब्द तत हैं। ताँतवाले वीणा, सारंगी सादि वाद्योंका शब्द वितत है। झालर, घण्टा आदिका शब्द घन है और शंख, बाँसुरी आदिका शब्द सुषिर है।

विज्ञानके आलोकमें शब्दके दो भेद हैं:-(१) कोलाहल और (२)संगीतध्वनि। इनमेंसे कोलाहल वैस्रसिक वर्गमें गर्भित हो जाता है। संगीतध्वनिका उद्भव चार प्रकारसे माना जाता है:—(१) तन्त्रोंके कम्पन, (२) तननके कम्पन, (३) दण्ड और पट्टिकाके कम्पन और (४) जिह्वालके कम्पनसे।

शब्द आकाशका गुण नहीं है, यह पौद्गलिक है—इसे पुद्गलकी पर्याय माना जाता है। यह स्वयं द्रव्यकी पर्याय है, और पर्यायका आधार पुद्गल स्कन्ध है। अमूर्त्त आकाशका गुण माननेपर शब्द भी अमूर्त्त हो जायगा।

बन्ध : पुद्गलपर्याय

एक दूसरेके साथ बंधना भी पुद्गलको पर्याय है। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमनवाले अनन्तानन्त परमाणुओंके परस्पर संयोग और विभागसे कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्वके रंगमंचपर प्रतिक्षण हो रहे हैं। इलेक्ट्रोन और प्रोटोन एटममें अविराम गतिसे चक्कर लगाते रहते हैं, वे सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्धमें बाँधे हुए परमाणुओंका ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रमसे जब जैसी कारणसामग्री प्राप्त कर लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं।

परस्पर श्लेषरूप बन्धके वैस्रसिक और प्रायोगिक ये दो भेद हैं। प्रयत्नके बिना विजली, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि सम्बन्धी जो स्निग्ध और रुक्ष गुणनिमित्तक बन्ध होता है, वह वैस्रसिक बन्ध है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकारका है:—(१) अजीवविषयक और (२) जीवाजीवविषयक। लाक्षा—लाख, लकड़ी आदिका बन्धअजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है और कर्म तथा नोकर्मका बन्ध जीवाजीवविषयक प्रायोगिक है। यथार्थतः वस्तुओंका परस्पर मिलकर एक होना बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व : पुद्गलपर्याय

सूक्ष्मता और स्थूलता भी पुद्गलकी पर्यायें हैं; यतः इनकी उत्पत्ति पुद्गलसे ही होती है। जो वस्तु नेत्रसे दिखलायी न पड़े अथवा कठिनाईसे दिखलायी पड़े वह सूक्ष्म कहलाती है। इसके दो भेद हैं:—१. अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व, २. आपेक्षिक सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व।

परमाणु अन्त्य सूक्ष्मत्वका और जगद्व्यापी महास्कन्ध स्थूलत्वका उदाहरण हैं। बेल, आँवला, और बेर आपेक्षिक सूक्ष्मत्वके और इनके विपरीत बेर, आँवला और बेल आपेक्षिक स्थूलत्वके उदाहरण हैं। सूक्ष्मत्वके उदाहरणमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और स्थूलत्वके उदाहरणमें उत्तरोत्तर स्थूलता हैं। ये दोनों पौद्गलिक हैं।

संस्थान : पुद्गलपर्याय

संस्थानशब्दका अर्थ आकार या आकृति है। आकार पुद्गलद्रव्यमें ही उत्पन्न होता है, अतः इसे पुद्गलकी पर्याय कहा है। संस्थानके दो भेद हैं:—(१) इत्थंलक्षण संस्थान, (२) अनित्थंलक्षण संस्थान।

जिस आकारका '**यह इस तरहका**' है, इस प्रकारसे निर्देश किया जा सके, वह 'इत्थंलक्षण' संस्थान है और जिसका निर्देश न किया जा सके, वह 'अनित्थंलक्षण' संस्थान है। गोल, त्रिकोण, चौकोर, आयताकार आदि संस्थानोंके आकारोंका निर्देश करना सम्भव है, अतः यह 'इत्थंलक्षण' संस्थान है। मेघ आदिका संस्थान—आकार अवश्य है, पर उसका निर्धारण संभव नहीं, अतः यह 'अनित्थंलक्षण' संस्थान है।

संस्थान पुद्गलस्कन्धोंमें ही संभव है, पुद्गलस्कन्धोंके अभावमें संस्थानका-निर्धारण नहीं होता है। अतएव विभिन्न आकृतियाँ पुद्गलकी पर्याय हैं।

भेद : पुद्गलपर्याय

पुद्गल पिण्डका भंग होना भेद है। पुद्गलके विभिन्न भंग—टुकड़े उपलब्ध होते हैं, अतः भेदको भी पुद्गल-पर्याय कहा गया है। भेदके छह प्रकार हैं:—

१. उत्कर—बुरादा—लकड़ी या पत्थर आदिका करोंत आदिसे भेद करना।

२. चूर्ण—गेहूँ आदिका सत्तू या आटा।

३. खण्ड—घट आदिके टुकड़े-टुकड़े हो जाना खण्ड है।

४. चूर्णिका—दालरूपमें टुकड़े, उड़द, मूँग आदिकी दाल।

५. प्रतर—मेघ, भोजपत्र, अभ्रक और मिट्टी आदिकी तहें निकालना प्रतर है।

६. अणुचटन—स्फुलिङ्ग—गर्म लोहे आदिमें घन मारना अथवा शान धरते समय स्फुलिङ्गोंका निकलना।

भंगके और भी भेद संभव हो सकते हैं, ये सभी पुद्गलकी पर्यायोंमें परिगणित हैं। वस्तुतः यह सारा संसार पुद्गलका ही क्रीड़ा-क्षेत्र है। पुद्गल अनेक रूपों और विभिन्न आकृतियोंमें अपना कार्य सम्पादित करता है।

प्रकाश-अन्धकार : पुद्गलपर्याय

सूर्य, चन्द्र, बिजली, दीपक आदिके सम्बन्धसे पुद्गल-स्कन्धोंमें नेत्रोंसे देखने योग्य जो परिणमन होता है, वह प्रकाश है और सूर्य आदिके अभावमें जो पुद्गल-स्कन्ध काले (अन्धकारके) रूपमें परिवर्तित होते हैं, वह अन्धकार है। प्रकाश और अन्धकार मूर्तिक हैं,) यतः इनका अवरोध किया जा सकता है। तम और अन्धकार एकार्थक हैं और प्रकाशके प्रतिपक्षी हैं। क्योंकि प्रकाश-पथमें सघन पुद्गलोंके आजानेसे अन्धकारकी उत्पत्ति होती है। अतएव ये दोनों पौद्गलिक हैं।

छाया : पुद्गल-पर्याय

सूर्य, दीपक, विद्युत् आदिके कारण आस-पासके पुद्गलस्कंध भासुररूप धारण कर प्रकाशस्कन्ध बन जाते हैं। जब कोई स्थूलस्कन्ध इस प्रकाश-स्कन्धको जितनी जगहमें अवरुद्ध रखता है, उतने स्थानके स्कन्ध काला रूप धारण कर लेते हैं, यही छाया है। छायाकी उत्पत्ति पारदर्शक अण्वीक्षोंके प्रकाश-पथमें आ जानेसे अथवा दर्पणमें प्रकाशके परावर्त्तनसे होती है। इस छायाके निम्नोक्त भेद हैं :—

(१) वास्तविक प्रतिबिम्ब—प्रकाश-रश्मियोंके मिलनेसे वास्तविक प्रतिबिम्ब बनते हैं।

(२) अवास्तविक प्रतिबिम्ब—समतल दर्पणमें प्रकाशरश्मियोंके परावर्त्तनसे बनते हैं।

छाया पुद्गलजन्य है, अतः पुद्गलकी पर्याय है।

आतप-उद्योत : पुद्गल-पर्याय

सूर्य आदिका उष्ण प्रकाश आतप कहलाता है और चन्द्र, मणि एवं जुगनू आदिका शीत प्रकाश उद्योत कहलाता है। अग्निसे इन दोनोंमें अन्तर है।

अग्नि स्वयं उष्ण होती है और उसकी प्रभा भी उष्ण होती है, किन्तु आतप और उद्योतके विषयमें यह बात नहीं है। आतप मूलमें ठंडा होता है, पर उसकी प्रभा उष्ण होती है। उद्योतकी प्रभा भी ठंडी होती है और मूल भी। आतपमें ऊर्जाका अधिकांश तापकिरणोंके रूपमें प्रकट होता है और उद्योतमें अधिकांश उर्जा प्रकाश-किरणोंके रूपमें प्रकट होती है।

संक्षेपमें बंधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोर, तिकोन, आयताकार आदि विभिन्न आकृतियाँ; सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषाकी लाली आदि पुद्गल-स्कन्धोंकी पर्यायें हैं। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमनशील अनन्तानन्त परमाणुओंके परस्पर संयोग और विभाग पुद्गलरूप हैं। पुद्गलके विभिन्न प्रकारके परिणमनोंके कारण ही इस सृष्टिकी व्यवस्था चल रही है। अतः पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आदि भी पुद्गलके अन्तर्गत हैं। प्रकाश, गर्मी, उद्योत, आतप प्रभृति शक्तियाँ किसी ठोस आधारमें रहनेवाली हैं और यह आधार पुद्गल-स्कन्ध ही है। शक्तियाँ जिन माध्यमोंसे गति करती हैं, उन माध्यमोंको स्वयं उस रूपसे परिणत कराती हुई हो जाती हैं। अतएव पुद्गल आधारके बिना इनकी भी उत्पत्ति संभव नहीं है।

पुद्गलके अन्य भेद

पुद्गल जातीय स्कन्धोंमें विभिन्न प्रकारके परिणमन होनेसे पुद्गलके २३ वर्गणात्मक भेद हैं[१]:—(१) अणुवर्गणा, (२) संख्याताणुवर्गणा, (३) असख्याताणुवर्गणा, (४) अनन्ताणुवर्गणा, (५) आहारवर्गणा, (६) अग्राह्यवर्गणा, (७) तैजसवर्गणा, (८) अग्राह्यवर्गणा, (९) भाषावर्गणा, (१०) अग्राह्यवर्गणा (११) मनोवर्गणा, (१२) अग्राह्यवर्गणा, (१३) कार्मणवर्गणा, (१४) ध्रुववर्गणा, (१५) सान्तरनिन्तरवर्गणा, (१६) शून्यवर्गणा, (१७) प्रत्येकशरीरवर्गणा (१८) ध्रुवशून्यवर्गणा, (१९) बादरनिगोदवर्गणा, (२०) शून्यवर्गणा, (२१) सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, (२२) नभोवर्गणा और (२३) महास्कन्धवर्गणा।

इन तेईस वर्गणाओंमें आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच ग्राह्यवर्गणाएँ हैं।[२] इन वर्गणाओंमें ऐसा नियम नहीं है कि जो परमाणु एक बार कर्मवर्गणारूप परिणत हुए हैं, वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेंगे, अन्यरूप नहीं होंगे या अन्यपरमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी मूल योग्यताओंके अनुसार जिस-जिस प्रकारकी सामग्री एकत्र होती

---

१. गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा ५९३ और ५९४.

२. वही, गाथा ५९५.

जाती है, उस-उस प्रकारका परिणमन सम्भव है। जो परमाणु शरीर अवस्थामें नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वे ही परमाणु मृत्युके अनन्तर शरीरके भस्म कर देनेपर अन्य अवस्थाओंको प्राप्त हो जाते हैं। एकजातीय द्रव्यमें उस द्रव्यके विशेष परिणमनोंपर बन्धन नहीं लगाया जा सकता। पुद्गलके स्कन्धोंमें स्वभावतः परिणमन होता रहता है, जिससे उनकी अवस्थाएँ निरन्तर परिवर्त्तित होती रहती हैं।

स्कन्ध और परमाणु : उत्पत्ति-कारण

स्कन्धकी उत्पत्ति तीन प्रकारसे होती है:—

(१) संघात—पृथक्-पृथक् द्रव्योंकी एकत्व प्राप्तिसे।

(२) भेद—खण्ड-खण्ड होनेसे।

(३) भेद-संघात—एक ही साथ हुए भेद और संघात दोनोंसे।

पृथक्-पृथक् द्रव्योंकी एकत्व प्राप्ति परमाणुओं परमाणुओंकी भी होती हैं, परमाणु और स्कन्धोंकी भी होती है और स्कन्धों स्कंधोंकी भी। जब दो या दो से अधिक परमाणु मिलकर स्कंध बनता है, तब परमाणुओंके संघातसे स्कन्धकी उत्पत्ति मानी जाती है। दो स्कंधोंके मिलनेसे तृतीय स्कंधका निर्माण होता है, तो स्कंधके संघातसे स्कंधकी उत्पत्ति मानी जाती है।

बड़े स्कंधके टूटनेसे छोटे-छोटे दो या दो से अधिक स्कंध उत्पन्न होते हैं, ये भेदजन्य स्कन्ध कहलाते हैं। यथा—पत्थरके तोड़नेपर दो या दोसे अधिक टुकड़े होते हैं। इस प्रकारके स्कन्धोंकी उत्पत्ति भेदसे होती है। भेदजन्य स्कंध भी द्व्यणुकसे लेकर अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

जब किसी स्कन्धके टूटनेपर टूटे हुए अवयवके साथ उसी समय अन्य स्कन्ध मिलकर नया स्कन्ध बनता है, तब वह स्कन्ध भेदसंघातजन्य कहलाता है। भेदसंघातजन्य स्कन्ध भी द्व्यणुकसे अनन्ताणुक तक संभव हैं। अचाक्षुष स्कन्ध-भेद और संघातसे चाक्षुष हो जाते हैं।

अणु : उत्पत्ति

अणुकी उत्पत्ति केवल भेदसे होती है, इसका कारण यह है कि अणु पुद्गल द्रव्यकी स्वाभाविक अवस्था है, अतः इसकी उत्पत्ति संघात—मिलनसे नहीं, भेद—टूटनेसे ही संभव है।

परमाणु : गतिशीलता

पुद्गलपरमाणु स्वभावतः क्रियाशील है। इसकी गति तीव्र, मन्द एवं

मध्यम आदि अनेक प्रकारकी होती है। परमाणु या अणुमें वजन–भार भी होता है, पर उसकी अभिव्यक्ति स्कन्धावस्थामें ही होती है। जिस प्रकार स्कन्धोंमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्था-भेदके कारण सम्भव होते हैं, उसी प्रकार अणु भी अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार दृश्य और अदृश्यरूप अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको स्वयमेव धारण करता है। इसमें जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीचके पड़ावमें पुरुषप्रयत्नका प्रभाव पड़ता है, पर योग्यताके आधारपर स्थूल कार्य-कारणभाव नियत है।

पुद्गल : कार्य

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासका निर्माण पुद्गल द्वारा होता है। शरीरकी रचना पुद्गल द्वारा हुई है। वचनके दो भेद हैं:—(१) भाववचन, (२) द्रव्यवचन। भाववचन वीर्यान्तराय तथा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे एवं अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे होता है। यह पुद्गल सापेक्ष होनेसे पौद्‌लिक है। पूर्वोक्त सामर्थ्ययुक्त आत्माके द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल ही द्रव्यवचनरूप परिणमन करते हैं, अतः द्रव्यवचन भी पौद्‌लिक हैं।

मनके दो भेद हैं:—(१) भावमन और (२) द्रव्यमन। लब्धि और उपभोग-रूप भावमन है, यह पुद्गल सापेक्ष होनेके कारण पौद्गलिक है। ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे तथा आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे जो पुद्गल गुण-दोषका विचार और स्मरण आदि कार्योंके सम्मुख हुए आत्माके उपचारक हैं, वे द्रव्यमनसे परिणत होते हैं, अतएव द्रव्यमन भी पौद्गलिक है।

वायुको बाहर निकालना प्राण और बाहरसे भीतर ले जाना अपान कह-लाता है। वायुके पौद्गलिक होनेसे प्राणापान भी पुद्गल द्वारा निर्मित है।

सुख, दुःख, जीवित और मरण भी पुद्गलोंके उपकार हैं। सुख-दुःख जीव-की अवस्थाएँ हैं, इन अवस्थाओंके होनेमें पुद्गल निमित्त है, अतः ये पुद्गलके उपकार हैं। आयुष्कर्मके उदयसे प्राण, अपानका विच्छेद न होना जीवन है और प्राण-अपमानका विच्छेद हो जाना मरण है। प्राणापानादि पुद्गल स्कन्ध-जन्य है, अतः ये भी पुद्गलके उपकार हैं।

धर्मद्रव्य : स्वरूप-विश्लेषण

गतिशील जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमें जो साधारण कारण है, वह धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गलके समान यह भी स्वतन्त्र द्रव्य है। यह निष्क्रिय है। बहुप्रदेशी द्रव्य होनेके कारण इसे अस्तिकाय भी कहा जाता है।

यह धर्मद्रव्य पुण्यका वाची नहीं है। इसके असंख्यात प्रदेश हैं। यह द्रव्यके मूल परिणामीस्वभावके अनुसार पूर्वपर्यायको छोड़ने और उत्तरपर्यायको धारण करनेका क्रम अपने प्रवाही अस्तित्वको बनाये रखते हुए अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। धर्मद्रव्यके कारण ही जीव और पुद्गलोंके गमनकी सीमा निर्धारित होती है। इसमें न रस है, न रूप है, न गन्ध है, न स्पर्श है और न शब्द ही है।[1]

यह जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें उसी प्रकार सहायक है, जैसे जल मछलीके गमन करनेमें। यह एक अमूर्त्तिक समस्त लोकमें व्याप्त स्वतन्त्र द्रव्य है।

अधर्म : स्वरूप

जिस प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायक है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंके ठहरने या स्थितिमें सहायक है। धर्म-द्रव्य जीव और पुद्गलोंके चलनेमें सहायता करता है और अधर्मद्रव्य ठहरनेमें। चलने और ठहरनेकी शक्ति तो जीव और पुद्गलोंमें पायी जाती है, पर बाह्य सहायताके बिना इस शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है।

सहायक होनेपर भी धर्म और अधर्मद्रव्य प्रेरक कारण नहीं हैं, न किसीको बलपूर्वक चलाते हैं और न किसीको ठहराते ही हैं, किन्तु ये दोनों गमन करते और ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंको सहायक होते हैं।[2]

आकाशद्रव्य : स्वरूप

जो जीवादि द्रव्योंको अवकाश प्रदान करता है, वह आकाश है। आकाश अनन्त है, किन्तु जितने आकाशमें जीवादि अन्य द्रव्योंकी सत्ता पायी जाती है, वह लोकाकाश कहलाता है और वह सीमित है। लोकाकाशसे परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहा जाता है। उसमें अन्य किसी द्रव्यका अस्तित्व नहीं है, और न हो सकता है, क्योंकि वहाँ गमनागमनके साधनभूत धर्मद्रव्यका अभाव है।

स्थिति, गमन और रुकावट ये तीनों क्रियाएँ आकाश द्वारा सम्भव नहीं हैं,

---

१. धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं॥
—पञ्चास्तिकाय-गाथा ८३.

२. जह हवदि धम्मदव्वं तह णं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं करणभूदं तु पुढवीव॥
—वही, गाथा ८६.

यतः एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्धरूपमें एक ही प्रकारकी क्रिया सम्भव मानी जा सकती है। क्रियाओंके परस्पर भिन्न होनेपर तो कारण और साधनभूत सामग्रीको भिन्न-भिन्न मानना पड़ेगा। अतएव लोकाकाशमें गमनके लिए धर्मद्रव्य कारण, स्थितिके लिए अधर्मद्रव्य और रुकावटके लिए आकाशद्रव्य साधन है। आकाश वहीं तक गति शील पदार्थोंके गमनमें सहायक है, जहांतक उन तत्त्वोंकी सत्ता पायी जाती है, उसके आगे यह उनके गमनमें रुकावट उत्पन्न करता है।

आकाश समस्त जीवादि द्रव्योंको स्थान देता है अर्थात् ये समस्त जीवादि द्रव्य आकाशमें युगपत् पाये जाते हैं। यों तो पुद्गलादि द्रव्योंमें भी परस्परमें हीनाधिक रूपमें एक दूसरेको अवकाश देते देखा जाता है, किन्तु समस्त द्रव्योंको एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही सम्भव है। इसके अनन्तप्रदेश हैं। इसके मध्यभागमें चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, इसके कारण ही आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश रूपमें विभाजित है। लोकाकाश असख्यात प्रदेशी है और अलोकाकाश अनन्त।

यह निष्क्रिय और अमूर्तिक है। अवकाशदान इसका असाधारण गुण है। दिक्द्रव्य स्वतन्त्र नहीं है। आकाश-प्रदेशोंमें सूर्योदयकी अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंकी कल्पना की जाती है। यह कोई पृथक् द्रव्य नहीं है। आकाश-प्रदेशपंक्तियाँ सब ओर कपड़ेमें तन्तुको तरह श्रेणोबद्ध हैं।

एक पुद्गल परमाणु जितने आकाशको रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। इस नापसे आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होनेके कारण दिशाको स्वतन्त्र द्रव्य माना जाय, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश, उत्तरदेश आदि व्यवहारोंसे 'देशद्रव्य' की सत्ता भी स्वतन्त्र स्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार प्रान्त, जिला और तहसील आदि भी पृथक् द्रव्य मानने पड़ेंगे।

आकाशमें शब्दगुणकी कल्पना भी सम्भव नहीं है। शब्द पौद्गलिक है, यह पहले हो बताया जा चुका है।

आकाशको प्रकृतिका विकार भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही प्रकृतिके घट, पट, पृथ्वी, जल, अग्नि, प्रभृति विकार सम्भव नहीं है। मूर्तिक-अमूर्तिक, रूपी-अरूपी, व्यापक-अव्यापक एवं सक्रिय-निष्क्रिय आदि रूपसे विरुद्ध धर्मवाले एक ही प्रकृतिके विकार सम्भव नहीं हो सकते हैं।

आकाश अन्य द्रव्योंके समान 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस द्रव्य लक्षणसे मुक्त हैं और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरुलघुगुणके कारण पूर्वपर्यायका

विनाश और उत्तरपर्यायका उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अतः आकाश परिणामीनित्य है।

कालद्रव्य : स्वरूप-विश्लेषण

समस्त द्रव्योंके उत्पादिरूप परिणमनमें सहायक 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण वर्त्तना है। यह स्वयं परिवर्त्तन करते हुए अन्य द्रव्योंके परिवर्त्तनमें सहायक होता है। कालद्रव्यके दो भेद हैं:—(१) निश्चयकाल, (२) व्यवहार-काल। निश्चयकाल अपनी द्रव्यात्मकसत्ता रखता है और वह धर्म और अधर्मद्रव्योंके समान समस्त लोकाकाशमें स्थित है।

कालद्रव्य भी अन्य द्रव्योंके समान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षणसे युक्त है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्यके समान वह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक लोकाकाशप्रदेशपर समयभेदसे अनेक द्रव्य स्वीकार किये बिना कार्य नहीं चल सकता है।

कालद्रव्यके कारण ही वस्तुमें पर्याय-परिवर्त्तन होता है। पदार्थोंमें काल-कृत सूक्ष्मतम परिवर्त्तन होनेमें अथवा पुद्‌गलके एक परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमें जितना काल या समय लगता है, वह व्यवहार कालका एक समय है। ऐसे असंख्यात समयोंकी आवलि, संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास, सात उच्छ्वासोंका एक स्तोक, सात स्तोकोंका एक लव, ३८½ लवोंकी नाली, दो नालियोंका एक मुहूर्त्त और तीस मुहूर्त्तका एक अहोरात्र होता है। इसी प्रकार पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत आदि संख्यातकालके भेद हैं। इसके पश्चात् असंख्यातकाल प्रारम्भ होता है, इसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं,

अनन्तकालके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद किये गये हैं। अनन्तका उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तानन्त है।

साततत्त्व : स्वरूप-विचार और भेद

पदार्थ-व्यवस्थाकी दृष्टिसे यह विश्व षट्द्रव्यमय है। पर मुमुक्षुके लिए मुक्ति प्राप्त करनेके हेतु जिस तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता होती है, वे तत्त्व सात हैं। विश्व-व्यवस्थाका ज्ञान होनेपर भी तत्त्वज्ञानके अभावमें मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नहीं है।

जिस वस्तुका जो भाव है, वह तत्त्व कहलाता है। वस्तुके असाधारण स्वरूपभूत स्वतत्त्वको तत्त्व कहते हैं। तत्त्वशब्द भावसामान्यका वाचक[1] है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमें रहता है, अतः उसका भाव तत्त्व कहा जाता है। तथ्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है, उसका उस रूपमें होना, यही यहाँ तत्त्वशब्दका अर्थ है।
तत्त्व सात हैं:—

(१) जीव—ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूप।
(२) अजीव—जड़ द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।
(३) आस्रव—कर्मागमनका द्वार।
(४) बन्ध—कर्मागमनका बन्धरूपमें परिणमन।
(५) संवर—आस्रवका निरोध।
(६) निर्जरा—बंधे हुए कर्मोंका शनैः शनैः विनाश।
(७) मोक्ष—समस्त कर्मोंका विनाश।

तत्त्वनिरूपण : प्रक्रिया और विधि

तत्त्वनिरूपणकी मुख्यतः दो शैलियाँ प्रचलित हैं:—(१) अनुयोगद्वारोंके आधारपर और (२) प्रयोजनीभूतपदार्थोंके आधारपर। सत्, संख्या, क्षेत्र आदि अनुयोगद्वारोंके अनुसार बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीवादिका विश्लेषण-विवेचन-करना प्रथम शैली है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत है।

दूसरी प्रक्रिया आत्मकल्याणके लिए प्रयोजनभूतपदार्थोंके निरूपणकी है। ये प्रयोजनीभूत पदार्थ सात हैं, जिनका निर्देश पूर्वमें किया जा चुका है। अनादिकालसे जीव तथा कर्म-नोकर्मरूप अजीव मिलकर संयुक्त अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं। अतएव इस संयुक्त अवस्थामें जीव और अजीवको समझना सर्व प्रथम प्रयोजनभूत है।

ये तत्त्व अनादि हैं। जिस प्रकार काल अनादि, अनन्त हैं, उसी प्रकार ये तत्त्व भी अनादि हैं। पुण्य और पापका अन्तर्भाव आस्रवतत्त्वमें हो जाता है, अतः सात तत्त्व ही प्रमुख हैं। यों तो आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपमें जीवकी पर्याय हैं और द्रव्यरूपमें पुद्गलकी। जिस

---

१. तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। कथम् ? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्त्तते तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः तथा राजवार्तिकः २।१।६. —सर्वार्थसिद्धि १।२।८.

भेदविज्ञानसे आत्मा और परके विवेकज्ञानसे आचारकी साधना द्वारा केवल-ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उस आत्मा और परमें ये सातों तत्त्व समाहित हो जाते हैं; पर तत्त्वव्यवस्थाको ज्ञात करनेके लिए सातकी जानकारी आवश्यक है।

जिस 'पर'की परतन्त्रताको हटाना है और जिस 'स्व'को स्वतन्त्र करना है, उन 'स्व' और 'पर'के ज्ञानमें ही तत्त्व-ज्ञानकी पूर्णता है। यतः मुक्तिका साधन 'स्व-पर-विवेकज्ञान' है।

जीवका लक्ष्य दुःखोंसे छुटकारा प्राप्तकर शाश्वत सुख—मोक्षको प्राप्त करना है और इस दुःखसे छूटनेके हेतु जिन पदार्थोंकी जानकारी अपेक्षित है, वे पदार्थ तत्त्व कहलाते हैं। दुःख और दुःखनिवृत्ति करनेके सम्बन्धमें सात प्रकारकी जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं:—

(१) स्वतंत्रता प्राप्त करनेवालेका क्या स्वरूप है ?

(२) परतन्त्रता—आवरण करनेवाली वस्तु कौन है और उसका क्या स्वरूप है ?

(३) आवरण करनेवाली वस्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करनेवाले जीव तक कैसे पहुँचती है ?

(४) पहुँचकर वह किस प्रकार बंधती है ?

(५) नवीन कर्मबन्धको रोकनेका क्या उपाय है ?

(६) पूर्वार्जित कर्मोंको कैसे नष्ट किया जा सकता है ?

(७) मुक्तिका क्या स्वरूप है ?

पूर्वोक्त सात तथ्योंकी जानकारी प्रत्येक मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। जिज्ञासाके फलस्वरूप उत्तरमें प्राप्त सात तत्त्व ही प्रयोजनभूत हैं।

आत्मतत्त्व : निरूपण

आत्महित-साधन करना ही जीवका लक्ष्य है और यह लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति। पर मोक्षकी प्राप्ति प्रधानकारणोंके जाने बिना संभव नहीं है। आत्माके यथार्थ स्वरूपका निरूपण किये बिना विकारी आत्माका परिज्ञान नहीं हो सकता है। जिस प्रकार रोगीको जबतक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो, तब तक उसे यह निश्चय ही नहीं हो सकता है कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। रोगके विकारको यथार्थ जानकारी तभी संभव है जब उसे अपनी आरोग्य अवस्थाका परिज्ञान हो जाय।

इस विश्वमें अनन्त आत्माएँ हैं और उनको अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। आत्माएँ किसी विराट् सत्ताका अंश नहीं हैं। सभी आत्माओंका मूल स्वभाव समान हैं, उसमें कोई विलक्षणता नहीं, भेद नहीं। सभी आत्माओंका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध है।

प्रत्येक आत्माका मौलिक स्वरूप एक होनेपर भी संसारकी आत्माओंमें जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह औपपाधिक है। कर्मोंके आवरणकी तारतम्यताके कारण ही आत्माओंमें पारस्परिक भेद दिखलायी पड़ता है। आवरणकी तारतम्यता अनन्त प्रकारकी हो सकती है, अतः आत्माके स्वाभाविक गुणोंके विकास और ह्रासकी अवस्थाएँ भी अनन्त हैं।

स्वानुभवसे आत्माके ज्ञान-दर्शन-चैतन्यरूप अस्तित्वकी सिद्धि होती है। पदार्थोंको जाननेवाली आत्मा है, इन्द्रियाँ नहीं। इन्द्रियाँ तो केवल साधनमात्र हैं। आत्माके चले जानेपर इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं जान पातीं। इन्द्रियोंके नष्ट हो जानेपर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयोंका आत्माको स्मरण रहता है।

जड़ और चेतनमें अन्त्यन्ताभाव है, अतः त्रिकालमें भी आत्मा अचेतन नहीं हो सकती। जिस वस्तुका विरोधी तत्त्व न मिले, उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। चेतनका विरोधी अचेतन पदार्थ है, अतः चेतनका अस्तित्व सिद्ध है।

जिस प्रकार आकाश तीनों कालोंमें अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, उसी प्रकार आत्मा भी तीनों कालोंमें अविनाशी और अवस्थित है। इसका ग्रहण ज्ञान-दर्शन गुणके द्वारा होता है।

चैतन्य आत्माका विशिष्ट गुण है। यह आत्माके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमें प्राप्त नहीं होता। अतः आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है और उसमें पदार्थके व्यापक लक्षण अर्थक्रियाकारित्व और सत् दोनों घटित होते हैं। आत्मामें जाननेकी क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञानका प्रवाह एक क्षणके लिए भी नहीं रुकता।

आत्म-भेद

विकासदशाकी दृष्टिसे आत्माके तीन भेद हैं:—

१. बहिरात्मा—मिथ्यादृष्टि-मिथ्यादर्शी,

२. अन्तरात्मा—सम्यग्दृष्टि-सम्यग्दर्शी,

३. परमात्मा—सर्वदर्शी-सर्वज्ञ।

बहिरात्मा : स्वरूप

जो मिथ्यात्वभावके कारण शरीर, इन्द्रिय, मन आदिके साथ स्त्री, पुत्र आदि पर-पदार्थोंको अपना समझता है, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि होता है और वह शरीर एवं इन्द्रियोंको ही आत्मा समझता है।

आत्माके ज्ञान, ध्यान और अध्ययनरूप सुखामृतको छोड़कर इन्द्रियोंके

सुखको भोगता है, वह बहिरात्मा है[1]। देह, कलत्र, पुत्र और मित्रादिक चेतनाके वैभाविक रूप हैं, इनमें अपनेपनकी भावना करनेवाला बहिरात्मा होता है। मिथ्या-दर्शनसे मोहित जीव अपने परमात्माको नहीं समझता[2] और न उसे निजात्माकी ही प्राप्ति होती है। फलस्वरूप वह परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि करता है।

जो मद, मोह और मानसहित है, राग-द्वेषसे नित्य सन्तप्त रहता है, विषयोंमें अति आसक्त है, वह बहिरात्मा है।[3]

बहिरात्मामें निम्नलिखित तत्त्व विद्यमान रहते हैं:—

१. मिथ्यात्वोदय,

२. तीव्रकषायविष,

३. आत्मा-शरीरके एकत्वकी अनुभूति,

४. हेयोपादेय-विचारशून्य।

मिथ्यात्वगुणस्थानमें जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, सासादन गुणस्थानमें मध्यम बहिरात्मा और मिश्रगुणस्थानमें जघन्य बहिरात्मा कहलाता है। यह बहिर्मुख होता है।

अन्तरात्मा : विवेचन

जिन्हें स्व-पर-विवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्य पदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गयी है, वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जब जीव-की दृष्टि बाह्य विषयसे हटकर अन्तरकी ओर झुक जाती है, तब वह अन्तरात्मा कहलाता है। यह अन्तरात्मा सभी प्रकारसे जल्पोंसे रहित होता है और देहादि-को अपनेसे भिन्न समझता है तथा निजानुभूतिका पान करता है। अन्तरात्माके निम्नलिखित गुण होते हैं:—

---

१. अप्पाणाणज्झाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा॥
देहकलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा॥

—रयणसार-गाथा १३५, १३७.

२. मिच्छा-दंसण-मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ॥

—योगसार, पद्य ७.

३. मदमोहमानसहितः रागद्वेषैर्नित्यसन्तप्तः।
विषयेषु तथा शुद्धः बहिरात्मा भण्यते ह्येषः॥

—ज्ञानसार, पद्य ३०.

१. धर्मध्यानका ध्याता,
२. आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति,
३. शरीर और आत्माके भिन्नत्वकी प्रतीति,
४. आत्मनिष्ठाका पूर्ण सद्भाव,
५. जिनवचनोंका विज्ञता।

अन्तरात्मा : भेद

अन्तरात्माके तीन भेद हैं। इन भेदोंकी कल्पनाका आधार गुणोंका विकास है। आत्मगुण जिस परिस्थितिमें विकसित होते हैं, उसी परिस्थितिके अनुसार अन्तरात्माके भेद निर्धारित किये जाते हैं—:

(१) उत्तम अन्तरात्मा—क्षीणकषायगुणस्थानमें अवस्थित आत्मा उत्तम अन्तरात्मा है।

(२) मध्यम अन्तरात्मा—अविरत और क्षीणकषायगुणस्थानोंके बीचमें (५ से ११ में) रहनेवाला मध्यम अन्तरात्मा है।

(३) जघन्य अन्तरात्मा—अविरतगुणस्थानमें उसके योग्य अशुभलेश्यासे परिणत।

जो जीव पाँचों महाव्रतोंसे युक्त होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें सदा स्थित रहते हैं तथा समस्त प्रमादोंको जिन्होंने जीत लिया है, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं। श्रावकके व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थ और प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम' अन्तरात्मा हैं। ये जिनवचनमें अनुरक्त, उपशमस्वभावी और महापराक्रमी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं।[1]

परमात्मा : स्वरूप

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। जब आत्मा विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्मरूपी ईन्धनको भस्म कर देती है, तो यही परमात्मा बन जाती है।

---

१. पंचमहव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।
णिज्जिय-सयल-पमाया, उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥
सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला महासत्ता ॥
अविरयसम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिदपयभत्ता।
अप्पाणं णिदंता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥
—स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा १९५-१९७.

परमात्माके दो भेद हैं:—(१) सकलपरमात्मा और (२) निकलपरमात्मा। अथवा (१) कारणपरमात्मा और (२) कार्यपरमात्मा।

जन्म, जरा, मरण रहित, आठ कर्म रहित, शुद्ध, ज्ञानस्वभाव, अक्षय और अविनाशी सुखका धारक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप रहित, नित्य, अचल एवं निरालम्ब कारणपरमात्मा होता है। औदयिक आदि चार भावों-के अगोचर होनेसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधिसे जनित विभाव गुणपर्यायोंसे रहित एवं सहज-शुद्ध परमपारिणामिकभावधारी कारणपरमात्मा है।

अष्ट कर्मोंका नाश और समस्त देहादि परद्रव्योंका त्यागकर केवल-ज्ञानमय आत्माको प्राप्त करना कार्यपरमात्मा है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य गुण इस परमात्मामें प्रकट हो जाते हैं। सिद्ध-परमेष्ठी कार्यपरमात्मा और अर्हन्तपरमेष्ठी कारणपरमात्मा कहलाते हैं।

सकलपरमात्माका अर्थ भी अर्हन्त है। यहाँ कल-शब्दका अर्थ शरीर है, जो शरीर सहित है, वह सकलपरमात्मा है और शरीर सहित होनेके कारण अर्हन्त सकलपरमात्मा हैं। जो शरीररहित समस्त कर्मकालिमासे मुक्त हैं, वह निकलपरमात्मा है। शरीररहित होनेके कारण निकलपरमात्मा कहलाते हैं।

इस प्रकार विकासक्रमकी दृष्टिसे आत्मस्वरूपको अवगत कर उसकी निष्ठा करना मोक्षमार्गकी ओर अग्रसर होना है।

जीवके भाव : स्वरूप और भेद

चेतन और द्रव्यके स्वभावको भाव कहते हैं। भावका अर्थ चित्तविकार, कर्मोदय सापेक्ष जीवपरिणति, गुण-पर्यायरूप अर्थ एवं विशेष आत्मपरिणति है। वस्तुतः पदार्थोंके परिणामको भाव कहा जाता है।

आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं:—(१) संसारावस्था और (२) मुक्तावस्था। इन दोनों प्रकारकी अवस्थाओंमें आत्माकी जो विविध पर्यायें होती हैं, उनको समन्वित कर पाँच भेदोंमें विभाजित किया जा सकता है। ये ही भाव अथवा आत्माके स्वतत्त्व कहलाते हैं, यतः आत्माके अतिरिक्त अन्य द्रव्यमें ये नहीं पाये जाते।

(१) औपशमिकभाव—कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।

(२) क्षायिकभाव—कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।

(३) क्षायोपशमिक—कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।

(४) औदयिक—कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।

(५) पारिणामिक भाव—कर्मोंके उपशमादिके विना स्वभावरूपमें उत्पन्न होनेवाली परिणति।

जिस भावके उत्पन्न होनेमें कर्मका उपशम निमित्त होता है, वह औपशमिक भाव है। कर्मकी अवस्था विशेषका नाम उपशम है। जैसे कतक-निर्मली आदि द्रव्यके निमित्तसे जलमें मिश्रित मैल नीचे जम जाता है और स्वच्छ जल ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार परिणामविशेषके कारण विवक्षित कालमें कर्मनिषेकोंका अन्तर होकर उस कर्मका उपशम हो जाता है, जिससे उस कालके भीतर आत्माका निर्मल भाव प्रकट होता है। कर्मके उपशमसे होनेके कारण इसे औपशमिक कहा जाता है।

नीचे जमे हुए मैलके हिल जानेपर जिस प्रकार जल पुनः गन्दा हो जाता है, उसी प्रकार उपशमके दूर होते ही कर्मोदयके पुनः आजानेसे भावमें परिवर्त्तन हो जाता है।

जिस भावके होनेमें कर्मका क्षय निमित्त हो, उसे क्षायिकभाव कहते हैं। जिस प्रकार जलमेंसे मैलके निकाल देनेपर जल सर्वथा स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार आत्मासे लगे हुए कर्मके सर्वथा दूर हो जानेसे आत्माका निर्मल-भाव प्रकट हो जाता है। अतः यह भाव कर्मके सर्वथा क्षय होनेसे क्षायिक कहलाता है।

जिस भावके होनेमें कर्मका क्षयोपशम निमित्त है, वह क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। जिस प्रकार जलमेंसे कुछ मलके निकल जानेपर और कुछके बने रहनेपर जलमें मलकी क्षीणाक्षीण वृत्ति पायी जाती है, जिससे जल पूरा निर्मल न होकर समल बना रहता है। इसी प्रकार आत्मासे लगे हुए कर्मके क्षयोपशमके होनेपर जो भाव प्रकट होता है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मोंके उदयसे होनेवाले भावको औदयिक भाव कहते हैं।

कर्मके, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदयके विना द्रव्यके परिणाममात्रसे उत्पन्न होनेवाला भाव पारिणामिक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य निमित्तके बिना द्रव्यके स्वाभाविक परिणमनसे जो भाव प्रकट होता है, वह पारिणामिक कहलाता है।

संसारी अथवा मुक्त आत्माकी जितनी पर्यायें होती हैं, उन सबका अन्त-र्भाव इन पाँच भावोंमें ही हो जाता है।

संसारी जीवोंमेंसे किसीके तीन, किसीके चार और किसी जीवके पाँच भाव होते हैं। तृतीय गुणस्थान तकके समस्त संसारी जीवोंके क्षायोपशमिक,

औदयिक और पारिणामिक ये तीन ही भाव होते हैं। चार भाव औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व या क्षायिक चारित्रके प्राप्त होनेपर होते हैं और पाँच भाव क्षायिकसम्यग्दृष्टिके उपशमश्रेणिका आरोहण करनेपर होते हैं।

मुक्त जीवोंके क्षायिक और पारिणामिक ये दो ही भाव होते हैं।

भावोंके भेद-प्रभेद

औपशमिक भावके दो भेद हैं—:(१) औपशमिक सम्यक्त्व और (२) औपशमिक चारित्र।

कर्मकी दश अवस्थाओंमें एक उपशान्त अवस्था है। जो कर्मपरमाणु उदीरणाके अयोग्य होते हैं, वे उपशान्त कहलाते हैं। अधःकरण आदि परिणाम-विशेषोंसे दर्शनमोहनीयके उपशमसे औपशमिकसम्यक्त्व और चारित्रमोहनीय-के उपशमसे औपशमिकचारित्र उत्पन्न होता है।

क्षायिकभावके नौ भेद हैं:—(१) केवलज्ञान, (२) केवलदर्शन, (३) क्षायिक दान, (४) क्षायिकलाभ, (५) क्षायिकभोग, (६) क्षायिक उपभोग, (७) क्षायिक-वीर्य, (८) क्षायिकसम्यक्त्व और (९) क्षायिकचारित्र।

ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान, दर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन, पाँच प्रकारके अन्तरायके क्षयसे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये लब्धियाँ, दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व और चारित्रमोहनीयकर्मके क्षय-से क्षायिकचारित्र प्रकट होते हैं।

क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद हैं:—(१-४) चार ज्ञान—मति, श्रुत; अवधि और मनःपर्यय (५-७) तीन अज्ञान—कुमति, कुश्रुत और कुअवधि, (८-१२) पाँच लब्धियाँ—क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोप-शमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य; (१२-१५) तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन; (१६) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व; (१७) क्षायोपशमिक चारित्र एवं (१८) संयमासंयम।

यह ध्यातव्य है कि जिन अवान्तर कर्मोंमें देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकारके कर्मपरमाणु पाये जाते हैं, क्षयोपशम उन्हीं कर्मोंका होता है। नो-कषायोंमें देशघाति कर्मपरमाणु ही पाये जाते हैं, अतः उनका क्षयोपशम नहीं होता। तत्तत्कर्मके क्षयोपशमसे उपर्युक्त भाव प्रकट होते हैं।

औदयिकभावके इक्कीस भेद हैं:—चार गति, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्या-दर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धभाव और षट् लेश्याएँ।

गतिनामकर्मके उदयसे नरक, तिर्यञ्च; मनुष्य और देव ये चार गतियाँ

होती हैं। कषायमोहनीयके उदयसे क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय होते हैं। वेदनोकषायके उदयसे स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन वेद होते हैं। मिथ्यात्वमोहनीयके उदयसे मिथ्यादर्शन, ज्ञानावरणके उदयसे अज्ञानभाव, चारित्रमोहनीयके सर्वघाति स्पर्धकोंके उदयसे असंयत भाव, सभी कर्मोदयसे असिद्ध भाव होते हैं। कषायके उदयसे अनुरंजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं।

पारिणामिक भावके तीन भेद हैं:—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व।

जीवत्वका अर्थ चैतन्य है। यह शक्ति आत्माकी स्वाभाविक है। इसमें कर्मके उदयादिकी अपेक्षा नहीं रहती, अतएव पारिणामिक भाव है। यही बात भव्यत्व और अभव्यत्वके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। जिस आत्मामें रत्नत्रयके प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य है और जिसमें इस प्रकारकी योग्यताका अभाव है। वह अभव्य है।

जीवमें अस्तित्व, अन्यत्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्व आदि अन्य पारिणामिक भाव भी पाये जाते हैं, पर जीवके असाधारण भावकी दृष्टिसे उक्त तीन ही पारिणामिक भाव हैं।

इस प्रकार जीवके मूल भाव पाँच और अवान्तर तिरेपन होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि आत्माएँ अखण्ड और मूलतः प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र समान शक्तिवाली हैं। कर्मावरणके कारण आत्माकी शक्ति हीनाधिक रूपमें विकसित दिखलायी पड़ती है।

अजीवतत्त्व : स्वरूप

अजीवके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होती है, उसमें विभाव परिणति उत्पन्न होती है, अतएव अजीवके स्वरूपकी जानकारी आवश्यक है। अजीवसे ही आत्मा बँधती है, यही आत्माकी परतन्त्रताका कारण है। अजीवतत्त्वके अन्तर्गत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँचकी गणना की जाती है। पूर्वके चार तत्त्व आत्माका इष्ट, अनिष्ट नहीं करते। पुद्गल द्रव्य ही आत्माके बन्धका कारण है। इसीसे शरीर, मन, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और वचन आदिका निर्माण होता है।

मुमुक्षुके लिए शरीरकी पौद्गलिकताका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जीवनकी आसक्तिका मुख्य केन्द्र यही है। आत्माका विकास प्रायः शरीराधीन है, शरीरके किसी भी अंगके बिगड़ते ही वर्त्तमान ज्ञानका विकास रुक जाता है

और शरीरके नाश होनेपर वर्त्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, तो भी आत्माका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तेल-बत्तीसे भिन्न ज्योतिके समान पृथक् है।

अतएव पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, इसके यथार्थ उपयोगसे ही आत्माका विकास किया जा सकता है। आहार-विहारके उत्तेजक होनेपर पवित्र विचारोंकी उत्पत्ति संभव नहीं होती। इसलिए अशुभ संस्कार और विचारोंका शमन करनेके लिए प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान आवश्यक है। जिन परपदार्थों से आत्माको विरक्त होना हे और जिन्हें 'पर' समझकर उनकी छीना-झपटीकी द्वन्द्वदशासे ऊपर उठना है उनका त्याग करनेके लिए अजीव तत्त्वको समझना है।

आत्मा और अनात्मा दोनों द्रव्य हैं। दोनों अनन्त गुण और पर्यायोंसे अविच्छिन्न समुदाय हैं। सामान्यगुणकी अपेक्षा दोनों अभिन्न और विशेषगुणकी अपेक्षा भिन्न हैं। आत्मा ज्ञानसे सर्वथा भिन्न भी नहीं और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है।

वस्तुतः शरीर और चेतन दोनों भिन्नधर्मक हैं। इनका अनादिप्रवाही सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन चैतन्यकी दृष्टिसे अत्यन्त भिन्न हैं। अतः वे सर्वदा एक नहीं हो सकते। चेतन शरीरका निर्माता है और शरीर उसका अधिष्ठान, इसलिए दोनोंपर एक दूसरेकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। यह ध्यातव्य है कि शरीरकी रचना चेतन-विकासके आधारपर होती है। जिस जीवके जितने इन्द्रिय-मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय-मनके ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय एवं मानसज्ञानके साधन होते हैं। अतएव शरीर और आत्माके सम्बन्धका परिज्ञान और उसकी अनुभूति प्रत्येक मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। भूत और चेतनमें अत्यन्ताभाव है—त्रिकालवर्त्ती विरोध है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं हो सकता है।

आशय यह है कि जीवके लिए उपयोगी आत्म और अनात्म दोनों ही तत्त्व हैं, यतः जीव और पुद्गलका बन्ध अनादिसे है और यह बन्ध जीवके अपने राग-द्वेष आदिके कारण उत्तरोत्तर बढ़ता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब यह बन्ध आत्मामें नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और शनैः शनैः या एक ही झटकेसे ही समाप्त हो जाता है।

आस्रवतत्त्व : स्वरूपविवेचन

जीवके द्वारा मन, वचन और कायसे जो शुभाशुभप्रवृत्ति होती है, उसे भावास्रव और उसके निमित्तसे विशेष प्रकारकी पुद्गलवर्गणाएँ आकर्षित

होकर उसके प्रदेशोंमें प्रवेश करती हैं, वह द्रव्यास्रव है। सर्वसाधारणके यह आस्रव कषायवश होनेके कारण बन्धका हेतु होनेसे साम्परायिक कहलाता है। वीतरागव्यक्तियोंके आगामी कर्मबन्धका हेतु न होनेसे ईर्यापथ कहा जाता है।

जीवमें कर्ममलके आनेकी सूचना आस्रव द्वारा प्राप्त होती है। यत: जीव और कर्मका बन्ध तभी सम्भव है, जब जीवमें कर्मपुद्गलोंका आगमन हो। अत: कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार नौकामें छेदके द्वारा पानी आता है, अत: वह छेद आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति द्वारा कर्मोंका आगमन होता है, तथा यह प्रवत्ति या शक्ति ही योग कहलाती है। आशय यह है कि हम मनके द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन-द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीर द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं, वह सब हमारी ओर कर्मोंके आनेमें कारण होता है।

मन, वचन और कायकी क्रियाको योग कहा जाता है और योग ही आस्रव-का कारण होनेसे आस्रव कहा जाता है। योगों—मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियों द्वारा आत्मपरिस्पन्दन होता है और इस परिस्पन्दनसे कर्मोंका आस्रव होता है। सारांश यह है कि संसारी जीवके मध्यके आठ प्रदेशोंको छोड़कर शेष सब प्रदेश प्रति समय उद्वेलित होते रहते हैं। जो आत्मप्रदेश प्रथम समयमें आस्रवके पास थे, वे ही उत्तरक्षणमें पैरोंके पास या पैरोंके पाससे मस्तकके पास पहुँचते हैं। संसारावस्थामें यह प्रदेशकम्पन—व्यापार—क्रिया प्रति समय होती रहती है। इसी कम्पन—व्यापारसे कर्म और नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण होता है। इस क्रियाका नाम ही योग है और योग ही आस्रव है।

शुभयोगसे पुण्यकर्मका और अशुभयोगसे पापकर्मका आस्रव होता है। जिन कर्मोंका रस—अनुभाग शुभप्रद है, वे पुण्यकर्म और जिन कर्मोंका अनुभाग अशुभप्रद है, वे पापकर्म कहे जाते हैं।

काययोग, वाग्योग और मनोयोगके द्वारा आत्माके प्रदेशोंमें एक परिस्पन्दन होता है, जिसके कारण आत्मामें एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, जिसमें उसके आसपास भरे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गलपरमाणु आत्मासे आ चिपटते हैं। आत्मा और पुद्गलपरमाणुओंके इसी सम्पर्कका नाम आस्रव है।

आस्रवभेद और स्वरूप

इस आस्रवके मूलत: दो भेद हैं:—(१) साम्परायिक और (२) ईर्यापथिक। क्रोध, मान, माया और लोभरूप इन चार तीव्र मनोविकाररूप कषायोंके वेगसे प्रेरित अवस्थामें उत्पन्न हुआ आस्रव साम्परायिक एवं इन विकारोंकी प्रेरणासे रहित साधारण अवस्थामें होनेवाला आस्रव ईर्यापथिक—मार्गगामी कहा जाता

है। इसके द्वारा आत्मा और कर्मप्रदेशोंका कोई स्थिर बन्ध उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार सूखे वस्त्रपर लगी हुई धूल शीघ्र ही झड़ जाती है, बहुत समय तक वस्त्रपर चिपटी नहीं रहती, उसी प्रकार कषायके अभावमें होनेवाला आस्रव कर्मबन्धको स्थिरता प्रदान नहीं करता है। पर जब जीवकी मानसिक आदि क्रियाएँ कषायोंसे युक्त होती हैं, तब आत्मप्रदेशोंमें एक ऐसी परपदार्थग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण उसके सम्पर्कमें आने-वाले कर्मपरमाणु शीघ्र उससे पृथक् नहीं होते।

आस्रवके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच भेद हैं और ये पाँचों आस्रव प्रत्यय होनेके कारण बन्धके हेतु हैं।[1]

मिथ्यात्व

अपने स्वरूपको भूलकर शरीर आदि परद्रव्योंमें आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है। इसे विपरीत श्रद्धा भी कहा जा सकता है। मिथ्यादृष्टिकी समस्त क्रियाएँ और विचार शरीराश्रित व्यवहारोंमें उलझे रहते हैं। लौकिक यशलाभ आदिकी कामनासे ही धर्माचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नहीं रहता और पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है।

यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकारका होता है। इन दोनों ही मिथ्यादृष्टियोंके तत्त्वरुचि जागृत नहीं होती। यह अनेक प्रकारके देव, गुरु और मूढ़ताओंको धर्म मानता है। अनेक प्रकारके ऊँच, नीच आदि भेदोंकी सृष्टिकर मिथ्या अहंकारका पोषण करता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके मदसे मत्त होकर अन्य व्यक्तियोंको तुच्छ समझता है। आत्मनिष्ठा-के अभावमें भय, स्वार्थ, घृणा, पर-निन्दा आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है।

संक्षेपमें आत्मशक्तिको न पहचानना और शरीर, इन्द्रिय आदिको आत्मा समझना मिथ्यात्व है। अहंता और ममताके कारण आत्मा अपने निज स्वरूपको पहचान नहीं पाती। मिथ्यात्वके कारण आत्मबोध न होनेसे अपने स्वरूपसे विमुखता बनी रहती है। जिस प्रकार बालक मिट्टीके घरोंदे बनाते और बिगाड़ते रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा ही इस संसारको बनाती रहती है। अतएव मिथ्यात्व-का त्याग आवश्यक है। मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं:—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) वैनयिक, (४) संशय और (५) अज्ञान।

---

१. मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥

—द्रव्यसंग्रह ३०.

अविरति

सदाचार या चारित्रधारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं होना अविरति है। कषायके तीव्रोदयसे देशचारित्र और सकलचारित्रको धारण करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। अविरतिके पांच व बारह भेद हैं[1]:—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) स्तेय—चोरी, (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह-इच्छा अथवा (१-६) इन्द्रियोंके और मनके विषयोंमें प्रवृत्ति, (७) पृथ्वीकायिक प्राणियोंकी हिंसा, (८) जल-कायिक प्राणियोंकी हिंसा, (९) तेजकायिक प्राणियोंकी हिंसा, (१०) वायुकायिक प्राणियोंकी हिंसा, (११) वनस्पतिकायिक प्राणियोंकी हिंसा और (१२) त्रस-कायिक प्राणियोंकी हिंसा।

प्रमाद

कुशल कर्मोंमें अनादर होना प्रमाद है। साधारणतः असावधानीको प्रमाद कहा जाता है। पंचेद्रियविषयोंमें लीन होनेसे, राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओंमें रस लेनेसे; क्रोध, मान माया और लोभ इन चार कषायोंसे कलुषित होनेसे तथा निद्रा और प्रणयमें मग्न होनेसे कुशल कर्मोंके प्रति अनादरभाव उत्पन्न होता है और इसी अनादरसे आत्माके प्रति अनास्था और हिंसाकी भूमिका निर्मित हो जाती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका प्रमुख स्थान है। प्राणीका घात हो या न हो, पर प्रमादीको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधकके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक ही रहता है। अतएव प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है।

कषाय

आत्मा स्वभावतः ज्ञान, दर्शन और शान्तिरूप है। उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ आत्मा-को कषती हैं और उसे स्वरूपसे च्युत करती हैं। कषायशब्दकी व्युत्पत्ति—कष् धातुसे है और कष् धातुके दो अर्थ हैं—कर्षण एवं हिंसा[2]। जो जीवके सुख-दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रका 'कर्षण'—खोदकर या जोतकर

---

१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेणाविरतिः पञ्चविधा अथवा मनःसहित-पञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिपृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशविधा।

—ब्रह्मदेव, द्रव्यसंग्रहटीका गाथा ३०, पृ० ८९.

२. गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा २८१-२८२.

उपजाऊ बनानेके कारण कषाय कहलाती है। दूसरी व्युत्पत्तिके अनुसार जो देशचारित्र और सकलचारित्रका घात करती है, वह कषाय है। ये चारों आत्माकी विभावदशाएँ हैं। क्रोधकषाय द्वेषरूप है और है द्वेषका कारण एवं कार्य। मान क्रोधको उत्पन्न करनेके कारण द्वेषरूप है। माया लोभको जागृत करनेसे रागरूप है तथा लोभ भी राग है। इस प्रकार राग-द्वेष और मोहकी त्रिपुटीमें कषायका भाग मुख्य है। ये कषाएँ बड़ी प्रबल हैं। लोभ कषाय तो बड़े-बड़े त्यागियोंको भी विचलित कर देती हैं। कषायका त्याग किये बिना आत्म-चेतना निर्मल नहीं हो सकती। ये इस प्रकारके विकार हैं, जो निरन्तर आत्माको कलुषित बनाते हैं।

वस्तुत: ये विकार ही आत्माके अन्तरंग शत्रु हैं। इनके हटानेसे आत्म-दृष्टि प्राप्त होती है। कषायके २५ भेद हैं।सोलह कषाय और नव नो-कषाय हैं। सोलह कषायोंके अन्तर्गत अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभकी गणना है। इन कषायोंके अतिरिक्त हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदकी गणना नोकषायों-में है। इन कषायोंके कारण ही आत्मामें विकारपरिणति उत्पन्न होती है।

योग

मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्म-प्रदेशोंमें होनेवाले परिस्पन्द—क्रियाको योग कहते हैं। आत्मा सक्रिय है। उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। अत: मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। जिस प्रकार लोहेका गर्म गोला पानीमें डाल देनेपर चारों ओर जलीय परमाणुओंका आकर्षण करता है, उसी प्रकार योगके कारण आत्मा सभी ओरसे कर्म-वर्गणाओंको खींचती है। योग कर्मपरमाणुओंको लानेका कार्य करता है और कषाय उन कर्मपरमाणुओंको सम्बद्ध कराती है। योगके पन्द्रह भेद हैं:—

(१) सत्य मनोयोग—समीचीन पदार्थको विषय करनेवाला मनोयोग।
(२) असत्य मनोयोग—सत्यसे विपरीत मिथ्या पदार्थको विषय करनेवाला।
(३) उभय मनोयोग—सत्य और मिथ्या दोनों प्रकारका मन—दोनों प्रकार के पदार्थोंको विषय करनेवाला मन।
(४) अनुभय मनोयोग—न सत्य और न मृषा।
(५) सत्य वचनयोग—सत्यार्थके वाचक वचन।
(६) असत्य वचनयोग—असत्यार्थके वाचक वचन।
(७) उभय वचनयोग—उभयार्थके वाचक वचन।

(८) अनुभयवचनयोग—अनुभयार्थके वाचक वचन ।
(९) औदारिककाययोग—स्थूलशरीरजन्य काययोग ।
(१०) औदारिकमिश्रकाययोग—औदारिकशरीर पूर्ण होनेके पहले ।
(११) वैक्रियिककाययोग—विभिन्न प्रकारकी विक्रिया—रूपान्तर करने की शक्ति ।
(१२) वैक्रियिकमिश्रकाययोग—वैक्रियिकशरीरके उत्पन्न होनेकी पूर्व स्थिति ।
(१३) आहारककाययोग—रसादि धातुरहित उत्कृष्ट संस्थान और संहनन सहित उत्तमांग—सिरसे उत्पन्न ।
(१४) आहारकमिश्रकाययोग—आहारकशरीर पूर्ण होनेकी पूर्व स्थिति ।
(१५) कार्मणकाययोग—ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंका समूह ।

बन्ध

दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहा जाता है । बन्धके दो भेद हैं:—(१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध । जिन राग-द्वेष और मोहादि विकारी भावोंसे कर्मका बन्ध होता है, उन भावोंको भावबन्ध कहते हैं और कर्म-पुद्गलोंका आत्म-प्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है । द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है । कर्म और आत्माके एकक्षेत्रावगाही सम्बन्धको बन्ध कहा जाता है । यह बन्ध सभी आत्माओंके नहीं होता है । जो आत्मा कषायवान है, वही आत्मा कर्मोंको ग्रहण करती है । यदि लोहेका गोला गर्म न हो, तो पानीको ग्रहण नहीं कर पाता है । पर गर्म होनेपर वह जैसे अपनी ओर पानीको खींचता है, उसी प्रकार शुद्धात्मा कर्मोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है, पर जब कषायसहित आत्मा प्रवृत्ति करती है, तो वह प्रत्येक समयमें निरन्तर कर्मोंको ग्रहण करती रहती है । इस प्रकार कर्मोंको ग्रहण करके उनसे संश्लेषको प्राप्त हो जाना ही बन्ध है । बन्धके योग और कषाय ये दो प्रधान हेतु हैं । भेद-विवक्षासे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच हेतु बन्धके हैं ।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह बन्ध संयोगपूर्वक नहीं होता । यह तो एक ऐसा मिश्रण है, जिसमें रासायनिक परिवर्तन होता है । मिलनेवाली दोनों वस्तुएँ अपनी वास्तविक अवस्थाको छोड़कर एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हो जाती है । उदाहरणार्थ—दूध और पानीकी मिश्रित अवस्थाको लिया जा सकता है। इस मिश्रित अवस्थामें न तो दूध अपनी यथार्थ अवस्थामें रहता है और न पानी ही। बल्कि दूध और पानीकी मिश्रित एक तृतीय अवस्था होती है। इसी प्रकार जीव और कर्म परस्परमें सम्बन्धित होनेपर न तो जीव ही अपनी शुद्ध अवस्थामें

रहता है और न कर्मपुद्गल ही। दोनों दोनोंसे ही प्रभावित होते हैं। यही बन्ध है। आस्रव और बन्ध संसारके कारण हैं। आस्रवको कर्मबन्धका कारण माना गया है।

संवर

आस्रवका निरोध संवर है। मुमुक्षु जीव कर्मोंके आस्रवके कारणोंको पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियोंका अवलम्बन लेता है, तो आस्रव रुक जाता है और आस्रवका रुकना ही संवर है। कर्मास्रवका निरोध मन वचन, कायके अप्रशस्त व्यापारके रोकने, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने, क्षमा आदि धर्मोंका आचरण करने, अन्तःकरणमें विरक्तिके जाग्रत होने और सम्यक्चारित्रका अनुष्ठान करनेसे होता है।

कोई भी साधक योग-क्रियाका सर्वथा निरोध नहीं कर सकता। उठना, बैठना, सम्भाषण करना आदि जीवनके लिये अनिवार्य हैं। अतएव विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे संवर होता है। वस्तुतः आत्मसुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता है, उन द्वारोंका निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रव योगसे होता है। अतएव योगकी निवृत्ति ही संवर है।

शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये आहारादिका ग्रहण करना अनिवार्य रहता है, पर इन प्रवृत्तियोंपर विवेकका नियंत्रण रहता है।

संवरके छः हेतु हैं:—

(१) गुप्ति—अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा।
(२) समिति—सम्यक् प्रवृत्ति।
(३) धर्म—आत्मस्वरूप-परिणति।
(४) अनुप्रेक्षा—आत्म-चिन्तन।
(५) परीषहजय—स्वेच्छया क्षुधा, तृषा आदिकी वेदनाका सहना।
(६) चारित्र—समताभावकी आराधना।

वस्तुतः नवीन कर्मोंका आत्मामें न आना ही संवर है। यदि नवीन कर्मोंका आगमन सर्वदा जीवमें होता रहे, तो कभी भी कर्म-बन्धनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है।

निर्जरा

निर्जराका अर्थ है जर्जरित कर देना या झाड़ देना। बद्ध कर्मोंको नष्ट कर देना या पृथक् कर देना निर्जरातत्त्व है। निर्जरा दो प्रकारकी होती है:—(१) औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और (२) अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा।

तप आदि साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये ही झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रतिसमय कर्मोंका फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा प्रत्येक प्राणीको प्रतिक्षण होती रहती है। इसमें पुराने कर्मोंका स्थान नवीन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और तपरूपी अग्निसे कर्मोंको फल देनेके पहले ही भस्म कर देना अविपाक निर्जरा है। यह मिथ्या धारणा है कि कर्मोंकी गति टल नहीं सकती। पुराने संस्कार ही कर्म हैं। यदि आत्मामें पुरुषार्थ है, तप-साधना है, तो क्षणमात्रमें पुरातन वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

विवश होकर, हाय-हाय करते हुए कर्मोंका फल भोगना और उन्हें निर्जरित करना तो एक साधारण-सी बात है। अर्जित कर्म-संस्कार इच्छापूर्वक समभाव-से कष्ट सहने एवं तपाचरण करने आदिसे ही नष्ट होते हैं। अतः नवीन कर्मोंके बन्धको रोकना और संचित कर्मोंकी निर्जरा करना जीवका पुरुषार्थ है।

मोक्ष

कर्म-बन्धनोंसे छुटकारा प्राप्त करना मोक्ष है। यहाँ कर्मोंके नाशका अर्थ इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीवसे भिन्न हो जाते हैं। कार्मणवर्गणाएँ आत्माके साथ संयुक्त होनेके कारण उस आत्माके गुणोंका घात करनेसे कर्मत्व-पर्यायको धारण करती हैं और मोक्षमें यह कर्मपर्याय नष्ट हो जाती है। अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटकर शुद्ध एवं सिद्ध हो जाती है, उसी तरह कर्मपुद्गल भी अपनी कर्मत्वपर्यायसे उस समय मुक्त हो जाते हैं। अतः आत्मा और कर्म-पुद्गलका सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। मोक्षमें दोनों द्रव्य अपने निज स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। न तो आत्मा दीपककी तरह बुझ जाती है और न कर्म-पुद्गलका ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनोंकी पर्यायान्तर हो जाती है। जीव शुद्ध दशाको प्राप्त हो जाता है और पुद्गल भी यथासम्भव शुद्ध या अशुद्ध स्थितिको प्राप्त होता है।

इन सप्त तत्त्वोंके स्वरूप विवेचनके अनन्तर कर्म-सिद्धान्त या जीव और कर्मके सम्बन्धपर विचार करना परमाश्यक है। साधारणतः कर्मके दो रूप हैं:—(१) कर्म और (२) नोकर्म। शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि सब नोकर्म हैं। इन नोकर्मोंके भी दो प्रकार बतलाये गये हैं:—बद्ध नोकर्म और अबद्ध नोकर्म। बद्धका अर्थ है बँधा हुआ और अबद्धका अर्थ है नहीं बँधा हुआ। संसारदशामें जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा है और जहाँ आत्मा है, वहाँ शरीर है। दोनों दूध और पानीकी तरह एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। यद्यपि इन दोनोंका स्वरूप और सत्ता पृथक्-पृथक् है, पर अनादि कालसे शरीरमें

आत्माका निवास रहा है। एक शरीर छोड़ा तो दूसरा प्राप्त हो गया, दूसरा छोड़ा तो तीसरा प्राप्त हो गया। एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरकी ओर जाते समय विग्रहगतिमें तैजस और कार्मण शरीर साथ रहते हैं। संसारी आत्माके ऐसा एक भी क्षण नहीं है, जब वह बिना किसी भी प्रकारके शरीरके संसारावस्थामें स्थित रही हो। अतः शरीर आत्माके साथ बद्ध नोकर्म है। अबद्ध नोकर्मो के अन्तर्गत धन, भवन, परिवार, स्त्री-पुत्रादि सदा साथ तो रहते हैं, पर वे सम्पृक्त नहीं हैं। अतएव आत्मा और कर्मके बन्धका, कर्म-फलका एवं कर्म-बन्धनसे छूटनेका विचार करना आवश्यक है।

कर्मस्वरूप

आत्मा अनादि कालसे कर्मबद्ध है। यह स्थूल-शरीर और सूक्ष्म कर्म-शरीरसे सम्बद्ध है। इसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण बन्धके कारण विकृत हो रहे हैं। जीव और पुद्गलका बन्ध अनादिसे है और यह जीवके राग-द्वेष आदि भावोंके कारण होता है। यह केवल संस्कारमात्र नहीं है। किन्तु वस्तुभूत पदार्थ है। इस विश्वमें पुद्गलकी तेईस वर्गणाएँ व्याप्त हैं। इन वर्गणाओंमें एक कार्मण-वर्गणा भी है, जो सर्वत्र विद्यमान है। यह कार्मण-वर्गणा ही राग-द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक-क्रियाके साथ एक द्रव्यके रूपमें जीवमें आती है, जो उसके राग-द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर जीवसे बँध जाती है और समय आनेपर शुभ और अशुभ फल देती है। सारांश यह है कि जब राग-द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोंमें प्रवृत्त होती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादि रूपसे उसमें प्रवेश करता है।[1] अतः स्पष्ट है कि कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवकी राग-द्वेष-मोहरूप परिणतिके कारण बन्धको प्राप्त होता है।

कर्मकी पौद्गलिकता

कर्म न संस्काररूप है, न वासनारूप ही। यह तो पौद्गलिक है। यह जीवात्माके आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखोंका हेतु है, गुणोंका विघातक है। अतएव यह आत्माका गुण नहीं हो सकता। जिस प्रकार बेड़ीसे मनुष्य बँधता है, सुरापानसे पागल बनता है और क्लोरोफॉर्मसे बेसुध होता है; ये सब

---

१. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥

—प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापना, गाथा १८७.

पौद्गलिक वस्तुएँ हैं। उसी प्रकार कर्मके संयोगसे भी आत्माकी विभिन्न अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। अतएव यह भी पौद्गलिक है। बेड़ी आदि बन्धन आज बाहरी बन्धन है और अल्प सामर्थ्य वाले हैं। कर्म आत्माके साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। अतएव उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओंका जीवात्मापर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्गलिक है। उसका कारण कर्म है। अतः कर्म पौद्गलिक हैं। पौद्गलिक कार्यका समवायी कारण भी पौद्गलिक होगा। आहार आदि अनुकूल सामग्रीसे सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहारादिसे दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख-दुःखके हेतुभूत कर्म भी पौदगलिक हैं।

बन्धकी अपेक्षा जीव और पुद्गल अभिन्न हैं, एकमेक है। लक्षणकी अपेक्षा वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन। जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त। इन्द्रियोंके विषय स्पर्शादि मूर्त हैं और इन विषयोंको भोगने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं। अतः उनसे होनेवाला सुख-दुःख भी मूर्त हैं। इस प्रकार कर्म पौद्गलिक सिद्ध होते हैं।

आत्मा और कर्मका सम्बन्ध

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्मसे कैसे सम्बन्ध हो सकता है? यतः मूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध तो सम्भव है, पर अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध कैसे हो सकेगा? अनादि कालसे कर्मबद्ध विकारी आत्मा ही दिखलाई पड़ती है। ये आत्माएँ कथंचिद् मूर्त हैं, क्योंकि स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी संसारदशामें मूर्त हैं। जीव दो प्रकारके हैं:—रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी रूपी। जो आत्मा शुद्ध हो जाती है, वह फिर कर्म-बन्धनमें नहीं पड़ती है। जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है। यतः जो जीव संसारमें स्थित है—जन्म-मरणकी धारामें पड़ा हुआ है, उसके रागरूप और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। इन परिणामोंसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीर प्राप्त होता है, शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है, विषयोंको ग्रहण करनेसे इष्ट वस्तुओंमें राग और अनिष्ट वस्तुओंसे द्वेष होता है। इस प्रकार संसाररूपी चक्रमें पड़े हुए जीवके भावोंसे कर्मबन्ध और कर्म बन्धसे राग-द्वेषरूप भाव होते हैं। यह संसारचक्र अभव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि अनन्त है और भव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि-सान्त है।[1]

---

१. जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी॥

सारांश यह है कि यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध है और प्रयोग द्वारा शुद्ध हो सकती है। कर्म एक भौतिक पिण्ड है, यह विशिष्ट शक्तिका स्रोत है। जब यह आत्मासे सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्र शक्तिके अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं तथा प्राप्त सामग्रीके अनुसार उस संचित कर्मका तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस प्रकार यह कर्म-चक्र अनादिकालसे चल रहा है और तब तक चलता रहेगा, जब तक बन्ध-कारक मूल रागादि वासनाओंका विनाश नहीं होगा।

व्यवहारकी अपेक्षा यह जीव मूर्त्तिक है तथा राग-द्वेषादिवासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्धकी धारा बीज-वृक्षसन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्व संचित कर्मके उदयसे राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं और तत्कालमें जो जीवकी आसक्ति या लगन होती है, वह नूतन कर्मबन्ध कराती है।

समान क्षेत्रमें रहनेवाले जीवके विकारी परिणामको निमित्तमात्र करके कार्मणवर्गणाएँ स्वयमेव अपनी अन्तरंग शक्तिके कारण कर्मरूपमें परिणमित हो जाती हैं। लोकमें जीव और कर्मबन्धके योग्य पुद्गलवर्गणाएँ सर्वत्र हैं, जीवके जैसे परिणाम होते हैं, उसी प्रकारका कर्मबन्ध होता है।[1] अतएव अनादिसन्ततिरूप प्रवर्त्तमान देहान्तररूप परिवर्त्तनका आश्रय लेकर शरीर-का निर्माण होता है और इससे कर्मका बन्ध होता है।

कर्मके मूलभेद

कर्मके दो भेद हैं—(१) द्रव्यकर्म और (२) भावकर्म। जीवसे सम्बद्ध कर्म-पुद्गलोंको द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्मके प्रभावसे होनेवाले जीवके राग-द्वेषरूप भावोंको भावकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्ममें कारण-कार्यका सम्बन्ध है; द्रव्यकर्म कारण है और भावकर्म कार्य। न बिना द्रव्यकर्मके भाव-

---

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो वा दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥

—पंचास्तिकाय गाथा, १२८-१३०.

१. कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥

—प्रवचनसार गा० १६९.

कर्म होते हैं और न विना भावकर्मके द्रव्यकर्म ही। इन दोनोंमें बीज-वृक्ष सन्ततिके समान कार्य-कारणभाव सम्बन्ध विद्यमान है।

द्रव्यकर्म पौद्गलिक है और भावकर्म आत्माके चैतन्यपरिणामात्मक हैं; क्योंकि आत्मासे कथंचित् अभिन्नरूपसे स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप हैं।[1]

वस्तुतः कर्मपरमाणुओंको आत्मा तक लानेका कार्य जीवको योगशक्ति और उसके साथ उनका बन्ध करानेका कार्य कषाय—जीवके राग-द्वेषरूप भाव करते हैं। जीवकी परिस्पन्दनरूप योगशक्ति और रागद्वेषरूप कषाय बन्धका कारण है। कषायके नष्ट हो जानेपर योगके रहने तक जीवमें कर्मपरमाणुओंका आस्रव—आगमन तो होता है, पर कषायके न होनेके कारण वे ठहर नहीं सकते। उदारणार्थ योगको वायु, कषायको गोंद, आत्माको दीवाल और कर्मपरमाणुओंको धूलकी उपमा दी जा सकती है। यदि दीवाल पर गोंद लगी हो तो वायुके द्वारा उड़कर आनेवाली धूल दीवालसे चिपक जाती है, पर दीवाल स्वच्छ, चिकनी और सूखी हो, तो धूल दीवालपर नहीं चिपकती, बल्कि तुरन्त झड़ जाती है। धूलका हीन या अधिक परिमाणमें उड़कर आना वायुके वेगपर निर्भर है। वायु तेज होगी, तो धूल भी अधिक परिमाणमें उड़ेगी और वायु मन्द होगी, तो धूल कम परिमाणमें उड़ेगी। धूलका कम या अधिक समय तक चिपका रहना गोंद या आर्द्रताकी मात्रा पर निर्भर करता है। जितनी अधिक चिकनी चीज दीवालपर रहेगी, धूल उसी चिकनाहटकी मात्राके अनुसार कम या अधिक समय तक रहेगी। अतएव संक्षेपमें योग और कषाय ही बन्धके कारण हैं।

बन्धके भेद

बन्धके चार प्रकार हैं:—(१) प्रकृतिबन्ध (२) प्रदेशबन्ध (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध। इनमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका हेतु योग है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका हेतु कषाय है। इन दानों कारणोंसे ही कर्मका बन्ध होता है और अभावमें नहीं। बन्ध कर्म और आत्माके एक क्षेत्रावगाही सम्बन्धका नाम है। जो आत्मा कषायवान् है, वही कर्मोंको ग्रहण कर बाँधता है।

---

१. द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा।
भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मानि भान्ति नुः॥
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः॥

—आप्तपरीक्षा, ११३-११४।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध

प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। कर्मका बन्ध होते ही उसमें जो ज्ञान और दर्शनको रोकने, सुख-दुःख देने आदिका स्वभाव पड़ता है, वह प्रकृतिबन्ध है। प्रदेशबन्धका अर्थ है कर्मपरमाणुओंकी गणना। एक कालमें जितने कर्मपरमाणु बन्धको प्राप्त होते हैं, उनका वैसा होना ही प्रदेशबन्ध है। वस्तुतः कर्म-परमाणुओंकी संख्याका नियत होना प्रदेशबन्ध है।

स्थिति और अनुभागबन्ध

स्थितिका अर्थ कालमर्यादा है। प्रत्येक कर्मका बन्ध होते ही उसका सम्बन्ध आत्मासे कब तक रहेगा, यह निश्चित हो जाता है। इस प्रकार कर्म-बन्धके समय उसकी कालमर्यादाका निश्चित होना स्थितिबन्ध है।

अनुभागका अर्थ फलदानशक्ति है, जो कर्मबन्धके समय ही पड़ जाती है। इस शक्तिका स्थित हो जाना ही अनुभागबन्ध है।

कर्मोंमें विभिन्न प्रकारके स्वभावका पड़ना और उनकी संख्याका हीनाधिक होना योगपर निर्भर है तथा जीवके साथ कम या अधिक समय तक स्थित रहनेकी शक्तिका पड़ना और तीव्र, या मन्द फलदान शक्तिका स्थिर होना कषायपर निर्भर है।

प्रकृतिबन्धके भेद और स्वरूप

आत्माकी योग्यता और अन्तरंग-बहिरंग निमित्तोंके अनुसार नाना प्रकारके परिणाम होते हैं। इन परिणामोंसे ही बँधनेवाले कर्मोंके स्वभावका निर्माण होता है। यों तो बँधनेवाले कर्मोंके स्वभावोंका विभाग किया जाय तो अनेक प्रकारका हो सकता है, पर सामान्यतः विविध स्वभाववाले कर्मोंको आठ भागोंमें विभक्त किया जा सकता है और इससे प्रकृतिबन्धके मूल आठ भेद प्राप्त होते हैं:—

(१) ज्ञानावरण—आत्माकी बाह्य पदार्थोंको जाननेकी शक्तिके आवरण करनेमें निमित्त।

(२) दर्शनावरण—आत्माकी स्वयंको साक्षात्कार करनेकी शक्तिके आवरण करनेमें निमित्त।

(३) वेदनीय—बाह्य आलम्बनपूर्वक सुख-दुःखके वेदन करानेमें निमित्त।

(४) मोहनीय—राग, द्वेष और मिथ्यात्वके होनेमें निमित्त।

(५) आयु—आत्माकी नर-नरकादि पर्याय धारण करानेमें निमित्त।

(६) नाम—जीवकी गति, जाति आदि पुद्गलकी शरीर आदि विविध अवस्थाओंके होनेमें निमित्त।

(७) गोत्र—आत्माके ऊंच और नीच भाव होनेमें निमित्त।

(८) अन्तराय—आत्माके दानादिरूप भावोंके न होनेमें निमित्त।

प्रकृतिबन्धके ये आठ भेद घातिकर्म और अघातिकर्म इन दो भागोंमें विभक्त हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म कहलाते हैं और वेदनीय, आयु, नाम एवं गोत्र ये चार अघातिकर्म कहलाते हैं।

आत्मामें अनुजीवी और प्रतिजीवी दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं। जो शक्तियाँ या गुण भाव स्वरूप हैं, वे अनुजीवी कही जाती हैं और जो शक्तियाँ अभाव स्वरूप हैं, वे प्रतिजीवी मानी जाती हैं। इन दोनों प्रकारके गुणोंमेंसे जिनसे अनुजीवी गुणोंका घात होता है, वे घातिकर्म हैं और प्रतिजीवी गुणोंका घात करनेवाले अघाति कर्म हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदनीय कर्म सुख-दुःखका वेदन करानेमें निमित्त है, पर यह मोहनीयसे मिलकर ही सुख-दुःखका वेदन कराता है।

आगममें घातिकर्मोंके भी दो भेद बतलाये हैं—(१) सर्वघाति और देशघाति। जो कर्म जीवके स्वाभाविक—अनुजीवी गुणोंका पूर्णतया घात करते हैं, वे सर्वघाति और जो उनका एक देश घात करते हैं, वे देशघाति कहलाते हैं।

कर्मप्रकृतियोंके उत्तर भेद

(१) ज्ञानावरणके पाँच भेद हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्ययज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरणके नौ भेद हैं—(१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचला-प्रचला और (९) स्त्यानगृद्धि।

(३) वेदनीयके दो भेद हैं—(१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।

(४) मोहनीयके अट्ठाईस भेद हैं—(१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व, (३) मिश्र, (४) अनस्तानुबन्धी क्रोध, (५) अनन्तानुबन्धी मान, (६) अनन्तानुबन्धी माया, (७) अनन्तानुबन्धी लोभ, (८) अप्रत्याख्यान क्रोध, (९) अप्रत्याख्यान मान, (१०) अप्रत्याख्यान माया, (११) अप्रत्याख्यान लोभ, (१२) प्रत्याख्यान क्रोध, (१३) प्रत्याख्यान मान, (१४) प्रत्याख्यान माया, (१५) प्रत्याख्यान लोभ, (१६) संज्वलन क्रोध, (१७) संज्वलन मान, (१८) संज्वलन माया, (१९) संज्वलन लोभ, (२०) हास्य, (२१) रति, (२२) अरति, (२३) शोक, (२४) भय, (२५) जुगुप्सा,

(२६) स्त्रीवेद, (२७) पुंवेद और (२८) नपुंसकवेद। इन अट्ठाईस प्रकृतियोंको मूलतः चार वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता हैः—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्र-मोहनीय, (३) कषायमोहनीय और (४) अकषायमोहनीय।

५. आयु—आयुकर्मके चार भेद हैं:—(१) नरकायु, (२) तिर्यंचायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु।

६. नामकर्म—अभेदापेक्षया इसके बयालीस भेद हैं और भेदापेक्षया तिरानवे। बयालीस भेदोंकी गणना इस प्रकार हैः—(१) गति, (२) जाति, (३) शरीर, (४) आंगोपांग, (५) निर्माण, (६) बन्धन (७) संघात, (८) संस्थान, (९) संहनन, (१०) स्पर्श, (११) रस, (१२) गन्ध, (१३) वर्ण, (१४) आनुपूर्वी, (१५) अगुरुलघु, (१६) उपघात, (१७) परघात, (१८) आतप, (१९) उद्योत, (२०) उच्छ्वास, (२१) विहायोगति, (२२) साधारण शरीर, (२३) प्रत्येकशरीर, (२४) स्थावर, (२५) त्रस, (२६) दुर्भग, (२७) सुभग, (२८) दुःस्वर, (२९) सुस्वर, (३०) अशुभ, (३१) शुभ, (३२) बादर, (३३) सूक्ष्म, (३४) अपर्याप्त, (३५) पर्याप्त, (३६) अस्थिर, (३७) स्थिर, (३८) आनादेय, (३९) आदेय, (४०) अयशःकीर्ति, (४१) यशःकीर्ति, (४२) तीर्थंकरत्व।

७. गोत्रकर्मके दो भेद हैं:—(१) उच्च गोत्र, (२) नीच गोत्र।

८. अन्तराय—अन्तराय कर्मके पांच भेद हैं:—(१) दान-अन्तरायः, (२) लाभ अन्तराय, (३) भोग-अन्तराय, (४) उपभोग-अन्तराय और (५) वीर्य-अन्तराय।

ज्ञानावरणकर्म मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानोंको आवृत करता है। जिस प्रकार जलते हुए विद्युत बल्बके ऊपर वस्त्र डाल देने से उसका प्रकाश आवृत हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणकर्म ज्ञानको आच्छादित करता है। इस कर्मका जितना क्षयोपशम या क्षय होता जाता है, उसी रूपमें ज्ञान भी प्रादुर्भूत होता है।

दर्शनावरणके नव भेदोंमें चार भेद तो चारों दर्शनोंके आवरणमें निमित्त-भूत हैं। शेष निद्रादिक पाँच भेद हैं। जिस कर्मका उदय ऐसी नींदमें निमित्त हो, जिससे खेद और परिश्रमजन्य थकावट दूर हो जाती है, वह निद्रादर्शना-वर्ण कर्म है। जिस कर्मका उदय ऐसी गाढ़ी नींदमें निमित्त है, जिससे जागना अत्यन्त दुष्कर हो जाय, उठाने पर भी न उठे, वह निद्रा-निद्रादर्शनावणकर्म है। जिस कर्मका उदय ऐसी नींदमें निमित्त हो, जिससे बैठे-बैठे ही नींद आ जाय, हाथ-पैर और सिर घूमने लगे, वह प्रचलादर्शनावरण कर्म है। जिस कर्म-का उदय ऐसी नींदमें निमित्त हो, जिससे खड़े-खड़े, चलते-चलते या बैठे-बैठे

पुन: पुनः नींद आवे और हाथ-पैर चले तथा सिर घूमे वह प्रचला-प्रचला दर्शनावरणकर्म है। जिस कर्मका उदय ऐसी नींदमें निमित्त है, जिससे स्वप्न-में अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है और अत्यन्त गाढ़ी नींद आती है, वह स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणकर्म है।

जिस कर्मका उदय प्राणीके सुखके होनेमें निमित्त है, वह सातावेदनीय और जिसका उदय प्राणीके दुःखके होनेमें निमित्त है, वह असातावेदनीय कर्म है।

वस्तुतः कर्मप्रकृतियोंके दो भेद हैं:—(१) जीवविपाकी और (२) पुद्गल-विपाकी। जिनका फल जीवमें—जिन कर्मोंका उदय जीवकी विविध अव-स्थाओं और परिणामोंके होनेमें निमित्त है, वे जीवविपाकी कर्म हैं और जिन कर्मोंका उदय शरीर, वचन और मनरूप वर्गणाओंके सम्बन्धसे शरीरादिक-रूप कार्यों के होनेमें निमित्त होता है, वे पुद्गल-विपाकी कर्म हैं। वेदनीय कर्म जीवविपाकी है। अतः वह जीवगत सुख-दुःखके होनेमें निमित्त होता है।

जिसका उदय तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धान न होनेमें निमित्त है, वह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म है। जिसका उदय तात्त्विक रुचिमें बाधक न होकर भी उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोषके उत्पन्न करनेमें निमित्त है, वह सम्य-क्त्वमोहनीयकर्म है। मिश्रमोहनीयकर्मके उदयसे जीवके सम्यक्त्व और मिथ्यात्व-रूप परिणाम होते हैं।

जिसका उदय हास्यभावके होनेमें निमित्त है, वह हास्यकर्म; जिसका उदय रतिरूप भावके होनेमें निमित्त है, वह रतिकर्म; जिसका उदय अरति-रूप परिणाम होनेमें निमित्त है, वह अरतिकर्म; जिसका उदय शोकरूप परिणाम होनेमें निमित्त है, वह शोककर्म; जिसका उदय भयरूप परिणामके होनेमें निमित्त है, वह भयकर्म; जिसका उदय परिणामोंमें ग्लानि उत्पन्न करने-में निमित्त है, वह जुगुप्सा; जिसका उदय अपने दोषोंको आच्छादित करने एवं स्त्रीसुलभ भावोंके होनेमें निमित्त है, वह स्त्रीवेद; जिसका उदय उत्तम गुणोंके भोगनेरूप पुरुषसुलभ भावोंके होनेमें निमित्त है, वह पुरुषवेद एवं जिसका उदय स्त्री और पुरुषसुलभ भावोंसे विलक्षण कलुषित परिणामोंके होनेमें निमित्त है, वह नपुंसकवेदकर्म है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभके उदयके निमित्तसे सम्यक्त्वकी उपलब्धि नहीं होती और मिथ्यात्वरूप परिणति होती है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके उदयके निमित्तसे जीवको देशव्रत धारण करनेमें बाधा पहुँचती है और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके निमित्तसे

सर्वविरतिके धारण करनेमें बाधा होती है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभका उदय यथाख्यातपरिणतिको प्राप्त करनेमें बाधक है।

जिनका उदय नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवपर्यायमें जीवन व्यतीत करनेमें निमित्त हो, वे क्रमशः नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु हैं।

जिसका उदय जीवके नारक आदिरूप भावके होनेमें निमित्त है, वह गति-नामकर्म है। इसके नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार भेद हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जातियोंमें उत्पन्न होनेमें निमित्त कर्म जातिकर्म कहलाता है। औदारिक आदि शरीरोंको प्राप्त करानेमें निमित्त शरीरनामकर्म है। शरीरके अंग और उपांगोंके होनेमें निमित्त आंगोपांग नामकर्म है। जिस कर्मका उदय शरीरके लिये प्राप्त हुए पुद्गलोंका परस्पर बन्धन करानेमें निमित्त है, वह बन्धन नामकर्म है। संघात नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए पुद्गलोंका बन्धन छिद्ररहित होकर एक-सा हो जाता है। जिस नाम-कर्मका उदय शरीरकी आकृति बननेमें निमित्त है, वह संस्थाननामकर्म है। संस्थाननामकर्मके कारण ही शरीर समचतुस्र, छोटा, बड़ा, कुबड़ा, लम्बा, बौना आदि होता है। संहनननामकर्मके उदयसे हाड़ और संधियोंका बन्ध होता है। इस कर्मके निमित्तसे ही शरीरकी हड्डियाँ मजबूत, दृढ़, कोमल, कठोर और कमजोर होती हैं। शरीरगत शीत आदि आठ स्पर्श, तिक्त आदि पाँच रस, सुरभि आदि दो गंध और श्वेत आदि पाँच वर्णके होनेमें निमित्त-भूत कर्म अनुक्रमसे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नामकर्म कहलाते हैं।

जिस कर्मका उदय विग्रहगतिमें जीवका आकार पूर्ववत् बनाये रखनेमें निमित्त है, वह आनुपूर्वी नामकर्म है। प्रशस्त और अप्रशस्त गतिका निमित्त-भूत कर्म विहायोगतिनामकर्म है। अगुरुलघुनामकर्मके निमित्तसे शरीर न तो भारी होता है और न हल्का होता है। जिस कर्मका उदय शरीरके अपने ही अवयवोंसे अपना घात होनेमें निमित्त है, वह उपघात नामकर्म है। परघात नामकर्मके उदयके निमित्तसे दूसरोंका घात करनेवाले अंग निर्मित होते हैं। जिस नामकर्मका उदय जीवको श्वसोच्छ्वास लेनेमें निमित्त है, वह उच्छ्वास-नामकर्म है। आतप नामकर्मके निमित्तसे शरीरमें प्रकाश—तेज उत्पन्न होता है। उद्योत नामकर्मके उदयसे शरीरमें शीत प्रकाश—उद्योत उत्पन्न होता है। निर्माणनामकर्मोदयके निमित्तसे शरीरके अंगोपांग यथास्थान होते हैं।

जिस नामकर्मका उदय जीवके तीर्थंकर होनेमें निमित्त है, वह तीर्थंकरत्व नामकर्म कहलाता है।

त्रसनामकर्मोदयके निमित्तसे त्रसपर्याय, स्थावरनामकर्मोदयके निमित्त-

से स्थावरपर्याय, बादरनामकर्मोदयके निमित्तसे बादरपर्याय और सूक्ष्मनाम-कर्मोदयके निमित्तसे सूक्ष्मपर्यायकी प्राप्ति होती है। जिनका निवास आधारके बिना नहीं पाया जाता, वे बादर जीव हैं और जिन्हें आधारकी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे सूक्ष्म हैं।

पर्याप्तनामकर्मके उदयके निमित्तसे प्राणी अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण करते हैं। अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण नहीं करते हैं। प्रत्येकनामकर्मोदयके निमित्तसे प्रत्येकजीवका शरीर प्राप्त होता है और जिसका उदय अनन्त जीवोंको एक साधारण शरीर प्राप्त करानेमें निमित्त है, वह साधारण नामकर्म है।

स्थिरनामकर्मोदयके निमित्तसे शरीरके रस, रुधिर, मेदा, मज्जा, अस्थि, मांस और वीर्य स्थिर होते हैं और जिसका उदय इनके क्रमसे परिणमनमें निमित्त है, वह अस्थिर नामकर्म है। शुभनामकर्मोदयके निमित्तसे अंगोपांग प्रशस्त और अशुभनामकर्मोदयके निमित्तसे अंगोपांग अप्रशस्त होते हैं। स्त्री और पुरुषोंके सौभाग्यमें निमित्त सुभग नामकर्म है, और दुर्भाग्यमें निमित्त दुर्भग नामकर्म है। सुस्वर नामकर्मोदयके निमित्तसे मधुर स्वर, दुःस्वर नाम कर्मोदयके निमित्तसे कटु स्वर, आदेय नामकर्मोदयके निमित्तसे बहुमान्य और अनादेय नामकर्मके उदयसे अमान्य होता है। यशःकीर्ति नामकर्मोदयके निमित्तसे गुणप्रकाशनरूप यशकी प्राप्ति और अयशःकीर्ति नामकर्मोदयके निमित्तसे अपयशकी प्राप्ति होती है।

जिस कर्मका उदय उच्चगोत्रके प्राप्त करनेमें निमित्त है, वह उच्चगोत्र और जिसका उदय नीचगोत्रके प्राप्त करनेमें निमित्त है, वह नीचगोत्र है। गोत्र, कुल, वंश और संतान एकार्थवाचक शब्द हैं। गोत्रका आधार चारित्र है। जो प्राणी अपने वर्त्तमान जीवनमें चारित्रको स्वीकार करता है और जिसका सम्बन्ध भी ऐसे ही लोगोंसे होता है, वह उच्चगोत्रीय है, और इसके विपरीत नीचगोत्रीय हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तरायके उदयके निमित्तसे दान करने, लाभ होने, भोगरूप परिणामोंके होने, उपभोग-रूप परिणामोंके होने एवं आत्मवीर्यके प्रकट होनेमें बाधा आती है।

कर्मोंकी स्थिति

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम है। नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और

अन्तराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष कर्मो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

अनुभाग बंध

कर्मों में विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका पड़ना ही अनुभाग है। जिस कर्मका जैसा नाम है, उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है और फल प्राप्त हो जानेके पश्चात् कर्मकी निर्जरा हो जाती है। कर्मबन्धके समय जिस जीवके कषायकी जैसी तीव्रता या मन्दता रहती है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप जैसा निमित्त मिलता है, उसीके अनुसार कर्ममें फल देनेकी शक्ति आती है। कर्मके बन्धके समय यदि शुभ परिणाम होते है, तो पुण्यप्रकृतियोंमें प्रकृष्ट और पापप्रकृतियोंमें निकृष्ट फलदानशक्ति प्राप्त होती है। यदि कर्म-बंधके समय अशुभ परिणामोंकी तीव्रता होती है, तो पापप्रकृतियोंमें प्रकृष्ट और पुण्यप्रकृतियोंमें निकृष्ट फलदानशक्ति रहती है। कर्मप्रकृतियोंमें नामके अनुसार ही अनुभाग प्राप्त होता है। ज्ञानावरणप्रकृतिमें ज्ञानको और दर्शना-वरणमें दर्शनको आवृत करनेका अनुभाग प्राप्त होता है।

कर्मफलदान-प्रक्रिया

कर्म स्वयं ही अपना फल देते हैं। उनके फलदानहेतु किसी अन्य कर्त्ता या न्यायाधीशकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार मदिरा पान करनेसे उसकी मादक शक्ति स्वयं अपना प्रभाव दिखलाती है, इस प्रभावके लिये किसी अन्य शक्तिकी आवश्यकता नहीं; इसी प्रकार यह जीव कर्मोका बन्ध स्वयं करता है और स्वयं ही उन कर्मोके उदय होनेवाले अनुभाग—फलोंको प्राप्त करता है। जीवकी प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तिके साथ, जो कर्मपरमाणु जीवात्माकी ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेषका निमित्त पाकर उस जीवसे बंध जाते हैं, उन कर्मपरमाणुओंमें भी शुभ और अशुभ प्रभाव डालनेकी शक्ति रहती है। जो चैतन्यके सम्बन्धसे व्यक्त होकर जीवपर अपना प्रभाव डालते हैं और उसके प्रभावसे मुग्ध हुआ जीव ऐसे कार्य करता है, जो सुखदायक या दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीवके भाव शुभ होते हैं, तो बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंपर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है और उनका फल भी अच्छा होता है।

गहरायीमें प्रवेश करने पर अवगत होता है कि कर्मो का बन्ध आत्माके परिणामोंके अनुसार होता है और उनमें जैसा स्वभाव और हीनाधिक फलदान-शक्ति पड़ जाती है तदनुसार कार्यके होनेमें वे निमित्त होते रहते हैं। जीव

स्वयं ही संसारी होता है और स्वयं ही मुक्त। राग-द्वेष आदिरूप अशुद्ध और केवलज्ञान आदिरूप शुद्ध जितनी भी अवस्थाएँ होती हैं, वे सब जीवकी ही होती हैं, जीवके सिवाय अन्य द्रव्यमें नहीं पायी जाती हैं। शुद्धता और अशुद्धताका भेद निमित्तकी अपेक्षासे किया जाता है। निमित्त दो प्रकारके हैं:—(१) साधारण और (२) विशेष। साधारण निमित्त सभी द्रव्योंमें समानरूपसे कार्य करते हैं और विशेष निमित्त प्रत्येक कार्यके अलग-अलग होते हैं। यथा—घटपर्यायकी उत्पत्तिमें कुम्हार निमित्त है और जीवकी अशुद्ध अवस्थामें कर्म-निमित्त है। जब तक जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध है, तब तक राग-द्वेष, मोह आदि भाव उत्पन्न होते हैं। कर्मके अभावमें नहीं। अतः संसारका मुख्य कारण कर्म है। कर्म और संसारका अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। इनकी सम-व्याप्ति भी मानी जा सकती है।

कर्मका भोग स्वयं ही विविध प्रकारसे सम्पन्न होता है। अतएव संक्षेपमें जीव कर्म करनेमें भी स्वतन्त्र है और फल भोगनेमें भी। कर्मफलदाता ईश्वर नामक कोई शक्ति नहीं है। जीवके कर्मों में ही स्वतः फलदानशक्ति विद्यमान है। यतः मनुष्यके बुरे कर्म उसकी बुद्धिपर इस प्रकारका संस्कार उत्पन्न करते हैं, जिससे वह क्रोधमें आकर दूसरोंका घात कर डालता है और इस प्रकार उसके बुरे कर्म उसे बुरे मार्गकी ओर ही तबतक लिये जाते हैं, जब-तक वह उधरसे सावधान नहीं होता।

संक्षेपमें कर्मफलका नियामक ईश्वर नहीं है। कर्मपरमाणुओंमें जीवात्मा-के सम्बन्धसे एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव आदि उदयानुकूल सामग्रीसे विपाक-प्रदर्शनमें समर्थ हो जीवात्माके संस्कारोंको विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। आत्मा अपने कियेका अपने आप फल भोगता है। कर्मपरमाणु सहकारी या सचेतकका कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजनको कुछ भी नहीं होता, फिर भी आत्माका संयोग प्राप्तकर उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही भोजन करनेवालेको इष्ट या अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः कर्मपरमाणुओंमें विचित्र शक्ति निहित है और उसके नियमनके विविध प्राकृतिक नियम भी विद्यमान हैं। अतएव कर्मों की फलदानशक्ति स्वयं ही प्राप्त होती है।

कर्मोंके कारण

कर्मोंमें दश प्रकारकी मुख्य अवस्थाएँ या क्रियाएँ होती हैं, जिन्हें करण कहते हैं। करण दश हैं:—(१) बन्ध, (२) उत्कर्षण, (३) अपकर्षण, (४) सत्ता,

(५) उदय, (६) उदीरण, (७) संक्रमण, (८) उपशम, (९) निधत्ति और (१०) निकाचना।

बन्ध

कर्मवर्गणाओंका आत्म-प्रदेशोंसे सम्बद्ध होना बन्ध है। यह सबसे पहला करण है। उसके बिना अन्य कोई अवस्था सम्भव नहीं। बन्धके चार भेद हैं:—(१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) अनुभाग और (४) प्रदेश। जिस कर्मका जो स्वभाव है, वह उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आवृत करना है। स्थिति कर्मकी समय-मर्यादाको कहते हैं। अनुभाग फलदानशक्तिका नाम है। प्रत्येक कर्ममें न्यूनाधिक फल देनेकी योग्यता होती है। प्रतिसमय बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंकी परिगणना प्रदेशबंधमें की जाती है।

उत्कर्षण

स्थिति और अनुभागके बढ़नेको उत्कर्षण कहते हैं। यह क्रिया बन्धके समय ही सम्भव है। जिस कर्मकी स्थिति और अनुभाग बढ़ाया जाता है, उसका पुनः बन्ध होनेपर पिछले बन्धे हुए कर्मका नवीन बन्धके समय स्थिति अनुभाग बढ़ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद इसके अनेक हैं।

अपकर्षण

स्थिति और अनुभागके घटानेकी अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोड़कर किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभागको कम किया जा सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि शुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है तथा अशुभ परिणामोंसे शुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है।

कर्मबन्धके पश्चात् दो क्रियाएँ होती हैं:—अशुभ कर्मोंका बन्ध करनेके पश्चात् यदि जीव शुभ कर्म करता है, तो उसके पहले बन्धे हुए अशुभ कर्मोंकी स्थिति और फलदानशक्ति शुभ भावोंके प्रभावसे घट जाती है। अशुभ कर्मोंका बन्ध करनेके पश्चात् यदि जीवके भाव और अधिक कलुषित हो जाते हैं, और वह भी अधिक अशुभ कार्य करने लगता है, तो अशुभ भावोंका प्रभाव प्राप्तकर प्रथम बान्धे हुए कर्मोंकी स्थिति और फलदानशक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षणके कारण ही कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई विलम्बसे। किसी कर्मका फल तीव्र होता है और किसीका मन्द।

सत्ता

बन्धनेके बाद कर्म तत्काल फल नहीं देता। कुछ समय बाद उसका फल प्राप्त होता है। जबतक वह अपना काम नहीं करता, तबतक उसकी वह अवस्था सत्ताके नामसे अभिहित की जाती है। जिस प्रकार मदिरापान करनेपर तुरन्त उसका प्रभाव दिखलायी नहीं पड़ता, कुछ समयके पश्चात् ही वह अपना नशा दिखलाता है। इसी प्रकार कर्म भी बन्धनेके बाद कुछ समय तक सत्तामें रहता है। इस कालको आबाधा काल कहते हैं। साधारणतया कर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिके अनुसार होता है। जिस कर्मकी जितनी स्थिति रहती है, उसका आबाधाकाल भी उतना ही अधिक होता है। एक कोड़ा-कोड़ी सागरकी स्थितिमें सौ वर्षका आबाधाकाल होता है। अर्थात्, यदि किसी कर्मकी स्थिति एक कोड़ा-कोड़ी सागर हो, तो वह कर्म सौ वर्षके पश्चात् फल देना आरम्भ करता है और तबतक फल देता रहता है, जबतक उसकी स्थिति पूरी नहीं हो जाती। आयु कर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिपर निर्भर नहीं है।

उदय

प्रत्येक कर्मका फल-काल निश्चित रहता है। इसके प्राप्त होनेपर कर्मके फल देनेरूप अवस्थाकी उदयसंज्ञा है। फल देनेके पश्चात् उस कर्मकी निर्जरा हो जाती है। यह उदय दो प्रकारका है:—(१) फलोदय और (२) प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है, तब वह फलोदय कहा जाता है और जब कर्म बिना फल दिये ही नष्ट होता है, तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

उदीरणा

फलकालके पहले फल देने रूप अवस्थाकी उदीरणा संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोड़कर साधारणतः कर्मोंके उदय और उदीरणावस्था सर्वदा होती रहती है। उदीरणामें नियत समयसे पहले कर्मका विपाक हो जाता है। उदीरणाके लिये अपकर्षण करण द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है और स्थितिके घट जानेपर कर्म नियत समयसे पहले उदयमें आ जाता है। जिसप्रकार आम्र आदि फलोंको जल्दी पकानेके हेतु पेड़से तोड़कर पालमें रख देते हैं, जिससे वे आम जल्दी ही पक जाते हैं। इसी प्रकार उदयमें आनेके पहले कर्मोंकी उदीरणा कर देना उदीरणा करण है।

संक्रमण

एक कर्मका दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जानेको संक्रमण करण कहते हैं। यह संक्रमण मूल प्रकृतियोंमें नहीं होता। उत्तर प्रकृतियोंमें ही होता है। आयु

कर्मके अवान्तर भेदोंमें भी परस्पर संक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीयका चारित्रमोहनीयरूपसे अथवा चारित्रमोहनोयका दर्शनमोहनीयरूपसे संक्रमण होता है।

एक कर्मका अवान्तर भेद अपने सजातीय अन्य भेद रूप हो सकता है। जैसे वेदनोय कर्मके दो भेदोंमेंसे सातावेदनीय असातावेदनीयरूप हो सकता है और असातावेदनीय सातावेदनीयरूप हो सकता है।

उपशान्त

कर्मकी वह अवस्था, जो उदीरणाके अयोग्य होती है, उपशान्त कहलाती है। उपशान्त अवस्थाको प्राप्त कर्मका उत्कर्षण-अपकर्षण और संक्रमण हो सकता है, किन्तु उसकी उदीरणा नहीं होती। वस्तुतः कर्मको उदयमें आ सकनेके अयोग्य कर देना उपशम करण है।

निधत्ति

कर्मकी वह अवस्था, जो उदीरणा और संक्रमण इन दोनोंके अयोग्य होती है, निधत्ति कहलाती है। निधत्ति अवस्थाको प्राप्त कर्मका उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है, किन्तु इसका उदीरणा और संक्रमण नहीं होता। यथार्थतः कर्मका संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

निकाचना

कर्मकी वह अवस्था, जो उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण इन चारके अयोग्य है, निकाचना कहलाती है। इसका स्वमुखेन या परमुखेन उदय होता है।

कर्मकी इन विभिन्न दशाओंके अतिरिक्त उसके स्वामी, स्थिति, उदय, सत्व, क्षय आदिको भी इसी प्रकार अवगत करना चाहिये।

पुनर्जन्म

पूर्व शरीरका त्याग कर नये शरीरका ग्रहण करना जन्म है। जब जीवकी भुज्यमान आयु समाप्त हो जाती है, तो वह नये भवको धारण करता है। स्थूल शरीरके नष्ट होनेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता है, यह शाश्वतिक है और अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणसे युक्त है। आत्मा अन्वयी है, पूर्व जन्म और उत्तर जन्म दोनों उसकी अवस्थाएँ हैं, आत्मा दोनोंमें एक रूपमें निवास करती है। अतएव मृत्यु केवल पर्यायका विनाश है, द्रव्य—आत्माका नहीं। जिस प्रकार वस्त्रके जीर्ण हो जानेपर नया वस्त्र धारण किया जाता है उसी प्रकार

पुरातन शरीरको छोड़कर मृत्युके अनन्तर नया शरीर आत्मा धारण करती है। कर्मसिद्धान्तके अनुसार यह जन्म-मरणकी परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है।

वस्तुत: प्राणीके शरीर छोड़नेपर उसके जीवनभरके विचार, वचन-व्यवहार और अन्य प्रकारके संस्कार आत्मापर और आत्मासे चिरसंयुक्त कार्मण-शरीर-पर पड़ते हैं और इन संस्कारोंके कारण ही सूक्ष्म कार्मण शरीर द्वारा आत्मा नूतन जन्म ग्रहण करनेका अवसर प्राप्त कर लेती है। अर्थात् आत्मा पुराने शरीरके नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण-शरीरके साथ उस स्थान तक पहुँच जाती है। इस क्रियामें प्राणीके शरीर छोड़नेके समयके भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती हैं। एक बार नया शरीर धारण करनेके बाद उस शरीर-की स्थिति तक प्रायः समान परिस्थितियाँ बनी रहनेकी संभावना रहती है।

सारांश यह है कि आत्मा परिणामी होनेके कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंसे उन-उन प्रकारके शुभ और अशुभ संस्कारोंमें स्वयं परिणत होती जाती है और वातावरणको भी उसी प्रकारसे प्रभावित करती है। ये आत्म-संस्कार अपने पूर्व बद्ध कार्मण शरीरमें कुछ नये कर्मपर-माणुओंका सम्बन्ध करा देते हैं, जिनके परिपाकसे वे संस्कार आत्मामें शुभ या अशुभ भाव उत्पन्न करते हैं। आत्मा स्वयं इन संस्कारोंका कर्त्ता और स्वयं ही उनके फलोंका भोक्ता है। जब आत्माकी दृष्टि अपने मूल स्वरूपकी ओर हो जाती है, तो शनैः शनैः कुसंस्कार नष्ट होकर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस शरीरको धारण किये हुए भी स्वानुभूतिकर्त्ता, पूर्ण वीतराग और पूर्णज्ञानी बन जाता है।

स्वभावत: आत्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियाँ विद्यमान हैं। यह स्वयं अपने संस्कारों और बद्धकर्मोंके अनुसार असंख्य जीव-योनियोंमें जन्म-मरणके भारको ढोता रहता है। आत्मा सर्वथा अपरिणामी और निर्लिप्त नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है। वैभाविकी शक्तिके कारण अशुद्ध परिणमनके फलस्वरूप आत्मा जन्म-मरणकी परम्पराका आश्रय ग्रहण करती है। स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त करनेपर मुक्ति हो जाती है।

आत्माके पुनर्जन्ममें अन्य कोई व्यवस्थापक, नियन्त्रक या नियोजक नहीं है, आत्मा स्वयं ही परिणमनशीलताके कारण एक शरीरको त्यागकर अन्य शरीर धारण करती है। जीव पूर्व शरीर त्याग करके नूतन शरीरको ग्रहण करनेके लिए गति करता है, यह गति मोड़ेवाली होती है। अन्तरालमें कार्मण-शरीर रहता है और कार्मणवर्गणाओंका ग्रहण भी होता है। अत: जीवके आत्म-प्रदेशोंके परिस्पन्दमें कार्मणवर्गणाएँ निमित्तरूप होती हैं।

जीव और पुद्गल ये दोनों गतिशील हैं। इन दोनोंमें गमनक्रियाकी शक्ति हैं, निमित्त मिलनेपर ये गमन करने लगते हैं। संसारी जीव और पुद्गलोंकी गतिका कोई नियम नहीं हैं, पर जब जीव एक पर्याय त्यागकर दूसरी पर्यायको प्राप्त करनेके लिए गमन करता है, उस समय जीवकी सरल गति होती है। सरल गतिका आशय है कि जीव या पुद्गल आकाशके जिन प्रदेशोंपर स्थित हों, वहाँसे गति करते हुए वे उन्हीं प्रदेशोंकी सरल रेखाके अनुसार ऊपर, नीचे या तिरछे गमन करते हैं। इसीको अनुश्रेणि गति—पंक्तिके अनुसार गति कहते हैं।

नया शरीर ग्रहण करनेके लिए दो प्रकारकी गतियाँ होती हैं:—(१) ऋजु और (२) वक्र। प्राप्य स्थान सरलरेखामें हो, वह ऋजु गति और जिसमें पूर्व स्थानसे नये स्थानको प्राप्त करनेके लिए सरल रेखा भंग करनी पड़े, वह वक्र गति है। संसारी जीवोंका उत्पत्ति स्थान सरलरेखामें होता है और वक्ररेखामें भी। आनुपूर्वीकर्मोदयके अनुसार उत्पत्तिस्थानकी प्राप्ति होती है। अतः जन्मान्तर ग्रहण करनेवाली आत्मा ऋजुगति और वक्रगति दोनोंको धारण करती है।

अन्तराल गतिका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चार समय है। ऋजु गतिमें एक समय, पाणिमुक्तागतिमें दो समय, लाङ्गलिकागतिमें तीन समय और गोमूत्रिकागतिमें चार समय लगते हैं। मोड़ लेनेके अनुसार समयकी संख्या बढ़ती जाती है। एक मोड़ लेनेपर दो समय, दो मोड़ लेनेपर तीन समय और तीन मोड़ लेनेपर चार समय लगता है।

जन्मके भेद

जन्मके तीन भेद हैं—(१) सम्मूर्च्छन, (२) गर्भ और (३) उपपाद। माता-पिताकी अपेक्षा किये विना उत्पत्ति स्थानमें औदारिक परमाणुओंको शरीर-रूप परिणमाते हुए उत्पन्न होना सम्मूर्च्छन जन्म है। माता-पिताके रज-वीर्यको शरीररूपसे परिणमाते हुए उत्पन्न होना गर्भ जन्म है। उत्पत्तिस्थानमें स्थित वैक्रियिक पुद्गलोंको शरीररूपसे परिणमाते हुए उत्पन्न होना उपपाद जन्म है। जरायुज, अण्डज और पोत प्राणियोंके गर्भ जन्म होता है, देव और नार-कयोंके उपपाद जन्म होता है तथा पाँच स्थावरकाय, तीन विकलेन्द्रिय, सम्मूर्च्छन मनुष्य और सम्मूर्च्छन पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

योनि और शरीर

जिस आधारमें जीव जन्म लेता है, उसे योनि कहते हैं। योनिको प्राप्त जीव नूतन शरीरके हेतु ग्रहण किये गये पुद्गलोंमें अनुप्रविष्ट हो जाता है और पश्चात्

शरीरकी वृद्धि और पुष्टि होने लगती है। योनियोंके मूल भेद नौ हैं और उत्तर भेद चौरासी लाख हैं:—(१) सचित्त, (२) शीत, (३) संवृत, (४) अचित्त, (५) उष्ण, (६) विवृत, (७) सचित्ताचित्त, (८) शीतोष्ण और (९) संवृतविवृत।

जीवप्रदेशोंमें अधिष्ठित योनि सचित्त योनि है। जीवप्रदेशोंसे अधिष्ठित न होना अचित्त योनि है। जो योनि कुछ भागमें जीव प्रदेशोंसे अधिष्ठित हो और कुछ भागमें जीवप्रदेशोंसे अधिष्ठित न हो, वह मिश्र योनि है। शीत स्पर्शवाली शीत योनि, उष्ण स्पर्शवाली उष्ण योनि और मिश्रित स्पर्शवाली मिश्र योनि होती है। ढकी योनिको संवृत, खुलीको विवृत और कुछ ढकी तथा कुछ खुलीको संवृतविवृत योनि कहते हैं। योनि और जन्ममें आधार-आधेय-भावका सम्बन्ध है।

शरीर पाँच प्रकारके होते हैं:—(१) औदारिकशरीर (२) वैक्रियिकशरीर, (३) आहारकशरीर, (४) तैजसशरीर और (५) कार्मणशरीर। ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते गये हैं। तैजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाति है—न तो अन्य पदार्थोंको रोकते हैं और न अन्य पदार्थोंके द्वारा इनका अवरोध होता है। ये दोनों अनादिकालसे आत्मासे सम्बद्ध हैं। समस्त संसारी जीवोंके ये दोनों शरीर पाये जाते हैं। औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है, वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे, तैजस शरीर लब्धिके निमित्तसे और अहारक शरीर शुभ, विशुद्ध एवं व्याघात रहित है। यों तो शरीर अनन्त प्रकारके हो सकते हैं, पर शरीरनामकर्मके मुख्य भेदोंकी अपेक्षा विचार करनेसे शरीरके पाँच ही भेद हैं। स्थूल शरीर औदारिक कहलाता है। छोटा, बड़ा, हल्का भारी आदि अनेक रूपोंको प्राप्त होनेवाला शरीर वैक्रियिक कहा जाता है। सूक्ष्म पदार्थोंका निर्णय करनेके लिए प्रमत्तगुणस्थानवाले मुनिके मस्तिष्कसे निकलनेवाला एक हाथ प्रमाण शुभ पुतला आहारक शरीर है। तेजोमय शुक्ल प्रभाववाला तैजस शरीर और कर्मोंका समूह कार्मण शरीर होता है।

लोकस्वरूप

आकाशके जितने भागमें जीव, पुद्गल आदि षड्द्रव्य पाये जायँ, वह लोक है[१] और उसके चारों ओर अनन्त अलोक है। इस अनन्त आकाशके मध्यमें

१. धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो॥

—*द्रव्यसंग्रह-गाथा*, २०.

धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोकः। तथा चोक्तम्—लोक्यन्ते

अनादि और अकृत्रिम रूपसे लोक अवस्थित है। यह लोक मनुष्याकार है तथा चारों ओर तीन प्रकारकी वायुओंसे वेष्टित है। अर्थात् लोक घनोदधि-वातवलयसे, घनोदधि वातवलय घनवातवलयसे और घनवातवलय तनुवातवलयसे वेष्टित है। तनुवातवलय आकाशके आश्रय है और आकाश अपने ही आश्रय है, उसको दूसरे आश्रयकी आवश्यकता नहीं। यतः आकाश सर्वव्यापी है।

घनोदधिवातवलयका वर्ण मूँगके सदृश, घनवातवलयका वर्ण गोमूत्रके सदृश और तनुवातवलयका वर्ण अव्यक्त है। इस लोकके मध्यमें एक राजू चौड़ी, एक राजू लम्बी और चौदह राजू ऊँची त्रसनाड़ी है। द्वीन्द्रियादि त्रस-जीव इसी त्रसनाड़ीमें रहते हैं, इसके बाहर त्रसजीवोंका अस्तित्व नहीं है।

लोकके भेद

लोकके तीन भाग हैं:—(१) अधोलोक, (२) मध्यलोक और (३) ऊर्ध्वलोक। मूलसे सात राजूकी ऊँचाई तक अधोलोक है, सुमेरुपर्वतकी ऊँचाईके तुल्य मध्यलोक है और सुमेरुपर्वतसे ऊपर एक लाख चालीस योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। लोकको धारण करनेवाला कोई व्यक्ति या परोक्ष शक्ति नहीं है। यह स्वभावतः अवस्थित है।

अधोलोक : स्वरूप और विस्तार

सुमेरुपर्वतकी जड़से नीचे सात राजू प्रमाण अधोलोक अवस्थित है। जिस पृथ्वीपर हमलोग निवास करते हैं, उस पृथ्वीका नाम चित्रा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक हजार योजन है और यह पृथ्वी मध्यलोकमें सम्मिलित है। सुमेरु-पर्वतकी जड़ एक हजार योजन चित्रा पृथ्वीके भीतर है, शेष निन्यानवे हजार योजन चित्रापृथ्वीके ऊपर है और चालीस योजनकी चूलिका है। सब मिलाकर एक लाख चालीस योजन ऊँचा मध्यलोक है। मेरुको जड़के नीचेसे अधोलोक प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम मेरुपर्वतकी आधारभूत रत्नप्रभा पृथ्वी है। इसका पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण दिशामें लोकके अन्त पर्यन्त विस्तार है। रत्नप्रभाकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। इसके आगे शर्कराप्रभा नामक दूसरी पृथ्वी है, जिसकी मोटाई बत्तीस हजार योजन है। शर्कराप्रभाके नीचे कुछ दूर तक केवल आकाश है, जिसके आगे अट्ठाईस हजार योजन मोटी

दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति। तस्माल्लोकाकाशात्परतो बहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति। स चानादिनिधनः केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हृतो न धृतो न च रक्षितः।

—बृहद्द्रव्यसंग्रह-संस्कृत-टीका—२० गाथा, पृष्ठ ५९.

बालुकाप्रभा तीसरी पृथ्वी है। चौथी पंकप्रभा पृथ्वी चौबीस हजार योजन मोटी, पाँचवीं धूमप्रभा बीस हजार योजन मोटी, छठी तमप्रभा सोलह हजार योजन मोटी और सातवीं महातमप्रभा आठ हजार योजन मोटी है। सातवीं पृथ्वीके नीचे एक राजू प्रमाण आकाश निगोदादिक जीवोंसे भरा हुआ है। वहाँ कोई पृथ्वी नहीं है। इन सातों पृथिवियोंको क्रमशः धर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी नामोंसे भी अभिहित किया जाता है।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं:—(१) खरभाग, (२) पंकभाग और (३) अब्बहुलभाग।

मुक्त जीव लोकके शिखरपर निवास करते हैं और संसारी जीवोंका निवास समस्त लोक है। गतिकी अपेक्षा संसारी जीवोंके चार भेद हैं:—(१) देव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च और (४) नारकी। देवोंके भी चार भेद हैं:—(१) भवनवासी (२) व्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भवनवासियोंके (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) विद्युत्कुमार, (४) सुपर्णकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) वातकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) उदधिकुमार, (९) द्वीपकुमार और (१०) दिक्कुमार ये दस भेद हैं। व्यन्तरोंके (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत और (८) पिशाच ये आठ भेद हैं। खरभागमें असुरकुमारको छोड़कर शेष नवप्रकारके भवनवासी देव और राक्षसके अतिरिक्त शेष सात प्रकारके व्यन्तरदेव निवास करते हैं। पंकभागमें असुरकुमार और राक्षसोंके निवास स्थान हैं। अब्बहुलभाग और शेष छः पृथ्वियोंमें नारकियोंका निवास है।

नारकियोंके निवासरूप सातों पृथिवियोंमें कुल ४९ पटल हैं। पहली पृथिवीके अब्बहुल भागमें १३, दूसरीमें ११, तीसरीमें ९, चौथीमें ७, पाँचवीमें ५, छठीमें ३ और सातवीं पृथ्वीमें १ पटल है। ये पटल इन भूमियोंके ऊपर नीचेके एक-एक हजार योजन छोड़कर समान अन्तरपर स्थित हैं।

पहले नरकमें एक सागर, दूसरेमें तीन सागर, तीसरेमें सात सागर, चौथेमें दस सागर, पाँचवेंमें सत्रह सागर, छठेमें बाईस सागर और सातवेंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रथम नरकमें जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है और प्रथमादि नरकोंकी उत्कृष्ट आयु ही द्वितीयादि नरकोंमें जघन्य आयु होती जाती है।

पापोदयसे यह जीव नरकगतिमें जन्म ग्रहण करता है। यहाँ नाना प्रकारके भयानक तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं। पहली चार पृथिवियों और पाँचवींके

तृतीयांश नरकोंमें उष्णताकी तीव्र वेदना है तथा नीचेके नरकोंमें शीतजन्य तीव्र वेदना है। तीसरे नरक पर्यन्त असुरकुमार जातिके देव आकर नारकियोंको परस्पर लड़ाते हैं। नारकियोंका शरीर अनेक रोगोंसे ग्रस्त रहता है और परिणामोंमें नित्य क्रूरता बनी रहती है। नरकोंकी भूमि महादुर्गन्धयुक्त अनेक उपद्रवों सहित होती है। नारकियोंमें परस्पर जातिविरोध होता है। वे परस्परमें एक दूसरेको भयानक दुःख देते हैं। छेदन, भेदन, ताड़न, मारण आदि नाना प्रकारकी घोर वेदनाओंको सहते हुए दारुण दुःखका अनुभव करते हैं।

नारकी मरणकर नरक और देवगतिमें जन्म नहीं ग्रहण करते, किन्तु मनुष्य और तिर्यंच गतिमें ही जन्म लेते हैं। इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यञ्च ही नरक गतिमें जन्म ग्रहण करते है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मरकर प्रथम नरक तक; सरीसृप जातिके जीव दूसरे नरक तक; पक्षी तीसरे नरक तक, सर्प चौथे नरक तक, सिंह पाँचवें नरक तक; स्त्री छठे नरक तक और कर्मभूमिमें उत्पन्न पुरुष तथा मत्स्य सातवें नरक तक जन्म ग्रहण करते हैं। भोगभूमिके जीव नरक नहीं जाते, किन्तु वे देव ही होते हैं। यदि कोई निरन्तर नरक जाय तो पहले नरकमें आठ बार तक, दूसरे नरकमें सात बार तक, तीसरे नरकमें छः बार तक, चौथे नरकमें पांच बार तक, पाँचवे नरकमें चार बार तक, छठे नरकमें तीन बार तक और सातवें नरकमें दो बार तक निरन्तर जा सकता है, अधिक बार नहीं। सातवें नरकसे निकलकर तिर्यञ्च पर्याय ही प्राप्त होती है। छठे नरकसे निकले हुए जीव संयम धारण नहीं कर पाते। पञ्चम नरकसे निकले हुए जीव मोक्षको नहीं जा सकते। चतुर्थ नरकसे निकले जीव तीर्थंकर नहीं होते; पर प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरकसे निकले जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। नरकसे निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नहीं होते।

मध्यलोक : स्वरूप और विस्तार

अधोलोकसे ऊपर एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा और एक लाख चालीस योजन ऊँचा मध्यलोक है। यह मध्यलोक उत्तर-दक्षिण सात राजू और पूर्व-पश्चिम एक राजू है। इसका आकार झालरके समान है। मध्यलोकके बीचमें गोलाकार एक लक्ष योजन व्यासवाला जम्बूद्वीप है। इस जम्बूद्वीपको घेरे हुए गोलाकार लवण समुद्र है। इस लवण समुद्रकी चौड़ाई सर्वत्र दो लाख योजन है। इसे घेरे हुए धातकीखण्ड द्वीप है, इसकी चौड़ाई चार लाख योजन है। इस द्वीपको घेरे हुए आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है। कालोदधि समुद्रको चारों ओरसे घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस प्रकारसे दूने-दूने विस्तारको लिए परस्पर एक दूसरेको बेड़े हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र

हैं। अन्तमें स्वयंभूरमण समुद्र है। चारों कोनोंमें पृथ्वी है। पुष्करद्वीपके बीचों-बीच मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे पुष्करद्वीपके दो भाग हो गये हैं। जम्बूद्वीप, घातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध, इस प्रकार ढाई द्वीपमें मनुष्य रहते हैं, इससे बाहर मनुष्य नहीं हैं। स्थावर जीव समस्त लोकमें भरे हुए हैं। जलचर जीव लवणोदधि, कालोदधि और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रोंमें निवास करते हैं।

जम्बूद्वीप एक लाख योजन चौड़ा गोलाकार है। इसमें पूर्व और पश्चिम दिशामें लम्बायमान दोनों ओर पूर्व-पश्चिम समुद्रको स्पर्श करते हुए (१) हिमवत्, (२) महाहिमवान्, (३) निषध, (४) नील, (५) रुक्मि और (६) शिखरी ये छः कुलाचल हैं, इन्हें वर्षधर भी कहा जाता है। इनके निमित्तसे जम्बूद्वीपके सात भाग हो गये हैं। दक्षिण दिशाके प्रथम भागका नाम भरत क्षेत्र, द्वितीय भागका नाम हैमवत और तृतीय भागका नाम हरिक्षेत्र है। इसी प्रकार उत्तर दिशाके प्रथम भागका नाम ऐरावत, द्वितीय भागका नाम हैरण्यवत और तृतीय भागका नाम रम्यक क्षेत्र है। मध्य भागका नाम विदेह क्षेत्र है। भरत क्षेत्रकी चौड़ाई ५२६/६।१९ योजन अर्थात् जम्बूद्वीपकी चौड़ाईके एक लाख योजनके १९० भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है। हिमवत पर्वतकी चौड़ाई दो भाग, हैमवत क्षेत्रकी चार भाग, महाहिमवत् पर्वतकी आठ भाग, हरिक्षेत्रकी सोलह भाग और निषधकी बत्तीस भाग प्रमाण है। सब मिलाकर ६३ भाग प्रमाण हुए। इसी प्रकार उत्तर दिशामें ऐरावत क्षेत्रसे लेकर नीलपर्वत तक ६३ भाग है। मध्यका विदेह क्षेत्र ६४ भाग है। इस प्रकार कुल मिलाकर ६३ + ६३ + ६४ = १९० भाग प्रमाण है।

हिमवत् पर्वतकी ऊँचाई सौ योजन, महाहिमवत्की दो सौ योजन, निषधकी चार सौ योजन, नीलकी चार सौ योजन, रुक्मिकी दो सौ योजन और शिखरीकी सौ योजन है। इन सभी कुलाचलोंकी चौड़ाई ऊपर, नीचे और मध्यमें समान है। इन कुलाचलोंके पखवाड़ोंमें अनेक प्रकारकी मणियाँ हैं। ये हिमवदादिक छहों पर्वत क्रमशः सुवर्ण, रजत, तप्तसुवर्ण, वैडूर्य, चाँदी और सुवर्णके वर्ण वाले हैं। इन कुलाचलोंके ऊपर पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक संज्ञक छः तालाब हैं। इन कुण्डोंकी लम्बाई १०००। २०००।४०००।४०००।२००० और १००० योजन है। चौढ़ाई ५००।१०००।२०००। २०००।१०००।५०० योजन है। गहराई १०।२०।४०।४०।२०।१० योजन है। इन तालाबोंमें पार्थिव कमल हैं, जिनकी ऊँचाई और चौड़ाई १।२।४।४।२।१ योजन है। इन कमलोंपर पल्योपम आयुवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्त्ति, बुद्धि और लक्ष्मी जातिकी देवियाँ सामानिक और पारिषद् जातिके देवों सहित क्रमसे निवास करती हैं।

इन सात क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो क्रमसे गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ प्रवाहित होती हैं।

विदेहक्षेत्रके बीचमें सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वतकी जड़ एक हजार योजन भूमिमें है तथा निन्यानबे हजार योजन भूमिके ऊपर ऊँचाई है और चालीस योजनकी चूलिका है। यह सुमेरु पर्वत गोलाकार भूमिपर दश हजार योजन चौड़ा तथा ऊपर एक हजार योजन चौड़ा है। सुमेरुपर्वतके चारों ओर भूमिपर भद्रशाल वन है। यह भद्रशाल वन पूर्व और पश्चिम दिशामें बाईस-बाईस हजार योजन और उत्तर-दक्षिण दिशामें ढाई-ढाई सौ योजन चौड़ा है। पृथ्वीसे पाँच-सौ योजन जानेपर सुमेरुके चारों ओर प्रथम कटनीपर पाँचसौ योजन चौड़ा नन्दनवन है। नन्दनवनसे बासठ हजार पाँचसौ योजन ऊँचा चढ़नेपर सुमेरुके चारों ओर द्वितीय-कटनीपर पाँचसौ योजन चौड़ा सौमनस वन है। सौमनस वनसे छत्तीस हजार योजन ऊँचा चलनेपर सुमेरुके चारों ओर तीसरी कटनीपर चारसौ चौरानबे योजन चौड़ा पाण्डुक वन है। मेरुकी चारों विदिशाओंमें चार गजदन्त पर्वत हैं। दक्षिण और उत्तरमें भद्रशाल तथा निषध और नील पर्वतके बीचमें देवकुरु और उत्तरकुरु हैं। मेरुकी पूर्व दिशामें पूर्व विदेह और पश्चिम दिशामें पश्चिम विदेह हैं। पूर्व विदेहके बीचमें होकर सीता और पश्चिम विदेहमें होकर सीतोदा नदी पूर्व और पश्चिम समुद्रको गयी हैं। इस प्रकार दोनों नदियोंके दक्षिण और उत्तर तटकी अपेक्षासे विदेहके चार भाग हैं और प्रत्येक भागमें आठ-आठ देश हैं। इन आठों देशोंका विभाग करनेवाले वक्षार पर्वत तथा विभँगा नदी हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमें विजयार्द्ध पर्वत है। भरत और ऐरावतके छः-छः खण्ड हैं। इनमेंसे एक-एक आर्यखण्ड और पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं।

मनुष्यलोकके भीतर पन्द्रह कर्मभूमि और तीस भोगभूमियाँ हैं। जहाँ असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यरूप षट्कर्मकी प्रवृत्ति हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं और जहाँ कल्पवृक्षों द्वारा भोगोंकी प्राप्ति हो, उसे भोग-भूमि कहते हैं।

भोगभूमिके तीन भेद हैं:—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) जघन्य। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रोंमें जघन्य भोगभूमि है। हरि और रम्यक क्षेत्रोंमें मध्यम भोगभूमि एवं देवकुरु और उत्तरकुरुमें उत्कृष्ट भोगभूमि है। मनुष्यलोकके बाहर सर्वत्र जघन्य भोगभूमिकी-सी रचना है, किन्तु अन्तिम स्वयंभूरमणद्वीपके

उत्तरार्द्धमें तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें तथा चारों कोनोंकी पृथिवियोंमें कर्मभूमिकी-सी रचना है। भोगभूमिमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव नहीं होते। समस्त द्वीप-समुद्रोंमें भवनवासी और व्यन्तरदेव निवास करते हैं।

कल्पकाल : विवेचन

भोगभूमि और कर्मभूमिके साथ कल्पकालका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मध्यलोकके रहस्यको जानकारी भी कल्पकालके परिज्ञानके अभावमें संभव नहीं है।

बीस कोडाकोडी अद्धासागरके समयोंके समूहको कल्प कहते हैं। कल्पकालके दो भेद हैं:—अवसर्पण और (२) उत्सर्पण। इन दोनों कालोंका प्रमाण दस-दस कोडाकोडी सागर है। अवसर्पण कालमें आयु, शरीर, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि आदिकी उत्तरोत्तर हीनता और उत्सर्पणकालमें उक्त बातोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अवसर्पणकालके छः भेद हैं:—(१) सुषम-सुषम, (२) सुषम, (३) सुषम दुःषम, (४) दुःषम-सुषम, (५) दुःषम और (६) दुःषम-दुःषम।

अवसर्पणके छहों काल व्यतीत हो जानेपर उत्सर्पणके छः काल आते है। इस प्रकार अवसर्पणके पश्चात् उत्सर्पण और उत्सर्पणके पश्चात् अवसर्पणका क्रम चलता रहता है।

सुषम-सुषमकालका प्रमाण चार कोडाकोडी सागर, सुषमका प्रमाण तीन कोडाकोडी सागर, सुषम-दुःषमका प्रमाण दो कोडाकोडी सागर, दुःषम-सुषमका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर, दुःषमका इक्कीस हजार वर्ष और दुःषम-दुःषमका इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है।

अनेक कल्पकाल बीतनेपर एक हुँडावसर्पणकाल आता है, जिसमें कई विचित्र बातें घटित होती हैं। यथा चक्रवर्तीका अपमान, तीर्थंकरके पुत्रीका जन्म एवं शलाकापुरुषोंकी संख्यामें हानि आदि बातें घटित होती हैं।

पहले कालके आदिमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई तीन कोश और अन्तमें दो कोश होती है। दूसरेके आदिमें दो कोश और अन्तमें एक कोश ऊँचाई होती है। तीसरेके आदिमें एक कोश, अन्तमें पाँचसौ धनुष, चौथेके आदिमें पाँचसौ धनुष और अन्तमें सात हाथ ऊँचाई होती है। पाँचवेंके आदिमें सात हाथ, अन्तमें दो हाथ और छठेके आदिमें दो हाथ और अन्तमें एक हाथ ऊँचाई रह जाती है।

षट्कालोंमें भोगभूमि और कर्मभूमि : व्यवस्था

अवसर्पणके प्रथमकालमें उत्कृष्ट भोगभूमिकी रचना रहती है। इस कालमें

भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि समस्त भोगोपभोगकी सामग्री दस प्रकारके कल्प-वृक्षोंसे प्राप्त होती है। पृथ्वी दर्पणके समान मणिमय छोटे-छोटे सुगन्धित तृण-युक्त होती है। भोगभूमिमें माताके गर्भसे युगपत् स्त्री-पुरुषका युगल उत्पन्न होता है। यह युगल ४९ दिनमें यौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। आयुके अन्तमें पुरुष छींक लेकर और स्त्री जंमाई लेकर मरणको प्राप्त होते हैं। उनका शरीर शरत्कालके मेघके समान विलुप्त हो जाता है। ये भोगभूमिके सभी जीव मरण कर देवगतिको प्राप्त होते हैं।

द्वितीयकालमें मध्यम भोगभूमि और तृतीयकालके आदिमें जघन्य भोग-भूमिकी स्थिति रहती है। तृतीयकालके अन्तमें कर्मभूमिका प्रवेश होता है। इस कालमें जब पल्यका अष्टमांश शेष रह जाता है तो क्रमशः चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। ये कुलकर जीवनवृत्ति एवं मनुष्योंको कुलकी तरह इकट्ठे रहनेका उपदेश देते हैं। चतुर्थकालमें चौबीस तीर्थंकर, द्वादश चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इन त्रेसठ शलाकापुरुषोंका जन्म होता है। पञ्चमकाल पर्यन्त मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विधसंघका अस्तित्व बना रहता है। पञ्चमकालके अन्तमें धर्म, अग्नि और राजा इन तीनोंका नाश हो जाता है। छठे कालमें मनुष्य पशुकी तरह नग्न, धर्मरहित और मांसाहारी होते हैं। इस कालके जीव मरकर नरक और तिर्यञ्च गतिमें ही जन्म धारण करते हैं।

छठे कालमें वर्षा बहुत थोड़ी होती है तथा पृथ्वी रत्नादिक सारवस्तुसे रहित होती है। मनुष्य तीव्र कषाय युक्त होता है। इस कालके अन्तमें संवर्तक नामक पवन बड़े जोरसे चलता है, जिससे पर्वत, वृक्षादि चूर-चूर हो जाते हैं। बसनेवाले जीव मृत्युको प्राप्त होते हैं अथवा मूच्छित हो जाते हैं। कुछ मनुष्य विजयार्ध पर्वतकी गुफाओं और महागंगा तथा महासिन्धु नदीकी वेदियोंमें स्वयं प्रविष्ट हो जाते हैं। इस छठे कालके अन्तमें सात-सात दिन पर्यन्त क्रमशः (१) पवन, (२) अत्यन्त शीत, (३) क्षाररस, (४) विष, (५) कठोर अग्नि, (६) धूल और (७) धुँआकी वर्षा होती रहती है। इन उनचास दिनोंमें अवशिष्ट मनुष्यादिक जीव नष्ट हो जाते हैं। विष और अग्निकी वर्षाके कारण पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूर-चूर हो जाती है। इसीका नाम प्रलय है। प्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके आर्यखण्डोंमें ही होती है, अन्यत्र नहीं। अतः यह खण्ड-प्रलय कहलाती है।

उत्सर्पणके दु:षम-दु:षम नामक प्रथमकालमें सर्वप्रथम सात दिन जलवृष्टि, सात दिन दुग्धवृष्टि, सात दिन घृतवृष्टि और सात दिन तक अमृतवृष्टि होती

है, जिससे पृथ्वी निवास करने योग्य सचिक्कण हो जाती है। जलादिकी वर्षाके कारण वृक्ष, लता, औषध, गुल्म आदि वनस्पतियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होने लगती है। पृथ्वीकी शीतलता और सुगन्धताका अनुभव होते ही विजयार्ध तथा नदीको वेदिकाओंमें छिपे हुए जीव निकल आते हैं और धर्मरहित नग्नरूपमें विचरण करते हैं। मृत्तिका आदिका आहार करते हैं। इस कालमें जीवोंकी आयु और शरीर आदि बढ़ने लगते हैं। उत्सर्पणके दूसरे दुःषमकालमें एक हजार वर्ष अवशिष्ट रहनेपर कुलकर उत्पन्न होते हैं। ये कुलकर मनुष्योंको क्षत्रिय आदि कुलोंका आचार एवं अग्निसे अन्नादि पकानेकी विधि सिखलाते हैं। इसके पश्चात् दुःषम-सुषम नामक तृतीय काल आता है, जिसमें त्रेसठ शलाकापुरुष जन्म ग्रहण करते हैं। तत्पश्चात् चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठकालमें भोगभूमिका प्रवर्त्तन रहता है।

ज्योतिषीदेव : वर्णन

ज्योतिषीदेवोंके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारोंकी गणना की गई है। चित्राभूमिसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारे हैं। तारोंसे दस योजन ऊपर सूर्य और सूर्यसे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमासे चार सौ योजन ऊपर नक्षत्र, नक्षत्रोंसे चार योजन ऊपर बुध, बुधसे तीन योजन ऊपर शुक्र, शुक्रसे तीन योजन ऊपर गुरु, गुरुसे तीन योजन ऊपर मंगल और मंगलसे तीन योजन ऊपर शनिश्चर है। बुधादि पाँच ग्रहोंके अतिरिक्त तिरासी अन्य ग्रह भी हैं। इस प्रकार कुल ग्रहोंकी संख्या अट्ठासी मानी गयी है।

राहुके विमानका ध्वजदण्ड चन्द्रमाके विमानसे और केतुके विमानका ध्वजदण्ड सूर्यके विमानसे चार प्रमाणांगुल नीचे है। तथ्य यह है कि ज्योतिष्क जातिके देव मध्यलोकके अन्तर्गत ही विमानोंमें निवास करते हैं। इस ज्योतिष्कपटलकी मोटाई उर्ध्व और अधोदिशामें एकसौ दस योजन है और पूर्व तथा पश्चिम दिशाओंमें लोकके अन्तमें घनोदधिवातवलय पर्यन्त है तथा उत्तर और दक्षिण दिशामें एक राजू प्रमाण है। सुमेरु पर्वतके चारों ओर ग्यारह सौ इक्कीस योजन तक ज्योतिष्क विमानोंका सद्भाव नहीं है। मनुष्य-लोक पर्यन्त ज्योतिष्क विमान नित्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं। जम्बूद्वीप-में ३६, लवण समुद्रमें १३९, धातुकी खण्डमें १०१०, कालोदधिमें ४११२०, और पुष्करार्धमें ५३२३० ध्रुव तारे है। मनुष्यलोकसे बाहर समस्त ज्योतिष्क विमान अवस्थित है।

इन ज्योतिष्क विमानोंमें तिर्यक् कुछ अन्तर है और ऊपरा भाग आकाश-

की एक ही सतहमें है। तारोंमें परस्पर जघन्य अन्तर एक कोशका सप्तमांश, मध्यम अन्तर ५० योजन और उत्कृष्ट अन्तर १००० योजन है। समस्त ज्योतिष्क विमानोंका आकार आधे गोलेके समान है। इन विमानोंके ऊपर ज्योतिषी देवोंके नगर हैं। ये नगर अत्यन्त रमणीक और जिनमन्दिर संयुक्त हैं।

चन्द्रमाके विमानका व्यास ५६।६१ योजन है, सूर्यके विमानका व्यास ४८।६१ योजन, शुक्रके विमानका व्यास एक कोश, बृहस्पतिके विमानका व्यास कुछ कम एक कोश तथा बुध, मंगल और शनिके विमानोंका व्यास आधा-आधा कोश है। तारोंके विमान १।४ कोश, क्वचित् १।२ कोश और क्वचित् ३।४ कोश है। नक्षत्रोंके विमान एक-एक कोश चौड़े हैं। राहु और केतुके विमान किंचित् ऊन एक योजन चौड़े हैं। समस्त विमानोंकी मोटाई, चौड़ाईसे आधी है। सूर्य और चन्द्रमाकी बारह हजार किरणे हैं। चन्द्रमाकी किरणें शीतल और सूर्यकी किरणें उष्ण हैं। शुक्रकी ढाई हजार प्रकाशमान किरणें हैं। शेष ज्योतिषी देव मन्द प्रकाश युक्त हैं।

चन्द्रमाके विमानका १६वाँ भाग कृष्णपक्षमें कृष्णरूप और शुक्ल पक्षमें शुक्ल-रूप प्रतिदिन परिणमन करता है। राहुके विमानके निमित्तसे छह मासमें एक बार पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण होता है। सूर्यके नीचे चलनेवाले केतु विमानके निमित्त-से छह मासमें एक बार अमावस्याको सूर्यग्रहण होता है। ज्योतिष्क विमानों-को नाना प्रकारके आकार धारण करनेवाले देव खींचते हैं। चन्द्रमा और सूर्यके सोलह-सोलह हजार वाहक देव हैं। ग्रहोंके आठ-आठ हजार, नक्षत्रोंके चार-चार हजार और तारोंके दो-दो हजार वाहक देव हैं चन्द्रमा, सूर्य और ग्रह इन तीनोंको छोड़कर शेष ज्योतिषी देव एक ही मार्गमें गमन करते हैं।

जम्बूद्वीपमें दो, लवण समुद्रमें चार, धातकी खण्डमें बारह, कालोदधिमें बयालीस और पुष्करार्धमें बहत्तर सूर्य-चन्द्रमा हैं। प्रत्येक द्वीप या समुद्रके समान दो-दो खण्ड हैं और आधे-आधे ज्योतिष्क विमान गमन करते हैं। ग्रहों-का प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणसे अट्ठासी गुणित है। नक्षत्रोंका प्रमाण चन्द्रमाओं-के प्रमाणसे अट्ठाईस गुणित और तारोंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणसे छिया-सठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोडा-कोडी गुणित है।

चन्द्रमा और सूर्यके गमन-मार्गको चारक्षेत्र कहा जाता है। इस समस्त चारक्षेत्रकी चौड़ाई ५१०/४८।६१ योजन है। इस चौड़ाईमें १८० योजन तो जम्बूद्वीपमें और शेष ३३०/४८।६१ योजन लवण समुद्रमें है। चन्द्रमाके गमन करनेकी पन्द्रह और सूर्यके गमन करनेकी एकसौ चौरासी गलियाँ हैं। इन सबमें समान अन्तर है। दो-दो सूर्य या चन्द्रमा प्रतिदिन एक-एक गलीको

छोड़कर दूसरी-दूसरी गलीमें गमन करते हैं, जिस दिन सूर्य भीतरी गलीमें गमन करता है, उस समय १८ मुहूर्तका दिन १२ मुहूर्तकी रात्रि होती है। तथा क्रमशः घटते-घटते जिस दिन सूर्य बाहरी गली—वीथिमें गमन करता है, उस दिन बारह मुहूर्तका दिन और १८ मुहूर्तकी रात्रि होती है। सूर्य कर्क-संक्रातिके दिन आभ्यन्तर वीथि—भीतरी गलीमें गमन करता है। इस दिन दक्षिणायनका प्रारम्भ होता है और मकरसंक्रान्तिके दिन बाह्य वीथिपर गमन करता है। इस दिन उत्तरायणका आरम्भ होता है। प्रथम वीथिसे एकसौ चौरासीवीं वीथिमें आनेमें १८३ दिन, तथा अन्तिम वीथिसे प्रथम वीथि तक पहुँचनेमें १८३ दिन लगते हैं। दोनों अयनोंके ३६६ दिन होते हैं। इसीको सूर्यवर्ष कहते हैं। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि की गणितात्मक गति गगन-खण्डों द्वारा जानी जाती है। काल-विभाजन ज्योतिष्क देवोंकी गति द्वारा ही होता है।

उर्ध्वलोक

मेरुसे ऊपर लोकके अन्त तकके क्षेत्रको उर्ध्वलोक कहते हैं। इसके दो भेद हैं:—(१) कल्प और (२) कल्पातीत। जहाँ इन्द्र, सामानिक आदिकी कल्पना होती है, वे कल्प हैं और जहाँ यह कल्पना नहीं है, वे कल्पातीत हैं। कल्पमें सोलह स्वर्ग हैं:—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनतकुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्म, (६) ब्रह्मोत्तर, (७) लांतव, (८) कापिष्ठ, (९) शुक्र, (१०) महाशुक्र, (११) सतार, (१२) सहस्रार, (१३)आनत, (१४)प्राणत,(१५) आरण, (१६) अच्युत। इन १६ स्वर्गोंमेंसे दो-दो स्वर्गों में संयुक्त राज्य है। इस कारण सौधर्म, ईशान आदि दो-दो स्वर्गों का एक-एक युगल है। आदिके दो तथा अन्तके दो इस प्रकार चार युगलोंमें आठ इन्द्र हैं और मध्यके चार युगलोंमें चार ही इन्द्र हैं। अतएव इन्द्रोंकी अपेक्षा स्वर्गों के बारह भेद हैं।

सोलह स्वर्गों से ऊपर कल्पातीत हैं। इनमें नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच-अनुत्तर इन २३ की गणना की जाती है। सोलह स्वर्गों में तो इन्द्र, सामा-निक, पारिषद आदि दस प्रकारकी कल्पना है और कल्पातीतोंमें यह कल्पना नहीं है, वहाँ सभी अहमिन्द्र कहलाते हैं।

मेरुकी चूलिकासे एक बालके अन्तरपर ऋजु विमान है। यहींसे सौधर्म स्वर्गका आरम्भ होता है। मेरु तलसे डेढ़ राजूकी ऊँचाईपर सौधर्म-ईशान युगलका अन्त है। इसके ऊपर डेढ़ राजूमें सनतकुमार-माहेन्द्र युगल और उसके ऊपर आधे-आधे राज्यमें छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजूमें आठ युगल हैं। सौधर्म स्वर्गमें बत्तीस लाख, ईशानमें बीस लाख, सनतकुमारमें बारह लाख,

माहेन्द्रमें आठ लाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगलमें चार लाख, लान्तव-कापिष्ठ युगलमें पचास हजार, शुक्र-महाशुक्र युगलमें चालीस हजार, सतार-सहस्रार युगलमें छह हजार तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चारों स्वर्गोंमें सब मिलाकर सात सौ विमान हैं। अधोग्रैवेयकमें १११, मध्य ग्रैवेयकमें १०७ और अर्ध्वग्रैवेयकमें ९१ विमान है। अनुदिशमें ९ और अनुत्तरमें ५ विमान हैं। ये सब विमान ६३ पटलोंमें विभाजित हैं। जिन विमानोंका ऊपरी भाग एक समतलमें पाया जाता है, वे विमान एक पटलके कहलाते हैं और प्रत्येक पटलके मध्य-विमानको इन्द्रक-विमान कहते हैं। चारों दिशाओंमें जो पंक्ति रूप विमान हैं, वे श्रेणीबद्ध कहलाते हैं। श्रेणियोंके बीचमें जो फुटकर विमान हैं उनकी प्रकीर्णक संज्ञा है।

सर्वार्थसिद्धि विमान लोकके अन्तसे बारह योजन नीचा है। ऋजु विमान ४५ लाख योजन चौड़ा है। द्वितीयादिक इन्द्रकोंकी चौड़ाई क्रमशः घटती गयी है और सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमानकी चौड़ाई एक लाख योजन है।

लोकके अन्तमें एक राजू चौड़ी, सात राजू लम्बी और आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी है। इस पृथ्वीके मध्यमें रूप्यमयी छत्ताकार ४५ लाख योजन चौड़ी और मध्यमें आठ योजन मोटी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातमें मुक्त जीव विराजमान हैं। तथ्य यह है कि उर्ध्व-लोक मृदंगाकार है, इसका आकार त्रिशरावसंपुटसंस्थान जैसा है।

लोकस्थिति

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी ये विश्वके आधारभूत अंग हैं। विश्वकी व्यवस्था इन्हींके आधार-आधेयभावसे निर्मित है। लोक भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इसकी व्यवस्था तर्कके आधारपर प्रतिष्ठित है। जीवादि सभी द्रव्य लोकमें निवास करते हैं और अलोकमें केवल आकाश ही आकाश रहता है। वस्तुतः लोककी स्थिति अनेकान्तवादके आलोकमें घटित होती है।

आध्यात्मिकदृष्टि : ज्ञेय

आध्यात्मिकदृष्टिसे पदार्थोंका तीन विभागोंमें वर्गीकरण किया गया है:— (१) हेय (२) उपादेय और (३) ज्ञेय। हेयका अर्थ है त्याज्य। जो आत्मामें आकुलता उत्पन्न करनेवाला हो वह हेय है। इस दृष्टिसे संसार और संसारके कारणीभूत आस्रव एवं बन्ध हेय पदार्थ हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र भी हेयके अन्तर्गत हैं। उपादेय वे पदार्थ हैं, जिनसे अक्षय, अविनाशी और अनन्त सुख प्राप्त हो। निश्चयसे विशुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप निज आत्मा

ही उपादेय है तथा सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यग्आचरणरूप निश्चय रत्नत्रय तथा उस निश्चयरत्नत्रयका साधक व्यवहाररत्नत्रय भी उपादेय है। मोक्षके कारणीभूत संवर और निर्जरा तत्त्वकी गणना भी उपादेयमें की गयी है।[1] ज्ञेय यों तो सभी पदार्थ हैं, पर आध्यात्मिकदृष्टिसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थोंमेंसे हेयोपादेयके अतिरिक्त समस्त पदार्थ ज्ञेय हैं।

प्रवचनसारमें आचार्य कुन्दकुन्दने ज्ञेयके वर्णनके पूर्व बतलाया है कि गुण-पर्यायात्मक ज्ञेय है और जो पर्यायोंमें आसक्त है, वह परसमय अर्थात् मूढ़-दृष्टि है। आत्म-स्वभावमें स्थित स्वसमय और पर्यायोंमें स्थित परसमय कहा जाता है।[2] शुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक आत्मा ही उपादेय है और यही यथार्थमें ज्ञेय है।

इस प्रकार हेय, उपादेय और ज्ञेयका परिज्ञान प्राप्तकर आत्माके निजी स्वरूपकी अनुभूति करनी चाहिये। इस त्रिपुटीसे ही तत्त्वका निर्देशन प्राप्त होता है। वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्वकी दृष्टिसे ज्ञेयमात्र सत्य है। सत्य ही जीवनका सर्वस्व है।

●

१. कथयति—उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षो, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुचरणलक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं, तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं चेति। इदानीं हेयतत्त्वं कथ्यते—आकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं निश्चयेनेन्द्रियसुखं च हेयतत्त्वम्। तस्य कारणं संसारः, संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वयं, तस्य कारणं पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयरत्नत्रयाद्विलक्षणं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति।—बृहद्-द्रव्यसंग्रहटीका, द्वितीय अधिकार, गाथा-संख्या १–२ चूलिका, पृ० ८२-८३.

२. जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥

—प्रवचनसार, गाथा ९४, पृ० ११०.

नवम परिच्छेद

ज्ञानतत्त्व-मीमांसा

ज्ञानका स्वरूप और व्युत्पत्ति

ज्ञानशब्दकी व्युत्पत्ति √ज्ञा + ल्युट्से निष्पन्न है। इस शब्दका व्युत्पत्तिगत अर्थ "जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्"[1] अर्थात् जो जानता है वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है अथवा जानने मात्रको ज्ञान कहते हैं।

जो आत्मा है वह जानता है और जो जानता है वह आत्मा है। आत्मा और अनात्मामें अत्यन्ताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनती और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनती। आत्मा ज्ञानसे कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है। ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। आत्मा पदार्थोंको जानती है और ज्ञान जाननेका साधन है। यही कारण है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय लोका-

१. सर्वार्थसिद्धि (सोलापुर-संस्करण), अ० १, सूत्र १, पृ० ३.

लोक है, अतएव ज्ञान सर्वगत अर्थात् व्यापक है।[1] संक्षेपमें 'स्व' और 'पर' को जाननेका साधन ज्ञान ही है। पूर्वमें जिस ज्ञेयकी चर्चा की गई है, उसका सम्यक् बोध ज्ञानद्वारा ही सम्भव है।

ज्ञानोत्पत्ति : प्रक्रिया

ज्ञेय और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र हैं। ज्ञेय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्माका गुण है। न तो ज्ञेयसे ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञानसे ज्ञेय। हमारा ज्ञान पदार्थको जाने अथवा न जाने, पर पदार्थं अपने स्वरूपमें अवस्थित है। पदार्थ भी ज्ञानका विषय बने या न बनें, तो भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मामें स्थित है। यदि ज्ञानको पदार्थकी उपज माना जाय तो वह पदार्थका धर्म हो जायगा। हमारे साथ उसका तारतम्य नहीं हो सकेगा। पदार्थको जाननेकी क्षमता हमारे भीतर सदा विद्यमान रहती है। पर ज्ञानकी आवृत अवस्थामें हम माध्यमके विना पदार्थको नहीं जान पाते। हमारे ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम, अथवा क्षय द्वारा जितनी क्षमता हमें प्राप्त होती है उसी क्षमताके अनुसार इन्द्रिय और मन द्वारा पदार्थका ज्ञान प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि संस्कार जिस पदार्थको जाननेके लिए ज्ञानको प्रेरित करते हैं, तब ज्ञेय ज्ञात होते हैं। यह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं, अपितु प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ यों समझा जा सकता है कि शत्रुको देखकर बन्दूक चलानेकी इच्छा हुई और बन्दूक चलाई भी, यह शक्तिकी उत्पत्ति नहीं, किन्तु उसका प्रयोग है। इसी प्रकार मित्रको देखकर प्रेमका उमड़ आना प्रेमकी उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञानके सम्बन्धमें भी है।

विषयके सामने आनेपर ज्ञाता उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। ज्ञानके आवरणके क्षयोपशम या क्षयके अनुसार जैसी क्षमता होती है, उसीके अनुसार वह विषयोंको जाननेमें सफल होता है। वस्तुतः पदार्थोंको ग्रहण करनेकी अन्तरंग क्षमता आवरणके विलयनपर ही निर्भर है। इसीको क्षयोपशम या क्षयजन्य अन्तरंगक्षमता कहा जाता है। इसी क्षमताके कारण ज्ञानमें तारतम्यकी उत्पत्ति होती है।

अल्पज्ञका ज्ञान इन्द्रिय और मनके माध्यमसे ज्ञेयको जानता है। इन्द्रियोंकी शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयोंको मनके साथ सम्बन्ध स्थापित कर जान सकती हैं। मनका सम्बन्ध एक साथ अनेक इन्द्रियोंसे नहीं होता है।

---

१. आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥ —प्रवचनसार गाथा २३.

अतएव एक कालमें एक पदार्थकी एक पर्याय ही जानी जा सकती है। अतः ज्ञानको ज्ञेयाकार माननेकी आवश्यकता नहीं है। यह सीमा आवृत ज्ञानकी है, अनावृतकी नहीं। निरावरण ज्ञान तो एक साथ समस्त पदार्थोंको जान सकता है।

सारांश यह है कि ज्ञान स्वपरावभासक है। इसके मूलतः दो भेद हैं:—(१) पूर्णतः निरावरण और (२) अंशतः क्षयोपशमजन्य तारतम्यरूप निरावरण। आत्माके ज्ञानगुणको ज्ञानावरणकर्म रोकता है और इसके क्षयोपशमके तारतम्य-से ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। यह ज्ञान मन और इन्द्रियोंके माध्यमसे पदार्थोंको जानता है।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी क्षमता

संसारमें अनन्त पदार्थ हैं और उन अनन्त पदार्थोंकी अनन्त पर्याएँ हैं। अतः क्षयोपशमजन्य इन्द्रियज्ञान एक कालमें अनन्त पदार्थोंमें अनन्त पर्यायोंको नहीं जान सकता। न वह सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको ही ग्रहण कर पाता है। पर जो ज्ञान समस्त आवरणके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुआ है वह अतीन्द्रियज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है। आत्मामें अनन्त ज्ञेयोंको जाननेकी शक्ति है। अतः निरावरण-ज्ञान एक ही कालमें अनन्त ज्ञेयोंको जान लेता है। वस्तुतः आत्मामें समस्त पदार्थोंके जाननेका पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें उसके ज्ञानका ज्ञाना-वरणसे आवृत होनेके कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्यके प्रति-बन्धक कर्मोंका पूर्ण क्षय हो जाता है तब इस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त पदार्थोंको जाननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती। यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्य दशाओं-का उपदेश कैसे सम्भव होगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतएव अतीन्द्रियज्ञानको समस्त पदार्थ और उनकी पर्यायोंको ग्रहण करनेवाला मानना होगा।

यों तो केवलज्ञान ही आत्माका स्वभाव है। यह ज्ञान ज्ञानावरणकर्मसे आवृत रहता है और आवरणके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं। जब हम मतिज्ञान आदिका स्वसंवेदन करते हैं, तब उस रूपसे अंशी केवलज्ञानका भी अंशतः स्वसंवेदन होता है। यथा पर्वतके एक अंशको देखनेपर भी पूर्ण पर्वतका व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना जाता है। इसी प्रकार मतिज्ञानादि अवयवोंको देखकर अवयवीरूप केवलज्ञान—ज्ञानसामान्यका प्रत्यक्ष भी स्वसं-वेदनसे होता है। यहाँ केवलज्ञानको ज्ञानसामान्यरूप माना गया है और उसकी सिद्धि स्वसंवेदनप्रत्यक्षद्वारा की गई है। संक्षेपमें अतीन्द्रियज्ञानकी क्षमता त्रिकाल और त्रिलोकमें स्थित समस्त पदार्थोंको जाननेकी है।

ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेयमें विषय-विषयीभावका संबन्ध है। ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है। जिस प्रकार अपने ही कारणसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ ज्ञेय होते हैं; उसी प्रकार अपने कारणसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी स्वतः ज्ञानात्मक है।[1] ज्ञानका सामान्यधर्म अपने स्वरूपको जानते हुए परपदार्थोंको जानना है। अतः ज्ञान और ज्ञेयमें विषय-विषयीभावका सम्बन्ध है। यथार्थतः

(१) ज्ञान अर्थमें प्रविष्ट नहीं होता और अर्थ ज्ञानमें।

(२) ज्ञान अर्थाकार नहीं है।

(३) ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नहीं होता।

(४) ज्ञान अर्थरूप नहीं है।

प्रमाता ज्ञानस्वभाव होता है, अतः वह विषयी है। अर्थ ज्ञेयस्वभाव होता है, अतः वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र हैं तो भी ज्ञानमें अर्थको जाननेकी और अर्थमें ज्ञानके द्वारा ज्ञात किये जानेकी क्षमता विद्यमान है। यही क्षमता दोनोंके कथञ्चित् अभेदका हेतु है। चैतन्यके प्रधानरूपसे तीन कार्य हैं:—(१) जानना, (२) देखना और (३) अनुभूति करना। चक्षु द्वारा देखा जाता है और शेष इन्द्रियों एवं मनके द्वारा पदार्थोंको जाना जाता है। दर्शनका अर्थ देखना ही नहीं है अपितु एकता और अभेदकी ज्ञानानुभूति है। जो अर्थ और आलोक-को ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानते हैं उनकी यह मान्यता इसीसे निराकृत हो हो जाती है।

तदाकारता, अर्थ और आलोकके कारणत्वका विचार

ज्ञानको पदार्थाकार मानना तदाकारता है। इसका अर्थ है ज्ञानका ज्ञेया-कार कहना। पर वस्तुतः अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक पदार्थके आकार नहीं हो सकता। ज्ञानके ज्ञेयाकार होनेका अभिप्राय यही हो सकता है कि उस ज्ञेयको जाननेके लिए ज्ञान अपना व्यापार कर रहा है। किसी भी ज्ञानकी वह अवस्था, जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास हो रहा है, निश्चित रूपसे प्रमाण नहीं कही जा सकती। सीपमें चाँदीका प्रतिभास करानेवाला ज्ञान यद्यपि उपयोगकी दृष्टिसे पदार्थाकार हो रहा है, पर प्रतिभासके अनुसार बाह्यार्थकी प्राप्ति न होनेके कारण उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता। अतएव ज्ञानको पदार्थाकार मानना उचित नहीं।

---

१. स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा। तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥—लघीयस्त्रय ५९.

अर्थ भी ज्ञानोत्पत्तिका कारण नहीं है क्योंकि वह ज्ञानका विषय है। जो ज्ञानका विषय होता है वह ज्ञानका कारण नहीं होता है, यथा अन्धकार[1]। यहाँ अन्धकार ज्ञानका विषय तो है क्योंकि उसे सभी जानते हैं और सभी कहते है कि अन्धकार है पर वह ज्ञानका कारण नहीं। यदि पदार्थोंको ज्ञानका कारण माना जाय तो विद्यमान पदार्थोंका ही ज्ञान होगा। अनुत्पन्न और विनष्ट हुए पदार्थोंका नहीं। यतः नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थ इस समय विद्यमान नहीं हैं। वे जाननेमें कारण कैसे हो सकते हैं ?

इसी प्रकार आलोक भी ज्ञानोत्पत्तिका कारण नहीं है; क्योंकि आलोकका ज्ञानोत्पत्तिके साथ अन्वय-व्यतिरेकसम्बन्ध नहीं है। जो कार्य जिस कारणके साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं रखता वह उसका कार्य नहीं होता। यथा केशमें होनेवाला उण्डुकका ज्ञान अर्थके साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं रखता। रात्रिमें विचरण करनेवाले नक्तंचर मार्जार आदिको आलोकके अभावमें भी ज्ञान होता है। अतएव आलोक भी ज्ञानोत्पत्तिका हेतु नहीं है।

ज्ञान और अर्थमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है किन्तु योग्यतालक्षण सम्बन्ध है। इस सम्बन्धके कारण ही ज्ञान समकालीन अथवा भिन्नकालीन अर्थको ग्रहण करता है। यह अनुभवगम्य नहीं कि समस्त ज्ञान अपने आकारको ही जानते हैं बल्कि अपनेसे भिन्न पदार्थके अभिमुख होकर ही वे पदार्थोंको जानते हैं। यह लौकिक प्रतीति है। लोकव्यवहारका उल्लङ्घन करनेसे पदार्थकी व्यवस्था सम्भव नहीं है। ज्ञान साकार भी नहीं है; यहाँ साकारसे अभिप्राय अर्थके आकारको धारण करनेसे है, क्योंकि नील आदि आकार ज्ञानमें संक्रान्त नहीं होते। ये तो जड़के धर्म हैं। जो जड़का धर्म होता है वह ज्ञानमें संक्रान्त नहीं हो सकता, यथा जड़ता। यदि ज्ञानको साकार माना जाय तो अर्थके साथ ज्ञानका पूरी तरहसे सारूप्य है अथवा एकदेशसे ? पूरी तरहसे सारूप्य माननेपर अर्थकी तरह ज्ञान भी जड़ हो जायगा और ज्ञानरूप न रह-कर प्रमेयरूप हो जायगा। एकदेश सारूप्य माननेसे चैतन्य ज्ञान द्वारा अर्थको जड़ताकी प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि ज्ञान जड़ाकार नहीं है और जो जिसके आकार नहीं होता वह उसको ग्रहण नहीं कर पाता। दूसरी बात यह है कि आकार ज्ञानसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो ज्ञान निराकार ही रहेगा और अभिन्न है तो ज्ञान और आकारमेंसे कोई एक ही शेष रहेगा।

---

१. नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवात् ॥

नन्‌ु बाह्यालोकाभावं विहाय तमसोऽन्यस्याभावात् साधनविकलो दृष्टान्तः इति ?

—प्रमेयरत्नमाला २।६

अतएव ज्ञान और आकारको कथञ्चित् भिन्नाभिन्न मानना होगा। संक्षेपमें ज्ञानकी उत्पत्तिमें अर्थ और आलोक हेतु नहीं हैं। आत्मामें जाननेकी क्षमता है और यह क्षमता आवारक कर्मोंके क्षयोपशमपर निर्भर है। जिस वस्तुविषयक ज्ञानका आवरण दूर हो जाता है, आत्मा उसे बाहरी अर्थ, आलोक आदि कारणोंके बिना तथा तदुत्पत्ति और तदाकारताके बिना ही स्वतः जानने लगती है। अतः ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमरूप योग्यता ही प्रतिनियत विषयका नियामक है।

ज्ञान और अनुभूति

स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ भोगी हैं और चक्षु और श्रोत्र कामी हैं। कामी इन्द्रियोंके द्वारा विषय जाना जाता है। उसकी अनुभूति नहीं होती। भोगी इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूति और ज्ञान दोनों होते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा हम बाहरी वस्तुओंको जानते हैं। जाननेकी यह प्रक्रिया सबकी एक-सी नहीं होती। चक्षुकी ज्ञानशक्ति शेष इन्द्रियोंसे अधिक पटु होती है। श्रोत्रकी ज्ञानशक्ति चक्षुसे कम है और शेष तीन इन्द्रियोंसे अधिक है। बाह्य-जगतकी जानकारी इन्द्रियोंके माध्यमसे होती है और इस जानकारीका संवर्धन मनसे होता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयको क्षयोपशमरूप योग्यता द्वारा जानती है और इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञानका विस्तार मन द्वारा होता है। इन्द्रियाँ स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्दको ग्रहण करती हैं। उनके ग्रहण करनेकी शक्ति निम्नलिखित तथ्योंपर आधारित है :—

(१) निर्वृत्ति—द्रव्य-इन्द्रिय, पौद्गलिक रचना।
(२) उपकरण—शरीराधिष्ठान इन्द्रिय।
(३) लब्धि—भाव-इन्द्रिय।
(४) उपयोग—आत्माधिष्ठान।

जिससे ज्ञान और दर्शनका लाभ हो सके या जिससे आत्माके अस्तित्वकी सूचना प्राप्त हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियोंके द्रव्य और भावरूपसे दो-दो भेद हैं। इन्द्रियाकार पुद्गल और आत्म-प्रदेशोंकी रचना द्रव्येन्द्रिय है और क्षयोपशमविशेषसे होनेवाला आत्माका ज्ञानदर्शनरूप परिणाम भाव-इन्द्रिय है।

द्रव्य-इन्द्रियके दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्तिका अर्थ रचना है अर्थात् इन्द्रियाकार रचना होना निर्वृत्ति है। यह बाह्य एवं आभ्यन्तरके भेद-से दो प्रकारकी है। बाह्य निर्वृत्तिसे इन्द्रियाकार पुद्गल रचना और आभ्यन्तर निर्वृत्तिसे इन्द्रियाकार आत्म-प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं। यद्यपि प्रतिनियत इन्द्रिय-

सम्बन्धी ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है, तो भी आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे जहाँ पुद्गलप्रचयरूप जिस द्रव्येन्द्रिय-की रचना होती है वहींके आत्मप्रदेशोंमें उस इन्द्रियके कार्य करनेकी क्षमता रहती है।

उपकरणका अर्थ है उपकारका प्रयोजक साधन। यह भी बाह्य एवं आभ्यन्तर-के भेदसे दो प्रकारका है। नेत्र इन्द्रियमें कृष्ण एवं शुक्ल मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है और अक्षिपत्र आदि बाह्य उपकरण हैं। निर्वृत्ति और उपकरण ये दोनों ही द्रव्येन्द्रियके अन्तर्गत हैं।

लब्धि और उपयोग भाव इन्द्रियके भेद हैं। मतिज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरणका क्षयोपशम होकर जो आत्मामें ज्ञान और दर्शनरूप शक्ति उत्पन्न होती है, वह लब्धि इन्द्रिय है। यह आत्माके समस्त प्रदेशोंमें पाई जाती है; क्योंकि क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है। लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनोंके होनेपर जो विषयोंमें प्रवृत्ति होती है वह उपयोगेन्द्रिय है। वस्तुत: उपयोग ज्ञानशक्तिके व्यापारका नाम है। प्रत्येक इन्द्रियमें ज्ञानके हेतु निम्न-लिखित चार बातें हैं :—

(१) इन्द्रियाकार पुद्गलोंकी रचना।
(२) इन्द्रियकी ग्राहकशक्ति।
(३) इन्द्रियकी ज्ञानशक्ति।
(४) इन्द्रियकी ज्ञानशक्तिका व्यापार।

उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि चक्षुका आकार हुए विना रूपदर्शन नहीं होता। उपकरणके अभावमें चक्षुका आकार ठीक रहनेपर भी ग्राहकशक्तिके न होनेसे रूप-दर्शन नहीं होता। ज्ञानशक्तिके अभावमें आकार और ग्राहक शक्तिके होते हुए भी तत्काल मृत व्यक्तिको रूप-दर्शन नहीं होता है। अतएव पदार्थोंके जाननेके हेतु इन्द्रियोंका शक्ति सम्पन्न होना आवश्यक है।

इन्द्रियप्राप्तिका क्रम

इन्द्रियोंका विकास सभी प्राणियोंमें समान नहीं होता है। जिस प्राणीके शरीरमें जितनी इन्द्रियोंका अधिष्ठान आकार सृजन होता है, वह प्राणी उतनी ही इन्द्रियोंवाला माना जाता है। आकार-वैषम्यका आधार लब्धिका विकास है। जिस जीवके जितनी ज्ञानशक्तियाँ—लब्धि-इन्द्रियाँ निरावरण विकसित होती हैं, उस जीवके उतनी ही इन्द्रियोंकी आकृतियाँ निर्मित होती हैं।

जो जीव जिस जातिमें उत्पन्न होता है, उसके उस जातिके अनुकूल इन्द्रिया-

वरणका क्षयोपशम होता है और उसी जातिके अङ्गोपाङ्गका उदय होता है। फलस्वरूप प्रत्येक संसारी जीवके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय एक समान पायी जाती हैं। एकेन्द्रियजीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय; द्वीन्द्रियजीवके स्पर्शन और रसना इन्द्रिय; त्रीन्द्रियजीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय; चतुरिन्द्रिय-जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु एवं पञ्चेन्द्रियजीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। ये पाँचों इन्द्रियाँ क्षायोपशमिक हैं, अतः इनका विषय मूर्त्त पदार्थ ही है। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्शको विषय करती है; रसना इन्द्रिय रसको; घ्राण इन्द्रिय गन्धको; चक्षुरिन्द्रिय रूपको और श्रोत्र-इन्द्रिय शब्दको विषय करती है।

इन्द्रियोंकी शक्ति पृथक् पृथक् होनेसे वे पृथक्-पृथक् रूपसे विषयोंको जानती हैं, अतः एक इन्द्रियका विषय दूसरी इन्द्रियमें संक्रान्त नहीं होता। इन्द्रियोंके इन पाँचों विषयोंमेंसे स्पर्श आदि चार गुणपर्याय हैं और शब्द व्यंजन द्रव्य पर्याय।

यों तो प्रत्येक पुद्गलमें स्पर्शादिक सभी गुण पाये जाते हैं, पर जो पर्याय अभिव्यक्त होती है, उसीको इन्द्रिय ग्रहण करती है। संक्षेपमें इन्द्रियाँ मनके सहयोगसे पदार्थोको जानती हैं। मन समस्त इन्द्रियोंके साथ युगपत् सम्बन्धित नहीं होता। एक कालमें एक इन्द्रियके साथ ही सम्बन्ध करता है। आत्मा उपयोगमय है, वह जिस समय जिस इन्द्रियके साथ मनोयोग कर जिस वस्तुमें उपयोग लगाती है, तब वह तन्मय हो जाती है। अतः युगपत् इन्द्रियद्वयका उपयोग नहीं होता। देखना, चखना और सूँघना भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं; इनके साथ मनकी गति एक साथ नहीं होती।

मनकी ज्ञानशक्ति तीव्र होती है, अतः उसका क्रम जाना नहीं जाता। युगपत् सामान्य विशेषात्मक वस्तुका ज्ञान तो संभव है, पर दो उपयोग एक कालमें एक साथ नहीं होते।

मन : स्वरूप एवं कार्य

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है। इसे अनिन्द्रिय भी कहते हैं। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियोंका विषय नियमित है, उस प्रकार मनका विषय नियमित नहीं है। वह वर्त्तमानके समान अतीत और भविष्यके विषयको भी जानता है। अतीतकी घटनाओंका स्मरण भी मन द्वारा होता है, अतः मनका विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानना है।

मुख्यरूपसे मनका कार्य चिन्तन करना है। वह इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत वस्तुओंके सम्बन्धमें तो सोचता ही है, पर इससे आगे भी सोचता है। इन्द्रिय-ज्ञानका प्रवर्त्तक होनेपर भी मनको सर्वत्र इन्द्रियज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती।

यह इन्द्रियद्वारा ज्ञात रूप, रस आदिका विशेष पर्यालोचन करता है। इन्द्रियों-की गति पदार्थ तक है, पर मनकी गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है। मन-के दो भेद हैं:—(१) द्रव्यमन और (२) भावमन।

हृदयस्थानमें अष्टपांखुड़ीके कमलके आकाररूप पुद्गलोंको रचनाविशेष द्रव्यमन है[१]। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार, चिन्तन आदि-रूप ज्ञानकी अवस्थाविशेष भावमन है। द्रव्यमन पुद्गलविपाकी नामकर्म-के उदयसे होता है। रूपादि युक्त होनेके कारण द्रव्यमन पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है।

भावमन ज्ञानस्वरूप है। यह वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा आत्मविशुद्धिरूप है।[२] लब्धि और उपयोगलक्षणयुक्त है। इन्द्रियोंका समस्त व्यापार मनके अधीन है। मन जिस-जिस इन्द्रियकी सहायता करता है, उसी-उसी इन्द्रियके द्वारा क्रमशः ज्ञान और क्रिया होती है।

मनको कथंचित् अवस्थायी और कथंचित् अनवस्थायी माना जाता है। द्रव्यार्थिकनयसे अवस्थायी और पर्यायार्थिकनयसे अनवस्थायी है। जन्मसे मरण पर्यन्त जीवका क्षयोपशमरूप सामान्य भावमन तथा कमलाकार द्रव्यमन ज्यों-के-त्यों रहते हैं, अतः अवस्थायी हैं और प्रत्येक उपयोगके साथ विवक्षित आत्म-प्रदेशोंमें ही भावमनकी निर्वृत्ति होती है तथा उस द्रव्यमनको मनपना प्राप्त होता है, जो उपयोगके अनन्तर एक समयमें ही नष्ट हो जाता है, अतः वे दोनों अनवस्थायी हैं।

शरीर और मनका सम्बन्ध

शरीरपर मनका प्रभाव पड़ता है। आत्मा अरूपी है, इसे हम देख नहीं सकते। शरीरमें आत्माकी क्रियाओंकी अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ आत्माको विद्युत् और शरीरको बल्व मान सकते हैं। ज्ञानशक्ति आत्माका गुण है और उसके साधन शरीरके अवयव हैं।

तथ्य यह है कि संसारी आत्माओंकी शक्तिका उपयोग पुद्गलोंकी सहायताके बिना नहीं होता। हमारा मानस चिन्तनमें प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मनके द्वारा पुद्गलोंको ग्रहण करना ही पड़ता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। हमारे चिन्तनमें जिस प्रकारके इष्ट-अनिष्ट भाव आते हैं,

---

१. हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा,
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा॥—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४४२.

२. वीर्यान्तरायमनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षयात्मनो विशुद्धिर्भावमनः।
—सर्वार्थसिद्धि २।११ पृ० १७०.

उसी प्रकारके इष्ट या अनिष्ट पुद्गलोंको द्रव्यमन ग्रहण करता चलता है। मनरूपमें परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलोंसे शरीरकी हानि होती है और मन-रूपमें परिणत इष्ट पुद्गलोंसे शरीरको लाभ पहुँचता है। इस प्रकार शरीरपर मनका प्रभाव सिद्ध होता है।

यह ध्यातव्य है कि मनका शारीरिक ज्ञानतन्तुके केन्द्रोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध है। जबतक ज्ञानतन्तु प्रौढ़ नहीं होते, तबतक पूरा बौद्धिक विकास नहीं होता है। वस्तुओंकी ज्ञानप्राप्तिके लिए मन और शरीर इन दोनोंका प्रौढ़ होना आवश्यक है।

संक्षेपमें ज्ञानोत्पत्तिके प्रमुख दो साधन हैं:—(१) इन्द्रिय और (२) मन।

सन्निकर्ष-विचार

अर्थका ज्ञान करानेमें इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष कारण नहीं है। जो ज्ञानोत्पत्तिकी यह प्रक्रिया मानते हैं कि आत्मा मनसे सम्बन्ध करती है, मन इन्द्रियसे और इन्द्रिय अर्थसे, वह समीचीन नहीं है। यत: वस्तुका ज्ञान करानेमें सन्निकर्ष साधकतम नहीं है। जिसके होनेपर ज्ञान हो और नहीं होनेपर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है, पर सन्निकर्षमें यह बात घटित नहीं होती। कहीं-कहीं सन्निकर्षके होनेपर भी ज्ञान नहीं होता। घटकी तरह अकाश आदिके साथ चक्षुका संयोग रहता है, फिर भी आकाशका ज्ञान नहीं होता। अत: जो जहाँ बिना किसी व्यवधानके कार्य करता है, वही वहाँ साधकतम होता है। यथा—घरमें स्थित पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें दीपक। ज्ञान ही एक ऐसा हेतु है, जो बिना किसी व्यवधानके अपने विषयको जानता है। अत: ज्ञानोत्पत्तिमें क्षयोपशमजन्य शक्ति ही कारण है, सन्निकर्ष नहीं।

यथार्थत: ज्ञाताकी अर्थको ग्रहण कर सकनेकी शक्ति या योग्यता ही वस्तुका ज्ञान करानेमें साधकतम है और यह योग्यता 'स्व' और 'अर्थ' को ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम है। ज्ञानकी उत्पत्ति तभी होती है, जब ज्ञातामें उस अर्थको ग्रहण करनेकी शक्ति रहती है। अतएव शक्तिरूप योग्यता ज्ञानोत्पत्तिमें साधकतम है और ज्ञान 'स्व' तथा 'अर्थ' की परिच्छित्ति करानेमें साधकतम है।

यह मान्यता भी सदोष है कि इन्द्रिय जिस पदार्थसे सम्बन्ध नहीं करती, उसे नहीं जानती, क्योंकि वह कारक है, यथा बढ़ईका वसूला लकड़ीसे दूर रहकर अपना काम नहीं करता। सभी जानते हैं कि स्पर्शन इन्द्रिय पदार्थको छूकर ही जानती है, बिना स्पर्श किये नहीं। यह सिद्धान्त समस्त इन्द्रियोंके

विषयमें भी चरितार्थ है। पर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि रूपादि गुण अमूर्त होनेसे इन्द्रियोंके साथ उनका सन्निकर्ष संभव नहीं है। यतः चक्षु इन्द्रिय पदार्थका स्पर्श किये बिना भी रूपको ग्रहण कर लेती है।

चक्षुका प्राप्यकारित्व-विमर्श

इन्द्रियोंमें चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं। अर्थात् ये पदार्थोंको प्राप्त किये बिना ही दूरसे ही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पदार्थोंसे सम्बद्ध होकर उन्हें जानती हैं। कान शब्दको स्पृष्ट होनेपर सुनता है। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ पदार्थोंके सम्बन्धकालमें उनसे स्पृष्ट और बद्ध होती हैं। यहाँ बद्धका अर्थ इन्द्रियोंकी अल्पकालिक विकारपरिणति है। उदाहरणके लिये कहा जा सकता है कि अत्यन्त शीत जलमें हाथके डुबानेपर कुछ समय पश्चात् हाथ ऐसा ठिठुर जाता है कि उससे दूसरा स्पर्श शीघ्र गृहीत नहीं होता। इसी प्रकार किसी तीक्ष्ण पदार्थके खा लेनेपर रसना भी विकृत हो जाती है, पर श्रवणसे किसी भी प्रकारके शब्द सुननेपर ऐसा कोई विकार प्राप्त नहीं होता।

चक्षु इन्द्रियको कुछ विचारक प्राप्यकारी मानते हैं। उनका अभिमत है कि चक्षु तैजस पदार्थ है। अतः उसमेंसे किरणें निकलकर पदार्थोंसे सम्बन्ध करती हैं और तब चक्षुके द्वारा पदार्थका ज्ञान होता है। चक्षु पदार्थके रूप, रस, गंध आदि गुणोंमेंसे केवल रूपको ही प्रकाशित करती है। अतः चक्षु तैजस है। मन व्यापक आत्मासे संयुक्त होता है और आत्मा जगतके समस्त पदार्थोंसे संयुक्त है। अतः मन किसी भी बाह्य वस्तुको संयुक्तसंयोग आदि सम्बन्धोंसे जानता है। मन अपने सुखका साक्षात्कार संयुक्तसमवाय सम्बन्धसे करता है। मन आत्मासे संयुक्त है और आत्मामें सुखका समवाय है। अतः चक्षु और मन दोनों प्राप्यकारी हैं।

उपर्युक्त तर्क विचार करनेपर सदोष प्रतीत होता है। यदि चक्षु पदार्थका स्पर्श कर पदार्थको जानती होती, तो आँखमें लगे हुए अंजनको भी जान लेती। किन्तु दर्पणमें देखे बिना अंजनका ज्ञान नहीं होता। अतः वह अप्राप्यकारी है। चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये जो यह कहा जाता है कि चक्षु ढकी हुई वस्तुको नहीं देख सकती, अतः प्राप्यकारी है, यह कथन भी उचित नहीं है। काँच, अभ्रक और स्फटिकसे ढके हुए पदार्थोंको भी चक्षु देख लेती है। चुम्बक दूरसे ही लोहेको खींच लेता है, फिर भी वह किसी चीजसे आच्छादित हुए लोहेको नहीं खींच पाता है। अतएव जो ढकी हुई वस्तुको ग्रहण न कर सके, वह प्राप्यकारी है, ऐसा नियम बनाना सदोष है।

चक्षुको तेजोद्रव्य मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। यतः तेजोद्रव्य स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि तेजोद्रव्यमें उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप अवश्य पाये जाते हैं। पर चक्षुमें उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप नहीं हैं। ऐसा तेजो द्रव्य तो सम्भव है, जिसमें उष्ण स्पर्श प्रकट नहीं रहता, किन्तु भास्वर रूप रहता है; जैसे दीपककी प्रभा। और ऐसा भी तैजस द्रव्य देखा जाता है, जिसमें उष्ण स्पर्श रहता है, किन्तु भास्वरता नहीं रहती, यथा गर्म जल। किन्तु ऐसा तैजस द्रव्य नहीं देखा जाता है, जिसमें रूप और स्पर्श दोनों ही प्रकट न हो। अतएव चक्षुको न तो तैजस द्रव्य ही माना जा सकता है और न उससे निकलनेवाली किरणोंकी ही कल्पना की जा सकती है। नक्तंचर—मार्जारका उदाहरण भी दोषपूर्ण है। यतः मार्जारकी आँखोंमें किरणें होनेसे समस्त प्राणियोंकी आँखोंमें किरणें रहनेका नियम नहीं बनाया जा सकता है।

चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर पदार्थमें दूर और निकट व्यवहार सम्भव नहीं है। इसी प्रकार संशय और विपर्यय ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। वस्तुतः आँख एक कैमरा है, जिसमें पदार्थोंकी किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं। किरणोंके प्रतिबिम्ब पड़नेसे ज्ञानतन्तु उद्बुद्ध होते हैं और चक्षु उन पदार्थोंको देख लेती है। चक्षुमें पड़े हुए प्रतिबिम्बका कार्य केवल चेतनाको उद्बुद्ध करना है। अतएव चैतन्य मनकी प्रेरणासे चक्षु योग्य देशमें स्थित पदार्थको ही जानती है, अपनेमें पड़े हुए प्रतिबिम्बको नहीं। पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़नेकी क्रिया केवल स्विचको दबानेकी क्रियाके तुल्य है। अतः चक्षु अप्राप्यकारी है। यह अपने प्रदेशोंमें स्थित रहकर मनोयोगकी सहायतासे पदार्थों के रूपका अवलोकन करती है। चक्षुको प्राप्यकारी मानना अनुभव और तर्क दोनोंके विरुद्ध है।

श्रोत्रका अप्राप्यकारित्व-विमर्श

कतिपय दार्शनिक चक्षुके समान श्रोत्रको भी अप्राप्यकारी मानते हैं। उनका अभिमत है कि शब्द भी दूरसे ही सुना जाता है। यदि श्रोत्र प्राप्यकारी होता, तो शब्दमें दूर और निकट व्यवहार सम्भव नहीं होना चाहिये था। किन्तु जब हम कानमें घुसे हुए मच्छरके शब्दको सुन लेते हैं, तो उसे अप्राप्यकारी कैसे कहा जा सकता है ? प्राप्यकारी घ्राण इन्द्रियके विषयभूत गन्धमें भी कमलकी गन्ध दूर है, मालतीकी गन्ध पास है, इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। यदि चक्षुके समान श्रोत्र भी अप्राप्यकारी होता, तो जैसे रूपमें दिशा और देशका संशय नहीं रहता, उसी प्रकार शब्दमें भी नहीं होना चाहिये था। किन्तु शब्दमें यह किस दिशासे आया है, इस प्रकार का संशय देखा जाता है। अतः

श्रोत्र प्राप्यकारी है। जब शब्द वातावरणमें उत्पन्न होता है, तो कानके भीतर पहुँचता है, तब सुनायी पड़ता है।

वस्तुतः श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है, अस्पृष्ट शब्दको भी सुनता है। नेत्र अस्पृष्ट रूपको भी देखता है। घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमशः स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको जानती हैं।[1]

ज्ञानके भेद

सामान्यतः ज्ञानके दो भेद हैं:—(१) सम्यग्ज्ञान और (२) कुज्ञान। ज्ञान आत्माका विशेष गुण है, यह आत्मासे पृथक् उपलब्ध नहीं होता। जिस ज्ञान द्वारा प्रतिभासित पदार्थ यथार्थ रूपमें उपलब्ध हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वस्तुतः जिस-जिस रूपमें जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस रूपमें उनको जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्‌पदसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसायकी निराकृति हो जाती है। यतः ये ज्ञान सम्यक् नहीं हैं। सम्यग्ज्ञानका संबंध आत्मोत्थानके साथ है। जिस ज्ञानका उपयोग आत्म-विकासके लिये किया जाता है और जो पर-पदार्थोंसे पृथक् कर आत्माका बोध कराता है, वह सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद हैं:—

(१) मतिज्ञान—इन्द्रिय और मनके द्वारा यथायोग्य पदार्थोंको जाननेवाला।

(२) श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम होनेपर, मन एवं इन्द्रियोंके द्वारा अधिगम।

(३) अवधिज्ञान—परिमित रूपी पदार्थको इन्द्रियोंकी सहायताके बिना जाननेवाला।

(४) मनःपर्ययज्ञान—परके मनमें स्थित पदार्थोंको जाननेवाला।

(५) केवलज्ञान—समस्त पदार्थोंको अवगत करनेवाला ज्ञान।

कुज्ञान तीन हैं:—(१) कुमति, (२) कुश्रुत और (३) कुअवधि।

ज्ञान और प्रमाण-विमर्श

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाणमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकारका होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि अयथार्थ ज्ञान हैं। अतएव ये प्रमाणभूत नहीं हैं।

---

१. पुट्ठं सुणेदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूअं।
गंधं रसं च फासं पुट्ठमपुट्ठं वियाणादि॥
—सर्वार्थसिद्धि १–१९ उद्धृत.

प्रमाका करण प्रमाण है और जो वस्तु जैसी है, उसको उसी रूपमें जानना प्रमा है। करणका अर्थ साधकतम है। एक अर्थकी सिद्धिमें अनेक सहयोगी होते हैं, किन्तु सभी करण नहीं कहलाते हैं। फलकी सिद्धिमें जिसका व्यापार अव्यवहित होता है, वही करण कहलाता है। यथा—लिखनेमें कलम और हाथ दोनों चलते हैं, किन्तु करण कलम ही कहलाती है, हाथ नहीं। क्योंकि लिखनेका निकटतम सम्बन्ध लेखनीसे है। हाथका सम्बन्ध निकटतम नहीं है। व्याकरणकी भाषामें हाथको साधक और लेखनीको साधकतम कहा जा सकता है।

प्रमाणके इस लक्षणमें सामान्यतः कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। विप्रतिपत्तिका विषय तो केवल 'करण' शब्द है। अन्य दर्शनोंमें करणकी मान्यता विभिन्न प्रकार है। बौद्धदर्शन सारूप्य और योग्यताको करण मानता है, तो नैयायिक दर्शन सन्निकर्ष और ज्ञानको। पर यथार्थमें ज्ञान ही करण है। वस्तुके जाननेरूप व्यापारके साथ उसका निकटका सम्बन्ध है।

ज्ञान या अधिगमके साधनोंमें प्रमाण और नयकी गणना है। प्रमाण समग्र वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करता है और नय खण्डरूपसे। प्रमारूप क्रिया चेतन है। अतः उसमें साधकतम उसीका गुण ज्ञान ही हो सकता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि जाननेरूप क्रियाका अव्यवहित करण ज्ञान ही है। अतएव प्रतीतिका करण चेतनरूप ज्ञान ही हो सकता है, अन्य जडादि पदार्थ नहीं। जिस प्रकार अन्धकारकी निवृत्तिमें दीपक ही साधकतम है, तेल-बत्ती और दीया आदि नहीं। उसी प्रकार जाननेरूप क्रियामें साधकतम ज्ञान है, ज्ञानकी उत्पादक सामग्री अवश्य इन्द्रिय और मन आदि हैं।

ज्ञानका सामान्य धर्म है अपने स्वरूपको जानते हुए पर-पदार्थको जानना। ज्ञान अवस्थाविशेषमें 'पर' को जाने या न जाने, पर अपने स्वरूपको तो वह अवश्य जानता है। ज्ञान प्रमाण हो, संशय हो, विपर्यय हो या अनध्यवसाय हो, वह बाह्य अर्थमें विसंवादी होनेपर भी 'स्व' स्वरूपको अवश्य जानता है और 'स्व' स्वरूपके सम्बन्धमें अविसंवादी होता है। यदि ज्ञानको 'स्व' स्वरूपका ज्ञाता न माना जाय, तो वह 'पर' अर्थका बोधक भी नहीं हो सकता है। जो ज्ञान अपने स्वरूपका प्रतिभास करनेमें असमर्थ है, वह परका अवबोधक कैसे हो सकता है? 'स्व' स्वरूपकी दृष्टिसे तो सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणताका विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे सम्बद्ध है। स्वरूपकी दृष्टिसे तो कोई ज्ञान न प्रमाण है और न प्रमाणाभास।

प्रमाणस्वरूपका विकास

प्रमाणके स्वरूपका विकास निरन्तर होता रहा है। आरम्भमें आत्मज्ञानको

प्रमाण माना जाता था। पश्चात् स्व-परावभासी[1] ज्ञानको प्रमाण कहा जाने लगा। वस्तुतः स्वपरावभासी एवं बाधारहित ज्ञान प्रमाण है। इस लक्षणमें व्यवसायात्मक, अनधिगतार्थक और अविसंवादी पदोंका जोड़ना भी आवश्यक है। जो ज्ञान अनधिगत अर्थको जानते हुए विसंवादसे रहित निश्चयात्मक स्व-परावभासी होता है, वह प्रमाण है।

ज्ञान मात्र प्रमाण नहीं है, किन्तु जो तत्त्व-निर्णय करानेमें साधकतम ज्ञान हैं, वही प्रमाण है। जो पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान है, वह प्रमाणभूत है। ज्ञानकी प्रमाणतामें कोई अन्य कारण नहीं होता। किन्तु जो अर्थको सम्यक् निश्चयात्मक रूपसे जानता है, वह ज्ञान प्रमाण है। निष्कर्ष रूपमें 'स्व' और 'पर' को निश्चयात्मकरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है।

प्रमाणकी सामान्य व्युत्पत्ति है—'प्रमीयते येन तत् प्रमाणम्'—अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो, उस द्वारका नाम प्रमाण है। प्रमाणभूत ज्ञान ही उपादेय है, क्योंकि इसीके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति, इष्ट वस्तुका ग्रहण और अनिष्ट वस्तुका त्याग होता है।

प्रामाण्य-विचार

प्रमाण जिस पदार्थको जिस रूपमें जानता है, उसका उसी रूपमें प्राप्त होना, अर्थात् प्रतिभात विषयका अव्यभिचारी होना प्रामाण्य कहलाता है। यह प्रमाणका धर्म है। इसकी उत्पत्ति उन्हीं कारणोंसे होती है, जिन कारणोंसे प्रमाण ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य, उनकी उत्पत्ति परतः ही मानी जाती है।

प्रमाणकी ज्ञप्ति अभ्यासदशामें स्वतः और अनभ्यासदशामें परतः होती है। जिन स्थानोंका हमें परिचय है, उन स्थानोंमें रहनेवाले जलाशयादिका ज्ञान अपने आप अपनी प्रमाणता या अप्रमाणताको प्रकट कर देता है, किन्तु अपरिचित स्थानोंमें होनेवाले जलज्ञानकी अप्रमाणता या प्रमाणताका ज्ञान पनिहारियोंका पानी भरकर लाना, मेढकोंका टर्राना या कमलकी गन्धका आना आदि जलके अविनाभावी लक्षणोंका ज्ञान परतः—प्रमाणभूत ज्ञानोंसे ही होता है।

प्रमाणके प्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः ही होगी[2]। जिन कारणोंसे प्रमाण

---

१. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।—बृ० स्व० ६३.

२. प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, विशिष्टकारणप्रभवत्वाद्विशिष्टकार्यस्येति।.... ननूत्पत्तौ विज्ञानकारणातिरिक्तकारणान्तरसव्यपेक्षत्वमसिद्धं प्रामाण्यस्य, तदितरस्यैवाभावात्।—प्रमेयरत्नमाला १।१३, पृ० ३०-३१.

या अप्रमाणज्ञान उत्पन्न होगा, उन कारणोंसे उनकी प्रमाणता और अप्रमाणता उत्पन्न होती है। प्रमाण और प्रमाणताकी उत्पत्तिमें समयभेद नहीं है। ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले जो कारण हैं, उनसे भिन्न कारणोंसे प्रमाणता उत्पन्न होती है। यतः प्रमाण और प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें दीपक और प्रकाशके समान, समयभेद नहीं है।

ज्ञप्ति और प्रवृत्ति अभ्यासदशामें स्वतः और अनभ्यासदशामें परतः सिद्ध होती हैं[1]। परिचित अवस्थाको अभ्यासदशा और अपरिचित अवस्थाको अनभ्यास दशा कहा जाता है। अपने गाँवके जलाशय, नदी, बावड़ी आदि परिचित हैं, अतः उनकी ओर जानेपर जो जलज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी प्रमाणता स्वतः होती है। पर अन्य अपरिचित ग्रामादिकमें जानेपर 'यहाँ जल होना चाहिए', इस प्रकार जो जलज्ञान उत्पन्न होगा, वह शीतल वायुके स्पर्शसे, कमलोंकी सुगंधिसे, या जल भरकर आते हुए व्यक्तियोंके देखने आदि पर-निमित्तोंसे ही होगा। अतः उस जलज्ञानकी प्रमाणता अनभ्यासदशामें परतः मानी जायगी। उत्पत्तिमें परतः प्रमाणता कहनेका तात्पर्य यह है कि अन्तरंग-कारण ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर भी बाह्यकारण इन्द्रियादिकके निर्दोष होनेपर ही नवीन प्रमाणतारूप कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। अतएव उत्पत्तिमें परतः प्रमाणता स्वीकार की गयी है।

प्रमाणके भेद

प्रमाणके दो भेद हैः—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। आगमिक परिभाषामें आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष और जिन ज्ञानोंमें इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि पर-साधनोंकी अपेक्षा होती है, वे परोक्ष हैं।[2] जितने परनिमित्तक परिण-मन हैं, वे सब व्यवहारमूलक हैं। जो मात्र स्वजन्य हैं, वे ही परमार्थ हैं और निश्चयके विषय हैं।

प्रत्यक्ष शब्दमें 'अक्ष' विचारणीय है। अक्षका अर्थ आत्मा है। बताया है कि अक्ष, व्याप् और ज्ञा ये धातुएँ एकार्थक हैं। अतः अक्षका अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशमवाले या आवरणरहित केवल आत्माके प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रिय आदिकी अपेक्षासे न होकर केवल क्षयोपशम-वाले या आवरण रहित आत्मासे होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

---

१. विषयपरिच्छित्तिलक्षणे प्रवृत्तिलक्षणे वा स्वकार्ये अभ्यासेतरदशापेक्षया क्वचित् स्वतः परतश्चेति निश्चीयते। —प्रमेयरत्नमाला १।१३, पृ० ३१.

२. जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं॥
—प्रवचनसार गाथा ५८.

इन्द्रियोंके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है; क्योंकि इस प्रकारके ज्ञानसे आत्मामें सर्वज्ञता नहीं आ सकती है। अतएव अतीन्द्रिय ज्ञान परनिरपेक्ष होनेके कारण प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान सर्वथा स्वावलम्बी है, जिसमें बाह्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं है, वह प्रत्यक्ष है और जिसमें इन्द्रिय, मन, आलोक आदिकी आवश्यकता रहती है, वह परोक्ष है।[1]

तर्ककी दृष्टिसे निर्मल और स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इसका अनुमान यों कर सकते हैं कि प्रत्यक्षविषयक ज्ञान विशदरूप है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। जो विशदज्ञानात्मक नहीं, वह प्रत्यक्ष नहीं, यथा परोक्ष ज्ञान। यहाँ विशद या निर्मलका अर्थ दूसरे ज्ञानके व्यवधानसे रहित और विशेषतासे होनेवाला प्रतिभास है अर्थात् अन्य ज्ञानके व्यवधानसे रहित निर्मल, स्पष्ट और विशिष्ट ज्ञान वैशद्य कहलाता है। प्रत्यक्षके दो भेद हैं:—१. सांव्यवहारिक और २. पारमार्थिक।

पाँच ज्ञानोंमेंसे इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षा मति और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा जाता है। अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाता है। तर्ककी दृष्टिसे इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न आंशिक विशद ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। अतएव लोक-व्यवहारका निर्वाह करनेके हेतु सांव्यवहारिक प्रत्यक्षकी भी कल्पना की गई है। संक्षेपमें प्रमाणके भेद मूलतः प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो हैं और प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद हैं। परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद किये गये हैं।
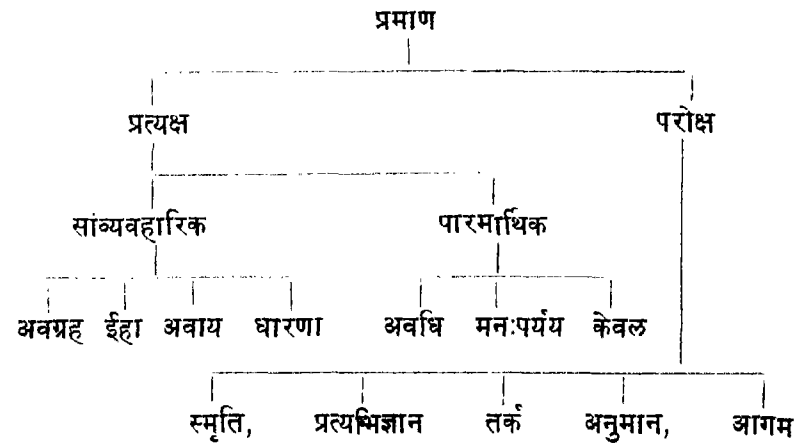
१. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा नियतं प्रत्यक्षम्। —सर्वार्थसिद्धि १।१२.

प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण : सामान्य निरूपण

पुरातन मान्यतामें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्ष एवं स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको मतिज्ञानका पर्याय कहा गया है। अतएव आगमकी शब्दावलीमें सामान्यरूपसे स्मृति, संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता—तर्क, अभिनिबोध—अनुमान और श्रुत—आगमको परोक्ष माननेका विधान है। इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष – केवल मतिज्ञानको परोक्ष माननेमें लोकविरोध आता है, क्योंकि इन्द्रियोंके द्वारा भी वस्तुओंका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अतः इन्द्रिय और मनसे गृहीत होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको परोक्ष किस प्रकार कहा जाय? इस समस्याके समाधानहेतु मति, स्मृति, चिन्ता आदि ज्ञानोंको शब्द-योजनाके पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और शब्द-योजनाके पश्चात् उन्हीं ज्ञानोंको श्रुत माना जा सकता है। इस प्रकार मतिज्ञानको परोक्षकी सीमामें सम्मिलित करनेपर भी उसके एक अंशको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जा सकता है। जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें किसी दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा रखता हो, अर्थात् जिसमें ज्ञानान्तरका व्यवधान हो, वह ज्ञान अविशद है। पाँच इन्द्रिय और मनके व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष अन्य किसी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं रखनेके कारण अंशतः विशद होनेसे प्रत्यक्ष हैं। जब कि स्मरण अपनी उत्पत्तिमें पूर्वानुभवकी; प्रत्यभिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें स्मरण और प्रत्यक्षकी; तर्क अपनी उत्पत्तिमें स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञानकी; अनुमान अपनी उत्पत्तिमें लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरणकी तथा श्रुतज्ञान अपनी उत्पत्तिमें शब्द-श्रवण और संकेत-स्मरणकी अपेक्षा रखते हैं। अतएव स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये ज्ञान ज्ञानान्तर सापेक्ष होनेके कारण अविशद अर्थात् परोक्ष हैं।

मतिज्ञानके भेद ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें पूर्व-पूर्वकी प्रतीतिकी अपेक्षा तो रखते हैं, पर नवीन-नवीन इन्द्रियव्यापारसे उत्पन्न होते हैं और एक ही पदार्थकी विशेष अवस्थाओंको ग्रहण करते हैं। अतः किसी भिन्नविषयक ज्ञानसे व्यवहित नहीं होनेके कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही हैं। एक ही ज्ञान भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-व्यापारोंसे अवग्रह आदि अतिशयोंको प्राप्त करता हुआ अनुभवमें आता है। अतः ज्ञानान्तरका व्यवधान नहीं आने पाता।

यहाँ निश्चयात्मक सविकल्पज्ञान ही प्रमाणरूपमें मान्य है और विशदज्ञान प्रत्यक्षकोटिके अन्तर्गत है। विशदता और निश्चयपना सविकल्पकज्ञानका धर्म है और वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार उसमें पाया जाता है। वस्तुतः

अनुमानादिकसे अधिक नियत देश; काल और आकार रूपमें प्रचुरतर विशेषोंके प्रतिभासनको वैशद्य माना है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि जिस ज्ञानमें किसी अन्य ज्ञानकी सहायता अपेक्षित न हो, वह ज्ञान विशद है। जिस प्रकार अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें हेतु, व्याप्ति-स्मरण आदिकी अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें अन्य किसी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखते।[1]

सारांश यह है कि जिस ज्ञानमें अन्य किसीका व्यवधान नहीं है, वह प्रत्यक्ष है और जिसमें अन्यका व्यवधान पाया जाता है उसे परोक्ष कहा जाता है। इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको संव्यवहार प्रत्यक्ष माना है। लोकव्यवहारमें इसे प्रत्यक्ष कहा भी गया है। यों तो आध्यात्मिक दृष्टिसे ये ज्ञान परोक्ष ही हैं। मतिज्ञानके मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन पर्यायोंका निर्देश मिलता है। इनमें मति इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। इसकी उत्पत्तिमें ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नहीं होती, पर स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि ज्ञानोंमें पूर्वानुभव, स्मरण, प्रत्यक्ष, लिङ्गदर्शन एवं व्याप्ति-स्मरण आदि ज्ञाना-न्तरोंकी अपेक्षा रहती है। इसी कारण इन्हें परोक्ष कहा जाता है। लोकमें प्रसिद्ध इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षका अन्तर्भाव सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें किया जा सकता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

ज्ञान आत्मामें समाहित रहता है और आत्मापर कर्मका आवरण पड़ा रहता है, जिससे ज्ञानका स्पष्ट आभास नहीं होता। कर्मका आवरण जितने अंशमें हटता जाता है, उतने ही अंशमें ज्ञानका प्रादुर्भाव होता जाता है। यों तो आत्माका समस्त ज्ञान कभी भी आवृत नहीं होता। यतः ज्ञानके अभावमें आत्माका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो पाता। अतएव आवरणके क्षयोपशमानुसार ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भी दो भेद माने जा सकते हैं:—१. इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और २. अनिन्द्रियसाव्यवहारिक प्रत्यक्ष। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मनसे उत्पन्न होता है, पर इन्द्रियप्रत्यक्षमें इन्द्रियोंके साथ मन भी कारण रहता है। इन्द्रियसांव्यवहारिक प्रत्यक्षको चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है:—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा।

---

१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद् वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥ —लघीयस्त्रय, कारिका ४.

अवग्रहके पर्यायवाची ग्रह, ग्रहण, अवलोकन, अवधारण आदि हैं। कहा जाता है कि इन्द्रिय विषयको ग्रहण करनेके लिए जैसे ही प्रवृत्त होती है, वैसे ही स्व-प्रत्यय होता है, जिसे दर्शन कहते हैं और तदनन्तर विषयका ग्रहण होता है, जो अवग्रह कहलाता है। यथा—'यह मनुष्य है' यह ज्ञान होना अवग्रह है। यह ज्ञान इतना क्षणिक और निर्बल है' कि इसके पश्चात् संशय उत्पन्न हो सकता है। अतएव संशयापन्न अवस्थाको दूर करनेके लिए या विगत ज्ञानको व्यवस्थित करनेके लिए जो ईहन—विचारणा या गवेषणा होती है, वह ईहा ज्ञान है। 'मैंने जो देखा है वह मनुष्य ही होना चाहिए' ऐसा ज्ञान ईहा है। ईहाके होनेपर भी जाना हुआ पदार्थ मनुष्य ही है ऐसा अवधान अर्थात् निर्णयका होना अवाय है। जाने हुए पदार्थको कालान्तरमें भी नहीं भूलनेकी योग्यताका उत्पन्न हो जाना ही धारणा है। यह धारणा ही स्मृति आदि ज्ञानोंकी जननी है।

अवग्रहके दो भेद हैं:—१. व्यंजनावग्रह और २. अर्थावग्रह। शब्दादि अर्थ अव्यक्त होते हैं, वे व्यञ्जन कहलाते हैं। चक्षु और मनका विषय अव्यक्त नहीं होता। शेष चार इन्द्रियोंके विषय व्यक्त या अव्यक्त दोनों प्रकारके हो सकते हैं। चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं और शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकारकी हैं। अप्राप्त विषयको ग्रहण करना अर्थावग्रह है और प्राप्त अर्थके प्रथम ग्रहणको व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है। जिस प्रकार मिट्टीके नूतन कोरे घड़ेपर पानीकी दो चार बूंद डालनेपर वह गीला नहीं होता, किन्तु पुनः-पुनः सिञ्चन करनेपर वह अवश्य ही गीला हो जाता है। इसी प्रकार जबतक स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियका विषय स्पृष्ट होकर भी अव्यक्त रहता है, तबतक उसका व्यञ्जनावग्रह ही होता है, किन्तु उसके व्यक्त होनेपर अर्थावग्रह ही होता है। संक्षेपतः व्यक्तका नाम अर्थावग्रह है और अव्यक्त ग्रहणका नाम व्यंजनावग्रह है।

संशयज्ञानके अतिरिक्त व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यदि अर्थका यथार्थ निश्चय कराते हैं, तो प्रमाण है अन्यथा अप्रमाण हैं। प्रामाण्यका अर्थ है जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है उसका उसी रूपमें मिलना।

मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा ये ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होते हैं। इनमे व्यतिक्रमका होना सम्भव नहीं। साधारणतः अवग्रह आदि चारों ज्ञानोंका एक ही अर्थमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। कोई ज्ञान अवग्रह होकर छूट जाता है। किसी पदार्थके अवग्रह और ईहा, ये दोनों ही होते हैं। किसीके अवायसहित तीन होते हैं और किसी-किसी पदार्थके धारणासहित चारों ही ज्ञान पाये जाते हैं; किन्तु परिपूर्ण ज्ञान अवायके होनेपर ही माना जाता है।

मतिज्ञानके अन्तर्गत चार प्रकारकी बुद्धियोंकी भी गणना है। इन बुद्धियों-को अश्रुत-निःसृत मतिज्ञान कहा गया है। ये शिक्षा या विद्या आदिके द्वारा प्राप्त नहीं होती और न किसी शास्त्र या विद्याका अनुगमन ही करती है। प्रकारान्तरसे अश्रुत-निःसृत ज्ञानको मतिज्ञानका पृथक् भेद न मानकर ईहा, अवाय और धारणके अन्तर्गत ही समाहित किया जाता है। इस ज्ञानके चार भेद हैं:—१. औत्पत्तिक, २. वैनयिक, ३. कार्मिक, और ४. पारिणामिक।

औत्पत्तिक

जिस बुद्धि द्वारा अश्रुत और अदृष्ट पदार्थकी प्रतीति सहजरूपमें संभव हो वह मतिज्ञान औत्पात्तिक कहलाता है। उदाहरणार्थ बताया जाता है कि एकबार अवन्तिके नृपतिने रोहकसे कहा कि तुम अकेले मुर्गेकी लड़ाई दिखलाओ। रोहक अभी वयस्क नहीं था, पर उसमें औत्पत्तिकी बुद्धि समाहित थी। अतएव उसने एक मुर्गेके समक्ष एक दर्पण लाकर रख दिया। जब मुर्गेने दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देखा, तो उसने समझा कि दर्पणके भीतर दूसरा मुर्गा बैठा हुआ है। अतएव वह दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देख-देखकर प्रतिबिम्बित कुक्कुटके साथ युद्ध करने लगा। यहाँ मुर्गेकी अनुपस्थिति और प्रतिबिम्बको उपस्थिति दर्शन है। दर्शनके अनन्तर अवग्रह हुआ। यह प्रतिबिम्ब किस कोटिका है, यह ईहा और दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्बका निश्चय अवाय और तदनन्तर धारणाकी उत्पत्ति होती है।

वैनयिक

वैनयिक बुद्धि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसंबंधी पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखती है। यह कठिन-से-कठिन कार्यको सम्पन्न कर सकती है। इस बुद्धिकी उत्पत्ति सेवा और नम्रतासे होती है। जो साधक विनय और शीलगुण द्वारा अपनी लब्धि और उपयोगका विकास कर लेता है उसे इस प्रकारके ज्ञानकी उपलब्धि होती है। इस बुद्धि द्वारा ईच्छाशक्ति और संकल्पका विकास होता है। वीर्य-अन्तराय-की उत्पत्तिमें बाधा उत्पन्न करनेवाले कर्मपुद्गलोंका विलय हो जाता है। जो साधक गुरु-शुश्रूषा आदिके द्वारा इस प्रकारकी बुद्धिक. विकास करता है, वह अदृष्ट और अननुभूत पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

कार्मिक

यह वह बुद्धि है जो कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न चेतनाके कारण सत्यको ग्रहण करती है। यह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकारके विषयोंको जानती है। वस्तुतः इस प्रकारके ज्ञानका विकास व्यावहारिक अनुभवसे होता है। शिक्षा या विद्या इसके विकासमें अधिक सहयोगी नहीं। जिस प्रकार एक

कुशल स्वर्णकार शुद्ध सोनेको और नकली सोनेको अपने अनुभवके बलसे तत्काल पहचान लेता है, उसी प्रकार इस बुद्धिका धारी व्यक्ति ससारके पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

पारिणामिक

पारिणामिक बुद्धिका वह अंश है जो अपने उद्देश्यको अनुमान तर्क, उपमान, रूपक आदिके आधारपर पूर्ण करता है। विद्या, बुद्धि और आयुके विकासके साथ-साथ इस बुद्धिका भी विकास होता है। इसका वास्तविक उद्देश्य कर्म-कालिमाको क्षयकर निर्वाण प्राप्त करना है।

मतिज्ञानके भेद-प्रभेद

मतिज्ञानके ३३६ भेद माने गये हैं। अवग्रह आदि ज्ञान बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव, अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करते हैं। बहुत वस्तुओंके ग्रहण करनेको बहुज्ञान, बहुत तरहकी बहुत वस्तुओंको ग्रहण करनेको बहुविधज्ञान; वस्तुके एक भागको देखकर पूरी वस्तुको जान लेना अनिःसृतज्ञान, बिना कहे अभिप्राय-से ही जान लेना अनुक्तज्ञान; बहुत काल तक जैसे-का तैसा निश्चल ज्ञान होना ध्रुवज्ञान; अल्पका अथवा एकका ज्ञान होना अल्पज्ञान; एकप्रकारकी बहुत वस्तुओंका ज्ञान होना एकविधज्ञान; शनैः शनैः वस्तुओंको जानना अक्षिप्रज्ञान; सामने विद्यमान पूर्ण वस्तुको जानना निःसृतज्ञान; कहनेपर जानना उक्तज्ञान एवं चञ्चल रूपमें पदार्थोंको अवगत करना अध्रुवज्ञान है। इस प्रकार बारह प्रकारके पदार्थोंके अवग्रह, बारह प्रकारकी ईहा, बारह प्रकारका अवाय और बारह प्रकारकी धारणा होती है। ये समस्त भेद मिलकर १२ × ४ = ४८ भेद होते हैं। इनमेंसे प्रत्येक ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मनके द्वारा होता है। अतएव ४८ × ६ = २८८ अर्थावग्रह सहित मतिज्ञानके भेद हैं।

अस्पष्ट पदार्थके अवग्रहको व्यंजनावग्रह और स्पष्ट पदार्थके अवग्रहको अर्थावग्रह कहा जाता है। अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान सभी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होते हैं। पर व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे उत्पन्न नहीं होता। यतः चक्षु और मन पदार्थको दूरसे ही ग्रहण करते हैं, उनसे स्पृष्ट होकर नहीं। अतः व्यंजनावग्रह चार ही इन्द्रियोंसे होता है। इस प्रकार व्यंजनावग्रहके बहु आदि बारह विषयोंकी अपेक्षा—१२ × ४ = ४८ भेद हैं। अतएव मतिज्ञान-के कुल २८८ + ४८ = ३३६ भेद होते हैं। इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके अन्तर्गत मतिज्ञानका विशेष वर्णन निहित है।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। अर्थात् मतिज्ञानके निमित्तसे श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है सर्वप्रथम पाँच इन्द्रिय और मन इनमेंसे किसी एकके निमित्तसे किसी भी विद्यमान वस्तुका मतिज्ञान होता है। तदनन्तर इस मतिज्ञानपूर्वक उस ज्ञात हुई वस्तुके विषयमें या उसके सम्बन्धसे अन्य वस्तुके विषयमें विशेष चिन्तन आरम्भ होता है, यह श्रुतज्ञान कहलाता है। मनका विषय श्रुत है और श्रुतका अर्थ शब्द संकेत आदिके माध्यमसे होनेवाला ज्ञान है। मनका व्यापार अर्थावग्रहसे आरम्भ होता है। वह पटुतर है। पदार्थके संबंध संबंध होते ही पदार्थको जान लेता है। अतएव इसे व्यंजनावग्रहकी आवश्यकता नहीं होती है। इन्द्रियोंके साथ मनका सम्बन्ध होता है और मन शब्द-संकेत आदिके माध्यमसे श्रुतको ग्रहण करता है। शब्द कान द्वारा सुनाई पड़ता है, पर अर्थबोध मन द्वारा होता है। गाड़ीका सिगनल डाउन होना, यह चक्षुका विषय है, पर यह किस बातका संकेत करता है, इसे चक्षु नहीं जानती है। उसके संकेतको समझना मनका कार्य है और यही श्रुतज्ञानका विषय है। वस्तुके सामान्यरूपके ग्रहणके अनन्तर ज्ञानधाराका प्राथमिक अल्प अंश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमें शब्द-अर्थका सम्बन्ध, पूर्वापरका अनुसंधानविकल्प एवं विशेष धर्मोंका पर्यालोचन नहीं होता। ईहाके पश्चात् चिन्तनकी प्रक्रिया आरम्भ होती है और यह अन्तर्जल्पाकार ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। मनोमूलक अवग्रहके पश्चात् होनेवाले ईहादि मनके होते हैं। मन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंका साधन है। यह श्रुत शब्दके माध्यमसे पदार्थको तो जानता ही है। साथ ही शब्दका सहारा लिए बिना शुद्ध अर्थको भी जानता है। साधारणतः अर्थाश्रयी ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनोंको होता है। शब्दाश्रयी केवल मनको ही होता है। अतः स्वतन्त्ररूपमें 'श्रुत' मनका विषय है।

ज्ञान दो प्रकारका है:—(१) अर्थाश्रयी और (२) श्रोत्राश्रयी। सामान्य जलको देखकर नेत्रोंसे निकलनेवाले पानीका ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्दके द्वारा 'पानी द्रव्य'का ज्ञान होता है, यह श्रोत्राश्रयी ज्ञान है। श्रोत्राश्रयी और अर्थाश्रयी ज्ञान मनको होता रहता है, पर इन्द्रियोंको अर्थाश्रयी ज्ञान ही होता है।

वाच्य-वाचकके सम्बन्धसे होनेवाले ज्ञानका नाम श्रुतज्ञान है। इसे शब्दज्ञान या आगमज्ञान भी कहा जाता है। श्रुतका मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है उसकी गणना श्रुतज्ञानमें है। श्रुतज्ञानको मतिपूर्वक माना जाता है। इन दोनोंका कार्य कारण-सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य

है। श्रुतज्ञान शब्द, संकेत और स्मरणसे अर्थबोधक है। अमुक शब्दका अमुक अर्थमें संकेत है, यह जाननेके पश्चात् ही उस शब्दके द्वारा ही उसके अर्थका बोध होता है। संकेतको मतिज्ञान जानता है। उसके अवग्रहादि होते हैं। पश्चात् श्रुतज्ञान होता है। द्रव्यश्रुत मतिज्ञानका कारण बनता है, पर भावश्रुत उसका कारण नहीं बनता, विषय बनता है। कारण तब कहा जाता हैं जब श्रुतज्ञान शब्दके द्वारा श्रोत्रको उसके अर्थको जानकारी प्राप्त कराये।

श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दो भेद हैं। अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट ये भी श्रुतके दो भेद हैं। इनमेंसे अङ्गबाह्यके अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्टके आचाराङ्ग आदि बारह भेद हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

आत्ममात्र सापेक्ष साक्षात् अतीन्द्रिय ज्ञानको मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह प्रत्यक्ष सम्पूर्णरूपसे विशद होता है। यह आत्मासे उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और मनके व्यापारकी इसमें आवश्यकता नहीं होती। इसके दो भेद हैं:—(१) विकल प्रत्यक्ष और (२) सकल प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं और केवल ।ान सकल प्रत्यक्ष।

अवधिज्ञान

अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान है। यह पुद्गलादिरूपी द्रव्योंको ही विषय करता है, आत्मादि अरूपी द्रव्यको नहीं। यह पुद्गलद्रव्य और पुद्गलद्रव्यसे सम्बद्ध जीवद्रव्यकी कतिपय मर्यादाओंको जानता है; यतः संसारी जीव कर्मों से बँधा होनेसे मूर्तिक जैसा ही हो रहा है। अवधिज्ञानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा निश्चित है।

अवधिज्ञानके तीन भेद हैं:—(१) देशावधि, (२) परमावधि और (३) सर्वावधि। प्रकारान्तरसे अवधिज्ञानके दो भेद हैं:—(१) भवप्रत्यय और, (२) क्षयोपशमनिमित्त—गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञानका कारण भव—जन्म ही है। देवों या नारकियोंमें जन्म लेते ही अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम हो जाता है। यहाँ क्षयोपशम होनेमें भव ही मुख्य कारण है। इस सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि सम्यग्दृष्टियोंके अवधिज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियोंके कुअवधिज्ञान होता है। अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम जिसमें निमित्त रहता है, वह क्षयोपशमनिमित्तक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यों तो सभी अवधिज्ञान क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं, फिर भी इस अवधिज्ञानका नाम क्षयोपशमनिमित्तक इसलिए रखा है कि इसके होनेमें क्षयोपशम ही प्रधान

कारण है, भव नहीं। इसीसे इसे गुणप्रत्यय भी कहा जाता है। यह मनुष्य और तिर्यंचोंके उत्पन्न होता है। इसके छः भेद होते हैं:—(१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) अवस्थित और (६) अनवस्थित। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ-साथ जाता है, उसे अनुगामी कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं:—(१) क्षेत्रानुगामी, (२) भवानुगामी और (३) उभयानुगामी। जिस जीवके जिस क्षेत्रमें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह जीव यदि दूसरे क्षेत्रमें जाय तो उसके साथ अवधिज्ञान भी जाय, छूटे नहीं, उसे क्षेत्रानुगामी कहते हैं। जो अवधिज्ञान परलोकमें भी जीवके साथ जाता है, वह भवानुगामी एवं जो अन्य क्षेत्र और अन्य भव—जन्ममें साथ जाय, उसे उभयानुगामी कहते हैं।

जो अवधिज्ञान उत्पत्तिस्थानके छोड़ देनेपर स्थित नहीं रहता या जन्मान्तरमें साथ नहीं जाता, वह अननुगामी है। जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकालमें अल्प होनेपर भी परिणामोंकी विशुद्धिके कारण उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता है, वह वर्धमान है। संक्लेश-परिणामोंकी वृद्धिके कारण जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकालसे लेकर उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिकालसे लेकर मरणपर्यन्त एक-सा बना रहता है, न घटता है और न बढ़ता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान है। जलतरंगोंके समान जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है और कभी अवस्थित रहता है, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है।

देशावधि क्षयोपशमनिमित्तक होनेके कारण मनुष्य और तिर्यञ्चोंके उत्पन्न होता है। परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनिके ही होते हैं। देशावधि प्रतिपाती होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहले छूट जाता है, पर सर्वावधि और परमावधि प्रतिपाति नहीं होते। अवधिज्ञान सूक्ष्मरूपसे एक परमाणुको विषय करता है।

अवधिज्ञानका विषय

द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य—मूर्तिमान द्रव्य।
,, ,, उत्कृष्ट—परमाणु।
क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य—एक अंगुलका असंख्यातवाँ भाग।
क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट—असंख्यक्षेत्र-असंख्यात लोकप्रमाण।
कालकी अपेक्षा जघन्य—एक आवलिका असंख्यातवाँ भाग।
,, उत्कृष्ट—असंख्यकाल।
भावकी अपेक्षा जघन्य—अनन्तभव—पर्याय।
,, उत्कृष्ट—अनन्तपर्यायोंका अनन्तभाग।

मनःपर्ययज्ञान

अन्य व्यक्तियोंके मनकी बातोंको जानना मनःपर्यय है। यह ज्ञान मनके प्रवर्त्तक या उत्तेजक पुद्गलद्रव्योंको साक्षात् जाननेवाला है। चिन्तक जैसा सोचता है, उसके अनुरूप पुद्गलद्रव्योंकी आकृतियाँ—पर्यायें बन जाती हैं। ये पर-मनस्थितपर्यायें मनःपर्ययज्ञानके द्वारा जानी जाती हैं। वस्तुतः मनःपर्ययका अर्थ है मनकी पर्यायोंका ज्ञान।

सारांश यह है कि संज्ञी—समनस्क जीवोंके मनमें जितने विकल्प उत्पन्न होते हैं, संस्काररूपसे वे उसमें अवस्थित रहते हैं। मनःपर्ययज्ञान संस्काररूपसे स्थित मनके इन्हीं विकल्पोंको जानता है। मनःपर्ययज्ञानी पहले मतिज्ञान द्वारा अन्यके मानसको ग्रहण करता है और तदनन्तर मनःपर्ययज्ञानकी अपने विषयमें प्रवृत्ति होती है।

मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं:—(१) ऋजुमति और (२) विपुलमति। ऋजुमति सरल मन, वचन और कायसे विचार किये गये पदार्थको जानता है; पर विपुलमति सरल और कुटिल दोनों तरहसे विचारे गये पदार्थोंको जानता है। यह ज्ञान देव, मनुष्य और तिर्यंच सभीके मनमें स्थित विचारको अवगत करता है, किन्तु वह विचार रूपीपदार्थ अथवा संसारी जीवके विषयमें होना चाहिए।

ऋजुमति और विपुलमतिमें विशुद्धि और सूक्ष्मताकी अपेक्षा अन्तर है। ऋजुमति केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेके पहले छूट जाता है, पर विपुलमति केवलज्ञानकी प्राप्तिपर्यन्त बना रहता है और केवलज्ञान होनेपर ही छूटता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा अन्तर है। अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात किये गये पदार्थके अनन्तवें भागको मनःपर्ययज्ञान जानता है।

मनःपर्ययज्ञानका विषय[1]

अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानका विषय अत्यन्त सूक्ष्म है।

---

१. अवरं दव्वमुरालियसरीरणिजिण्णसमयपबद्धं तु।
चक्खिदियणिज्जण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे॥
मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं॥
अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं।
धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४५०-४५२ तथा ४५३-४५८.

द्रव्यापेक्षया—मनरूपमें परिणत पौद्गलिक मनोवर्गणाएँ पुद्गलपरमाणुका अनन्तवाँ भाग।

क्षेत्रापेक्षया—मनुष्यक्षेत्र—मनुष्यक्षेत्रके भीतर स्थित मनुष्यके मनकी पर्यायें।

कालापेक्षया—अतीत, अनागत असंख्यातकाल-सम्बन्धी मनकी पर्यायें।

भावापेक्षया—मनोवर्गणाकी अनन्त अवस्थाएँ।

केवलज्ञान

आत्मामें भूत, भविष्यत् और वर्तमानमें स्थित समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायोंको जाननेकी क्षमता है; पर आत्माकी यह क्षमता ज्ञानावरणकर्म द्वारा आवृत रहती है। समस्त ज्ञानावरणकर्मके समूल नाश होनेपर प्रादुर्भूत होनेवाला निरावरणज्ञान केवलज्ञान है। यह आत्ममात्र सापेक्ष होता है। इस ज्ञानके उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिकज्ञान विलीन हो जाते हैं। यह समस्त द्रव्योंकी त्रिकालवर्त्ती समस्त पर्यायोंको जानता है। यह पूर्णतः निर्मल और अतीन्द्रियज्ञान है।

जब आत्मा ज्ञानस्वभाव है और आवरणके कारण इसका यह ज्ञानस्वभाव खण्ड-खण्ड करके प्रकट होता है, तब संपूर्ण आवरणके विलीन होनेसे ज्ञानको अपने पूर्णरूपमें प्रकाशमान होना चाहिए। यथा अग्निका स्वभाव जलानेका है; यदि कोई प्रतिबन्ध न हो तो अग्नि ईन्धनको जलायेगी ही। इसी प्रकार ज्ञान-स्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकोंके हट जानेपर जगतके समस्त पदार्थोंको जानेगी।

जो पदार्थ किसी ज्ञानके ज्ञेय हैं, वे किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं, यथा पर्वतीय अग्नि।[1] इस प्रकार युक्तिद्वारा भी त्रिकालज्ञ केवलज्ञानकी सिद्धि होती है। जिसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वह सर्वज्ञ हो जाता है।[2] यह सर्वज्ञता मुख्य, निरूपाधिक एवं निरवधि है।

परोक्षप्रमाण

अविशद ज्ञानको परोक्ष कहा जाता है। जिस ज्ञानमें ज्ञानान्तरका व्यवधान हो अथवा जो इन्द्रिय, मन, उपदेश, प्रकाश आदिकी सहायतासे उत्पन्न होता हो, उसे परोक्ष कहते हैं। वस्तुतः जिस ज्ञानमें परकी अपेक्षा रहती है, वह

---

१. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धके॥
—अष्टसाहस्री, पृ० ५० पर उद्धृत.

२. प्रवचनसार-ज्ञानाधिकार गाथा–४६-५१; अष्टशती-कारिका ११४; जयधवला प्रथम भाग, पृ० ६६.

परोक्ष प्रमाण है। परोक्ष ज्ञानके पाँच प्रकार हैं:—(१) स्मरण, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।

स्मृति या स्मरण

संस्कारका उद्‌बोध होनेपर स्मृति उत्पन्न होती है। धारणारूप संस्कारको प्रकटताके निमित्तसे होनेवाले और 'वह' इस प्रकारके आकारवाले ज्ञानको स्मृति कहते हैं। उदाहरणार्थ—यों कहा जा सकता है कि किसी व्यक्तिने पहले देवदत्त नामक पुरुषको देखा और उसने उसके सम्बन्धमें अवधारणा कर ली। पश्चात् धारणारूप संस्कार उद्‌बुद्ध हुआ और उसे स्मरण आया कि वह देवदत्त है। इस प्रकार स्मरणरूप ज्ञानको स्मृति माना जाता है।[1] यद्यपि स्मरणका विषयभूत पदार्थ सामने नहीं है, तो भी वह हमारे पूर्व अनुभवका विषय तो था ही और उस अनुभवका दृढ़ संस्कार हमें सादृश्य आदि अनेक निमित्तोंसे उस पदार्थको मनमें अंकित कर देता है। स्मरणके कारण ही विश्वमें लेन-देन आदिकी व्यवस्था चलती है। व्याप्ति स्मरणके बिना अनुमान और संकेतस्मरणके बिना शब्दप्रयोग सम्भव ही नहीं है। गुरु-शिष्यादि सम्बन्ध, पिता-पुत्रभाव तथा अन्य अनेक प्रकारसे प्रेम, घृणा, करुणा आदि मूलक समस्त जीवन-व्यवहार स्मरणके द्वारा ही चलते हैं।

कुछ चिन्तक ग्रहीतग्राही और अर्थसे अनुत्पन्न होनेके कारण स्मृतिको प्रमाण नहीं मानते। पर उनकी यह मान्यता व्यवहारमें बाधक है। अनुभव जिस पदार्थको जिस रूपमें ग्रहण करता है, स्मृति उसे उसी रूपमें जानती है। न वह उसके किसी नये अंशका बोध कराती है और न किसी अनुभूत अंशको छोड़ती ही है।[2] 'ग्रहीतग्राहिता भी अप्रमाणताका कारण नहीं है। यतः स्मृति द्वारा स्मरण किये गये अर्थमें अविसंवादिता और समारोपविवच्छेदकता विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि धारणा नामक अनुभव पदार्थको 'इदम्' रूपसे जानता है। जबकि संस्कारसे होनेवाली स्मृति उसी पदार्थको 'तत्' रूपसे जानती है। इस प्रकार स्मृतिके विषयमें ग्रहोत-ग्राहिता दोष नहीं आता।

---

१. संस्कारोद्‌बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥
संस्कारस्योद्‌बोधः प्राकट्यं स निबन्धनं यस्याः सा यथोक्ता।
तदित्याकारा तदित्युल्लेखिनी। एवम्भूता स्मृतिर्भवतीति शेषः।

—प्रमेयरत्नमाला, ३-३, पृ० १३५.

२. सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा, न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति। —तत्त्ववैशा० (चौखम्बा-संस्करण) १।१७.

स्मृतिकी अविसंवादिता स्वतः सिद्ध है। अन्यथा अनुमानकी प्रवृत्ति, शब्द-व्यवहार और विश्वके अन्य समस्त व्यवहार निरर्थक हो जायेंगे। यह सम्भव है कि जिस स्मृतिके विषयमें विसंवाद हो उसे अप्रमाण माना जा सकता है।

विस्मरण, संशय और विपर्यासरूपी समारोपका निराकरण स्मृतिके द्वारा होता है। अतः इसे अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण मानना पड़ेगा। अनुभव-परतन्त्र होनेके कारण स्मृतिको परोक्ष तो माना जा सकता है, पर अप्रमाण नहीं।

प्रत्यभिज्ञान

वर्त्तमान प्रत्यक्ष, और अतीत स्मरणसे उत्पन्न होनेवाला संकलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है।[1] यह संकलन एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी, आपेक्षिक आदि अनेक प्रकारका होता है। वस्तुतः पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्ती वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्ययको प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। प्रत्यवमर्श, संज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ये उसीके पर्याय नाम हैं। प्रत्यभिज्ञानमें प्रत्यक्ष और स्मरण-इन दोनोंका समुच्चय रहता है। 'यह' अंशको विषय करनेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वह' अंशको ग्रहण करनेवाला ज्ञान स्मरण है।[2] इस प्रकार दो ज्ञानोंका संकलन या समुच्चय प्रत्यभिज्ञानमें पाया जाता है।

यह वही है, इस प्रकार वर्त्तमानका प्रत्यक्ष और उसके अतीतका स्मरण पूर्वक एकत्वका मानसिक संकलन एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार 'गाय सरीखा गवय' होता है। इस वाक्यको सुनकर कोई व्यक्ति वनमें गायके समान पशुको देखकर उस वाक्यका स्मरण करता है और अनन्तर मनमें निश्चय करता है कि यह गवय है। इस प्रकार सादृश्यविषयक संकलन, सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान है। 'गायसे विलक्षण भैंस होती है'। इस वाक्यको सुनकर जिस बाड़ेमें गाय और भैंस दोनों ही विद्यमान हैं, वहाँ पहुँचनेवाला व्यक्ति गायसे विलक्षण पशुको देखकर उक्त वाक्यका स्मरण करता है और निश्चय करता है कि यह भैंस है। यह वैलक्षण्यविषयक वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार यह इससे दूर है, इत्याकारक आपेक्षिक प्रत्यभिज्ञान, परि-

---

१. दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥ —परीक्षामुख ३।५.

२. ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वाद्, इदमिति संवेदनस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् संवेदनद्वितयमेवैतत् तादृशमेवेदमिति स्मरणप्रत्यक्षसंवेदनद्वितयवत्। ततो नैकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रतिपद्यमानं सम्भवति। —प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६९.

चायक प्रत्यभिज्ञान आदि भी प्रत्यक्ष और स्मरणके संकलनसे घटित होते हैं। आशय यह है कि 'दर्शन' और 'स्मरण' को निमित्त बनाकर जितने भी एकत्वादि विषयक मानसिक संकलन होते हैं, वे सभी प्रत्यभिज्ञान है और ये सभी प्रकारके प्रत्यभिज्ञान अपने विषयमें अविसंवादी और समारोपव्यवच्छेदक होनेसे प्रमाण हैं। यथार्थतः यह ज्ञान न तो अप्रमाण है और न प्रत्यक्षप्रमाण ही है। किन्तु यह प्रत्यक्ष और स्मरणके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला और 'पूर्व' एवं 'उत्तर' पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्व, सादृश्य आदिको विषय करनेवाला होनेसे स्वतन्त्र परोक्षप्रमाण है।[1]

यदि प्रत्यभिज्ञानका लोप किया जाय, तो अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जिस व्यक्तिने पहले अग्नि और धूमके कार्य-कारणभावका ग्रहण किया है, वही व्यक्ति जब पूर्व धूमके सदृश अन्य धूएँको देखता है, तब ग्रहीत कार्य-कारणभावका स्मरण आनेपर ही अनुमान कर पाता है। प्रत्यभिज्ञानके न माननेसे न तो अनुमानकी ही सिद्धि होगी और न एकत्व, सादृश्य और विलक्षण आदि प्रत्यय ही घटित हो सकेंगे।

प्रत्यभिज्ञानका प्रत्यक्षमें भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। यतः चक्षु आदि इन्द्रियाँ सम्बद्ध और वर्त्तमान पदार्थको ही विषय करती हैं। अतः वे स्मृतिकी सहायता लेकर भी अविषयमें प्रवृत्ति नहीं कर सकतीं। 'पूर्व' और 'उत्तर' पर्यायमें रहनेवाला एकत्व इन्द्रियोंका अविषय है। यदि इन्द्रियाँ अविषयको ग्रहण करें, तो गन्ध-स्मरणकी सहायतासे चक्षुको गन्धका भी परिज्ञान हो जाना चाहिए। सैकड़ों सहकारी मिलनेपर भी अविषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि इन्द्रियोंसे ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, तो प्रथम प्रत्यक्ष कालमें ही उसे उत्पन्न होना चाहिये था।

'स एवाऽयम्' इस प्रतीतिको एक ज्ञान मानकर भी उसे इन्द्रियजन्य नहीं कहा जा सकता। अतएव इसे स्मरण और प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला संकलनात्मक स्वतन्त्र ज्ञान मानना पड़ेगा। यह अबाधित है, अविसंवादी है और है समारोपका

---

१. स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि तदिति स्मरणं तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मकं, तस्यातीतविवर्त्तमात्रगोचरत्वात्। नापीदमिति संवेदनं, तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रविषयत्वात्। ताभ्यामुपजन्यं तु संकलनज्ञानं तदनुवादपुरस्सरं द्रव्यं प्रत्यवमृशत् ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्वविषयं, तदपह्नवे क्वचिदेकान्वयाव्यवस्थानात् सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात्।

—प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६९,७०.

विच्छेदक। अतएव प्रत्यभिज्ञानकी गणना प्रमाणकोटिमें है, जो प्रत्यभिज्ञान बाधित या विसंवादी होता है, उसे प्रमाणाभास या अप्रमाण माना जा सकता है।

सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें उपमानका अन्तर्भाव

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको कुछ चिन्तक उपमान प्रमाण मानते हैं। उनका अभिमत है कि जिस व्यक्तिने गायको देखा है, जब वह जंगलमें गवयको देखता है और उसे पूर्व दृष्ट गौका स्मरण आता है, तब 'इसके समान वह है' इस प्रकारका उपमान उत्पन्न होता है। यों तो गवयनिष्ठ सादृश्य प्रत्यक्षका विषय है और गोनिष्ठ सादृश्यका स्मरण आ रहा है, फिर भी 'इसके समान वह है' इस प्रकारका विशिष्ट ज्ञान उपमान प्रमाण है। यदि इस प्रकार साधारण विषयभेदसे प्रमाणोंकी संख्या बढ़ायी जाय, तो वैलक्षण्य, प्रातियोगिक, आपेक्षिक आदि प्रमाण भी पृथक् सिद्ध हो जायगें। अतएव संक्षेपमें उपमानका अन्तर्भाव सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें सम्भव है।[1]

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको अनुमान भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुमान करते समय लिंगका सादृश्य अपेक्षित है। इस सादृश्यज्ञानको भी अनुमान माननेपर उस अनुमानके अन्य लिंगसादृश्यका ज्ञान आवश्यक होगा। इस प्रकार अनवस्थादूषण आ जायगा। अतएव प्रत्यभिज्ञान अविसंवादी है, सम्यग्ज्ञान है और प्रमाणभूत है।

तर्क

सामान्यतया विचारविशेषका नाम तर्क है। इसके चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि पर्यायान्तर हे। न्यायकी दृष्टिसे व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहा गया है।[2] साध्य और साधनके सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वव्यक्तिक अविनाभाव सम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं। अविनाभाव शब्दका अर्थ है साध्यके बिना साधन-

१ उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादकम्॥ —लघीयस्त्रय, श्लोक १९.

२. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।
इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च॥—परीक्षा० ३।७, ८.
उपलम्भः प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते। यदि प्रत्यक्षमेवोपलम्भशब्देनोच्यते तदा साधनेषु अनुमेयेषु व्याप्तिज्ञानं न स्यात्। अथ व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण प्रतीयते, सा कथमतीन्द्रियस्य साधनस्यातीन्द्रियेण साध्येन भवेदिति? नैवम्; प्रत्यक्षविषयेष्विवानुमानविषयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात् तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्।—प्रमे. र. ३।७,८.

का न होना। साधनका साध्यके होनेपर ही होना, अभावमें बिल्कुल न होना। इस नियमको सर्वोपसंहाररूपसे ग्रहण करना तर्क है। प्रमाणसे जाना हुआ पदार्थ तर्क द्वारा पुष्ट होता है। प्रमाण जहाँ पदार्थोंको जानता है, वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणताके स्थिरीकरणमें सहायता पहुँचाता है।

तर्ककी प्रक्रियानुसार व्यक्ति सर्वप्रथम कार्य और कारणका प्रत्यक्ष करता है और अनेक बार प्रत्यक्ष होनेपर, वह उसके अन्वय-सम्बन्धकी भूमिकापर झुकता है। साध्यके अभावमें साधनका अभाव देखकर व्यतिरेकके निश्चय द्वारा उस अन्वय ज्ञानको निश्चयात्मक रूप देता है। प्रक्रियाद्वारा यों कहा जा सकता है कि जैसे किसी व्यक्तिने सर्वप्रथम 'महानस'—भोजनशालामें अग्नि देखी, तथा अग्निसे उत्पन्न होता हुआ धुवाँ भी देखा। पश्चात् किसी तलाबमें अग्निके अभावसे धुएँका अभाव जाना। पश्चात् रसोईघरमें अग्निसे धुआँ निकलता हुआ देखकर यह निश्चय करता है कि अग्नि कारण है और धूम कार्य है। यह उपलम्भ और अनुपलम्भनिमित्तक सर्वोपसंहार करनेवाला विचार तर्ककी सीमामें समाहित है। इसमें प्रत्यक्ष, स्मरण, और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कारण होते हैं। इन सबकी पृष्ठभूमिपर 'यत्र-यत्र यदा-यदा धूम होता है, तत्र-तत्र, तदा-तदा अग्नि अवश्य रहती है' इस प्रकारका एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है। इसे ऊह या तर्क कहते हैं। तर्कका क्षेत्र केवल प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य और साधन ही नहीं है, अपितु अनुमान और आगमके विषयभूत प्रमेयोंमें भी अन्वय और व्यतिरेक द्वारा अविनाभावका निश्चय करना तर्कका कार्य है। तर्क भी अपने विषयमें अविसंवादी है। अतएव वह अन्य प्रमाणोंका अनुग्राहक है। जिस तर्कमें विसंवाद पाया जाता है, उसे तर्काभास कह सकते है।

अनुमान

साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। अनुमानशब्द अनु + मानसे निष्पन्न है; जिसका अर्थ लिङ्गग्रहण और व्याप्तिस्मरणके पश्चात् होनेवाला ज्ञान है। यथार्थतः व्याप्तिनिर्णयके पश्चात् होनेवाला मान—प्रमाण अनुमान कहलाता है। यह ज्ञान अविशद होनेसे परोक्ष है। पर अपने विषयमें अविसंवादी और संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपोंका निराकरण करनेके कारण प्रमाणभूत है। साधनसे साध्यका नियत ज्ञान अविनाभावके बलसे ही होता है। साधनको देखकर पूर्वगृहीत अविनाभावका स्मरण होता है। तदनन्तर जिस साधनसे साध्यकी व्याप्ति ग्रहण की जाती है, उस साधनके साथ वर्तमान साधनका सादृश्यप्रत्यभिज्ञान किया जाता है, तब साध्यका अनुमान होता है। वस्तुतः अविनाभाव अनुमानका मूल आधार है। अविनाभाव सहभावनियम और

क्रमभावनियमरूप होता है। सहचारियों—रूपरसादिकों और व्याप्य-व्यापकों—शिंशपात्व-वृक्षत्वादिकमें सहभावनियम होता है तथा पूर्वचर-उत्तरचरों और कार्य-कारणोंमें क्रमभावनियम होता है। अविनाभावको तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे ही नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। जिनमें परस्पर तादात्म्य नहीं है, ऐसे रूप-रसादिमें रूपसे रसका अनुमान तथा जिनमें परस्पर कार्यकारण-संबंध नहीं है, ऐसे कृत्तिकोदय और शकटोदयमें कृत्तिकोदयको देखकर शकटोदयका अनुमान किया जाना तादात्म्य और तदुत्पत्ति-सम्बन्धसे पृथक् क्षेत्रवर्ती है। अतः अनुमानकी मूलधुरा साध्य-साधनोंके अविनाभाव—व्याप्तिके निश्चयपर स्थित है।

सामान्यतया अविनाभावको तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति संज्ञाओंसे प्रतिपादित किया है। साध्यके होनेपर साधनका होना तथोपपत्ति और साध्यके न होनेपर साधनका न होना अन्यथानुपपत्ति है। यथा अग्निके होनेपर धूमका होना और अग्निके न होनेपर धूमका न होना। यह तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ही अनुमानकी नियामिकायें हैं। यों तो अनुमानके लिए अविनाभावसंबंधरूप व्याप्ति अपेक्षित है। साध्य और साधनभूत पदार्थोंका धर्म व्याप्ति कहलाता है, जिसके ज्ञान और स्मरणसे अनुमानकी पृष्ठभूमि तैयार होती है। 'साध्यके बिना साधनका न होना और साध्यके होनेपर ही होना' ये दोनों धर्म एक प्रकारसे साधननिष्ठ हैं। 'इसी प्रकार साधनके होनेपर साधनका होना हो' यह साध्यका धर्म है। साध्यके होनेपर ही साधनका होना अन्वय और साध्यके अभावमें साधनका न होना व्यतिरेक कहलाता है।

कुछ चिन्तकोंने व्याप्तिग्रहणके निम्नलिखित साधन बतलाये हैं—

१. भूयः सहचार-दर्शन।
२. व्यभिचारज्ञान-विरह।
३. तर्क—विपक्षबाधक तर्क।
४. अनुपलम्भ—व्यतिरेकः।
५. भूयो दर्शनजनित संस्कार।
६. सामान्यलक्षणा।
७. शब्द और अनुमान।

वस्तुतः व्याप्तिका निश्चय तर्कसे होता है, जो उपलम्भ तथा अनुपलम्भपूर्वक होता है। यथा अग्निके होनेपर ही धूमका होना और अग्निके अभावमें धूमका न होना, इनका व्याप्तिसम्बन्ध है। व्याप्तिका ग्रहण तर्क द्वारा ही प्रतिष्ठित है। व्याप्तिके दो या तीन भेद प्राप्त होते हैं। तीन भेदोंमें बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति

और अन्तर्व्याप्तिकी गणना है।[1]

सपक्षमें साध्यके साथ साधनको व्याप्ति होना बहिर्व्याप्ति है और पक्ष तथा सपक्ष दोनोंमें साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति होना सकलव्याप्ति है। पक्ष, सपक्ष न हों अथवा उनमें हेतु न रहे—केवल साध्यके साथ साधनका अविनाभाव होनेसे अन्तर्व्याप्ति होती है।[2] इन त्रिविध व्याप्तियोंमें आदि की दोनों व्याप्तियों-के न होनेपर भी अनुमानमें अन्तर्व्याप्तिके बलसे साधनको साध्यका गमक माना जाता है।[3] अन्तर्व्याप्तिके अभावमें अन्य दोनों व्याप्तियोंका सद्भाव निरर्थक है। यथा 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्' इस अनुमानमें बहिर्व्याप्ति और सकलव्याप्ति दोनों विद्यमान हैं, पर अन्तर्व्याप्तिके न होनेसे 'तत्पुत्रत्वात्' हेतु 'श्यामत्व' साध्यका गमक नहीं है। इसी प्रकार 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोद-यात्' इस अनुमानमें न बहिर्व्याप्ति है और न सकलव्याप्ति है, किन्तु साधनकी साध्यके साथ अन्तर्व्याप्ति होनेसे कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय साध्यका गमक है। अतएव अन्तर्व्याप्ति ही नियामक है।

---

१. 'सा च त्रिधा—बहिर्व्याप्तिः' साकल्यव्याप्तिः अन्तर्व्याप्तिश्चेति।····'प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० ३।१५ पृ० ३६४; अकलंक, सिद्धिवि० ५।१५,१६. प्रमाणसं० का० ३२,३३, पृष्ठ १०६। देवसूरि, प्र० न० त० ३।३८,३९। यशोविजय, जैनतर्कभा, पृष्ठ १२।

२. (क) पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्या-प्तिरिति।····बहिः पक्षीकृताद्विषयादन्यत्र तु दृष्टान्तधर्मिणि तस्य तेन व्याप्तिर्बहि-र्व्याप्तिरभिधीयते। देवसूरि, प्रमाणनयत० ३।३९.

(ख) पक्षे सपक्षे च सर्वत्र साध्यसाधनयोः व्याप्तिःसकलव्याप्तिः।

—सि० वि० टी० टिप्प ५।१६, पृष्ठ ३४७.

(ग) पक्ष एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः।

—वही, पृ० ३४६.

३. (क) अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः।
व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः।

—सिद्धसेन, न्यायाव० का० २०.

(ख) विनाशी भाव इति वा हेतुनैव प्रसिद्धयति।
अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिर्व्याप्तिरसाधनम्।
साकल्येन कथं व्याप्तिरन्तर्व्याप्त्या विना भवेत्।

—अकलंक, सि० वि० ५।१५, १६, पृ० ३४५-३४७। प्रमाणसं०-३२-३३.

(ग) अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् इति। —देवसूरि, प्र० न० त० ५।३८, पृ०५६२.

साधन या हेतु

जिसका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित है, उसे साधन कहते हैं।[1] अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति और व्याप्ति ये सब एकार्थक शब्द हैं। साधनका निश्चय अन्यथानुपपत्तिरूपसे ही होता है। वस्तुतः साधन या हेतुके विना अनुमानकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। कुछ चिन्तक हेतुका स्वरूप त्रिलक्षण अथवा पंचलक्षण स्वीकार करते हैं, पर इन सभीका अन्तर्भाव अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुमें हो सकता है।

दूसरे, हेतुका त्रैरूप्य या पांचरूप्य नियम निर्दोष नहीं है, किन्तु अविनाभाव ऐसा व्यापक और व्यभिचारी लक्षण है, जो समस्त सद्हेतुओंमें पाया जाता है और असद्हेतुओंमें नहीं। परम्परासे 'अन्यथानुपपन्नत्व' को ही हेतुका अव्यभिचारी और प्रधान लक्षण कहा है; क्योंकि 'समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, यतः वे सत् हैं' इस अनुमानमें सत्वहेतु सपक्षसत्वके अभावमें भी गमक है। अतएव अविनाभाव ही हेतुका वास्तविक नियामक लक्षण है। पक्षधर्मत्व आदिको हेतुका लक्षण माननेमें अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष आते हैं।

साध्य

इष्ट, अबाधित और असिद्ध पदार्थको साध्य कहते हैं।[2] जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाधित होनेके कारण सिद्ध करने योग्य है, वह शक्य है। वादीको इष्ट होनेसे जो अभिप्रेत है और सन्देह आदि युक्त होनेके कारण असिद्ध है, वही वस्तु साध्य होती है।

साध्यका अर्थ है सिद्ध करने योग्य अर्थात् असिद्ध। सिद्ध पदार्थका अनुमान व्यर्थ है। अनिष्ट तथा प्रत्यक्षादि बाधित पदार्थ साध्य नहीं बन सकते। अतएव अनुमानके प्रयोगमें साधनके समान साध्य भी एक आश्यक अंग है।

अनुमानके भेद

अनुमानके दो भेद हैं:—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। स्वयं निश्चित साधनके द्वारा होनेवाले साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं और अविनाभावी साधनके वचनोंसे श्रोताको उत्पन्न होनेवाला साध्यज्ञान परार्थानुमान है। स्वार्थानुमाता किसी परके उपदेशके बिना स्वयं ही निश्चित अविनाभावी साधनके ज्ञानसे साध्यका ज्ञान प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ जब वह धूमको

---

१. 'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः'।

—परीक्षामुख ३।११.

२. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्

—वही, ३।१६.

देखकर अग्निका ज्ञान; रसको चखकर उसके सहचर रूपका ज्ञान अथवा कृत्तिकाके उदयको देखकर एक मुहूर्त बाद होनेवाले शकटके उदयकाज्ञान प्राप्त करता है, तब उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।

जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओं और साध्योंको कहकर दूसरोंको उन साध्यसाधनोंकी व्याप्ति ग्रहण कराता है तथा दूसरे उसके वचनोंको सुनकर व्याप्ति ग्रहण करके उक्त हेतुओंसे उक्त साध्योंका ज्ञान करते हैं, तो दूसरोंका वह अनुमान ज्ञान परार्थानुमान कहा जाता है और वे परार्थानुमाता माने जाते हैं। अतः अनुमानके उपादानभूत हेतुका प्रयोजक तत्त्व अन्यथानुपपन्नत्व स्व और पर दोके द्वारा गृहीत होने तथा दोनों अन्यथानुपपन्नत्व-ग्रहीताओंको अनुमान होनेसे स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद सम्भव होते हैं। संक्षेपमें स्वार्थ—स्व-प्रतिपत्तिका साधन और परार्थ—पर-प्रतिपत्तिका साधन होनेके कारण अनुमान-के दो भेद हैं।

प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा न कर स्वयं ही निश्चित तथा इससे पूर्व तर्कद्वारा गृहीत व्याप्तिके स्मरणसे सहकृत धूमादि साधनसे उत्पन्न हुए पर्वत आदि धर्मीमें अग्नि आदि साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहा जाता है। यथा—यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे।[1]

प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा लेकर श्रोताको जो साधनसे साध्य-का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।[2] स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है और परार्थानुमान वचनरूप है। वक्ता परार्थानुमानवचन-प्रयोगद्वारा श्रोताको व्याप्तिज्ञान कराता है। व्याप्तिज्ञानके अनन्तर साधनसे साध्यका ज्ञान वह स्वयं करता है।

---

१. तत्र स्वयमेव निश्चितात्साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्। परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादेः, साधनादुत्पन्नंपर्वतादौ धर्मिण्य-ग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमित्यर्थः। यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् धूमव-त्त्वादिति। अयं हि स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपस्यापि शब्देनोल्लेखः। यथा—'अयं घटः' इति शब्देन प्रत्यक्षस्य!

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायदीपिका (वीरसेवामन्दिर) पृ० ७१-७२.

२. परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्। प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदे-शवशात् श्रोतुरुत्पन्नं साधनात्साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः। यथा—पर्वतोऽयम-ग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं पर्यालोचयतः स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते।

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायदीपिका (वीरसेवामन्दिर) पृ० ७५.

स्वार्थानुमानके अंग

स्वार्थानुमानके तीन अंग हैं:—(१) धर्मी, (२) साध्य और (३) हेतु। हेतु-गमक होनेसे, साध्य गम्य होनेसे एवं धर्मी साध्य और हेतु धर्मोंका आधार होनेसे अंग हैं। आधार-विशेषमें ही अनुमेयकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। साध्यको पक्ष भी कहा जाता है, यह धर्मविशिष्ट धर्मी है। यों तो पक्षशब्द-से साध्यधर्म और धर्मीका समुदाय विवक्षित है। स्वार्थानुमानके ज्ञानरूप होनेके कारण ज्ञानमें धर्म-धर्मीका विभाग सम्भव नहीं, पर अनुमानका प्रयोग करनेके लिए उसका शब्दसे उल्लेख करना ही पड़ता है। यथा—'पर्वतोऽयं वह्निमान्, 'धूमवत्त्वात्' अनुमानवाक्यका प्रयोग पर्वतमें वह्निको अवगत करनेके लिए करना पड़ता है, उसी प्रकार स्वार्थानुमानमें भी उसके बोधार्थ वाक्यका प्रयोग अपेक्षित होता है।

धर्मी : स्वरूप-निर्धारण

धर्मी प्रसिद्ध होता है।[1] इसकी प्रसिद्धि कहीं प्रमाणसे, कहीं विकल्पसे और कहीं प्रमाण-विकल्प दोनोंसे होता है।[2] प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध धर्मी प्रमाण-सिद्ध कहलाता है, यथा पर्वतादि। जिसकी प्रमाणता और अप्रमाणता निश्चित न हो और जो प्रतीतिमात्रसे सिद्ध हो, वह विकल्पसिद्ध कहा जाता है। विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता या असत्ता साध्य होती है, यतः जिनकी सत्ता या असत्तामें विवाद है, वे ही धर्म विकल्पसिद्ध होते हैं। प्रमाण और विकल्प दोनोंसे सिद्ध धर्मी उभयसिद्ध कहलाते हैं।

परार्थानुमानके अंग

परार्थानुमानके भी स्वार्थानुमानके समान धर्मी, साध्य और साधन ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो अंग माने जाते हैं। ज्ञानात्मक परार्थानुमानमें उक्त अंग संभव हैं, पर वचनात्मक परार्थानुमानमें प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव होते हैं।

धर्म-धर्मीके समुदायरूप पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहा जाता है। यथा—"पर्वतोऽयं वह्निमान्" में साध्यका निर्देश किया गया है, अतः उक्तपद प्रतिज्ञा-वाक्य है।

अनुमेयको सिद्ध करनेके लिए साधनके रूपमें जिस वाक्यावयवका प्रयोग किया जाता है, वह हेतु है। साधन और हेतुमें साधारणतः कोई अन्तर नहीं है, इसी कारण दोनोंका प्रयोग पर्यायरूपमें पाया जाता है, पर इनमें वाच्य-

---

१. प्रसिद्धो धर्मी—परीक्षामुख ३।२३.

२. विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये–वही, ३।२४.

वाचकका भेद है। साधन वाच्य है यतः वह कोई वस्तुरूप होता है और हेतु वाचक है, यतः उसके द्वारा वह वस्तु कही जाती है। हेतुको साध्याभावके साथ न रहनेवाला अर्थात् अविनाभावी होना आवश्यक बतलाया है।

हेतुका प्रयोग तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूपसे होता है। इसीको अन्वय-विधि और व्यतिरेकविधि भी कह सकते हैं। व्युत्पन्न श्रोताको मात्र प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशसे परार्थानुमान उत्पन्न होता है।

अनुमानके अन्य अवयव

अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव माने जाते हैं। इन अवयवोंका प्रयोग इस प्रकार होता है—'पर्वत अग्निवाला है धूमवान् होनेसे;जो-जो धूमवान् है, वह अग्निवाला होता है, जैसे महानस। इसी प्रकार पर्वत भी धूमवान् है, इसलिए अग्निवाला है' इन अवयवोंमें प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव ही कार्यकारी हैं। प्रतिज्ञाप्रयोगके विना साध्यधर्मीके आधारमें सन्देह बना रहता है। प्रतिज्ञाके विना सिद्धि किसकी की जायगी। पक्षको उपस्थित करनेके अनन्तर हेतुप्रयोग न्याय्य माना जाता है। अतः साधनवचनरूप हेतु और पक्षवचनरूप प्रतिज्ञा इन दो अवयवोंसे ही परिपूर्ण अर्थका बोध हो जाता है। दृष्टान्त, उपनय और निगमनका प्रयोग वादकथामें व्यर्थ है।

वस्तुतः अनुमानके अवयवोंका प्रयोग प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे किया जाता है। प्रति-पाद्य दो प्रकारके होते हैं:—(१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न वे हैं जो संक्षेप या संकेतमें वस्तुस्वरूपको समझ सकते हैं तथा जिनके हृदयमें तर्कका प्रवेश है। अव्युत्पन्न वे प्रतिपाद्य हैं, जो अल्पप्रज्ञ हैं, जिन्हें विस्तारसे समझाना आवश्यक होता है और जिनके हृदयमें तर्कका प्रवेश कम रहता है।

अनुमानके उपयोगिताकी दृष्टिसे दो ही अवयव हैं। दृष्टान्तके अभावमें भी अनुमान समीचीन होता है। यथा—'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इस अनुमानमें दृष्टान्त नहीं है, फिर भी यह प्रमाणभूत है।

उदाहरणकी सार्थकता व्याप्तिस्मरणके लिए भी नहीं है, यतः अविनाभावी हेतुके प्रयोगमात्रसे ही व्याप्तिका स्मरण हो जाता है। संसारमें विभिन्न चिन्तक तथ्योंको विभिन्न रूपमें स्वीकार करते हैं, अतः सर्वसम्मत दृष्टान्तका मिलना अशक्य है। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्तमें व्याप्तिका ग्रहण करना अनिवार्य भी नहीं है; क्योंकि जब समस्त वस्तुओंको पक्ष बना लिया जाता है, तब किसी दृष्टान्तका मिलना असम्भव हो जाता है। अतः विपक्षमें बाधक प्रमाण देखकर पक्षमें ही साध्य और साधनकी व्याप्ति सिद्ध कर ली जाती है। वादकथाकी दृष्टिसे दृष्टान्त निरर्थक और अव्यवहार्य है।

उपनय और निगमन तो केवल उपसंहारवाक्य हैं, जिनकी अपनेमें कोई उपयोगिता नहीं हैं। पक्षमें हेतुका उपसंहार उपनय और हेतुपूर्वक पक्षका वचन निगमन है। संक्षेपमें लाघव, आवश्यकता और उपयोगिताकी दृष्टिसे प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव ग्राह्य हैं।

हेतु : भेद एवं प्रकार

अविनाभावके व्यापक स्वरूपके आधारपर हेतुके सात भेद हैं:—(१) स्वभाव, (२) व्यापक, (३) कार्य, (४) कारण, (५) पूर्वचर, (६) उत्तरचर और, (७) सहचर। सामान्यत: हेतुके दो भेद हैं:—(१) उपलब्धिरूप और (२) अनुपलब्धिरूप। ये दोनों हेतु विधि और प्रतिषेध दोनोंके साधक हैं। इनके संयोगसे हेतुके २२ भेद हो जाते हैं।
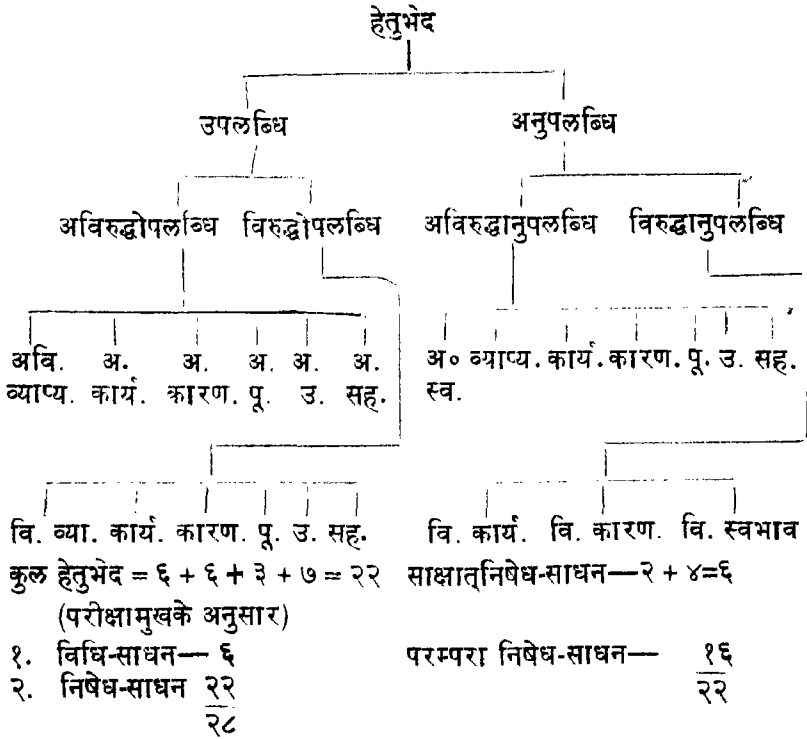
(प्रमाणपरीक्षाके अनुसार)

हेतुके बाईस भेदोंका सामान्य स्वरूप

विधिसाधक उपलब्धिको अविरुद्धोपलब्धि और प्रतिषेध-साधक उपलब्धिको विरुद्धोपलब्धि कहा जाता है।

१. अविरुद्धव्याप्योपलब्धि—शब्द परिणामी है, कृतक होनेसे।

२. अविरुद्धकार्योपलब्धि—इस प्राणिमें बुद्धि है, वचनप्रयोगकी प्रवृत्ति होनेसे।

३. अविरुद्धकारणोपलब्धि—यहाँ छाया है, छत्र होनेसे।

४. अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि—एक मुहूर्त्तके अनन्तर रोहिणीका उदय होगा, इस समय कृत्तिकाका उदय होनेसे।

५. अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि—एक मुहूर्त्त पहले भरणीका उदय हो चुका है, वर्त्तमानमें कृत्तिकाका उदय होनेसे।

६. अविरुद्धसहचरोपलब्धि—इस आममें रूप है, क्योंकि रस पाया जाता है।

७. विरुद्धव्याप्योपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता पायी जाती है।

८. विरुद्धकार्योपलब्धि—यहाँ शीत स्पर्श नहीं है, धूमका सद्भाव रहनेसे।

९. विरुद्धकारणोपलब्धि—इस प्राणीमें सुख नहीं है, हृदयमें शल्य होनेसे।

१०. विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि—एक मुहूर्त्तके बाद रोहिणीका उदय नहीं होगा, क्योंकि इस समय रेवतीका उदय है।

११. विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि—एक मुहूर्त्त पहले भरणीका उदय नहीं हुआ है, क्योंकि इस समय पुष्यका उदय हो रहा है।

१२. विरुद्धसहचरोपलब्धि—इस दीवालमें उस ओरके हिस्सेका अभाव नहीं है, क्योंकि इस ओरका हिस्सा देखा जाता है।

१३. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि—इस भूतल पर घड़ा नहीं है, अनुपलब्ध होनेसे।

१४. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि—यहाँ शीशम नहीं है, वृक्षाभाव होनेसे।

१५. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि—यहाँ पर अप्रतिबद्ध शक्तिशाली अग्नि नहीं है, धूमाभाव होनेसे।

१६. अविरुद्धकारणानुपलब्धि—यहाँ धूम नहीं है, अग्निका अभाव होनेसे।

१७. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि—एक मुहूर्त्तके बाद रोहिणीका उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय नहीं हुआ है।

१८. अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि—एक मुहूर्त्त पहले भरणीका उदय नहीं हुआ; क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय नहीं है।

१९. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि—इस सम तराजूका एक पलड़ा नीचा नहीं है, क्योंकि दूसरा पलड़ा ऊँचा नहीं पाया जाता।

२०. विरुद्धकार्यानुपलब्धि—इस प्राणीमें कोई व्याधि है; क्योंकि इसकी चेष्टाएँ निरोग व्यक्तिकी नहीं हैं।

२१. विरुद्धकारणानुपलब्धि—इस प्राणीमें दुःख है, क्योंकि इष्टसंयोग नहीं देखा जाता।

२२. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि—वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होता।

अर्थापत्तिका अनुमानमें अन्तर्भाव

किसी दृष्ट या श्रुत पदार्थसे वह जिसके विना नहीं होता, उस अविनाभावी अदृष्ट अर्थकी कल्पना करना अर्थापत्ति है, यथा—'मोटा देवदत्त दिनको भोजन नहीं करता है' इस प्रसंगमें अर्थापत्ति द्वारा देवदत्तके रात्रि भोजनकी कल्पना कर ली जाती है, यतः भोजनके विना पीनत्व—मोटापन आ नहीं सकता। अर्थापत्तिसे अतीन्द्रिय शक्ति आदि पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है। इसके छः भेद हैं:—(१) प्रत्यक्षपूर्विका, (२) अनुमानपूर्विका, (३) श्रुतार्थापत्ति, (४) उपमानार्थापत्ति, (५) अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति और (६) अभावपूर्विका अर्थापत्ति।

अर्थापत्ति और अनुमानमें पृथक्त्वका कारण पक्षधर्मत्व है। अनुमानमें हेतुका पक्षधर्मत्व आवश्यक है, पर अर्थापत्तिमें पक्षधर्मत्व आवश्यक नहीं माना जाता। अतः अर्थापत्तिको पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता है।

अर्थापत्तिको अनुमानसे भिन्न माननेमें उक्त तर्क निर्बल है। यतः अविनाभावी एक अर्थसे दूसरे अर्थका ज्ञान करना जैसे अनुमानके है, वैसे अर्थापत्तिमें भी है। पक्षधर्मत्व अनुमानके लिए आवश्यक भी नहीं है। कृत्तिकोदय आदि हेतु पक्षधर्मरहित होकर भी सच्चे हैं और मैत्रतनयत्व आदि हेतु पक्षधर्मत्व रहनेपर भी गमक नहीं हैं। संक्षेपमें अर्थापत्ति अविनाभावमूलक या अन्यथानुपपन्नत्वमूलक होनेके कारण अनुमानके अन्तर्गत है, इसे पृथक् प्रमाण माननेको आवश्यकता नहीं है।

अभावका प्रत्यक्षादिमें अन्तर्भाव

अभाव भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। जो यह कहा जाता है कि जिस प्रकार भावरूप प्रमेयके लिए भावात्मक प्रमाण होता है, उसी तरह अभावरूप प्रमेयके लिए अभावप्रमाणकी आवश्यकता है। वस्तु सत् और असत् रूपमें पायी जाती है। अतः इन्द्रियोंके द्वारा सदंशके ग्रहण हो जानेपर भी असदंशके ज्ञानके लिए अभावप्रमाण अपेक्षित है। जहाँ सद्भावग्राहक पाँच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति देखी जाती है। यह दोषपूर्ण

है। यतः भावांशके समान अभावांश भी प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणोंसे गृहीत हो जाता है। जिस प्रकार 'इस भूतलपर घट है' यह प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है, उसी प्रकार 'इस भूतलपर घट नहीं है' यह घटाभाव भी प्रत्यक्ष द्वारा ही गृहीत है।

अनुमानके उपलब्धि और अनुपलब्धि रूप हेतु भी अभावोंके ग्राहक हैं। यह कोई नियम नहीं है कि भावरूप प्रमेयके लिए भावरूप प्रमाण और अभावरूप प्रमेयके लिए प्रभावरूप प्रमाण ही होना चाहिए।

अभाव भावान्तररूप होता है, यह अनुभवसिद्ध है। अतः भावग्राहक प्रमाणोंसे ही वस्तुके अभावांशका भी ग्रहण सम्भव होनेसे अभावको पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है।

आगमप्रमाण : विमर्श

मतिज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थमें मनकी सहायतासे होनेवाले विशेष ज्ञानको श्रुतज्ञान या आगमज्ञान कहते हैं। पाँच इन्द्रियों और मनसे ज्ञात विषयको ही अवलम्बन लेकर श्रुतज्ञान व्यापार करता है। इसके मूल दो भेद हैं:—(१) अनक्षरात्मक और (२) अक्षरात्मक। श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मनकी सहायतासे होनेवाले मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञानको अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है, उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे—जीवशब्द कहनेपर श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा इस शब्दका सुनना मतिज्ञान है और उसके निमित्तसे जीव नामक पदार्थके अस्तित्वको अवगत करना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। प्रकारान्तरसे जबतक श्रुतज्ञान ज्ञानरूप रहता है, तबतक अनक्षरात्मक है और जब वचनरूप होकर दूसरेको ज्ञान करानेमें कारण होता है, तब वही अक्षरात्मक हो जाता है।

ज्ञानके द्वारा ही हम सबको जानते हैं और दूसरेको ज्ञान करानेका मुख्य साधन वचन है। ज्ञाता वचनके द्वारा श्रोताओंको बोध कराता है और वचन-व्यवहार केवल श्रुतज्ञानमें ही पाया जाता है। वक्ता द्वारा कहा गया शब्द श्रोताके श्रुतज्ञानमें कारण होता है।

वचनके दो भेद हैं:—(१) द्रव्यवाक् और (२) भाववाक्। द्रव्यवाक्के भी दो भेद हैं:—(१) द्रव्यरूप और (२) पर्यायरूप। पर्यायरूप द्रव्यवाक् श्रोत्रइन्द्रियसे ग्राह्य है। भाषावर्गणारूप पुद्गल द्रव्यवाक् है। यह द्रव्यरूप वचन समस्तज्ञानोंमें नहीं पाया जाता। ज्ञानावरणकर्मके क्षय अथवा क्षयोपशमसे युक्त आत्मामें जो सूक्ष्म बोलनेकी शक्ति है, वह भाववाक् है। इस भाववाक्के बिना

किसीके मुखसे कभी भी वचन नहीं निकल सकते। भाववाक्रूपी शक्तिका सद्भाव समस्त आत्माओंमें पाया जाता है, क्योंकि वह चेतनका सामान्य धर्म है।

श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं:—(१) पर्याय, (२) पर्यायसमास, (३) अक्षर, (४) अक्षरसमास, (५) पद, (६) पदसमास, (७) संघात, (८) संघातसमास, (९) प्रतिपत्तिक, (१०) प्रतिपत्तिकसमास, (११) अनुयोग, (१२) अनुयोगसमास, (१३) प्राभृत, (१४) प्राभृतसमास, (१५) प्राभृत-प्राभृत, (१६) प्राभृत-प्राभृत-समास, (१७) वस्तु, (१८) वस्तुसमास, (१९) पूर्व और (२०) पूर्वसमास।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है। यह ज्ञान अविनश्वर और निरावरण होता है। यह सर्वजघन्य ज्ञान है। इसके ऊपर क्रमशः अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यात्भागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धियाँ होती हैं। इन वृद्धियोंके अनन्तर पर्यायसमासज्ञान आता है। पर्यायसमासके अनन्तर वृद्धिगत होते हुए क्रमशः अक्षर, अक्षरसमास आदि श्रुतज्ञानके भेद उत्पन्न होते हैं।

आप्तके वचनादिके निमित्तसे होनेवाले अर्थज्ञानको आगम कहते हैं। आप्तपदसे वीतराग, सर्व । और हितोपदेशी व्यक्ति अभीष्ट है। जो जहाँ अवंचक है, वह वहाँ आप्त है। वस्तुतः जो राग, द्वेष, मोह—अज्ञान आदि दोषोंसे रहित है, परहितका प्रतिपादन करना ही जिसका एकमात्र कार्य है, ऐसा व्यक्ति ही आप्त कहलानेके योग्य है। आप्तवचनको अर्थज्ञानका कारण होनेसे आगम कहा जाता है। तीर्थंकर जिस अर्थको अपनी दिव्यध्वनिसे प्रकाशित करते हैं, उसका द्वादशांगरूपमें कथन गणधरोंके द्वारा किया जाता है। यह श्रुत अंगप्रविष्ट कहलाता है और जो श्रुत अन्य आरातीय शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा रचा जाता है, वह अंगबाह्य है। अंगप्रविष्ट श्रुतके आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद हैं। अंगबाह्य श्रुत सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वन्दना आदि भेदसे चौदह प्रकारका है। वस्तुतः आगमके द्वारा उतने ही पदार्थोंका बोध प्राप्त किया जा सकता है, जितने पदार्थोंका केवलज्ञानद्वारा। ज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों समान हैं, पर विशद और अविशदकी अपेक्षा दोनोंमें अन्तर है। श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता है। अतएव वह अमूर्त पदार्थ और उनकी अर्थपर्यायके सूक्ष्म अंशोंको स्पष्टरूपसे नहीं जान पाता। पर केवलज्ञान निरावरण होनेके कारण समस्त पदार्थोंको विशदरूपसे जानता है।

कुछ चिन्तकोंका विचार है कि जहाँ वक्ता अनाप्त, अविश्वसनीय, अतत्त्वज्ञ और कषायकलुष हो, वहाँ हेतु द्वारा तत्त्वकी सिद्धि होती है। पर जहाँ आप्त—सर्वज्ञ और वीतराग हो वहाँ उसके वचनोंपर विश्वास करके तत्त्वसिद्धि की जाती है।[1]

शब्द और अर्थका सम्बन्ध

शब्द अर्थप्रतिपत्तिके साधन किस प्रकार बनते हैं और उनका अर्थके साथ क्या सम्बन्ध है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। शब्द स्वाभाविक योग्यता और संकेतके कारण हस्तसंज्ञा आदि वस्तुकी प्रतिपत्ति करानेवाले हैं। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञापक एवं ज्ञाप्य शक्ति स्वाभाविक है, उसी प्रकार शब्द और अर्थमें प्रतिपादक और प्रतिपाद्य शक्ति स्वभावतः विद्यमान है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य होता है। शब्दमें अर्थबोधकी क्षमता स्वभावतः निहित है।

शब्द और अर्थमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध न होनेपर भी योग्यतारूप सम्बन्ध पाया जाता है। जिस प्रकार चक्षुका घटादिके रूपके साथ तादात्म्य-तदुत्पत्ति-सम्बन्ध नहीं होनेपर भी योग्यतारूप सम्बन्ध देखा जाता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थमें भी यह योग्यतासम्बन्ध निहित रहता है। शब्दमें कहनेकी शक्ति है और अर्थमें कहे जानेकी शक्ति है। इसीका नाम योग्यता है।

वस्तुतः शब्द और अर्थमें वाच्य-वाचकशक्तिरूप सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। केवल उसको जाननेके लिये संकेतग्रहणकी आवश्यकता होती है। यदि इस स्वाभाविक सम्बन्धमें व्यतिक्रम किया जाय, तो दीपक और घटमें जो प्रकाश्य-प्रकाशकशक्ति है उसमें भी व्यतिक्रमकी आपत्ति प्रस्तुत हो जायगी और यह आपत्ति प्रतीतिविरुद्ध है। अतः शब्द और अर्थमें वाच्य-वाचकशक्तिका मानना आवश्यक है। सारांशतः शब्द और अर्थमें वाच्य-वाचकभावरूप शक्ति स्वभावतः विद्यमान है और संकेतवशसे आप्तप्रणीत शब्द वस्तुके ज्ञानमें कारण होते हैं।[2]

प्रमाणफल

प्रमाणरूप ज्ञानके दो कार्य हैं:—(१) अज्ञाननिवृत्ति और (१) स्वपरका

१. वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साधितमागमसाधितम् ॥—आप्तमी०, श्लोक ७८.

२. सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।—परीक्षामुख ३।९६.

व्यवसाय। ज्ञानका आध्यात्मिक फल मोक्षप्राप्ति है। अतः प्रमाणसे साक्षात् अज्ञानकी निवृत्ति होती है। जिस प्रकार प्रकाश अंधकारको हटाकर पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञानको हटाकर पदार्थोंका बोध कराता है। पदार्थबोधके पश्चात् होनेवाले हान—हेयका त्याग, उपादान और उपेक्षा बुद्धि प्रमाणके परम्पराफल हैं। मति, श्रुत आदि ज्ञानोंमें हान, उपादान और उपेक्षा ये तीनों फल निहित रहते हैं, पर केवलज्ञानमें केवल उपेक्षा ही रहती है। राग और द्वेषमें चित्तका प्रणिधान नहीं होना उपेक्षा है।

ज्ञान आत्माका अभिन्न गुण है। इस ज्ञानकी पूर्व अवस्था प्रमाण और उत्तर अवस्था फल है। जो ज्ञानधारा अनेक ज्ञानक्षणोंमें व्याप्त रहती है, उस ज्ञानधाराका पूर्व क्षण साधकतम होनेसे प्रमाण होता है और उत्तर क्षण साध्य होनेसे फल। प्रमाण और फल कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं। आत्मा प्रमाण और फल दोनोंरूपसे परिणति करती है। अतः प्रमाण और फल अभिन्न हैं तथा कार्य और कारणरूपसे क्षणभेद एवं पर्यायभेद होनेके कारण वे भिन्न हैं। अतएव प्रमाण और फलमें कथंचित् भिन्नाभिन्नसम्बन्ध है। प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि है।

प्रमाणाभास

जो वास्तविक प्रमाणलक्षणसे रहित हैं और प्रमाणके तुल्य प्रतीत होते हैं, वे प्रमाणाभास हैं। अस्वसंविदितज्ञान, गृहीतार्थज्ञान, निर्विकल्पक दर्शन, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि प्रमाणाभास हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रवृत्तिके विषयका यथार्थज्ञान नहीं होता। जो अस्वसंविदितज्ञान अपने स्वरूपको ही नहीं जानता है, वह पुरुषान्तरके ज्ञानके समान हमें अर्थबोध कैसे करा सकेगा? निर्विकल्पकदर्शन सव्यवहारानुपयोगी होनेसे प्रमाण-कोटिमें नहीं आता। अविसंवादी और सम्यग्ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। जिस ज्ञानमें यह लक्षण घटित न हो, वह ज्ञान प्रमाणाभास है। संशयज्ञान अनिर्णयात्मक होनेसे, विपर्ययज्ञान विपरीत एक कोटिका निश्चय होनेसे और अनध्यवसायज्ञान किसी भी एक कोटिका निश्चायक न होनेसे विसंवादी होनेके कारण प्रमाणाभास हैं।

प्रमाणाभासोंकी संख्या अगणित हो सकती है। पर इनमें प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास; सांव्यवहारिकप्रत्यक्षाभास, मुख्यप्रत्यक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास, आगमाभास, हेत्वाभास, विषयाभास

आदि मुख्य हैं। यहाँ समस्त प्रमाणाभासोंका निर्देश न कर ज्ञानमें उपयोगी होनेसे केवल हेत्वाभासोंका विवेचन किया जाता है।

हेत्वाभास

जो हेतुलक्षणसे रहित है, पर हेतुके समान प्रतीत होते हैं, वे हेत्वाभास हैं। इन्हें साधनके दोष होनेके कारण साधनाभास भी कहा जा सकता है।

कुछ चिन्तकोंने असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, कालात्यापदिष्ट और प्रकरण-सम ये पाँच हेत्वाभास स्वीकार किये हैं। पर यथार्थतः असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन ही हेत्वाभास प्रमुख हैं।

असिद्ध

जो हेतु सर्वदा पक्षमें न पाया जाय अथवा जिसका सर्वथा साध्यके साथ अविनाभाव न हो, वह असिद्ध हेत्वाभास है। यथा—'शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वात्' शब्द अनित्य है, चक्षुका विषय होनेसे। इस अनुमानमें चाक्षुषत्वहेतु शब्दमें स्वरूपसे ही असिद्ध है। असिद्ध हेत्वाभासके दो भेद हैं:—स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध। जो स्वरूपसे असिद्ध हो, वह स्वरूपासिद्ध है। यथा—शब्द अनित्य है, चाक्षुष होनेसे। इस अनुमानमें चाक्षुषत्वहेतु स्वरूपासिद्ध है। मूर्ख व्यक्ति धूम और वाष्पका विवेक न प्राप्तकर बटलाहीसे निकलनेवाले वाष्प-को धूम मानकर उसमें अग्निका अनुमान करता है, तो यह संदिग्धासिद्ध कहलाता है।

विरुद्ध

जो हेतु साध्याभावमें ही पाया जाता है, वह विरुद्धहेत्वाभास कहलाता है। यथा—'सर्वं क्षणिकं सत्वात्' इस अनुमानमें सत्वहेतु सर्वथा क्षणिकत्वके विपक्षी कथंचित् क्षणिकत्वमें ही पाया जाता है।

अनैकान्तिक

जो हेतु पक्ष और विपक्ष दोनोंमें समानरूपसे पाया जाता हो, वह व्यभि-चारी होनेके कारण अनैकान्तिक कहलाता है। यथा—'शब्दो: अनित्यः प्रमेय-त्वात् घटवत्'। यहाँ प्रमेयत्वहेतुका विपक्षभूत नित्य आकाशमें भी पाया जाना निश्चित है। अतः यह अनैकान्तिक है।

अकिंचित्कर

सिद्ध साध्यमें और प्रत्यक्षादि बाधित साध्यमें प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकिं-

चित्कर है। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने भी त्रिलक्षण हेतु हैं, वे अकिंचित्कर हैं। यथा—शब्द विनाशी है, क्योंकि कृतक है। अथवा यह अग्नि है, क्योंकि धूम है। यहाँ कृतकत्व और धूमत्व हेतु प्रत्यक्षसिद्ध, विनाशित्व और अग्निको सिद्ध करनेमें अकिंचित्कर है।

दृष्टान्ताभास

दृष्टान्तमें साध्य-साधनक. निर्णय आवश्यक है। जो दृष्टान्त दृष्टान्तके लक्षणसे रहित है, वह दृष्टान्ताभास कहलाता है। दृष्टान्ताभासके मूलतः (१) साधर्म्यदृष्टान्ताभास और (२) वैधर्म्यदृष्टान्ताभास ये दो भेद हैं। साधर्म्यदृष्टान्तभासके नव भेद और वैधर्म्यदृष्टान्ताभासके भी नव भेद होते हैं।

साधर्म्यदृष्टान्ताभास : भेदनिरूपण

१. साध्यविकल—शब्द नित्य है, अमूर्त्तिक होनेसे, कर्मके समान। यहाँ कर्म दृष्टान्तसाध्यविकल है, क्योंकि वह नित्य नहीं है, अनित्य है।

२. साधनविकल—शब्द नित्य है, अमूर्त्तिक होनेसे, परमाणुके समान। यहां परमाणु दृष्टान्तसाधनविकल है।

३. उभयविकल—शब्द नित्य है, अमूर्त्तिक होनेसे, घटवत्। यहां घट दृष्टान्त उभयविकल है; क्योंकि घट न तो नित्य है और न अमूर्त्तिक ही, वह अनित्य तथा मूर्तिक है।

४. सन्दिग्धसाध्य—सुगत रागादिमान् हैं,उत्पत्तिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। इस अनुमानमें रथ्यापुरुषमें रागादिका निश्चय नहीं है, अतः प्रत्यक्षद्वारा उसका निश्चय करना अशक्य है।

५. सन्दिग्धसाधन—यह मरणशील है, रागादिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। यहाँ रथ्यापुरुषमें रागादिका पूर्ववत् अनिश्चय है।

६. सन्दिग्धोभय—यह असर्वज्ञ है, रागादिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। यहाँ रथ्यापुरुषमें साध्य और साधन दोनोंका अनिश्चय है।

७. अनन्वय—यह रागादिमान् हैं, वक्ता होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। यहाँ रथ्यापुरुषमें रागादिका सद्भाव सिद्ध न होनेसे अन्वय असिद्ध है।

८. अप्रदर्शितान्वय—शब्द अनित्य हैं, क्योंकि कृतक है, घटकी तरह। कृतकता और अनित्यताका अन्वय प्रदर्शित नहीं है।

९. विपरीतान्वय—जो अनित्य होता है, वह कृतक होता है, ऐसा विपरीत अन्वय प्रस्तुत करना विपरीतान्वयसाधर्म्यदृष्टान्ताभास है।

वैधर्म्यदृष्टान्ताभास : भेदनिरूपण

१. साध्याव्यावृत्त—शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे; जो नित्य नहीं होता, वह अमूर्त्त भी नहीं होता, यथा परमाणु। यहाँ परमाणुका दृष्टान्त साध्याव्यावृत्त वैधर्म्यदृष्टान्ताभास है, कारण परमाणुओंमें साधनकी व्यावृत्ति होनेपर भी साध्यकी व्यावृत्ति नहीं है।

२. साधनाव्यावृत्त—शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे, कर्मवत्। यहाँ कर्मका दृष्टान्त साधनाव्यावृत्त दृष्टान्ताभास है; कारण कर्ममें साध्यकी व्यावृत्ति होनेपर साधनकी व्यावृत्ति नहीं है।

३. उभयाव्यावृत्त—शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे, आकाशवत्। यहाँ आकाश दृष्टान्त उभयाव्यावृत्त है, क्योंकि आकाशमें न साध्यकी व्यावृत्ति है और न साधनकी।

४. सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक—सुगत सर्वज्ञ है, क्योंकि अनुपदेशादिप्रमाणयुक्त-तत्त्वप्रवक्ता है, जो सर्वज्ञ नहीं, वह उक्त प्रकारका वक्ता नहीं, यथा वोथी-पुरुष। यहाँ वोथीपुरुषमें सर्वज्ञत्वकी व्यावृत्ति अनिश्चित है।

५. सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक—शब्द अनित्य है, क्योंकि सत् है, जो अनित्य नहीं होता वह सत् भी नहीं होता, यथा गगन। यहाँ गगनमें सत्त्वरूप साधनकी व्यावृत्ति सन्दिग्ध है, क्योंकि वह अदृश्य है।

६. सन्दिग्धोभयव्यतिरेक—हरिहरादि संसारी हैं, क्योंकि अज्ञानादियुक्त हैं, जो संसारी नहीं, वे अज्ञानादिदोषयुक्त नहीं, यथा बुद्ध। यहाँ बुद्ध दृष्टान्तमें साध्य और साधन दोनोंकी व्यावृत्ति अनिश्चित है।

७. अव्यतिरेक—शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे; जो नित्य नहीं, वह अमूर्त्त नहीं, यथा घट। घटमें साध्यकी व्यावृत्ति रहनेपर भी हेतुकी व्यावृत्ति तत्प्रयुक्त नहीं है।

८. अप्रदर्शितव्यतिरेक—शब्द अनित्य है; क्योंकि सत् है, आकाशवत्। यहाँ वैधर्म्यसे आकाशमें व्यतिरेक अप्रदर्शित है।

९. विपरीतव्यतिरेक—जो सत् नहीं, वह अनित्य नहीं, यथा आकाश। यहाँ साधनकी व्यावृत्तिसे साधनकी व्यावृत्ति दिखलायी गयी है, जो विरुद्ध है।

इसप्रकार दृष्टान्ताभासके ९ + ९ = १८ भेद हैं।

प्रकारान्तरसे दृष्टान्ताभासके दो भेद हैं:—(१) अन्वयदृष्टान्ताभास और (२) व्यतिरेकदृष्टान्ताभास। अन्वयदृष्टान्ताभासके चार भेद हैं:—(१) असिद्ध-साध्य, (२) असिद्धसाधन, (३) असिद्धोभय और (४) विपरीतान्वय।

व्यतिरेकदृष्टान्ताभासके भी चार भेद हैं:—(१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक, (२) असिद्धसाधनव्यतिरेक (३) असिद्धोभयव्यतिरेक और (४) विपरीत-व्यतिरेक।

ज्ञानसाधन नय

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। इस कारण उसे अनेकान्तात्मक कहा जाता है। अर्थात् वस्तु कथञ्चित् नित्य कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् एक, कथञ्चित् अनेक, कथञ्चित् सर्वगत, कथञ्चित् असर्वगत, कथञ्चित् सत्, कथञ्चित् असत् आदि अनेक धर्मोंसे युक्त है। यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जाय तो अर्थक्रिया न होनेसे वस्तु कूटस्थ हो जायेगी और वृक्ष आदिसे फल, पुष्प आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तात्मक मानना स्वभावसिद्ध और तर्कसंगत है।

सामान्यतः ज्ञानके दो भेद हैं:—(१) स्वार्थ, (२) परार्थ। जो परोपदेशके बिना स्वयं उत्पन्न हो उसको स्वार्थ और परोपदेशपूर्वक उत्पन्न हो उसको परार्थ कहते हैं। मति, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये चारों ज्ञान स्वार्थ ही हैं। श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी।[1] जो श्रुतज्ञान श्रोत्र बिना अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है, वह स्वार्थ श्रुतज्ञान है और जो श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है, वह परार्थश्रुतज्ञान है।

तथ्य यह है कि शब्दको सुनकर जो उत्पन्न हुआ ज्ञान है, वह परार्थश्रुत-ज्ञान कहलाता है। कारणके भेदसे कार्यमें भी भेद होता है। अतएव जब शब्दके अनेक भेद हैं, तो तज्जन्य श्रुतज्ञानके भी अनेक भेद स्वयं सिद्ध हैं। इस परार्थ-श्रुतज्ञानके प्रत्येक भेदको नय और इन समस्त नयोंके समुदायको परार्थश्रुत-ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। इसी कारण प्रमाण और नयमें अंश-अंशी भेद है। प्रमाण अंशी और नय अंश हैं। एक शब्दमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह समस्त मुख्य और गौण धर्मोंका एक साथ विवेचन कर सके। अतएव वस्तुके स्वरूपको अवगत करनेके लिए प्रमाण और नयकी आवश्यकता होती है।

---

१. तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्जम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।
—सर्वार्थसिद्धि–१।६.

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, ये चार ज्ञान ऐसे हैं, जो धर्म-धर्मीका भेद किये बिना वस्तुको जानते हैं। इसलिए ये सबके सब प्रमाणज्ञान हैं। श्रुतज्ञान विचारात्मक होनेसे कभी धर्म-धर्मीका भेद किये बिना स्वरूपको अवगत करता है और कभी धर्म-धर्मीका भेद करके वस्तुका बोध करता है। जब धर्म-धर्मीका भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है, तब यह श्रुतज्ञान प्रमाण कहलाता है और जब उसमें धर्म-धर्मीका भेद होकर वस्तुका ज्ञान होता है, तब वह नय कहलाता है। इसी कारण नयोंको श्रुत-ज्ञानका भेद माना गया है।

नयस्वरूप

अनन्तधर्मात्मक होनेके कारण वस्तु बहुत जटिल है। उसको जाना तो जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। उसे कहनेके लिए वस्तुका विश्लेषण कर एक-एक धर्म द्वारा क्रमपूर्वक उसका निरूपण करनेके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है। वक्ता किसी एक धर्मको मुख्यकर उसका कथन करता है। उस समय उसकी दृष्टिमें अन्य धर्म गौण होते हैं, पर निषिद्ध नहीं। कोई एक निष्पक्ष श्रोता उस कथनको क्रमपूर्वक सुनता हुआ अन्तमें वस्तुके यथार्थ अखण्ड व्यापक रूपको ग्रहण कर लेता है। यह वस्तुधर्मग्रहणकी प्रक्रिया नय कहलाती है। नयका शाब्दिक अर्थ है—नयति इति नयः अर्थात् जो जीवादि पदार्थोंको लाते हैं या प्राप्त कराते हैं, वे ज्ञानांश नय कहलाते हैं।

अनेक धर्मोंको युगपत् ग्रहण करनेके कारण प्रमाण अनेकान्तरूप और सकलादेश है तथा एक धर्मको ग्रहण करनेके कारण नय एकरूप व विकलादेशी है। प्रमाणज्ञानकी—अन्य धर्मोंकी अपेक्षाको बुद्धिमें सुरक्षित रखते हुए प्रयोग किया जानेवाला नय ज्ञान या सम्यक् वाक्य है।

पदार्थ तीन कोटियोंमें विभक्त हैं:—१. अर्थात्मक या वस्तुरूप, २. शब्दात्मक या वाचकरूप और ३. ज्ञानात्मक या प्रतिभासरूप। इन तीन प्रकारके पदार्थों-को विषय करनेके कारण नय भी तीन प्रकारके होते हैं:—(१) अर्थनय, (२) शब्दनय, (३) ज्ञाननय। वस्तुतः मुख्य-गौणविवक्षाके कारण वक्ताके अभिप्राय अनेक प्रकारके होनेसे नयके अनेक भेद हैं।

अनेकान्तात्मक वस्तुका जिस धर्मकी विवक्षासे वक्ता कथन करता है उसके उसी अभिप्रायको जाननेवाले ज्ञानको नय कहा जाता है। यह भावनयका लक्षण है। उस धर्म तथा उसके वाचक शब्दको द्रव्यनय कहते हैं। प्रकारान्तर-से धर्मविवक्षावश लोकव्यवहारके साधक, हेतुसे उत्पन्न श्रुतज्ञानके विकल्प-

को नय कहा जाता है।[1] ज्ञानीका जो विकल्प वस्तुके एक अंशको ग्रहण करता है वह भी नय कहलाता है। यह नयव्यवस्था प्रमाणमें ही होता है, अप्रमाणमें नहीं। दूसरी बात यह है कि नय हमेशा प्रमाणका अंशरूप ही रहता है, पूर्ण रूप नहीं। यदि अप्रमाणमें नयव्यवस्था मान ली जाय तो किसी भी वस्तुकी सिद्धि सम्भव नहीं है और सर्वत्र अव्यवस्था या अनवस्था उपस्थित हो जायगी।

प्रमाणके विषयभूत स्व और पदार्थके अंशका जिसके द्वारा निर्णय किया जाय वह नय कहलाता है।[2]

"नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः" अर्थात् जिसके द्वारा श्रुत-ज्ञानरूप प्रमाणके विषयभूत पदार्थके अंशका ज्ञान किया जाय, वह नय कहलाता है। नयका उद्भव श्रुतज्ञानसे होता है। यह एक सार्थक दृष्टिकोण है। इसका प्रयोग करनेके लिए वक्ता स्वतन्त्र है, पर अनुबन्ध इतना ही है कि वक्ता एक समयमें एक ही सुनिश्चित दृष्टिका सुनिश्चित अर्थमें प्रयोग करे। नय विरोधको शान्त करता है। निरपेक्ष नयको मिथ्या और सापेक्ष नयको अर्थकृत् माना जाता है।

वस्तु-अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश पाया जाता है। प्रमाण वस्तुके पूर्ण रूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत एक अंशको। प्रमाण समग्रभावसे ग्रहण करता है और नय अंशरूपसे। यथा—"अयं घटः" इस ज्ञानमें प्रमाण घटको अखण्डभावसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदि अनन्त गुण-धर्मका विभाग न करके पूर्णरूपमें जानता है, पर नयके कथनानुसार 'रूपवान् घटः' 'रसवान् घटः' आदि एक-एक गुणधर्मानुसार वस्तुका निरूपण किया जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रमाण और नय दोनों ही ज्ञानवृत्तियां हैं। दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाताकी सकल ग्रहणकी दृष्टि होती है, तब ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे ग्रहीत वस्तुको खण्डशः ग्रहण करनेकी दृष्टि रहती है, तब अंशग्राही नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिए भूमिका तैयार करता है। सारांशतः सकलग्राही ज्ञान प्रमाण और अंशग्राही विकल्पज्ञान नय है। अखण्डभावसे ग्रहण करना प्रमाणकी सीमामें समाविष्ट है और खण्डभावसे ग्रहण करना नय-की सीमाके अन्तर्गत है। इसीसे प्रमाणको सकलादेशी और नयको विकलादेशी भी कहा गया है।

---

१. लोवाणं ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसंभूदो॥ —स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा.

२. 'स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः।' —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।६।४.

सुनय एवं दुर्नय

नय भी विषय-विवेचनकी दृष्टिसे सम्यक् और मिथ्यारूपमें विभक्त हैं। जो नय अनेकान्तात्मक वस्तुके किसी धर्मविशेषको सापेक्षिकरूपसे ग्रहण करता है वह सुनय कहलाता है। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तुके किसी विशेष अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता। उनकी ओर तटस्थभाव रखता है। यतः अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार है। सुनय वही कहा जाता है जो अपने अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण तो करे, पर उनका निराकरण न करे और उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो नय दूसरे धर्मोंका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार प्रतिष्ठित करता है, वह दुर्नय है। प्रमाणमें पूर्ण वस्तु आती है। नय एक अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण करता है। पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार नहीं करता। पर दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण तत्-अतत्, सत्-और असत् सभीको ग्रहण करता है, किन्तु नय स्यात्, सत् रूपमें सापेक्ष ग्रहण करता है। दुर्नय स्यात्का तिरस्कार कर निरपेक्षताको अपनाता है।

जो अपने पक्षका आग्रह करते हैं, वे सभी नय मिथ्या हैं, क्योंकि इनके द्वारा परका निषेध होता है। पर जब ये ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भाववाले हो जाते हैं।[1] जिस प्रकार मणियाँ एक सूतमें पिरोये जानेपर रत्नावली या रत्नाहार बन जाती हैं उसी प्रकार सभी नय सापेक्ष होकर सम्यक् हो जाते हैं और सुनय कहलाते हैं। निरपेक्ष रहनेपर नयोंको दुर्नय कहा जाता है।

जितने वचनविकल्प हैं, उतने ही नय हैं।[2] जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते हैं, वे स्वसमयप्रज्ञापना—सम्यक् कथन हैं और जो अन्यनिरपेक्षवृत्ति हैं वे अन्य धर्मोंके व्याघातक होनेसे दुर्नय या मिथ्या नय है।[3]

---

१. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
   अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा॥ —सन्मतिसूत्र १।२१.

२. जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
   जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥ —वही, सूत्र ३।४७.

३. जो वयणिज्जवियप्पा संजुज्जन्तेसु होन्ति एएसु।
   सा ससमयपण्णवण्णा तित्थयराऽऽसायणा अण्णा॥ —वही, सूत्र १।५३.

सारांश यह है कि प्रत्येक नय अपने-अपने विषयको ही ग्रहण करते हैं। उनका प्रयोजन अपनेसे भिन्न दूसरे नयके विषयका निराकरण करना नहीं, किन्तु गौण-प्रधानभावसे ये परस्परसापेक्ष होकर ही सम्यक् होते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक तन्तु स्वतन्त्र रहकर पटकार्यको करनेमें असमर्थ है, किन्तु उन तन्तुओंके मिल जानेपर पटकार्यकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक नय स्वतन्त्र रहकर अपने कार्यको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है, परन्तु परस्परसापेक्ष-भावसे ये नय सम्यकज्ञानकी उत्पत्ति करते हैं। नयके बिना मनुष्यको स्याद्वादकी प्रतिपत्ति नहीं होती। अतः जो एकान्तके आग्रहसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें नयद्वारा वस्तुज्ञानमें प्रवृत्त होना चाहिए।

नयभेद

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। जो वस्तुमें सामान्य धर्मको मुख्यतासे ग्रहण करता है, विशेष धर्मको गौण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। इसके विपरीत जो वस्तुके सामान्य स्वरूपको गौणकर विशेष स्वरूपको मुख्यतासे ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिकनय प्रमाणके विषयभूत द्रव्य-पर्यायात्मक, एकानेकात्मक अर्थका विभाग करके पर्यायार्थिक नयके विषयभूत भेदको गौण करता हुआ उसकी स्थिति मात्रको स्वीकारकर अपने विषयरूप द्रव्यको अभेदरूप व्यवहार करता है। अथवा द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय है।[1] द्रव्यार्थिकनयोंमें द्रव्य एवं पर्यायार्थिकनयोंमें पर्याय विषय है। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। जीव, पुद्गल और काल द्रव्य अनेक हैं।[2]

पर्यायार्थिक नयका आधार पर्याय है। यह पर्याय अर्थपर्याय हो, या व्यञ्जन-पर्याय, स्थूलपर्याय हो या सूक्ष्मपर्याय, शुद्धपर्याय हो या अशुद्धपर्याय, सभी पर्यायार्थिक नयके विषय हैं। यद्यपि पर्यायें सादि सान्त ही होती हैं। पर अनेक पर्यायोंके समूहरूप व्यञ्जनपर्यायकी अपेक्षा पर्यायोंके अनेक भेद किये जा सकते हैं। इनमें अनादि पर्याय तो पुद्गल द्रव्यकी वह व्यञ्जनपर्याय है, जो सूक्ष्मरूपसे परिणमनशील रहनेपर भी बाह्यमें सदा ज्यों-की-त्यों दिखलाई

---

१. द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः।
पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः॥
—सर्वार्थसिद्धि १-६.

२. पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिकः॥
—सर्वार्थसिद्धि १-३३.

पड़ती है। यद्यपि इस स्थूलपर्यायमें भी प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। पर अनादिसे अनन्त तक उसकी एक ही धारा बनी रहती है। इसी कारण यह अनादि-अनन्तपर्याय कहलाती है। अकृत्रिम स्कन्धरूप सुमेरु, चन्द्र, सूर्य आदि रूपमें इस पर्यायकी धारा देखी जा सकती है।

अनादि-सान्तपर्याय जीवके औदयिकभावको कहा जाता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी अनादिकालसे अशान्त है। वह कब सर्वप्रथम अशान्त या अशुद्ध हुआ था, यह कहना असम्भव है जीवकी अशुद्धताकी आदिका पता लगाना असम्भव होनेके कारण वह अनादि है। यदि जीव भव्य है तो किसी-न-किसी दिन इस अशुद्धताका अन्त करके शुद्ध और शान्त हो सकता है। ऐसे जीवको अशुद्धताका अन्त दिखलाई पड़ता है। अतः वह सान्त है। इस तरह साधारण संसारी जीवकी अशुद्धता औदयिकभावजन्य होनेके कारण अनादि-सान्त है पुद्गलकी अनादि-सान्त कोई पर्याय प्रतिभासित नहीं होती; क्योंकि परमाणु पृथक् हो-होकर पुनः पुनः बन्धको प्राप्त होता रहता है। सादि-अनन्तपर्याय क्षायिकभावजन्य है, जो उत्पन्न होनेके पश्चात् पुनः नष्ट नहीं होती, यथा सिद्ध परमेष्ठीकी पूर्ण शुद्धपर्याय किसी विशेष समयमें उनके तपश्चरण आदिके द्वारा प्रादुर्भूत तो अवश्य हुई थी, पर उसका विनाश कभी नहीं होता। अर्थात् इस पर्यायका आदि तो है, अन्त नहीं। इसीलिए यह सादि अनन्तपर्याय है।

सादि-सान्तपर्याय दो प्रकारकी होती हैं:—(१) क्षणभंगुर और (२) दीर्घकालतक स्थित रहनेवाली। क्षणभंगुरपर्याय प्रत्येक गुणके प्रतिक्षणके स्वाभाविक परिवर्तनमें घटित होती है। यह पर्याय केवलज्ञानगम्य है। इसे षट् गुणहानिवृद्धिरूप स्वभाविक क्षणिकपर्याय या सूक्ष्म-अर्थपर्याय भी कहते हैं। कुछ क्षणस्थायी पर्याय औपशमिकभावरूप है। यह पर्याय भी इतने कम समय स्थित रहती है कि स्थूलज्ञानी इसे ग्रहण नहीं कर पाते। पुद्गलमें भी यह पर्याय देखी जा सकती है। दीर्घकालस्थायी सादि-सान्तपर्याय भी दो प्रकारकी है:—(१) पूर्णअशुद्ध औदयिकभावरूप, (२) शुद्धाशुद्धक्षायोपशमिकभावरूप। क्षायोपशमिकभावके साथ औदयिकभावके रहनेसे ये पर्यायें सादि-सान्त स्थितिको प्राप्त होती हैं। संक्षेपमें सादि-सान्त पर्याय औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और औदयिकभाव रूप होती हैं।

औपशमिकभाव तो सादि-सान्त शुद्धभाव है। क्षायोपशमिकभाव सादि-सान्त शुद्धाशुद्ध भाव हैं और औदयिकभाव सादि-सान्त अशुद्धभाव है। विचारकी दृष्टिसे पर्यायोंके निम्नलिखित भेद हैं:—

१. अनादि-नित्य-शुद्ध,
२. सादि-नित्य-शुद्ध,
३. स्वभाव-अनित्य-शुद्ध,
४. स्वभाव-अनित्य-अशुद्ध,
५. विभाव-नित्य-शुद्ध,
६. विभाव-अनित्य-अशुद्ध।

यों तो वस्तुकी समस्त पर्याय सूक्ष्मदृष्टिसे सादि-सान्त ही होती है। परन्तु जिस प्रकार अर्थपर्यायकी अपेक्षा व्यञ्जनपर्याय अधिक समय तक रहती हुई प्रतीत होती है उसी प्रकार वस्तुकी कुछ व्यञ्जनपर्यायें भी ऐसी हैं जो अनादि नित्यरूपसे एक ही धाराके रूपमें प्रतीत होती हैं। सामान्यतः व्यंजनपर्याय कोई स्वतन्त्र पर्याय नहीं है किन्तु अनन्त अर्थपर्यायोंका सामूहिक फल है।

पर्यायार्थिक नय उपर्युक्त सभी पर्यायोंको विषय करता है।

अभेदग्रहण करनेवाली दृष्टि द्रव्यार्थिकनय या द्रव्यदृष्टि कही जाती है। और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायार्थिकनय या पर्यायदृष्टि। अभेदका अर्थ सामान्य है और भेदका विशेष। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाका आधार-ऊर्ध्वता या तिर्यक् सामान्य है। अभेदकी एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित है जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कही जाती है। इस कल्पनावश कालक्रमसे होनेवाली क्रमिकपर्यायोंमें ऊपर नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण वस्तु ऊर्ध्वतासामान्य कहलाती है। क्रमिकपर्याय और सहभावी गुण व्याप्त रहते हैं। दूसरी अभेदकल्पना विभिन्न सत्तावाले अनेक द्रव्योंमें संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। इसमें सादृश्यकी अपेक्षा रहनेसे तिर्यक् सामान्यका अस्तित्व रहता है। एक द्रव्यकी पर्यायोंमें होनेवाली भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है और विभिन्न द्रव्योंमें प्रतीत होनेवाली दूसरी भेद-कल्पना तिर्यक् कहलाती है। परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करने-वाला नय द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगतपर्यायभेदको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायार्थिक कहलाता है।

निश्चय और व्यवहारनय

आत्मसिद्धिमें प्रयोजनीय दो नय हैं:—(१) निश्चय और (२) व्यवहार अथवा (१) पर्यायार्थिक और (२) द्रव्यार्थिक। निश्चयनय आत्म-सिद्धिका हेतु है। निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहा जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अभूत अर्थको प्रकाशित करता है और निश्चयनय शुद्ध होनेके कारण भूतार्थको प्रकाशित करता है। यहाँ अभूतार्थमें नञ् समास किया गया

है और नञ् समासके दो अर्थ होते हैं:—पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदासपक्ष निषेध-सूचक नियम होनेपर भी विधिके रूपमें उपस्थित होता है। यहाँ अभूतार्थमें 'अब्राह्मण' और 'अनुदरा कन्या'के समान पर्युदास पक्ष है। अनुदरा कन्या उदरसे हीन नहीं, अपितु लघु उदरवाली हैं, इसी प्रकार अभूतार्थ सर्वथा अभूतार्थ नहीं; अपितु किञ्चित् अभूतार्थ है। जब निश्चयनय शुद्धात्माको मुख्यतासे विषय करता है, उस समय व्यवहारनय गौणरूपमें उपस्थित रहता है। यदि एक नयका व्यवहार करते समय दूसरी नयदृष्टिका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय, तो नयज्ञान सुनयकोटिमें नहीं आ सकता है।

निश्चयनयको प्रकृति अन्तर्मुखी अधिक और व्यवहारनयकी प्रकृति बहि-र्मुखी होती है। निश्चयनय द्वारा बाहरसे भीतरकी ओर देखना आरम्भ करता है अर्थात् शरीरसे आत्माकी ओर उन्मुख होता है और व्यवहारनय द्वारा शरीरको ओर ही दृष्टि रहती है।

वस्तुके एक, अभिन्न और स्वाश्रित—परनिरपेक्ष परिणमनको जाननेवाला निश्चयनय है और अनेकरूप तथा पराश्रित—पर-सापेक्षपरिणमनको अवगत करनेवाला व्यवहारनय है। वस्तुतः गुणपर्यायोंसे अभिन्न आत्माकी परिणतिके कथनको निश्चयनयका विषय माना जाता है और कर्मनिमित्तसे होनेवाली आत्माकी परिणतिको व्यवहारनयका विषय कहा जाता है। निश्चयनय स्वभाव-को विषय करता है, विभावको नहीं। जो 'स्व'में 'स्व'के निमित्तसे होता है वह स्वभाव है, जैसे जीवके ज्ञानादि। और जो स्वमें परके निमित्तसे होते हैं वे विभाव हैं, जैसे जीवमें क्रोधादि। निश्चयनय आत्मामें क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारोंको स्वीकृत नहीं करता। वे पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होते हैं, अतः पौद्गलिक कहे जाते हैं।

परके निमित्तसे होनेवाले काम-क्रोधादि विकार भी कथंचित् आत्माके हैं अतः अशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा इन विकारोंको भी आत्माकी विभावपरिणति-के रूपमें स्वीकार किया जाता है। निश्चय और व्यवहारनयमें भूतार्थ और अभूतार्थकी कल्पना भी अपेक्षाकृत है। अर्थात् व्यवहारनय निश्चयनयकी अपेक्षा अभूतार्थ हैं, स्वरूप और स्वप्रयोजनकी अपेक्षासे नहीं। यदि व्यवहारको सर्वथा अभूतार्थ माना जाय तो वस्तुव्यवस्था घटित नहीं हो सकेगी।

चिन्तकोंका अभिमत है कि जिस प्रकार म्लेच्छोंको समझानेके लिये म्लेच्छ भाषाका प्रयोग करना उचित होता है, उसी प्रकार व्यवहारी जीवोंको परमार्थ-का प्रतिपादक होनेसे तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त अपरमार्थ होनेपर भी व्यवहार-नयका अभूतार्थ बतलाना न्यायसंगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य

नहीं है। यह भी सत्यके निकट पहुँचानेवाला है, अतः उसके आलम्बनसे पदार्थ-का प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहारके बिना निश्चयनयसे जीव शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखलाया गया है। इस अवस्थामें जिस प्रकार भस्मका उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होती, उसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवोंका निःशंक उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होगी और हिंसाके न होनेसे बन्धका अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेषी और मोही जीव बन्धको प्राप्त होता है, अतः उसे ऐसा उपदेश दिया गया है, जिससे वह राग-द्वेष और मोहसे छुटकारा पा ले। अर्थात् जो आचार्योंने मोक्षका उपाय बतलाया वह व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि परमार्थसे जीव राग-द्वेष-मोहसे भिन्न ही दिखाया जाता है।

जब आत्मा सर्वथा शरीरसे भिन्न है तब मोक्षके उपाय स्वीकार करना असंगत होगा और इस प्रकार मोक्षका भी अभाव हो जायगा।[1]

आशय यह है कि निश्चय और व्यवहार ये दोनों ही नय पात्रभेदकी दृष्टिसे प्रतिपादित हैं। एक ही नयका आश्रय लेनेसे समस्त पात्रोंका कल्याण नहीं हो सकता। जो परमभावको अवगत करनेवाला है, उसके लिये शुद्ध तत्त्वका कथन करनेवाला निश्चयनय ग्राह्य है और जो अपरमभावमें स्थित हैं, उनके लिये व्यवहारनय।[2] निश्चय और व्यवहार ये दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टिसे पदार्थ-स्वरूपके बोधक हैं। जो जीव यथार्थ रूपसे निश्चय और व्यवहार-को अवगत कर एकान्तपक्षका त्याग करता है और मध्यस्थवृत्ति ग्रहण करता है वही आत्म-स्वरूपको समझता है।

जो जीव स्वयं मोहका वमनकर निश्चय और व्यवहारके विरोधको ध्वस्त करनेवाले 'स्यात्' पदसे चिह्नित नयवचनोंका अनुसरण करता है, वह परम ज्योतिस्वरूप आत्माको अवगत कर लेता है। वस्तुस्वरूपका परिज्ञान प्राप्त

---

१. व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपर-मार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भ-वत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव-मोक्षस्याभावः।

समयसार गाथा ४६, अमृतचन्द्राचार्यकी टीका.

२. समयसार गाथा १२.

करनेके लिये दोनों नयोंका अवलम्बन आवश्यक है। आत्मश्रद्धा या आत्मानुभूतिके समय व्यवहार नयका अवलम्बन हेय है। पर वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उभयनयोंका आलम्बन आवश्यक है।

नयोंके अन्य भेद-प्रभेद

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन मूलनयोंके दो-दो भेद हैं:—१. अध्यात्मद्रव्यार्थिक, २. शास्त्रीयद्रव्यार्थिक, ३. अध्यात्मपर्यायार्थिक, ४. शास्त्रीयपर्यायार्थिक।

इनमेंसे अध्यात्मद्रव्यार्थिकके दश भेद हैं और अध्यात्मपर्यायार्थिकके छह भेद हैं। शास्त्रीयद्रव्यार्थिकके मूलतः तीन भेद हैं और उपभेदोंकी अपेक्षा सात भेद हैं। तीन भेदोंमें नैगम, संग्रह और व्यवहार हैं। नैगमके तीन भेद, संग्रहके दो भेद और व्यवहारके दो भेद इस प्रकार ३ + २ + २ = ७ भेद हैं। शास्त्रीयपर्यायार्थिकके चार भेद हैं:—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। इनमें ऋजुसूत्र नयके दो भेद हैं और शेष नयोंमें कोई उपभेद नहीं है। इस प्रकार शास्त्रीयपर्यायार्थिकके २ + १ + १ + १ = ५ भेद हैं। इस तरह शास्त्रीयनयके ७ + ५ = १२ और अध्यात्मके १० + ६ = १६ कुल १६ + १२ = २८ निश्चयनयके भेद हैं।

व्यवहारनयके मूलतः तीन भेद हैं:—१. सद्भूत, २. असद्भूत, ३. उपचरित। इनमें सद्भूतके दो, असद्भूतके तीन और उपचरितके तीन इस प्रकार व्यवहारनयके कुल आठ भेद हैं।

निश्चय २८ + व्यवहारनय ८ = ३६ नयके समस्त भेद हैं।

१. कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिक—कर्मबन्धसंयुक्त संसारी जीवको शक्तिकी अपेक्षा सिद्धसमान शुद्ध ग्रहण करना।

२. सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिक—उत्पाद-व्ययको गौणकर केवल सत्ताको ग्रहण करना।

३. भेदविकल्पनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिक—गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायीमें भेद न कर द्रव्यको गुण-पर्यायसे अभिन्न ग्रहण करना।

४. कर्मोपाधिसापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिक—जीवमें क्रोधादिभावोंका ग्रहण करना।

५. सत्ताग्राहक अशुद्धद्रव्यार्थिक—उत्पादव्ययमिश्रित सत्ताको ग्रहण करना।

६. भेदकल्पनासापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिक—द्रव्यको गुण-गुणी आदि भेद सहित ग्रहण करना।

७. अन्वयद्रव्यार्थिक—समस्त गुण-पर्यायोंमें द्रव्यको अन्वयरूप ग्रहण करना

८. स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक—स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्यके सत्स्वरूपको ग्रहण करना।

९. परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक—पर-द्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्यको असत्स्वरूप ग्रहण करना

१०. परमभावग्राहीद्रव्यार्थिक—अशुद्धशुद्धोपचाररहित द्रव्यके परम स्वभाव-को ग्रहण करना

११. अनादिनित्यपर्यायार्थिक—अनादिनिधनपर्यायोंको ग्रहण करना

१२. सादिनित्यपर्यायार्थिक—कर्मक्षयसे उत्पन्न अविनाशी पर्यायको ग्रहण करना।

१३. अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक—सत्ताको गौणकर उत्पाद-व्यय स्वभावको ग्रहण करना।

१४. अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिक—पर्यायको एक समयमें उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वभावयुक्त ग्रहण करना।

१५. कर्मोपाधिनिरपेक्ष-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिक—संसारी जीवोंकी पर्यायको सिद्धसदृश शुद्धपर्याय ग्रहण करना।

१६. कर्मोपाधिसापेक्ष-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिक—संसारी जीवोंकी चतुर्गति-सम्बन्धी अनित्य-अशुद्ध पर्यायको ग्रहण करना।

१७. भूतनैगम—अतीतमें वर्त्तमानका आरोप करना।

१८. भाविनैगम—भावीमें भूतवत् कथन करना।

१९. वर्त्तमाननैगम—प्रारम्भ हुए कार्यको तैयार हुआ कथन करना।

२०. सामान्यसंग्रह—सत्सामान्यकी अपेक्षा समस्त द्रव्योंको एकरूपमें ग्रहण करना।

२१. विशेषसंग्रह—जातिविशेषकी अपेक्षासे अनेक पर्यायोंको एकरूपमें ग्रहण करना।

२२. शुद्धव्यवहार—सामान्यसंग्रहनयके विषयको भेदरूपमें ग्रहण करना।

२३. अशुद्धव्यवहार—विशेषसंग्रहके विषयको भेदरूपमें ग्रहण करना।

२४. सूक्ष्मऋजुसूत्र—एकसमयवर्त्ती सूक्ष्म अर्थपर्यायको ग्रहण करना।

२५. स्थूलऋजुसूत्र—अनेकसमयवर्तीस्थूल पर्यायको ग्रहण करना।

२६. शब्दनय—लिङ्ग, संख्या, साधन आदिके व्यभिचारको दूर करने-वाले ज्ञान और वचनको ग्रहण करना।

२७. समभिरूढ़—शब्दके अनेक वाच्योंमेंसे किसी एक मुख्य वाच्यको ग्रहण करना।

२८. एवंभूत—जिस क्रियाका वाचक जो शब्द है उस क्रियारूप-परिणत पदार्थको ग्रहण करना।

२९. सद्भूतव्यवहार—पदार्थमें गुण-गुणीको भेदरूपसे ग्रहण करना।

३०. उपचरितसद्भूतव्यवहार—सोपाधिक गुण-गुणीको भेदरूपसे ग्रहण करना।

३१. अनुपचरितसद्भूतव्यवहार—निरुपाधिक गुण-गुणीको भेदरूप ग्रहण करना।

३२. असद्भूतव्यवहार—भिन्न पदार्थोंको अभेदरूप ग्रहण करना।

३३. उपचरितासद्भूतव्यवहार—संश्लेषरहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करना।

३४. अनुपचरितासद्भूतव्यवहार—संश्लेषसहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करना।[१]

आध्यात्मिक आर मूलनय

आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति, अनुभूति और प्राप्तिमें सहायक, (१) शुद्ध-निश्चय, (२) अशुद्धनिश्चय, (३) उपचरितसद्भूतव्यवहार, (४) अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार, (५) उपचरितासद्भूतव्यवहार और (६) अनुपचरितासद्भूत-व्यवहार नय हैं। इन नयों द्वारा वस्तुकी जानकारीसे 'स्व'का ग्रहण और 'पर'-का त्याग होता है।

मूलनयोंकी मान्यताके सम्बन्धमें विवाद है। किसी चिन्तकके मतसे मूल-नय पाँच, किसीके मतसे छः और किसीके मतसे सात हैं। वस्तुतः विविध दृष्टिकोणोंके आधारपर नयोंके असंख्यात भी भेद संभव हैं। प्रत्येक नय एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करता है और यह दृष्टिकोण अपनेमें समीचीन होता है। मूल नय सात हैं:—

१. नैगमनय

संकल्पमात्रके ग्राहकको नैगमनय कहा जाता है। यह शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार और आधेय आदिके आश्रयसे उपचारको विषय करता है। यथा—'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' वाक्यमें अश्वत्थामा नामक हाथीके मारे जानेपर अन्य व्यक्तिको भ्रम उत्पन्न करनेके हेतु अश्वत्थामा

१. नयोंकी विशेष जानकारीके लिए देखिए—नयचक्र, आलापपद्धति और जैनसिद्धान्त-दर्पण।

शब्दका अश्वत्थामा नामक पुरुषमें उपचार किया गया है। इसी प्रकार शीलके निमित्तसे किसी मनुष्यको क्रोधी देखकर 'सिंह' कहना शीलोपचार है। राक्षस-कर्म करते हुए देखकर किसीको राक्षस कहना; अन्नका प्राणधारणरूप कार्य देखकर अन्नको प्राण कहना; स्वर्णहारको कारणकी मुख्यतासे स्वर्ण कहना; किसीको उच्चस्थानपर बैठनेके लिए मिल जानेपर उसे राजा कहना और किसीके ओजस्वी भाषणको सुनकर व्यासपीठका गर्जन कहना नैगमनय है।

संक्षेपमें जो भूत और भविष्यत् पर्यायोंमें वर्त्तमानका संकल्प करता है या वर्त्तमानमें जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई, उसे पूर्ण मानता है, उस ज्ञान या वचनको नैगमनय कहते हैं। यथा—कोई व्यक्ति पानी भरकर चौकेमें लकड़ी डाल रहा है। उससे कोई पूछता है, क्या करते हो ? वह उत्तर देता है—भात बनाता हूँ। यद्यपि उस समय भात नहीं है, किन्तु भात बनानेका संकल्प किया। यह संकल्प ही नैगमनय है।

नैगमनयके पर्यायनैगम, द्रव्यनैगम और द्रव्यपर्यायनैगम ये तीन भेद हैं। पर्यायनैगमके तीन भेद हैं:—(१) अर्थपर्यायनैगम, (२) व्यञ्जनपर्यायनैगम और (३) अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगम। द्रव्यनैगमके दो भेद हैं:—(१) शुद्धद्रव्यनैगम और (२) अशुद्धद्रव्यनैगम। द्रव्यपर्यायनैगमके चार भेद हैं:—शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम, (३) अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम और (४) अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम।

२. संग्रह

अपनी जातिका विरोध न करके समस्त विशेषोंको एक रूपसे ग्रहण करने-वाला संग्रहनय है। संग्रहनयके दो भेद हैं:—(१) परसंग्रह और (२) अपरसंग्रह। समस्त विशेषोंमें सदा उदासीन रहनेवाला परसंग्रह सन्मात्र शुद्धद्रव्यका ग्राहक है, यथा सत्सामान्यकी अपेक्षा विश्व अद्वैतरूप है, पर जो विशेषोंका निराकरण-कर सत्ताद्वैतको मान्य करता है, वह परसंग्रहाभास है। सत्सामान्यके अवान्तर-भेदोंको एकरूपसे संग्रह करनेवाला अपरसंग्रह है। यथा—द्रव्यत्वकी अपेक्षा सब द्रव्य एक है और पर्यायत्वकी अपेक्षा सब पर्याय एक हैं।

३. व्यवहारनय

संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थोंका विधिपूर्वक विभाग करनेवाले अभिप्राय-को व्यवहारनय कहते हैं। संग्रहनय समस्त पदार्थोंको सत् रूपसे ग्रहण करता है और व्यवहारनय उसका विभाग करता है, जो सत् है, वह द्रव्य और पर्यायरूप है। जिस प्रकार संग्रहनयमें संग्रहकी अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार

व्यवहारनयमें विभागीकरणकी। पदार्थोंके विधिपूर्वक विभाग करने रूप जितने विचार पाये जाते हैं, वे सब व्यवहारनयकी श्रेणीमें परिगणित हैं।

४. ऋजुसूत्रनय

यह नय भूत और भावी पर्यायोंको छोड़कर वर्त्तमान पर्यायको ही ग्रहण करता है। यह ज्ञातव्य है कि एक पर्याय एक समय तक ही रहती है, उस एक समयवर्त्ती पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं। यह अर्थपर्याय सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयका विषय है। व्यवहारमें एक स्थूलपर्याय दीर्घकाल तक बनी रहती है। यथा मनुष्यपर्याय आयुके अन्त तक रहती है। स्थूलपर्यायको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और वचन स्थूल ऋजुसूत्रनय कहा जाता है।

ऋजुसूत्रनय नित्य द्रव्यको गौणकर क्षणवर्ती पर्यायको प्रधानतासे ग्रहण करता है।

५. शब्दनय

लिङ्ग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपसर्ग आदिके भेदसे अर्थको भेद रूप ग्रहण करनेवाला शब्दनय होता है। शब्दकी प्रधानताके कारण इसे शब्दनय कहते हैं। भिन्न-भिन्न लिङ्गवाले शब्दोंका एक ही वाच्य मानना लिङ्गव्याभिचार है। यह नय मानता है कि जब ये सब अलग-अलग हैं तब इनके द्वारा कहा जानेवाला अर्थ भी पृथक्-पृथक् ही होना चाहिए। इसी कारण क्रियाभेदसे भी अर्थ-भेद माना जाता है। यथा—'देवदत्त घटको करता है' और 'देवदत्त द्वारा घट किया जाता है' इन दोनों वाक्योंमें कर्तृवाच्य और कर्मवाच्यका भेद होनेपर लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे एकार्थता मानी जाती है; पर इस नयकी दृष्टिसे यह ठीक नहीं है; क्योंकि वाक्यभेदसे वाक्यार्थमें भेद होता है।

६. समभिरूढनय

लिङ्ग आदिका भेद न होनेपर भी शब्दभेदसे अर्थका भेद माननेवाला समभिरूढनय है। जहाँ शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेद नहीं मानता, वहाँ यह नय शब्दभेद द्वारा अर्थभेद स्वीकार करता है। यथा—इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द स्वर्गके स्वामी इन्द्रके वाचक हैं और एक ही लिङ्गके हैं; किन्तु ये तीनों शब्द उस इन्द्रके भिन्न-भिन्न धर्मोंको कहते हैं। जब आनन्द करता है तो इन्द्र कहा जाता है, शक्तिशाली होनेसे शक्र और पुरों—नगरोंको नष्ट करनेवाला होनेसे पुरन्दर कहलाता है। इस प्रकार यह नय पर्यायभेदसे शब्दके भिन्न अर्थ मानता है।

७. एवंभूतनय

जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है, वह क्रिया जब हो रही हो तभी उस पदार्थको ग्रहण करनेवाला वचन और ज्ञान एवंभूतनय कहलाता है। समभिरूढ़ नय जहाँ शब्दभेदके अनुसार अर्थभेद करता है, वहाँ एवंभूतनय व्युत्पत्त्यर्थके घटित होनेपर ही शब्दभेदके अनुसार अर्थभेद करता है। यह मानता है कि जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है। तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही उस शब्दका वह अर्थ हो सकता है, अन्य समयमें नहीं। यथा-पूजा करते समय ही पुजारी कहना, अन्य समयमें उस व्यक्तिको पुजारी न कहना एवंभूतका विषय है।

ये सातों नय परस्पर सापेक्ष अवस्थामें ही सम्यक् माने जाते हैं, निरपेक्ष अवस्थामें दुर्नय। इनमें नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय कहलाते हैं और शेष तीन शब्दनय। इन नयोंका उत्तरोत्तर अल्पविषय होता गया है। इन नयोंमें प्रारंभके तीन द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक हैं।

स्याद्वाद

स्याद्वादशब्दकी निष्पत्ति 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदोंके योगसे हुई है। 'स्यात्' विधिलिङ्में बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। इसमें महान् उद्देश्य और वाचक शक्ति निहित है। इसे सत्यका चिह्न या प्रतीक कहा गया है; साथ ही इसे सुनिश्चित दृष्टिकोणका वाचक माना गया है। शब्दका यह स्वभाव है कि वह किसी निश्चित अर्थका अवधारण कर अन्यका प्रतिषेध करे, किन्तु 'स्यात्' अन्यके प्रतिषेधपर अंकुश लगाता है। शब्द स्वार्थका प्रतिपादन तो करता ही है, पर शेषका निषेध भी कर देता है, जिससे वस्तुस्थितिका चित्राङ्कन नहीं हो पाता। 'स्यात्' शब्द इसी निरंकुशताको रोकता है, और न्याय्यवचनपद्धतिकी सूचना देता है।

यह निपात है और निपात द्योतक एवं वाचक दोनों प्रकारके होते हैं। अत: 'स्यात्' शब्द अनेकान्त सामान्यका वाचक होता है और जब यह अनेकान्तका 'द्योतन' करता है, तब 'अस्ति' आदि पदोंके प्रयोगसे जिन अस्तित्व आदि धर्मोंका प्रतिपादन किया जा जाता है, वह अनेकान्तरूप है; यह द्योतित होता है। संक्षेपमें स्याद्वादका अर्थ 'कथञ्चित् कथन करना है। वस्तुके वास्तविक रूपकी प्राप्ति स्याद्वाद द्वारा ही होती है।

स्याद्वाद सुनय निरूपण करनेवाली विशिष्ट भाषापद्धत्ति है। यह निश्चित रूपसे बतलाता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली नहीं है, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी समाहित हैं। यथा—"स्यात् रूपवान् घट:" कहनेपर यह अर्थ

निकलता है कि समस्त घड़ेपर रूपका ही अधिकार नहीं है, अपितु घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्त धर्म हैं। रूप भी उन अनन्त धर्मोंमेंसे एक है। रूपकी विवक्षा होनेसे अभी रूप हमारी दृष्टिमें मुख्य है और वही शब्द द्वारा वाच्य बन रहा है, पर रसकी विवक्षा होनेपर रूप गौणराशिमें सम्मिलित हो सकता है और रस प्रधान बन जाता है। इस प्रकार शब्द गौण-मुख्यभावसे अनेकान्त अर्थके प्रतिपादक हैं। इसी सत्यका उद्घाटन 'स्यात्' शब्द करता है।

वस्तुतः 'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है, जो कहे जानेवाले धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मोंके अधिकारका संरक्षक है। अतः इस शब्दका अर्थ शायद सम्भावना या कदाचित् नहीं है। 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें अस्तिपदका वाच्य 'अस्तित्व' अंश घटमें सुनिश्चिरूपसे वर्तमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्वकी सुदृढ़ स्थितिका सूचक है और नास्तित्व आदि सहयोगी धर्मोंका मौन स्वीकर्त्ता है, यह स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार घटमें निवास करता है उसी प्रकार परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिको अपेक्षासे उसका भाई नास्तित्व धर्म भी रहता है। वस्तुमें रहनेवाले अनन्तधर्मोंमेंसे 'स्यात्' शब्द किसी एक धर्मकी ओर मुख्यरूपसे इंगितकर अवशेष धर्मोंके सद्भावकी सूचना देता है।

सत्यका दर्शन स्याद्वादकी भूमिपर ही हो सकता है। यह अपेक्षाविशेषसे अन्य अपेक्षाओंको निराकृत न करते हुए वस्तुका प्रतिपादन करता है।

जब हम किसी वस्तुको 'सत्' कहते हैं उस समय उस वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षासे ही उसे 'सत्' कहा जाता है। अपनेसे भिन्न अन्यवस्तुके स्वरूपकी अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु 'असत्' है। 'सत्' और 'असत्' सापेक्षिक हैं। जिस अपेक्षासे वस्तु 'सत्' है उस उपेक्षासे 'असत्' नहीं है और जिस अपेक्षासे 'असत्' है उस अपेक्षासे 'सत्' नहीं है। वस्तुमें अनेकधर्मता विद्यमान है। वक्ता जिस धर्म-का कथन करनेकी विवक्षा करता है, उस धर्मका वह किसी दृष्टिविशेषसे प्रतिपादन कर देता है। एक ही दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु विवेच्य नहीं हो सकती है।

वस्तुतः प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसमें अनेक धर्म-गुण-स्वभाव और अंश विद्यमान हैं। जो व्यक्ति किसी भी वस्तुको एक ओरसे देखता है उसकी दृष्टि एक धर्म या गुणपर ही पड़ती है। अतः वह उसका सम्यक्द्रष्टा नहीं कहा जा सकता। सम्यक्द्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिए और उसके धर्मों, अंशों और स्वभावोंपर दृष्टि डालनी चाहिए। सिक्केकी एक ही पीठिका देखनेवाला व्यक्ति सिक्केके यथार्थरूपसे निर्णय नहीं कर सकता है। पर जब उसकी दृष्टि सिक्केकी दूसरी पीठिकापर पड़ती है, तो वह पूर्व पीठिका-

के स्वरूपका समन्वय किये बिना उसका यथार्थ निर्णायक नहीं माना जा सकता है।

जो व्यक्ति किसी वस्तुके एक ही अंश, धर्म अथवा गुण,स्वभावको देखकर उसे एक ही स्वरूप मानता है, दूसरे स्वरूपको स्वीकार नहीं करता, उस व्यक्तिकी एकान्त धारणा मानी जाती है। पर जब वही व्यक्ति अपनी दृष्टिको उदार बना लेता है और दूसरे पक्षका भी अवलोकन करने लगता है तो उसकी दृष्टि अनेकान्तात्मक हो जाती है।

इस बातके स्पष्टीकरणके लिये हाथी और जन्मान्ध व्यक्तियोंका उदाहरण लिया जा सकता है। एक वनमें एक हाथी निकला और जिन जन्मान्ध व्यक्तियोंने कभी हाथीका दर्शन नहीं किया था वे उसका दर्शन करनेके लिये गए। कुछ व्यक्तियोंने उस हाथीकी सूँड़का स्पर्श किया, कुछने उसके पेटका स्पर्श किया, कुछने पूंछका स्पर्श किया, कुछने कानका स्पंश किया और कुछने पैरका स्पर्श किया। वे जब आपसमें मिले तो हाथीके स्वरूपको लेकर आपसमें विवाद करने लगे। जिन्होंने हाथीके कानका स्पर्श किया वे कहने लगे कि हाथी सूपके समान होता है। जिन्होंने पूंछका स्पर्श किया था वे कहने लगे हाथी झाड़ूके समान होता है। जिन्होंने सूँड़का स्पर्श किया था वे कहने लगे कि हाथी मूसलके समान होता है। जिन्होंने पैरका स्पर्श किया था वे कहने लगे हाथी खम्भेके समान होता है। इस प्रकार अपनी-अपनी बातको लेकर वे सभी जन्मान्ध व्यक्ति आपसमें लड़ने-झगड़ने लगे और एक दूसरेसे शत्रुता धारणकर ईर्ष्यालु बन गये। एक नेत्रवाला व्यक्ति वहाँ आया और उसने उन लड़ते-झगड़ते हुए जन्मान्ध व्यक्तियोंको समझाया कि आप सभी लोगोंका कहना आंशिक रूपमें सत्य है। जिन्होंने पूंछका स्पर्श किया है वे झाड़ूके समान कहते हैं। कानका स्पर्श करनेवाले व्यक्ति हाथीको सूपके समान बतलाते हैं। सूँड़का स्पर्श करनेवाले व्यक्ति हाथीको मूसलके समान और पैरका स्पर्श करनेवाले उसे खम्भेके समान कहते हैं वस्तुतः कान, नाक, पूंछ और पैर आदि सभी अंगोंके सापेक्षिक मिला देनेपर हाथीका स्वरूप खड़ा हो सकता है। इसी प्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तुके स्वरूपका निर्णय भी सापेक्षिक दृष्टियों द्वारा ही सम्भव है।

सर्वथा एकान्तका त्यागकर अनेकान्तको स्वीकार कर ही वस्तुका कथन किया जा सकता है। वस्तु अनेक विरोधी धर्मोका समूहरूप है। इन अनेक धर्मोंका निरूपण एक साथ सम्भव नहीं है, यतः अनेक धर्मोको एक साथ जाना तो जा सकता है किन्तु एक शब्द एक समयमें अनेक धर्मोका कथन नहीं कर सकता है। शब्दकी शक्ति वस्तुके एक ही धर्म-गुणके व्याख्यान तक सीमित

है। दूसरी बात यह है कि शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है। वक्ता वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मका मुख्यतासे व्यवहार करता है। यथा देवदत्त-को एक ही समयमें उसका पिता भी बुलाता है और पुत्र भी। पिता उसे पुत्र कहकर और पुत्र उसे पिता कहकर बुलाता है। देवदत्त यहाँ न केवल पिता ही है न केवल पुत्र ही, किन्तु वह पिता भी है और पुत्र भी। अतएव पिताकी दृष्टि-से देवदत्तका पुत्रत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण है और पुत्रकी दृष्टिसे देवदत्तमें पितृत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं। क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तुमेंसे जिस धर्मकी विवक्षा होती है वह धर्म या गुण मुख्य कहलाता है और इतर धर्म गौण। अतः वस्तु अनेकान्तात्मक है या अनन्तसहभावी गुणों—और अनन्तक्रमभावी पर्यायोंका समूह है। वस्तुका वस्तुत्व इतनेमें ही परिसमाप्त नहीं होता, वह इससे भी विशाल है।

स्पष्टताके लिये यों कहा जा सकता है कि घट सामने है। आँखोंसे घटका रूप और आकार दिखलाई पड़ता है। पर घट केवल रूप और आकारमात्र नहीं है। घटको ऊँचा उठानेपर या उसे इधर-उधर उठानेपर उसके अन्य धर्म—गुण प्रगट होते हैं। अतः घटका पूरा स्वरूप समझनेके लिये किसी ऐसे तत्त्वज्ञानीकी शरण लेनी होगी जो घटमें रहनेवाले रूप-रस-गन्ध और स्पर्श आदि स्थूल इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाले तथा इन्द्रियोंसे प्रतीत न होनेवाले अनन्त गुणोंका निरूपण कर सके। घटमें अनन्तसहभावी गुणोंके साथ अनन्तक्रम-भावी पर्यायें भी विद्यमान हैं। अतः सहभावी और क्रमभावी अनन्तगुणपर्याय-के जान लेनेपर ही वस्तुका स्वरूप पूर्ण होता है। यही कारण है कि वस्तुमें अनेक विरोधी-सत्ता, असत्ता, नित्यता, अनित्यता, एकता, अनेकता प्रभृति विभिन्नगुणपर्याय विद्यमान हैं।

अनेकधर्मात्मक वस्तुको पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणोंसे समझना और विभिन्न दृष्टिकोणोंसे संगत होनेवाले किन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक धर्मों-को प्रामाणिक रूपसे स्वीकार करना अनेकान्तवाद है। साधारणतः अनेकान्त-सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है। पर वास्तवमें अनेकान्तसिद्धान्त व्यक्त करने-वाली सापेक्ष भाषापद्धति ही स्याद्वाद है।

यह हमें ज्ञात है कि प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म विद्यमान है और उन समस्त धर्मोंका अभिन्न समुदाय ही वस्तु है। इस वस्तुस्वरूपको व्यक्त करनेके लिये भाषाकी आवश्यकता है। यह अनेकान्तकी भाषा ही स्याद्वाद है।

भाषा शब्दोंसे बनती है और शब्द धातुओंसे निष्पन्न हैं। एक धातु भले

ही अनेकार्थक मानी जाय पर एक कालमें और एक ही प्रसंगमें वह अनेक अर्थों का द्योतन नहीं कर सकती। अतः धातुओंसे निष्पन्न शब्द भी एक ही गुणधर्मका बोध कराता है। ऐसा कोई एक शब्द नहीं, जो एक साथ अनेक धर्मों का प्रतिपादन कर सके। अतएव यह आवश्यक है कि वस्तुके अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मोंका सापेक्षात्मक भाषा द्वारा कथन किया जाय।

यह पूर्वमें ही बताया जा चुका है कि स्याद्वाद वस्तुमें रहनेवाले सापेक्षिक धर्मोंका दृष्टिभेदसे कथन करता है। 'स्यात्' शब्द धातुजनित न होकर अव्यय-निष्पन्न है। यह समस्त विरोधियोंमें समझौता कर हमें सम्पूर्ण सत्यकी प्रतीति कराता है।

सप्तभङ्गी

वस्तुकी अनेकान्तात्मकता और भाषाके निर्दोष प्रकार स्याद्वादके कथनके अनन्तर सप्तभङ्गीके स्वरूपपर विचार करना भी आवश्यक है। सातभङ्ग या वस्तुविचारकी दृष्टियाँ अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूपके विश्लेषणमें आवश्यक हैं। एक वस्तुमें प्रश्नके वशसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अविरुद्ध विधि और निषेधकी कल्पनाको सप्तभङ्गी कहते हैं।[1] ये सातभङ्ग निम्न प्रकार है :—

१. विधि कल्पना।
२. प्रतिषेध कल्पना।
३. क्रमसे विधि-प्रतिषेध कल्पना।
४. युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।
५. विधि कल्पना और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।
६. प्रतिषेध कल्पना और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।
७. क्रम और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।

इस प्रकार विशाल और उदारताकी दृष्टिसे वस्तुके विराट् रूपको देखा और समझा जा सकता है। यों तो वस्तुमें अनन्तधर्म रहनेके कारण और एक-एक धर्मके विधि-निषेधकी अपेक्षा अनन्तसप्तभंगियाँ सम्भव हैं। पर विधि-निषेधात्मक रूपमें सात विकल्प रूप ही सम्भव हैं। ये सात ही भङ्ग क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है[2] कि वस्तुके सम्बन्धमें जिज्ञासा सात प्रकारकी होती

---

१. "प्रश्नवशावेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी"
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृष्ठ १-६, पृष्ठ ३६.

२. अष्टसहस्री (नाथारंग पाण्डुरंग) पृष्ठ १२५.

हैं और जिज्ञासा सात ही प्रकारकी क्यों होती हैं ? इसके समाधानरूपमें यही कहा जा सकता है कि संशय सात प्रकारके होते हैं और सात प्रकारके संशय होनेका कारण संशयकी विषयभूत वस्तुके धर्म सात प्रकारके हैं। अतएव अपुनरुक्त रूपसे सात ही भङ्ग सम्भव हैं। आशय यह है कि सप्तभङ्गीन्यायमें मनुष्यस्वभावकी तर्कमूलक प्रवृत्तिकी गहरी छानबीन की जाती है। जो सत्, असत्, उभय और अनुभव ये चार कोटियाँ तत्त्वविचारके क्षेत्रमें प्रचलित हैं और उनका अधिक-से-अधिक विकास सात रूपमें ही सम्भव है। सत्य त्रिकाला बाधित होता है, अतः तर्कजन्य प्रश्नोंका समाधान सप्तभंगी प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है।

प्रत्येक वस्तुके स्वतन्त्र गुण और पर्याय हैं और ये प्रतिषेध सापेक्ष हैं अर्थात् किसी भी वस्तुका प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे किया जाता है। सप्तभङ्गीन्याय वस्तुके यथार्थ स्वरूप तक पहुँचानेका साधन है।

प्रमाणसप्तभङ्गी एवं नयसप्तभङ्गी

सप्तभङ्गीके दो भेद हैं:—(१) प्रमाणसप्तभङ्गी और (२) नयसप्तभङ्गी। प्रमाण सकलवस्तुग्राही होता है और नय एकदेशग्राही। जहाँ वक्ता एक धर्मके द्वारा पूर्ण वस्तुका बोध कराना चाहता है वहाँ उसका वाक्य प्रमाण-वाक्य कहा जाता है। यदि वह एक ही धर्मका बोध कराना चाहता है और वस्तुके वर्त्तमान शेष धर्मोंके प्रति उसकी दृष्टि उदासीन है, तो उसका वाक्य नयवाक्य कहा जाता है। साधारणतः जितना भी वचनव्यवहार है, वह नयके अन्तर्गत है। अतः नयसप्तभङ्गीकी प्रमुखता है। यों तो अनेकधर्मात्मक वस्तुका बोध करानेके हेतु प्रवर्तमान शब्दकी प्रवृत्ति दो रूपसे होती है:—(१) क्रमशः और (२) यौगपद्य। तीसरा वचनमार्ग नहीं है। जब वस्तुमें वर्त्तमान अस्तित्त्वादि धर्मोंकी काल आदिके द्वारा भेदविवक्षा होती है, तब एक शब्दमें अनेक अर्थोंका ज्ञान करानेकी शक्तिका अभाव होनेसे क्रमशः कथन होता है और जब उन्हीं धर्मोंमें काल आदिके द्वारा अभेदविवक्षा होती है तब एक शब्दको एक धर्मका बोध करानेकी मुख्यतासे तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्डरूपसे युगपत् कथन हो जाता है। यह युगपत् कथन सकलादेश होनेसे प्रमाण कहलाता है और क्रमशः कथन विकलादेश होनेसे नय कहलाता है। सकलादेश और विकलादेश दोनोंमें ही सप्तभंगी होती है। सकलादेशमें होनेवाली सप्तभङ्गी प्रमाणसप्तभङ्गी है और विकलादेशमें होने-वाली सप्तभङ्गी नयसप्तभङ्गी है। प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गीके

प्रयोगमें वक्ताकी विवक्षाके अतिरक्त और कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही सप्तभङ्गीमें "स्यादस्त्येव जीवः" यह उदाहरण प्राप्त होता है। मतान्तरसे "स्यात् जीवः, स्यात् जीव एव" यह प्रमाणवाक्यका और "स्यादस्त्येव जीवः" यह नयवाक्यका उदाहरण है।

सप्तभङ्गोंकी सिद्धि

प्रश्न सात प्रकारके होनेके कारण एक वस्तुमें सप्तभङ्ग ही होते हैं, क्योंकि सातसे अतिरिक्त आठवें भङ्गका निमित्तभूत आठवाँ प्रश्न संभव नहीं है। प्रश्नके अभावमें न जिज्ञासा ही सम्भव है न संशयादि। यहाँ घटके साथ सातभङ्गी घटित करते हैं :—

१. स्यादस्त्येव घटः।
२. स्यान्नास्त्येव घटः।
३. स्यादवक्तव्य एव घटः।
४. स्यादुभयो घटः—स्यादस्ति नास्ति घटः।
५. स्यादस्ति अवक्तव्य एव घटः।
६. स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव घटः।
७. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य एव घटः।

प्रथम-द्वितीय भंगसिद्धि

'स्यादस्ति एव घटः' इस वाक्यमें घटशब्द विशेष्य होनेसे द्रव्यवाची है और अस्तिशब्द विशेषण होनेसे गुणवाची है। इन दोनोंमें विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध बतलानेके लिये एवकार रखा गया है। यदि 'अस्ति एव घटः'—घट सत् ही है', इतना ही कहा जाय, तो घटमें असत् आदि अन्य धर्मोकी निवृत्तिका प्रसंग आयगा। अतः घटमें अन्य धर्मोंका अस्तित्व बतलानेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है।

यहाँ 'स्यात्' शब्दसे सामान्यतः अनेकान्तका ग्रहण हो जाता है, पर विशेषार्थीको विशेष शब्दोंका प्रयोग करना ही होता है। यथा—वृक्ष शब्दसे सभी प्रकारके वृक्षोंका ग्रहण होनेपर भी किसी विशेष वृक्षका कथन करनेके लिये 'शिंशपा' आदि शब्दोंका प्रयोग करना होता है।

'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक होता है। वह किसी वाचकशब्दके निकटमें हुए बिना इष्ट अर्थका द्योतन नहीं कर सकता। अतः उसके द्वारा प्रकाश्य धर्मके आधारभूत अर्थका कथन करनेके लिये इतर शब्दोंका प्रयोग किया जाता

है। वस्तुतः गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भंगोंका प्रयोग सार्थक होता है। यथा—द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणतामें पहला घटित होता है।

पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिक नयकी गोणतामें दूसरा भंग घटित होता है। प्रधानता और अप्रधानता शब्दके अधीन है। जो शब्दके द्वारा विवक्षित हो, वह प्रधान है और जो शब्दके द्वारा नहीं कहा गया है और अर्थसे गम्यमान होता है वह अप्रधान है।

प्रथम भंगके प्रत्येक पदकी सार्थकता 'घट हो है' ऐसा अवधारण करनेपर घटसे अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके अभावका प्रसंग आता है। अतः प्रथम भंगमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करनेसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल-स्वभावकीअपेक्षासे घटका अस्तित्व सिद्ध होता है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे घटके नास्तित्व आदि धर्म प्रतिफलित होते हैं। इस तरह स्वचतुष्टयको दृष्टिसे घट है और पर-चतुष्टयकी अपेक्षा घट नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है। द्वितीय भंगके कथनमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी प्रधानता है। इसी चतुष्टयको मुख्यकर तथा द्रव्यार्थिक नयको गौणकर कथन करनेसे द्वितीय भंग सिद्ध होता है।

तृतीय भंग स्याद् अवक्तव्यसिद्धि

जब दो गुणोंद्वारा एक अखण्ड अर्थको अभिन्न रूपसे—अभेदरूपसे एक साथ कथन करनेकी इच्छा होती है, तो तीसरा अवक्तव्य भंग होता है। यथा—प्रथम और द्वितीय भंगमें एक कालमें एक शब्दसे एक गुणके द्वारा क्रमशः एक समस्त वस्तुका कथन हो जाता है। उसी प्रकार जब दो प्रतियोगी गुणोंके द्वारा अवधारण रूपसे एक साथ एक कालमें एक शब्दसे समस्त वस्तुके कहनेकी इच्छा होती है, तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है, क्योंकि उस प्रकारका न तो कोई शब्द ही है और न अर्थ हो। सारांश यह है कि जब किसी वस्तुमें अस्ति और नास्ति धर्म युगपत् विवक्षित होते हैं, उस समय दोनों धर्मोंको एक साथ कहनेवाले शब्दका अभाव रहता है, क्योंकि शब्दोंमें क्रमशः ज्ञान करानेकी शक्ति होती है। अतः 'अस्ति' और 'नास्ति' इन दोनों धर्मोंकी एक साथ प्रधानता होनेपर तृतीय भंग 'स्यात् अवक्तव्य एव घटः—घड़ा कथंचित् अवक्तव्य है, बनता है।

कुछ समीक्षकोंका अभिमत है कि शब्दमें वस्तुके तुल्यबलवाले दो धर्मोंका मुख्यरूपसे युगपत् कथन करनेकी शक्यता न होनेसे निर्गुणत्वका प्रसंग प्राप्त

होने एवं विवक्षित उभय धर्मोंका प्रतिपादन न हो सकनेके कारण वस्तु अव-क्तव्य है।

सामान्यत: अवक्तव्य भंग रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है, पर यथार्थत: वस्तुका स्वरूप कुछ इतना संश्लिष्ट एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म है कि शब्द उसके अखण्ड अन्तस्तल तक नहीं पहुंच पाता, क्योंकि शब्द की अपनी सीमा है। फिर भी किसी प्रकार उसका वर्णन तो किया ही जाता है। पहले वस्तुका अस्तित्व वर्णित होता है, पश्चात् जब वहाँ अपर्याप्तता एवं अपूर्णताकी अनुभूति होती है, तो उसका नास्तिरूप सामने आता है। पर जब वहाँ भी वस्तु अपूर्ण प्रतीत होती है और शब्दशक्तिकी अक्षमता दिखलायी पड़ती है, तो वस्तु अवक्तव्य, अनिर्वचनीय या अव्याकृत कह दी जाती है। यत: शब्दके द्वारा पदार्थके दो धर्मोंका एक साथ कथन सम्भव नहीं। क्योंकि शब्द धातुओंसे बनते हैं एवं धातु क्रियाके वाचक हैं और क्रिया एक समयमें एक ही होती है, दो या तीन नहीं। अत: दो धर्मोंके एक साथ प्रतिपादन करनेका जब समय उपस्थित होता है, तब यह कहा जाता है कि पदार्थ अवक्तव्य है और यह अवक्तव्य भी अपेक्षाकृत है। इसके भी पूर्व 'स्यात्' जोड़ा गया है। अत: मूल सत्ताके विषयमें एक समयमें अस्तित्व एवं नास्तित्व, जो सत्ताके दोनों समान धर्म हैं, किसी एक शब्दप्रत्ययके द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकते। 'अत: स्यात् अवक्तव्य' भंगका मानना आवश्यक है।

चतुर्थभंगसिद्धि : स्यादस्तिनास्ति

अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंका क्रमसे एक साथ कथन करनेपर चतुर्थ-भंग बनता है। इस भंगमें दोनों नयोंकी प्रधानता रहती है। इसलिये कहा जाता है कि कथंचित् घट अस्ति-नास्तिरूप ही है। यदि वस्तुको सर्वथा उभयात्मक माना जाय, तो सत् और असत्‌में परस्पर विरोध होनेसे उभय दोषका प्रसंग आता है। जिस प्रकार ठंडाईमें बादाम, सोंफ, गोलमिर्च आदि विभिन्न द्रव्योंके अंशोंकी विशेष प्रतिपत्ति होती है, उसी प्रकार अस्तित्व-नास्तित्व धर्मोंके सम्बन्धसे जात्यन्तररूप भंगमें भी सत्-असत् इन दोनों धर्मोंकी प्रतिपत्ति होती है।

पञ्चमभंग स्यादस्ति अवक्तव्यसिद्धि

इस भंगकी सिद्धिमें द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिकनयकी अप्रधानता होती है। व्यस्त द्रव्य एवं एक साथ अर्पित द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षासे पंचमभंगकी प्रवृत्ति होती है। यथा—'स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च एव घट:'—घड़ा कथंचित् अस्तिरूप और अवक्तव्यरूप ही है।

अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायात्मक वस्तुके किसी विशेष द्रव्य अथवा पर्याय विशेषकी विवक्षामें एक घट अस्ति है। वही पूर्व विवक्षा तथा द्रव्यसामान्य

और पर्यायसामान्य या दोनों युगपत् भेदविवक्षामें वचनोंसे अगोचर होकर अवक्तव्य हो जाना है। यह भंग प्रथम और तृतीय भंगके मेलसे बनता है।

षष्ठभङ्ग: स्यान्नास्ति अवक्तव्यसिद्धि

व्यस्त पर्याय और समस्त द्रव्यपर्यायकी अपेक्षा 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' भङ्ग बनता है। वस्तुगत नास्तित्व जब अवक्तव्यके साथ अनुबद्ध होकर विवक्षित होता है, तब यह भङ्ग निष्पन्न होता है। नास्तित्व पर्यायकी दृष्टिसे है और पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं:—१. सहभाविनी और २. क्रमभाविनी। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि सहभाविनी तथा क्रोध, मान, माया, लोभ शैशव, यौवन, वार्धक्य आदि क्रमभाविनी पर्यायें हैं। पर्यायदृष्टिसे गत्यादि और क्रोधादिपर्यायोंसे भिन्न कोई एक अवस्थायी जीव नहीं हैं। किन्तु ये पर्यायें ही जीव हैं। जो वस्तुत्वरूपसे सत् है वही द्रव्यांश है तथा अवस्तुत्वरूपसे 'असत्' है वह पर्यायांश है। इन दोनोंकी युगपत् अभेदविवक्षामें वस्तु अवक्तव्य है।

यह भङ्ग द्वितीय और तृतीय भङ्गके मेलसे बना है। अतः घट कथञ्चित् नास्ति और अवक्तव्य ही है। यह कथन पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक दोनोंकी अप्रधानताकी अपेक्षासे किया गया है।

सप्तमभङ्ग: स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यसिद्धि

पृथक्-पृथक् क्रमसे अर्पित तथा युगपत् अर्पित द्रव्यपर्यायकी अपेक्षा वस्तु स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य है। किसी द्रव्यविशेषकी अपेक्षा अस्तित्व और पर्यायविशेषकी अपेक्षा नास्तित्व होता है तथा किसी द्रव्यपर्यायविशेष एवं द्रव्यपर्याय सामान्यकी एक साथ विवक्षामें वही अवक्तव्य हो जाता है। यह सप्तम भङ्ग प्रथम, द्वितीय और तृतीय भङ्गके मेलसे बना है।

कुछ चिन्तक उपर्युक्त प्रकारसे स्यात् अवक्तव्यको तीसरा और स्यादस्ति-नास्तिको चौथा भङ्ग मानते हैं। पर कुछ स्यादस्ति-नास्तिको तीसरा और स्यादवक्तव्यको चौथा भङ्ग स्वीकार करते हैं।

निष्कर्ष

स्याद्वादकी नींव अपेक्षा है और अपेक्षा वहाँ रहती है जहाँ वास्तविक और ऊपरसे विरोध दिखलाई दे। विरोध वहाँ होता है जहाँ निश्चय रहता है। दोनों संशयशील अवस्थाओंमें विरोध नहीं बन सकता। स्याद्वादका प्रयोग स्थान अनेकान्तात्मक वस्तु है, अतः वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेके लिये अनेकान्त

दृष्टि अपेक्षित है। स्याद्वाद उस दृष्टिको वाणीद्वारा व्यक्त करनेकी भाषापद्धति है। वह निमित्त या अपेक्षाभेदसे वस्तुगत विरोधी धर्म-युगलोंका विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है वह असत् भी है, पर जिस रूपमें सत् है उस रूपमें असत् नहीं। स्व-रूपकी दृष्टिसे सत् है और पर-स्वरूपकी दृष्टिसे असत् है। दो निश्चित दृष्टिबिन्दुओंके आधारपर वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला वाक्य संशयरूप हो ही नहीं सकता।

अर्थनियामक निक्षेप

संकेत-कालमें जिस वस्तुके लिये जो शब्द प्रयुक्त होता है वह वहीं रहे तो कोई समस्या नहीं आती; किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः कुछ समयके पश्चात् शब्द अपने लिये विशाल क्षेत्रका निर्माण करते हैं। इससे नियत शब्दकी इष्टार्थ-सम्बन्धी जानकारी देनेकी क्षमता समाप्त हो जाती है। इस समस्याका समाधान निक्षेपपद्धति द्वारा किया गया है। यह भाषा-सम्बन्धी नीति है। यतः विश्वके व्यवहार और ज्ञानके आदान-प्रदानका मुख्य साधन भाषा है। भाषाके बिना मनुष्यका व्यवहार चल नहीं सकता और न विचारोंका आदान-प्रदान ही हो सकता है। मनुष्यके पास यदि व्यक्त भाषाका साधन न होता, तो उसे आज जो सभ्यता-संस्कृति एवं तत्त्वज्ञानकी अमूल्य निधि प्राप्त है उससे वह वंचित रह जाता। भाषा केवल बोलनेका ही साधन नहीं है अपितु विचार करनेका भी माध्यम है। भाषाका शरीर वाक्योंसे निर्मित होता है और वाक्य शब्दोंसे। प्रत्येक शब्दके अनेक अर्थ सम्भव हैं। वह प्रसंग आशय, विषय, स्थान एवं वातावरणके अनुसार विभिन्न प्रकारके अभिप्रायोंको व्यक्त करता है। अतएव शब्दके मूल और उचित अर्थकी जानकारी निक्षेपविधि द्वारा सम्पन्न की जाती है।

मानव-विचारधाराके कुछ ऐसे दुरूह प्रसंग हैं, जो सामान्यतः व्यक्तियोंके मस्तिष्कमें सुलभतासे प्रवेश नहीं कर पाते। इसलिये कुछ चिन्तकोंने उन प्रसंगों का व्यक्तीकरण कर उन्हें बोधगम्य बनानेका प्रयास किया है। इसके लिए उन्हें कुछ प्रतीकोंका आश्रय लेना पड़ा। इन प्रतीकोंकी संज्ञा ही निक्षेप है।

इन निक्षेपों द्वारा प्रकृतिके कुछ तथ्योंको उनकी अनुपस्थितिमें दूसरोंको उनका अनुभव कराया जाता है। निक्षेपों द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष तो नहीं होता, पर सादृश्यकी स्मृतियोंके जागरण द्वारा व्यक्तियोंकी योग्यतानुसार वस्तुके स्वरूपके बोधमें बहुत सीमा तक सहायक अवश्य होता है। इस प्रतीकात्मक व्यक्तीकरणकी प्रकृतिके कारण साहित्यमें नानाविधाएँ आविष्कृत हुईं और यही प्रतीकात्मक व्यञ्जना-प्रणाली निक्षेपके रूपमें प्रस्तुत हुई। वस्तुतः प्रस्तुत

अर्थका बोध देनेवाली शब्द-रचना या अर्थका शब्दोंमें आरोप निक्षेप है। अप्रस्तुत अर्थको दूर रखकर प्रस्तुत अर्थका बोध कराना ही इसका लक्ष्य है। यह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानको दूर करता है।

नय और निक्षेप

नय और निक्षेपमें विषय-विषयीभावका सम्बन्ध है। विषय-विषयी-सम्बन्ध तथा इस सम्बन्धकी क्रिया नय द्वारा ज्ञात की जाती है। नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय है और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका। भावमें अन्वय नहीं रहता उसका सम्बन्ध केवल वर्तमान पर्यायसे होता है। अतः यह पर्यायार्थिक नयका विषय है। यों तो नय और निक्षेप दोनों ही अर्थबोधके साधन हैं।

निक्षेपकी उपयोगिता

निक्षेपकी विवक्षित अर्थको अवगत करनेकी दृष्टिसे महती उपयोगिता है। निक्षेप वक्ताको वस्तुके विवक्षित अर्थका बोध कराता है। भाषा और भावकी संगति इसीके द्वारा गठित होती है। निक्षेपको समझे बिना भाषाके प्रास्ताविक अर्थको नहीं समझा जा सकता है। अर्थसूचक शब्दके पहले अर्थकी स्थिति सूचित करनेवाला जो विशेषण लगता है, यही इसकी विशेषता है। अतः सविशेषणभाषाका प्रयोग ही निक्षेप है।

अर्थस्थितिके अनुरूप ही शब्द-रचना या शब्द-प्रयोगकी शिक्षा ही अर्थ-बोधका साधन हैं। अतः अपेक्षादृष्टिको ध्यानमें रखना आवश्यक है। निक्षेप-दृष्टि अपेक्षादृष्टि ही है। निक्षेपकी उपयोगिता निम्न प्रकार सिद्ध है:—

१. निश्चय या निर्णयको प्राप्त करना।
२. सिद्धान्तप्रतिपादनकी क्षमता।
३. प्रकृत और अप्रकृत अर्थका बोध।
४. संशयका निराकरण।
५. नयदृष्टिसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ कथन।
६. व्यवहारसिद्धिका सद्भाव।
७. विधि—निर्णयका सद्भाव।

निक्षेपके भेद

शब्दसे अर्थका ज्ञान होनेमें निक्षेप निमित्त है। निक्षेपके अनन्त भेद सम्भव हैं, पर प्रधानरूपसे चार भेद हैं :—(१) नामनिक्षेप, (२) स्थापनानिक्षेप, (३) द्रव्यनिक्षेप और (४) भावनिक्षेप।

१. नामनिक्षेप

द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न कर लोक-व्यवहारके लिये वक्ताकी इच्छासे जो नामकरण किया जाता है, उसे नामनिक्षेप कहते हैं। यथा—एक ऐसा व्यक्ति है, जिसमें पुजारीका एक भी गुण नहीं, पर किसीने उसका नाम पुजारी रख दिया है अतः वह पुजारी कहलाता है। नामनिक्षेपमें वस्तुके गुणधर्मपर विचार नहीं किया जाता, केवल लोक-व्यवहारकी सुविधाके लिये शब्द रुढ़ कर लिया जाता है। दूसरा उदाहरण राजाका लिया जा सकता है किसीने अपने पुत्रका नाम राजा रख लिया है, पर वस्तुतः राजाका उसमें कोई गुण नहीं है। यह नाम लोक-व्यवहार चलानेके लिये ही रखा गया है।

२. स्थापना-निक्षेप

किसी वस्तुमें अन्य वस्तुकी स्थापना करनेको स्थापना-निक्षेप कहते हैं। स्थापना-निक्षेपके दो भेद हैं :—(१) तदाकार या सद्भावनानिक्षेप और (२) अतदाकार या असद्भावना-निक्षेप। पाषाण या धातुके बने हुए तदाकार प्रतिबिम्बमें ऋषभनाथ या पार्श्वनाथकी स्थापना करना तदाकार स्थापना-निक्षेप है। जो मुख्य वस्तुका दर्शन करना चाहता है उसे उसकी प्रतिमाको देखकर उसमें उसकी बुद्धि होती है, क्योंकि दोनोंमें कथञ्चित् समानता पायी जाती है। ऋषभदेवकी स्थापना उनकी प्रतिकृतिरूप प्रतिमामें की जाती है तो दर्शकको उस प्रतिमामें यह आदितीर्थंकर हैं ऐसी बुद्धि होती है।

मुख्य वस्तुके आकारसे शून्य वस्तुमात्रको अतदाकार-स्थापना कहते हैं। यथा—शतरंजके मोहरोंमें दूसरेके कथानानुसार ही राजा, मंत्री, घोड़ा, हाथी इत्यादिका बोध होता है। यों तो उन मोहरोंका आकार न राजाका है, न मंत्रीका है, न हाथीका है और न घोड़ेका है। पर व्यवहार चलानेके लिये इस-प्रकारकी स्थापना की गई है।

नामनिक्षेप और स्थापना-निक्षेपमें अन्तर—स्थापना-निक्षेपमें तो मनुष्य आदरभाव और अनुग्रहकी इच्छा करता है पर नामनिक्षेपमें नहीं। ऋषभ-देवकी प्रतिमामें व्यक्ति तीर्थंकर ऋषभदेव जैसा आदरभाव करता है, उसकी पूजा करता है और दर्शन एवं पूजन द्वारा आत्म-विशुद्धि भी प्राप्त करता है। किन्तु ऋषभदेव नामके व्यक्तिमें न तो वैसा आदरभाव ही होता है और न उस व्यक्तिसे आत्मविशुद्धिकी प्रेरणा ही प्राप्त होती है। संक्षेपमें नाम तो लोक-व्यवहारके चलानेके लिये है पर स्थापनानिक्षेप आत्म-प्रेरणा और आत्म-विशुद्धिके लिये है।

३. द्रव्यनिक्षेप

जो वस्तु भाविपर्यायके प्रति अभिमुख है उसे द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। इसके दो भेद हैं :—(१) आगम द्रव्यनिक्षेप और (२) नोआगम द्रव्यनिक्षेप। जीव-विषयक शास्त्रका ज्ञाता किन्तु उसमें अनुपयुक्त जीव आगम द्रव्यजीव है। नोआगमके तीन भेद हैं :—(१) ज्ञायकशरीर, (२) भावि और (३) तद्व्यतिरिक्त। उस ज्ञाताके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायकशरीर कहते हैं। भाविपर्यायको भावि नोआगम द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है। यथा भविष्यमें होनेवालेको अभी राजा कहना। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं:—कर्म और नोकर्म। कर्मके ज्ञानावरणादि अनेक भेद हैं और शरीरके पोषक आहारादिरूप पुद्गल द्रव्य नोकर्म हैं।

४. भावनिक्षेप

वस्तुकी वर्तमान पर्यायको भावनिक्षेप कहते हैं। वस्तुके पर्याय-स्वरूपको भाव कहा जाता है। यथा स्वर्गके अधिपति साक्षात् इन्द्रको इन्द्र कहना भाव-निक्षेप है।

अतीत और अनागत पर्याय भी स्वकालकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे भाव-रूप है। जो पर्याय पूर्वोत्तरकी पर्यायोंमें अनुगमन नहीं करती उसे वर्तमान कहते हैं। यही भावनिक्षेपका विषय है। द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षपके भी दो भेद हैं:—(१) आगम भावनिक्षेप और (२) नोआगम भावनिक्षेप। जीवादिविषयक शास्त्रका ज्ञाता जब उसमें उपयुक्त होता है तो उसे आगमभाव कहते हैं। और जीवादि पर्यायसे युक्त जीवको नोआगमभाव कहते हैं।

निक्षेपोंसे बोध्य अर्थका सम्यक् बोध होता है। आरम्भके तीन निक्षेप द्रव्यार्थिकनयके निक्षेप हैं और भाव पर्यायार्थिकनयका निक्षेप है।

प्रमाण, नय और निक्षेप तीनों ही ज्ञानसाधन हैं। इन तीनोंके द्वारा द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुकी पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

•

दशम परिच्छेद

धर्म और आचार-मीमांसा

जीवन और धर्म

जीवन जड़ नहीं, गतिमान है। अतः आवश्यक है कि उस गतिको उचित ढंगसे इस भाँति नियमित और नियन्त्रित किया जाय कि जीवनका अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो सके। जीवनका उद्देश्य केवल जीना नहीं है, बल्कि इस रूपमें जीवन-यापन करना है कि इस जीवनके पश्चात् जन्म और मरणके चक्रसे छुटकारा मिल सके। आज सुविचारित क्रमबद्ध और व्यवस्थित जीवन-यापनकी अत्यन्त आवश्यकता है। धर्माचरण व्यक्तिको लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्तिके साथ आकुलता और व्याकुलतासे मुक्त करता है। वह जीवन कदापि उपादेय नहीं, जिसमें भोगके लिए भौतिक वस्तुओंकी प्रचुरता समवेत की जाय। जिस व्यक्तिके जीवनमें भोगोंका बाहुल्य रहता है और त्यागवृत्तिकी कमी रहती है, वह व्यक्ति अपने जीवनमें सुखका अनुभव नहीं कर सकता। भोग जीवनका

स्वार्थपूर्ण और संकीर्ण दृष्टिकोण है। ऐसा जीवन उच्चतर आदर्शका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, क्योंकि सर्वोच्च ऐश्वर्य भी शनैः शनैः नष्ट होते-होते एक दिन बिलकुल नष्ट हो जाता है और अभावजन्य आकुलताएँ व्यक्तिके जीवनको अशान्त, अतृप्त और व्याकुल बना देती हैं।

मनुष्य जन्म लेता है, समस्त सुखोंपर अपना एकाधिकार करनेका प्रयत्न भी करता है। परिवार सहित सर्वोच्च ऐश्वर्य एवं सुखोंका भोग भी करता है, पर एक दिन ऐसा आता है जब वह सब कुछ यहांका यहीं छोड़ मृत्युको प्राप्त होता है। अतः यह सदैव स्मरणीय है कि सांसारिक सुख ऐश्वर्य और भोग क्षणभंगुर है। इनका यथार्थ उपयोग त्यागवृत्तिवाला व्यक्ति ही कर सकता है। जिसने शाश्वत, चिरन्तन आत्म-सुखकी अनुभूति प्राप्त की है, वही व्यक्ति संसारके विलास-वैभवोंके मध्य निर्लिप्त रहता हुआ उनका उपभोग करता है।

शाश्वत सुख अथवा परमशक्ति तक पहुँचनेका मार्ग संसारके मध्यसे ही है। चिरन्तन आत्म-सुख और अशाश्वत भौतिक सुख परस्परमें अविच्छिन्नरूपसे सम्बद्ध दिखलाई पड़ते हैं, पर जिन्होंने अपनी अन्तरात्मामें प्रकाशको प्राप्त कर लिया है, वे व्यक्ति-मोहको जड़ोंमें बद्ध नहीं रह पाते। वस्तुतः मानव-जीवनका मुख्य उद्देश्य आत्मसुख प्राप्त करना है। पर इस सुखकी उपलब्धि इस शरीरके द्वारा ही करनी है। अतः संयम, अहिंसा, तप और भावनारूप धर्मका आश्रय लेना परम आवश्यक है।

मानव-जीवनके प्रमुख चार उद्देश्य हैं:—(१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। मोक्ष परमलक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचनेका साधन धर्म है। काम लौकिक जीवनका उपादेय तत्त्व है और इसका साधन अर्थ है। अर्थ मानवको स्वाभाविक प्रवृत्तियोंकी ओर प्रेरित करता है। वह धनार्जनको इच्छापूर्तिके लिए उपयोगी मानते हुए भी अन्याय, अत्याचार एवं पर-पीड़नको स्थान नहीं देता। यह मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्तियोंका नियंत्रण कर उसे मनुष्य बननेके लिए अनुप्रेरित करता है।

सामाजिक व्यवस्थामें धर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली अवधारणा है। धर्म मानवके समस्त नैतिक जीवनको नियन्त्रित करता है। मनुष्यकी अनेक प्रकारकी इच्छाएँ एवं अनेक संघर्षात्मक आवश्यकताएँ होती हैं। धर्मका उद्देश्य इन समस्त इच्छाओं तथा आवश्यकतोंको नियमित एवं व्यवस्थित करना है। अतएव धर्म वह है जो मानव-जीवनकी विविधताओं, भिन्नताओं, अभिलाषाओं, लालसाओं, भोग, त्याग, मानवीय आदर्श एवं मूल्योंको नियमबद्ध

कर एकता और नियमितता प्रदान करे। वास्तवमें धर्म जीवनका एक ऐसा तरीका है जो कार्यों और क्रियाओंको संयोजित और नियन्त्रित करता है। धर्मके अभावमें मानवका जीवन मनुष्य-जीवन नहीं रह जाता है, अपितु वह पशुजीवनकी कोटिमें सम्मिलित हो जाता है।

मानव-जीवनमें चरित्रका अपना स्थान है। जीवनकी ऊँचाई केवल ज्ञान या विश्वाससे नहीं आँकी जा सकती। दिव्यताकी ओर होनेवाली यात्राका मुख्य मापदण्ड आचार ही है। दैनिक जीवनमें यह सभीको दिखलाई पड़ता है कि विश्वास और ज्ञान तबतक जीवनमें साकार नहीं हो पाते, जबतक मनुष्य अपने आचार-व्यवहारको मानवोचित रूप प्रदान नहीं करता। सन्तोष, क्षमा, आत्म-संयम, इन्द्रिय-निग्रह, दया, अहिंसा और सत्य ऐसे मार्ग हैं, जिनका अनुसरण करनेसे व्यक्ति और समाज सुख-शान्ति प्राप्त करता है।

मनुष्यकी विविध रुचियों, इच्छाओं, संघर्षात्मक आवश्यकताओं एवं उत्तरदायित्वोंके बीच सामञ्जस्य उत्पन्न करनेका कार्य आचारात्मक धर्म ही करता है। व्यक्ति या समाजके विभिन्न सदस्य जब धर्मके निर्देशानुसार अपने करणीय कर्त्तव्यको निश्चित ढंगसे तथा निष्ठापूर्वक करते हैं, तो समाजमें सुव्यवस्था, शान्ति और समृद्धि सरल हो जाती है। अर्थ और कामका नियन्त्रक भी धर्म है। केवल अर्थ और केवल काम जीवनमें भोग तो उत्पन्न कर सकते हैं, पर जीवनको उदात्त नहीं बना सकते। अतएव मानव-जीवनका साफल्य नियन्त्रण, निग्रह, त्याग और सन्तोषपर ही निर्भर है।

संसार एक अनन्त अविराम प्रवाह है और नाना जीव इस प्रवाहमें अनादि कालसे अनन्तकाल तक धर्मविमुख हो लुढ़कते और टक्करें खाते रहते हैं। जीवनकी गति कहीं भी विश्रान्ति प्राप्त नहीं करती। सदाचार, विश्वास और तत्त्वज्ञान ही मानव-जीवनमें व्यवस्था, शान्ति और बन्धनोंसे मुक्ति कराते हैं। क्षणिक जीवनके बदले शाश्वत जीवनका लाभ होता है और संसारके निस्सार सुख-दुःखोंसे ऊपर उठकर आत्मा अनन्त सुखमयमुक्तिका लाभ करती है। अतः संक्षेपमें जीवनको सुव्यवस्थित और नियन्त्रित करनेके लिए धर्मकी परम आवश्यकता है।

धर्म : व्युत्पत्ति एवं स्वरूप

धर्मशब्द धृ + मन्‌से निष्पन्न है। "ध्रीयते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा धर्मः अथवा इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः" अर्थात् जो इष्ट स्थान—मुक्तिमें धारण कराता है अथवा जिसके द्वारा लोक श्रेष्ठ स्थानमें धारण किया जाता है अथवा जो लोकको श्रेष्ठ स्थानमें धारण करता है, वह धर्म है। धर्म सुखका कारण है।

धर्म और सुखमें कार्य-कारणभाव या दीपक और प्रकाशके समान सहभावी-भाव है, अर्थात् जहाँ दीपक है वहाँ प्रकाश अवश्य रहता है और जहाँ दीपक नहीं, वहाँ प्रकाश भी नहीं रहता। इसी प्रकार जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख अवश्य रहेगा और जहाँ धर्म नहीं होगा वहाँ सुख भी नहीं रहेगा।

जो धारण किया जाय या पालन किया जाय, वह धर्म है। धर्मका एक अर्थ वस्तुस्वभाव भी है। जिस प्रकार अग्निका धर्म जलाना, जलका शीतलता, वायुका बहना धर्म है, उसी प्रकार आत्माका चैतन्य धर्म है। वस्तुस्वभावरूप धर्म है तो यथार्थ; पर इसकी उपलब्धि आचारके बिना सम्भव नहीं। जिस आचार द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस—मुक्तिकी प्राप्ति हो, वह धर्म कहलाता है। अभ्युदयका अर्थ लोक-कल्याण है और निःश्रेयसका अर्थ कर्म-बन्धनसे मुक्त हो स्वस्वरूपकी प्राप्ति है।

स्वभावरूप धर्म जड़ और चेतन सभी पदार्थोंमें समाविष्ट है, क्योंकि इस विश्वमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका कोई न कोई स्वभाव न हो, पर आचार-रूप धर्म केवल चेतन आत्मामें पाया जाता है। अतः धर्मका संबंध आत्मासे है। वस्तु स्वभावका विवेचन चिन्तनात्मक होनेसे दर्शन-कोटिमें भी प्रविष्ट हो जाता है और आत्मा, लोक-परलोक, विश्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति प्रश्नोंका उससे समाधान अपेक्षित होता है। वस्तुतः धर्म आत्माको परमात्मा बननेका मार्ग बतलाता है। इस मार्गके निरूपणक्रममें द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदिके स्व-भावकी जानकारी भी आवश्यक है। ज्ञाता व्यक्ति ही सम्यक् आचार द्वारा आत्मासे परमात्मा बननेके मार्गको प्राप्त करता है। जिस प्रकार कुशल स्वर्णकार-को स्वर्णके स्वभाव और गुणकी भली-भाँति पहचान होती है, तथा स्वर्ण-शोधनकी प्रक्रिया भी जानता है, वही स्वर्णकार स्वर्णको शुद्ध कर सकता है। इसी प्रकार जिस आत्म-शोधकको आत्मा और कर्मोंके स्वरूप तथा विभाव-परिणतिजन्य उनके संयोगकी जानकारी है वही आत्मा परमात्मा बननेमें सफल होती है। मनुष्यके विचार भी आचारसे निर्मित होते हैं और विचारोंसे निष्ठा या श्रद्धा उत्पन्न होती है।

धर्मकी उपयोगिता कर्मनाश और प्राणियोंको संसारके दुःखसे छुड़ाकर सुख प्राप्तिके लिए है। इस सुखकी प्राप्ति तबतक सम्भव नहीं है जबतक कर्म-बन्धनसे छुटकारा प्राप्त न हो। अतः जो कर्म-बन्धका नाशक है वह धर्म है। संसारमें जो सुख है जिसे हम ऐन्द्रयिक सुख कहते हैं वह भी यथार्थमें सुख नहीं है। सुखकी प्राप्ति और दुःखसे छुटकारा कर्म-बन्धनका नाश किये बिना सम्भव नहीं

है। सच्चा धर्म वही है जो कर्मबन्धनका नाश करा सके। सभी आत्म-अस्तित्ववादी विचारक आत्मा, परलोक और पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। शरीर जड़ है, जो मृत्युके पश्चात् भी रहता है, पर आत्माके निकलते ही उसमें निष्क्रि-यता आ जाती है और इन्द्रियों द्वारा जानने-देखनेका कार्य बन्द हो जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि शरीरमेंसे चैतन्य धर्मका विलयन हो गया है। यह आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता आदि गुणोंसे सम्पन्न है। इसी कारण इन्द्रियोंके माध्यमसे जानने-देखनेकी क्रिया सम्पन्न होती है। ये विभिन्न क्रियाएँ शरीर या इन्द्रियोंका धर्म नहीं है। ये तो आत्माकी क्रियाएँ हैं। आत्माके शरीरसे पृथक् होते ही चेतनाकी क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। अतः शाश्वत तत्त्व आत्मा है और उसके गुण धर्म हैं।

जिस सुखकी चाहमें संसारके प्राणी भटकते हैं, वह सुख भी जड़का धर्म नहीं, चेतनका ही धर्म है। यतः मैं सुखी हूँ इस प्रकारकी प्रतीति आत्माके ज्ञान-गुणके बिना सम्भव नहीं। इसलिए सुख ज्ञानका ही सहभावी धर्म है। स्पष्टीकरण-के लिए यों कहा जा सकता है कि घट पट आदि पदार्थोंको देखकर जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान घट-पट आदि पदार्थोंका धर्म नहीं है। हाँ, ज्ञानके साथ उनका ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध आवश्यक है। इसी प्रकार हमें अपने अनुकूल वस्तु-की प्राप्तिसे सुख और प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्तिसे दुःखका जो अनुभव होता है, वह सुख या दुःख अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुका धर्म नहीं है। ये वस्तुएँ हमारे सुख या दुःखमें निमित्तमात्र अवश्य हैं, पर सुख या दुःखका अस्तित्व स्वयं हमारे भीतर विद्यमान है। सुखका खजाना कहीं दूसरी जगहसे लाना नहीं है। यह तो हमारे भीतर ही छिपा हुआ है। जो सुखकी खोजमें इधर-उधर भटकते हैं, वे ही दुःखका कारण बनते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि जो जिसे प्राप्त है, वह उसमें सुखी नहीं है। सुखकी प्राप्तिका इच्छुक व्यक्ति प्राप्तसे सन्तुष्ट न होकर अप्राप्तके लिए प्रयत्न-शील है। केवल प्राप्तिका यत्न करनेसे ही इष्ट और अभिलषित वस्तुएँ उपलब्ध नहीं होती; तथा जो प्राप्त होतीं हैं उनसे भी उसकी तृष्णा वृद्धिगत होती जाती है, जैसे जलती हुई अग्निमें इन्धन डालनेसे अग्नि बढ़ती है। जिस विषय-सेवन-को सुख माना है, उसके अतिसेवनसे व्यक्तिकी शक्ति क्षीण होती है और अनेक रोगोंका ग्रास बनता है। भोगोंके समान ही भोग-सामग्रीका साधन अर्थ भी सुखके स्थानपर दुःखका ही कारण बनता है और जीवनभर मनुष्यसे दुष्कर्म कराता है। अतः संसारमें दुःख है।

बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। उपादान और निमित्त कारण मिलकर ही कार्यके निष्पादक हैं। अतएव संसारमें दुःखके अस्तित्वका भी

कोई हेतु अवश्य है। जोवके ज्ञान और सुख धर्म हैं, पर इन दोनोंकी जीवमें कमी देखी जाती है। विचार करनेपर दुःखका हेतु जीवका अज्ञान, अश्रद्धा और मिथ्याचरण हैं। अनादिकालसे यह प्राणी अज्ञानके वशीभूत होकर इतना बहिर्दृष्टि बन गया है और अन्तर्दृष्टिसे विमुख हो गया है कि इसे अपने स्वरूपको जाननेकी इच्छा नहीं होती। जिस शरीरके साथ उसका जन्म और मरण होता है, उसे ही अपना समझकर उसीकी चिन्ता और संवर्द्धनमें अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है। इस प्राणीने कभी इस बातपर गम्भीरतासे विचार नहीं किया कि मैं शरीरसे भिन्न स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व हूँ। ज्ञान और सुखके निमित्तोंको ही ज्ञात कर उन्हें ही परमार्थ समझ लिया गया और ज्ञान एवं सुखके परमार्थ-स्वरूपको जाननेकी चेष्टा नहीं की तथा न इन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न ही किया।

जोवकी परपदार्थालोकनकी यह दृष्टि निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्तको ही उसने अपना सर्वस्व समझा और उपादानकी ओर लक्ष्य नहीं दिया। उपादानकी ओर यदि कभी दृष्टि गई तो उसे भी निमित्तोंके अधीन समझा। फलतः यह सदा बाहरकी ओर हो देखता रहा, भीतरकी ओर नहीं। इसने कर्मजन्य अवस्था या पर्यायको ही सब कुछ समझा है। यह इस बातको भूले हुए है कि द्रव्यकर्म उसकी भूलके परिणाम हैं। राग, द्वेष और मोहरूप परिणाम यह जीव उत्पन्न न करता तो द्रव्यकर्मोंका बन्ध ही नहीं होता। यदि प्राणी स्वभाव और विभाव-परिणत्तिको पूर्णरूपसे समझ जाय और अपनी परिणतिके प्रति सावधान हो जाय, तो पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मोंका उदय प्राणीकी परिणतिको विकृत नहीं कर सकता। राग, द्वेष और मोहकी त्रिपुटोसे विकृति उत्पन्न होती है और विकृतिसे बन्ध होता है। तथ्य यह है कि जोवके द्वारा किये गये रागादि परिणामोंका निमित्त प्राप्तकर अन्य पुद्गल-स्कन्ध स्वयं हो ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करते हैं तथा चैतन्यस्वरूप अपने रागादिपरिणामरूपसे परिणत पूर्वोक्त आत्माको भी पौद्गलिक ज्ञानावरणादिकर्म निमित्तमात्र होते हैं।[1]

अज्ञानी जोव राग-द्वेष, मोहादि रूपसे स्वयं परिणमन करता है और इन रागादिभावोंका निमित्त पाकर शुभ और अशुभ, पुण्य और पापरूप कर्म-

१. जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य १२-१३.

प्रकृतियोंका बन्ध होता है। जीव और पुद्गलमें निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध है। आत्माके प्रदेशोंमें रागादिके निमित्तसे बन्धे हुए पौद्गलिक कर्मोंके कारण यह आत्मा अपनेको भूलकर अनेक प्रकारसे रागादिरूप परिणमन करती है। इसके वैभाविक भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो आत्माके विपरीत परिणमनमें कारण बनती है। इस प्रकार भावकर्मसे द्रव्य-कर्म और द्रव्यकर्मसे भावकर्मका बन्ध होता है और यही संसार है।

कर्मोंके निमित्तसे रागादिरूपसे परिणमन करनेवाली आत्माके रागादि निजभाव नहीं है, क्योंकि जो निजभाव होता है वह उसके स्वरूपमें प्रविष्ट रहता है, पर रागादि तो आत्माके स्वरूपमें प्रविष्ट हुए बिना ऊपर ही ऊपर प्रतिफलित होते हैं। ज्ञानी आत्मा इस रहस्यको जानता है इसलिए वह धर्मविद् है, किन्तु अज्ञानी तो आत्माको रागादिस्वरूप ही मानता है। यही मान्यता अधर्म है।

धर्मका स्वरूप-निर्धारण कई दृष्टियोंसे किया गया है। जो मोक्षका मार्ग है, वह धर्म है और मोक्षका मार्ग रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है। संक्षेपमें धर्म उसीको कहा जा सकता है जो मुक्तिकी प्राप्तिका हेतु है या मुक्तिकी ओर ले जानेवाला है और जो इससे विपरीत है वह संसार-का कारण होनेसे अधर्म है। धर्मकी निम्नलिखित परिभाषाएँ संभव हैं :[1]

१. वस्तुस्वभाव।

२. रत्नत्रय—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप।

३. उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप।

४. दया—जीवका सरागभाव या शुभोपयोगरूप परिणति—आचार-धर्मके विघातक मोह और भोग हैं। मोहके उपशम, क्षय एवं क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मामें विशुद्धि उत्पन्न होती है, वही वास्तविक एवं भावरूप अन्तरंग धर्म है। बाह्य रूपमें जीव असंयमवाली प्रवृत्तियोंका त्याग करता है, उसे बहिरंग द्रव्यरूप धर्म कहते हैं। इन्द्रियों तथा मनके विषयसे निवृत्ति, हिंसा आदि पापोंका त्याग एवं द्यूत आदि महाव्यसनोंसे उपरति बहिरंग धर्म है। यह बहिरंग धर्म मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना मन्द, मन्दतर और मन्दतम उदयकी स्थितिमें होता है। बहिरंग धर्म अनेक अभ्युदयोंके कारणभूत पुण्यबन्धका हेतु होनेके अतिरिक्त अन्तरंग धर्मकी सिद्धिमें भी

---

१. चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

—प्रवचनसार गाथा—७.

कारण होता है। अन्तरंग धर्मके साथ बहिरंग धर्मकी व्याप्ति है। जहाँ जिस-जिस प्रमाणमें अन्तरंग धर्म पाया जाता है वहाँ उसके प्रतिपक्ष बाह्य असंयत प्रवृत्तिका अभाव भी अवश्य रहता है। अनन्तानुबन्धीकषाय तथा दर्शनमोहनीय-कर्मके उपशमादिसे सम्यग्दर्शनरूप धर्म उत्पन्न होता है। इस धर्मके उत्पन्न होते ही बहिरंगमें भी निर्मलता आ जाती है और यह अन्तरंग निश्चयरूपधर्म व्यवहारधर्मकी सिद्धिका सहायक होता है।

कर्मबन्धके कारण मोह और योग हैं। मोहके तीन भेद है:—(१) दर्शन-मोहनीय, (२) कषायवेदनीय और (३) नोकषायवेदनीय। कषायवेदनीयका भेद अनन्तानुबन्धीका उदय सम्यग्दर्शनरूप धर्मका प्रतिपक्षी है। जब इसका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होता है, तब अन्तरंगमें धर्मकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और आत्मा अपने स्वरूपकी अनुभूति करती है।

सम्यग्दर्शन : स्वरूपविवेचन

वस्तु अनन्तगुणधर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। इसके स्वरूपका परिज्ञान अने-कान्तात्मक वस्तुके स्वरूपज्ञानसे होता है। चारित्ररूप धर्म रत्नत्रयका ही रूपान्तर है। इस धर्मका मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके अभावमें न तो ज्ञान ही सम्यक् होता है और न चारित्र ही। सम्यग्दर्शन आत्मसत्ताकी आस्था है और है स्वस्वरूपविषयक दृढ़निश्चय। मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ, इसका निर्णय सम्यग्दर्शन द्वारा ही होता है। जड़-चेतनकी भेदप्रतीति भी सम्यग्दर्शनसे ही होती है। स्व और पर, आत्मा और अनात्मा, चैतन्य एवं जड़की स्वस्वरूपोपलब्धिका साधन भी सम्यग्दर्शन ही होती है। सम्यग्दर्शनके आलोकमें ही आत्मा यह निश्चय करती है कि अनन्त अतीतमें जब पुद्गलका एक कण भी मेरा अपना नहीं हो सका है, तब अनन्त अनागतमें वह मेरा कैसे हो सकेगा। वर्तमान क्षणमें तो उसे अपना मानना नितान्त भ्रम मैं 'मैं' हूँ और पुद्गल 'पुद्गल' है। आत्मा कभी पुद्गल नहीं हो सकती और पुद्गल कभी आत्मा नहीं।

यह सत्य है कि पुद्गलोंकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है और उस सत्ताको कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकता। इस विश्वके कण-कणमें अनन्तकालसे पुद्गलों-की सत्ता रही है और अनन्त भविष्यमें भी सत्ता रहेगी। अतएव पुद्गलोंके रहते हुए भी आत्माके स्वरूपकी आस्था करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन-की निम्नलिखित परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं:—

१. तत्त्वार्थश्रद्धा—सप्ततत्त्व और नौ पदार्थोंकी प्रतीति।

२. स्वपरश्रद्धा—'स्व' और परकी रुचि।

३. परमार्थ देवशास्त्रगुरुकी प्रतीति।

४. आत्मश्रद्धान—श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।

५. अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियाँ तथा दर्शनमोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोंके उपशम-क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्रादुर्भूत श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।

सात तत्त्व; पुण्य पाप; एवं द्रव्य गुण पर्याय; का यथार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मूलतः दो तत्त्व हैं:—जीव और अजीव। चेतनालक्षण जीव है और उससे भिन्न अजीव। जीवके साथ नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मका संयोग है। अनादि कालसे इन तीनोंका संयोग चला आ रहा है। आत्म-कल्याणके लिये सात तत्त्व या नव पदार्थ प्रयोजनीय हैं। इनके स्वरूपका वास्तविक निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। इन सात तत्त्वोंमें जीव-अजीवका संयोग संसार है और इसके कारण आस्रव एवं बन्ध हैं। जीव और अजीवका जो वियोग—पृथक्भाव है उसके कारण संवर एवं निर्जरा हैं। जिस प्रकार रोगी मनुष्यको रोग, उसके कारण; रोग-मुक्ति; और उसके कारण इन चारोंका ज्ञान आवश्यक है; उसी प्रकार जीवको संसार; संसारके कारण; मुक्ति और मुक्तिके कारण इन चारोंका परिज्ञान अपेक्षित है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जिसका मन मिथ्यात्वसे ग्रस्त है वह मनुष्य होते हुए भी पशुतुल्य है और जिसकी आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वह पशु होकर भी मनुष्यके समान है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये कतिपय योग्यताओंकी आवश्यकता है। पहली योग्यता तो उस जीवका भव्य होना है। भव्यको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है, अभव्यको नहीं। यह योग्यता स्वाभाविक है, प्रयत्नसाध्य नहीं। इस योग्यता-के साथ संज्ञीपर्याप्तक तथा पाँच लब्धियोंसे युक्त होना अपेक्षित है। इन लब्धियों-में देशनालब्धि अत्यावश्यक है। यतः सम्यक्त्वप्राप्तिके पूर्व तत्त्वोपदेशका लाभ होना आवश्यक है। सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्यजीवको ही होता है, अन्यको नहीं। भव्योंमें भी यह उन्हींको प्राप्त होगा, जिनका संसार-परिभ्रमणका काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तनके कालसे अधिक अवशिष्ट नहीं है। लेश्याओंके विषयमें यह कथन है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके तीन शुभ लेश्याओंमेंसे कोई भी लेश्या रह सकती है। देव और नारकियोंमें जहाँ जो लेश्या है उसीमें औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कर्म-स्थितिके विषयमें कहा जाता है कि जिसके बध्यमान कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोडा-कोडी-प्रमाण हो तथा सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यातहजार सागर कम अन्तः कोडा-

कोडी प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थितिबन्ध पड़नेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता चारों गतिवाले भव्यजीवोंको होती है। क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ भव्यको प्राप्त होती हैं। इनमें चार लब्धियाँ तो सामान्य है, क्योंकि वे भव्य और अभव्य दोनोंको प्राप्त होती हैं, पर करणलब्धिविशेष है[1]। यह भव्यको ही प्राप्त होती है और इसके प्राप्त होनेपर नियमतः सम्यग्दर्शन होता है। क्षायोपशमिक लब्धि-में जीवके परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं। विशुद्धिलब्धि प्रशस्त प्रकृतियोंके बन्धमें कारणभूत परिणामोंको प्राप्ति स्वरूप है। देशनालब्धिमें तत्त्वोपदेश और प्रायोग्यलब्धिमें अशुभकर्मोमेंसे घातियाकर्मों के अनुभागको लता और दारूरूप तथा अघातिया कर्मो के अनुभागको नीम और काञ्जीरूप कर देना है। करणलब्धिमें भावोंको उत्तरोत्तर विशुद्धि प्राप्त को जाती है। भाव तीन प्रकारके होते हैं:—(१) अधःकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनि-वृत्तिकरण। जिसमें आगमी समयमें रहनेवाले जीवोंके परिणाम समान और असमान दोनों प्रकारके होते हैं वह अधःकरण है। इस कोटिके परिणामोंमें समानता पायी जाती है तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा समानता और असमानता दोनों ही घटित होती हैं।

जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व-नये-नये परिणाम उत्पन्न हों, उसे अपूर्व-करण कहते हैं। अपूर्वकरणमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान एवं असमान दोनों हो प्रकारके होते हैं। परन्तु भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है।[2]

जहाँ एक समयमें एक ही परिणाम उत्पन्न होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करणमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विषम ही होते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ एक समयमें एक ही परिणाम होता है। इसलिये उस समयमें जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयोंमें जो जीव होंगे, उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है पर अपूर्वकरण-की अपेक्षा कम है।

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६५१, ६५२.

२. ,, ,, गाथा ५१,५२,५३; ४९, ५०.

तीनों करणोंका उपयोग—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका उपयोग मिथ्यात्वकर्मोंके निषेकोंको घटाना है। अधःकरणमें परिणामोंकी अनन्तगुणी विशुद्धिके साथ नवीन बन्धकी स्थितिका घटना, प्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागमें अनन्तगुणी वृद्धिका होना, एवं अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका अनन्तवाँ भाग घटना-रूप क्रियाएँ होती हैं। अपूर्वकरणमें सत्तामें स्थित पूर्व-कर्मों की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर क्षीण होती है। अतः स्थिति-काण्डकका घात होता है तथा प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर पूर्वकर्मों का अनुभाग घटनेसे अनुभागकाण्डक भी क्षीण होता है। गुणश्रेणीके कालमें क्रमशः असंख्यातगुणित कर्म निर्जराके योग्य होते हैं। अतः गुणश्रेणि निर्जरा होती है। अपूर्वकरणके पश्चात् अनिवृत्तिकरण आता है। उसका काल अपूर्वकरणके कालसे संख्यातवें भाग होता है। अनन्तर अनिवृत्तिकरणकालके पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मों के निषेकोंका अन्तर्मुहूर्तके लिये अभाव होता है। मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमें आनेवाले थे उन्हें उदयके अयोग्य किया जाता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारण--कारण दो प्रकारके होते हैं:—(१) उपादानकारण और (२) निमित्तकारण। जो स्वयं कार्यरूपमें परिणत होता है, वह उपादान कारण है और जो स्वयं कार्यकी सिद्धिमें कारण होता है वह निमित्तकारण है। अन्तरंग और बहिरंगके भेदसे निमित्तके भी दो भेद हैं। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका उपादानकारण आसन्नभव्यता; कर्महानि; संज्ञित्व; शुद्धपरिणाम और देशना आदि विशेषताओंसे युक्त आत्मा है। अन्तरंग निमित्त-कारण सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक अनन्तानुबन्धि क्रोध-मान-मायादि, सात प्रकृतियों-का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम है। बहिरंग निमित्तकारण सद्गुरु आदि हैं। अन्तरंग निमित्तकारणके मिलनेपर सम्यग्दर्शननियमतः होता है परन्तु बहिरंग निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी।

नरकगतिमें तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, और तीव्रवेदना अनुभव ये तीन, चतुर्थसे सप्तम नरक तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो; तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्ब-दर्शन ये तीन; देवगतिमें बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिन-कल्याणकदर्शन और देवऋद्धिदर्शन, ये चार, त्रयोदश स्वर्गसे षोडश स्वर्ग तक देवऋद्धिदर्शनको छोड़कर शेष तीन एवं उसके आगे नवम ग्रैवेयक तक जाति-स्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरंग निमित्त हैं। ग्रैवेयकसे ऊपर सम्यग्दृष्टि

ही उत्पन्न होते हैं अतः वहाँ बहिरंग निमित्तकी आवश्यकता नहीं है।[1]

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि जीवको विपरीत अभिनिवेश रहित आत्माका श्रद्धान होता है तथा साथमें देवगुरु आदिका भी श्रद्धान रहता है। इनमेंसे प्रथमको निश्चय-सम्यग्दर्शन और द्वितीयको व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जो अपना कल्याण करना चाहता है उसे सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तियोंसे परिचित होना चाहिये, जिन्होंने अपने पुरुषार्थसे पूर्ण आत्मकल्याण किया है। दूसरे शब्दोंमें वितराग-सर्वज्ञ और हितोपदेशीकी पहचान करना चाहिये। पश्चात् इनके द्वारा प्रतिपादित श्रुतके ज्ञानका अवलम्बन लेकर अपने आत्म-स्वरूपका निर्णय करना एवं सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र ही उसमें निमित्त बनते हैं और उनकी श्रद्धाके बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। जिनकी स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि संसारके निमित्तोंमें तीव्र रुचि रहती है उन्हें धर्ममें निमित्त देव शास्त्र-गुरुके प्रति रुचि उत्पन्न नहीं होती है। अतएव सर्वज्ञ, वीतराग और हितोप-देशीके वचनोंका अवलम्बन लेकर आत्म-स्वरूपकी प्रतीतिका होना अशक्य है।

धर्म आत्माका स्वभाव है और यह किसी दूसरेके अधीन नहीं है और न दूसरेके अवलम्बनसे प्राप्त होता है। यह तो अपनेको जानने-देखनेसे अपनेमें ही प्रादुर्भूत होता है। इसी कारण ऐसे महापुरुषों और उनकी वाणीका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है जिन्होंने अपनेमें पूर्ण धर्म प्रकट किया है।

सम्यग्दर्शनके भेद

उत्पत्तिकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं :—(१) निसर्गज और (२) अधिगमज। जो पूर्वसंस्कारको प्रवलतासे परोपदेशके बिना ही उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज है। इन दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंकी उत्पत्तिका अन्तरंग कारण सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम ही है। बाह्य कारणकी अपेक्षा उक्त दो भेद हैं।

सम्यग्दर्शनके सामान्यतः तीन भेद हैं :—औपशमिक, क्षायिक और क्षायो-पशमिक।

---

१. बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिज्जातिस्मरणं, केषांचि-द्धर्मश्रवणं, केषांचिद्वेदनाभिभवः। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्यया नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च। तिरश्चां केषांचिज्जातिस्मरणं, केषांचिद्धर्मश्रवणं, केषांचिज्जिन-बिम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव। देवानां केषांचिज्जातिस्मरणं, केषांचिज्जिन-महिमदर्शनं, केषांचिद्देवर्द्धिदर्शनं·····················

अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामियं कल्पना न सम्भवति।

औपशमिक सम्यक्त्व

अनन्तानुबन्धीकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसके दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन।

अधःकरण आदि परिणाम-विशुद्धिके द्वारा मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमें आनेवाले थे, उन्हें उदय अयोग्यकर अनन्तानुबन्धीचतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस प्रकार उदय अयोग्य प्रकृतियोंका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्वके प्रथम समयमें मिथ्यात्व प्रकृतिके तीन भेद हो जाते हैं:—(१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यङ्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका उदयाभाव होनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्वका अस्तित्व चतुर्थगुणस्थानसे सप्तम गुणस्थान तक पाया जाता है।

अनन्तानुबन्धी-चतुष्कको विसंयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम होनेसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला जीव उपशमश्रेणीका आरोहण कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँसे पतनकर नीचे आता है। पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पंचम और षष्ठ गुणस्थानमें भी इसका सद्भाव रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

इस सम्यक्त्वका दूसरा नाम वेदकसम्यक्त्व भी है। मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्त्तमान कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व-प्रकृतिनामक देशघाती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्वमें सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमकी प्रधानताके कारण क्षायोपशमिक तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वेदकसम्यग्दर्शन कहलाता है। इसकी उत्पत्ति सादिमिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंके होती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है। वस्तुतः सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघाती प्रकृतिका उदय अपेक्षित होता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें आरम्भ करता है।[1] इसकी पूर्णता चारों गतियोंमें सम्भव है। यह सम्यग्दर्शन छूटता नहीं है। जिसे क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, वह उसी भवसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अथवा तृतीय, चतुर्थ भवसे। चतुर्थ भवका अतिक्रमण नहीं कर सकता है। जिस क्षायिक सम्यग्दृष्टिने आयुका बन्ध कर लिया है, वह नरक या देवगतिमें उत्पन्न होता है और वहाँसे मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। चारों गति-सम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है। अतः बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि-का चारों गतियोंमें जाना सम्भव है। यह नियम है कि सम्यक्त्वके कालमें यदि मनुष्य या तिर्यंचके आयुका बन्ध होता है, तो नियमतः देवायु ही बंधती है। और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्य आयुका ही बंध होता है।[2]

सम्यग्दर्शनके अन्य भेद

सम्यग्दर्शनके निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन ये दो भेद भी किये जाते हैं। शुद्धात्मकी श्रद्धा करना निश्चय सम्यग्दर्शन है और विपरीताभि-निवेश रहित परमार्थ देव, शास्त्र, गुरुकी पच्चीस दोषरहित अष्टांगसहित श्रद्धा करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। अथवा जीवादि सात तत्त्वोंके विकल्पसे रहित शुद्ध आत्माके श्रद्धानको निश्चयसम्यग्दर्शन और सात तत्त्वोंके विकल्पोंसे सहित श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। अध्यात्म-दृष्टिसे सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग ये दो भेद सम्भव हैं। आत्म-विशुद्धिमात्रको वीतराग सम्यग्दर्शन और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य इन चार गुणोंकी अभिव्यक्तिको सराग-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

---

१. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ॥

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६४७.

२. चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं॥

—वही, गाथा ६५२.

प्रशम

प्रशमगुण आत्माके कषाय या विकारोंके उपशम होनेपर उत्पन्न होता है। राग या द्वेष जो आत्माके सबसे बड़े शत्रु हैं, जिनके कारण इस जीवको नाना प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती रहती हैं, जिनसे संसारके पदार्थोंको सुख-मय समझा जाता है, वे सब समाप्त हो जाते हैं। प्रशमगुण आत्माको निर्मल बनाता है, चित्तके विकारोंको दूर करता है और मनको विकल्पोंसे रहित बनाता है। प्रशमगुण द्वारा जीवकी विकृत अवस्था दूर होती है और आत्माकी निर्मल प्रवृत्ति जागृत होती है।

संवेग

संसारसे भीतरूप परिणामोंका होना संवेग है। इस गुणके उत्पन्न होनेसे आत्मामें शुद्धि उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति इस संसारमें रहता हुआ यह विचार करता है कि आयुके समाप्त होनेपर मुझे अन्य गतिको प्राप्त करना है और यह संसारका चक्र निरन्तर चलता रहेगा, यह आत्मा अकेला ही राग-द्वेष, मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली कर्म-पर्यायोंका भोक्ता है। अतएव आत्मोत्थान-के लिये सदैव सचेष्ट रहना अत्यावश्यक है। जब तक संसारसे संवेग उत्पन्न नहीं होगा, तब तक अहंकार और ममकारकी परिणति दूर नहीं हो सकती है। ज्ञान-दर्शनमय और संसारके समस्त विकारोंसे रहित आध्यात्मिक सुखका भण्डार यह आत्मतत्त्व ही है और इसकी उपलब्धि सम्यक्त्वके द्वारा होती है।

अनुकम्पा

समस्त जीवोंमें दयाभाव रखना अनुकम्पा गुण है। व्यवहारमें धर्मका लक्षण जीवरक्षा है। जीवरक्षासे सभी प्रकारके पापोंका निरोध होता है। दयाके समान कोई भी धर्म नहीं है। अतः पहले आत्म-स्वरूपको अवगत करना और तत्पश्चात् जीव-दयामें प्रवृत्त होना धर्म है। जिस प्रकार हमें अपनी आत्मा प्रिय है उसी प्रकार अन्य प्राणियोंको भी प्रिय है। जो व्यवहार हमें अरुचिकर प्रतीत होता है, वह दूसरे प्राणियोंको भी अरुचिकर प्रतीत होता होगा। अतः समस्त परिस्थितियोंमें अपनेको देखनेसे पापोंका निरोध तो होता ही है, साथ ही अनुकम्पाकी भी प्रवृत्ति जागृत होती है। अनुकम्पा या दयाके आठ भेद हैं—

१. द्रव्यदया—अपने समान अन्य प्राणियोंका भी पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिंसक व्यवहार करना।

२. भावदया—अन्य प्राणियोंको अशुभ कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धिसे उपदेश देना।

३. स्वदया—आत्मालोचन करना एवं सम्यग्दर्शन धारण करनेके लिये प्रयासशील रहना और अपने भीतर रागादिक विकार उत्पन्न न होने देना।

४. परदया—षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना।

५. स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूपका विचार करना, आत्माके ऊपर कर्मोंका जो आवरण आ गया है, उसके दूर करनेका उपाय विचारना।

६. अनुबन्धदया—मित्रों, शिष्यों या अन्य प्राणियोंको हितकी प्रेरणासे उपदेश देना तथा कुमार्गसे सुमार्गपर लाना।

७. व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक अन्य प्राणियोंकी सुख-सुविधाओंका पूरा-पूरा ध्यान रखना।

८. निश्चयदया—शुद्धोपयोगमें एकताभाव और अभेद उपयोगका होना। समस्त पर-पदार्थोंसे उपयोगको हटाकर आत्म-परिणतिमें लीन होना निश्चय-दया है।

आस्तिक्य

जीवादि पदार्थोंके अस्तित्वको स्वीकार करने रूप बुद्धिका होना आस्तिक्य-भाव है। आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त्त है, ज्ञान-दर्शनयुक्त है, चेतन है और है ज्ञानादिपर्यायोंका कर्त्ता। इस आत्म-स्वरूपके साथ अजीवादि छह तत्त्वोंके सम्बन्धको स्वीकार करते हुए आत्माकी विकृत परिणतिको दूर करनेके हेतु सात तत्त्वोंके स्वरूपपर दृढ़ आस्था रखना आस्तिक्यभाव है। आत्माके अस्तित्वरूपमें विश्वास करनेसे ही सम्यक्त्वकी उपलब्धि होती है।

ज्ञानप्रधान निमित्तादिककी अपेक्षासे सम्यक्त्वके दश भेद हैं:—

१. आज्ञासम्यक्त्व[1]—जिनाज्ञाकी प्रधानतासे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों की उत्पन्न श्रद्धा।

२. मार्गसम्यक्त्व—निर्ग्रन्थ मार्गका अवलोकनसे उत्पन्न।

३. उपदेशसम्यक्त्व—आगमवेत्ता पुरुषोंके उपदेशके श्रवणसे उत्पन्न।

---

१. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥
आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥

४. सूत्रसम्यक्त्व—मुनि आचरणके प्रतिपादक आचारसूत्रोंके श्रवणसे उत्पन्न।

५. बीजसम्यक्त्व—गणितज्ञानके कारण बीजसमूहोंके श्रद्धानसे उत्पन्न।

६. संक्षेपसम्यक्त्व—पदार्थोंके संक्षिप्त विवेचनको सुनकर श्रद्धाका उत्पन्न होना।

७. विस्तारसम्यक्त्व—विस्तारपूर्वक आगमके सुननेसे उत्पन्न श्रद्धान।

८. अर्थसम्यक्त्व—शास्त्रके वचन बिना किसी अर्थके निमित्तसे उत्पन्न श्रद्धान।

९. अवगाढ़सम्यक्त्व—श्रुतकेवलीका तत्त्वश्रद्धान।

१०. परमावगाढ़सम्यक्त्व—केवलीका तत्त्वश्रद्धान।

सम्यग्दर्शनका स्थितिकाल

औपशमिक सम्यग्दर्शनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छियासठ सागर प्रमाण है। क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता, इसलिये इस अपेक्षासे उसकी स्थिति सादि अनन्त है,पर संसारमें रहनेकी अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम, दो करोड़ वर्ष पूर्व तथा तैतीस सागर है।

सम्यग्दर्शनके अंग

जिस प्रकार मानवशरीरमें दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक ये आठ अंग होते हैं और इन आठ अंगोसे परिपूर्ण रहनेपर ही मनुष्य काम करनेमें समर्थ होता है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं। इन अष्टाङ्गयुक्त सम्यग्दर्शनका पालन करनेसे ही संसार-संततिका

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा॥

—आत्मानुशासन, गाथा ११-१४.

उन्मूलन होता है। इन आठ अंगोंमें वैयक्तिक उन्नतिके लिए प्रारम्भिक चार अंग और समाज-सम्बन्धी उन्नतिके लिए उपगूहनादि चार अंग आवश्यक हैं।

निःशङ्कित-अंग

वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ परमात्माके वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। कषाय अथवा अज्ञानके कारण ही मिथ्याभाषण होता है। जो राग-द्वेष-मोहसे रहित, निष्कषाय, सर्वज्ञ है, उसके वचन मिथ्या नहीं हो सकते। इसप्रकार वीतराग-वचनपर दृढ़ आस्था रखना निःशङ्कित अंग है।

सम्यग्दृष्टि जिनोदित सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंके विषयमें भी शंकित नहीं होता। सम्यग्दर्शनके आप्त, आगम, गुरु और तत्त्व ये चार विषय हैं। इनके सम्बन्धमें ये तत्त्व ये ही हैं, और इसी प्रकासे हैं, अन्य या अन्य प्रकार-से नहीं, इस प्रकारका श्रद्धान करना निःशङ्कित अंग है। निःशंकतामें अकम्पता-का रहना भी आवश्यक है। श्रद्धा या प्रतीतिमें चलिताचलित वृत्तिका पाया जाना वर्जित है।

निःशङ्कसम्यग्दर्शन ही संसार और उसके कारणोंका उच्छेदक है। यदि श्रद्धामें कुछ भी शंका बनी रहती है, तो तत्त्वज्ञानके रहनेपर भी अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती।

शंका मुख्यतया दो प्रकारसे उत्पन्न होती है:—(१) अज्ञानमूलक और (२) दौर्बल्यमूलक। दुर्बलताका कारण इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, अत्राण-भय, अगुप्तिभय, मरणभय और आकस्मिकभय ये सात भय बतलाये गये हैं। जो इन भयोंसे मुक्त हो जाता है, वही निःशंक हो सकता है।

निःकांक्षित-अंग

किसी प्रकारके प्रलोभनमें पड़कर परमतकी अथवा सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा करना कांक्षा है, इस कांक्षाका न होना निःकांक्षितधर्म है। सांसारिक सुखकी किसी प्रकारकी आकांक्षा न करना निःकांक्षित अंग है। वस्तुतः सांसा-रिक सुख व्यक्तिके अधीन न होकर कर्मोंके अधीन है। कर्मोंके तीव्र, मन्द उदयके समय यह घटता-बढ़ता रहता है। यह सांसारिक सुख सान्त है और है आकुलता उत्पन्न करनेवाला। यह सुख अनेक प्रकारके दुःखोंसे मिश्रित है और है बाधा उत्पन्न करनेवाला[1]।

पूर्ण शुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध आत्मपदके सिवाय अन्य किसी भी पदको

१. सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥—प्रवचनसार गाथा ७६.

अपना स्वतन्त्र, स्वाधीन, शाश्वतिक, सर्वथा निराकुल और उपादेय नहीं मानता। आत्मामें पर-पुद्गलके सम्बन्धसे विकार हैं अथवा होते हैं, वे वास्तवमें आत्माके नहीं हैं। शुद्ध आत्माका स्वरूप तत्त्वतः उन सभी विकारोंसे रहित है। इस प्रकारकी निःशंक और निश्चल आत्मा सभी प्रकारकी आकांक्षाओंसे रहित होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि सांसारिक सुखकी या भोगोंकी आकांक्षा नहीं करता।

निर्विचिकित्सा-अंग

मुनिजन देहमें स्थित होकर भी देह-सम्बन्धी वासनासे अतीत होते हैं। अतः वे शरीरका संस्कार नहीं करते। उनके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा-अंग है[1]। वस्तुतः मनुष्यका अपवित्र देह भी रत्नत्रयके द्वारा पूज्यताको प्राप्त हो जाता है। अतएव मलिन शरीरकी ओर ध्यान न देकर रत्नत्रयपूत आत्माकी ओर दृष्टि रखना और बाह्य मलिनतासे जुगुप्सा या ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा-अंग है। यों तो विचिकित्साके अनेक कारण हो सकते हैं, पर सामान्यतया इन कारणोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है:—(१) जन्मजन्य, (२) जराजन्य और (३) रोगजन्य।

अमूढदृष्टि-अंग

सम्यग्दृष्टिकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है। वह किसीका अन्धानुकरण नहीं करता। वह सोच-विचारकर प्रत्येक कार्यको करता है। उसकी प्रत्येक क्रिया आत्माको उज्ज्वल बनानेमें निमित्त होती है। वह किसी मिथ्यामार्गी जीवको अभ्युदय प्राप्त करते हुए देखकर भी ऐसा विचार करता है कि उसका वह वैभव पूर्वोपार्जित शुभ कर्मोंका फल है, मिथ्यामार्गके सेवनका नहीं। अतः वह मिथ्यामार्गकी न तो प्रशंसा करता है और न उसे उपादेय ही मानता है। वह श्रद्धालु तो होता है, पर अन्धश्रद्धालु नहीं। अमूढदृष्टि अन्धश्रद्धाका पूर्ण त्याग करता है।

उपगूहन-अंग

रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग स्वाभावतः निर्मल है। यदि कदाचित् अज्ञानी अथवा शिथिलाचारियों द्वारा उसमें कोई दोष उत्पन्न हो जाय—लोकापवादका अवसर आ जाय तो सम्यग्दृष्टि जीव उसका निराकरण करता है, उस दोषको छिपाता है। यह क्रिया उपगूहन कहलाती है। अज्ञानी और अशक्त व्यक्तियों द्वारा रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारक व्यक्तियोंमें आये हुए दोषोंका प्रच्छादन करना उपगूहन-अंग है।

---

१. स्वभावतोऽशुचौ काये—रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य १३.

सम्यग्यदृष्टि गुणी, संयमी, ज्ञानी और धर्मात्मा व्यक्तियोंकी समुचित प्रशंसा करता है उनके उत्साहकी वृद्धि करता है और यथाशक्ति धर्माराधनके लिए सहयोग प्रदान करता है। इस अंगका अन्य नाम उपबृंहण भी है, जिसका अर्थ आत्मगुणोंकी वृद्धि करना है।

स्थितीकरण-अंग

सांसारिक कष्टोंमें पड़कर, प्रलोभनोंके वशीभूत होकर या अन्य किसी प्रकारसे बाधित होकर जो धर्मात्मा व्यक्ति अपने धर्मसे च्युत होनेवाला है अथवा चारित्रसे भ्रष्ट होने जा रहा है, उसका कष्ट निवारण करना अथवा भ्रष्ट होनेके निमित्तको हटाकर उसे स्थिर करना स्थितीकरण-अंग है।

साधर्मी बन्धुको धर्मश्रद्धा और आचरणसे विचलित न होने देना तथा विचलित होते हुओंको धर्ममें स्थित करना भी स्थितीकरण है।

वात्सल्य-अंग

धर्मका सम्बन्ध अन्य सांसारिक सम्बन्धोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अप्रशस्त रागका कारण नहीं, किन्तु प्रकाशकी ओर ले जाने वाला है। साधर्मी बन्धुओंके प्रति उसी प्रकारका आन्तरिक स्नेह करना, जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेसे करती है।

वस्तुतः साधर्मी बन्धुओंके प्रति निश्छल और आन्तरिक स्नेह करना वात्सल्य है। इस गुणके कारण साधर्मी भाई निकट सम्पर्कमें आते हैं और उनका संगठन दृढ़ होता है। धूर्तता मायाचार, वंचकता आदिको छोड़कर सद्भावनापूर्वक साधर्मियोंका आदर, सत्कार, पुरस्कार, विनय, वैयावृत्त्य, भक्ति, सम्मान, प्रशंसा आदि करना वात्सल्य है।

प्रभावना-अंग

जगतमें वीतराग-मार्गका विस्तार करना, धर्म-सम्बन्धी भ्रमको दूर करना और धर्मकी महत्ता स्थापित करना प्रभावना है।

जिनधर्म-विषयक अज्ञानको दूरकर धर्मका वास्तविक ज्ञान कराना प्रभावना है। देव, शास्त्र और गुरुके स्वरूपको लेकर जनसाधारणमें जो अज्ञान वर्तमान है, उसे दूर करना प्रभावनाके अन्तर्गत है।

सम्यग्दृष्टि रत्नत्रयके तेजसे आत्माको प्रभावित करते हुए दान, तप, विद्या, जिनपूजा, मन्त्रशक्ति आदिके द्वारा लोकमें जिनशासनका महत्त्व प्रकट करता हैं। जिनशासनकी महिमा जिन जिन कार्योंसे अभिव्यक्त होती है, उन उन कार्योंका आचरण सम्यग्दृष्टि करता है।

उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चारोंका पालन 'स्व' और 'पर' दोनोंमें ही हुआ करता है। अन्य व्यक्तियोंके समान अपनेको भी संभालना, गिरनेका प्रसंग आनेपर सावधान हो जाना और कदाचित् गिरजाने-पर पुनः पदमें अपनेको प्रतिष्ठित करना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन अथवा मोक्षमार्गसे विचलित होनेके दो कारण हैं:—(१) आगम ज्ञानका अभाव या अल्पता और (२) संहननकी कमी। इन दोनों कारणोंसे जीव परीषह और उपसर्ग सहन करनेसे विचलित हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष या न्यूनताएँ

सम्यग्दर्शनके आठ मद, आठ मल, छः अनायतन और तीन मूढ़ताएँ इस प्रकार पच्चीस दोष होते हैं। मिथ्यादृष्टि इन दोषोंके अधीन होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचपरावर्त्तन निरन्तर करता रहता है। ऐसी कोई पर्याय नहीं, जो इसने धारण न की हो, ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ यह उत्पन्न न हुआ हो तथा जहाँ इसका मरण न हुआ हो, ऐसा कोई समय नहीं, जिसमें इसने जन्म न ग्रहण किया हो, ऐसा कोई भव नहीं, जो इसने न पाया हो। अतः मिथ्यात्वका त्यागकर पच्चीस दोषरहित सम्यग्दर्शन धारण करना मनुष्य-पर्यायका फल है।

मद या अहंकार सम्यग्दर्शनका दोष है। ज्ञान आदि आठ वस्तुओंका आश्रय लेकर अपना बड़प्पन प्रकट करना मद है। मद आठ प्रकारके होते हैं:—

१. ज्ञानमद[1]—क्षायोपशमिक ज्ञानका अहंकार करना कि मुझसे बड़ा कोई ज्ञानी नहीं। मैं सकलशास्त्रोंका ज्ञाता हूँ।

२. प्रतिष्ठा या पूजामद—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा या लौकिक सम्मानका गर्व करना प्रतिष्ठा या पूजामद है।

३. कुलमद—मेरा पितृपक्ष अतीव उज्ज्वल है, मेरे इस वंशमें आजतक कोई दोष नहीं लगा है। इस प्रकार पितृवंशका गर्व करना कुलमद है।

४. जातिमद—मेरा मातृपक्ष बहुत उन्नत है। यह शीलमें सुलोचना, सीता, अनन्तमती और चन्दनाके तुल्य है। इस प्रकार माताके वंशका अभिमान करना जातिमद है।

---

१. अहं ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते' अहं मान्यो महामण्डलेश्वरा मत्पादसेवकाः। कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीवोज्ज्वलः''''। मम माता संघस्य पत्युर्दुहिता शीलेन सुलोचना-सीता-अनन्तमती-चन्दनादिका वर्तते।''''मम रूपाग्रे कामदेवोऽपि दासत्वं करोतीत्यष्टमदाः। —मोक्षपाहुड-टीका गा० २७.

५. बलमद—शारीरिक शक्तिकी दृष्टिसे गर्व करना बलमद है।

६. ऋद्धिमद—बुद्धि आदि ऋद्धियों अथवा गृहस्थकी अपेक्षा धनादि वैभवका गर्व करना ऋद्धिमद है।

७. तपमद—अनशनादि तपोंका गर्व करना तपमद है।

८. शरीरमद—अपने स्वस्थ एवं सुन्दर शरीरका गर्व करना शरीरमद है।

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि क्षयोपशमजन्य ज्ञान, पूजा आदि वस्तुएँ मेरे अधीन नहीं हैं, किन्तु कर्माधीन हैं और कर्मोदय प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, अतएव शरीर, ज्ञान, ऐश्वर्य आदिका मद करना निरर्थक है। रत्नत्रयरूप धर्म ही जीवात्माके स्वाधीन है, कालानवच्छिन्न है, पवित्र-निर्मल और स्वयं कल्याणस्वरूप है। संसारके अन्य सब पदार्थ 'पर' हैं और आत्मोत्थानमें सहायक नहीं हैं। अतः सम्यग्दृष्टि यदि अपने अन्य सधर्मिओंके साथ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति आदि आठ विषयोंमेंसे किसीका भी आश्रय लेकर तिरस्कारभाव रखता है, तो वह उसका 'स्मय' नामक दोष कहलाता है। इससे उसकी विशुद्धि नष्ट होती है और कदाचित् वह अपने स्वरूपसे च्युत भी हो सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ज्ञानादि हेय नहीं हैं, अपितु ज्ञानादिके मद हेय हैं।

आस्था सम्बन्धी अन्धविश्वास

अन्धश्रद्धालु बनकर आत्महितका विचार किये बिना ही लोक, देव, एवं धर्म-सम्बन्धी मूढ़तायुक्त क्रियाओंमें प्रवृत्त होना अन्धश्रद्धा या मूढ़ता है। ये मूढ़ताएँ तीन हैं:—१. लोकमूढ़ता, २. देवमूढ़ता और ३. पाषण्डमूढ़ता।

ऐहिकफलकी इच्छासे धर्म समझकर नदी, समुद्र एवं पुष्कर आदिमें स्नान करना, बालुका एवं पत्थरके ढेर लगाना—पर्वतसे गिरना, एवं अग्निमें कूदकर प्राण देना मूढ़ता या अन्धश्रद्धामें समाविष्ट है। जो आत्मधर्मसे विमुख होकर लौकिक क्रिया-काण्डोंको ही धर्म समझता है और धर्म-साधनाके रूपमें प्रवृत्ति करता है वह लोकमूढ़ कहा जाता है।

लौकिक अभ्युदय एवं वरदान प्राप्तिकी इच्छासे आशायुक्त हो राग-द्वेषसे मलिन देवोंकी आराधना करना देवमूढ़ता है। वस्तुतः देवसम्बन्धी अन्धविश्वास एवं उस विश्वासकी पूर्तिके साधन देवमूढ़तामें समाविष्ट हैं। देव सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी होता है। इसके विपरीत जो रागद्वेषसे मलिन है वह कुदेव है और ऐसे कुदेवोंकी आराधना करनेसे धर्माचरण नहीं होता है। यदि सम्यग्दृष्टि सांसारिक फलकी इच्छासे वीतरागदेवकी उपासना भी करता है तो भी सम्यक्त्वमें दोष आता है। जो मिथ्या आशावश सराग देवोंकी आराधनासे लौकिक फल प्राप्त करना चाहता है उसकी आस्था पङ्गु और अन्ध है।

रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है और इस मार्गके लिये आरम्भ-परिग्रहके त्यागी गुरुके अवलम्बनकी आवश्यकता है। जो आरम्भ, परिग्रह और हिंसासे सहित, संसारपरिभ्रमणके कारणभूत कार्योंमें लीन हैं वे कुगुरु हैं। ऐसे कुगुरुओंकी भक्ति, वन्दना करना पाषण्ड या गुरुमूढ़ता है।

षड् अनायतन या मिथ्या आस्थाएँ

भय, आशा एवं स्नेहवश कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनोंके आराधकोंकी भक्ति-प्रशंसा करना षड् अनायतन हैं।

शंकादि दोष

सम्यग्दर्शनके अष्टांगोंके विपरीत शंकादि आठ दोष भी श्रद्धाको मलिन बनाते हैं। वे हैं शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, दोषव्यक्तीकरण, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन आत्माके श्रद्धागुणकी निर्मल पर्याय है। इसे धारण कर नीचकुलोत्पन्न चाण्डाल भी महान् बन जाता है और श्वान जैसा निन्द्यप्राणी भी देवोंद्वारा पूज्य बन जाता है।

सम्यग्ज्ञान

नय और प्रमाण द्वारा जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। दृढ़ आत्मविश्वासके अनन्तर ज्ञानमें सम्यक्पना आता है। यों तो संसारके पदार्थोंका हीनाधिक रूपमें ज्ञान प्रत्येक व्यक्तिको होता है। पर उस ज्ञानका आत्मविकासके लिये उपयोग करना कम ही व्यक्ति जानते हैं। सम्यग्दर्शनके पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकासका कारण होता है। 'स्व' और 'पर' का भेदविज्ञान यथार्थतः सम्यग्ज्ञान है।

निश्चयसम्यग्ज्ञान अपने आत्म-स्वरूपका बोध ही है। जिसने आत्माको जान लिया है, उसने सब कुछ जान लिया है और जो आत्माको नहीं जानता, वह सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी है। सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमें ज्ञान-मीमांसाके अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

सम्यक्चारित्र या सम्यगाचार

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदिका अनुष्ठान करना उत्तमक्षमादि दशधर्मोंका पालन करना, मूलगुण और उत्तरगुणोंका धारण करना सम्यक्चारित्र है। अथवा विषय, कषाय, वासना, हिंसा, झूठ,

चोरी, कुशील और परिग्रहणरूप क्रियाओंसे निवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है[1]। चारित्र वस्तुतः आत्मस्वरूप है। यह कषाय और वासनाओंसे सर्वथा रहित है। मोह और क्षोभसे रहित जीवकी जो निर्विकार परिणति होती है, जिससे जीवमें साम्यभावकी उत्पत्ति होती है, चारित्र है[2]। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्रके बलसे ही अपना सुधार या बिगाड़ करता है। अतः मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वदा शुभ रूपमें रखना आवश्यक है। मनसे किसीका अनिष्ट नहीं सोचना, वचनसे किसीको बुरा नहीं कहना तथा शरीरसे कोई निन्द्य कार्य नहीं करना सदाचार है।

विषय-तृष्णा और अहंकारकी भावना मनुष्यको सम्यक् आचरणसे रोकती है। विषयतृष्णाकी पूर्तिहेतु ही व्यक्ति प्रतिदिन अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, चोरी, बेईमानी हिंसा आदि पापोंको करता है। तृष्णाको शान्त करनेके लिये स्वयं अशान्त हो जाता है तथा भयंकर-से-भयंकर पाप कर बैठता है। अतः विषय-निवृत्तिरूप चारित्रको धारण करना परमावश्यक है।

मनुष्यके सामने दो मार्ग विद्यमान हैं:—शुभ और अशुभ। जो राग-द्वेष-मोहको घटाकर शुभोपयोगरूप परिणति करता है वह शुभमार्गका अनुगामी माना जाता है और जो रागद्वेष-कषायरूप परिणतिमें संलग्न रहता है वह अशुभमार्गका अनुसरणकर्त्ता है। अज्ञान एवं तीव्र रागद्वेषके अधीन होकर व्यक्ति कर्त्तव्य-च्युत होता है। जीव अपनी सत्प्रवृत्तिके कारण शुभका अर्जन करता है और असत्प्रवृत्तिके कारण अशुभका। एक ही कर्म शुभ और अशुभ प्रवृत्तियोंके कारण दो रूपोंमें परिणत हो जाता है। शुभ और अशुभ एक ही पुद्गलद्रव्यके स्वभावभेद हैं! शुभ कर्म सातावेदनीय, शुभायु, शुभ नाम, शुभगोत्र एवं अशुभ कर्म, घाति या असाता वेदनीय अशुभायु, अशुभ नाम, अशुभगोत्र हैं। यह जीव शुद्धनिश्चयसे वीतराग, सच्चिदानन्दस्वभाव है और व्यवहारनयसे रागादिरूप परिणमन करता हुआ शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप है। यों तो आत्माकी परिणति शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप है। चैतन्य, अखण्ड आत्मस्वभावका अनुभव करना शुद्धोपयोग, कषायोंकी मन्दतावश शुभरागरूप परिणति होना शुभोपयोग एवं तीव्र कषायोदयरूप परिणामोंका होना अशुभोपयोग है। शुद्धोपयोगका नाम

---

१. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥ —द्रव्यसंग्रह ४५.

२. साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः। —प्रवचनसार, गाथा ७ की अमृतचन्द्र-टीका.

वीतराग चारित्र, शुभोपयोगका नाम सदाचार एवं अशुभोपयोगका नाम कदाचार है।

परमपद-प्राप्तिहेतु : आचारके भेद

परमपद-प्राप्तिके मार्गविवेचनकी दृष्टिसे आचारके दो भेद हैं:—(१) निवृत्ति-मूलक आचार और (२) प्रवृत्तिमूलक आचार। निवृत्तिमूलक आचारको त्याग-मार्ग या श्रमणमार्ग कहा जाता है। यह मार्ग कठिन है, पर जल्द पहुँचानेवाला है। समस्त पदार्थोंसे मोह-ममत्व त्यागकर वीतराग आत्म-तत्त्वकी उपलब्धिके हेतु अरण्यवास स्वीकार करना और इन्द्रिय तथा अपने मनको अधीनकर आत्मस्वरूपमें रमण करना निवृत्ति या त्यागमार्ग है। यह आचारका मार्ग सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं। पर है निर्वाणको प्राप्त करानेवाला। यह कण्टकाकीर्ण मार्ग है। इसकी साधना विरले जितेन्द्रिय ही कर पाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस निवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेसे रागद्वेष-मोहादिसे रहित निर्मल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि शीघ्र ही होती है। इस आचारमार्गका नाम सकलचारित्र या मुनिधर्म है।

द्वितीय मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। यह सरल है, पर है दूरवर्ती। इस मार्ग द्वारा आत्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बहुत समय लगता है। इस आचारमार्गमें किसीका भय नहीं है। अतः इसे पुष्पाकीर्ण मार्ग कहा जाता है। प्रवृत्तिके दो रूप हैं:—(१) शुभ और (२) अशुभ। अशुभ प्रवृत्तिका त्यागकर शुभ प्रवृत्तिका अनुसरण करना विकलाचरण है। संक्षेपमें आचारको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मुनि या साधुका आचार और गृहस्थ या श्रावकका आचार।

श्रावकाचार

श्रावकशब्द तीन वर्णोंके संयोगसे बना है और इन तीनों वर्णोंके क्रमशः तीन अर्थ हैं:—(१) श्रद्धालु, (२) विवेकी और (३) क्रियावान। जिसमें इन तीनों गुणोंका समावेश पाया जाता है वह श्रावक है। व्रतधारी गृहस्थको श्रावक, उपासक और सागार आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। यह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों—निर्ग्रन्थमुनियोंके प्रवचनका श्रवण करता है, अतः यह श्राद्ध या श्रावक कहलाता है। श्रावकके आचारका वर्गीकरण कई दृष्टियों-से किया जाता है। पर इस आचारके वर्गीकरणके तीन आधार प्रमुख हैं:—

१. द्वादशव्रत, २. एकादशप्रतिमाएँ, ३. पक्ष, चर्या और साधन।

सावद्यक्रिया—हिंसाकी शुद्धिके तीन प्रकार हैं:—(१) पक्ष, (२) चर्या या

निष्ठा और (३) साधन। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और निर्ग्रन्थ धर्मको मानना पक्ष है। ऐसे पक्षको रखनेवाला श्रावक पाक्षिक कहलाता है। इस श्रेणीके श्रावककी आत्मामें समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्री, गुणी जीवोंके प्रति प्रमोद, दीन-दुःखियोंके प्रति करुणा एवं विपरीतवृत्तिवालोंके प्रति माध्यस्थ्यभाव रहता है। यह न्यायपूर्वक आजीविकाका उपार्जन करते हुए जीवहिंसासे विरत रहनेकी चेष्टा करता है। पाक्षिकश्रावकके लिये निम्नलिखित क्रियाओंका पालन करना आवश्यक है।

१. **न्यायपूर्वक धनोपार्जन**– गार्हस्थिक कार्योंको सम्पादित करनेके लिये आजीविका अर्जित करना आवश्यक है। पर विश्वासघात, छल-कपट, धूर्त्तता और अन्यायपूर्वक धनार्जन करना त्याज्य है। जिसे धर्मका पक्ष है, देव, शास्त्र और गुरुके प्रति निष्ठा या श्रद्धा है ऐसा श्रावक धनार्जनमें अन्याय और अनीतिका प्रयोग नहीं करता। सन्तोष, शान्ति और नियन्त्रित इच्छाओंके आलोकमें शुभप्रवृत्तियों द्वारा आजीविकोपार्जनका प्रयास करता है। आजीविकाके साधनोंमें हिंसा और आरम्भका उपयोग कम-से-कम किया जाय, इस बातका पूरा ध्यान रखता है। तृष्णा और विषय-कषायोंको सीमित और नियन्त्रित कर परिवारके भरण-पोषणके हेतु आजीविकोपार्जन करता है।

२. **गुणपूजा**—आत्मामें मार्दवधर्मके विकासहेतु गुणी व्यक्ति और ज्ञान, दर्शन, चैतन्यादि गुणोंका बहुमान, श्लाघा एवं प्रशंसा करना गुणपूजा है। गुण, गुरु और गुणयुक्त गुरुओंका पूजन एवं सम्मान करना गुणविकासका कारण है। अपने भीतर सदाचार, सज्जनता, उदारता, दानशीलता और हित-मित-प्रिय-वचनशीलताका प्रयोग स्व और परका उपकारक है। जिस पाक्षिकश्रावकको धर्मके प्रति निष्ठा है वह अपने आचरणमें वैय्यावृत्ति एवं गुण-गुरु-पूजाको उपयोगी समझता है, अतः पाक्षिकश्रावककी पात्रता प्राप्त करनेके लिये गुण-पूजा आवश्यक है। इससे आत्माके अहंकार और ममकार भी क्षीण होते हैं।

३. **प्रशस्त वचन**—निर्दोष वाणीका प्रयोग करना प्रशस्त वचन है। परनिंदा और कठोरता आदि दोषोंसे रहित प्रशस्त तथा उत्कृष्ट वचनोंका व्यवहार जीवनके लिये हितकर और उपयोगी है।

४. **निर्बाध त्रिवर्गका सेवन**—धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका विरोध रहित सेवन करना निर्वाध त्रिवर्गसेवन है। इन तीन पुरुषार्थोंमेंसे कामका कारण अर्थ है, क्योंकि अर्थके विना इन्द्रिय-विषयोंकी सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकती है और अर्थका कारण धर्म है, क्योंकि पुण्योदय अथवा प्रामाणि-

कताके बिना धनकी प्राप्ति नहीं होती। प्रामाणिकता सदाचारपर निर्भर है। पाक्षिक श्रावकको अविरोधभावसे उक्त तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये।

५. त्रिवर्गयोग्य स्त्री, ग्राम, भवन—त्रिवर्गके साधनमें सहायक स्त्री या भार्या है। सुयोग्य भार्याके रहनेसे परिवारमें शान्ति, सुख और सहयोग विद्यमान रहते हैं। संयम, अतिथि-सेवा एवं शिष्टाचारकी वृद्धि होती है। भार्याके समान ही त्रिवर्गमें साधक भवन और ग्रामका होना भी आवश्यक है।

६. उचित लज्जा—लज्जा मानवजीवनका भूषण है। लज्जाशील व्यक्ति स्वाभिमानकी रक्षाके हेतु अपयशके भयसे कदाचारमें प्रवृत्त नहीं होता है। विरुद्ध परिस्थितिके आनेपर भी लज्जाशील व्यक्ति कुकर्म नहीं करता। वह शिष्ट और संयमित व्यवहारका आचरण करता है।

७. योग्य आहार-विहार—अभक्ष्य, अनुपसेव्य और चलितरसके सेवनका त्याग करना तथा स्वास्थ्यप्रद और निर्दोष भोजन ग्रहण करना योग्य आहार है। जिह्वालोलुपी और विषयलम्पटी भक्ष्य-अभक्ष्यका विवेक नहीं रख सकता है। अतएव विवेक और संयमपूर्वक आहार-विहारपर नियन्त्रण रखना योग्य आहार-विहार है।

८. आर्यसमिति—जिनके सहवाससे आत्मगुणोंमें विकास हो, संयमकी प्रवृत्ति जागृत हो और आत्मप्रतिष्ठा बढ़े, ऐसे सदाचारी व्यक्तियोंकी संगति करना आर्यसमिति कहलाती है। व्यक्ति शुभाचरणवाले पुरुषोंके सम्पर्कसे आचारवान् बनता है। नीच और दुराचारी व्यक्तियोंकी संगतिका त्याग अत्यावश्यक है।

९. विवेक—कर्त्तव्याकर्त्तव्यका तर्क-वितर्कपूर्वक निर्धारण करना विवेक है। विवेक द्वारा लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकारके करणीय और अकरणीय कार्योंका निर्धारण किया जाता है।

१०. उपकार-स्मृति या कृतज्ञता—कृतज्ञता मनुष्यका एक गुण है। जो व्यक्ति अपने ऊपर किये गये दूसरोंके उपकारोंका स्मरण रखता है और उपकारके बदलेमें प्रत्युपकार करनेकी भावना रखता है वह कृतज्ञ कहलाता है। कृतज्ञता जीवन-विकासके लिये आवश्यक है। इस गुणके सद्भावसे धर्मधारणकी योग्यता उत्पन्न होती है।

११. जितेन्द्रियता—इन्द्रियोंके विषयोंको नियन्त्रित करना तथा अनाचार और दुराचाररूप प्रवृत्तिको रोकना जितेन्द्रियता है। जो व्यक्ति इन्द्रियोंके अधीन हैं और विषय-सुखोंको ही जिसने अपना सर्वस्व मान लिया है वह कषाय

और विकारोंसे छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता है। इन्द्रियविषयलोलुपी जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। वह आत्मासे विमुख हुआ विषय-सेवनको ही सुखका साधन समझता है। अतः इन्द्रियोंको नियन्त्रित्त करना जितेन्द्रियता है।

१२. धर्मविधि-श्रवण—अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन धर्म है। युक्ति और आगमसे सिद्ध धर्मकी प्रतिष्ठा अथवा उसके स्वरूपका प्रतिदिन श्रवण धर्मविधिश्रवण है। अज्ञानता और तीव्र राग-द्वेषके वशीभूत हुआ व्यक्ति धर्मका श्रवण नहीं कर पाता है। इसके लिये आत्मपरिणामोंका कोमल होना आवश्यक है।

१३. दयालुता—दुःखी प्राणियोंके दुःखोंको दूर करनेकी इच्छा दया कहलाती है। जिसके हृदयमें कोमलता, करुणा और आर्द्रता है वही दयालु हो सकता है। धर्म-धारणकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये आत्म-परिणतिका दयायुक्त होना आवश्यक है। जिस व्यक्तिकी आत्मामें दयाकी जितनी अधिक भावना समाहित रहती है वह व्यक्ति अपनी आत्माको उतना ही धर्मधारण करनेके योग्य बनाता है।

१४. पापभीति—अनिष्ट फल प्रदान करनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापोंसे भीत रहना अपनेको धर्मधारणका अधिकारी बनाना है। जो निर्भय होकर पापाचरण करता है वह धर्मका अधिकारी नहीं हो सकता है। अतएव पाप-कार्योंसे डरकर दूर रहना पापभीति है।

इस प्रकार पाक्षिक श्रावक उक्त चौदह गुणों द्वारा अपनी आत्माको धर्म-धारणके योग्य बनाता है।

श्रावकके द्वादश व्रतों और एकादश प्रतिमाओंका पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इस चर्याका आचरण करनेवाला गृहस्थ नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है।

जीवनके अन्तमें आहारादिका सर्वथा त्यागकर सल्लेखना द्वारा आत्म-साधना करना साधन है। इस प्रकारके साधनको अपनाते हुए ध्यानशुद्धिपूर्वक आत्म-शोधन करनेवाला साधक श्रावक कहलाता है।

श्रावकके द्वादशव्रत

ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी त्रिवेणी मुक्तिको ओर प्रवाहित होती है। किन्तु मानव अपनी-अपनी क्षमताके अनुसार उसकी गहराईमें प्रवेश करता है और अपनी शक्तिके अनुसार चारित्रको ग्रहण करता है। श्रावक घरमें रहकर पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय उत्तरदायित्वोंका निर्वाह करते हुए मुक्ति-मार्गकी साधना करता है।

व्रत : स्वरूप-विचार और आवश्यकता

जीवनको सुन्दर बनानेवाली और आलोककी ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती हैं। जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, प्राणीमात्रके लिए हितावह हैं और जिनसे 'स्व', 'पर' का कल्याण होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जाता है।

व्रतकी परिभाषामें बताया जाता है कि सेवनीय विषयोंका संकल्पपूर्वक यम या नियम रूपसे त्याग करना, हिंसा आदि निन्द्य कार्योंका छोड़ना अथवा पात्रदान आदि प्रशस्त कार्योंमें प्रवृत्त होना व्रत[1] है। जिसप्रकार सतत प्रगतिशील प्रवाहित होनेवाली सरिताके प्रवाहको नियंत्रित रहनेके लिये दो तटोंकी आवश्यकता होती है, उसीप्रकार जीवनको नियंत्रित, मर्यादित बनाये रखनेके लिये व्रतोंकी आवश्यकता है। जैसे तटोंके अभावमें नदीका प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्यकी जीवनशक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवनशक्तिको केन्द्रित करने और योग्य दिशामें ही उसका उपयोग करनेके लिये व्रतोंको अत्यन्त आवश्यकता है।

मूल दोष

यों तो व्यक्तिमें अगणित दोष होते हैं और उनकी गणना भी सम्भव नहीं है। पर उन सभी दोषोंके मूलकी यदि खोज की जाय, तो विदित होगा कि मूलभूत दोष पाँच ही हैं। शेष समस्त दोष इन्हींके अन्तर्भूत हैं। ये पांच दोष ही व्यक्तिके जीवनमें नाना प्रकारकी बुराइयां उत्पन्न करते हैं और इन पाँच दोषोंके कारण मानवता संत्रस्त रहती है। इन्हींके प्रभावसे मानव दानव, राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, स्वार्थी, प्रपंची आदि बना रहता है और ये ही दोष आत्माके उत्थानके मार्गमें गतिरोध उत्पन्न करते हैं। इन दोषोंके उत्पादक राग और द्वेष हैं। दोष निम्नलिखित हैं—

(१) हिंसा—राग-द्वेषके वशीभूत हो प्राणोंका घात करना। हिंसामें प्रमाद अवश्य निहित रहता है। प्राणवध द्रव्यहिंसा है और प्रमादयोग भावहिंसा।

(२) असत्य भाषण—अयथार्थ और अप्रशस्त भाषण करना। दूसरोंको कष्ट पहुँचानेवाले वचनोंका प्रयोग भी असत्य भाषणमें गर्भित है।

---

१. सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये, नियमोऽशुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा, प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥ —सागारधर्मामृत २।८०

(३) अदत्तादान—वस्तुके स्वामीकी इच्छाके बिना किसी वस्तुको ग्रहण करना, या अपने अधिकारमें करना अदत्तादान है। मार्गमें पड़ी हुई या भूली हुई वस्तुको हड़प जाना भी अदत्तादान है। नीति-अनीतिके विवेकको तिलांजलि देकर अनधिकृत वस्तुपर भी अधिकार करनेका प्रयत्न करना चोरी है।

(४) मैथुन—स्त्री और पुरुषके कामोद्वेगजनित पारस्परिक सम्बन्धकी लालसा एवं क्रिया मैथुन है और है यह अब्रह्म। यह आत्माके सद्गुणोंका विनाश करनेवाला है। इस दोषाचरणसे समाजकी नैतिक मर्यादाओंका उल्लंघन होता है।

(५) परिग्रह—किसी भी परपदार्थको ममत्वभावसे ग्रहण करना परिग्रह है। ममत्व, मूर्च्छा या लोलुपताको वास्तवमें परिग्रह कहा जाता है। संसारके अधिकांश दु:ख इस परिग्रहके कारण ही उत्पन्न होते हैं। आत्मा अपने स्वरूपसे विमुख होकर और राग-द्वेषके वशीभूत होकर परिग्रहमें आसक्त होती है।

इन दोषोंके शमनसे आत्मामें स्वहितकी क्षमता और योग्यता उत्पन्न होती है। जो श्रावकके द्वादश व्रतोंका पालन करना चाहता है, उसे सप्तव्यसनका त्याग आवश्यक है। द्यूतक्रीड़ा, मांसाहार, मदिरा-पान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी और परस्त्रीगमन ये सातों ही व्यसन जीवनको अधःपतनकी ओर ले जानेवाले हैं। व्यसनोंका सेवन करनेवाला व्यक्ति श्रावकके द्वादश व्रतोंके ग्रहण करनेका अधिकारी नहीं है। इसीप्रकार मद्य, मांस, मधु और पंच क्षीर-फलोंके भक्षणका त्याग कर अष्ट मूलगुणोंका निर्वाह करना भी आवश्यक है। वास्तवमें मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पंचोदुम्बरफल-त्याग, देववन्दना, जीवदया और जलगालन ये आठ मूलगुण श्रावकके लिये आवश्यक[1] हैं।

इसप्रकार जो सामान्यतया विरुद्ध आचरणका त्याग कर इन्द्रिय और मनको नियंत्रित करनेका प्रयास करता है, वही श्रावक धर्मको ग्रहण करता है।

श्रावकके द्वादश व्रतोंमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंकी गणना की गयी है। वस्तुतः इन व्रतोंका मूलाधार अहिंसा है। अहिंसासे ही मानवताका विकास और उत्थान होता है, यही संस्कृतिकी आत्मा है और है आध्यात्मिक जीवनकी नींव।

---

१. मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ —सागारधर्मामृत, २।१८.

अणुव्रत

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और मूर्च्छा—परिग्रह इन पाँच दोष या पापोंसे स्थूलरूप या एक देशरूपसे विरत होना अणुव्रत है। अणुशब्दका अर्थ लघु या छोटा है। जो स्थूलरूपसे पंच पापोंका त्याग करता है, वही अणुव्रतका धारी माना जाता है। अणुव्रत पाँच हैं—

(१) अहिंसाणुव्रत—स्थूलप्राणातिपातविरमण—जीवोंकी हिंसासे विरत होना अहिंसाणुव्रत है। प्रमत्तयोगसे प्राणोंके विनाशको हिंसा कहा जाता है। प्रमत्तयोगका अभिप्राय राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिसे है। यहाँ प्रमत्तयोग कारण है और प्राणोंका विनाश कार्य। प्राण दो प्रकारके होते हैं:—(१) द्रव्यप्राण और (२) भावप्राण। प्रमत्तयोगके होनेपर द्रव्यप्राणोंके विनाशका होना नियमित नहीं है। हिंसाके अन्य भी निमित्त हो सकते हैं। पर प्रमत्तयोगसे भावप्राणोंका विनाश होता है और भावप्राणोंका विनाश ही यथार्थमें हिंसा है। राग-द्वेषकी प्रवृत्ति हिंसा है और निवृत्ति अहिंसा। वस्तुतः संसारमें न कोई इष्ट होता है, न कोई अनिष्ट, न कोई भोग्य होता है और न कोई अभोग्य। मनुष्यका राग-द्वेष ही संसारको इष्ट और अनिष्ट रूपमें दिखलाता है[1]। इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष होता है। अतः राग-द्वेषके अवलम्बनरूप बाह्य पदार्थोंका त्याग आवश्यक है। हिंसाका कारण राग-द्वेषरूप परिणति ही है। अतएव अहिंसाका पालन आवश्यक है। इसीके द्वारा मनुष्यताकी प्रतिष्ठा सम्भव है। अत्याचारीकी इच्छाके विरुद्ध अपने समस्त आत्मबलको लगा देना ही संघर्षका अन्त करना है और यहो अहिंसा है। अहिंसा ही अन्याय और अत्याचारसे दीन-दुर्बलोंकी रक्षा कर सकती है। यही विश्वके लिये सुखदायक है।

हिंसा विश्वमें शान्ति और सुखकी स्थापना नहीं कर सकती। प्रत्येक प्राणीको यह जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है कि वह स्वयं सुखपूर्वक जिये और अन्य प्राणियोंको भी जीवित रहने दे। आजका मनुष्य स्वार्थ और अधिकारके वशीभूत हो स्वयं तो सुखपूर्वक रहना चाहता है, पर दूसरोंको चैन और शान्तिसे नहीं रहने देता है। अतएव अहिंसाणुव्रतका जीवनमें धारण करना आवश्यक है। अहिंसाका अर्थ मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्रके प्रति सद्भावना और प्रेम रखना है। दम्भ, पाखण्ड, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थबुद्धि, छल-कपट प्रभृति भावनाएँ हिंसा हैं। अहिंसामें त्याग है, भोग नहीं।

---

१. रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसंबद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥ —आत्मानुशासन, श्लोक २३७.

जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ हिंसा अवश्य है। अतः राग-द्वेषकी प्रवृत्तिका नियंत्रण आवश्यक है।

हिंसा चार प्रकारकी होती है:—(१) संकल्पी, (२) उद्योगी, (३) आरंभी और (४) विरोधी। निर्दोष जीवका जानबूझकर बध करना संकल्पी; जीविका-सम्पादनके लिये कृषि, व्यापार, नौकरी आदि कार्यों द्वारा होनेवाली हिंसा उद्योगी; सावधानीपूर्वक भोजन बनाने, जल भरने आदि कार्यों में होनेवाली हिंसा आरम्भी एवं अपनी या दूसरोंकी रक्षाके लिये की जानेवाली हिंसा विरोधी हिंसा कहलाती है। प्रत्येक गृहस्थको संकल्पपूर्वक किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। अहिंसाणुव्रतका धारी गृहस्थ संकल्पी हिंसाका नियमतः त्यागी होता है। इस हिंसाके त्याग द्वारा श्रावक अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियोंको शुद्ध करता है। अहिंसक यतनाचारका धारी होता है।

अहिंसाणुव्रतका धारी जीव त्रसहिंसाका त्याग तो करता ही है, साथ ही स्थावर-प्राणियोंकी हिंसाका भी यथाशक्ति त्याग करता है। इस व्रतकी शुद्धिके लिये निम्नलिखित दोषोंका त्याग भी अपेक्षित है—

(१) बन्ध—त्रसप्राणियोंको कठिन बन्धनसे बाँधना अथवा उन्हें अपने इष्ट स्थानपर जानेसे रोकना। अधीनस्थ व्यक्तियोंको निश्चित समयसे अधिक काल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समयके पश्चात् भी काम लेना, उन्हें अपने इष्ट स्थानपर जानेमें अन्तराय पहुँचाना आदि बन्धके अन्तर्गत हैं।

(१) वध—त्रसप्राणीको मारना, पीटना या त्रास देना, वध है। प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे किसी भी प्राणीकी हत्या करना, कराना, किसीको मारना, पीटना या पिटवाना, सन्ताप पहुँचाना, शोषण करना आदि वधके विविध रूप हैं। स्वार्थवश वधके विविध रूपोंमें व्यक्ति प्रवृत्त होता है। जिसके हृदयमें सर्वहितकी भावना समाहित रहती है, वह वध नहीं करता है।

(३) छविच्छेद—किसीका अंग भंग करना, अपंग बनाना या विरूप करना छविच्छेद है।

(४) अतिभार—अश्व, वृषभ, ऊँट आदि पशुओं पर, अथवा मजदूर आदि नौकरोंपर उनकी शक्तिसे अधिक बोझ लादना अतिभार है। शक्ति एवं समय होनेपर भी अपना काम स्वयं न कर दूसरोंसे करवाना अथवा किसीसे शक्तिसे अधिक काम लेना भी अतिभार है।

(५) अन्न-पाननिरोध—अपने आश्रित प्राणियोंको समयपर भोजन-पानी न देना अधीनस्थ सेवकोंको उचित वेतन न देना अन्न-पाननिरोध है।

अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिये निम्नलिखित पाँच भावनाओंका पालन करना भी आवश्यक है—

(१) वचनगुप्ति—वचनकी प्रवृत्तिको रोकना,

(२) मनोगुप्ति—मनकी प्रवृत्तिको रोकना,

(३) ईर्यासमिति—सावधानीपूर्वक देखकर चलना,

(४) आदान-निक्षेपणसमिति—सावधानीपूर्वक देखकर वस्तुको उठाना और रखना।

(५) आलोकितपानभोजन—दिनमें अच्छी तरह देख-भालकर आहार-पानीका ग्रहण करना।

२. सत्याणुव्रत—अहिंसा और सत्यका परस्परमें घनिष्ट सम्बन्ध है। एकके अभावमें दूसरेकी साधना शक्य नहीं। ये दोनों परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा सत्यको स्वरूप प्रदान करती है और सत्य अहिंसाकी सुरक्षा करता है। अहिंसाके बिना सत्य नग्न एवं कुरूप है। अतः मृषावादका त्याग अपेक्षित है। स्थूल झूठका त्याग किये बिना प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता है। यतः सत्ता और धोखा इन दोनोंका जन्म झूठसे होता है। झूठा व्यक्ति आत्मवंचना भी करता है। मिथ्याभाषणमें प्रमुख कारण स्वार्थकी भावना है। स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध जैसी भावनाएँ, असत्य या मिथ्याभाषणसे उत्पन्न होती हैं। मानवसमाजका समस्त व्यवहार वचनोंसे संचालित होता है। वचनके दोषसे व्यक्ति और समाज दोनोंमें दोष उत्पन्न होता है। अतएव मृषावादका त्याग आवश्यक है।

असत्य वचनके तीन भेद हैं—१. गर्हित २. सावद्य और ३. अप्रिय। निन्दा करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना एवं अश्लील वचनोंका प्रयोग करना गर्हित असत्यमें परिगणित हैं। छेदन, भेदन, मारन, शोषण, अपहरण एवं ताड़न सम्बन्धी वचन भी हिंसक होनेके कारण सावद्य असत्य कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके वचनोंके अतिरिक्त अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, वैर-शोक उत्पादक, सन्तापकारक आदि अप्रिय वचनोंका त्याग करना आवश्यक है।

झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसीकी गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, सच्ची झूठी कहकर किसीको गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मृषावादमें सम्मिलित हैं।

सावधानीपूर्वक सत्याणुव्रतका पालन करनेके लिए निम्नलिखित अति-चारोंका त्याग आवश्यक है।

१. मिथ्योपदेश—सन्मार्ग पर लगे हुए व्यक्तिको भ्रमवश अन्य मार्ग पर ले जानेका उपदेश करना मिथ्योपदेश है। असत्य साक्षी देना और दूसरे पर अपवाद लगाना भी मिथ्योपदेशके अन्तर्गत है।

२. रहोभ्याख्यान—गुप्त बात प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। विश्वासघात करना भी इसीमें सम्मिलित है।

३. कूटलेखक्रिया—झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना, गलत बही, खाते तैयार कराना, नकली सिक्के तैयार करना अथवा नकली सिक्के चलाना कूटलेखक्रिया है।

४. न्यासापहार—कोई धरोहर रखकर उसके कुछ अंशको भूल गया, तो उसकी इस भूलका लाभ उठाकर धरोहरके भूले हुए अंशको पचानेकी दृष्टिसे कहना कि जितनी धरोहर तुम कह रहे हो उतनी ही रखी थी, न्यासापहार है।

५. साकारमन्त्रभेद—चेष्टा आदि द्वारा दूसरेके अभिप्रायको ज्ञात कर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। इस व्रतका सम्यक्तया पालन करनेके लिए क्रोध, लोभ, भय और हास्यका त्याग करना तथा निर्दोष वाणीका व्यवहार करना आवश्यक है।

अचौर्याणुव्रत

मन, वाणी और शरीरसे किसीकी सम्पत्तिको बिना आज्ञा न लेना अचौर्याणुव्रत है। स्तेय या चोरीके दो भेद हैं—(१) स्थूल चोरी और (२) सूक्ष्म चोरी। जिस चोरीके कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालयसे दंडित होता है और जो चोरी लोकमें चोरी कही जाती है, वह स्थूल चोरी है। मार्ग चलते-चलते तिनका या कंकड़ उठा लेना सूक्ष्म चोरीके अन्तर्गत है।

किसीके घरमें सेंध लगाना, किसीके पॉकेट काटना, ताला तोड़ना, लूटना, ठगना आदि चोरी है। आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना या किसी वस्तुका अनुचित उपयोग करना भी एक प्रकारसे चोरी है। अचौर्याणुव्रतके धारी गृहस्थको एकाधिकारपर भी नियन्त्रण करना चाहिए। समस्त सुविधाएं अपने लिए सञ्चित करना तथा आवश्यकताओंको अधिक-से-अधिक बढ़ाते जाना भी स्तेयके अन्तर्गत है। संसारमें धनादिककी जितनी चोरी होती है, उससे कहीं अधिक विचार एवं भावोंकी भी चोरी होती है। अतएव अचौर्य भावना द्वारा भौतिक आवश्यकताओंको नियन्त्रित करना चाहिए। वस्तुतः जीवनकी किसी भी प्रकारकी

कमजोरीको छिपाना कमजोरी है। जीवनमें अगणित कमजोरियाँ हैं और होती रहेंगी, पर उनपर न तो पर्दा डालना और न उनके अनुसार प्रवृत्ति करना ही उचित है।

अचौर्याणुव्रतके पालनके लिए निम्नलिखित अतिचारोंका त्याग भी अपेक्षित है—

१. स्तेनप्रयोग—चोरी करनेके लिए किसीको स्वयं प्रेरित करना, दूसरेसे प्रेरणा कराना या ऐसे कार्यमें सम्मति देना स्तेनप्रयोग है।

२. स्तेनाहृत—अपनी प्रेरणा या सम्मतिके बिना किसीके द्वारा चोरी करके लाये हुए द्रव्यको ले लेना स्तेनाहृत है।

३. विरुद्धराज्यातिक्रम—राज्यमें विप्लव होनेपर हीनाधिक मानसे वस्तुओंका आदान-प्रदान करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। राज्यके नियमोंका अतिक्रमण कर जो अनुचित लाभ उठाया जाता है, वह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है।

४. हीनाधिकमानोन्मान—मापने या तौलनेके न्यूनाधिक बाँटोंसे देन-लेन करना हीनाधिकमानोन्मान है।

५. प्रतिरूपकव्यवहार असली वस्तुके बदलेमें नकली वस्तु चलाना या असलीमें नकली वस्तु मिलाकर उसे बेचना या चालू करना प्रतिरूपकव्यवहार है।

वास्तवमें इन अतिचारोंका उद्देश्य विश्वासघात, बेईमानी, अनुचित लाभ आदिका त्याग करना है।

अचौर्याणुव्रतकी शून्यागारावास—निर्जन स्थानमें निवास, विमोचितावास—दूसरेके द्वारा त्यक्त आवास, परोपरोधाकरण—अपने द्वारा निवास किये गये स्थानमें अन्यका अनवरोध, भैक्ष्यशुद्धि—भिक्षाके नियमोंका उचित पालन करना एवं सधर्माविसंवाद ये पाँच भावनाएँ हैं।

स्वदारसन्तोष—मन, वचन और कायपूर्वक अपनी भार्याके अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियोंके साथ विषयसेवनका त्याग करना स्वदारसन्तोषव्रत है। जिस प्रकार श्रावकके लिए स्वदारसन्तोषव्रतका विधान है उसी प्रकार श्राविकाके लिए स्वपतिसन्तोषका नियम है। काम एक प्रकारका मानसिक रोग है। इसका प्रतिकार भोग नहीं, त्याग है। रोगके प्रतिकारके लिए नियन्त्रित रूपमें विषयका सेवन करना और परस्त्रीगमनका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदारसन्तोषमें परिगणित है। यह अणुव्रत जीवनको मर्यादित करता है और मैथुनसेवनको नियन्त्रित करता है। इस व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं।

१. परविवाहकरण—जिनका विवाह करना अपने दायित्वके अन्तर्गत नहीं है उनका विवाह सम्पादित कराना, परविवाहकरण है।

२. इत्वरिकापरिगृहीतागमन—जो स्त्रियाँ परदारकोटिमें नहीं आतीं, ऐसी स्त्रियोंको धनादिका लालच देकर अपनी बना लेना अथवा जिनका पति जीवित है, किन्तु पुंश्चली हैं उनका सेवन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है। वस्तुतः यह अतिचार उसी समय अतिचारके रूपमें आता है जब व्रतका एकदेश भंग होता है, अन्यथा व्रतभंग माना जाता है।

३. इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन—जो स्त्री अपरिग्रहीता—अस्वीकृतपतिका है, उसके साथ अल्प कालके लिए कामभोगका सम्बन्ध स्थापित करना इत्वरिका-अपरिग्रहीतागमन है। वेश्या या अनाथ पुंश्चली स्त्रीका नियत काल सेवन करनेमें यह अतिचार है।

४. अनङ्गक्रीड़ा—कामसेवनके अतिरिक्त अन्य अङ्गोंसे क्रीड़ा करना अनङ्गक्रीड़ा है।

४. कामतीव्राभिनिवेश—काम एवं भोगरूप विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति रखना कामतीव्राभिनिवेश है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके धारीको स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, स्त्रीमनोहराङ्ग-निरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्य-इष्टरसत्याग और स्वशरीर-संस्कार-त्याग करना भी आवश्यक है।

परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत

परिग्रह संसारका सबसे बड़ा पाप है। संसारके समक्ष जो जटिल समस्याएँ आज उपस्थित हैं, सर्वव्यापी वर्गसंघर्षकी जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह—मूर्च्छाकी देन है। जब तक मनुष्यके जीवनमें अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्तिलाभ नहीं कर सकता। श्रावक अपनी इच्छाओंको नियन्त्रित कर परिग्रहका परिमाण ग्रहण करता है। संसारके धन, ऐश्वर्य आदिका नियमन कर लेना परिग्रह-परिमाणव्रत है। अपने योग-क्षेमके लायक भरणपोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना न्याय और अत्याचार द्वारा धनका संचय न करना परिग्रहपरिमाण है। धन, धान्य, रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, स्त्री, पुत्र, गृह प्रभृति पदार्थोंमें ये मेरे हैं। इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओंको नियमित या कम करना परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस व्रतका लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर करना है। इस व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१. खेत और मकानके प्रमाणका अतिक्रमण।

२. हिरण्य और स्वर्णके प्रमाणका अतिक्रमण।

३. धन और धान्यके प्रमाणका अतिक्रमण।

४. दास और दासीके प्रमाणका अतिक्रमण।

५. कुप्य-भाण्ड (बर्तन) आदिके प्रमाणका अतिक्रमण।

इस व्रतकी इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषयोंमें राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष नहीं करना रूप पाँच भावनाएँ हैं।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

अणुव्रतोंकी सम्पुष्टि, वृद्धि और रक्षाके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करना आवश्यक है। इन व्रतोंके पालनसे मुनिव्रतके ग्रहण करनेकी शिक्षा प्राप्त होती है। गुणव्रत तीन हैं—

१. दिग्व्रत।

२. देशव्रत या देशावकाशिकव्रत।

३. अनर्थदण्डव्रत।

दिग्व्रत—मनुष्यकी अभिलाषा आकाशके समान असीम और अग्निके समान समग्र भूमण्डलपर अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करनेका मधुर स्वप्न ही नहीं देखती, अपितु इस स्वप्नको साकार करनेके लिए समस्त दिशाओंमें विजय करना चाहती है। अर्थलोलुपी मानव तृष्णाके वश होकर विभिन्न देशोंमें परिभ्रमण करता है और विदेशोंमें व्यापारसंस्थान स्थापित करता है। मनुष्यकी इस निरंकुश तृष्णाको नियन्त्रित करनेके लिए दिग्व्रतका विधान किया गया है।

पूर्वादि दिशाओंमें नदी, ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानोंकी मर्यादा बाँधकर जन्मपर्यन्त उससे बाहर न जाना और उसके भीतर लेन-देन करना दिग्व्रत है। इस व्रतके पालन करनेसे क्षेत्रमर्यादाके बाहर हिंसादि पापोंका त्याग हो जाता है और उस क्षेत्रमें वह महाव्रतीतुल्य बन जाता है। दिग्व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१. ऊर्ध्वव्यतिक्रम—लोभादिवश ऊर्ध्वप्रमाणका अतिक्रम।

२. अधोव्यतिक्रम—वापी, कूप, खदान आदिकी अधःमर्यादाका अतिक्रम।

३. तिर्यग्व्यतिक्रम—तिरछे रूपमें क्षेत्रका अतिक्रम।

४. क्षेत्रवृद्धि—एक दिशासे क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशामें क्षेत्रप्रमाणकी वृद्धि।

५. स्मृत्यन्तराधान—निश्चित की गई क्षेत्रकी मर्यादाका विस्मरण।

देशावकाशिक व्रत

दिग्व्रतमें जीवन पर्यन्तके लिए दिशाओंका परिमाण किया जाता है। इसमें किये गये परिमाणमें कुछ समयके लिए किसी निश्चित देश पर्यन्त आनेजानेका नियम ग्रहण करना देशावकाशिकव्रत है। इस व्रतके पाँच अतिचार हैं—

१. आनयन—मर्यादासे बाहरकी वस्तुका बुलाना।

२. प्रेष्यप्रयोग—मर्यादासे बाहर स्वयं न जाना, किन्तु सेवक आदिको आज्ञा देकर वहाँ बैठे हुए ही काम करा लेना प्रेष्यप्रयोग है।

३. शब्दानुपात—मर्यादाके बाहर स्थित किसी व्यक्तिको शब्दद्वारा बुलाना।

४. रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्रके बाहरसे आकृति दिखाकर संकेतद्वारा बुलाना।

५. पुद्गलक्षेप—मर्यादाके बाहर स्थित व्यक्तिको अपने पास बुलानेके लिए पत्र, तार आदिका प्रयोग करना।

अनर्थदण्डव्रत

बिना प्रयोजनके कार्योंका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। जिनसे अपना कुछ भी लाभ न हो और व्यर्थ ही पापका संचय होता हो, ऐसे कार्योंको अनर्थदण्ड कहते हैं और उनके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है। अनर्थ-दण्डके निम्न पाँच भेद हैं—

१. अपध्यान—दूसरोंका बुरा विचारना।

२. पापोपदेश—पापजनक कार्योंका उपदेश देना।

३. प्रमादाचरित—आवश्यकताके बिना वन कटवाना, पृथ्वी खुदवाना, पानी गिराना, दोष देना, विकथा या निन्दा आदिमें प्रवृत्त होना।

४. हिंसादान—हिंसाके साधन अस्त्र, शस्त्र, विष, विषैली गैस आदि सामग्रीका देना अथवा संहारक अस्त्रोंका आविष्कार करना।

५. अशुभश्रुति—हिंसा और राग आदिको बढ़ानेवाली कथाओंका सुनना, सुनाना अशुभश्रुति है।

शिक्षाव्रतके चार भेद हैं—१. सामायिक, २. प्रोषधोपोवास, ३. भोगोप-भोगपरिमाण और ४. अतिथिसंविभाग।

सामायिक—तीनों सन्ध्याओंमें समस्त पापके कर्मोंसे विरत होकर नियत स्थानपर नियत समयके लिए मन, वचन और कायके एकाग्र करनेको सामायिक-

व्रत कहते हैं। जितने समय तक व्रती सामायिक करता है, उतने समय तक वह महाव्रतीके समान हो जाता है। समभाव या शान्तिकी प्राप्तिके लिए सामायिक किया जाता है। सामायिकव्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१. कायदुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय हाथ, पैर आदि शरीरके अवयवोंको निश्चल न रखना, नींदका झोंका लेना।

२. वचनदुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय गुनगुनाने लगना।

३. मनोदुष्प्रणिधान—मनमें संकल्प-विकल्प उत्पन्न करना एवं मनको गृहस्थीके कार्यमें फँसाना।

४. अनादर—सामायिकमें उत्साह न करना।

५. स्मृत्यनुपस्थान—एकाग्रता न होनेसे सामायिककी स्मृति न रहना।

प्रोषधोपवास

पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयसे निवृत्त होकर उपवासी—नियन्त्रित रहें, उसे उपवास कहते हैं। प्रोषध अर्थात् पर्वके दिन उपवास करना प्रोषधोपवास है। साधारणतः चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है, पर सभी इन्द्रियोंके विषयभोगोंसे निवृत्त रहना ही यथार्थमें उपवास है। प्रोषधोपवाससे ध्यान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और तत्त्वचिन्तन आदिकी सिद्धि होती है। प्रोषधोपवासके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग—जीव-जन्तुको देखे बिना और कोमल उपकरण द्वारा बिना प्रमार्जनके ही मल-मूत्र और श्लेष्मका त्याग करना।

२. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान—बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही पूजाके उपकरण आदिको ग्रहण करना।

३. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण—बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही भूमिपर चटाई आदि बिछाना।

४. अनादर—प्रोषधोपवास करनेमें उत्साह न दिखलाना।

५. स्मृत्यनुपस्थान—प्रोषधोपवास करनेके समय चित्तका चञ्चल रहना।

भोगोपभोगपरिमाण

आहार-पान, गन्ध-माला आदिको भोग कहते हैं। जो वस्तु एकबार भोगने योग्य है, वह भोग है और जिन वस्तुओंको पुनः-पुनः भोगा जा सके वे उपभोग हैं। इन भोग और उपभोगकी वस्तुओंका कुछ समयके लिये अथवा जीवन पर्यन्तके लिए परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। इस व्रतके पालन

करनेसे लोलुपता एवं विषयवाँछा घटती है। इस व्रतके निम्नलिखित अति-चार हैं—

१. सचित्ताहार—अमर्यादित वस्तुओंका उपयोग करना और सचित्त पदार्थों-का भक्षण करना।

२. सचित्तसम्बन्धाहार—जिस अचित्त वस्तुका सचित्त वस्तुसे संबंध हो गया हो, उसका उपयोग करना।

३. सचित्तसम्मिश्राहार—चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओंसे मिश्रित भोजनका आहार अथवा सचित्तसे मिश्रित वस्तुका व्यवहार।

४. अभिषवाहार—इन्द्रियोंको मद उत्पन्न करनेवाली वस्तुका सेवन।

५. दुष्पक्वाहार—अधपके, अधिकपके, ठीक तरहसे नहीं पके हुए या जले भुने हुए भोजनका सेवन।

अतिथिसंविभाग

जो संयमरक्षा करते हुए विहार करता है अथवा जिसके आनेकी कोई निश्चित तिथि नहीं है, वह अतिथि है। इस प्रकारके अतिथिको शुद्धचित्तसे निर्दोष विधिपूर्वक आहार देना अतिथिसंविभागव्रत है। इस प्रकारके अति-थियोंको योग्य औषध, धर्मोपकरण, शास्त्र आदि देना इसी व्रतमें सम्मिलित है। अतिथिसंविभागव्रतके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१. सचित्तनिक्षेप—सचित्त कमलपत्र आदिपर रखकर आहारदान देना।

२. सचित्तापिधान—आहारको सचित्त कमलपत्र आदिसे ढकना।

३. परव्यपदेश—स्वयं दान न देकर दूसरेसे दिलवाना अथवा दूसरेका द्रव्य उठाकर स्वयं दे देना।

४. मात्सर्य—आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना।

५. कालातिक्रम—भिक्षाके समयको टालकर अयोग्य कालमें भोजन कराना।

सल्लेखनाव्रत

सम्यक् रीतिसे काय और कषायको क्षीण करनेका नाम सल्लेखना है। जब मरणसमय निकट आ जाय तो गृहस्थको समस्त पदार्थोंसे मोह-ममता छोड़कर शनैः शनैः आहारपान भी छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार शरीरको कृश करनेके साथ ही कषायोंको भी कृश करना तथा धर्मध्यानपूर्वक मृत्युका स्वागत करना सल्लेखनाव्रतके अन्तर्गत है।

शरीरका उद्देश्य धर्मसाधन है। धार्मिक विधि-विधानका अनुष्ठान इस शरीरके द्वारा ही सम्भव होता है। अतः जब तक यह शरीर स्वस्थ है और धर्मसाधनकी क्षमता है तबतक धर्मसाधनमें प्रवृत्त रहना चाहिए, पर जब शरीरके विनाशके कारण उपस्थित हो जायें और प्रयत्न करनेपर भी शरीरकी रक्षा सम्भव न हो, तब आहार, पानको त्याग करते हुए गृहस्थ राग, द्वेष और मोहसे आत्माकी रक्षा करता है। वस्तुतः श्रावकके लिए आत्मशुद्धिका अन्तिम अस्त्र सल्लेखना है। सल्लेखनाद्वारा ही जीवनपर्यन्त किये गये व्रताचरणको सफल किया जाता है। यह आत्मघात नहीं है, क्योंकि आत्मघातमें कषायका सद्भाव रहता है, पर सल्लेखनामें कषायका अभाव है। सल्लेखनाव्रतके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१. जीविताशंसा—जीवित रहनेकी इच्छा।

२. मरणाशंसा—सेवा-सुश्रूषाके अभावमें शीघ्र मरनेकी इच्छा।

३. मित्रानुराग—मित्रोंके प्रति अनुराग जागृत करना।

४. सुखानुबन्ध—भोगे हुए सुखोंका पुनः पुनः स्मरण करना।

५. निदान—तपश्चर्याका फल भोगरूपमें चाहना।

श्रावकके दैनिक षट् कर्म

श्रावक अपना सर्वांगीण विकास निर्लिप्तभावसे स्वकर्त्तव्यका सम्पादन करते हुए घरमें रहकर भी कर सकता है। दैनिक कृत्योंमें षट्कर्मोंको गणना की गई है।

१. **देवपूजा**—देवपूजा शुभोपयोगका साधन है। पूज्य या अर्च्य गुणोंके प्रति आत्मसमर्पणकी भावना ही पूजा है। पूजा करनेसे शुभरागकी वृद्धि होती है, पर यह शुभराग अपने 'स्व'को पहचाननेमें उपयोगी सिद्ध होता है। पूजाके दो भेद हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। अष्टद्रव्योंसे वीतराग और सर्वज्ञदेवकी पूजा करना द्रव्यपूजा है। और बिना द्रव्यके केवल गुणोंका चिन्तन और मनन करना भावपूजा है। भावपूजामें आत्माके गुण ही आधार रहते हैं, अतः पूजकको आत्मानुभूतिकी प्राप्ति होती है। सराग वृत्ति होनेपर भी पूजन द्वारा रागद्वेषके विनाशकी क्षमता उत्पन्न होती है।

पूजा सम्यग्दर्शनगुणको तो विशुद्ध करती ही है, पर वीतराग आदर्शको प्राप्त करनेके लिये भी प्रेरित करती है। यह आत्मोत्थानकी भूमिका है।

२. **गुरुभक्ति**—गुरुका अर्थ अज्ञान-अन्धकारको नष्ट करने वाला है। यह निर्ग्रन्थ, तपस्वी और आरम्भपरिग्रहरहित होता है। जीवनमें संस्कारोंका

प्रारम्भ गुरुचरणोंकी उपासनासे ही सम्भव है। इसी कारण गृहस्थके दैनिक षट्कर्मों में गुरूपास्तिको आवश्यक माना है। यतः गुरुके पास सतत निवास करनेसे मन, वचन, कायकी विशुद्धि स्वतः होने लगती है और वाक्संयम, इन्द्रियसंयम तथा आहारसंयम भी प्राप्त होने लगते हैं। गुरु-उपासनासे प्राणी-को स्वपरप्रत्ययकी उपलब्धि होती है। अतएव गृहस्थको प्रतिदिन गुरु-उपासना एवं गुरुभक्ति करना आवश्यक है।

स्वाध्याय—स्वाध्यायका अर्थ स्व-आत्माका अध्ययन-चिन्तन-मनन है। प्रतिदिन ज्ञानार्जन करनेसे रागके त्यागकी शक्ति उपलब्ध होती है। स्वाध्याय समस्त पापोंका निराकरणकर रत्नत्रयकी उपलब्धिमें सहायक होता है। बुद्धिबल और आत्मबलका विकास स्वाध्याय द्वारा होता है। स्वाध्याय द्वारा संस्कारोंमें परिणामविशुद्धि होती है और परिणामविशुद्धि ही महाफलदायक है। मनको स्थिर करनेकी दिव्यौषधि स्वाध्याय ही है। हेय-उपादेय और ज्ञेयकी जानकारीका साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय वह पीयूष है जिससे संसाररूपी व्याधि दूर हो जाती है। अतएव प्रत्येक श्रावकको आत्मतन्मयता, आत्मनिष्ठा, प्रतिभा, मेधा आदिके विकासके लिये स्वाध्याय करना आवश्यक है।

संयम—इन्द्रिय और मनका नियमनकर संयममें प्रवृत्त होना अत्यावश्यक है। कषाय और विकारोंका दमन किये बिना आनन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती है। संयम ही ऐसी ओषधि है, जो रागद्वेषरूप परिणामोंको नियन्त्रित करता है। संयमके दो भेद हैं—१. इन्द्रियसंयम और २. प्राणिसंयम। इन दोनों संयमोंमें पहले इन्द्रियसंयमका धारण करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियोंके वश हो जानेपर ही प्राणियोंकी रक्षा सम्भव होती है। इन्द्रिय-सम्बन्धी अभिलाषाओं, लालसाओं और इच्छाओंका निरोध करना इन्द्रिय-संयमके अन्तर्गत है। विषय-कषायाओंको नियन्त्रित करनेका एकमात्र साधन संयम है। जिसने इन्द्रियसंयमका पालन आरम्भ कर दिया है वह जीवन-निर्वाहके लिये कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे शेष सामग्री समाजके अन्य सदस्योंके काम आती है, संघर्ष कम होता है और विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे तो दूसरोंके लिये सामग्री कम पड़ेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जायगा। अतएव इन्द्रिय-संयमका अभ्यास करना आवश्यक है।

प्राणिसंयममें षट्कायके जीवोंकी रक्षा अपेक्षित है। प्राणिसंयमके धारण करनेसे अहिंसाकी साधना सिद्ध होती है और आत्मविकासका आरम्भ होता है।

तप—इच्छानिरोधको तप कहते हैं। जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और इच्छाओंका नियन्त्रण करता हैं, वह तपका अभ्यासी है। वास्तवमें अनशन, ऊनोदर आदि तपोंके अभ्याससे आत्मामें निर्मलता उत्पन्न होती है। अहंकार और ममकारका त्याग भी तपके द्वारा ही सम्भव है। रत्नत्रयके अभ्यासी श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन तपका अभ्यास करना चाहिए।

दान—शक्त्यनुसार प्रतिदिन दान देना चाहिए। सम्पत्तिकी सार्थकता दानमें ही है। दान सुपात्रको देनेसे अधिक फलवान् होता है। यदि दानमें अहंकारका भाव आ जाय तो दान निष्फल हो जाता है। श्रावक मुनि, आर्यिका, क्षुल्लिका, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, व्रती आदिको दान देकर शुभभावोंका अर्जन करता है।

श्रावकाचारके विकासकी सीढ़ियाँ

श्रावक अपने आचारके विकासके हेतु मूलभूत व्रतोंका पालन करता हुआ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके साथ चारित्रमें प्रवृत्त होता है। उसके इस चारित्रिक विकास या आध्यात्मिक उन्नतिके कुछ सोपान हैं जो शास्त्रीय भाषामें प्रतिमा या अभिग्रहविशेष कहे जाते हैं। वस्तुत: ये प्रतिमाएँ श्रमणजीवनकी उपलब्धिका द्वार हैं। जो इन सोपानोंका आरोहणकर उत्तरोत्तर अपने आचारका विकास करता जाता है वह श्रमणजीवनके निकट पहुँचनेका अधिकारी बन जाता है। ये सोपान या प्रतिमाएँ ग्यारह हैं।

१. **दर्शनप्रतिमा**—देव, शास्त्र और गुरुकी भक्ति द्वारा जिसने अपने श्रद्धानको दृढ़ और विशुद्ध कर लिया है और जो संसार-विषय एवं भोगोंसे विरक्त हो चला है वह निर्दोष अष्टमूलगुणोंका पालन करता हुआ दर्शनप्रतिमाका धारी श्रावक कहलाता है। दार्शनिक श्रावक मद्य, मांस, मधुका न तो स्वयं सेवन करता है और न इन वस्तुओंका व्यापार करता है, न दूसरोंसे कराता है, न सम्मति ही देता है। मद्य-मांसके सेवन करनेवाले व्यक्तियोंसे अपना सम्पर्क भी नहीं रखता है। चर्मपात्रमें रखे हुए घृत, तैल या जलका भी उपभोग नहीं करता। रात्रिभोजनका त्याग करनेके साथ जल छानकर पीता है और सप्तव्यसनोंका त्यागी होता है। यह श्रावक नियन्त्रित रूपमें ही विषय-भोगोंका सेवन करता है।

२. **व्रतप्रतिमा**—माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होकर निरतिचार पञ्चाणुव्रत और सप्तशीलोंका धारण करनेवाला श्रावक व्रतिक या व्रती कहलाता है। राग-द्वेष और मोहपर विजय प्राप्त करनेके

लिये साम्यभाव रखना व्रतिकके लिये आवश्यक है। पूर्वमें प्रतिपादित श्रावकके द्वादश व्रतोंका पालन करना व्रतिकके लिये विधेय है।

३. **सामायिकप्रतिमा**—व्रतप्रतिमाका अभ्यासी श्रावक तीनों संध्याओंमें सामायिक करता है और कठिन-से-कठिन कष्ट आ पड़नेपर भी ध्यानसे विचलित नहीं होता है। वह मन, वचन और कायको एकाग्रताको स्थिर बनाये रखता है। सामायिक करनेवाला व्यक्ति एक-एक कायोत्सर्गके पश्चात् चार बार तीन-तीन आवर्त करता है। अर्थात् प्रत्येक दिशामें "णमो अरहंताणं" इस आद्य सामायिकदण्डक और "थोस्सामि हं" इस अन्तिम स्तविकदण्डकके तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है। श्रावक इन आवर्त आदिकी क्रियाओंको खड़े होकर सम्पन्न करता है। सामायिकका उद्देश्य आत्माकी शक्तिका केन्द्रीकरण करना है। सामायिक-प्रतिमाका धारण करनेवाला सामायिकी कहलाता है। दूसरी प्रतिमामें जो सामायिकशिक्षाव्रत है वह अभ्यासरूप है और इस तीसरी प्रतिमामें किया जानेवाला सामायिक व्रतरूप है।

४. **प्रोषधप्रतिमा**—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करना प्रोषध प्रतिमा है। पूर्वमें द्वितीय प्रतिमाके अन्तर्गत जिस प्रोषधोपवासका वर्णन किया गया है, वह अभ्यासरूपमें है। पर यहां यह प्रतिमा व्रतरूपमें ग्रहीत है।

५. **सचित्तविरत-प्रतिमा**—पूर्वकी चार प्रतिमाओंका पालन करनेवाले दयालु श्रावक द्वारा हरे साग, सब्जी, फल, पुष्प आदिके भक्षणका त्याग करना सचित्तविरत-प्रतिमा है। वस्तुतः इस प्रतिमामें किये गये सचित्तत्यागका उद्‌देश्य संयम पालन करना है। संयमके दो रूप हैं—१. प्राणसंयम और २. इन्द्रियसंयम। प्राणियोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम और इन्द्रियोंको वशमें करना इन्द्रियसंयम है।

वस्तुतः वनस्पतिके दो भेद हैं :—(१) सप्रतिष्ठित और (२) अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठित दशामें प्रत्येक वनस्पतिमें अगणित जीवोंका वास रहता है, अतएव उसे अनन्तकाय कहते हैं और अप्रतिष्ठत दशामें उसमें एक ही जीवका निवास रहता है। सप्रतिष्ठित या अनन्तकाय वनस्पतिके भक्षणका त्याग अपेक्षित है। जब वही वनस्पति अप्रतिष्ठित—अनन्तकायके जीवोंका वास नहीं रहनेके कारण अचित्त हो जाती है तो उसका भक्षण किया जाता है। सुखाकर, अग्निमें पकाकर, चाकूसे काटकर सचित्तको अचित्त बनाया जा सकता है। इन्द्रियसंयमका पालन करनेके लिये सचित्त वनस्पतिका त्याग आवश्यक है।

६. **दिवामैथुन या रात्रिभुक्तित्याग**—पूर्वोक्त पांच प्रतिमाओंके आचरणका

पालन करते हुए श्रावक जब दिनमें मन, वचन और कायसे स्त्रीमात्रका त्याग करता है तब उसके दिवामैथुनत्याग-प्रतिमा कहलाती है। पूर्वोक्त पाँचवीं प्रतिमामें इन्द्रियमदकारक वस्तुओंके खानपानका त्यागकर इन्द्रियोंको संयत करनेकी चेष्टा की गई है। इस छठी प्रतिमामें दिनमें कामभोगका त्याग कराकर मनुष्यकी कामभोगको लालसाको रात्रिके लिये ही सीमित कर दिया गया है।

इस प्रतिमाको रात्रिभुक्तिविरति भी कहा जाता है। दयालुचित्त श्रावक रात्रिमें खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों ही प्रकारके भोजनोंको मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करता है।

७. **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—पूर्वोक्त छह प्रतिमाओंमें विहित संयमके अभ्याससे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति द्वारा स्त्रीमात्रके सेवनका त्याग करना सप्तम ब्रह्मचर्यप्रतिमा है। छठी प्रतिमामें दिवामैथुनका त्याग कराया गया है और इस सप्तम प्रतिमामें रात्रिमें भी मैथुनका त्याग विहित है।

आत्मशक्तिको केन्द्रित करनेके लिये ब्रह्मचर्य एक अपूर्व वस्तु है। यहाँ ब्रह्मचर्यका अर्थ शारीरिक कामभोगोंसे निवृत्ति करना ही नहीं है अपितु पञ्चेन्द्रियोंके विषयभोगोंका त्याग करना है।

८. **आरम्भत्यागप्रतिमा**—पूर्वकी सात प्रतिमाओंका पालन करनेवाला श्रावक जब आजीविकाके साधन कृषि, व्यापार एवं नौकरी आदिके करने-कराने का त्याग कर देता है तो वह आरम्भत्यागप्रतिमावाला कहलाता है। ब्रह्मचर्य-प्रतिमामें कौटुम्बिक जीवनको मर्यादित कर दिया जाता है और इस प्रतिमामें सुयोग्य संतानको दायित्व सौंपकर उससे विरत हो जाता है।

९. **परिग्रहत्यागप्रतिमा**—पूर्वोक्त आठ प्रतिमाओंके आचारका पालन करनेके साथ-साथ भूमि, गृह आदिसे अपना स्वत्व छोड़ना परिग्रहत्याग-प्रतिमा है। अष्टम प्रतिमामें अपना उद्योग-धन्धा पुत्रोंको सुपुर्दकर सम्पत्ति अपने ही अधिकारमें रखता है। पर इस प्रतिमामें उसका भी त्याग कर देता है।

१०. **अनुमतित्यागप्रतिमा**—पूर्वकी नौ प्रतिमाओंके आचारका अभ्यास हो जानेके पश्चात् घरके किसी भी कारोबारमें किसी भी प्रकारकी अनुमति न देना अनुमतित्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारी श्रावक घरमें न रहकर मन्दिर या चैत्यालयमें निवास करने लगता है और अपना समय स्वाध्यायमें

व्यतीत करता है। मध्यान्ह कालमें आमन्त्रण मिलनेपर अपने या दूसरेके घर भोजन कर आता है। भोजनमें उसकी अपनी कोई भी रुचि नहीं रहती।

११. उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—अपने उद्देश्यसे बनाये गये आहारका ग्रहण न करना उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाके दो भेद हैं :—(१) ऐलक और (२) क्षुल्लक। क्षुल्लक लंगोटीके साथ चादर भी रखता है और कैंची या छुरेसे अपने केशोंको बनवाता है। जिस स्थान पर क्षुल्लक बैठता या उठता है उस स्थानको कोमल वस्त्र आदिसे स्वच्छ कर लेता है, जिससे किसी जीवको पीड़ा नहीं होती है।

ऐलक केवल एक लंगोटी ही रखता है तथा केशलुञ्च करता है।

मुन्याचार या साध्वाचार

श्रमण-संस्था आत्मकल्याण और समाजोत्थान दोनों ही दृष्टियोंसे उपयोगी है। मुनि-आचार, पुरुषार्थमार्गका द्योतक है। मुनि परम पुरुषार्थके हेतु ही निर्ग्रन्थपद धारण करते हैं। वे विमल स्वभावकी प्राप्ति हेतु अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करते हैं। वास्तवमें दिगम्बर वेश आकिंचन्यकी पराकाष्ठा है और है अहिंसाकी आधारशिला। कषाय और वासनासे हिंसक परिणति होती है तथा आकिंचनत्व न स्वीकार करने पर अहंकारका उदय होकर अहिंसा धर्मकी उच्चकोटिकी परिपालनामें विक्षेप उत्पन्न हो सकता है। अतएव मुनिके लिये दिगम्बर वेश परमावश्यक है। निर्ग्रन्थत्वके कारण ही मुनि कंचन और कामिनी इन दोनों ही परवस्तुओंका त्याग कर मोह-रात्रिका उपशमन करता है। अतएव यहाँ संक्षेपमें मुनिके आचारका विचार प्रस्तुत किया जा रहा है—

मुनिके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इन मूलगुणोंका भली प्रकार पालन करता हुआ मुनि आत्मोत्थानमें प्रवृत्त होता है।

पंच महाव्रत—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत। श्रावक जिन व्रतोंका एकदेशरूपसे अणु-रूपमें पालन करता था, मुनि उन्हीं व्रतोंका पूर्णतया पालन करता है। षट्कायके जीवोंका घात नहीं करते हुए राग-द्वेष, काम, क्रोधादि विकारोंको उत्पन्न नहीं होने देता। प्राणोंपर संकट आनेपर भी न असत्य भाषण करता है, न किसीकी बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है। पूर्ण शीलका पालन करते हुए अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकारके परिग्रहोंका त्यागी होता है। शुद्धिके हेतु कमण्डलु और प्राणिरक्षाके लिये मयूरपंखकी पिच्छि ग्रहण करता है।

६-१० पाँच समितियाँ—मुनि दिनमें सूर्यालोकके रहने पर चार हाथ आगे भूमि देखकर गमन करते हैं। हित, मित और प्रिय वचन बोलते हैं। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक दिये गये निर्दोष आहारको एक बार ग्रहण करते हैं। पिच्छि-कमण्डलु आदिको सावधानीपूर्वक रखते और उठाते हैं। जीव-जन्तु रहित भूमि पर मल-मूत्रका त्याग करते हैं। प्रमादत्यागकी हेतुभूत ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

११-१५ पंचेन्द्रियनिग्रह—जो विषय इन्द्रियोंको लुभावने लगते हैं, उनसे मुनि राग नहीं करते और जो विषय इन्द्रियोंको बुरे लगते हैं, उनसे द्वेष नहीं करते।

१६-२१ षडावश्यक—सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन षडावश्यकोंका मुनिपालन करते हैं। सामायिकके साथ तीर्थंकरोंकी स्तुति, उन्हें नमस्कार, प्रमादसे लगे हुए दोषोंका शोधन, भविष्यमें लग सकनेवाले दोषोंसे बचनेके लिए अयोग्य वस्तुओंका मन-वचन-कायसे त्याग, तप-वृद्धि अथवा कर्मनिर्जराके लिये कायोत्सर्ग करना अपेक्षित है। खड़े होकर दोनों भुजाओंको नीचेकी ओर लटकाकर, पैरके दोनों पंजोंको एक सीधमें चार अंगुल-के अन्तरालसे रखकर आत्मध्यानमें लीन होना कायोत्सर्ग है।

२२-२८ शेष ७ गुण—स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, पृथ्वीपर शयन करना, खड़े होकर भोजन करना, दिनमें एक बार भोजन करना, नग्न रहना और केशलुञ्च करना।

मुनि क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, आलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन बाईस परीषहोंको सहन करता है। मुनि कष्ट आनेपर सभी प्रकारके उपसर्गोंको भी शान्तिपूर्वक सहता है। उसके लिये शत्रु-मित्र, महल-श्मशान, कंचन-कांच, निन्दा-स्तुति सब समान हैं। यदि कोई उसकी पूजा करता है, तो उसे भी वह अशीर्वाद देता है और यदि कोई उसपर तलवारसे बार करता है, तो उसे भी आशीर्वाद देता है। उसे न किसीसे राग होता है और न किसीसे द्वेष। वह राग-द्वेषको दूर करनेके लिये ही साधु-आचरण करता है। साधु या मुनिकी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित होती हैं। नग्न रहनेके कारण उसकी निर्विकारता स्पष्ट प्रतीत होती है। वह विकार छिपानेके लिये न तो लंगोटी ग्रहण करता है और न किसी प्रकारका संकोच ही करता है।

साधुका जोवन अकृत्रिम और स्वाभाविक रहता है, किसी भी प्रकारका

आडम्बर उसके पास नहीं रहता। सिर, दाढ़ी, मूछोंके केशोंको द्वितीय, चतुर्थ और छठे महीनोंमें वह अपने हाथसे उखाड़ डालता[1] है।

साधुका अन्य आचार

मुनि-आचार या साधु-आचारका पालन करनेके लिये गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रका पालन करना भी आवश्यक है। योगोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है। गुप्तिका जीवनके निर्माणमें बड़ा हाथ है, क्योंकि भावबन्धनसे मुक्ति गुप्तियोंके द्वारा ही प्राप्त होती है। गुप्ति प्रवृत्ति-मात्रका निषेध कहलाती है। शारीरिक क्रियाका नियमन, मौन धारण और संकल्प-विकल्पसे जीवनका संरक्षण क्रमशः काय, वचन और मनोगुप्ति है।

जब-तक शरीरका संयोग है, तब-तक क्रियाका होना आवश्यक है। मुनि गमनागमन भी करता है। आचार्य, उपाध्याय, साधु या अन्य जनोंसे सम्भाषण भी करता है, भोजन भी लेता है। संयम और ज्ञानके साधनभूत पिच्छि, कमण्डलु और शास्त्रका भी व्यवहार करता है और मल-मूत्र आदिका भी त्याग करता है। यह नहीं हो सकता कि मुनि होनेके बाद वह एक साथ समस्त क्रियाओंका त्याग कर दे। अतः वह पाँच प्रकारकी समितियोंका पालन करता है। जीवनमें पूर्णतया सावधानी रखता है।

मुनि कर्मोंके उन्मूलन और आत्मस्वभावकी प्राप्तिके हेतु, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्यका पालन करता है। उत्तम क्षमाका अर्थ है—क्रोधके कारण मिलनेपर भी क्रोध न कर सहनशीलता बनाये रखना। भीतर और बाहर नम्रता धारण करना एवं अहंकारपर विजय पाना मार्दव है। मन-वचन और कायकी प्रवृत्तिको सरल रखना आर्जव है। सभी प्रकारके लोभका त्यागकर शरीरमें आसक्ति न रखना शौच है। साधु पुरुषोंके लिये हितकारी वचन बोलना सत्य है। षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना और इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होने देना संयम है। शुभोद्देश्यसे त्यागके आधारभूत नियमोंको अपने जीवनमें उतारना तप है। संयतका ज्ञानादि

---

१. जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥

—प्रवचनसार, गाथा २०५–२०६.

गुणोंका प्रदान करना त्याग है। शरीर और परवस्तुओंसे ममत्व न रखना आकिंचन्य है। स्त्री-विषयक सहवास, स्मरण और कथा आदिका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है।

संसार एवं संसारके कारणोंके प्रति विरक्त होकर धर्मके प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है, पुनः पुनः चिन्तन करना। साधु या अन्य आत्मसाधक व्यक्ति संसार और संसारकी अनित्यता आदिके विषयमें और साथ ही आत्मशुद्धिके कारणभूत भिन्न-भिन्न साधनोंके विषयमें पुनः पुनः चिन्तन करता है, जिससे संसार और संसारके कारणोंके प्रति विरक्ति उत्पन्न होती है और धर्मके प्रति आस्था उत्पन्न होती है। अनुप्रेक्षाएँ निम्नलिखित बारह हैं—

(१) अनित्य—शरीर, इन्द्रिय, विषय और भोगोपभोगको जलके बुलबुलेके समान अनवस्थित और अनित्य चिन्तन करना। मोहवश इस प्राणीने पर-पदार्थोंको नित्य मान लिया है, पर वस्तुतः आत्माका ज्ञान-दर्शन और चैतन्य स्वभाव ही नित्य है और यही उपयोगी है।

(२) अशरण—यह प्राणी जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधियोंसे घिरा हुआ है। यहाँ इसका कोई भी शरण नहीं है। कष्ट या विपत्तिके समय धर्मके अतिरिक्त अन्य कोई भी रक्षक नहीं है। इसप्रकार संसारको अशरणभूत विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है।

(३) संसारानुप्रेक्षा—संसारके स्वरूपका चिन्तन करना तथा जन्म-मरण-रूप इस परिभ्रमणमें स्वजन और परिजनकी कल्पना करना व्यर्थ है। जो साधक संसारके स्वरूपका चिन्तनकर वैराग्य उत्पन्न करता है, वह संसारानुप्रेक्षाका चिन्तक होता है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा—मैं अकेला ही जन्मता हूँ और अकेला ही मरण प्राप्त करता हूँ। स्वजन या परिजन ऐसा कोई नहीं जो मेरे दुःखोंको दूर कर सकते हैं, इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा—शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। संसारमें परिभ्रमण करते हुए, मैंने अगणित शरीर धारण किये, पर मैं जहाँ-का-तहाँ हूँ। जब मैं शरीरसे पृथक् हूँ, तब अन्य पदार्थोंसे अविभक्त कैसे हो सकता हूँ? इस प्रकार शरीर और बाह्य पदार्थोंसे अपनेको भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा—शरीर अत्यन्त अपवित्र है। यह शुक्र, शोणित

आदि सप्त धातुओं और मल-मूत्रसे भरा हुआ है। इससे निरन्तर मल झरता है। इस प्रकार शरीरकी अशुचिताका चिन्तन करना अशुचि-अनुप्रेक्षा है।

(७) आस्रवानुप्रेक्षा—इन्द्रिय, कषाय और अव्रत आदि उभय लोकमें दुःखदायी है। इन्द्रियविषयोंकी विनाशकारी लीला तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। जो इन्द्रियविषयों और कषायोंके अधीन है, उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है और यह आस्रव ही आत्मकल्याणमें बाधक है। इस प्रकार आस्रवस्वरूपका चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

(८) संवरानुप्रेक्षा—संवर आस्रवका विरोधी है। उत्तम क्षमादि संवरके साधन हैं। संवरके बिना आत्मशुद्धिका होना असम्भव है। इस प्रकार संवर-स्वरूपका चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा—फल देकर कर्मोंका झड़ जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—(१) सविपाक और (२) अविपाक। जो विविध गतियोंमें फलकालके प्राप्त होनेपर निर्जरा होती है, वह सविपाक है। यह अबुद्धि-पूर्वक सभी प्राणियोंमें पायी जाती है। किन्तु अविपाक निर्जरा तपश्चर्याके निमित्तसे सम्यग्दृष्टिके होती है। निर्जराका यही भेद कार्यकारी है। इस प्रकार निर्जराके दोष-गुणका विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

(१०) लोकानुप्रेक्षा—अनादि, अनिधन और अकृत्रिम लोकके स्वभावका चिन्तन करना तथा इस लोकमें स्थित दुःख उठानेवाले प्राणीके दुःखोंका विचार करना लोकानुप्रेक्षा है।

(११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए हीरकरत्नका प्राप्त करना दुर्लभ है, उसी प्रकार एकेन्द्रियसे त्रसपर्यायका मिलना दुर्लभ है। त्रसपर्यायमें पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य एवं सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके योग्य साधनोंका मिलना कठिन है। कदाचित् ये साधन भी मिल जायें, तो रत्नत्रयकी प्राप्तिके योग्य बोधिका मिलना दुर्लभ है। इसप्रकार चिन्तन करना बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा है।

(१२) धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा—तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म अहिंसामय है और इसकी पुष्टि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, विनय, क्षमा, विवेक आदि धर्मों और गुणोंसे होती है। जो अहिंसा धर्मको धारण नहीं करता। उसे संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है, इस प्रकार चिन्तन करना धर्म-स्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।

इन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे वैराग्यकी वृद्धि होती है। ये अनुप्रेक्षाएँ माताके समान हितकारिणी और आत्म-आस्थाको उद्‌बुद्ध करनेवाली हैं।

चारित्र

संयमी व्यक्तिकी कर्मोंके निवारणार्थ जो अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति होती है वह चारित्र है। परिणामोंकी विशुद्धिके तारतम्यकी अपेक्षा और निमित्तभेदसे चारित्रके पाँच भेद हैं। मुनि इन पाँचों प्रकारके चारित्रोंका पालन करता है।

१. **सामायिक चारित्र**—सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप इनके साथ ऐक्य स्थापित करना और राग एवं द्वेषका विरोध करके आवश्यक कर्त्तव्योंमें समताभाव बनाये रखना सामायिक चारित्र है। इसके दो भेद हैं—(१) नियत काल और (२) अनियत काल। जिनका समय निश्चित है ऐसे स्वाध्याय आदि नियत काल सामायिक हैं और जिनका समय निश्चत नहीं है ऐसे ईर्यापथ आदि अनियतकाल हैं। संक्षेपतः समस्त सावद्ययोगका एकदेश त्याग करना सामायिक चारित्र है।

२. **छेदोपस्थापना चारित्र**—सामायिक चारित्रसे विचलित होनेपर प्रायश्चित्तके द्वारा सावद्य व्यापारमें लगे दोषोंको छेदकर पुनः संयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। वस्तुतः समस्त सावद्ययागका भेदरूपसे त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र है। यथा—मैंने समस्त पापकार्योंका त्याग किया, यह सामायिक है और मैंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग किया, यह छेदोपस्थापना है।

३. **परिहारविशुद्धि**—जिस चारित्रमें प्राणिहिंसाकी पूर्ण निवृत्ति होनेसे विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है उसे परिहारविशुद्धि कहते हैं। जिस व्यक्तिने अपने जन्मसे तीस वर्षकी अवस्थातक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया, पश्चात् दिगम्बर दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकरके निकट प्रत्याख्याननामक नवम पूर्वका अध्ययन किया हो तथा तीनों सन्ध्याकालको छोड़कर दो कोष बिहार करनेका जिसका नियम हो उस दुर्धरचर्याके पालक महामुनिको ही परिहार-विशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्रवालेके शरीरसे जीवोंका घात नहीं होता है। इसीसे इसका नाम परिहारविशुद्धि है।

४. **सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र**—जिसमें क्रोध, मान, माया इन तीन कषायोंका उदय नहीं होता, किन्तु सूक्ष्म लोभका उदय होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है। यह दशमगुणस्थानमें होता है।

५. **यथाख्यात चारित्र**—समस्त मोहनीयकर्मके उपशम अथवा क्षयसे जैसा आत्माका निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है।

तप—विषयोंसे मनको दूर करनेके हेतु एवं राग-द्वेषपर विजय प्राप्त करनेके हेतु जिन-जिन उपायों द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मनको तपाया जाता है अर्थात् इनपर विजय प्राप्त की जाती है वे सभी उपाय तप हैं। तपके दो भेद हैं—(१) बाह्य एवं (२) आभ्यन्तर। बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा होनेके कारण जो दूसरोंको दिखाई पड़ते हैं, वे बाह्यतप हैं। बाह्यतप आभ्यन्तर तपकी पुष्टिमें कारण हैं। जिन तपोंमें मानसिक क्रियाओंको प्रधानता हो, जो अन्यको दिखलाई न पड़ें वे आभ्यन्तर तप हैं।

बाह्यतप

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं।

१. **अनशन**—संयमकी पुष्टि, रागका उच्छेद, कर्मनाश और ध्यानसिद्धिके लिये भोजनका त्याग करना अनशन तप है। इसमें ख्याति, पूजा आदि फल-प्राप्तिकी आकांक्षा नहीं रहती।

२. **अवमौदर्य**—संयमको जागृत रखने, दोषोंके प्रशम करने, सन्तोष एवं स्वाध्यायको सिद्ध करनेके लिये भूखसे कम खाना अवमौदर्य तप है। मुनिका उत्कृष्ट ग्रास बत्तीस ग्रास है, अतः इससे अल्प आहार करना अवमौदर्य है।

३. **वृत्तिपरिसंख्यान**—आहारके लिये जाते समय घर, गली आदिका नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। यह चित्तवृत्तिपर विजय प्राप्त करने और आसक्तिको घटानेके लिये धारण किया जाता है।

४. **रसपरित्याग**—इन्द्रियों और निद्रा पर विजयप्राप्तार्थ घी, दुग्ध, दधि, तैल, मीठा और नमकका यथायोग्य त्याग करना रसपरित्याग तप है।

५. **विविक्तशय्यासन**—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदिकी सिद्धि हेतु एकान्त स्थानमें शयन करना तथा आसन लगाना विविक्तशय्यासन तप है।

६. **कायक्लेश**—कष्ट सहन करनेके अभ्यासके हेतु विलासभावनाको दूर करने तथा धर्मकी प्रभावनाके लिये ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतशिलापर, शीत ऋतुमें खुले मैदानमें और वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे ध्यान लगाना कायक्लेश है।

आभ्यन्तर तप—आभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद हैं।

१. **प्रायश्चित्त**—प्रमादसे लगे हुए दोषोंको दूर करना प्रायश्चित्त तप है।

इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापना ये नौ भेद हैं। गुरुसे अपने प्रमादको निवेदन करना आलोचना; किये गये अपराधके प्रति मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन प्रतिक्रमण; आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंका एक साथ करना तदुभय; अन्य पात्र और उपकरण आदिके मिल जाने पर उनका त्याग करना विवेक; मनमें अशुभ या अशुद्ध विचारोंके आनेपर नियत समय तक कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है; दोषविशेषके हो जानेपर उसके परिहारके लिये अनशन आदि करना तप है। किसी विशेष दोषके होनेपर उस दोषके परिहारार्थ दीक्षाका छेद करना छेद है; विशिष्ट अपराधके होनेपर संघसे पृथक् करना परिहार हैं; और बड़े दोषके लगने पर उस दोषके परिहारहेतु पूर्ण दीक्षाका छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना है।

२. **विनय**—पूज्य पुरुषोंके प्रति आदरभाव प्रकट करना विनयतप है। इसके चार भेद हैं। मोक्षोपयोगी ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास रखना और किये गये अभ्यासका स्मरण रखना ज्ञानविनय है; सम्यग्दर्शनका शंकादि दोषोंसे रहित पालन करना दर्शनविनय; सामायिक आदि यथायोग्य चारित्रके पालन करनेमें चित्तका समाधान रखना चारित्रविनय है। और आचार्य आदिके प्रति "नमोस्तु" आदि प्रकट करना उपचारविनय है।

३. **वैय्यावृत्त्य**—शरीर आदिके द्वारा सेवा-शुश्रूषा करना वैय्यावृत्य है। जिनकी वैय्यावृत्ति की जाती है, वे दश प्रकारके हैं।

१. आचार्य—जिनके पास जाकर मुनि व्रताचरण करते हैं।

२. उपाध्याय—जिनके पास मुनि-गण शास्त्राभ्यास करते हैं।

३. तपस्वी—जो बहुत व्रत-उपवास करते हैं।

४. शैक्ष्य—जो श्रुतका अभ्यास करते हैं।

५. ग्लान—रोग आदिसे जिनका शरीर क्लान्त हो।

६. गण—स्थविरोंकी संतति।

७. कुल—दीक्षा देने वाले आचार्यकी शिष्यपरम्परा।

८. संघ—ऋषि, यति, मुनि और अनगारके भेदसे चार प्रकारके साधुका समूह।

९. साधु—बहुत समयसे दीक्षित मुनि।

१०. मनोज्ञ—जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा लोकमें पूज्य हों।

४. **स्वाध्याय**—आलस्यको त्यागकर ज्ञानका अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्यायके पाँच भेद हैं।

१. वाचना—ग्रन्थ, अर्थ तथा दोनोंका निर्दोषरीतिसे पाठ करना।

२. पृच्छना—शंकाको दूर करने या विशेष निर्णयकी पृच्छा करना।

३. अनुप्रेक्षा—अधीत शास्त्रका अभ्यास करना, पुनः पुनः विचार करना।

४. आम्नाय—जो पाठ पढ़ा है उसका शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारण करना।

५. धर्मोपदेश—धर्मकथा या धर्मचर्चा करना।

५. **व्युत्सर्ग**—शरीर आदिमें अहंकार और ममकार आदिका त्याग करना व्युत्सर्ग है। इसके दो भेद हैं—(१) बाह्यव्युत्सर्ग और (२) आभ्यान्यर व्युत्सर्ग। भवन, खेत, धन, धान्य आदि पृथक्भूत पदार्थोके प्रति ममताका त्याग करना बाह्यव्युत्सर्ग और आत्माके क्रोधादि परिणामोंका त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

६. **ध्यान**—चञ्चल मनको एकाग्र करनेके लिए किसी एक विषयमें स्थित करना ध्यान है। उत्तम ध्यान तो उत्तम संहननके धारक मनुष्यको प्राप्त होता है। यह अपनी चित्तवृत्तिको सभी ओरसे रोककर आत्मस्वरूपमें अवस्थित करता है। जब आत्मा समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पोंको छोड़, निर्विकल्प समाधिमें लीन हो जाती है, तो समस्त कर्मो की शृङ्खला टूट जाती है। ध्यान-का अर्थ भी यही है कि समस्त चिन्ताओं, संकल्प-विकल्पोंको रोककर मनको स्थिर करना; आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए पुद्गल द्रव्यसे आत्माको भिन्न विचारना और आत्मस्वरूपमें स्थिर होना।

ध्यान करनेसे मन, वचन और शरीरकी शुद्धि होती है। मनशुद्धिके विना शरीरको कष्ट देना व्यर्थ है, जिसका मन स्थिर होकर आत्मामें लीन हो जाता है वह परमात्मपदको अवश्य प्राप्त कर लेता है। मनको स्थिर करनेके लिए ध्यान ही एक साधन है।

ध्यानके भेद

ध्यानके चार भेद हैं—१. आर्त्तध्यान, २. रौद्रध्यान ३. धर्म ध्यान और ४. शुक्ल ध्यान। इनमेंसे प्रथम दो ध्यान पापास्रवका कारण होनेसे अप्रशस्त हैं और उत्तरवर्ती दो ध्यान कर्म नष्ट करनेमें समर्थ होनेके कारण प्रशस्त हैं।

आर्त्तध्यान : स्वरूप और भेद

ऋतका अर्थ दुःख है। जिसके होनेमें दुःखका उद्वेग या तीव्रता निमित्त है, वह आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यानके चार भेद हैं—१. अनिष्टसंयोगजन्य आर्त्तध्यान, २. इष्टवियोगजन्य आर्त्तध्यान, ३. वेदनाजन्य आर्त्तध्यान और ४. निदानज

आर्त्तध्यान। अनिष्ट पदार्थोंके संयोग हो जानेपर उस अनिष्टको दूर करनेके लिए बार-बार चिन्तन करना अनिष्टसंयोगजन्य आर्त्तध्यान है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि इष्ट पदार्थोंके वियुक्त हो जानेपर उनकी प्राप्तिके लिए बार-बार चिन्तन करना इष्टवियोगजन्य आर्तध्यान है। रोगके होने पर अधीर हो जाना, यह रोग मुझे बहुत कष्ट दे रहा है, कब दूर होगा, इस प्रकार सदा रोगजन्य दुःखका विचार करते रहना तीसरा आर्त्तध्यान है। भविष्यत्कालमें भोगोंकी प्राप्तिकी आकांक्षाको मनमें बार-बार लाना निदानज आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान : स्वरूप और भेद

रुद्रका अर्थ क्रूर परिणाम है। जो क्रूर परिणामोंके निमित्तसे होता है, वह रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानके निमित्तकी अपेक्षा चार भेद हैं—१. हिंसानन्द रौद्रध्यान, २. मृषानन्द रौद्रध्यान, ३. चौर्यानन्द रौद्रध्यान और ४. विषयसंरक्षण रौद्रध्यान। जीवोंके समूहको अपने तथा अन्य द्वारा मारे जानेपर, पीड़ित किये जानेपर एवं कष्ट पहुँचाये जानेपर जो चिन्तन किया जाता है या हर्ष मनाया जाता है उसे हिंसानन्द रौद्रध्यान कहा जाता है। यह ध्यान निर्दयी, क्रोधी मानी, कुशीलसेवी नास्तिक एवं उद्दीप्तकषायवालेको होता है। शत्रुसे बदला लेनेका चिन्तन करना, युद्धमें प्राणघात किये गये दृश्यका चिन्तन करना एवं किसीको मारने-पीटने कष्ट पहुँचाने आदिके उपायोंका चिन्तन करना भी हिंसानन्द रौद्रध्यानके अन्तर्गत है। झूठी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिनचित्त होकर जो कुछ चिन्तन किया जाता है, वह मृषानन्द रौद्रध्यान है। इस ध्यानको करनेवाला व्यक्ति नाना प्रकारके झूठे संकल्प-विकल्पकर आनन्दानुभूति प्राप्त करता रहता है। चोरी करनेकी युक्तियाँ सोचते रहना, परधन या सुन्दर वस्तुको हड़पनेकी दिन-रात चिन्ता करते रहना चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है। सांसारिक विषय भोगनेके हेतु चिन्तन करना, विषयभोगकी सामग्री एकत्र करनेके लिए विचार करना एवं धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त करनेके साधनोंका चिन्तन करना विषयसंरक्षणनामक रौद्रध्यान है।

आर्त्त और रौद्र दोनों ही ध्यान आत्मकल्याणमें बाधक हैं। इनसे आत्मस्वरूप आच्छादित हो जाता है तथा स्वपरिणति लुप्त होकर परपरिणतिकी प्राप्ति हो जाती है। ये दोनों ध्यान दुर्ध्यान कहलाते हैं और दुर्गतिके कारण हैं। इनका आत्मकल्याणसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

धर्मध्यान : स्वरूप और भेद

शुभ राग और सदाचार सम्बन्धी चिन्तन करना धर्मध्यान है। धर्मध्यान

आत्माकी निर्मलताका साधन है। इस ध्यानके समग्र भेदोंका साधन करनेसे रत्नत्रयगुण निर्मल होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है। धर्मध्यानके चार भेद हैं—१. आज्ञा, २. अपाय, ३. विपाक और ४. संस्थान। आगमानुसार तत्त्वोंका विचार करना आज्ञाविचय, अपने तथा दूसरोंके राग-द्वेष-मोह आदि विकारोंको नाश करनेका चिन्तन करना अपायविचय, अपने तथा दूसरोंके सुख-दुःखको देखकर कर्मप्रकृतियोंके स्वरूपका चिन्तन करना विपाकविचय एवं लोकके स्वरूपका विचार करना संस्थानविचयनामक धर्मध्यान है। इस धर्मध्यानके अन्य प्रकारसे भी चार भेद हैं—१. पिंडस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत। यह धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंके सम्भव है। श्रेणि-आरोहणके पूर्व धर्मध्यान और श्रेणि-आरोहणके समयसे शुक्लध्यान होता है।

पिण्डस्थ ध्यान

शरीर स्थित आत्माका चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है। यह आत्मा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे रागद्वेषयुक्त है और निश्चयनयकी अपेक्षा यह बिलकुल शुद्ध ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूप है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादि-कालीन है और इसी सम्बन्धके कारण यह आत्मा अनादिकालसे इस शरीरमें आबद्ध है। यों तो यह शरीरसे भिन्न अमूर्तिक, सूक्ष्म और चैतन्यगुणधारी है, पर इस सम्बन्धके कारण यह अमूर्तिक होते हुए भी कथञ्चित् मूर्तिक है। इस प्रकार शरीरस्थ आत्माका चिन्तन पिण्डस्थ ध्यानमें सम्मिलित है। इस ध्यानको सम्पादित करनेके लिए पाँच धारणाएँ वर्णित हैं—१. पार्थिवी, २. आग्नेय, ३. वायवी ४. जलीय और ४. तत्त्वरूपवती।

पार्थिवी धारणा

इस धारणामें एक मध्यलोकके समान निर्मल जलका बड़ा समुद्र चिन्तन करे; उसके मध्यमें जम्बूद्वीपके तुल्य एक लाख योजन चौड़ा और एक सहस्र पत्रवाले तपे हुए स्वर्णके समान वर्णके कमलका चिन्तन करे। कर्णिकाके बीचमें सुमेरु पर्वत सोचे। उस सुमेरु पर्वतके ऊपर पाण्डुकवनमें पाण्डुक शिलाका चिन्तन करे। उसपर स्फटिक मणिका आसन विचारे। उस आसनपर पद्मासन लगाकर अपनेको ध्यान करते हुए कर्म नष्ट करनेके हेतु विचार करे। इतना चिन्तन बार-बार करना पार्थिवी धारणा है।

आग्नेयी धारणा

उसी सिंहासनपर बैठे हुए यह विचार करे कि मेरे नाभिकमलके स्थानपर

भीतर ऊपरको उठा हुआ सोलह पत्तोंका एक श्वेत रंगका कमल है। उसपर पीतवर्णके सोलह स्वर लिखे हैं। अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ, अं अः, इन स्वरोंके बीचमें 'ह्रँ' लिखा है। दूसरा कमल हृदयस्थानपर नाभिकमलके ऊपर आठ पत्तोंका औंधा विचार करना चाहिए। इस कमलको ज्ञानावरणादि आठ पत्तोंका कमल माना जायगा।

पश्चात् नाभि-कमलके बीचमें जहाँ 'ह्रँ' लिखा है, उसके रेफसे धुँआ निकलता हुआ सोचे, पुनः अग्निकी शिखा उठती हुई विचार करे। यह लौ ऊपर उठकर आठ कर्मोंके कमलको जलाने लगी। कमलके बीचसे फूटकर अग्निकी लौ मस्तकपर आ गई। इसका आधा भाग शरीरके एक ओर और आधा भाग शरीरके दूसरी ओर निकलकर दोनोंके कोने मिल गये। अग्निमय त्रिकोण सब प्रकारसे शरीरको वेष्टित किये हुए है। इस त्रिकोणमें र र र र र र र अक्षरोंको अग्निमय फैले हुए विचारे अर्थात् इस त्रिकोणके तीनों कोण अग्निमय र र र अक्षरोंके बने हुए हैं। इसके बाहरी तीनों कोणोंपर अग्निमय साँथिया तथा भीतरी तीनों कोणोंपर अग्निमय 'ओम् ह्रँ' लिखा सोचे। पश्चात् विचार करे कि भीतरी अग्निकी ज्वाला कर्मोंको और बाहरी अग्निकी ज्वाला शरीरको जला रही है। जलते-जलते कर्म और शरीर दोनों ही जलकर राख हो गये हैं तथा अग्निकी ज्वाला शान्त हो गई है अथवा पहलेके रेफमें समाविष्ट हो गई है, जहाँसे उठो थी। इतना अभ्यास करना 'अग्निधारणा' है।

वायु-धारणा

तदनन्तर साधक चिन्तन करे कि मेरे चारों ओर बड़ी प्रचण्ड वायु चल रही है। इस वायुका एक गोला मण्डलाकार बनकर मुझे चारों ओरसे घेरे हुए है। इस मण्डलमें आठ जगह 'स्वॉय स्वॉय' लिखा हुआ है। यह वायु-मण्डल कर्म तथा शरीरके रजको उड़ा रहा है। आत्मा स्वच्छ और निर्मल होती जा रही है। इस प्रकारका चिन्तन करना वायु-धारणा है।

जल-धारणा

तत्पश्चात् चिन्तन करे कि आकाशमें मेघोंकी घटाएँ आच्छादित हैं। विद्युत् चमक रही है। बादल गरज रहे हैं और घनघोर वृष्टि हो रही है। पानीका अपने ऊपर एक अर्ध चन्द्राकार मण्डल बन गया है। जिसपर प प प प कई स्थानोंपर लिखा है। जल-धाराएँ आत्माके ऊपर लगी हुई हैं और कर्मरज प्रक्षालित हो रहा है, इस प्रकार चिन्तन करना जल धारणा है।

तत्त्वरूपवती-धारणा

इसके आगे साधक चिन्तन करे कि अब मैं सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, निर्मल, कर्म

और शरीरसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। पुरुषाकार चैतन्यधातुकी बनी शुद्ध मूर्तिके समान हूँ। पूर्ण चन्द्रमाके तुल्य ज्योतिस्वरूप हूँ।

क्रमशः इन पाँच धारणाओं द्वारा पिंडस्थ ध्यानका अभ्यास किया जाता है। यह ध्यान आत्माके कर्मकलङ्कपङ्कको दूरकर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणोंका विकास करता है।

पदस्थ ध्यान

मन्त्रपदोंके द्वारा अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा आत्माका स्वरूप चिन्तन करना पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थान—नासिकाग्र या भृकुटिके मध्यमें मन्त्रको अंकित कर उसको देखते हुए चित्तको एकाग्र करना पदस्थ ध्यानके अन्तर्गत है। इस ध्यानमें इस बातका चिन्तन करना भी आवश्यक है कि शुद्ध होनेके लिए जो शुद्ध आत्माओंका चिन्तन किया जा रहा है वह कर्मरजको दूर करनेवाला है। इस ध्यानका सरल और साध्य रूप यह है कि हृदयमें आठ पत्राकार कमलका चिन्तन करे और इन आठ पत्रोंमेंसे पाँच पत्रोंपर "णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं," लिखा चिन्तन करे तथा शेष तीन पत्रोंपर क्रमशः "सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः और सम्यक्चारित्राय नमः" लिखा हुआ विचारे। इस प्रकार एक-एक पत्तेपर लिखे हुए मंत्रका ध्यान जितने समय तक कर सके, करे।

रूपस्थ ध्यान

अर्हन्त परमेष्ठीके स्वरूपका-विचार करे कि वे समवशरणमें द्वादश सभाओंके मध्यमें ध्यानस्थ विराजमान है। वे अनन्तचतुष्टय सहित परम वीतरागी हैं अथवा ध्यानस्थ जिनेन्द्रकी मूर्तिका एकाग्रचित्तसे ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत

सिद्धोंके गुणोंका विचार करे कि सिद्ध, अमूर्तिक, चैतन्यपुरुषाकार, कृतकृत्य, परमशान्त, निष्कलंक, अष्टकर्म रहित, सम्यक्त्वादि अष्टगुण सहित, निर्लेप, निर्विकार एवं लोकाग्रमें विराजमान हैं। पश्चात् अपने आपको सिद्धस्वरूप समझकर ध्यान करे कि मैं ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ, निरञ्जन हूँ, कर्मरहित हूँ, शिव हूँ, इस प्रकार अपने स्वरूपमें लीन हो जाय।

शुक्ल ध्यान

मनकी अत्यन्त निर्मलताके होनेपर जो एकाग्रता होती है वह शुक्ल ध्यान

है। शुक्ल ध्यानके चार भेद हैं--१. पृथक्त्ववितर्कविचार, २. एकत्ववितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और ४. व्युपरतक्रियानिर्वति।

पृथक्त्ववितर्कविचार

उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीका आरोहण करनेवाला कोई पूर्वज्ञानधारी इस ध्यानमें वितर्क—श्रुतज्ञानका आलम्बन लेकर विविध दृष्टियोंसे विचार। करता है और इसमें अर्थ, व्यञ्जन तथा योगका संक्रमण होता रहता है। इस तरह इस ध्यानका नाम पृथक्त्ववितर्कविचार है। इस ध्यान द्वारा साधक मुख्य रूपसे चारित्रमोहनीयका उपशम या क्षपण करता है।

एकत्ववितर्क-अविचार

क्षीणमोहगुणस्थानको प्राप्त होकर श्रुतके आधारसे किसी एक द्रव्य या पर्यायका चिन्तन करता है और ऐसा करते हुए वह जिस द्रव्य, पर्याय, शब्द या योगका अवलम्बन लिये रहता है, उसे नहीं बदलता है, तब यह ध्यान एकत्ववितर्क-अविचार कहलाता है। इस ध्यान द्वारा साधक घातिकर्मकी शेष प्रकृतियोंका क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति

सर्वज्ञदेव योगनिरोध करने लिए स्थूल योगोंका अभाव कर सूक्ष्मकाय-योगको प्राप्त होते हैं, तब सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति ध्यान होता है। कायवर्गणा-के निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका अतिसूक्ष्म परिस्पन्द शेष रहता है। अतः इसे सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति कहते हैं।

व्युपरतक्रियानिर्वति

कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंका अतिसूक्ष्म परिस्पन्दनके भी शेष नहीं रहनेपर और आत्माके सर्वथा निष्प्रकम्प होनेपर व्युपरतक्रियानिर्वति ध्यान होता है। किसी भी प्रकारके योगका शेष न रहनेके कारण इस ध्यानका उक्त नाम पड़ा है। इस ध्यानके होते ही सातावेदनीयकर्मका आस्रव रुक जाता है और अन्तमें शेष रहे सभी कर्म क्षीण हो जानेसे मोक्ष प्राप्त होता है। ध्यान-में स्थिरता मुख्य है। इस स्थिरताके बिना ध्यान सम्भव नहीं हो पाता।

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

आत्मिक गुणोंके विकासकी क्रमिक अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं। आत्मा स्वभावतः ज्ञान-दर्शन-सुखमय है। इस स्वरूपको विकृत अथवा आवृत करनेका कार्य कर्मों द्वारा होता है। कर्मावरणकी घटा जैसे-जैसे घनी होती जाती है,

वैसे वैसे आत्मिक शक्तिका प्रकाश मन्द होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्मावरण हटता जाता है, वैसे-वैसे आत्माकी शक्ति प्रादुर्भूत होती जाती है। आत्मिक उत्क्रान्तिकी यह प्रक्रिया ही गुणस्थान है। गुणस्थानका शाब्दिक अर्थ गुणोंका स्थान है। जीवके कर्मनिमित्त सापेक्ष परिणाम गुण हैं। इन गुणोंके कारण संसारी जीव विविध अवस्थाओंमें विभक्त होते हैं और ये विविध अवस्थाएँ ही गुणस्थान हैं।

मोह और योग–मोह और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके कारण जीवके अन्तरंग-परिणामोमें प्रतिक्षण होनेवाले उतार-चढ़ावका नाम गुणस्थान है। परिणाम अनन्त हैं; पर उत्कृष्ट, मलिन परिणामोंको लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उसके ऊपर जघन्य वीतराग परिणामसे लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम-तक की अनन्तवृद्धियोंके क्रमको वक्तव्य बनानेके लिए चौदह श्रेणियोंमें विभाजित किया गया है। ये श्रेणियाँ ही गुणस्थान कहलाती हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उदयसे जिसकी आत्मामें अतत्वश्रद्धान होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्वगुणस्थानमें जीवको 'स्व' और 'पर' का भेदज्ञान नहीं रहता है। न तत्त्वका श्रद्धान होता है और न आप्त, आगम , निर्ग्रन्थ गुरु पर विश्वास ही। संक्षेपमें यह आत्माकी ऐसी स्थिति है जहाँ यथार्थ विश्वास और यथार्थ बोधके स्थानपर अयथार्थ श्रद्धा और अयथार्थ बोध रहता है। आत्मोत्क्रांतिकी यह प्राथमिक भूमिका है। यहींसे आत्मा मिथ्यात्वका क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर चतुर्थ गुणस्थानपर पहुँचती है। यह है तो आत्माके ह्रासकी स्थिति, पर उत्क्रांति यहींसे आरम्भ होती है।

(२) सासादन

जिस आत्माने मिथ्यात्वका क्षय नहीं किया है, पर मिथ्यात्वको शान्त करके सम्यक्त्वकी भूमिका प्राप्त की थी, किन्तु थोड़े कालके पश्चात् ही मिथ्यात्वके उभर आनेसे आत्मा सम्यक्त्वसे च्युत हो जाती है। जब तक वह सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वकी भूमिपर नहीं पहुँच पाती, बीचकी यह स्थिति ही सासादान गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती आत्माका सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेके कारण असादन—विराधनासे सहित होता हैं। आत्माकी यह स्थिति अत्यल्प काल तक रहती है।

(३) मिश्रगुणस्थान

सम्यग्दर्शनके कालमें यदि सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय आ जाता है तो आत्मा चतुर्थ गुणस्थानसे च्युत हो तृतीय गुणस्थानमें आजाती है। जिसप्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसी प्रकार इस गुणस्थान-वर्ती जीवके परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे मिश्रित रहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे पतित हो तृतीय गुणस्थानमें आता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानसे भी तृतीय स्थानको प्राप्त करता है। यह गुणस्थान मिथ्यात्वसे ऊँचा है पर मिश्रपरिणामोंके कारण यथार्थ प्रतीति नहीं रहती है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान

अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीचतुष्टय इन पाँच प्रकृतियोंके और सादिमिथ्यादृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धीचतुष्क इन सात प्रकृतियोंके उपशमादि होनेपर तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है। पर अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय रहनेसे संयम-भाव जागृत नहीं होते, अतः यह असंयत या अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान कहलाता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धानके सद्भावके कारण संयमका आचरण नहीं करनेपर भी आत्म-अनात्मके विवेकसे सम्पन्न रहता है। भोग भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं रहता। वह अपने विचारोंपर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। आर्त्त जीवोंकी पीड़ा देखकर उसके हृदयमें करुणाका निर्मल स्रोत प्रवाहित होने लगता है। उसका लक्ष्य और बोध शुद्ध हो जाता है और वह संयमके पथपर चलनेके लिए उत्कण्ठित रहता है।

(५) संयतासंयतगुणस्थान

अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम होनेपर जिसके एकदेश चारित्र प्रकट हो जाता है उसे संयतासंयत गुणस्थान कहते हैं। त्रसहिंसासे विरत रहनेके कारण यह संयत और स्थावरहिंसासे अविरत रहनेके कारण असंयत कहलाता है। अप्रत्याख्यानावरणकषायके क्षयोपशम और प्रत्याख्या-नावरणकषायके उदयमें तारतम्य होनेसे दार्शनिक आदि अवान्तर ग्यारह भेद होते हैं। इस गुणस्थानसे आत्माकी यथार्थ उत्क्रांति आरम्भ होती है। चतुर्थ-गुणस्थानमें श्रद्धा और विवेक उपलब्ध होते हैं और इस पञ्चम गुणस्थानसे चारित्रिक विकास आरम्भ होता है।

(६) प्रमत्तसंयतगुणस्थान

आत्माको अपनी हीनतापर विजय पानेका विश्वास हो जाता है तो वह अपनी अपूर्णताओंको समाप्तकर महाव्रती बन जाता है और नग्न मुद्राको धारण कर लेता है। प्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम और संज्वलनका तीव्र उदय रहनेपर प्रमाद सहित संयमका होना प्रमत्तसंयतगुणस्थान है। हिंसादि पापोंका सर्वदेश त्याग करनेपर भी संज्वलनचतुष्कके तीव्र उदयसे चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंके कारण आचरण किञ्चित् दूषित बना रहता है।

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान

आत्मार्थी साधककी परमपवित्र भावनाके बलपर कभी-कभी ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि अन्तःकरणमें उठनेवाले विचार नितान्त शुद्ध और उज्ज्वल हो जाते हैं और प्रमाद नष्ट हो जाता है। संज्वलन कषायका तीव्र उदय रहनेसे साधक आत्मचिन्तनमें सावधान रहता है। इस गुणस्थानके दो भेद है :—स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थानाप्रमत्त साधक छठे गुणस्थानसे सातवेंमें और सातवेंसे छठे गुणस्थानमें चढ़ता उतरता रहता है। पर जब भावोंका रूप अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तो साधक सातिशय अप्रमत्त होकर अस्खलितगतिसे उत्क्रांति करता है। सातिशय अप्रमत्तके अधःकरण आदि विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं। जिसमें समसमय अथवा भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों ही प्रकारके होते हैं वह अधःकरण है।

(८) अपूर्वकरणगुणस्थान

करणका अर्थ अध्यवसाय, परिणाम या विचार है। अभूतपूर्व अध्यवसायों या परिणामोंका उत्पन्न होना अपूर्वकरण गुणस्थान है। इस गुणस्थानमें चारित्र मोहनीयकर्मका विशिष्ट क्षय या उपशम करनेसे साधकको विशिष्ट भावोत्कर्ष प्राप्त होता है।

(९) अनिवृत्तिकरणगुणस्थान

इस गुणस्थानमें भावोत्कर्षकी निर्मल विचारधारा और तीव्र हो जाती है। फलतः समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश हो होते हैं। इस गुणस्थानमें संज्वलनचतुष्कके उदयकी मन्दताके कारण निर्मल हुई परिणतिसे क्रोध, मान, माया एवं वेदका समूल नाश हो जाता है।

(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान

मोहनीयकर्मका क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक जब समस्त

कषायको नष्ट कर देता है। सूक्ष्म लोभका उदय ही शेष रह जाता है, तो आत्मा-की इस उत्कर्ष स्थितिका नाम सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान है।

अष्टम गुणस्थानसे श्रेणी आरोहण प्रारम्भ होता है। श्रेणियाँ दो प्रकारकी हैः—(१) उपशमश्रेणी और (२) क्षपकश्रेणी। जो चारित्रमोहका उपशम करनेके लिये प्रयत्नशील हैं वे उपशमश्रेणीका आरोहण करते हैं और जो चारित्रमोहका क्षय करनेके लिये प्रयत्नशील है वे क्षपकश्रेणीका। क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी और औपशमिक एवं क्षायिक दोनों ही सम्यग्दृष्टि क्षपक-श्रेणीपर आरोहण कर सकते हैं।

(११) उपशान्तमोहगुणस्थान

उपशमश्रेणीकी स्थितिमें दशम गुणस्थानमें चारित्रमोहका पूर्ण उपशम करनेसे उपशान्तमोहगुणस्थान होता है। मोह पूर्ण शान्त हो जाता है पर अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् मोहोदय आजानेसे नियमतः इस गुणस्थानसे पतन होता है।

(१२) क्षीणमोह

मोहकर्मका क्षय संपादित करते हुए दशम गुणस्थानमें अवशिष्ट लोभांशका भी क्षय होनेसे स्फटिकमणिके पात्रमें रखे हुए जलके स्वच्छ रूपके समान परि-णामोंको निर्मलता क्षीणमोहगुणस्थान है। समस्त कर्मोंमें मोहकी प्रधानता है और यही समस्त कर्मोंका आश्रय है, अतः क्षीणमोहगुणस्थानमें मोहके सर्वथा क्षीण हो जानेसे निर्मल आत्मपरिणति हो जाती है।

(१३) सयोगकेवलीगुणस्थान

शुक्लध्यानके द्वितीयपादके प्रभावसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है और आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाती है। केवलज्ञानके साथ योगप्रवृत्ति रहनेसे यह सयोगकेवली गुणस्थान कहलाता है।

(१४) अयोगकेवली

योगप्रवृत्तिके अवरुद्ध हो जानेसे अयोगकेवलीगुणस्थान होता है। इस गुणस्थानका काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारण काल तुल्य है। व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानके प्रभावसे सत्तामें स्थित पचासी प्रकृतियोंका क्षय भी इसी गुणस्थानमें होता है।

निष्कर्ष—मानवजीवनके उत्थानके हेतु धर्म और आचार अनिवार्य तत्त्व हैं। आचार और विचार परस्परमें सम्बद्ध हैं। विचारों तथा आदर्शोंका व्यव-हारिक रूप आचार है। आचारकी आधारशिला नैतिकता है। वैयक्तिक और

सामाजिक जीवनमें धर्मकी प्रतिष्ठा भी नैतिकताके आधारपर होती है। धर्म और आचार भौतिक और शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु इनका क्षेत्र आध्यात्मिक और मानसिक मूल्य भी है। ये दोनों ही आध्यात्मिक अनुभूति उत्पन्न करते हैं। आचार वही ग्राह्य है, जो धर्ममूलक है तथा आध्यात्मिकताका विकास करता है। दर्शनका सम्बन्ध विचार, तर्क अथवा हेतुवादके साथ है। जबकि धर्मका सम्बन्ध आचार और व्यवहारके साथ है। धर्म श्रद्धापर अवलम्बित है और दर्शन हेतुवादपर। श्रद्धाशील व्यक्ति आचार और धर्मका अनुष्ठान करता हुआ विचारको उत्कृष्ट बनाता है। अतएव आत्मविकासकी दृष्टिसे धर्म और आचारका अध्ययन परमावश्यक है।

●

एकादश परिच्छेद

समाज-व्यवस्था

लौकिक जीवनकी उन्नति और समृद्धिके लिए समाजका विशिष्ट महत्त्व है। व्यक्ति समाजकी इकाई अवश्य है, पर वह समाज या संघके बिना रह नहीं सकता है। यतः व्यक्तिके जीवनकी अगणित समस्याएँ समाजके द्वारा ही सही रूपमें सुलझती हैं और सामाजिक जीवनमें ही उसकी निष्ठा वृद्धिगत होती है।

जीवनमें जब सामाजिकताका विकास होता है, तो निजी स्वार्थ और व्यक्तिगत हितोंका बलिदान करना पड़ता है। अपने हित, अपने स्वार्थ और अपने सुखसे ऊपर समाजके स्वार्थ एवं सामूहिक हितको प्रधानता दी जाती है। मानव एकदूसरेके हितोंको समझकर अपने व्यवहारपर नियन्त्रण रखता है। परस्पर एकदूसरेके कार्योंमें सहयोगी बन, अन्यके दुःख और पीड़ाओंमें यथोचित साहस-धैर्य बँधाकर उनमें भाग लेनेसे सामाजिक जीवनको प्रथम भूमिकाका निर्वाह किया जाता है। जीवनमें जब अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाते हैं और व्यक्ति अकेला उनका समाधान नहीं कर पाता, तो उस स्थितिमें

दूसरा साथी उसके अन्तर्द्वन्द्वोंको सस्नेह सहयोगी बन प्रकाश दिखलाता है और पराभवके क्षणोंमें उसे विजयमार्गकी ओर ले जाता है। अतएव वैयक्तिक जीवनको सुखी, शान्त और समृद्ध बनानेके लिए समाजकी आवश्यकता रहती है। व्यक्ति समाजके सहयोगके बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है।

समाज : व्युत्पत्ति एवं अर्थविस्तार

समाजशब्द सम् + अज् + घञ्से निष्पन्न है। अज् धातु भ्वादिगणी है और इसका अर्थ गति और क्षेपण है। चुरादिगणी मानने पर 'दीप्ति' अर्थ है। पर यहाँ "संवीयतेऽत्रेति" अर्थात् एकत्रीकरण अभिप्रेत है। अमरकोषके अनुसार "पशुभिन्नानां संघः" पशु-पक्षीसे भिन्न मानवोंका समुदाय या संघ समाज है। समाजशब्द व्यापक है। एक प्रकारके व्यक्तियोंके विश्वास एवं स्वीकृतियाँ समाजमें विद्यमान रहती हैं।

समाज सम्बन्धोंका एक निश्चित रूप है। मानवजीवन सृष्टिका सबसे बड़ा विकसित रूप है। कर्त्तव्यकर्मोंका निर्वाह जीवनके विकासका सर्वोत्तम रूप है। समाजका गठन जीवन्त मानवके अनुरूप होता है। समाजके लिए कुछ मान्य नियम या स्वयं सिद्धियाँ होती हैं, जिनका पालन उस समुदाय-विशेषके व्यक्तियोंको करना पड़ता है। जिस समुदायमें एक-सा धर्म, संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, रीति-रिवाज समान धरातलपर विकसित और वृद्धिगत होते हैं, वह समुदाय एक समाजका रूप धारण करता है। विश्वबन्धुत्वकी भावना जितनी अधिक बढ़ती जाती है, समाजका क्षेत्र भी उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। भावनात्मक एकता ही समाज-विस्तारका घटक है। मनुष्यताका विकास क्षुद्रसे विराट्की ओर होता है। सुख-दुःखकी धारणाओं-को समत्व रूपमें जितना अधिक बढ़नेका अवसर मिलता है, समाजकी परिधि उतनी ही बढ़ती जाती है। अतः समाजका विकास प्रतिदिन होता जा-रहा है।

व्यक्तिकेन्द्रित चेतना जब समष्टिकी ओर मुड़ जाती है, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्वका संकल्प जागृत हो जाता है, पारस्परिक सुख-दुःखात्मक अनुभूतिकी संवेदनशीलता बढ़ती जाती है, तो सामाजिकताका विकास होता जाता है। चिन्तन, मनन और अनुभवसे यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने पिण्डकी क्षुद्र इकाईमें बद्ध रहकर अच्छे जीनेके ढंगसे जी नहीं सकता; अपना पर्याप्त भौतिक और बौद्धिक विकास नहीं कर सकता। जीवनकी सुख-समृद्धि-का द्वार नहीं खोल सकता और न अध्यात्मकी श्रेष्ठ भूमिका तक पहुँच सकता है। अकेला रहनेमें मनुष्यका दैहिक विकास भी सम्यक्तया नहीं हो पाता। अतएव

व्यक्तिको सामाजिक जीवन यापन करनेकी परम आवश्यकता रहती है। समाज एक व्यक्तिके व्यवहार पर निर्भर नहीं रहता, किन्तु बहुसंख्यक मनुष्यों-के व्यवहारोंके पूर्ण चित्रके आधार पर ही उसका गठन होता है। दूसरे शब्दोंमें यह माना जा सकता है कि समाज मनुष्योंकी सामुदायिक क्रियाओं, सामूहिक हितों, आदर्शों एवं एक ही प्रकारकी आचारप्रथाओंपर अवलम्बित है। अनेक व्यक्ति जब एक ही प्रकारकी जनरीतियों (folk ways) और रूढ़ियों (Mores) के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो विभिन्न प्रकारके सामाजिक संगठन जन्म ग्रहण करते हैं। प्रत्येक सामाजिक संस्था समूहका एक ढाँचा (structure) होता है, जिसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यों, उत्सवों, संस्कारों एवं सामाजिक सम्बन्धोंका समावेश रहता है। सारांश यह है कि अधिक समय तक एक ही रूपमें कतिपय मनुष्योंके व्यवहार और विश्वासों का प्रचलन सामाजिक संस्थाओं या समूहोंको उत्पन्न करता है।

समाजकी उत्पत्तिके कारण

समाजकी उत्पत्ति व्यक्तिकी सुख-सुविधाओंके हेतु होती है। जब व्यक्तिके जीवनकी प्रत्येक दिशामें अशान्तिका भीषण ताण्डव बढ़ जाता है। भोजन, वस्त्र और आवासकी समस्याएँ विकट हो जाती है। भौतिक आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ जाती है, जिनकी पूर्ति व्यक्ति अकेला रहकर नहीं कर सकता। उस समय वह सामाजिक संगठन आरम्भ करता है। असन्तोष और अधिकार-लिप्सा वैयक्तिक जीवनकी अशान्तिके प्रमुख कारण हैं। भोग और लोभकी कामना विश्वके समस्त पदार्थोंको जीवनयज्ञके लिए विष बनाती है। तथा प्रभुताकी पिपासा विवेकको तिलांजलि देकर कामनाओंकी और अधिक वृद्धि करती है।

'अहं' भावना व्यक्तिमें इतनी अधिक समाविष्ट है, जिससे वह अन्यके अधिकारोंकी पूर्ण अवहेलना करता है। अहंवादी होनेके कारण उसकी दृष्टि अपने अधिकारों एवं दूसरोंके कर्त्तव्यों तक ही सीमित रहती है। फलतः व्यक्तिको अपने अहंकारकी तुष्टिके लिए समाजका आश्रय लेना पड़ता है। यही प्रवृत्ति समाजके घटक परिवारको जन्म देती है।

भोगभूमिके प्रारम्भमें ही युगलरूपमें मनुष्य जन्म ग्रहण करता था। इसी यौगलिक परम्परासे परिवारका विकास हुआ है। मनुष्य अकेला नहीं है, वह स्वयं पुरुष है और एक स्त्री भी उसके साथ है। वे दोनों साथ घूमते हैं और साथ साथ रहते हैं। उन दोनोंका केवल दैहिक सम्बन्ध है, पति-पत्नीके रूपमें पवित्र पारिवारिक संबंधका परिस्फुरण नहीं है। वे साथी तो अवश्य

हैं पर सुख-दुःखमें भागीदार नहीं। उन्हें एकदूसरेके हितोंकी चिन्ता नहीं थी। जब पुरुषको भूख लगती थी, तो वह इधर उधर चला जाता था और तत्कालीन कल्पवृक्षोंसे अपनी क्षुधाको शान्त कर लेता था। नारीको जब भूख सताती, तो वह भी निकल पड़ती और पुरुषके ही समान कल्पवृक्षों द्वारा अपनी क्षुधाको शान्त कर लेती। न तो पुरुषको भोजनादिके लिए अर्थ-व्यवस्था ही करनी पड़ती थी और न नारीको पुरुषके लिए भोजनादि ही सम्पन्न करने पड़ते थे। पिपासा शान्त करनेके लिए भी कूप, सरोवर आदिके प्रबन्धकी आवश्यकता नहीं थी। उसका भी शमन प्रकृतिप्रदत्त कल्पवृक्षों द्वारा हो जाता था। इस प्रकार लाखों वर्षों तक नर और नारी साथ-साथ रहकर भी पृथक् पृथक् रहे, वे एकदूसरेके सुख-दुःखमें भागीदार नहीं बन सके और न उनमें पारस्परिक समर्पणकी कल्पना ही आ सकी। वे एक दूसरेकी समस्यामें भी रस नहीं लेते थे।

जब कर्मभूमिका प्रारम्भ हुआ, तो परिवार-संस्था प्रादुर्भूत हुई। नर नारी परस्पर सहयोगके बिना रह नहीं सकते थे। उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ भी प्रकृतिद्वारा सम्पन्न नहीं होती थी। पुरुषको अर्थार्जनके लिए प्रयास करना पड़ता और नारीको भोजनादि सामग्रियाँ तैयार करनी पड़तीं। अब वे पूर्णतया पति-पत्नी थे, उनमें समर्पणकी भावना थी और वे एक दूसरेके प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार परिवार-संस्थाको उत्पत्ति हुई। वस्तुतः संस्कृति और सामाजिकताका विकास परिवारसे ही होता है।

समाजघटक परिवार

समाजका आधारभूत परिवार है। चतुर्विध संघमें श्रावक और श्राविका संघकी अवस्थिति परिवार पर ही अवलम्बित है। यह कामकी स्वाभाविक वृत्तिको लक्ष्यमें रखकर यौनसम्बन्ध एवं सन्तानोत्पत्तिकी क्रियाओंको नियन्त्रित करता है। भावनात्मक घनिष्ठताका वातावरण तैयार कर बालकोंके समुचित पोषण और विकासके लिए आवश्यक पृष्ठभूमिका निर्माण करता है। इस-प्रकार व्यक्तिके सामाजीकरण और सांस्कृतिकरणकी प्रक्रियामें परिवारका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। परिवारके निम्नि लिखित कार्य हैं—

१. स्त्री-पुरुष'के यौनसंबंधको विहित और नियन्त्रित करना।

२. वंशवर्धनके हेतु सन्तानकी उत्पत्ति, संरक्षण और पालन करना, मानव-जातिके क्रमको आगे बढ़ाना।

३. गृह और गार्हस्थ्यमें स्त्री-सुरुषका सहवास और नियोजन।

४. जीवनको सहयोग और सहकारिताके आधार पर सुखी एवं समृद्ध बनाना।

५. व्यावसायिक ज्ञान, औद्योगिक कौशलके हस्तान्तरणका नियमन एवं वृद्ध, असहाय और बच्चोंकी रक्षाका प्रबन्धसम्पादन।

६. मानसिक विकास, संकेत (Suggestion) अनुकरण (Imitalton) एवं सहानुभूति (Sympathy) द्वारा बच्चोंके मानसिक विकासका वातावरण वस्तुत करना।

७. भोगेच्छाओंको नियन्त्रित करते हुए संयमित और आध्यात्मिक जीवनकी उन्नति करना।

८. जातीय जीवनके सातत्यको दृढ़ रखते हुए धर्मकार्य सम्पन्न करना।

९. प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, शिक्षा, अनुशासन आदि मानवके महत्त्वपूर्ण नागरिक एवं सामाजिक गुणोंका विकास करना।

१०. आर्थिक स्थायित्वके हेतु उचित आयका सम्पादन करना।

११. विकास और दृढ़ताके लिए आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजनसे सम्बद्ध कार्योंका प्रबन्ध करना।

१२. मुनि-संस्थाकी सुदृढ़ताके लिए वैयावृत्तिका सम्पादन करना।

१३. पारिवारिक बन्धनोंको स्वीकार करना।

१४. पारिवारिक दायित्व-निर्वाहोंके साथ आचार और धर्मका यथावत् पालन करना।

१५. अधिकारों और कर्त्तव्योंमें सन्तुलन स्थापित करना।

वस्तुतः परिवार-गठनका आधार मातृ-स्नेह, पितृ-प्रेम, दाम्पत्य-आसक्ति, अपत्य-प्रीति, अतिथि-सत्कार, सेवा-वैयावृत्ति और सहकारिता हैं। इन आधारों पर ही परिवारका प्रासाद निर्मित है। यदि ये आधार कमजोर या क्षीण हो जायँ, तो परिवार-संस्थाका विघटन होने लगता है। यों तो परिवारके उद्देश्योंमें स्त्री-पुरुषके यौनसम्बन्धकी प्रमुखता है, पर विषयभोगोंका सेवन कटु औषधके समान अल्परूपमें ही करना हितकर है। मनोहर विषयोंका सेवन करनेसे तृष्णाकी जागृति होती है और यह तृष्णारूपी ज्वाला अहर्निश वृद्धिगत होती जाती है। अतएव विषयभोगोंका सेवन बहुत ही सीमित और नियंत्रित रूपमें करना चाहिए। जिस प्रकार अधिक मिठाई खानेसे स्वस्थ रहनेकी अपेक्षा मनुष्य बीमार पड़ जाता है। उसी प्रकार जो अधिक कामभोगोंका सेवन करता है, वह भी मानसिक और शारीरिक रोगोंसे आक्रान्त हो जाता है। वासनाकी शान्तिके लिए सीमित रूपमें ही विषयोंका सेवन परिवारके लिए हितकर होता

है। ज्ञान, शान्ति, सुख और सन्तोषके हेतु संयमका पालन परिवारमें भी आवश्यक है। वही परिवार सुखी रह सकता है, जिस परिवारके सदस्योंने अपनी आशाओं और तृष्णाओंको नियंत्रित कर लिया है। ये आशाएँ विषयसामग्रीके द्वारा कभी शान्त नहीं होती हैं। जिस प्रकार जलती हुई अग्निमें जितना अधिक ईंधन डालते जायें, अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी। यही स्थिति विषयभोगोंकी अभिलाषाकी है।

समस्याएँ परिस्थिति, काल एवं वातावरणके अनुसार उत्पन्न होती हैं और इन समस्याओंके समाधान या निराकरण भी प्राप्त किये जा सकते हैं, पर इच्छाओंकी उत्पत्ति तो अमर्यादित रूपमें होती है। फलतः उन इच्छाओंको भोग द्वारा तो कभी भी पूर्ण नहीं किया जा सकता है, पर संयम या नियंत्रण द्वारा उन्हें सीमित किया जा सकता है। परिवारके कर्त्तव्य दया, दान और दमन—इन्द्रियसंयमकी त्रिवेणी रूपमें स्वीकृत हैं। यही संस्कृतिका स्थूल रूप है। प्रत्येक प्राणीके प्रति दया करना, शक्ति अनुसार दान देना एवं यथासामर्थ्य नियंत्रित भोगोंका भोग करना परिवारकी आदर्श मर्यादामें सम्मिलित हैं। क्रूरतासे मनुष्य सुख नहीं प्राप्त कर सकता और न संग्रहवृत्तिके द्वारा उसे शान्ति ही मिल सकती है। भोगमें मनुष्यको चैन नहीं। अतः दमन या संयमकी आवश्यकता है। परिवारको सुख-शान्तिके लिए भोग और त्याग दोनोकी आवश्यकता है। शरीरके लिए भोग अपेक्षित हैं तो आत्मकल्याणके लिए त्याग। भोग और योगका संतुलन ही स्वस्थ परिवारका धरातल है। परिवारको सुखी करनेके लिए दया, ममता, दान और संयम परम आवश्यक हैं। परिवारको सुगठित करनेवाले सात गुण हैं :—१. प्रेम, २. पारस्परिक विश्वास, ३. सेवाभावना, ४. श्रम, ५. कर्त्तव्यनिष्ठा, ७. सहिष्णुता, ७. और अनुशासनप्रवृत्ति।

प्रेम

प्रेम समाजका मानवीय तत्त्व है। इसके द्वारा जीवन-मन्दिरका निर्माण होता है। प्रेमके द्वारा हम आध्यात्मिक वास्तविकताका सृजन करते हैं और व्यक्तियोंके रूपमें अपनी भवितव्यताका विकास करते हैं। शारीरिक आनन्दके साथ मनकी प्रसन्नता और आत्मिक आनन्दका सृजन भी प्रेमसे ही होता है। प्रेम आत्माकी पुकार है। प्रेममें आत्मसमर्पणका भाव रहता है और वह प्रतिदानमें कुछ नहीं चाहता। इसमें किसी भी प्रकारका दुराव या प्रतिबन्ध नहीं रहता। यह भारी कामको हल्का कर देता है। प्रेमवश व्यक्ति बड़े-बड़े बोझको बिना भारका अनुभव किये ढोता है और श्रम या थकावटका अनुभव नहीं करता है।

प्रेम आत्माकी गहराइयोंमें विद्यमान रहता है। यह ऐसा रत्न-दीपक है जो परिस्थितियोंके झंझावातोंसे बुझता नहीं और न स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियोंके प्रभाव ही इसपर पड़ते हैं। यह ऐसी शक्ति है जो पृथ्वीको स्वर्ग बनाती है। शरीरके साथ मन और आत्माको सबल करती है। प्रेम पवित्रतम सम्बन्ध है और है जीवनकी अमूल्य निधि।

परिवारके समस्त गुणोंका विकास प्रेमके द्वारा ही होता है। समस्त सदस्यों-को एकताके सूत्रमें यही आबद्ध करता है। सच्चा प्रेम आत्मा और शरीरका मिलन है। पत्नी निस्वार्थभावसे पतिको प्रेम करती है और पति पत्नीको। प्रेममें कुछ पानेकी भावना नहीं रहती। यही एक ऐसा गुण है, जो सहस्र प्रकारके कष्टों-को सहन करनेके लिए व्यक्तिको प्रेरित करता है। दो व्यक्तियोंके बीचके ऐकान्तिक सम्बन्धको प्रेम स्थायित्व प्रदान करता है। अतः विवाहका उद्देश्य प्रेमके द्वारा स्थायित्व और पूर्णताको प्राप्त होता है। विवाहित जीवनका लक्ष्य प्राकृतिक वासनाको पूर्ण करना ही नहीं है, अपितु आत्माके लिए त्यागका मार्ग प्रस्तुत करना है। प्रेमकी भावनाके कारण मनुष्यका उत्सुक चित्त नये उत्साहके साथ अनुभवोंको ग्रहण करता है। सभी इन्द्रियां तीव्रतर आनन्दसे पुलकित हो जाती हैं। मानों किसी अदृश्य आत्माने संसारके सब रंगोंको नया कर दिया हो और प्रत्येक जीवित वस्तुमें नवजीवन भर दिया हो।

प्रेम ही पशु और मनुष्यके भेदको स्थापित करता है। यही जीवनमें चारुता, सुन्दरता और लालित्यको उत्पन्न करता है। एक मानवका दूसरे मानवके प्रति प्रेमसे बढ़कर आनन्दका अन्य कोई सुनिश्चित और सच्चा साधन नहीं है। प्रेम ही टूटने हुए हृदयोंको जोड़ता है और उत्पन्न हुए तनावोंको कम करता है। मानवीय गुणोंका विकास प्रेम द्वारा ही होता है। अतएवं परिवारको आदर्श, प्रतिष्ठित और समाजोपयोगी बनानेके लिए निस्वार्थ प्रेमकी आवश्यकता है। यह जिस प्रकार एक परिवारके सदस्योंमें एकता उत्पन्न करता है उसी प्रकार समाजके घटक विभिन्न परिवारोंमें भी एकत्वकी स्थापना करता है। परिवारके सदस्य साथ-साथ रहते हैं, भोजन-पान करते हैं, मनोरञ्जन करते हैं और अपने-अपने कार्योंका सुचारु रूपसे संचालन करते हैं, इन समस्त कार्यों के मूलमें प्रेम ही बन्धनसूत्र है।

पारस्परिक विश्वास

परिवारके प्रति ममता, स्नेह, भक्ति और दायित्वका विकास पारस्परिक विश्वास द्वारा ही होता है। यदि परिवारके सभी सदस्य परस्परमें आशंकित और भयभीत रहें, तो योग-क्षेमका निर्बाह संभव नहीं। कर्त्तव्यकी प्रेरणाका

जागरण भी आत्मविश्वाससे होता है। आत्मस्वार्थसे किया गया कार्य अभ्युदयका साधक नहीं हो सकता।

वस्तुतः पति-पत्नी, पिता-पुत्रका निकटतम सूत्र विश्वासके धागोंसे जुड़ा हुआ है। जब परिवारके बीच संशय उत्पन्न हो जाता है, मनमें अविश्वास जग जाता है तो वे एक दूसरेकी जानके ग्राहक बन जाते हैं। यदि साथमें रहते भी हैं, तो शत्रुतुल्य। घर, परिवार, समाज राष्ट्रका हराभरा उपवन अविश्वासके कारण धूलिसात् हो जाता है। अविश्वासका वातावरण पारिवारिक जीवनको दिशाहीन और गतिहीन बना देता है। जीवन अस्त-व्यस्त-सा हो जाता है।

जब तक परिवार और समाजमें अविश्वास या संशयका भाव बना रहेगा, तब तक इनकी प्रगति नहीं हो सकती है। जीवन, भविष्य, परिवार एवं समाजके यथार्थ विकास पारस्परिक विश्वास द्वारा ही संभव हैं। मानव-जीवन कीट-पतंगके समान अविश्वासकी भूमिपर रेंगनेके लिए नहीं है। अतः आस्थाके अनन्त गगनमें विचरण करनेका प्रयास करना चाहिए।

परिवारकी पतवारका आधार समस्त सदस्योंका पारस्परिक विश्वास ही है। उदारताके अभावमें संकीर्णता जन्म लेती है और इसीसे अविश्वास उत्पन्न होता है। परिवारकी आर्थिक सुदृढ़ता, धार्मिक क्रियाकलाप और सामाजिक चेतना आस्था एवं विश्वाससे ही सम्बद्ध हैं। जीवनकी उषामें मनोविनोदके रंग, उत्सवोंके विलास और लालित्यकी कलियाँ विश्वासके बलपर खिलती हैं।

विश्वासकी भावना दो भागोंमें विभाजित है—(१) आत्मस्थ और (२) परस्थ। आत्मस्थ भावनामें आत्माभिव्यक्तिका प्रबल वेग है। वह भावना अभिलाषाओं और इच्छाओंमें उमड़कर गन्तव्य दिशामें अपने आदर्शकी पूर्ति कर लेती है। भावनाका यह प्रवाह उदारता उत्पन्न करता है तथा आस्थावश स्वकथन या स्वव्यवहारको सबल बनाता है। परस्थ भावना अधिक सामाजिक है, यह विश्वासकी दैवी सम्पत्ति है और कार्यकारणकी शृंखलासे निबद्ध रहती है। परिवार या समाजकी नींव परस्थ विश्वासभावनापर ही अवलम्बित है। समाज और परिवारकी विविध परिस्थितियोंमें पारस्परिक विश्वास चिन्तन और व्यवहारको परिष्कृत करता है, जिसके फलस्वरूप समाज एवं परिवारमें कल्याणका सृजन होता है।

सेवा-भावना

सेवाशब्द √सेव – सेवने + टाप्से निष्पन्न है। दुःखी, रोगी, वृद्ध, अशक्त एवं गुणियोंको सान्त्वना देना, शरीर, वचन और मनसे परिचर्या करना तथा उनके प्रति आदरभाव रखना सेवा है। सेवाभावसे ही व्यक्तिका व्यावहारिक

जीवन श्रेष्ठ हो सकता है तथा परिवार और समाजमें वात्सल्यको स्थायित्व प्राप्त हो सकता है। एकता और शान्तिका विकास भी सेवाभावनाद्वारा किया जा सकता है। यह प्रायः देखा जाता है कि गुणग्राही होना संसारमें कठिन है। गुणग्राहिता ही सेवाभावनाको उत्पन्न करती है। देखा जाता है कि गुणीजन एक-दूसरेसे आपसमें हो द्वेष करते हैं, फलस्वरूप कषायभाव उत्पन्न होते हैं।

दीन-दुःखियोंकी सेवा करना, किसीसे घृणा न करना, परस्पर उपकारकी भावना रखनां ही मानवता है और इसीसे परिवार एवं समाजकी स्थिति सुदृढ़ होती है। अहिंसक भावना ही सेवाभाव है, इसे किसी पाठशालामें सीखा नहीं जाता है, यह तो प्रत्येक आत्मामें वर्त्तमान है।

समस्त सफलताओंके मूलमें सेवा ही कार्यकारी है। इसके स्पर्शसे निर्जीव कोयला अग्निका रूप धारण करता है और अवरुद्ध जल वेगवान निर्झर बन जाता है। साधारण-से-साधारण प्रतिभा सेवाभावनाके बलसे सक्रियता प्राप्त कर लेती है। सेवावृत्ति कदाचित् किसी मन्द व्यक्तिको भी प्राप्त हो जाय, तो उसकी भी सुषुप्त शक्ति जागृत हो उठती है और वह अग्निपुंज बन जाता है। सेवाकी उपलब्धि एक सद्‌गुणके रूपमें होती है।

सेवा या वैयावृत्ति सफलताका आधारभूत उपादान है, यह कर्मके सभी रूपोंमें मौलिकतत्त्व है। सेवा और सहयोगके बिना परिवार और समाजकी कल्पना ही संभव नहीं है।

"व्यापृते यत्क्रियते तद्वैयावृत्त्यम्"—रोगादिसे व्याकुल साधुके विषयमें जो कुछ किया जाता है, वह वैयावृत्य है। यह तप है, यतः सेवा या वैयावृत्ति साधारण बात नहीं है। इसके लिए अहंकारका त्याग, निःस्वार्थ प्रेम, दया और करुणा वृत्तिका सद्भाव आवश्यक है। सोने-बैठनेके लिए स्थान देना, उपकरण शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देना, व्याख्यान करना, अशक्त मुनि, सामाजिक या पारिवारिक सदस्यका मल-मूत्र उठाना, उसकी रोगीकी स्थितिमें सेवा करना, हाथ-पैर-सिर दबाना एवं विपत्तिमें पड़े हुओंका उद्धार करना आदि वैयावृत्ति—सेवामें परिगणित है।

सेवा या वैयावृत्तिके समय परिणामोंको कलुषित न होने देना, स्वार्थभाव या प्रत्युपकारबुद्धिका त्याग करना, परिणामोंमें कोमलता और आर्द्रता रखना तथा सेवा करते हुए प्रसन्नताका अनुभव करना आवश्यक है। निःस्वार्थभाव-से की गयी सेवा आत्मशुद्धिका कारण बनती है। यह वासनाओंके क्लेशसे

छुटकारा दिलाती है। अन्तः शोधनके लिए भी यह आवश्यक है। परिवार और समाजका कार्य सेवाभावके अभावमें नहीं चल सकता है। लूटमार, धोखाधड़ी, बेईमानी, घूंसखोरी, छीना-झपटी सेवाभावके अभावमें स्वार्थवृत्तिसे उत्पन्न होती हैं।

सेवा करनेसे व्यक्ति नीच या छोटा नहीं बनता; उसकी आत्मशक्ति प्रबल हो जाती है और वह अपनी असफलताओं, बुराइयों एवं कमजोरियों पर विजय प्राप्त करता है। सेवनीयसे सेवककी भावभूमि उन्नत मानी जाती है। जीवनके प्रत्येक विभागमें सेवाभावकी आवश्यकता है। सेवा या सहयोगसे जीवनमें सामर्थ्य, क्षमता और प्रगतिका सद्भाव आता है। यह सबसे मूल्यवान् वस्तु है। इसके द्वारा व्यक्ति जागरूक, कर्मरत एवं अहिंसक बनता है। परिवारके मध्य सम्पन्न होनेवाले अगणित कार्य इसीके द्वारा सम्पन्न होते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठा

परिवार और समाजका विकास कर्त्तव्यनिष्ठा द्वारा होता है। जीवनका एक क्षण या एक पल भी कर्त्तव्यरहित नहीं होना चाहिए। जागरण और शयनमें भी कर्त्तव्यनिष्ठाका भाव समाहित रहता है। यहाँ अप्रमाद या सावधानी हो कर्त्तव्यनिष्ठा है। मानव जबसे जीवनयात्रा आरम्भ करता है, तभीसे उसमें कर्त्तव्यभावना समाहित हो जाती है।

कर्त्तव्य प्राप्तकार्यों को श्रद्धा और सतर्कतापूर्वक करनेकी क्रिया है। यह ऐसी शक्ति है, जो प्रत्येक कार्यमें हमारे साथ है, इसे सहव्यापिनी कहा जा सकता है। करणीय कार्यको ईमानदारी, भक्ति, निष्ठा, औचित्य और नियमित्त रूपमें पूर्ण करना कर्त्तव्यनिष्ठा है। जिनका जीवनक्रम व्यवस्थित्त होता है, वे ही अपने कर्त्तव्यको निष्ठाके साथ सम्पादित करते हैं। कर्त्तव्यनिष्ठा मानवका अनिवार्य गुण है।

वस्तुतः मानवता और कर्त्तव्यपरायणता एक दूसरेके पूरक हैं। मानवमें बुद्धितत्त्वकी प्रधानता है और वह उसका प्रयोग करके यह समझानेकी शक्ति रखता है कि उसे कर्त्तव्य करना है, यह भाव अन्य प्राणियोंमें नहीं पाया जाता। अत; जीवनमें सफलता प्राप्त करनेका साधन कर्त्तव्यनिष्ठा है। यह एक ऐसा गुण है जिसको सम्पूर्ति ही वास्तविक आनन्द और सफलता है। कर्त्तव्यनिष्ठा के बाधकतत्त्व निम्नलिखित हैं—

१. कार्यके प्रति रुचिका अभाव।

२. स्वार्थवृत्ति—स्वार्थवश मनुष्य कर्त्तव्यका निर्वाह नहीं कर पाता।

३. प्रमाद या शिथिलता।

४. जीवनके प्रति निराशा।

५. श्रमके प्रति अनास्था।

व्यवस्था और अनुशासनके योगका नाम कर्त्तव्यनिष्ठा है। व्यवस्थाकी सहायतासे कार्यमें क्षमता प्राप्त होती है और किसी प्रकारका वितण्डावाद उत्पन्न नहीं होता। जिनके जीवनमें अनुशासनहीनता और अराजकता है, वे लापरवाह और अपने विचारोंमें अव्यवस्थित होते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठाको जागृत करनेवाले चार तत्त्व हैं—

१. तत्परता—जागरूकता और व्यवस्थाप्रियता।

२. शुद्धता—उच्चस्तरीय नैतिक नियमोंके प्रति आस्था—अहिंसाके आधार पर मूल्योंकी परख।

३. उपयोगिता—छोटे-बड़े सभी कार्योंको समान महत्त्व देकर उनकी उपयोगिताकी अवधारणा।

४. विशदता—संगठन और प्रशासनकी योग्यता; दूसरे शब्दोंमें विचारों और कार्यव्यापारमें व्यवस्थाकी ओर सावधानी। विश्लेषण और संश्लेषणका एकीभूत सामर्थ्य।

वस्तुतः मूल्यों या अर्हाओंका निर्वाचन ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। अतएव ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक त्रिविध व्यवहारकी अभिव्यक्ति कर्त्तव्य-सीमा है। कर्त्तव्य विधि-निषेधात्मक उभय प्रकारके होते हैं। शुभ प्रवृत्तियों-का सम्पादन विध्यात्मक और अशुभ प्रवृत्तियोंका त्याग निषेधात्मक कर्त्तव्य हैं।

कर्त्तव्यके स्वरूपका निर्धारण अहिंसात्मक व्यवहार द्वारा संभव है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी आदिके पारस्परिक कर्त्तव्योंका अवधारण भावनात्मक विकासकी प्रक्रिया द्वारा होता है और यह अहिंसाका ही सामाजिक रूप है। मानव-हृदयकी आन्तरिक संवेदनाकी व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है और यही परिवार, समाज और राष्ट्रके उद्भव एवं विकासका मूल है। यह सत्य है कि उक्त प्रक्रियामें रागात्मक भावनाका भी एक बहुत बड़ा अंश है, पर यह अंश सामाजिक गतिविधिमें बाधक नहीं होता।

अहिंसा मानवको हिंसासे मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य-द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, दुःसंकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अहंकार, दंभ, लोभ, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाजकी ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, विकृतियाँ हैं, वे सब हिंसाके रूप हैं। मानव-मन हिंसाके विविध प्रहारोंसे निरन्तर घायल होता रहता है। अतः क्रोधको क्रोधसे नहीं, क्षमासे; अहंकारको अहंकारसे नहीं, विनय—नम्रतासे; दम्भको दम्भसे, नहीं, सरलता और निश्छलतासे; लोभको

लोभसे नहीं, सन्तोष और उदारतासे जीतना चाहिए। वैर, घृणा, दमन, उत्पीड़न, अहंकार आदि सभीका प्रभाव कर्त्तापर पड़ता है। जिस प्रकार कुएँमें की गयी ध्वनि प्रतिध्वनिके रूपमें वापस लौटती है, उसी प्रकार हिंसात्मक क्रियाओंका प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कर्त्तापर ही पड़ता है।

अहिंसाद्वारा हृदयपरिवर्त्तन सम्भव होता है। यह मारनेका सिद्धान्त नहीं, सुधारनेका है। यह संसारका नहीं, उद्धार एवं निर्माणका सिद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नोंका पक्षधर है, जिनके द्वारा मानवके अन्तस्में मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन किया जा सकता है और अपराधकी भावनाओंको मिटाया जा सकता है। अपराध एक मानसिक बीमारी है, इसका उपचार प्रेम, स्नेह, सद्भावके माध्यमसे किया जा सकता है।

घृणा या द्वेष पापसे होना चाहिए, पापीसे नहीं। बुरे व्यक्ति और बुराईके बीच अन्तर स्थापित करना ही कर्त्तव्य है। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती; परन्तु बुरा आदमी यथाप्रसंग भला हो सकता है। मूलमें कोई आत्मा बुरी है ही नहीं। असत्यके बीचमें सत्य, अन्धकारके बीचमें प्रकाश और विषके भीतर अमृत छिपा रहता है। अच्छे बुरे सभी व्यक्तियोंमें आत्मज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्तिमें भी वह ज्योति है किन्तु उसके गुणोंका तिरोभाव है। व्यक्तिका प्रयास ऐसा होना चाहिए, जिससे तिरोहित गुण आविर्भूत हो जायें।

इस सन्दर्भमें कर्त्तव्यपालनका अर्थ मन, वचन और कायसे किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, न किसी हिंसाका समर्थन करना और न किसी दूसरे व्यक्तिके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा करवाना है। यदि मानवमात्र इस कर्त्तव्यको निभानेकी चेष्टा करे, तो अनेक दुःखोंका अन्त हो सकता है और मानवमात्र सुख एवं शान्तिका जीवन व्यतीत कर सकता है। जबतक परिवार या समाजमें स्वार्थोंका संघर्ष होता रहेगा, तबतक जीवनके प्रति सम्मानकी भावना उदित नहीं हो सकेगी। यह अहिंसात्मक कर्त्तव्य देखनेमें सरल और स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति यदि इसी कर्त्तव्यका आत्मनिष्ठ होकर पालन करे, तो उसमें नैतिकताके सभी गुण स्वतः उपस्थित हो जायँगे।

मूलरूपमें कर्त्तव्योंको निम्नलिखित रूपमें विभक्त किया जा सकता है—

१. स्वतन्त्रताका सम्मान।

२. चरित्रके प्रति सम्मान।

३. सम्पत्तिका सम्मान।

४. परिवारके प्रति सम्मान।

५. समाजके प्रति सम्मान।

६. सत्यके प्रति सम्मान ।
७. प्रगतिके प्रति सम्मान ।

स्वतन्त्रताका सम्मान

मनुष्यका दूसरे व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताके अधिकारको स्वीकार करनेका कर्त्तव्य उतना ही मान्य है, जितना कि जीवन-सम्बन्धी कर्त्तव्य आदरणीय है। यह कर्त्तव्य भी मनुष्यको ऐसा व्यवहार करनेके लिए निषेध करता है, जिसके द्वारा अन्य किसी व्यक्तिको स्वतन्त्रतामें बाधा पहुँचती हो। हमारा कोई अधिकार नहीं कि हम अपने व्यवहारके द्वारा किसी अन्य व्यक्तिके जीवनके विकासमें बाधाएँ उत्पन्न करें। किसी भी व्यक्तिकी स्वतन्त्रताको अवरुद्ध करनेका अर्थ उसके जीवनके विकासमें बाधक होना है। अतः यह कर्त्तव्य जीवनसम्बन्धी कर्त्तव्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यदि मनुष्य अन्य व्यक्तियोंको भी अपने समान समझे, तो इस कर्त्तव्यकी कदापि अवहेलना न होगी। जो व्यक्ति सभी जीवोंको अपने ही समान देखता है, वही इस कर्त्तव्यका निर्वाह कर पाता है।

वास्तवमें स्वतन्त्रता सम्मानका एक ऐसा आधारभूत कर्त्तव्य है, जिसके विना किसी भी प्रकारकी वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। सामाजिक और पारिवारिक विषमताका अन्त इसी कर्त्तव्यपालन द्वारा संभव है।

चरित्रके प्रति सम्मान

प्रत्येक परिवारके सदस्यको अन्य सदस्यके चरित्रका सम्मान करना चरित्रके प्रति सम्मान है। जीवनसम्बन्धी कर्त्तव्य हिंसाका निषेधक है, तो स्वतन्त्रता सन्बन्धी कर्त्तव्य अन्य व्यक्तोंकी स्वतन्त्रताका दमन न करनेका संकेत करता है। यह कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंको क्षति पहुँचानेका निषेध तो करता ही है, साथ ही इस बातकी विधि भी करता है कि हमें दूसरोंके व्यक्तित्वके विकासको प्रोत्साहित करना है। यह विधेयात्मक कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंके चारित्रिक विकासके लिए अनुप्रणित करता है। जो व्यक्ति परिवार और समाजके समस्त सदस्योंको चारित्र-विकासका अवसर देता है, वह परिवारकी उन्नति करता है और सभी प्रकारसे जीवनको सुखी-समृद्ध बनाता है।

सम्पत्तिका सम्मान

सम्पत्तिके सम्मानका अर्थ व्यक्तियोंके सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकारको स्वीकृत करना। यह कर्त्तव्य भी एक निषेधात्मक कर्त्तव्य है; क्योंकि यह अन्य व्यक्तियों

के सम्पत्तिसम्बन्धी अपहरणका निषेध करता है। यह 'अस्तेय' के नामसे अभिहित किया जा सकता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्वके विकासके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति शुद्ध अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करे। इस कर्त्तव्यका आधार सत्य और अहिंसा हैं। यदि अहिंसाका अर्थ किसी भी व्यक्तिको मन, वचन और कर्मसे मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है, तो यह स्पष्ट है कि दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण न करना अहिंसाका अंग है। किसीकी सम्पत्तिका अपहरण करनेका अर्थ निस्सन्देह उस व्यक्तिको मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है और उसके व्यक्तित्व-विकासको अवरुद्ध करना है। यह कर्त्तव्य हमें इस बातके लिए प्रेरित करता है कि हम भोगोपभोगकी वस्तुओंका अमर्यादित रूपसे सेवन न करें। अपव्ययको भी यह कर्त्तव्य रोकता है। परिवारके लिए मितव्ययता अत्यावश्यक है। मितव्ययता समस्त वस्तुओंको मध्यम मार्गके रूपमें ग्रहण करनेमें है। सम्पत्तिका अपव्यय या अनुचित अवरोध ये दोनों ही कर्त्तव्यके बाहर हैं, जब भौतिक वस्तुओं या मानसिक शक्तिका अपव्यय किया जाता है, तो कुछ दिनोंमें व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है, जिससे व्यक्ति, परिवार और समाज ये तीनों विनाशको प्राप्त होते हैं। जो सम्पत्तिसम्मान का आचरण करता है, वह निम्नलिखित वस्तुओंमें मध्यम मार्ग या मित-व्ययताका प्रयोग करता है—

१. सम्पत्ति।
२. आहार-विहार।
३. वस्त्र और उपस्कर।
४. मनोरञ्जनके साधन।
५. विलास और आरामकी वस्तुएँ।
६. समय।
७. शक्ति।

अर्थका प्रतीक सिक्का परिवर्तनका मानदण्ड है और उससे हमारी क्रय शक्तिका बोध होता है। जो व्यक्ति सम्पत्ति प्राप्त करना चाहता है और ऋणसे बचना चाहता है, वह व्ययको आयके अनुरूप बनाकर अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है। विलास और आरामकी वस्तुओंके क्रय करनेमें अपव्यय होता है।

इस अपव्ययका रोकना परिवारके हितके लिए अत्यावश्यक है। अपव्यय ऐसा मानसिक रोग है जिसके कारण अनुचित लाभ और स्तेयसम्बन्धी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ सम्पादित करनी पड़ती हैं। वह अनुचित रीतिसे किसीकी

सम्पत्ति, क्षेत्र, भवन आदिपर अपना अधिकार करता है। चोरीके अन्तरंग कारणोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जब द्रव्यकी लोलुपता बढ़ जाती है, तो तृष्णा वृद्धिगत होती है, जिससे व्यक्ति येन केन प्रकारेण धनसंचय करनेकी ओर झुकता है। यहाँ विवेक और ईमानदारीके न रहनेसे व्यक्ति अपनी प्रामाणिकता खो बैठता है, जिससे उसे अनैतिकरूपमें धनार्जन करना पड़ता है।

अपव्यय चोरी करना भी सिखलाता है। एक बार हाथके खुल जाने पर फिर अपनेको संयमित रखना कठिन हो जाता है। अपव्ययीके पास धन स्थिर नहीं रहता और वह निर्धन होकर चौर्यकर्मकी ओर प्रवृत्त होता है। कुछ व्यक्ति मान-प्रतिष्ठाके हेतु धनव्यय करते हैं और अपनेको बड़ा दिखलानेके प्रयासमें व्यर्थ खर्च करते हैं, परिणामस्वरूप उन्हें अनीति और शोषणको अपनाना पड़ता है। अतएव सम्पत्तिके सम्मान-कर्त्तव्यका आचरण करते हुए चिन्ता, उद्विग्नता. निराशा, क्रोध, लोभ, माया आदिसे बचनेका भी प्रयास करना चाहिए।

परिवारके प्रति सम्मान

परिवारके प्रति सम्मानका अर्थ है पारिवारिक समस्याओंके सुलझानेके लिए विवाह आदि कार्योंका सम्पन्न करना। संन्यास या निवृत्तिमार्ग वैयक्तिक जीवनोत्थानके लिए आवश्यक है, पर संसारके बीच निवास करते हुए पारिवारिक दायित्वोंका निर्वाह करना और समाज एवं संघकी उन्नतिके हेतु प्रयत्नशील रहना भी आवश्यक है। वास्तवमें श्रावक-जीवनका लक्ष्य दान देना, देवपूजा करना और मुनिधर्मके संरक्षणमें सहयोग देना है। साधु-मुनियोंको दान देनेकी क्रिया श्रावक-जीवनके बिना सम्पन्न नहीं हो सकती। नारीके बिना पुरुष और पुरुषके बिना अकेली नारी दानादि क्रिया सम्पादित करनेमें असमर्थ है। अतः चतुर्विध संघके संरक्षण एवं कुलपरम्पराके निर्वाहकी दृष्टिसे पारिवारिक कर्तव्योंका निर्वाह अत्यावश्यक है। सातावेदनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विवहन—कन्यावरण विवाह कहलाता है। यह जीवनमें धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थोंका नियमन करता है। अतएव पारिवारिक कर्त्तव्यों तथा संस्कारोंके प्रति जागरूकता अपेक्षित है।

संस्कारशब्द धार्मिक क्रियाओंके लिए प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय बाह्य धार्मिक क्रियाओं, व्यर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट नियम एवं औपचारिक व्यवहारोंसे नहीं है; बल्कि आत्मिक और आन्तरिक सौन्दर्यसे

है। संस्कारशब्द व्यक्तिके दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कारके लिए किये जानेवाले अनुष्ठानोंसे सम्बद्ध है। संस्कार तीन वर्गोंमें विभक्त हैं—

१. गर्भान्वय क्रियाएँ।
२. दीक्षान्वय क्रियाएँ।
३. क्रियान्वय क्रियाएँ।

इन क्रियाओं द्वारा पारिवारिक कर्त्तव्योंका सम्पादन किया जाता हैं।

समाजके प्रति सम्मान

सामाजिक व्यवस्थाको सुचारुरूपसे संचालित करनेके लिए समाज और व्यक्ति दोनोंके अस्तित्वकी आवश्यकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी अधिकार उसे समाजका सदस्य होनेके कारण ही प्राप्त हैं। अतः वह समाज, जो कि उसके अधिकारोंका जनक और रक्षक है, व्यक्तिसे आशा रखता है कि वह सामाजिक संस्थाके संरक्षणको अपना प्रधान कर्त्तव्य समझे। समाजके प्रति आदर एवं सम्मानकी भावना वह भावना है जो व्यक्तिको परम्परागत प्रथाओंको भङ्ग करनेसे रोकती है। चाहे वे परम्पराएँ समाजकी इकाई कुटुम्बसे सम्बन्ध रखती हों, चाहें वे सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती हों अथवा राज्य या राष्ट्रसे। समाजमें प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़िवादी परम्पराओंका निर्वाह कर्त्तव्यके अन्तर्गत नहीं है। कर्त्तव्य वह विवेकबुद्धि है जो समाजकी बुराइयोंको दूर कर उसके विकासके प्रति श्रद्धा या निष्ठा उत्पन्न करे। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिका समाजके प्रति बहुत बड़ा दायित्व है। उसे समाजको सुगठित, नैतिक और आचारनिष्ठ बनाना है।

सत्यके प्रति सम्मान

सत्यके प्रति सम्मान या सत्यनिष्ठा व्यक्ति और समाजके विकासके लिए आवश्यक है। सत्य और अहिंसाको साथ-साथ लिया जाता है और इनके आचरणसे सामाजिक कल्याण माना जाता है। सत्यके प्रति सम्मान या कर्त्तव्यकी भावना क्रियाशीलताके लिए प्रेरित करती है और सत्यपरायण जीवन व्यतीत करनेका आदेश देती है। इस आदेशका अर्थ यह है कि हमें अपने वचनोंके अनुसार ही व्यवहार करना है। जो व्यक्ति अपने जीवनको सत्यके आधार पर चलाता है, उसे व्यावहारिक कठिनाइयोंका सामना अवश्य करना पड़ता है, पर सत्यपरायण व्यक्तिको जीवनमें सफलता प्राप्त होती है। यदि व्यक्ति अपना कर्त्तव्य कर्त्तव्यभावसे सम्पादित करता है, तो उसका यह

कर्त्तव्य-सम्पादन विधायक तत्त्व माना जाता है। सत्यके आधार पर सम्पादित आचार-व्यवहार व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए हितकर होते हैं।

मनुष्य जब लोभ-लालचमें फँस जाता है, वासनाके विषसे मूर्च्छित हो जाता है और अपने जीवनके महत्त्वको भूल जाता है, उस जीवनकी पवित्रताका स्मरण नहीं रहता, तब उसका विवेक समाप्त हो जाता है और वह यह सोच नहीं पाता कि उसका जन्म संसारसे कुछ लेनेके लिए नहीं हुआ है बल्कि कुछ देनेके लिए हुआ है। जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह अधिकार है और जो समाजके प्रति अर्पित किया जाता है वह कर्त्तव्य है। मनुष्यकी इस प्रकारकी मनोवृत्ति ही उसके मनको विशाल एवं विराट् बनाती है। जिसके मनमें ऐसी उदारभावना रहती है वही अपने कर्त्तव्य-सम्पादन द्वारा परिवार और समाजको सुखी, समृद्ध बनाता है। अहंकार, क्रोध, लोभ और मायाका विष सत्याचरण द्वारा दूर होता है। जिसका जीवन सत्याचरणमें घुलमिल गया है, वही निश्छल और सच्चे व्यवहारद्वारा क्षुद्रताओंको दूर करता है।

सहजभावसे अपने कर्त्तव्यको निभानेवाला व्यक्ति केवल अपने आपको देखता है। उसकी दृष्टि दूसरोंकी ओर नहीं जाती। वह अपनी निन्दा और स्तुतिकी परवाह नहीं करता, पर भद्रता, सरलता और एकरूपताको छोड़ता भी नहीं। वास्तवमें यदि मनुष्य अपने व्यवहारको उदार और परिष्कृत बना ले, तो उसे संघर्ष और तनावोंसे टकराना न पड़े। जीवनमें संघर्ष, तनाव और कुण्ठाएँ असत्याचरणके कारण ही उत्पन्न होती हैं।

प्रगतिके प्रति सम्मान

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार प्रत्येक वस्तुमें निरन्तर परिवर्तन होता है। परिवर्तन प्रगतिरूप भी सम्भव है और अप्रगतिरूप भी। जिस व्यक्तिके विचारोंमें उदारता और व्यवहारमें सत्यनिष्ठा समाहित है, वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कर्त्तव्योंका हृदयसे पालन करता है। संकटके समय व्यक्तिको किस प्रकारका आचरण करना चाहिए और परिस्थिति एवं वातावरण द्वारा प्रादुर्भूत प्रगतियोंको किस रूपमें ग्रहण करना चाहिए, यह भी कर्त्तव्यमार्गके अन्तर्गत है।

एकाकी मनुष्यकी धारणा निसन्देह कल्पनामात्र है। अतः कर्त्तव्योंका महत्त्व नैतिक और सामाजिक दृष्टिसे कदापि कम नहीं है। कर्त्तव्योंका संबंध अधिकारोंके समान सामाजिक विकाससे भी है। कर्त्तव्योंकी विशेषता जीवनके दो मुख्य अंगोंसे सम्बद्ध है—

१. जीवनका आर्थिक अंग।

२. जीवनका सामाजिक अंग।

आर्थिक दृष्टिसे मनुष्यके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्यविशेष महत्त्वपूर्ण हैं और सामाजिक दृष्टिसे मनुष्यके परिवार तथा समाज-सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अधिकारों तथा कर्त्तव्योंका आर्थिक दृष्टिसे संतुलित रूपमें प्रयोग अपेक्षित है। पुरुषार्थोंके क्रममें अर्थ-पुरुषार्थको इसीलिए द्वितीय स्थान प्राप्त है कि इसके बिना धर्माचरण एवं कामपुरुषार्थका सेवन सम्भव नहीं है। आज आर्थिक प्रगतिके अनेक साधन विकसित हैं पर कर्त्तव्यपरायण व्यक्तिको अपनी नैतिकता बनाये रखना आवश्यक है। जीवनकी आवश्यकताओंके वृद्धिगत होने और आर्थिक समस्याओंके जटिल होने पर भी उत्पादन, वितरण और उपयोग सम्बन्धी नैतिक नियम जीवनको मर्यादित रखते हैं। सुरक्षा और आत्मानुभूति ये दोनों ही नैतिक जीवनके लिए अपेक्षित हैं। श्रम-सिद्धान्त भी प्रगतिके नियमोंको अनुशासित करता है। अतः सम्पत्तिके प्रति दो मुख्य कर्त्तव्य हैं—१. सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए कर्म करना और २. उपलब्ध सम्पत्तिका सदुपयोग करना। जो व्यक्ति किसी भी प्रकारका कर्म नहीं करता, उसका कोई अधिकार नहीं कि वह निष्क्रिय होते हुए भी सामाजिक सम्पत्तिका भोग करे। इस कर्त्तव्यके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिए श्रम करना अत्यावश्यक है। श्रम करनेसे ही श्रमणत्वकी प्राप्ति होती है और इसी श्रम द्वारा आश्रमधर्मका निर्वाह होता है। जो व्यक्ति अन्यके श्रम पर जीवित रहता है और स्वयं श्रम नहीं करता ऐसे व्यक्तिको समाजसे कुछ लेनेका अधिकार नहीं। जो कर्त्तव्यपरायण है वही समाजसे अपना उचित अंश प्राप्त करनेका अधिकारी है।

विवेक, साहस, संयम और न्याय ये ऐसे गुण हैं जो सामाजिक कल्याणकी ओर व्यक्तिको प्रेरित करते हैं। इन गुणोंके अपनानेसे परिवार और समाजकी विषमता दूर होकर प्रगति होती है तथा समानताका तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। समाजके गतिशील होने पर साहस, संयम और विवेकका आचरण करते हुए कर्त्तव्यकर्मोंका निर्वाह अपेक्षित होता है। ज्यों-ज्यों समाजिक विकास होता है, अधिकारों और कर्त्तव्योंका स्वरूप स्वतः ही परिवर्तित होता चला जाता है। इसी कारण प्रत्येक समाजमें व्यवस्था, विधान और अनुशासनकी आवश्यकता रहती है। यदि अधिकार और कर्त्तव्योंमें संतुलन स्थापित हो जाय, तो समाजमें अनुशासन उत्पन्न होते विलम्ब न हो।

सहिष्णुता

पारिवारिक दायित्वोंके निर्वाहके लिए सहिष्णुता अत्यावश्यक है। परिवारमें रहकर व्यक्ति सहिष्णु न बने और छोटी-सी छोटी बातके लिए उत्तावला हो जाय, तो परिवारमें सुख-शान्ति नहीं रह सकती। सहिष्णु व्यक्ति शान्त-भावसे परिवारके अन्य सदस्योंकी बातों और व्यवहारोंको सहन कर लेता है, जिसके फलस्वरूप परिवारमें शान्ति और सुख सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है। अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति सहनशीलता द्वारा ही सम्भव है। जो परिवारमें सभी प्रकारकी समृद्धिका इच्छुक है तथा इस समृद्धिके द्वारा लोकव्यवहारको सफलरूपमें संचालित करना चाहता है ऐसा व्यक्ति समाज और परिवारका हित नहीं कर सकता है। विकारी मन शरीर और इन्द्रियोंपर अधिकार प्राप्त करनेके स्थान पर उनके वश होकर काम करता है, जिससे सहिष्णुताकी शक्ति घटती है। जिसने आत्मालोचन आरम्भ कर दिया है और जो स्वयं अपनी बुराईयोंका अवलोकन करता है वह समाजमें शान्तिस्थापनका प्रयास करता है। सहिष्णुताका अर्थ कृत्रिम भावुकता नहीं और न अन्याय और अत्याचारोंको प्रश्रय देना ही है; किन्तु अपनी आत्मिक शक्तिका इतना विकास करना है, जिससे व्यक्ति, समाज और परिवार निष्पक्ष जीवन व्यतीत कर सके। पूर्वाग्रहके कारण असहिष्णुता उत्पन्न होती है, जिससे सत्यका निर्णय नहीं होता। जो शान्त-चित्त है, जिसकी वासनाएँ संयमित हो गई हैं और जिसमें निष्पक्षता जागृत हो गई है वही व्यक्ति सहिष्णु या सहनशील हो सकता है। सहनशील या सहिष्णु होनेके लिए निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं—

१. दृढता।
२. आत्मनिर्भता।
३. निष्पक्षता।
४. विवेकशीलता।
५. कर्त्तव्यकर्मके प्रति निष्ठा।

अनुशासन

मानवताके भव्य भवनका निर्माण अनुशासनद्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। वास्तवमें जहाँ अनुशासन है, वहीं अहिंसा है। और जहाँ अनुशासन-हीनता है वहीं हिंसा है। पारिवारिक और सामाजिक जीवनका विनाश हिंसा द्वारा होता है। यदि धर्म मनुष्यके हृदयकी क्रूरताको दूर कर दे और अहिंसा द्वारा उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाय तो जीवनमें सहिष्णुताकी साधना सरल हो जाती है। वास्तवमें अनुशासित जीवन ही समाजके लिए उपयोगी

है। जिस समाजमें अनुशासनका अभाव रहता है वह समाज कभी भी विकसित नहीं हो पाता। अनुशासित परिवार ही समाजको गतिशील बनाता है, प्रोत्साहित करता है और आदर्शकी प्रतिष्ठा करता है। संघर्षोंका मूलकारण उच्छृंखलता या उदण्डता है। जबतक जीवनमें उदण्डता आदि दुर्गुण समाविष्ट रहेंगे, तबतक सुगठित समाजका निर्माण सम्भव नहीं है। समाज और परिवारकी प्रमुख समस्याओंका समाधान भी अनुशासन द्वारा ही सम्भव है। शासन और शासित सभीका व्यवहार उन्मुक्त या उच्छृङ्खलित हो रहा है। अतः अतिचारी और अनियन्त्रित प्रवृत्तियोंको अनुशासित करना आवश्यक है।

अनुशासनका सामान्य अर्थ है कतिपय नियमों, सिद्धान्तों आदिका परिपालन करना और किसी भी स्थितिमें उसका उलंघन न करना। संक्षेपमें वह विधान, जो व्यक्ति, परिवार और समाजके द्वारा पूर्णतः आचरित होता है, अनुशासन कहा जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सुव्यवस्थाकी अनिवार्य आवश्यकताको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इसके बिना मानव-समाज बिलकुल विघटित हो जायगा और उसकी कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जो व्यक्ति स्वेच्छासे अनुशासनका निर्वाह करता है, वह परिवार और समाजके लिए एक आदर्श उपस्थित करता है। जीवनके विशाल भवनकी नीव अनुशासनपर ही अवलम्बित है।

पारस्परिक द्वेषभाव, गुटबन्दी, वर्गभेद, जातिभेद आदि अनुशासनहीनताको बढ़ावा देते हैं और सामाजिक संगठनको शिथिल बनाते हैं। अतएव सहज और स्वाभाविक कर्त्तव्यके अन्तर्गगत अनुशासनको प्रमुख स्थान प्राप्त है। अनुशासन जीवनको कलापूर्ण, शान्त और गतिशील बनाता है। इसके द्वारा परिवार और समाजकी अव्यवस्थाएँ दूर होती हैं।

पारिवारिक चेतनाका सम्यक् विकास, अहिंसा, करुणा, समर्पण, सेवा, प्रेम, सहिष्णुता आदिके द्वारा होता है। मनुष्य जन्म लेते ही पारिवारिक एव सामाजिक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्वसे बंध जाता है। प्राणीमात्र एक दूसरेसे उपकृत होता है। उसका आधार और आश्रय प्राप्त करता है। जब हम किसीका उपकार स्वीकार करते हैं, तो उसे चुकानेका दायित्व भी हमारे ही ऊपर रहता है। यह आदान-प्रदानकी सहजवृत्ति ही मनुष्यकी पारिवारिकता और सामाजिकताका मूलकेन्द्र है। उसके समस्त कर्त्तव्यों एव धर्माचरणोंका आधार है। राग और मोह आत्माके लिए त्याज्य हैं, पर परिवार और समाज संचालनके लिए इनकी उपयोगिता है। जीवन सर्वथा पलायनवादी नहीं है। जो कर्मठ बनकर श्रावकाचारका अनुष्ठान करना चाहता है उसे अहिंसा, सत्य, करुणा

सेवा समर्पण आदिके द्वारा परिवार और समाजको दृढ़ करना चाहिए। यह दृढ़ीकरणकी क्रिया ही दायित्वों या कर्त्तव्योंकी शृङ्खला है।

समाजगठनकी आधारभूत भावनाएँ

समाज-गठनके लिए कुछ मौलिक सूत्र हैं, जिन सूत्रोंके आधारपर समाज एकरूपमें बंधता है। कुछ ऐसे सामान्य नियम या सिद्धान्त हैं, जो सामाजिकताका सहजमें विकास करते हैं। संवेदनशील मानव समाजके बीच रहकर इन नियमोंके आधारपर अपने जीवनको सुन्दर, सरल, नम्र और उत्तरदायी बनाता है। मानव-जीवनका सर्वांगीण विकास अपेक्षित है। एकांगरूपसे किया गया विकास जीवनको सुन्दर, शिव और सत्य नहीं बनाता है। कर्मके साथ मनका सुन्दर होना और मनके साथ वाणीका मधुर होना विकासकी सीढ़ी है। जीवनमें धर्म और सत्य ऐसे तत्त्व हैं, जो उसे शाश्वतरूप प्रदान करते हैं। समाज-संगठनके लिए निम्नलिखित चार भावनाएँ आवश्यक हैः—

१. मैत्री भावना।
२. प्रमोद भावना।
३. कारुण्य भावना।
४. माध्यस्थ्य भावना।

मैत्री भावना मनकी वृत्तियोंको अत्यधिक उदात्त बनाती है। यह प्रत्येक प्राणीके साथ मित्रताकी कल्पना ही नहीं, अपितु सच्ची अनुभूतिके साथ एकात्मभाव या तादात्मभाव समाजके साथ उत्पन्न करती है। मनुष्यका हृदय जब मैत्रीभावनासे सुसंस्कृत हो जाता है, तो अहिंसा और सत्यके वीरुध स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। और आत्माका विस्तार होनेसे समाज स्वर्गका नन्दन-कानन बन जाता है। जिस प्रकार मित्रके घरमें हम और मित्र हमारे घरमें निर्भय और निःकोच स्नेह एवं सद्भावपूर्ण व्यवहार कर सकता है उसी प्रकार यह समस्त बिश्व भी हमें मित्रके घरके रूपमें दिखलाई पड़ता है। कहीं भय, संकोच एवं आतंककी वृत्ति नहीं रहती। कितनी सुखद और उदात्त भावना है यह मैत्रीकी। व्यक्ति, परिवार और समाज तथा राष्ट्रको सुगठित करनेका एकमात्र साधन यह मैत्री-भावना है।

इस भावनाके विकसित होते ही पारस्परिक सौहार्द, विश्वास, प्रेम, श्रद्धा एवं निष्ठाकी उत्पत्ति हो जाती है। चोरी, धोखाधड़ी लूट-खसोट, आदि सभी विभीषिकाएँ समाप्त हो जाती हैं। विश्वके सभी प्राणियोंके प्रति मित्रताका भाव जागृत हो जाय तो परिवार और समाजगठनमें किसी भी प्रकारका दुराव-

छिपाव नहीं रह सकता है। बस्तुतः मैत्री-भावना समाजकी परिधिको विकसित करती है, जिससे आत्मामें समभाव उत्पन्न होता है।

प्रमोद-भावना

गुणीजनोंको देखकर अन्तःकरणका उल्लसित होना प्रमोद-भावना है। किसीकी अच्छी बातको देखकर उसकी विशेषता और गुणोंका अनुभव कर हमारे मनमें एक अज्ञात ललक और हर्षानुभूति उत्पन्न होती है। यही आनन्दकी लहर परिवार और समाजको एकताके सूत्रमें आबद्ध करती है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य अपनेसे आगे बढ़े हुए व्यक्तिको देखकर ईर्ष्या करता है और इस ईर्ष्यासे प्रेरित होकर उसे गिरानेका भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्तिका नाश न हो जाय, तबतक अहिंसा और सत्य टिक नहीं पाते। प्रमोद-भावना परिवार और समाजमें एकता उत्पन्न करती है। ईर्ष्या और विद्वेष पर इसी भावनाके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। ईर्ष्याकी अग्नि इतना विकराल रूप धारण कर लेती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्रके भी उत्कर्ष-को फूटी आँखों नहीं देख पाता। यही ईर्ष्याकी परिणति एवं प्रवृत्ति ही परिवार और समाजमें खाई उत्पन्न करती है। समाज और परिवारकी छिन्न-भिन्नता ईर्ष्या, घृर्णा और द्वेषके कारण ही होती है। प्रतिस्पर्धावश समाज विनाशके कगारकी ओर बढ़ता है। अतः 'प्रमोद-भावना'का अभ्यास कर गुणोंके पारखी बनना और सही मूल्यांकन करना समाजगठनका सिद्धान्त है। जो स्वयं आदर-सम्मान प्राप्त करना चाहता है, उसे पहले अन्य व्यक्तियोंका आदर-सम्मान करना चाहिए। अपने गुणोंके साथ अन्य व्यक्तियोंके गुणोंकी भी प्रशंसा करनी चाहिए। यह प्रमोदकी भावना मनमें प्रसन्नता, निर्भयता एवं आनन्दका संचार करती है और समाज तथा परिवारको आत्मनिर्भर, स्वस्थ और सुगठित बनाती है।

करुणा-भावना

करुणा मनकी कोमल वृत्ति है, दुःखी और पीड़ित प्राणीके प्रति सहज अनु-कम्पा और मानवीय संवेदना जाग उठती है। दुःखीके दुःखनिवारणार्थ हाथ बढ़ते हैं और यथाशक्ति उसके दुःखका निराकरण किया जाता है।

करुणा मनुष्यकी सामाजिकताका मूलाधार है। इसके सेवा, अहिंसा, दया, सहयोग, विनम्रता आदि सहस्रों रूप संभव हैं। परिवार और समाजका आलम्बन यह करुणा-भावना ही है।

मात्राके तारतम्यके कारण करुणाके प्रमुख तीन भेद हैं—१. महाकरुणा, २. अतिकरुणा और, ३. लघुकरुणा। महाकरुणा निःस्वार्थभावसे प्रेरित

होती है और इस करुणाका धारी प्राणिमात्रके कष्ट-निवारणके लिए प्रयास करता है। इस श्रेणीकी करुणा किसी नेता या महान् व्यक्तिमें ही रहती है। इस करुणा द्वारा समस्त मानव-समाजको एकताके सूत्रमें आबद्ध किया जाता है और समाजके समस्त सदस्योंको सुखी बनानेका प्रयास किया जाता है।

अतिकरुणा भी जितेन्द्रिय, संयमी और निःस्वार्थ व्यक्तिमें पायी जाती है। इस करुणाका उद्देश्य भी प्राणियोंमें पारस्परिक सौहार्द उत्पन्न करना है। दूसरेके प्रति कैसा व्यवहार करना और किस वातावरणमें करना हितप्रद हो सकता है, इसका विवेक भी महाकरुणा और अतिकरुणा द्वारा होता है। प्रतिशोध, संकीर्णता और स्वार्थमूलकता आदि भावनाएँ इसी करुणाके फलस्वरूप समाज-से निष्कासित होती हैं। वास्तवमें करुणा ऐसा कोमल तन्तु है, जो समाजको एकतामें आबद्ध करता है।

लघुकरुणाका क्षेत्र परिवार या किसी आधारविशेषपर गठित संघ तक ही सीमित है। अपने परिवारके सदस्योंके कष्टनिवारणार्थ चेष्टा करना और करुणावृत्तिसे प्रेरित होकर उनको सहायता प्रदान करना लघुकरुणाका क्षेत्र है।

मनुष्यमें अध्यात्म-चेतनाकी प्रमुखता है, अतः वह शाश्वत आत्मा एवं अपरिवर्तनीय यथार्थताका स्वरूप सत्य-अहिंसासे सम्बद्ध है। कलह, विषयभोग, घृणा, स्वार्थ, संचयशीलवृत्ति आदिका त्याग भी करुणा-भावना द्वारा संभव है। अतएव संक्षेपमें करुणा-भावना समाज-गठनका ऐसा सिद्धान्त है जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे रहित होकर समाजको स्वस्थ रूप प्रदान करता है।

माध्यस्थ्य-भावना

जिनसे विचारोंका मेल नहीं बैठता अथवा जो सर्वथा संस्कारहीन हैं, किसी भी सद्वस्तुको ग्रहण करनेके योग्य नहीं हैं, जो कुमार्गपर चले जा रहे हैं तथा जिनके सुधारने ओर सही रास्ते पर लानेके सभी यत्न निष्फल सिद्ध हो गये हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य-भावना है।

मनुष्यमें असहिष्णुताका भाव पाया जाता है। वह अपने विरोधी और विरोध को सह नहीं पाता। मतभेदके साथ मनोभेद होते विलम्ब नहीं लगता। अतः इस भावना द्वारा मनोभेदको उत्पन्न न होने देना समाज-गठनके लिए आवश्यक है। इन चारों भावनाओंका अभ्यास करनेसे आध्यात्मिक गुणोंका विकास तो होता ही है, साथ ही परिवार और समाज भी सुगठित होते हैं।

माध्यस्थ्य-भावनाका लक्ष्य है कि असफलताकी स्थितिमें मनुष्यके उत्साहको

भंग न होने देना तथा बड़ी-से-बड़ी विपत्तिके आनेपर भी समाजको सुदृढ़ बनाये रखनेका प्रयास करना।

जिजीविषा जीवका स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभावकी साधना कर रहा है। अतएव माध्यस्थ्य-भावनाका अवलम्बन लेकर विपरीत आचरण करनेवालोंके प्रति भी द्वेष, घृणा या ईर्ष्या न कर तटस्थवृत्ति रखना आवश्यक है।

संक्षेपमें समाज-गठनका मूलाधार अहिंसात्मक उक्त चार भावनाएँ हैं। समाजके समस्त नियम और विधान अहिंसाके आलोकमें मनुष्यहितके लिए निर्मित होते हैं। मानवके दुःख और दैन्य भौतिकवाद द्वारा समाप्त न होकर अध्यात्मद्वारा ही नष्ट होते हैं। समाजके मूल्य, विश्वास और मान्यताएँ अहिंसाके धरातल पर ही प्रतिष्ठित होती हैं। मानव-समाजकी समृद्धि पारस्परिक विश्वास, प्रेम, श्रद्धा, जीवनसुविधाओंकी समता, विश्वबन्धुत्व, मैत्री, करुणा और माध्यस्थ्य-भावना पर ही आधृत है। अतएव समाजके घटक परिवार, संघ, समाज, गोष्ठी, सभा, परिषद् आदिकी सुदृढ़ता नैतिक मूल्यों और आदर्शों पर प्रतिष्ठित है।

समाजधर्म : पृष्ठभूमि

मानव-समाजको भौतिकवाद और नास्तिकवादने पथभ्रष्ट किया है। इन दोनोंने मानवताके सच्चे आदर्शोंसे च्युत करके मानवको पशु बना दिया है। जबतक समाजका प्रत्येक सदस्य यह नहीं समझ लेता कि मनुष्मात्रकी समस्या उसकी समस्या है, तबतक समाजमें परस्पर सहानुभूति एव सद्भावना उत्पन्न नहीं हो सकती है। जातीय अहंकार, धर्म, धन, वर्ग, शक्ति, घृणा और राष्ट्रके कृत्रिम बन्धनोंने मानव-समाजके बीच खाई उत्पन्न कर दी है, जिसका आत्म-विकासके विना भरना सम्भव नहीं। यतः मानव-समाज और सभ्यताका भविष्य आत्मज्ञान, स्वतन्त्रता, न्याय और प्रेमकी उन गहरी विश्वभावनाओंके साथ बंधा हुआ है, जो आज भौतिकता, हिंसा, शोषण प्रभृतिसे भाराक्रान्त है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाजकी संकीर्णताएं, धर्मके नामपर की जानेवाली हिंसा, वर्गभेदके नामपर भेद-भाव, ऊंच-नीचता आदिसे वर्तमान समाज त्रस्त है। अतः मानवताका जागरण उसी स्थितिमें सम्भव है, जब ज्ञान-विज्ञान, अर्थ, काम, राजनीति-विधान एवं समाज-जीवनका समन्वय नैतिकताके साथ स्थापित हो तथा प्राणिमात्रके साथ अहिंसात्मक व्यवहार किया जाय। पशु-पक्षी भी मानवके समान विश्वके लिए उपयोगी एवं उसके सदस्य हैं। अतः उनके साथ

भी प्रेमपूर्ण व्यवहार होना आवश्यक है। विशाल ऐश्वर्य और महान् वैभव प्राप्त करके भी प्रेम और आत्मनियन्त्रणके विना शान्ति सम्भव नहीं। जबतक समाजके प्रत्येक सदस्यका नैतिक और आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ है, तब-तक वह भौतिकवादके मायाजालसे मुक्त नहीं हो सकता। व्यक्ति और समाज अपनी दृष्टिको अधिकारकी ओरसे हटाकर कर्त्तव्यकी ओर जबतक नहीं लायेगा, तबतक स्वार्थबुद्धि दूर नहीं हो सकती है।

वस्तुत: समाजका प्रत्येक सदस्य नैतिकतासे अनैतिकता, अहिंसासे हिंसा, प्रेमसे घृणा, क्षमासे क्रोध, उत्सर्गसे संघर्ष एवं मानवतासे पशुतापर विजय प्राप्त कर सकता है। दासता, बर्बरता और हिंसासे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए अहिंसक साधनोंका होना अनिवार्य है। यतः अहिंसक साधनों द्वारा ही अहिंसामय शांति प्राप्त की जा सकती है। बिना किसी भेद-भावके संसारके समस्त प्राणियोंके कष्टोंका अन्त अहिंसक आचरण और उदारभावना द्वारा ही सम्भव है। भौतिक उत्कर्षकी सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती, पर इसे मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य मानना भूल है। भौतिक उत्कर्ष समाजके लिए वहीं तक अभिप्रेत है, जहाँतक सर्वसाधारणके नैतिक उत्कर्षमें बाधक नहीं है। ऐसे भौतिक उत्कर्षसे कोई लाभ नहीं, जिससे नैतिकताको ठेस पहुँचती हो।

समाज-धर्मका मूल यही है कि अन्यकी गलती देखनेके पहले अपना निरीक्षण करो, ऐसा करनेसे अन्यकी भूल दिखलायी नहीं पड़ेगी और एक महान् संघर्षसे सहज ही मुक्ति मिल जायगी। विश्वप्रेमका प्रचार भी आत्मनिरीक्षणसे हो सकता है। विश्वप्रेमके पवित्र सूत्रमें बंध जानेपर सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, देश एवं समाजकी परस्पर घृणा भी समाप्त हो जाती है और सभी मित्रतापूर्ण व्यवहार करने लगते हैं। हमारा प्रेमका यह व्यवहार केवल मानव-समाजके साथ ही नहीं रहना चाहिए, किन्तु पशु, पक्षी, कीड़े और मकोड़ेके साथ भी होना चाहिए। ये पशु-पक्षी भी हमारे ही समान जनदार हैं और ये भी अपने साथ किये जानेवाले सहानुभूति, प्रेम, क्रूरता और कठोरताके व्यवहारको समझते हैं। जो इनसे प्रेम करता है, उसके सामने ये अपनी भयंकरता भूल जाते हैं और उसके चरणोंमें नतमस्तक हो जाते हैं; पर जो इनके साथ कठोरता, क्रूरता और निर्दयताका व्यवहार करता है; उसे देखते ही ये भाग जाते हैं अथवा अपनेको छिपा लेते हैं। अतः समाजमें मनुष्यके ही समान अन्य प्राणियों-को भी जानदार समझकर उनके साथ भी सहानुभूति और प्रेमका व्यवहार करना आवश्यक है।

समाजको विकृत या रोगी बनानेवाले तत्त्व हैं—(१) शोषण, (२) अन्याय, (३) अत्याचार, (४) पराधीनता, (५) स्वार्थलोलुपता, (६) अविश्वास और,

(७) अहंकार। इन विनाशकारी तत्त्वोंका आचरण करनेसे समाजका कल्याण या उन्नति नहीं हो सकती है। समाज भी एक शरीर है और इस शरीरकी पूर्णता सभी सदस्योंके समूह द्वारा निष्पन्न है। यदि एक भी सदस्य माया, धोखा, छल-प्रपंच और क्रूरताका आचरण करेगा, तो समाजका समस्त शरीर रोगी बन जायगा और शनैः शनैः संगठन शिथिल होने लगेगा। अतः हिंसा, आक्रमण और अहंकारकी नीतिका त्याग आवश्यक है। जिस समाजमें नागरिकता और लोकहितकी भावना पर्याप्तरूपमें पायी जाती है वह समाज शान्ति और सुखका उपभोग करता है।

सहानुभूति

समाज-धर्मोंकी सामान्य रूपरेखामें सहानुभूतिकी गणना की जाती है। इसके अभावसे अहंकार उत्पन्न होता है। वास्तविक सहानुभूति प्रेमके रूपमें प्रकट होती है। अहंकारके मूलमें अज्ञान है। अहंकार उन्हीं लोगोंके हृदयमें पनपता है, जो यह सोचते हैं कि उनका अस्तित्व अन्य व्यक्तियोंसे पृथक् है तथा उनके उद्देश्य और हित भी दूसरे सामाजिक सदस्योंसे भिन्न हैं और उनकी विचारधारा तथा विचारधाराजन्य कार्यव्यवहार भी सही हैं। अतः वे समाजमें सर्वोपरि हैं, उनका अस्तित्व और महत्त्व अन्य सदस्योंसे श्रेष्ठ है।

सहानुभूति मनुष्यको पृथक् और आत्मकेन्द्रित जीवनसे ऊंचा उठाती है और अन्य सदस्योंके हृदयमें उसके लिए स्थान बनाती है, तभी वह दूसरोंके विचारों और अनुभूतियोंमें सम्मिलित होता है। किसी दुःखी प्राणीके कष्टके संबंधमें पूछ-ताछ करना एक प्रकारका मात्र शिष्टाचार है। पर दुःखीके दुःखको देखकर द्रवित होना और सहायताके लिए तत्पर होना ही सच्चे सहानुभूतिपूर्ण मनका परिचायक है। सच्ची सहानुभूतिका अहंकार और आत्मश्लाघाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने परोपकारसम्बन्धी कार्योंका गुणानुवाद चाहता है और प्रतिदानमें दुर्व्यवहार मिलनेपर शिकायत करता है तो समझ लेना चाहिए कि उसने वह परोपकार नहीं किया है। विनीत, आत्मनिग्रही और सेवाभावीमें ही सच्ची सहानुभूति रहती है।

यथार्थतः सहानुभूति दूसरे व्यक्तियोंके प्रयासों और दुःखोंके साथ एकलयताके भावकी अनुभूति है। इससे मानवके व्यक्तित्वमें पूर्णताका भाव आता है। इसी गुणके द्वारा सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति अपनी निजतामें अनेक आत्माओंका प्रतीक बन जाता है। वह समाजको अन्यसदस्योंकी दृष्टिसे देखता है, अन्यके कानोंसे सुनता है, अन्यके मनसे सोचता है और अन्य लोगोंके हृदयके द्वारा ही अनुभूति प्राप्त करता है। अपनी इसी विशेषताके कारण वह अपनेसे भिन्न

व्यक्तियोंके मनोभावोंको समझ सकता है। अतः इसप्रकारके व्यक्तिका जीवन समाजके लिए होता है। वह समाजकी नींद सोता है और समाजकी ही नींद जागता है।

सहानुभूति ऐसा सामाजिक धर्म है, जिसके द्वारा प्रत्येक सदस्य अन्य सामाजिक सदस्योंके हृदयतक पहुँचता है और समस्त समाजके सदस्योंके साथ एकात्मभाव उत्पन्न हो जाता है। एक सदस्यको होनेवाली पीड़ा, वेदना अन्य सदस्योंकी भी बन जाती हैं और सुख-दुःखमें साधारणीकरण हो जाता है। भावात्मक सत्ताका प्रसार हो जाता है और अशेष समाजके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

सहानुभूति एकात्मकारी तत्त्व है, इसके अपनानेसे कभी दूसरोंकी भर्त्सना नहीं की जाती और सहवर्ती जनसमुदायके प्रति सहृदयताका व्यवहार सम्पादित किया जाता है। इसकी परिपक्वावस्थाको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने जीवनमें सम्पूर्ण हार्दिकतासे प्रेम किया हो, पीड़ा सही हो और दुःखोंके गम्भीर सागरका अवगाहन किया हो। जीवनकी आत्यन्तिक अनुभूतियोंके संसर्गसे ही उस भावकी निष्पत्ति होती है, जिससे मनुष्यके मनसे अहंकार, विचारहीनता, स्वार्थपरता एवं पारस्परिक अविश्वासका उन्मूलन हो जाय। जिस व्यक्तिने किसी-न-किसी रूपमें दुःख और पीड़ा नहीं सही है, सहानुभूति उसके हृदयमें उत्पन्न नहीं हो सकती है। दुःख और पीड़ाके अवसानके बाद एक स्थायी दयालुता और प्रशान्तिका हमारे मनमें वास हो जाता है।

वस्तुतः जो सामाजिक सदस्य अनेक दिशाओंमें पीड़ा सहकर परिपक्वताको प्राप्त कर लेता है, वह सन्तोषका केन्द्र बन जाता है और दुःखी एवं भग्नहृदय लोगोंके लिए प्रेरणा और संबलका स्रोत बन जाता है। सहानुभूतिकी सार्वभौमिक आत्मभाषाको, मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु भी नैसर्गिकरूपसे समझते और पसंद करते हैं।

स्वार्थपरता व्यक्तिको दूसरेके हितोंका व्याघात करके अपने हितोंकी रक्षाकी प्रेरणा करती है, पर सहानुभूति अपने स्वार्थ और हितोंका त्यागकर दूसरोंके स्वार्थ और हितोंकी रक्षा करनेकी प्रेरणा देती है। फलस्वरूप सहानुभूतिको समाज-धर्म माना जाता है और स्वार्थपरताको अधर्म। सहानुभूतिमें निम्नलिखित विशेषताएँ समाविष्ट हैं:—

१. दयालुता—क्षणिक आवेशका त्याग और प्राणियोंके प्रति दया—करुणाबुद्धि दयालुतामें अन्तर्हित है। अविश्वसनीय आवेशभावना दयालुतामें परि-

गणित नहीं है। किसीकी प्रशंसा करना और बादमें उसे गालियाँ देने लगना निर्दयता है। यदि दाता अपने दानका पुरस्कार चाहने लगता है, तो दान निष्फल है, इसीप्रकार कोई व्यक्ति किसी बाहरी प्रेरणासे उदारताका कोई कार्य करता है और कुछ समयके बाद किसो अप्रिय घटनाके कारण बाहरी प्रभावके वशोभूत हो विपरीत आचरण करने लगे, तो इसे भी चरित्रकी दुर्बलता माना जायगा। सच्ची दयालुता अपरिवर्तनीय है और यह बाहरी प्रभावसे अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। प्राणियोंके दुःखको देखकर अन्तःकरणका आर्द्र हो जाना दयालुता है। यह जीवका स्वभाव है, इससे चरित्रके सौन्दर्यकी वृद्धि होती है और सौम्यभावकी उपलब्धि होती है। सामाजिक सम्बन्धोंकी रक्षामें दयाका प्रधान स्थान है।

२. उदारता—हृदयकी विशालताके साथ इसका सम्बन्ध है। जिस व्यक्तिके चरित्रमें औदार्य, दया, सहानुभूति आदि गुण पाये जाते हैं, उसका जीवन आकर्षण और प्रभावयुक्त हो जाता है। चरित्रकी नीचता और भोंड़ापन घृणास्पद है। उदारतावश ही व्यक्ति अपने सहवर्ती जनोंके प्रति आध्यात्मिक और सामाजिक ऐक्यका अनुभव करते हैं और अपनी उपलब्धियोंका कुछ अंश समाजके मंगल हेतु अन्य सदस्योंको भी वितरित कर देते हैं।

३. भद्रता—इस गुणद्वारा व्यक्ति निष्ठुरता और पाशविक स्वार्थपरतासे दूर रहता है। आत्मानुशासनके अभ्याससे इस गुणकी प्राप्ति होती है। अपनी पाशविक वासनाओंका दमन और नियन्त्रण करनेसे मनुष्यके हृदयमें भद्रता उत्पन्न होती है। जिस व्यक्तिमें इस भावकी निष्पत्ति हो जायगी, उसके स्वरमें स्पष्टता, दृढ़ता और व्यामोहहीनता आ जाती है। विपरीत और आपत्तिजनक परिस्थितियोंमें वह न उद्विग्न होता है और न किसीसे घृणा ही करता है।

भद्रतामें आत्मसंयम, सहिष्णुता, विचारशीलता और परोपकारिता भी सम्मिलित हैं। इन गुणोंके सद्भावसे समाजका सम्यक् संचालन होता है तथा समाजके विवाद, कलह और विसंवाद समाप्त हो जाते हैं।

४. अन्तर्दृष्टि—सहानुभूतिके परिणामस्वरूप समाजके पर्यवेक्षणकी क्षमता अन्तर्दृष्टि है। वाद-विवादके द्वारा वस्तुका बाह्य रूप ही ज्ञात हो पाता है, पर सहानुभूति अन्तस्तल तक पहुँच जाती है। निश्छल प्रेम एक ऐसी रहस्यपूर्ण एकात्मीयता है, जिसके द्वारा व्यक्ति एक दूसरेके निकट पहुँचते हैं और एक दूसरेसे सुपरिचित होते हैं।

अन्तर्दृष्टिप्राप्त व्यक्तिके पूर्वाग्रह छूट जाते हैं, पक्षपातकी भावना मनसे निकल जाती है और समाजके अन्य सदस्योंके साथ सहयोगकी भावना प्रस्फुटित

हो जाती है। प्रतिद्वन्द्विता, शत्रुता, तनाव आदि समाप्त हो जाते हैं और समाजके सदस्योंमें सहानुभूतिके कारण विश्वास जागृत हो जाता है।

संक्षेपमें सहानुभूति ऐसा समाज-धर्म है, जो व्यक्ति और समाज इन दोनोंका मंगल करता है। इस धर्मके आचरणसे समाज-व्यवस्थामें सुदृढ़ता आती है। अपने समस्त दोषोंसे मुक्ति प्राप्तकर मानव-समाज एकताके सूत्रमें बंधता है।

अहिंसाका ही रूपान्तर सहानुभूति है और अहिंसा ही सर्वजीव-समभावका आदर्श प्रस्तुत करती है, जिससे समाजमें संगठन सुदृढ़ होता है। यदि भावनाओं-में क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ, राग-द्वेष आदि हैं, तो समाजमें मित्रताका आचरण सम्भव नहीं है। वास्तवमें अहिंसा प्राणीकी संवेदनशील भावना और वृत्तिका रूप है, जो सर्वजीव-समभावसे निर्मित है। समाज-धर्मका समस्त भवन इसी सर्वजीव-समभावकी कोमल भावनापर आधारित है। अहिंसा या सहानु-भूति ऐसा गुण है, जा चराचर जगत्में सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मैत्रीभावकी प्रतिष्ठा करता है। किसीके प्रति भी वैर और विरोधकी भावना नहीं रहती। दुःखियोंके प्रति हृदयमें करुणा उत्पन्न हो जाती है।

जो किसी दूसरेके द्वारा आतंकित हैं, उन्हें भी अहिंसक अपने अन्तरकी कोमल किन्तु सुदृढ़ भावनाओंकी सम्पत्ति द्वारा अभयदान प्रदान करता है। उसके द्वारा संसारके समस्त प्राणियोंके प्रति समता, सुरक्षा, विश्वास एवं सह-कारिताकी भावना उत्पन्न होती हैं। अन्याय, अत्याचार, शोषण, द्वेष, बलात्कार, ईर्ष्या आदिको स्थान प्राप्त नहीं रहता। यह स्मरणीय है कि हमारे मनके विचार और भावनाओंकी तरंगें फैलती हैं, इन तरंगोंमें योग और बल रहता है। यदि मनमें हिंसाकी भावना प्रबल है, तो हिंसक तरंगें समाजके अन्य व्यक्तियोंको भी क्रूर, निर्दय और स्वार्थी बनायेंगी। अहिंसाकी भावना रहनेपर समाजके सदस्य सरल, सहयोगी और उदार बनते हैं। अतएव समाज-धर्मकी पृष्ठभूमिमें अहिंसा या सहानुभूतिका रहना परमावश्यक है।

सामाजिक नैतिकताका आधार : आत्मनिरीक्षण

समाज एवं राष्ट्रकी इकाई व्यक्तिके जीवनको स्वस्थ—सम्पन्न करनेके लिए स्वार्थत्याग एवं वैयक्तिक चारित्रकी निर्मलता अपेक्षित है। आज व्यक्तिमें जो असन्तोष और घबड़ाहटकी वृद्धि हो रही है, जिसका कुफल विषमता और अपराधोंकी बहुलताके रूपमें है, नैतिक आचरण द्वारा ही दूर किया जा सकता है, क्योंकि आचरणका सुधारना ही व्यक्तिका सुधार और आचरणका बिगड़ना ही व्यक्तिका बिगाड़ है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्योंको मन, वचन और काय द्वारा सम्पन्न करता है तथा अन्य व्यक्तियोंसे अपना सम्पर्क भी इन्हींके द्वारा स्थापित करता है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ मनुष्यको मनुष्यका मित्र और ये ही मनुष्यको मनुष्यका शत्रु भी बनाती हैं। इन प्रवृत्तियोंके सत्प्रयोगसे व्यक्ति सुख और शान्ति प्राप्त करता है तथा समाजके अन्य सदस्योंके लिए सुख-शान्तिका मार्ग प्रस्तुत करता है, किन्तु जब इन्हीं प्रवृत्तियोंका दुरुपयोग होने लगता है, तो वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही जीवनोंमें अशान्ति आ जाती है। व्यक्तिकी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ विषय-तृष्णाको बढ़ानेवाली होती हैं; मनुष्य उचित-अनुचितका विचार किये बिना तृष्णाको शान्त करनेके लिए जो कुछ कर सकता है, करता है। अतएव जीवनमें निषेधात्मक या निवृत्तिमूलक आचारका पालन करना आवश्यक है। यद्यपि निवृत्तिमार्ग आकर्षक और सुकर नहीं है, तो भी जो इसका एकबार आस्वादन कर लेता है, उसे शाश्वत और चिरन्तन शान्तिकी प्राप्ति होती है। विध्यात्मक चारित्रका सम्बन्ध शुभप्रवृत्तियोंसे है और अशुभ-प्रवृत्तियोंसे निवृत्तिमूलक भी चारित्र संभव है। जो व्यक्ति समाजको समृद्ध एवं पूर्ण सुखी बनाना चाहता है, उसे शुभविधिका ही अनुसरण करना आवश्यक है।

व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए आत्मनिरीक्षणपर जोर दिया जाता है। इस प्रवृत्तिके बिना अपने दोषोंकी ओर दृष्टिपात करनेका अवसर ही नहीं मिलता। वस्तुतः व्यक्तिकी अधिकांश क्रियाएँ यन्त्रवत् होती हैं, इन क्रियाओंमें कुछ क्रियाओंका सम्बन्ध शुभके साथ है और कुछका अशुभके साथ। व्यक्ति न करने योग्य कार्य भी कर डालता है और न कहने लायक बात भी कह देता है तथा न विचार योग्य बातोंकी उलझनमें पड़कर अपना और परका अहित भी कर बैठता है। पर आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति द्वारा अपने दोष तो दूर किये ही जा सकते हैं तथा अपने कर्त्तव्य और अधिकारोंका यथार्थतः परिज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है।

प्रायः देखा जाता है कि हम दूसरोंकी आलोचना करते हैं और इस आलोचना द्वारा ही अपने कर्त्तव्यकी समाप्ति समझ लेते हैं। जिस बुराईके लिए हम दूसरोंको कोसते हैं, हममें भी वही बुराई वर्तमान है, किन्तु हम उसकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। अतः समाज-धर्मका आरोहण करनेकी पहली सीढ़ी आत्म-निरीक्षण है। इसके द्वारा व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मात्सर्य प्रभृति दुर्गुणोंसे अपनी रक्षा करता है और समाजको प्रेमके धरातल पर लाकर उसे सुखी और शान्त बनाता है।

आत्मनिरीक्षणके अभावमें व्यक्तिको अपने दोषोंका परिज्ञान नहीं होता

और फलस्वरूप वह इन दोषोंको समाजमें भी आरोपित करता है, जिससे समाजमें भेदभाव उत्पन्न हो जाते हैं और शनैः शनैः समाज विघटित होने लगता है।

समाजधर्मकी पहली सीढ़ी : विचारसमन्वय—उदारदृष्टि

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" लोकोक्तिके अनुसार विश्वके मानवोंमें विचार-भिन्नताका रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सबकी विचारशैली एक नहीं है। विचार-भिन्नता ही मतभेद और विद्वेषोंकी जननी है। वैयक्तिक और सामाजिक जीवनमें अशान्तिका प्रमुख कारण विचारोंमें भेद होना ही है। विचार-भेदके कारण विद्वेष और घृणा भी उत्पन्न होती है। इस विचार-भिन्नताका शमन उदारदृष्टि द्वारा ही किया जा सकता है। उदारदृष्टिका अन्य नाम स्याद्वाद है। यह दृष्टि ही आपसी मतभेद एवं पक्षपातपूर्ण नीतिका उन्मूलन कर अनेकतामें एकता, विचारोंमें उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करती है। यह विचार और कथनको संकुचित, हठ एवं पक्षपातपूर्ण न बनाकर उदार, निष्पक्ष और विशाल बनाती है। वास्तवमें विचारोंकी उदारता ही समाजमें शान्ति, सुख और प्रेमकी स्थापना कर सकती है।

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे, एक वर्ग दूसरे वर्गसे और एक जाति दूसरी जातिसे इसीलिए संघर्षरत है कि उससे भिन्न व्यक्ति, वर्ग और जातिके विचार उनके विचारोंके प्रतिकूल हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवादके नशेमें मस्त होकर निर्मम हत्याएँ की जा रही हैं और अपनेसे विपरीत विचारवालोंके ऊपर असंख्य अत्याचार किये जा रहे हैं। साम्प्रदायिकताके नामपर परपस्परमें संघर्ष और क्लेश हो रहे हैं। धर्मकी संकीर्णताके कारण सहस्रों मूक व्यक्तियोंको तलवारके घाट उतारा जा रहा है। जलते हुए अग्निकुण्डोंमें जीवित पशुओंको डालकर स्वर्गका प्रमाणपत्र प्राप्त किया जा रहा है। इस प्रकार विचार-भिन्नताका भूत मानवको राक्षस बनाये हुए है।

उदारताका सिद्धान्त कहता है कि विचार-भिन्नता स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एवं आवश्यकताके अनुसार बनते हैं। अतः विचारोंमें एकत्व होना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्तिका ज्ञान एवं उसके साधन सीमित हैं। अतः एकसमान विचारोंका होना स्वभाव-विरुद्ध है।

अभिप्राय यह है कि वस्तुमें अनेक गुण और पर्याय—अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति एवं योग्यताके अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओंमेंसे

किसी एक अवस्थाको देखता और विचार करता है। अतः उसका ऐकांगिक ज्ञान उसीकी दृष्टि तक सत्य है। अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलूसे करता है। अतः उसका ज्ञान भी किसी दृष्टिसे ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमें सभीको स्वतन्त्रता हैं; सभी-का ज्ञान वस्तुके एक गुण या अवस्थाको जाननेके कारण अंशात्मक है, पूर्ण नहीं। जैसे एक ही व्यक्ति किसीका पिता, किसीका भाई, किसीका पुत्र और किसीका भागनेय एक समयमें रह सकता है और उसके भ्रातृत्व, पितृत्व, पुत्रत्व एवं भागनेयत्वमें कोई बाधा नहीं आती। उसी प्रकार संसारके प्रत्येक पदार्थमें एक ही कालमें विभिन्न दृष्टियोंसे अनेक धर्म रहते हैं। अतएव उदारनीति द्वारा संसारके प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझकर समाजके सभी सदस्योंके साथ उदारता और प्रेमका व्यवहार करना अपेक्षित है। मतभेदमात्रसे किसीको शत्रु समझ लेना मूर्खताके सिवाय और कुछ नहीं। प्रत्येक बातपर उदारता और निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करना ही समाजमें शान्ति स्थापित करनेका प्रमुख साधन है। यदि कोई व्यक्ति भ्रम या अज्ञानतावश किसी भी प्रकारकी भूल कर बैठता है, तो उस भूलका परिमार्जन प्रेमपूर्वक समझाकर करना चाहिए।

अहंवादी प्रकृति, जिसने वर्तमानमें व्यक्तिके जीवनमें बड़प्पनकी भावना-की पराकाष्ठा कर दी है, उदारनीतिसे ही दूर की जासकती है। व्यक्ति अपनेको बड़ा और अन्यको छोटा तभी तक समझता है जबतक उसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध नहीं होता। अपनी ही बातें सत्य और अन्यकी बातें झूठी तभी तक प्रतीत होती हैं जबतक अनेक गुणपर्यायवाली वस्तुका यथार्थ बोध नहीं होता। उदारता समाजके समस्त झगड़ोंको शान्त करनेके लिए अमोघ अस्त्र है। विधि, निषेध, उभयात्मक और अवक्तव्यरूप पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान संघर्ष और द्वन्द्वोंका अन्त करनेमें समर्थ है। यद्यपि विचार-समन्वय तर्कके क्षेत्रमें विशेष महत्त्व रखता है, तो भी लोकव्यवहारमें इसकी उपयोगिता कम नहीं है। समाजका कोई भी व्यावहारिक कार्य विचारोंकी उदारताके बिना चलता ही नहीं है। जो व्यक्ति उदार है, वही तो अन्य व्यक्तियोंके साथ मिल-जुल सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सत्य सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। हमें वस्तुओंके अनन्त रूपों या पर्यायोंमेंसे एक कालमें उसके एक ही रूप या पर्याय-का ज्ञान प्राप्त होता है और कथन भी किसी एक रूप या पार्यायका ही किया जाता है। अतएव कथन करते समय अपने दृष्टिकोणके सत्य होनेपर भी उस कथनको पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके अतिरिक्त भी सत्य अवशिष्ट रहता है। उन्हें असत्य तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वे वस्तुका

ही वर्णन करते हैं। अतः उन्हें सत्यांश कहा जा सकता है। अतएव एक व्यक्ति जो कुछ कहता है वह भी सत्यांश है, दूसरा जो कहता है वह भी सत्यांश है। तीसरा कहता है वह भी सत्यांश है। इस प्रकार अगणित व्यक्तियोंके कथन सत्यांश ही ठहरते हैं। यदि इन सब सत्यांशोंको मिला दिया जाय तो पूर्ण सत्य बन सकता है। इस पूर्ण सत्यको प्राप्त करनेके लिए हमें उन सत्यांशों अर्थात् दूसरोंके दृष्टिकोणोंके प्रति उदार, सहिष्णु और समन्वयकारी बनना होगा और यही सत्यका आग्रह है। जबतक हम उन सत्यांशों—दूसरोंके दृष्टिकोणोंके प्रति अनुदार-असहिष्णु बने रहेंगे, समन्वय या सामञ्जस्यकी प्रवृत्ति हमारी नहीं होगी हम सत्यको नहीं प्राप्त कर सकेंगे और न हमारा व्यवहार ही समाजके लिए मंगलमय होगा। विराट् सत्य असंख्य सत्यांशोंको लेकर बना है। उन सत्यांशोंकी उपेक्षा करनेसे हम कभी भी उस विराट् सत्यको नहीं प्राप्त कर सकेंगे। आपेक्षिक सत्यको कहने और दूसरोंके दृष्टिकोणमें सत्य ढूँढ़ने एवं उनके समन्वय या सामंजस्य करनेकी पद्धति या शैली उदारता है। यह उदारता समाजको सुगंठित, सुव्यवस्थित और समृद्ध बनानेके लिए आवश्यक है।

उदारता सत्यको ढूँढने तथा अपनेसे भिन्न दृष्टिकोणोंके साथ समझौता करनेकी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया द्वारा मनोभूमि विस्तृत होती है और व्यक्ति सत्यांशको उपलब्ध करता है। उदार दृष्टिकोण या समन्वयवृत्ति ही सत्यकी उपलब्धिके लिए एकमात्र मार्ग है। आग्रह, हठ, दम्भ और संघर्षोंका अन्त इसीके द्वारा सम्भव है। हठ, दुराग्रह और पक्षपात ऐसे दुर्गुण हैं जो एक व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिसे समझौता नहीं करने देते। जब तक विचारोंमें उदारता नहीं, अपने दृष्टिकोणको यथार्थरूपमें समझनेकी शक्ति नहीं; तब तक पूर्वाग्रह लगे ही रहते हैं। उदारता यह समझनेके लिए प्रेरित करती है कि किसी भी पदार्थमें अनेक रूप और गुण हैं। हम इन अनेक रूप और गुणोंमेंसे कुछको ही जान पाते हैं। अतः हमारा ज्ञान एक विशेष दृष्टि तक ही सीमित है। जब तक हम दूसरोंके विचारोंका स्वागत नहीं करेंगे, उनमें निहित सत्यको नहीं पहचानेंगे, तबतक हमारी ऐकान्तिक हठ कैसे दूर हो सकेगी। उदारता या विचारसमन्वय वैयक्तिक और सामाजिक गुत्थियोंको सुलझाकर समाजमें एकता और वैचारिक अहिंसाकी प्रतिष्ठा करता है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ी : विश्वप्रेम और नियन्त्रण

समस्त प्राणियोंको उन्नतिके अवसरोंमें समानता होना, समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ी है और इस समानताप्राप्तिका साधन विश्वप्रेम या आत्मनियन्त्रण है। जिस व्यक्तिके जीवनमें आत्म-नियन्त्रण समाविष्ट हो गया है वह समाजके

सभी सदस्योंके साथ भाईचारेका व्यवहार करता है। उनके दु:ख-दर्दमें सहायक होता है। उन्हें ठीक अपने समान समझता है। हीनाधिककी भावनाका त्याग-कर अन्य अन्य व्यक्तियोंकी सुख-सुविधाओंका भी ध्यान रखता है। पाखण्ड और धोखेबाजोकी भावनाओंका अन्त भी विश्वप्रेम द्वारा सम्भव है। शोषित और शोषकोंका जो संघर्ष चल रहा है, उसका अन्त विश्वप्रेम और आत्म-नियन्त्रणके बिना सम्भव नहीं। विश्वप्रेमकी पवित्र अग्निमें दम्भ, पाखण्ड, हिंसा, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थबुद्धि, छल-कपट प्रभृति समस्त भावनाएँ जलकर छार बन जाती हैं—और कर्त्तव्य, अहिंसा, त्याग और सेवाकी भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाजके बीच अधिकार और कर्त्तव्यकी श्रृङ्खला स्थापित कर सकता है। समाज एवं व्यक्तिके उचित संबंधोंका संतुलन इसीके द्वारा स्थापित हो सकता है। व्यक्ति सामाजिक हित-की रक्षाके लिए अपने स्वार्थका त्यागकर सहयोगकी भावनाका प्रयोग भी प्रेमसे ही कर सकता है। आज व्यक्ति और समाजके बीचकी खाई संघर्ष और शोषणके कारण गहरी हो गई है। इस खाईको इच्छाओंके नियन्त्रण और प्रेमा-चरण द्वारा ही भरा जा सकता है। निजी स्वार्थसाधनके कारण अगणित व्यक्ति भूखसे तड़प रहे हैं और असंख्यात बिना वस्त्रके अर्धनग्न घूम रहे हैं। यदि भोगोपभोगकी इच्छाओंके नियन्त्रणके साथ आवश्यकताएँ भी सीमित हो जायें और विश्वप्रेमके जादूका प्रयोग किया जाय, तो यह स्थिति तत्काल समाप्त हो सकती है।

मानवका जीना अधिकार है, किन्तु दूसरेको जीवित रहने देना उसका कर्त्तव्य है। अतः अपने अधिकारोंकी माँग करनेवालेको कर्त्तव्यपालनकी ओर सजग रहना अत्यावश्यक है। समाजमें व्याप्त विषमता, अशान्ति और शोषणका मूल कारण कर्त्तव्योंकी उपेक्षा है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीके लिए सहायक

अहिंसाके आधारपर सहयोग और सहकारिताकी भावना स्थापित करनेसे समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीको बल प्राप्त होता है। समाजका आर्थिक एवं राज-नीतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित हो तथा उसमें उन्नति और विकासके लिए सभीको समान अवसर दिये जायें। अहिंसाके आधारपर निर्मित समाजमें शोषण और संघर्ष रह नहीं सकते। अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा बिना एक बूँन्द रक्त बहाये वर्गहीन समाजकी स्थापना की जा

सकती है। यद्यपि कुछ लोग अहिंसाके द्वारा निर्मित समाजको आदर्श या कल्पनाकी वस्तु मानते हैं, पर यथार्थतः यह समाज काल्पनिक नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक होगा। यतः अहिंसाका लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जातिभेदसे ऊपर उठकर समाजका प्रत्येक सदस्य अन्यके साथ शिष्टता और मानवताका व्यवहार करे। छलकपट या इनसे होनेवाली छीनाझपटी अहिंसाके द्वारा ही दूर की जा सकती है। यह सुनिश्चित है कि बलप्रयोग या हिंसाके आधारपर मानवीय संबंधोंकी दीवार खड़ी नहीं की जा सकती है। इसके लिए सहानुभूति, प्रेम, सौहार्द, त्याग, सेवा एवं दया आदि अहिंसक भावनाओंको आवश्यकता है। वस्तुतः अहिंसामें ऐसी अद्भुत शक्ति है जो आर्थिक, सामाजिक और राज-नीतिक समस्याओंको सरलतापूर्वक सुलझा सकती है। समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीपर चढ़नेके लिए लोकहितकी भावना सहायक कारण है।

समाजको जर्जरित करनेवाली काले-गोरे, ऊँच-नीच और छुआ-छूतकी भावनाको प्रश्रय देना समाजधर्मकी उपेक्षा करना है। जन्मसे न कोई ऊँचा होता है और न कोई नीचा। जन्मना जातिव्यवस्था स्वीकृत नहीं की जा सकती। मनुष्य जैसा आचरण करता है, उसीके अनुकूल उसकी जाति हो जाती है। दुराचार करनेवाले चोर और डकैत जात्या ब्राह्मण होनेपर भी शूद्रसे अधिक नहीं हैं। जिन व्यक्तियोंके हृदयमें करुणा, दया, ममताका अजस्र प्रवाह समाविष्ट है, ऐसे व्यक्ति समाजको उन्नत बनाते हैं, जाति-अहंकारका विष मनुष्यको अर्धमूच्छित किये हुए हैं। अतः इस विषका त्याग अत्यावश्यक है।

जिस व्यक्तिका नैतिक स्तर जितना हो समाजके अनुकूल होगा वह उतना ही समाजमें उन्नत माना जायगा, किन्तु स्थान उसका भी सामाजिक सदस्य होनेके नाते वही होगा, जो अन्य सदस्योंका है। दलितवर्गके शोषण, जाति और धर्मवादके दुरभिमानको महत्त्व देना मानवताके लिए अभिशाप है। जो समाजको सुगठित और सुव्यवस्थित बनानेके इच्छुक हैं, उन्हें आत्म-नियन्त्रण कर जातिवाद, धर्मवाद, वर्गवादको प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

समाजधर्मकी तीसरी सीढ़ी : आर्थिक सन्तुलन

समाजकी सारी व्यवस्थाएँ अर्थमूलक हैं और इस अर्थके लिए ही संघर्ष हो रहा है। व्यक्ति, समाज या राष्ट्रके पास जितनी सम्पत्ति बढ़ जाती है वह व्यक्ति, समाज या राष्ट्र उतना ही असन्तोषका अनुभव करता रहता है। अतः धनाभावजन्य जितनी अशान्ति है, उससे भी कहीं अधिक धनके सद्भावसे है।

धनके असमान वितरणको अशान्तिका सबल कारण माना जाता है, पर यह असमान वितरणकी समस्या विश्वकी सम्पत्तिको बाँट देनेसे नहीं सुलझ

सकती है। इसके समाधानके कारण अपरिग्रह और संयमवाद हैं। ये दोनों संविधान समाजमेंसे शोषित और शोषक वर्गकी समाप्ति कर आर्थिक दृष्टिसे समाजको उन्नत स्तरपर लाते हैं। जो व्यक्ति समस्त समाजके स्वार्थको ध्यानमें रखकर अपनी प्रवृत्ति करता है वह समाजकी आर्थिक विषमताको दूर करनेमें सहायक होता है। यदि विचारकर देखा जाय तो परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण ऐसे नियम हैं, जिनसे समाजकी आर्थिक समस्या सुलझ सकती है। इसी कारण समाजधर्मकी तीसरी सीढ़ी आर्थिक सन्तुलनको माना गया है। स्वार्थ और भोगलिप्साका त्याग इस तीसरी सीढ़ीपर चढ़नेका आधार है।

परिग्रहपरिमाण : आर्थिक संयमन

अपने योग-क्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय और अत्याचार द्वारा धनका संचय न करना परिग्रहपरिमाण या व्यावहारिक अपरिग्रह है। धन, धान्य, रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, स्त्री-पुत्र प्रभृति पदार्थोंमें 'ये मेरे हैं', इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओंके संग्रहको कम करना परिग्रहपरिमाण है बाह्यवस्तु—रुपये-पैसोंकी अपेक्षा अन्तरंग तृष्णा या लालसाको विशेष महत्त्व प्राप्त है, क्योंकि तृष्णाके रहनेसे धनिक भी आकुल रहता है। वस्तुतः धन आकुलताका कारण नहीं है, आकुलताका कारण है तृष्णा। संचयवृत्तिके रहनेपर व्यक्ति न्याय-अन्याय एवं युक्त-अयुक्तका विचार नहीं करता।

इस समय संसारमें धनसंचयके हेतु व्यर्थ ही इतनी अधिक हाय-हाय मची हुई है कि संतोप और शान्ति नाममात्रको भी नहीं। विश्वके समझदार विशेषज्ञोंने धनसम्पत्तिके बटवारेके लिए अनेक नियम बनाये हैं, पर उनका पालन आजतक नहीं हो सका। अनियन्त्रित इच्छाओंकी तृप्ति विश्वकी समस्त सम्पत्तिके मिल जानेपर भी नहीं हो सकती है। आशारूपी गड्ढेको भरनेमें संसारका सारा वैभव अणुके समान है। अतः इच्छाओंके नियन्त्रणके लिए परिग्रहपरिमाणके साथ भोगोपभोगपरिमाणका विधान भी आवश्यक है। समय, परिस्थिति और वातावरणके अनुसार वस्त्र, आभरण, भोजन, ताम्बूल आदि भोगोपभोगकी वस्तुओंके संबंधमें भी उचित नियम कर लेना आवश्यक है।

उक्त दोनों व्रतों या नियमोंके समन्वयका अभिप्राय समस्त मानव-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाको उन्नत बनाना है। चन्द व्यक्तियोंको इस बातका कोई अधिकार नहीं कि वे शोषण कर आर्थिक दृष्टिसे समाजमें विषमता उत्पन्न करें।

इतना सुनिश्चित है कि समस्त मनुष्योंमें उन्नति करनेकी शक्ति एक-सी न होनेके कारण समाजमें आर्थिक दृष्टिसे समानता स्थापित होना कठिन है, तो भी समस्त मानव-समाजको लौकिक उन्नतिके समान अवसर एवं अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार स्वतन्त्रताका मिलना आवश्यक है, क्योंकि परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाणका एकमात्र लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर कर सुखी बनाना है। यह पूँजीवादका विरोधी सिद्धान्त है और एक स्थान पर धन संचित होनेकी वृत्तिका निरोध करता है। परिग्रहपरिमाणका क्षेत्र व्यक्तितक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत समाज, देश, राष्ट्र एवं विश्वके लिए भी उसका उपयोग आवश्यक है। संयमवाद व्यक्तिकी अनियन्त्रित इच्छाओंको नियन्त्रित करता है। यह हिंसा झूठ, चोरी, दुराचार आदिको रोकता है।

परिग्रहके दो भेद हैं—बाह्यपरिग्रह और अन्तरंगपरिग्रह। बाह्यपरिग्रहमें धन, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ परिगणित हैं। इनके संचयसे समाजको आर्थिक विषमताजन्य कष्ट भोगना पड़ता है। अतः श्रमार्जित योग-क्षेमके योग्य धन ग्रहण करना चाहिये। न्यायपूर्वक भरण-पोषणकी वस्तुओंके ग्रहण करनेसे धन संचित नहीं हो पाता। अतएव समाजको समानरूपसे सुखी, समृद्ध और सुगठित बनानेके हेतु धनका संचय न करना आवश्यक है। यदि समाजका प्रत्येक सदस्य श्रमपूर्वक आजीविकाका अर्जन करे, अन्याय और बेईमानीका त्याग कर दे, तो समाजके अन्य सदस्योंको भी आवश्यकताकी वस्तुओंकी कभी कमी नहीं हो सकती है।

आभ्यन्तरपरिग्रहमें काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि भावनाएँ शामिल हैं। वस्तुतः संचयशील बुद्धि—तृष्णा अर्थात् असंतोष ही अन्तरंगपरिग्रह है। यदि बाह्यपरिग्रह छोड़ भी दिया जाय, और ममत्वबुद्धि बनी रहे, तो समाजकी छीना-झपटी दूर नहीं हो सकती। धनके समान वितरण होनेपर भी, जो बुद्धिमान हैं, वे अपनी योग्यतासे धन एकत्र कर ही लेंगे और समाजमें विषमता बनी ही रह जायगी। इसी कारण लोभ, माया, क्रोध आदि मानवीय विकारोंके त्यागनेका महत्त्व है। अपरिग्रह वह सिद्धान्त है, जो पूँजी और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक वस्तुओंके अनुचित संग्रहको रोक कर शोषणको बन्द करता है और समाजमें आर्थिक समानताका प्रचार करता है। अतएव संचयशील वृत्तिका नियन्त्रण परम आवश्यक है। यह वृत्ति ही पूंजीवादका मूल है।

तीसरी सीढ़ीका पोषक : संयमवाद

संसारमें सम्पत्ति एवं भोगपभोगकी सामग्री कम है। भोगनेवाले अधिक हैं और तृष्णा इससे भी ज्यादा है। इसी कारण प्राणियोंमें मत्स्यन्याय चलता है,

छीना-झपटी चलती है और चलता है संघर्ष। फलतः नाना प्रकारके अत्याचार और अन्याय होते हैं, जिनसे अहर्निश अशान्ति बढ़ती है। परस्परमें ईर्ष्या-द्वेष-की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको आर्थिक उन्नतिके अवसर ही नहीं मिलने देता। परिणाम यह होता है कि संघर्ष और अशान्तिकी शाखाएँ बढ़कर विषमतारूपी हलाहलको उत्पन्न करती हैं।

इस विषको एकमात्र औषध संयमवाद है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं, कषायों और वासनाओं पर नियन्त्रण रखकर छीना-झपटीको दूर कर दे, तो समाजसे आर्थिक विषमता अवश्य दूर हो जाय। और सभी सदस्य शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति निराकुलरूपसे कर सकते हैं। यह अविस्मरणीय है कि आर्थिक समस्याका समाधान नैतिकताके बिना सम्भव नहीं है। नैतिक मर्यादाओंका पालन हो आर्थिक साधनोंमें समीकरण स्थापित कर सकता है। जो केवल भौतिकवादका आश्रय लेकर जीवनकी समस्याओंको सुलझाना चाहते हैं, वे अन्धकारमें हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकताके अभावमें आर्थिक समस्याएँ सुलझ नहीं सकती हैं।

संयमके भेद और उनका विश्लेषण—संयमके दो भेद हैं—(१) इन्द्रियसंयम और (२) प्राणिसंयम। संयमका पालनेवाला अपने जीवनके निर्वाहके हेतु कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे अवशिष्ट सामग्री अन्य लोगोंके काम आती है और संघर्ष कम होता है। विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे, तो दूसरोंके लिये सामग्री कम पड़ेगी तथा शोषण-का आरम्भ यहींसे हो जायगा। समाजमें यदि वस्तुओंका मनमाना उपभोग लोग करते रहें, संयमका अंकुश अपने ऊपर न रखें, तो वर्ग-संघर्ष चलता ही रहेगा। अतएव आर्थिक वैषम्यको दूर करनेके लिये इच्छाओं और लालसाओंको नियंत्रित करना परम आवश्यक है तभी समाज सुखी और समृद्धिशाली बन सकेगा।

अन्य प्राणियोंको किंचित् भी दुःख न देना प्राणिसंयम है। अर्थात् विश्वके समस्त प्राणियोंकी सुख-सुविधाओंका पूरा-पूरा ध्यान रखकर अपनी प्रवृत्ति करना, समाजके प्रति अपने कर्त्तव्यको सुचारूरूपसे सम्पादित करना एवं व्यक्तिगत स्वार्थभावनाको त्याग कर समस्त प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे अपने प्रत्येक कार्यको करना प्राणिसंयम है। इतना ध्रुव सत्य है कि जब-तक समर्थ लोग संयम पालन नहीं करेंगे, तब तक निर्बलोंको पेट भर भोजन नहीं मिल सकेगा और न समाजका रहन-सहन ही ऊँचा हो सकेगा। आत्मशुद्धिके साथ सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ़ करना और शासित एवं शासक या शोषित एवं शोषक इन वर्गभेदोंको समाप्त करना भी प्राणिसंयमका लक्ष्य है।

उत्पादन और वितरणजन्य आर्थिक विषमताका सन्तुलन भी अपरिग्रह-बाद और संयमवादद्वारा दूर किया जा सकता है। आज उत्पादनके ऊपर एक जाति, समाज या व्यक्तिका एकाधिकार होनेसे उसे कच्चे मालका संचय करना पड़ता है तथा तैयार किये गये पक्के मालको खपानेके लिए विश्वके किसी भी कोनेके बाजारपर वह अपना एकाधिकार स्थापित कर शोषण करता है। इस शोषणसे आज समाज कराह रहा है। समाजका हर व्यक्ति त्रस्त है। किसीको भी शान्ति नहीं। स्वार्थपरताने समाजके घटक व्यक्तियोंको इतना संकीर्ण बना दिया है, जिससे वे अपने ही आनन्दमें मग्न हैं। अतएव इच्छाओंको नियंत्रित कर जीवनमें संयमका आचरण करना परम आवश्यक है।

समाजधर्मकी चौथी सीढ़ी : अहिंसाकी विराट् भावना

समाजमें संघर्षका होना स्वाभाविक है, पर इस संघर्षको कैसे दूर किया जाय, यह अत्यन्त विचारणीय है। जिस प्रकार पशुवर्ग अपने संघर्षका सामना पशुबलसे करता है, क्या उसी प्रकार मनुष्य भी शक्तिके प्रयोग द्वारा संघर्षका प्रतिकार करे? यदि मनुष्य भी पशुबलका प्रयोग करने लगे, तो फिर उसकी मनुष्यता क्या रहेगी? अतः मनुष्यको उचित है कि वह विवेक और शिष्टताके साथ मानवोचित विधिका प्रयोग करे। वस्तुतः अत्याचारीकी इच्छाके विरुद्ध अपने सारे आत्मबलको लगा देना ही संघर्षका अन्त करना है, यही अहिंसा है। अहिंसा ही अन्याय और अत्याचारसे दीन-दुर्बलोंको बचा सकती है। यही विश्वके लिये सुख-शान्ति प्रदायक है। यही संसारका कल्याण करने वाली है, यही मानवका सच्चा धर्म है और यही है मानवताकी सच्ची कसौटी।

मानवकी यह विकारजन्य प्रवृत्ति है कि वह हिंसाका उत्तर हिंसासे झट दे देता है। यह बलवान-बलवानकी लड़ाई है। समाजमें सभी तो बलवान नहीं होते। अतः कमजोरोंकी रक्षा और उनके अधिकारोंकी प्राप्ति अहिंसाद्वारा ही सम्भव है। यह निर्बल, सबल, धनी, निर्धन, राक्षस और मनुष्य सभीका सहारा है। यह वह साधन है, जिसके प्रयोग द्वारा हिंसाके समस्त उपकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। पशुबलको पराजित कर आत्मबल अपना नया प्रकाश सर्वसाधारण-को प्रदान करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिंसा विश्वमें पूर्ण शान्ति स्थापित करनेमें सर्वथा असमर्थ है। प्रत्येक प्राणीका यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह आरामसे खाये और जीवन यापन करे। स्वयं 'जीओ और दूसरोंको जीने दो', यह सिद्धान्त समाजके लिये सर्वदा उपयोगी है। पर आजका मनुष्य स्वार्थ और अधिकारके वशीभूत हो वह स्वयं तो जीवित रहना चाहता है किन्तु दूसरोंके

जीवनकी रंचमात्र भी परवाह नहीं करता है। आजका व्यक्ति चाहता है कि मैं अच्छे-से-अच्छा भोजन करूँ, अच्छी सवारी मुझे मिले। रहनेके लिये अच्छा भव्य प्रासाद हो तथा मेरी आलमारीमें सोने-चाँदीका ढ़ेर लगा रहे, चाहे अन्य लोगोंके लिये खानेको सूखी रोटियाँ भी न मिलें, तन ढकनेको फटे-चिथड़े भी न हों। मेरे भोग-विलासके निमित्त सैकड़ोंके प्राण जायें, तो मुझे क्या? इसप्रकार हम देखते हैं कि ये भावनाएँ केवल व्यक्तिकी ही नहीं, किन्तु समस्त समाजकी हैं। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य दुःखी है।

अविश्वासकी तीव्र भावना अन्य व्यक्तियोंका गला घोंटनेके लिये प्रेरित किये हुए है। अधिकारापहरण और कर्त्तव्य-अवहेलना समाजमें सर्वत्र व्याप्त हैं। निरकुश और उच्छृंखल भोगवृत्ति मानवकी बुद्धिका अपहरण कर उसका पशुताकी ओर प्रत्यावर्त्तन कर रही है। सुखकी कल्पना स्वार्थ-साधन और वासना पूर्तिमें परिसीमित हो समाजको अशान्त बनाये हुए है। हिंसा-प्रतिहिंसा व्यक्ति और राष्ट्रके जीवनमें अनिवार्य-सी हो गयी है। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य आज दुःखी है।

मनुष्यमें दो प्रकारका बल होता है—(१) आध्यात्मिक और (२) शारीरिक। अहिंसा मनुष्यको आध्यात्मिक बल प्रदान करती है। धैर्य, क्षमा, संयम, तप, दया, विनय प्रभृति आचरण अहिंसाके रूप हैं। कष्ट या विपत्तिके आ जाने पर उसे समभावसे सहना, हाय हाय नहीं करना, चित्तवृत्तियोंको संयमित करना एवं सब प्रकारसे कष्टसहिष्णु बनना अहिंसा है और है यह आत्मबल। यह वह शक्ति है, जिसके प्रकट हो जाने पर व्यक्ति और समाज कष्टोंके पहाड़ोंको भी चूर-चूर कर डालते हैं। क्षमाशील बन जाने पर विरोध या प्रति-शोधको भावना समाजमें रह नहीं पाती। अतएव अहिंसक आचरणका अर्थ है मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्रमें सद्भावना और प्रेम रखना। अहिंसामें त्याग है, भोग नहीं। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ हिंसा अवश्य है। अतः समाज-धर्मकी चौथी सीढ़ीपर चढ़नेके लिये आत्मशोधन या अहिंसक भावना अत्यावश्यक है। व्यक्तिका अहिंसक आचरण ही समाजको निर्भय, वीर एवं सहिष्णु बनाता है।

समाजधर्मकी पांचवीं सीढ़ी : सत्य या कूटनीतित्याग

कूटनीति और धोखा ये दोनों ही समाजमें अशान्ति-उत्पादक हैं। सत्यमें वह शक्ति है, जिससे कूटनीतिजन्य अशान्तिकी ज्वाला शान्त हो सकती है। दूसरेको कष्ट पहुँचानेके उद्देश्यसे कटु वचन बोलना या अप्रिय भाषण करना मिथ्या भाषणके अन्तर्गत है।

यह स्मरणीय है कि सत्ता और धोखा ये दोनों ही समाजके अकल्याणकारक हैं। इन दोनोंका जन्म झूठसे होता है। झूठा व्यक्ति आत्मवंचना तो करता ही है, किन्तु समाजको भी जर्जरित कर देता है। प्रायः देखा जाता है कि मिथ्या भाषणका आरम्भ स्वार्थकी भावनासे होता है। सर्वात्महितवादकी भावना असत्यभाषणमें बाधक है। स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध जैसी भावनाएँ असत्य-भाषणसे ही उत्पन्न होती हैं, क्योंकि मानव-समाजका समस्त व्यवहार वचनोंसे चलता है। वचनोंमें दोष आ जानेसे समाजकी अपार क्षति होती है। लोकमें प्रसिद्धि भी है कि इसी जिह्वामें विष और अमृत दोनों हैं। समाजको उन्नत स्तर पर लेजानेवाले अहिंसक वचन अमृत और समाजको हानि पहुँचानेवाले वचन विष हैं। अश्लील भाषण करना, निन्दा या चुगली करना, कठोर वचन बोलना और हँसी-मजाक करना समाज-हितमें बाधक हैं। छेदन, भेदन, मारण, शोषण, अपहरण ओर ताड़न सम्बन्धीं वचन भी हिंसक होनेके कारण समाजको शान्तिमें बाधक हैं। अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, सन्तापकारक अप्रिय वचन भी समाजको विघटित करते हैं। अतएव समाजको सुगठित, सम्बद्ध और प्रिय व्यवहार करनेवाला बनानेके हेतु सत्य वचन अत्यावश्यक है। भोगसामग्रीकी बहुलताके हेतु जो वचनोंका असंयमित व्यवहार किया जाता है, वह भी अधि-कार और कर्त्तव्यके सन्तुलनका विघातक है। समाजमें सच्ची शान्ति, सत्य व्यवहार द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है और इसीप्रकारका व्यवहार जीवनमें ईमानदारी और सच्चाई उत्पन्न कर सकता है। साधारण परिस्थितियोंके बीच व्यक्तिका विकास अहिंसक वचनव्यवहार द्वारा सम्भव होता है। यह समस्त मनुष्यसमाज एक बृहत् परिवारहै और इस बृहत् परिवारका सन्तुलन साधन और साध्यके सामंजस्य पर ही प्रतिष्ठित है। जो नैतिकता, अहिंसा और सत्यको जीवन में अपनाता है, वह समाजको सुखी और शान्त बनाता है। आत्मविकासके साथ समाजविकासका पूरा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मिथ्या मान्यताएँ, धर्मके संकल्प-विकल्प, क्रिया-काण्ड एवं धार्मिक सम्प्रदायोंके विभिन्न प्रकार आदि सभी सामाजिक जीवनकी गतिविधिमें बाधक हैं। अन्धश्रद्धा और मिथ्या विश्वासोंका निराकरण भी समाजधर्मकी इस पाँचवीं सीढ़ीपर चढ़नेसे होता है। अनुकम्पा, करुणा और सहानुभूतिका क्रियात्मक विकास भी सत्यव्यवहार द्वारा सम्भव है। जीवनके तनाव, कुण्ठाएँ, संग्रहवृत्ति, स्वार्थपरता आदिका एकमात्र निदान अहिंसक वचन ही है।

समाजधर्मकी छठी सीढ़ी : अस्तेय-भावना

अस्तेयकी भावना समाजके सदस्योंके हृदयमें अन्य व्यक्तियोंके अधिकारोंके

लिए स्वाभाविक सम्मान जागृत करती है। इसका वास्तविक रहस्य यह है कि दूसरेके अधिकारोंपर हस्तक्षेप करना उचित नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सामाजिक या राष्ट्रीय हितकी भावनाको ध्यानमें रखकर अपने कर्त्तव्यका पालन करना आवश्यक है। यह भूलना न होगा कि अधिकार वह सामाजिक वातावरण है, जो व्यक्तित्वकी वृद्धिके लिए आवश्यक और सहायक होता है। है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाय तो समाजका विनाश अवश्यम्भावी हो जाय। अस्तेय-भावना एकाधिकारका विरोधकर समस्त समाजके अधिकारोंको सुरक्षित रखने पर जोर देती है। यह अविस्मरणीय है कि वैयक्तिक जीवनमें जो अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरेके आश्रित हैं वे एक ही वस्तुके दो रूप है। जब व्यक्ति अन्यकी सुविधाओंका ख्यालकर अधिकारका उपयोग करता है, तो वह अधिकार समाजके अनुशासनमें हितकर बन कर्त्तव्य बन जाता है--और जब केवल वैयक्तिक स्वत्व रक्षाके लिए उसका उपयोग किया जाता है, तो उस समय अधिकार अधिकार ही रह जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारोंपर जोर दे और अन्यके अधिकारोंकी अवहेलना करे, तो उसे किसी भी अधिकारको प्राप्त करनेका हक नहीं है। अधिकार और कर्त्तव्यके उचित ज्ञानका प्रयोग करना ही सामाजिक जीवनके विकासका मार्ग है। अचौर्यकी भावना इस समन्वयकी ओर ही इंगित करती है।

मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं, जिनके फलस्वरूप शोषण और संचयवृत्ति समाजमें असमानता उत्पन्न कर रही है। व्यक्तिका ध्यान अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति तक ही है। वह उचित और अनुचित ढंगसे धनसंचय कर अपनी कामनाओंकी पूर्ति कर रहा है, जिससे विश्वमें अशान्ति है। अस्तेय-की भावना उत्तरोत्तर आवश्यकताओंको कम करती है। यदि इस भावनाका प्रचार विश्वमें हो जाय, तो अनुचित ढंगसे धनार्जनके साधन समाप्त होकर संसारकी गरीबी मिट सकती है।

समाजमें शारीरिक चोरी जितनी की जा सकती है उससे कही अधिक मानसिक। दूसरोंकी अच्छी वस्तुओंको देखकर जो हमारा मन ललचा जाता है—या हमारे मनमें उनके पानेकी इच्छा हो जाती है, यह मानसिक चोरी है। द्रव्यचोरीकी अपेक्षा भावचोरीका त्याग अनिवार्य है, क्योंकि भावनाएँ ही द्रव्य-चोरी करानेमें सहायक होती हैं। भोजन, वस्त्र और निवास आदि आरम्भिक शारीरिक आवश्यकताओंसे अधिक संग्रह करना भी चोरीमें सम्मिलित है। यदि समाजका एक व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक रखने लग जाय, तो स्वाभाविक ही है कि दूसरोंको वस्तुएँ आवश्यकतापूर्तिके लिए भी नहीं मिल सकेंगी।

यदि दो जोड़ी कपड़ोंके स्थानपर यदि कोई पचास जोड़ी कपड़े रखने लग जाय, तो इससे उसे दूसरे चौबीस व्यक्तियोंको वस्त्रहीन करना पड़ेगा। अतः किसी भी वस्तुका सीमित आवश्यकतासे अधिक संचय समाज-हितकी दृष्टिसे अनुचित है।

सस्ता समझकर चोरोंके द्वारा लाई गई वस्तुओंको खरीदना, चोरीका मार्ग बतलाना, अनजान व्यक्तियोंसे अधिक मूल्य लेना, अधिक मूल्यकी वस्तुओं में कम मूल्यवाली वस्तुओंको मिलाकर बेचना चोरी है। प्रायः देखा जाता है कि दूध बेचनेवाले व्यक्ति दूधमें पानी डालकर बेचते हैं। कपड़ा धोनेके सोड़ेमें चूना मिलाया जाता है। इसी प्रकार अन्य खाद्यसामग्रियोंमें लोभवश अशुद्ध और कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर बेचना नितान्त वर्ज्य है।

समाजधर्मकी सातवीं सीढ़ी : भोगवासना-नियन्त्रण

यो तो अहिंसक आचरणके अन्तर्गत समाजोपयोगी सभी नियन्त्रण सम्मिलित हो जाते है, पर स्पष्टरूपसे विचार करनेके हेतु वासना-नियन्त्रण या ब्रह्मचर्यभावनाका विश्लेषण आवश्यक है। यह आत्माकी आन्तरिक शक्ति है और इसके द्वारा सामाजिक क्षमताओंकी वृद्धि की जाती है। वास्तवमें ब्रह्मचर्यकी साधना वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवनोंके लिए एक उपयोगी कला है। यह आचार-विचार और व्यवहारको बदलनेकी साधना है। इसके द्वारा जीवन सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनता है। शारीरिक सौन्दर्यकी अपेक्षा आचरणका यह सौन्दर्य सहस्रगुणा श्रेष्ठ है। यह केवल व्यक्तिके जीवनके लिए ही सुखप्रद नहीं, अपितु समाजके कोटि-कोटि मानवोंके लिए उपादेय है।

आचरण व्यक्तिकी श्रेष्ठता और निकृष्टताका मापक यन्त्र है। इसीके द्वारा जीवनकी उच्चता और उसके उच्चतम रहन-सहनके साधन अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्यके आचार-विचार और व्यवहारसे बढ़कर कोई दूसरा प्रमाणपत्र नहीं, है, जो उसके जीवनकी सच्चाईको प्रमाणित कर सके।

आचरणका पतन जीवनका पतन है और आचरणकी उच्चता जीवनकी उच्चता है। यदि रूढ़िवादवश किसी व्यक्तिका जन्म नीचकुलमें मान भी लिया जाय, तो इतने मात्रसे वह अपवित्र नहीं माना जा सकता। पतित वह है जिसका आचार-विचार निकृष्ट है और जो दिन-रात भोग-वासनामें डूबा रहता है। जो कृत्रिम विलासिताके साधनोंका उपयोगकर अपने सौन्दर्यकी कृत्रिमरूपमें वृद्धि करना चाहते हैं उनके जीवनमें विलासिता तो बढ़ती ही है, कामविकार भी उद्दीप्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप समाज भीतर-ही-भीतर खोखला होता जाता है।

जो वासनाओंके प्रवाहमें बहकर भोगोंमें अपनेको डुबा देता है, वह व्यक्ति समाजके लिए भी अभिशाप बन जाता है। भोगाधिक्यसे रोग उत्पन्न होते हैं, कार्य करनेकी क्षमता घटती है और समाजकी नींव खोखली होती है। अतएव सामाजिक विकासके लिए वासनाओंको नियंत्रित कर ब्रह्मचर्य या स्वदारसन्तोष-की भावना अत्यावश्यक है।

ब्रह्मचर्य-साधनाके दो रूप सम्भव हैं—(१) वासनाओंपर पूर्ण नियन्त्रण और (२) वासनाओंका केन्द्रीकरण। समाजके बीच गार्हस्थिक जीवन व्यतीत करते हुए वासनाओंपर पूर्ण नियन्त्रण तो सबके लिए सम्भव नहीं, पर उनका केन्द्री-करण सभी सदस्योंके लिए आवश्यक है। केन्द्रीकरणका अर्थ विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए समाजकी अन्य स्त्रियोंको माता, बहिन और पुत्रीके समान समझकर विश्वव्यापी प्रेमका रूप प्रस्तुत करना। यहाँ यह विशेषरूपसे विचार-णीय है कि अपनी पत्नीको भी अनियन्त्रित कामाचारका केन्द्र बनाना व्रतसे च्युत होना है। एकपत्नीव्रतका आदर्श इसीलिए प्रस्तुत किया गया है कि जो आध्यात्मिक सन्तोष द्वारा अपनी वासनाको नहीं जीत सकते, वे स्वपत्नीके ही साथ नियन्त्रितरूपसे काम-रोगको शान्त करें। आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धिके लिए इच्छाओंपर नियन्त्रण रखना परमावश्यक है। सामा-जिक और आत्मिक विकासकी दृष्टिसे ब्रह्मचर्यशब्दका अर्थ ही आत्माका आचरण है। अत: केवल जननेन्द्रिय-संबंधी विषयविकारोंको रोकना पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है। जो अन्य इन्द्रियोंके विषयोंके अधीन होकर केवल जननेन्द्रियसंबंधी विषयों-के रोकनेका प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न वायुकी भीत होता है। कानसे विकारकी बातें सुनना, नेत्रोंसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ देखना, जिह्वासे विकारोत्तेजक पदार्थोंका आस्वादन करना और घ्राणसे विकार उत्पन्न करने-वाले पदार्थोंको सूंघना ब्रह्मचर्यके लिए तो बाधक है ही, पर समाज-हितकी दृष्टिसे भी हानिकर है। मिथ्या आहार-विहारसे समाजमें विकृति उत्पन्न होती है, जिससे समाज अव्यवस्थित हो जाता है। सामाजिक अशान्तिका एक बहुत बड़ा कारण इन्द्रियसंबंधी अनुचित आवश्यकताओंकी वृद्धि है। अभक्ष्य-भक्षण भी इसी इन्द्रियकी चपलताके कारण व्यक्ति करता है।

वस्तुत: सामाजिक दृष्टिसे ब्रह्मचर्य-भावनाका रहस्य अधिकार और कर्त्तव्यके प्रति आदर-भावना जागृत करना है। नैतिकता और बलप्रयोग ये दोनों विरोधी हैं। ब्रह्मचर्यकी भावना स्वनिरीक्षण पर जोर देती है, जिसके द्वारा नैतिक जीवन-का आरम्भ होता है। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें संगठन-शक्तिकी जागृति भी इसीके द्वारा होती है। संयमके अभावमें समाजकी व्यवस्था सुचारूरूपसे नहीं की जा सकती। यतः सामाजिक जीवनका आधार नैतिकता है। प्रायः

देखा जाता है कि संसारमें छीना-झपटीकी दो ही वस्तुएँ हैं—१. कामिनी और २. कञ्चन। जबतक इन दोनोंके प्रति आन्तरिक संयमकी भावना उत्पन्न नहीं होगी, तबतक समाजमें शान्ति स्थापित नहीं होगी। अभिप्राय यह है कि जीवन निर्वाह—शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके हेतु अपने उचित हिस्सेसे अधिक ऐन्द्रियिक सामग्रीका उपयोग न करना सामाजिक ब्रह्मभावना है।

आध्यात्म-समाजवाद

समाजवाद शोषणको रोककर वैयक्तिक सम्पत्तिका नियन्त्रण करता है। यह उत्पादनके साधन और वस्तुओंके वितरणपर समाजका अधिकार स्थापित कर समस्त समाजके सदस्योंको समता प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्तिको जीवित रहने और खाने-पीनेका अधिकार है तथा समाजको, व्यक्तिको कार्य देकर उससे श्रम करा लेना और आवश्यकतानुसार वस्तुओंकी व्यवस्था कर देना अपेक्षित है। सम्पत्ति समाजकी समस्त शक्तियोंकी उपज है। उसमें सामाजिक शक्तिकी अपेक्षा, वैयक्तिक श्रमको भी कम महत्त्व प्राप्त नहीं है। सम्पत्ति सामाजिक रीति-रिवाजोंपर आधारित है। अतएव सम्पत्तिके हकोंकी भी उत्पत्ति सामाजिक रूपसे होती है। यदि सारा समाज सहयोग न दे, तो किसी भी प्रकारका उत्पादन सम्भव नहीं है। सामाजिक आवश्यकताएँ व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं। अतएव व्यक्तिको अपनी-अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके साथ सामाजिक आवश्यकताओं-की पूर्तिके लिए सचेष्ट रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिको उस सीमातक वस्तुओं पर अधिकार करनेका हक है, जहाँ तक उसे अपनेको पूर्ण बनानेमें सहायता मिलती है। उसकी भूख, प्यास आदि उन प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति अनिवार्य है, जिनकी पूर्तिके अभावमें वह अपने व्यक्तित्वका विकास नहीं कर पाता।

उस व्यक्तिको जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करनेका कोई अधिकार नहीं, जो जीनेके लिए काम नहीं करता है। दूसरेकी कमाईपर जीवित रहना अनैतिकता है। जिनकी सम्पत्ति दूसरोंके श्रमका फल है, वे समाजके श्रमभोगी सदस्य हैं। उन वस्तुओंके उपभोगका उन्हें कोई अधिकार नहीं, जिन वस्तुओंके अर्जनमें उन्होंने सीधे या परम्परारूपमें सहयोग नहीं दिया है। समाजमें वह अपने भीतर ऐसे वर्गको सुरक्षित रखता है जो केवल स्वामित्वके कारण जिन्दा है। अतएव समाजशास्त्रीय दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिको श्रमकर अपने अधिकारको प्राप्त करना चाहिए। जो समाजके संचित धनको समान वितरण द्वारा समाजमें समत्व स्थापित करना चाहते हैं, वे अंधेरेमें हैं। यदि हम यह मान भी लें कि पूँजीके समान वितरणसे समाजमें समत्व स्थापित होना सम्भव है, तो भी यह आशंका निरन्तर बनी रहेगी कि प्रत्येक व्यक्तिमें बुद्धि, क्षमता और शक्ति पृथक्-पृथक्

रहनेके कारण यह समत्व चिरस्थायी नहीं हो सकता है। जब भी समाजके इन क्षमतापूर्ण व्यक्तियोंको अवसर मिलेगा, समाजमें आर्थिक असमता उत्पन्न हो ही जायगी। अतएव इस सम्भावनाको दूर करनेके लिए आध्यात्मिक समाजवाद अपेक्षित है। भौतिक समाजवादसे न तो नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा ही सम्भव है और न वैयक्तिक स्वार्थका अभाव ही। वैयक्तिक स्वार्थोंका नियन्त्रण आध्यात्मिक आलोकमें ही सम्भव है। रहन-सहनकी पद्धतिविशेषमें किसीका स्थान ऊँचा और किसीका स्थान नीचा हो सकता है, पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योंके मानदण्डानुसार समाजके सभी सदस्य समान सिद्ध हो सकते हैं। परोपजीवी और आक्रामक व्यक्तियोंकी समाजमें कभी कमी नहीं रहती है। कानून या विधिका मार्ग सीमाएँ स्थापित नहीं कर सकता। जहाँ कानून और विधि है, वहाँ उसके साथ उन्हें तोड़ने या न माननेकी प्रवृत्ति भी विद्यमान है। अतएव आध्यात्मिक दृष्टिसे नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा कर समाजमें समत्व स्थापित करना सम्भव है। सभी प्राणियोंकी आत्मामें अनन्त शक्ति है, पर वह कर्मावरणके कारण आच्छादित है। कर्मका आवरण इतना विचित्र और विकट है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रकट होने नहीं देता। जिस प्रकार सूर्यका दिव्य प्रकाश मेघाच्छन्न रहनेसे अप्रकट रहता है उसी प्रकार कर्मोंके आवरणके कारण आत्माकी अनन्त शक्ति प्रकट नहीं होने पाती। जो व्यक्ति जितना पुरुषार्थ कर अहंता और ममताको दूर करता हुआ कर्मावरणको हटा देता है उसकी आत्मा उतनी ही शुद्ध होती जाती है। संसारके जितने प्राणी हैं सभीकी आत्मामें समान शक्ति है। अतः विश्वकी समस्त आत्माएँ शक्तिकी अपेक्षा तुल्य हैं और शक्ति-अभिव्यक्तिकी अपेक्षा उनमें असमानता है। आत्मा मूलतः समस्त विकार-भावोंसे रहित है। जो इस आत्मशक्तिकी निष्ठा कर स्वरूपकी उपलब्धिके लिए प्रयास करता है उसको आत्मामें निजी गुण और शक्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं। अतएव संक्षेपमें आत्माके स्वरूप, गुण और उनकी शक्तियोंको अवगत कर नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। सहानुभूति, आत्मप्रकाशन एवं समताकी साधना ऐसे मूल्योंके आधार हैं, जिनके अन्वयनसे समाजवादकी प्रतिष्ठा सम्भव है। ये तथ्य सहानुभूति और आत्मप्रकाशनके पूर्वमें बतलाये जा चुके हैं। समताके अनेक रूप सम्भव हैं। आचारकी समता अहिंसा है, विचारोंकी समता अनेकान्त है, समाजकी समता भोगनियन्त्रण है और भाषाकी समता उदार नीति है। समाजमें समता उत्पन्न करनेके लिए आचार और विचार इन दोनोंकी समता अत्यावश्यक है। प्रेम, करुणा, मैत्री, अहिंसा, अस्तेय, अब्रह्म, सत्याचरण समताके रूपान्तर हैं। वैर, घृणा, द्वेष, निन्दा, राग, लोभ, क्रोध विषमतामें सम्मिलित हैं।

सामाजिक आचरणके लिए आत्मौपम्य दृष्टि अपेक्षित है। प्रत्येक आत्मा तात्त्विक दृष्टिसे समान है। अतः मन, वचन, और कायसे किसीको न स्वयं सन्ताप पहुँचाना, न दूसरेसे सन्ताप पहुँचवाना, न सन्ताप पहुँचानेके लिए प्रेरित करना नैतिक मूल्योंकी व्यवस्थामें परिगणित है।

हमारे मनमें किसीके प्रति दुर्भावना है, तो मन अशान्त रहेगा; नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उत्पन्न होते रहेंगे और चित्त क्षुब्ध रहेगा। अतएव समाजवादकी प्रतिष्ठाके हेतु प्रत्येक सदस्यका आचरण और कार्य दुर्भावना रहित अत्यन्त सावधानीके साथ होना चाहिए। नैतिक या अहिंसक मूल्योंके अभावमें न व्यक्ति जीवित रह सकता है, न परिवार और न समाज ही पनप सकता है। अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखनेके लिए ऐसा आचार और व्यवहार अपेक्षित होता है, जो स्वयं अपनेको रुचिकर हो। व्यक्ति, समाज और देशके सुख एवं शान्तिकी आधारशिला अध्यात्मवाद है। और इसीके साथ अहिंसा, मैत्री और समताकी कड़ी जुड़ी हुई है। जो अभय देता है वह स्वयं भी अभय हो जाता है। जब दूसरोंको पर माना जाता है, तब भय उत्पन्न होता है और जब उन्हें आत्मवत् समझ लिया जाता है, तब भय नहीं रहता। सब उसके बन जाते हैं और वह सबका बन जाता है। अतएव समताकी उपलब्धिके लिए तथा समाजवादको प्रतिष्ठित करनेके लिए निम्नलिखित तीन आधारोंपर जीवन-मूल्योंकी व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए। मूल्यहीन समाज अत्यन्त अस्थिर और अव्यवस्थित होता है। निश्चयतः मूल्योंकी व्यवस्था ही समाजवाद-को प्रतिष्ठित कर सकती है।

१. स्वलक्ष्य मूल्य एवं अन्तरात्मक मूल्य—शारीरिक, आर्थिक और श्रम संबंधी मूल्योंके मिश्रण द्वारा जीवनकी मूलभूत प्रवृत्तियोंसे ऊपर उठकर तुष्टि, प्रेम, समता और विवेकको दृष्टिमें रखकर मूल्योंका निर्धारण।

२. शाश्वत एवं स्थायी मूल्य—विवेक, निष्ठा, सद्वृत्ति और विचारसाम-ञ्जस्यकी दृष्टिसे मूल्य निर्धारण। इस श्रेणीमें क्षणिक विषयभोगकी अपेक्षा शाश्वतिक आध्यात्मिक मूल्योंका महत्त्व। ज्ञान, कला, धर्म, शिव, सत्य सम्बन्धी मूल्य।

३. सृजनात्मक मूल्य—उत्पादन, श्रम, जीवनोपभोग आदिसे सम्बद्ध मूल्य।

संक्षेपमें समाजवादकी प्रतिष्ठा भौतिक सिद्धान्तोंके आधारपर सम्भव न होकर अध्यात्म और नैतिकताके आधारपर ही सम्भव है।

व्यक्ति और समाज : अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

व्यक्तियोंके समूह और उनके सम्बन्धोंसे समाजका निर्माण होता है। व्यक्ति अनेक सामाजिक समूहोंका सदस्य होता है, जो कि उसके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धोंको प्रतिबिम्बित करते हैं। व्यक्तिके जीवनका प्रभाव समाजपर पड़ता है। व्यक्ति अपने व्यवहारसे अन्य सदस्योंको प्रभावित करता है और अन्य सदस्योंके व्यवहारसे स्वयं प्रभावित होता है। अतः व्यक्तिकी समस्त महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ एवं चेतनाकी अवस्थाएँ सामाजिक परिस्थितियोंमें जन्म लेती हैं और इन्हींसे सामाजिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है।

व्यक्ति और समाज एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। अनेक व्यक्ति मिलकर समाजका गठन करते हैं। उन व्यक्तियोंकी विचार-धाराओं, संवेगों, आदतों आदिका पारस्परिक प्रभाव पड़ता है। अतः संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज इन दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्तिके बिना समाजका अस्तित्व नहीं और समाजके अभावमें व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास सम्भव नहीं। आर्थिक समानता, न्यायिक समानता, मानव समानता, स्वतन्त्रता आदिका सम्बन्ध व्यक्तियोंके साथ है। व्यक्तिगत दक्षता समाजको पूर्णतया प्रभावित करती है। समाज-गठनके सिद्धान्तोंमें धर्म, संस्कृति, नैतिक सिद्धान्त, कर्त्तव्य-पालन, जीवनके आदर्श, काम्य-भोग आदि परिगणित हैं। अतएव सुखी, सम्पन्न और आदर्श समाजके निर्माण हेतु वैयक्तिक जीवनकी पवित्रता और आचारनिष्ठा भी अपेक्षित है।

सामान्यतः धार्मिक संस्कार और नैतिक विधि-विधान व्यक्तिके व्यक्तित्वको परिष्कृत करनेके लिये आवश्यक है। जिस समाजके घटक व्यक्ति सच्चरित्र, ज्ञानी और दृढ़संकल्पी होगें, उस ससाजका गठन भी उतना ही अधिक सुदृढ़ होगा। व्यक्तिके समाजमें जन्म लेते ही कुछ दायित्व या ऋण उसके सिरपर आ जाते हैं, जिन दायित्वों और ऋणोंको पूरा करनेके लिये उसे सामाजिक सम्बन्धोंके बीच चलना पड़ता है। शारीरिक, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धोंका निर्वाह करते हुए भी व्यक्ति इन सम्बन्धोंमें आसक्त न रहे। जीवनसे सभी प्रकारके कार्य करने पड़ते हैं, पर उन कार्योंको कर्त्तव्य समझकर ही किया जाय, आसक्ति मानकर नहीं। यों तो वैयक्तिक जीवनका लक्ष्य निवृत्तिमूलक है। वह त्यागमार्गके बीच रहकर अपनी आत्माका उत्थान या कल्याण करता है। जीवनको उन्नत और समृद्ध बनानेके लिये आत्मशोधन करता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंको आत्मासे पृथक् कर वह निष्काम कर्ममें प्रवृत्त होता है। अतः व्यक्ति और समाज इन दोनोंका पर-

स्परमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और परस्परमें दोनोंके सहयोगसे ही समाजका विकास और उन्नति होती है।

समाजघटक, सामाजिक संस्थाएँ एवं समाजमें नारीका स्थान

सामाजिक जीवनके अनेक घटक हैं। व्यक्ति मांके उदरसे जन्म लेता है। माँ उसका पालन-पोषण करती है। पिता आर्थिक व्यवस्था करता है। भाई-बहन एवं मुहल्लेके अन्य शिशु उसके साथी होते हैं। शिक्षाशालामें वह शिक्षकोंसे विद्याध्ययन करता है। बड़ा होनेपर उसका विवाह होता है। इस प्रकार एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ अनेक प्रकारका सम्बन्ध स्थापित होता है। इन्हीं सम्बन्धोंसे वह बंधा हुआ है। उसका स्वभाव और उसकी आवश्यकताएँ इन सम्बन्धोंमें उसे रहनेके लिए बाध्य करती हैं। फलतः मनुष्य-को अपनी अस्तित्व-रक्षा और सम्बन्ध-निर्वाहके लिये समाजके बीच रहना पड़ता है। एकरूपता, सहयोग सहकारिता, संघटन और अन्योन्याश्रितता तो पशुओंके बीच भी पायी जाती है, किन्तु पशुओंमें क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्धों के निर्वाह एवं सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रतिबोधका अभाव है। सामाजिक सम्बन्धोंके घटक अनेक तत्त्व हैं। इनमें निम्नलिखित तत्त्वोंकी प्रमुखता है—

१. वैयक्तिक लाभके साथ सामूहिक लाभकी ओर दृष्टि
२. न्यायमार्गकी वृत्ति
३. उन्नति और विकासके लिये स्पर्द्धा
४. कलह, प्रेम, एवं संघर्षके द्वारा सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया।
५. मित्रताकी दृष्टि
६. उचित सम्मान-प्रदर्शन
७. परिवारका दायित्व
८. समानता और उदारताकी दृष्टि
९. आत्म-निरीक्षणकी प्रवृत्ति
१०. पाखण्ड-आडम्बरका त्याग
११. अनुशासनके प्रति आस्था
१२. अर्जनके समान त्यागके प्रति अनुराग
१३. कर्त्तव्यके प्रति जागरूकता
१४. एकाधिकारका त्याग और स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति
१५. सेवा-भावना

सामाजिक जीवन अर्हाओं और नैतिक नियमोंपर अवलम्बित है। रक्षा-विधि और अस्तित्व-निर्वाह समाजके लिये आवश्यक है। सामाजका आर्थिक

एवं राजनीतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित है, तथा सामाजिक उन्नति और विकासके लिये सभीको समान अवसर प्राप्त हैं। अतः अहिंसा, दया, प्रेम, सेवा और त्यागके आधारपर सामाजिक सम्बन्धोंका निर्वाह कुशलतापूर्वक सम्पन्न होता है।

अपने योग-क्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय, अत्याचार द्वारा धनार्जन करनेका त्याग करना एवं आवश्यकतासे अधिक संचय न करना स्वस्थ समाजके निर्माण-में उपादेय हैं। अहिंसा और सत्यपर आधृत समाजव्यवस्था मनुष्यको केवल जीवित ही नहीं रखती, बल्कि उसे अच्छा जीवन यापनके लिये प्रेरित करती है। मनुष्यकी शक्तियोंका विकास समाजमें ही होता है। कला, साहित्य, दर्शन, संगीत, धर्म आदिकी अभिव्यक्ति मनुष्यकी सामाजिक चेतनाके फलस्वरूप ही होती है। ज्ञानका आदान-प्रदान भी सामाजिक सम्बन्धोंके बीच सम्भव होता है। समाजमें ही समुदाय संघ और संस्थाएँ बनती हैं।

निसन्देह समाज एक समग्रता है और इसका गठन विशिष्ट उपादानोंके द्वारा होता है। तथा इसके भौतिक स्वरूपका निर्माण भावनोपेत मनुष्यों-के द्वारा होता है। इसका आध्यात्मिक रूप विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन आदिके द्वारा सुसम्पादित किया जाता है। अतः समाज एक ऐसी क्रियाशील समग्रता है, जिसके पीछे आध्यात्मिकता, नैतिक भावना और संकल्पात्मक वृत्तियोंके संश्लेषोंका रहना आवश्यक है।

सामाजिक संस्था : स्वरूप और प्रकार

समाजके विभिन्न आदर्श और नियन्त्रण जनरीतियों, प्रथाओं और रूढ़ियोंके रूपमें पाये जाते हैं। अतः नियन्त्रणमें व्यवस्था स्थापित करने एवं पारस्परिक निर्भयता बनाये रखनेके हेतु यह आवश्यक है कि उनको एक विशेष कार्यके आधारपर संगठित किया जाय। इस संगठनका नाम ही सामाजिक संस्था है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताकी पूर्तिके हेतु सामाजिक विरासतमें स्थापित सामूहिक व्यवहारोंका एक जटिल तथा घनिष्ठ संघटन है। मानव सामूहिक हितोंकी रक्षा एवं आदर्शोंके पालन करनेके लिये सामाजिक संस्थाओंको जन्म देता है। इनका मूलाधार निश्चित आचार-व्यवहार और समान हित-सम्पादन है। अधिक समय तक एक ही रूपमें कतिपय मनुष्योंके व्यवहार और विश्वासों-का प्रचलन सामाजिक संस्थाओंको उत्पन्न करता है। ये मनुष्योंकी सामूहिक क्रियाओं, सामूहिक हितों, आदर्शों एवं एक ही प्रकारके रीति-रिवाजोंपर अव-

लम्बित हैं। सामाजिक संस्थाओंमें निम्नलिखित गुण और विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१ सामाजिक संस्थाएँ प्रारम्भिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका साधन होती हैं।

२. सामाजिक संस्थाओं द्वारा सामाजिक नियन्त्रणका कार्य सम्पन्न होता है।

३. सामाजिक अर्हाओं और प्रजातिक व्यवहारोंका सम्पादन सामाजिक संस्थाओं द्वारा सम्भव है।

४. अनुशासन और आदर्शकी रक्षा इन्हींके द्वारा होती है।

५. इनका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।

६. नैतिक आदर्श और व्यवहारोंका सम्पादन इन्हींके द्वारा होता है।

७. सामाजिक संस्थाएँ ऐसे बन्धन हैं, जिनसे समाज मनुष्योंको सामूहिक रूपसे अपनी संस्कृतिके अनुरूप व्यवहार करनेके लिये बाध्य कर देता है; अतः सामाजिक संस्थाओंके आदर्श और धारणाएँ होती हैं, जिन्हें समाज अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिये आवश्यक मानता है।

८. सामाजिक संस्थाओंका संचालन आचार-संहिताओंके आधारपर होता है।

९. प्रत्येक धर्म सम्प्रदायकी आचार-संहिता भिन्न होती है। अतः सामाजिक संस्थाओंका रूपगठन भी भिन्न धरातलपर सम्पन्न होता है।

यों तो सामाजिक संस्थाएँ अनेक हो सकती हैं, पर आध्यात्मिक चेतना और लोक-जीवनके सम्पादनके लिये जिन सामाजिक संस्थाओंकी आवश्यकता है, वे निम्नलिखित हैं—

१. चतुर्विध संघ-संस्था
२. आश्रम-संस्था
३. विवाह-संस्था
४. कुल-संस्था
५. संस्कार-संस्था
६. परिवार-संस्था
७. पुरुषार्थ-संस्था
८. चैत्यालय-संस्था
९. गुणकर्माधारपर प्रतिष्ठित वर्णजातिसंस्था

इन संस्थाओंके सम्बन्धमें विशेष विवेचन करनेकी आश्यकता नहीं है। नामसे ही इनका स्वरूप स्पष्ट है।

वर्त्तमानमें समाजमें नारीका स्थान बहुत निम्न श्रेणीका हो रहा है। आज नारी भोगेषणाकी पूर्तिका साधन मात्र रह गयी है। न उसे अध्ययन कर आत्म-विकासके अवसर प्राप्त हैं और न वह धर्म एवं समाजके क्षेत्रमें आगे ही आ सकती है। दासीके रूपमें नारीको जीवन यापन करना पड़ता है, उसके साथ होनेवाले सामाजिक दुर्व्यवहार प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको खटकते हैं। नारी-समाजको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे युगयुगान्तरसे इनकी आत्मा ही खरीद ली गयी है। अनमेल-विवाहने नारीकी स्थितिको और गिरा दिया है। सामन्तयुगसे प्रभावित रहनेके कारण आज दहेज लेना-देना बड़प्पनका सूचक समझा जाता है। आज नारीका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहा है, पुरुषके व्यक्तित्वमें ही उसका व्यक्तित्व निल गया है। अतः इस दयनीय स्थितिको उन्नत बनाना अत्यावश्यक है। यह भूलना न होगा कि नारी भी मनुष्य है और उसको भी अपनी उन्नतिका पूरा अधिकार प्राप्त है।

वर्त्तमान समाजने नारी और शूद्रके लिये वेदाध्ययन वर्जित किया है। यदि कदाचित् ये दोनों वर्ग किसीप्रकार वेदके शब्दोंको सुन लें, तो इनके कानमें शीशा गर्म कर डाल देना चाहिये। ऐसे निर्दयता एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहार समाजके लिये कभी भी उचित नहीं हैं। नारी भी पुरुषके समान धर्मसाधन, कर्त्तव्यपालन आदि समाजके कार्योंको पूर्णतया कर सकती है। अतएव वर्त्तमानमें समाज-गठनके लिये लिंग-भेद, वर्ग-भेद, जाति-भेद, धन-भेदके भावको दूर करना परमावश्यक है। नारीको सभी प्रकारके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। भेद-भावकी खाई समाजको सम धरातल-पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकती है। नर-नारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मनुष्य हैं और सबकी अपनी-अपनी उपयोगिता है। जो इनमें भेद-भाव उत्पन्न करते हैं, वे सामाजिक सिद्धान्तोंके प्रतिरोधी हैं। अतः समाजमें शान्ति-सुखव्यवस्था स्थापित करनेके लिये मानवमात्रको समानताका अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

तीर्थंकर महावीरकी समाजव्यवस्थाकी आधुनिक उपयोगिता

तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित समाज-व्यवस्था आधुनिक भारतमें भी उपयोगी है। महावीरने नारीको जो उच्च स्थान प्रदान किया, आजके संविधान-ने भी नारीको वही स्थान दिया है। वर्गभेद और जाति-भेदके विषको दूर करने के लिये महावीरने अपनी पीयूष-वाणी द्वारा सम.जको उद्बोधित किया। उनकी समाज-व्यवस्था भी कर्मकाण्ड, लिंग, जाति, वर्ग आदि भेदोंसे मुक्त थी। इनकी

समाज-व्यवस्थाका आधार अध्यात्म, अहिंसा, नैतिक नियम और ऐसे धार्मिक नियम थे, जिनका सम्बन्ध किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदायसे नहीं था। महावीरका सिद्धान्त है कि विश्वके समस्त प्राणियोंके साथ आत्मीयता, बन्धुता और एकताका अनुभव किया जाय। अहिंसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नतिकी भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरणसे निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतन्त्रता और सत्यता बढ़ती है। अहिंसाकी सीमा किसी देश, काल, और समाज तक सीमित नहीं है। अपितु इसकी सीमा सर्वदेश और सर्वकाल तक विस्तृत है। अहिंसासे ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम एवं निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते हैं। अहंकार, दम्भ, मिथ्या विश्वास, असहयोग आदिका अन्त भी अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। यह एक ऐसा साधन है जो बड़े-से-बड़े साध्यको सिद्ध कर सकता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध अनेक व्यक्तियोंको इसीलिये निर्बल प्रतीत होता है कि उसके अनुयायियोंने प्रेमकी उत्पादक शक्तिको पूर्णतया पहचाना नहीं है। वास्तवमें आत्मीयता और एकताकी भावनासे ही समाजमें स्थायित्व उत्पन्न होता है। यदि भावनाओंमें क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ. राग-द्वेष आदि हैं, तो ऊपरसे भले ही दया या करुणाका आडम्बर दिखलायी पड़े, आन्तरिक विश्वास जागृत नहीं हो सकता। यदि हृदयमें प्रेम है, रक्षाकी भावना है और है सहानुभूति एवं सहयोगकी प्रवृत्ति, तो ऊपरका कठोर व्यवहार भी विश्वासो-त्पादक होगा। इसमें सन्देह नहीं है कि अहिंसाके आधारपर प्रतिष्ठित समाज ही सुख और शान्तिका कारण बन सकता है।

शक्तिप्रयोगसम्बन्धी सिद्धान्तका विश्लेषण इंजिनियरिंग कलाके आलोकमें किया जा सकता है। मनुष्यके स्वभाव और समाजमें अपार शक्ति है। इसके क्रोधादिके रूपमें फूट पड़नेसे रोकना चाहिये और प्रेमकी प्रणाली द्वारा उपयोगी कार्योंमें लगाना चाहिये। इस सिद्धान्तको यों समझा जा सकता है कि हम भापकी शक्तिको फूट पड़नेसे रोक कर बायलर और अन्य वस्तुओंकी रक्षा करते हैं और इंजिनको शक्तिशाली बनाते हैं। इसीप्रकार हम व्यक्तिके अहंकार, काम, क्रोधादि दुर्गुणोंको फूट पड़नेसे रोक सकें और इन गुणोंका परिवर्तन अहिंसक शक्तिके रूपमें कर सकें, तो समाजको संचालित करनेके लिये अपार शक्तिशाली व्यक्तिरूपी एंजिन प्राप्त होता है।

एकताकी भावना अहिंसाका ही रूप है। कलह, फूट, द्वन्द्व और संघर्ष हिंसा है। ये हिंसक भावनाएँ सामाजिक जीवनमें एकता और पारस्परिक विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकती हैं।

यदि हम समाजके प्रत्येक सदस्यके साथ समता, सहानुभूति और सहृदयता-का व्यवहार करें, तो समाजके विकासमें अवरोध पैदा नहीं हो सकता है।

तीर्थंकर महावीरने समाज-व्यवस्थाके लिये दया, सहानुभूति, सहिष्णुता और नम्रताको साधनके रूपमें प्रतिपादित किया है। ये चारों ही साधन वर्त्तमान समाज-व्यवस्थाके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। समाजके कष्टोंके प्रति दया एक अच्छा साधन है। इससे समाजमें एकता और बन्धुत्वकी भावना उत्पन्न होती है। तीर्थंकर महावीरका सिद्धान्त है कि दयाका प्रयोग ऐसा होना चाहिये, जिससे मनुष्यमें दयनीयताकी भावना उत्पन्न न हो और दया करनेवालोंमें अभिमानकी भावना जागृत न हो। समाज-व्यवस्थाके लिये दया, दान, संयम और शील आवश्यक तत्त्व हैं। इन तत्त्वों या गुणोंसे सहयोगकी वृद्धि होती है। समाजकी समस्त विसंगनियाँ एवं कठिनाईयाँ उक्त साधनों द्वारा दूर हो जाती हैं।

सहिष्णुताकी भावनाको भी समाज-गठनके लिये आवश्यक माना गया है। मानव-समाज एक शरीरके तुल्य है। शरीरमें जिस प्रकार अंगोपांग, नस, नाड़ियाँ अवस्थित रहती हैं, पर उन सबका सम्पोषण हृदयके रक्तसंचालन द्वारा होता है, इसी प्रकार समाजमें विभिन्न स्वभाव और गुणधारी व्यक्ति निवास करते हैं। इन समस्त व्यक्तियोंकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यताएँ भिन्न-भिन्न रहती हैं, पर इन समस्त सामाजिक सदस्योंको एकताके सूत्रमें अहिंसाके रूप प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, सत्यता आदि आबद्ध करते हैं। नम्रता और सहानुभूतिको कमजोरी, कायरता और दुरभिमान नहीं माना जा सकता। इन गुणोंका अर्थ हीनता नहीं, किन्तु आत्मिक समानता है। भौतिक बड़प्पन, वर्गश्रेष्ठता, कुलीनता, धन और पदवियोंका महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टिसे कुछ भी नहीं है। अतएव समाजको अहिंसात्मक शक्तियोंके द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है। अहिंसक आत्मनिग्रही बनकर समाजको एक निश्चित मार्गका प्रदर्शन करता है। वास्तवमें मानव-समाजको यथार्थ आलोककी प्राप्ति राग-द्वेष और मोहको हटानेपर ही हो सकती है। अहिंसक विचारोंके साथ आचार, आहार-पान भी अहिंसक होना चाहिए।

कर्त्तव्य-कर्मोंका सावधानी पूर्वक पालन करना तथा दुर्व्यसन, द्यूत क्रीड़ा, मांसभक्षण, मदिरापान, आखेट, वेश्यागमन, परस्त्री-सेवन एवं चौर्यकर्म आदिका त्याग करना सामाजिक सदस्यताके लिये अपेक्षित है।

धन एवं भोगोंकी आसुरी लालसाने व्यक्तिको तो नष्ट किया ही है, पर अगणित समाजोंको भी बर्बाद कर डाला है। आसुरी वासनाओंकी तृप्ति एक

काल तो क्या त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। अतएव न्याय-अन्याय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पुण्य-पाप आदिका विचार कर समाजको अहिंसक नीति द्वारा व्यवस्थित करना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि महावीरकी समाज-व्यवस्था आजके युगमें भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी उपयोगी उनके समयमें थी। महावीरने श्रमको जीवनका आवश्यक मूल्य बताया है। मानवीय मूल्योंमें इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज धन या सम्पत्तिसे पूर्ण सुखका अनुभव नहीं कर सकता है। पर नीति और अध्यात्मके द्वारा तृष्णा, स्वार्थ और द्वेषका अन्त हो सकता है।

●

उपसंहार

महावीर : व्यक्तित्व-विश्लेषण

कांचन काया

सात हाथ उन्नत शरीर, दिव्य काञ्चन आभा, आजानबाहु, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन आदिसे युक्त तीर्थंकर महावीर तन और मन दोनोंसे ही अद्भुत सुन्दर थे। उनकी लावण्य-छटा मनुष्योंको ही नहीं, देव, पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगको भी सहजमें अपनी ओर आकृष्ट करती थी। देवेन्द्र भी उनके दिव्य तेजसे आकृष्ट हो चरण-वन्दनके लिये आते, अगणित मनुष्य-सामन्तोंकी तो बात ही क्या।

उनके व्यक्तित्वको लोक-कल्याणकी भावनाने सजाया था, सँवारा था। वे अपने भीतर विद्यमान शक्तिका स्फोटन कर प्रतिकूल कण्टकाकीर्ण मार्गको पुष्पावकीर्ण बनानेके लिये सचेष्ट थे। महावीर ऐसे नद थे, जो चट्टानोंका भेदन

कर स्वयं अपने लिये पथका निर्माण करते हैं। वे निर्झर थे, कुलिका (नहर) नहीं। उन्होंने कठिन-से-कठिन तप कर, कामनाओं और वासनाओंपर विजय पा कर लोक-कल्याणका ऐसा उज्ज्वल मार्ग तैयार किया, जो प्राणिमात्रके लिये सहजगम्य और सुलभ था।

कर्मयोगी

महावीरके व्यक्तित्वमें कर्मयोगकी साधना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे स्वयंबुद्ध थे, स्वयं जागरुक थे और बोधप्राप्तिके लिये स्वयं प्रयत्नशील थे। न कोई उनका गुरु था और न किसी शास्त्रका आधार ही उन्होंने ग्रहण किया था। वे कर्मठ थे और स्वयं उन्होंने पथका निर्माण किया था। उनका जीवन भय, प्रलोभन, राग-द्वेष सभीसे मुक्त था। वे नील गगनके नीचे हिंस्र-जन्तुओंसे परिपूर्ण निर्जन वनोंमें कायोत्सर्ग मुद्रामें ध्यानस्थ हो जाते थे। वे कभी मृत्यु-छायासे आक्रान्त श्मशानभूमिमें, कभी गिरि-कन्दराओंमें, कभी गगनचुम्बी उत्तुंग पर्वतोंके शिखरोंपर, कभी कल-कल, छल-छल निनाद करती हुई सरिताओंके तटोंपर और कभी जनाकीर्ण राजमार्गपर कायोत्सर्ग-मुद्रामें अचल और अडिगरूपसे ध्यानस्थ खड़े रहते थे। वे कर्मयोगी शरीरमें रहते हुए शरीरसे पृथक्, शरीरकी अनुभूतिसे भिन्न जीवनकी आशा और मरणके भयसे विप्रमुक्त स्वकी शोधमें संलग्न रहते थे।

कर्मयोगी महावीरने अपने श्रम, साधना और तप द्वारा अगणित प्रकारके उपसर्गोंको सहन किया। कहीं सुन्दरियोंने उन्हें साधनासे विचलित करनेका प्रयास किया, तो कहीं दुष्ट और अज्ञानियोंने उन्हें नाना प्रकारकी यातनाएँ दीं, पर वे सब मौनरूपसे सहन करते रहे। न कभी मनमें ही विकार उत्पन्न हुआ और न तन ही विकृत हुआ। इस कर्मयोगीके समक्ष शाश्वत विरोधी प्राणी भी अपना वैरभाव छोड़कर शान्तिका अनुभव करते थे। धन्य है महावीरका वह व्यक्तित्व, जिसने लौह पुरुषका सामर्थ्य प्राप्त किया और जिस व्यक्तित्वके समक्ष जादू, मणि, मन्त्र-तन्त्र सभी फीके थे।

अद्भुत साहसी

महावीरके व्यक्तित्वमें साहस और सहिष्णुताका अपूर्व समावेश हुआ था। सिंह, सर्प जैसे हिंस्र जन्तुओंके समक्ष वे निर्भयतापूर्वक उपस्थित हो उन्हें मौन रूपमें उद्बोधित कर सन्मार्गपर लाते थे। जरा, रोग और शारीरिक अवस्थाओंके उस घेरेको, जिसमें फँस कर प्राणी हाहाकार करता रहता है, महावीर साहसी बन मृत्यु-विजेताके रूपमें उपस्थित रहते थे। महावीरने बड़े साहसके

साथ परिवर्तित होते हुए मानवीय मूल्योंको स्थिरता प्रदान की और प्राणियोंमें निहित शक्तिका उद्घाटन कर उन्हें निर्भय बनाया। उन जैसा अपूर्व साहसी शताब्दियोंमें ही एकाध व्यक्ति पैदा होता है। शूलपाणि जैसे यक्षका आंतक और चण्डकौशिक जैसे सर्पकी विषज्वाला इनके साहसके फलस्वरूप ही शमनको प्राप्त हुई। अनार्य देशमें साधना करते हुए महावीरके स्वरूपसे अनभिज्ञ व्यक्तियोंने उन्हें गालियाँ दीं, पाषाण बरसाए, दण्डोंसे पूजा की, दंश-मशक और चीटियोंने काटा, पर महावीर अपने साहससे विचलित न हुए। उनकी अपूर्व सहिष्णुता और अनुपम शान्ति विरोधियोंका हृदय परिवर्तित कर देती थी। वे प्रत्येक कष्टका साहसके साथ स्वागत करते, शरीरको आराम देनेके लिये न वस्त्र धारण करते, न पृथ्वी पर आसन बिछाकर शयन करते, न अपने लिये किसी वस्तुकी कामना ही करते। उनके अनुपम धैर्यको देखकर देवराज इन्द्र भी नतमस्तक था। संगमदेवने महावीरके साहसकी अनेक प्रकारसे परीक्षा की, पर वे अडिग हिमालय ही बने रहे।

लोक-प्रदीप

महावीरके व्यक्तित्वमें अनुपम प्रदीप-प्रकाश उपलब्ध है। उन्होंने संसारके घनीभूत अज्ञान-अन्धकारको दूरकर सत्य और अनेकान्तके आलोकद्वारा जन-नेतृत्व किया था। घरका दीपक घरके कोनेमें ही प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुंधला होता है, पर महावीर तो तीन लोकके दीपक थे। लोकत्रयको प्रकाशित किया था। महावीर ऐसे दीपक थे, जिसकी ज्योतिके स्पर्शने अगणित दीपोंको प्रज्वलित किया था। अज्ञानअन्धकारको हटा जनता-को आवरण और बन्धनोंको तोड़नेका सन्देश दिया था। उन्होंने राग-द्वेष विकल्पोंको हटाकर आत्माको अखण्ड ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूपमें अनुभव करनेका पथ आलोकित किया था। निश्चयसे देखनेपर आत्मापर बन्धन या आवरण है ही नहीं। अनन्त चैतन्यपर न कोई आवरण है और न कोई बन्धन। ये सब बन्धन और आवरण आरोपित हैं। जिसके घटमें ज्ञान-दीप प्रज्वलित है, उसके बन्धन और आवरण स्वतः क्षीण हैं। संकल्प-विकल्पोंका जाल स्वयमेव ही विलीन हो जाता है।

करुणामूर्ति

महावीरका संवेदनशील हृदय करुणासे सदा द्रवित रहता था। वे अन्ध-विश्वास, मिथ्या आडम्बर और धर्मके नामपर होनेवाले हिंसा-ताण्डवसे अत्यन्त द्रवीभूत थे। 'यज्ञीयहिंसा हिंसा न भवति' के नारेको बदलनेका संकल्प

दयालु महावीरने ग्रहण किया और मानवताके ललाटपर अक्षय कुंकुमका विजय-तिलक लगाया। प्राणिमात्रको अन्तिम श्वांस तक स्वाधीनतापूर्वक जीवित रहने और कार्य करनेका सही मार्ग निर्दिष्ट किया। हिंसा, असत्य शोषण, संचय और कुशोलसे संत्रस्त मानवताकी रक्षा की। बर्बरतापूर्वक किये जानेवाले अश्वमेध, नरमेध आदिको दूर कर अहिंसा और मैत्री भावनाका प्रचार किया। वास्तवमें तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें करुणाका अपूर्व समवाय था। वे इस लोकके समस्त प्राणियोंका आत्मविकास और लोककल्याण चाहते थे और तदनुकूल प्रयास करते थे। महावीर जैसा करुणाका मसीहा इस धराधामपर कभी कदाचित् ही जन्म ग्रहण करता है।

दिव्य तपस्वी

महावीर उग्र, घोर एवं दिव्य तपस्वी थे। उनकी यह तपः साधना विवेककी सीमामें समाहित थी। सहज तप था, आकुलताका नामोनिशान नहीं और अन्तरंगमें आनन्दकी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही थी। महावीर बाह्य तपके साधक नहीं अन्तस् तपके साधक थे। उनको तपस्याके प्रभावसे जीवनकी समस्त अशुभ वृत्तियाँ शुभ रूपमें परिणत होकर शुद्ध रूपको प्राप्त हुई थीं। न उन्हें गर्व था और न ग्लानि ही। अभिग्रहके अनुसार अहार मिल जाता, तो उसे ग्रहण कर लौट आते और न भी मिलता तो प्रसन्न चित्तसे अपनी साधनामें लीन रहते। वे लाभालाभकी परिस्थितिमें समरस थे। साधारण व्यक्तियोंको कठिनाईयां आगे बढ़नेसे रोक देती हैं, कभी-कभी उन्हें वापस भी लौटना पड़ता है, पर महावीर न कहीं रुके और न वे आगे बढ़नेसे विमुख हुए। सच्चे अर्थोंमें वे दिव्य तपस्वी थे।

लोककल्याण और लोकप्रियता

आकर्षक व्यक्तित्वके धनी महावीरके व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी गहरायी लोककल्याण और लोकप्रियताकी है। इन्होंने अपनी साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर आत्म-कल्याणके साथ-साथ विश्वकल्याणकी प्रेरणा दी। सर्वोदय तीर्थका प्रवर्त्तन कर अशान्त जनमानसको शान्ति प्रदान की। तीर्थंकर महावीर मानवमात्रका ही नहीं, प्राणिमात्रका उदय चाहते थे। फलतः सर्वजीव-समभाव और सर्वजातिसमभावका प्रवर्त्तन कर समस्त प्राणियोंको उन्नतिके समान अवसर प्रदान करनेकी घोषणा की। उनका सिद्धान्त था कि दूसरोंका बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता। मानव-मानवके बीच भेद-भावकी जो दीवालें खड़ी की गयी हैं, वे अप्राकृतिक हैं। रंगभेद, वर्णभेद, जातिभेद,

कुलभेद, देश और प्रान्तभेद आदि सभी मानवताके विघातक हैं। तनावका वातावरण और अविश्वासकी खाईंको दूर करनेका एकमात्र साधन जन-सामान्यको पारस्परिक सहयोग और कल्याणके लिये प्रेरित करना है।

स्वर्गके देव विभूतिमें कितने ही बड़े क्यों न हो, उनका स्वर्ग कितना ही सुन्दर और सुहावना क्यों न हो, पर वे मनुष्यसे महान नहीं। मनुष्यके त्याग और इन्द्रियसंयमके प्रति उन्हें भी नतमस्तक होना पड़ता है। मानव-मानवताके कारण सभी मनुष्य समान हैं, जन्मसे कोई भी व्यक्ति न बड़ा है, न छोटा। कार्य, गुण, परिश्रम, त्याग, संयम ऐसे गुण हैं, जिनकी उपलब्धिसे कोई भी व्यक्ति महान् बन सकता है। जीवनका यथार्थ लक्ष्य आत्मस्वातन्त्र्यकी प्राप्ति है। कालका प्रवाह अनाहत चला आ रहा है। जीवन क्षण, पल, घड़ियोंमें कण-कण बिखर रहा है। पार्श्ववर्ती स्तब्ध वातावरणमें भी सूक्ष्मरूपसे अतीत और व्यय समाहित हैं। नव नवीन रूपोंमें प्रस्फुटित हो रहा है और वस्तुकी ध्रौव्यता भी यथार्थरूपमें स्थित है। इसप्रकार उत्पादादित्रयात्मकरूप वस्तु आत्मद्रष्टाको तटस्थ वृत्तिकी ओर आकृष्ट करती है और यही उसे जन कल्याणकी ओर ले जाती है।

तीर्थंकर महावीर जन्मजात वीतराग थे। उनके व्यक्तित्वके कण-कणका निर्माण आत्मकल्याण और लोकहितके लिये हुआ था। लोककल्याण ही उनका इष्ट था और यही था उनका लक्ष्य। जीवनके प्रथम चरणसे ही उन्होंने जन-कल्याणके लिये संघर्ष आरम्भ किया, पर उनका यह संघर्ष बाह्य शत्रुओंसे नहीं था, अन्तरंग काम, क्रोधादि वासनाओंसे था। उन्होंने शाश्वत सत्यकी प्राप्तिके लिये राजवैभव, विलास, आमोद-प्रमोद आदिका त्याग किया और जनकल्याणमें संलग्न हो गये।

लोककल्याणके कारण ही तीर्थंकर महावीरने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की थी। वे जिस नगर या ग्रामसे निकलते थे, जनता उनकी अनुयायिनी बन जाती थी। मनुष्य तो क्या; पशु-पक्षी भी उनसे प्रेम करते थे। हिंसक, क्रूर और पिशाच भी अपनी वृत्तियोंका त्यागकर महावीरकी शरण ग्रहण करते थे। वे तत्कालीन समाजकी कायरता, कदाचार और पापाचारको दूर करनेके लिये कटिबद्ध थे। अतः लोकप्रियताका प्राप्त होना उन्हें सहज था।

स्वावलम्बी

महावीरके व्यक्तित्वकी अन्य विशेषताओंमें स्वावलम्बनकी वृत्ति भी है। 'अपना कार्य स्वयं करो' के वे समर्थक थे। जब साधनाकालमें अपरिचयके

कारण कुछ अज्ञ व्यक्ति उनका तिरस्कार करते, अपमान करते, शारीरिक यातनाएँ देते, उस समय महावीर किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करते थे। वे अपने पुरुषार्थ द्वारा ही कर्मोंका नाश करना चाहते थे। जब इन्द्रने उनसे साधनामार्गमें सहायता करनेका अनुरोध किया, तब वे मौन भाषामें हुए कहने लगे—"देवेन्द्र, तुम भूल रहे हो। साधनाका मार्ग अपने-आपपर विजय प्राप्त करनेका मार्ग है। स्वयंकृत कर्मका शुभाशुभ फल व्यक्तिको अकेले ही भोगना पड़ता है। कर्मावरणको छिन्न करनेके लिये किसी अन्यकी सहायता अपेक्षित नहीं है। यदि किसी व्यक्तिको किसी दूसरेके सुख-दुःख और जीवन-मरणका कर्त्ता माना जाय, तो यह महान् अज्ञान होगा और स्वयंकृत शुभाशुभ फल निष्फल हो जायेंगे। यह सत्य है कि किसी भी द्रव्यमें परका हस्तक्षेप नहीं चलता है। हस्तक्षेपकी भावना ही आक्रमणको प्रोत्साहित करती है। यदि हम अपने मनसे हस्तक्षेप करनेकी भावनाको दूर कर दें, तो फिर हमारे अन्तस्‌में सहजमें ही अनाक्रमणवृत्ति प्रादुर्भूत हो जायगी। आक्रमण प्रत्याक्रमणको जन्म देता है और यह आक्रमण-प्रत्याक्रमणकी परम्परा विश्व-शान्ति और आत्मिक शान्तिमें विघ्न उत्पन्न करती है।" इस प्रकार तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें स्वावलम्बन और स्वतन्त्रताकी भावना पूर्णतया समाहित थी।

अहिंसक

महावीरके व्यक्तित्वका सम्पूर्ण गठन ही अहिंसाके आधारपर हुआ है। मनुष्यको जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, उसी तरह अन्य प्राणियोंको भी अपना अस्तित्व और सुख प्रिय है। अहिंसक व्यक्तित्वका प्रथम दृष्टिबिन्दु सहअस्तित्व और सहिष्णुता है। सहिष्णुताके बिना सहअस्तित्व सम्भव नहीं है। संसारमें अनन्त प्राणी हैं और उन्हें इस लोकमें साथ-साथ रहना है। यदि वे एक दूसरेके अस्तित्वको आशंकित दृष्टिसे देखते रहें, तो अस्तित्वका संघर्ष कभी समाप्त नहीं हो सकता है। संघर्ष अशान्तिका कारण है और यही हिंसा है।

जीवनका वास्तविक विकास अहिंसाके आलोकमें ही होता है। वैर-वैमनस्य द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ-लालच, शोषण-दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाजको ध्वंसात्मक विकृतियाँ हैं, वे सब हिंसाके ही रूप हैं। मनुष्यका अन्तस् हिंसाके विविध प्रहारोंसे निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारोंका शमन करनेके लिये अहिंसाकी दृष्टि और अहिंसक जीवन ही आवश्यक है। महावीरने केवल अहिंसाका उपदेश ही नहीं दिया, अपितु उसे अपने जीवनमें उतारकर शत-प्रतिशत यथार्थता प्रदान की। उन्होंने अहिंसा-

के सिद्धान्त और व्यवहारपक्षको एक करके दिखला दिया। विरोधीसे विरोधीके प्रति भी उनके मनमें घृण नहीं थी, द्वेष नहीं था वे उत्पीड़क एवं घातकके प्रति भी मंगलकल्याणकी पवित्र भावना रखते थे। संगमदेव और शूलपाणि यक्ष जैसे उपसर्ग देनेवाले व्यक्तियों के प्रति भी उनके नेत्रोंमें करुणा थी। तीर्थंकर महावीरका अहिंसक जीवन क्रूर और निर्दय व्यक्तियोंके लिये भी आदर्श था।

महावीरका सिद्धान्त था कि अग्निका शमन अग्निसे नहीं होता, इसके लिये जलकी आवश्यकता होती है। इसीप्रकार हिंसाका प्रतिकार हिंसासे नहीं, अहिंसासे होना चाहिये। जब तक साधन पवित्र नहीं, साध्यमें पवित्रता आ नहीं सकती। हिंसा सूक्ष्मरूपमें व्यक्तिके व्यक्तित्वकी अनन्त पर्तोंमें समाहित है। उसे निकालनेके लिये सभी प्रकारके विकारों, वासनाओंका त्याग आवश्यक है। यही कारण है कि महावीरने जगतको बाह्य हिंसासे रोकनेके पूर्व अपने अन्तरमें विद्यमान राग-द्वेषरूप भावहिंसाका त्याग किया और उनके व्यक्तित्वका प्रत्येक अणु अहिंसाकी ज्योतिसे जागृत हो उठा। महावीरने अनुभव किया कि समस्त प्राणी तुल्य शक्तिधारी हैं, जो उनमें भेद-भाव करता है, उनकी शक्तिको समझने में भूल या किसी प्रकारका पक्षपात करता है, वह हिंसक है। दूसरों को कष्ट पहुँचानेके पूर्व ही, विकृति आ जानेके कारण अपनी ही हिंसा हो जाती है।

सचमुचमें अहिंसाके साधक महावीरका व्यक्तित्व धन्य था और धन्य थी उनकी संचरणशक्ति। वे बारह वर्षोंतक मौन रहकर मोह-ममताका त्याग कर अहिंसाकी साधनामें संलग्न रहे। महावीरके व्यक्तित्वको प्रमुख विशेषताओंमें उनका अहिंसक व्यक्तित्व निर्मल आकाशके समान विशाल और समुद्रके समान अतल स्पर्शी है। उनकी अहिंसामें आग्रह नहीं था, उद्दण्डता नहीं थी, पक्षपात नहीं था और न किसी प्रकारका दुराव या छिपाव ही था। दया, प्रेम और विनम्रताने उनकी अहिंसक साधनाको सुसंस्कृत किया था।

क्रांतिद्रष्टा

तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें क्रान्तिकी चिनगारी आरम्भसे ही उपलब्ध होती है। वे व्यवहारकुशल, स्पष्ट वक्ता, निर्भीक साधक, अहिंसक, लोक-कल्याणकारी और जनमानसके अध्येता थे। चाटुकारिताकी नीतिसे वे सदा दूर थे। उनके मनमें आत्मविश्वासका दीपक सदा प्रज्वलित रहता था। धर्मके नामपर होनेवाली हिंसाएँ और समाजके संगठनके नामपर विद्यमान भेद-भाव एवं आत्मसाधनाके स्थानपर शरीर-साधनाकी प्रमुखताने महावीरके मनमें किशोरावस्थासे ही क्रान्तिका बीज-वपन किया था। रईसों और अमीरोंके यहाँ दास-दासीके रूपमें शोषित नर-नारी महावीरके हृदयका अपूर्व मंथन करते

थे। फलतः वे उस युगकी प्रमुख-धर्म-धारणा यज्ञ और क्रिया-काण्डके विरोधी थे। उन दिनोंमें नर और नारी नीति और धर्मका आँचल छोड़ चुके थे। वे दोनों ही कामुकताके पंकमें लिप्त थे। नारियोंमें पातिव्रत, शील और संकोचकी कमी हो रही थी। वे बन्धनोंको तोड़ और लज्जाके आवरणको फेंक स्वच्छन्द बन चुकी थीं। पुरुषोंमें दानवी वासनाका प्राबल्य था। वे आचार-विचार-शील-संयमका पल्ला छोड़ वासनापूर्तिको ही धर्म समझते थे। चारों ओर बलात्कार और अपहरणका तूफान उठ खड़ा हुआ था। चन्दना जैसी कितनी नारियोंका अपहरण अहर्निश हो रहा था। जनमानसका धरातल आत्माकी धवलतासे हटकर शरीरपर केन्द्रित हो गया था। भोग-विलास और कृत्रिमताका जीवन ही प्रमुख था। मदिरापान, द्यूतक्रीड़ा, पशुहिंसा, आदि जीवनकी साधारण बातें थीं। बलिप्रथाने धर्मके रूपको और भी विकृत कर दिया था।

भौतिकताके जीवनकी पराकाष्ठा थी। धर्म और दर्शनके स्वरूपको औद्धत्य, स्वैराचार, हठ और दुराग्रहने खण्डित कर दिया था। वर्ग-स्वार्थकी दूषित भावनाओंने अहिंसा, मैत्री और अपरिग्रहको आत्मसात् कर लिया था। फलतः समाजके लिये एक क्रान्तिकारी व्यक्तिकी आवश्यकता थी। महावीरका व्यक्तित्व ऐसा ही क्रान्तिकारी था। उन्होंने मानव-जगतमें वास्तविक सुख और शान्तिकी धारा प्रवाहित की और मनुष्यके मनको स्वार्थ एवं विकृतियोंसे रोककर इसी धरतीको स्वर्ग बनानेका सन्देश दिया। महावीरने शताब्दियोंसे चली आ रही समाज-विकृतियों को दूरकर भारतकी मिट्टीको चन्दन बनाया। वास्तवमें महावीरके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वको प्राप्तकर धरा पुलकित हो उठी, शत-शत वसन्त खिल उठे। श्रद्धा, सुख और शान्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वसे कोटि-कोटि मानव कृतार्थ हो गये। निस्सन्देह पतितों और गिरों को उठाना, उन्हें गलेसे लगाना और करस्पर्श द्वारा उनके व्यक्तित्वको परिष्कृत कर देना यही तो क्रान्तिकारीका लक्षण है। महावीरकी क्रान्ति जड़ नहीं थी, सचेतन थी और थी गतिशील। जो अनुभव-सिद्ध ज्ञानके शासनमें चल मुक्त चिन्तन द्वारा सत्यान्वेषण करता है, वही समाजमें क्रान्ति ला सकता है।

पुरुषोत्तम

महावीर पुरुषोत्तम थे। उनके बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके व्यक्तित्वोंमें अलौकिक गुण समाविष्ट थे। उनका रूप त्रिभुवनमोहक, तेज सूर्य-को भी हतप्रभ बनानेवाला और मुख सुर-नर-नागनयनको मनहर करनेवाला था। उनके परमौदारिक दिव्य शरीरकी जैसी छटा और आभा थी,

उससे भी कहीं अधिक उनकी आत्माका दिव्य तेज था। अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य गुणोंके समावेशने उनके आत्मतेजको अलौकिक बना दिया था। निष्कामभावसे जनकल्याण करनेके कारण उनका आत्मबल अनुपम था। वे संसार-सरोवरमें रहते हुए भी कमलपत्रवत् निर्लिप्त थे। उनका यह व्यक्तित्व पुरुषोत्तम विशेषणसे विशिष्ट किया जा सकता है।

यों तो महावीरके व्यक्तित्वमें एक महामानवके सभी गुण प्राप्य थे, पर वे एक सच्चे ज्ञानी, मुक्ति-नेता, कुशल उपदेष्टा और निर्भीक शिक्षक थे। जो भी उनकी वाणी सुनता, वही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता। वे ऐसे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे, जिन्हें 'घोरबंभचेर' कहा गया है। ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट साधना और अहिंसक अनुष्ठानने महावीरको पुरुषोत्तम बना दिया था। तपःपूत भगवान् महावीर तीर्थंकर पुरुषोत्तम थे। श्रेष्ठ पुरुषोचित सभी गुणोंका समवाय उनमें प्राप्त था।

निःस्वार्थ

महावीरके व्यक्तित्वमें निस्वार्थ साधकके समस्त गुण समवेत हैं। वे तपश्च-रण और उत्कृष्ट शुभ अध्यवसायके कारण निरन्तर जागरूक थे। उन्हें सभी प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियाँ ऊपलब्ध थीं, पर वे उनसे थे निर्लिप्त, आत्मकेन्द्रित, शान्त और वीतराग। आत्मापर कठोर संयमकी वृत्ति रखनेके कारण उनमें विश्व बन्धुत्व समाहित था।

महावीर न उपसर्गोंसे ही घबराते थे और न परीषह सहन करनेसे ही। वे सभी प्रकारके स्वार्थ और विकारोंको जीतकर स्वतन्त्र या मुक्त होना चाहते थे। अनादिकालसे चैतन्य-ज्योति आवरणोंसे आच्छादित है। जिसने इन आव-रणोंको हटाकर बन्धनोंको तोड़ा है, जो संकल्प-विकल्पोंसे मुक्त हुआ है और जिसने शरीर और इन्द्रियोंपर पड़ी हुई परतोंको हटाया है, वही निःस्वार्थ जीवन यापन कर सकता है। तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें यह निस्वार्थकी प्रवृत्ति पूर्णतया वर्त्तमान थी।

वस्तुतः तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें एक महामानवके सभी गुण विद्यमान थे। वे स्वयंबुद्ध और निर्भीक साधक थे और अहिंसा ही उनका साधनासूत्र था। उनके मनमें न कुण्ठाओंको स्थान प्राप्त था और न तनावोंको। प्रथम दर्शनमें ही व्यक्ति उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित हो जाता था। यही कारण है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे तलस्पर्शी ज्ञानी पण्डित भी महावीरके दर्शनमात्रसे प्रभावित हुए और उनके शिष्य बन गये।

यह सार्वजनीन सत्य है कि यदि व्यक्तिके मुखपर तेज, छविमें सौन्दर्य, आँखोंमें आभा, ओठों पर मन्द मुस्कान, शरीरमें चारुता और अन्तरंगमें निश्छल प्रेम हो, तो वह सहजमें ही अन्य व्यक्तियोंको आकृष्ट कर लेता है। महावीरके बाह्य और अन्तरंग दोनों ही व्यक्तित्व अनुपम थे। उनका शारीरिक गठन, संस्थान और आकार जितना उत्तम था उतना ही वीतरागताका तेज भी दीप्ति युक्त था। वृषभके समान मांसल स्कन्ध, चक्रवर्तीके लक्षणों से युक्त पदकमल, लम्बी भुजाएँ, आकर्षक सौम्य चेहरा उनके बाह्य व्यक्तित्वको भव्यता प्रदान करते थे। साथ ही तपःसाधना, स्वावलम्बनवृत्ति, श्रमणत्वका आचार, तपोपलब्धि, संयम, सहिष्णुता, अद्भुत साहस, आत्मविश्वास आदि अन्तरंग गुण उनके आभ्यन्तर व्यक्तित्वको आलोकित करते थे। महावीर धर्मनेता, तीर्थंकर, उपदेशक एवं संसारके मार्ग-दर्शक थे। जो भी उनकी शरण या छत्रच्छायामें पहुँचा, उसे ही आत्मिक शान्ति उपलब्ध हुई।

निस्सन्देह वे विश्वके अद्वितीय क्रान्तिकारी, तत्वोपदेशक और जननेता थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नहीं थी। उन्होंने सर्वतोमुखी क्रान्तिका शंखनाद किया, आध्यात्मिक, दर्शन, समाजव्यवस्था, धर्मानुष्ठान, तपश्चरण यहाँ तककी भाषाके क्षेत्रमें भी अपूर्व क्रान्तिकी। तत्कालीन तापसोंको तपस्याके बाह्यरूपके स्थानमें आभ्यन्तररूप प्रदान किया। पारस्परिक खण्डन-मण्डनमें निरत दार्शनिकोंको अनेकान्तवादका महामन्त्र प्रदान किया। सद्गुणोंकी अवमानना करने वाले जन्मगत जातिवादपर कठोर प्रहारकर गुणकर्माधारपर जातिव्यवस्थाका निरूपण किया। इन्होंने नारियोंकी खोयी हुई स्वतन्त्रता उन्हें प्रदान की। इस प्रकार महावीरका व्यक्तित्व आद्यन्त क्रान्ति, त्याग, तपस्या, संयम, अहिंसा आदिसे अनुप्राणित है।

•